प्रकाशक पूर्णचन्द्र जैन, मन्त्री
अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
राजघाट, वाराणसी

पहली बार ३००० प्रतियाँ
अक्तूबर १९६२

मुद्रक सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

मूल्य बारह रुपया

सस्ता संस्करण

Title SAMAYA AUR HAM
(CHEAP EDITION)
Author Jainendra Kumar
Publisher Poorna Chandra Jain
Secretary,
A B Sarva Seva Sangh
Rajghat, Varanasi
Copies 3000, October '62
Printer Sammelan Mudranalaya
Allahabad
Price Twelve Rupees

प्रकाशकीय

जनेन्द्रजी का 'समय और हम' ग्रन्थ पाठकों के हाथों में है। श्री दादा धर्माधिकारी ने प्रशस्ति में तथा प्रश्नकर्ता श्री वीरेन्द्रकुमार ने उपोद्घात में ग्रन्थ के महत्त्व और उसकी प्रणयन-गाथा स्पष्ट कर ही दी है। ग्रन्थ के विषय में इससे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

अध्यात्म दर्शन संस्कृति पूर्व-पश्चिम राजनीति समाज विज्ञान आदि सकड़ों विषयों-उपविषयों की जैनेन्द्रजी ने अपनी सूक्ष्म और पैनी शैली में जो छानबीन की है उसमें वर्तमान विश्व के लिए आशा का एक संदेश है। सर्वोदय को वैज्ञानिक और दार्शनिक गहराई से समझने के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी समझा जायगा।

पूर्वोदय-प्रकाशन दिल्ली की अनुमति से ग्रन्थ का सस्ता संस्करण सर्व-सेवा-संघ से प्रकाशित किया जा रहा है।

जनेन्द्रजी की अन्य रचनाओं का हिन्दी-जगत् जिस प्रकार स्वागत करता आया है उसी प्रकार वह इस ग्रन्थ का भी स्वागत करेगा ऐसा हमारा विश्वास है।

स्वीकृति

माना जाता है कि आस्तिक वचन ही होता है विज्ञान उससे बरी है। आज का संकट जिसमें मानव-जाति आ पड़ी है बहुत-कुछ उसी विच्छेद और विरोध में से बना है। पदार्थ विज्ञान और समाज विज्ञान परस्पर तभी पूरक हो सकेंगे जब दोनों में एक श्रद्धा और श्वास प्रवाहित होगा। अन्यथा विज्ञान यन्त्र-व्यापार को सम्पन्न करेगा और मानव-व्यवहार को विपन्न करता जायगा। अवश्य कुछ है जो अमोघ और अखण्ड है। उसी अटल नियम पर चेतन-अचेतन संसार बना चल रहा है। इस धर्म में द्वैत नहीं है। आइन्स्टाइन ने उसी अद्वितीय नियम को मस्तिष्क में लेने और गणित में देने की कोशिश की जब सापेक्षवाद प्रस्तुत किया। आवश्यकता है कि उस व्याप्त ध्रुव को जगज्जीवन पर समग्र भाव में फलित और प्रतिफलित किया जाय।

इस ग्रन्थ का सब श्रेय वीरेन्द्र को है। उसने बताया है कि कसे अनहोने भाव से यह होने में आ गया। मेरा कर्तृत्व उसमें नहीं बराबर है। संयोग ही कहिए कि जब वीरेन्द्र ने मुझे लिया तब उभर आयी भावना और विचारणा मुझे भास-सा दिये रहती थी। एक तरह अच्छा हुआ है कि वह बाहर पन्नों और अक्षरों में अंकित हो सकी है। शिकायत इतनी ही है कि

पुस्तक को मेरा नाम उढा दिया गया है और कारण दादा धर्माधिकारी बने हैं। पर अब शिकायत भी नही है और होनहार का मैंने स्वेच्छा से वरण कर लिया है।

अनुक्रम

प्रथम खण्ड : परमात्म

द्वितीय खण्ड पश्चिम

तृतीय खण्ड भारत

पुस्तक को मेरा नाम उढ़ा दिया गया है और कारण दादा धर्माधिकारी बने है। पर अब शिकायत भी नही है और होनहार का मैंने स्वेच्छा से वरण कर लिया है।

प्रशस्ति

जैनेन्द्रजी की पुस्तक की प्रशस्ति मैं करूँ? कोई तुक है? कोई जरूरत? कोई अधिकार?

अधिकार है, सिर्फ स्नेह का। जैनेन्द्रजी मुझे अपना सुहृद् और आत्मीय मानते हैं। गौरव और लाभ मेरा है। भला मैत्री में अधिकार के विवेक की गुंजाइश ही कहाँ है? जैनेन्द्रजी जो कुछ लिखते या कहते हैं मुझे बहुत रुचिकर लगता है। वे अक्सर बिना प्रयोजन के नहीं लिखते, परन्तु प्रयोजन उनके स्वानन्द का बहोतर है। जीविका गौरव मात्र से प्रयोजन और स्वानन्द की मेल बनती है। उनकी शैली सुस्निग्ध है। उनकी वाक्यावली के सारे मौक्तिक कौस्तुभ ही हैं, शायद ही कोई अतिरिक्त या व्यर्थ शब्द होता है। उनकी प्रतिभा में उनकी शैली ओप लाती है। परिणाम बहुत मनोज्ञ होता है। जैनेन्द्रजी कोई तत्त्व-प्रचारक नहीं हैं। अपनी बात का प्रतिपादन करने के लिए वे युक्तियों का व्यूह नहीं रचते, क्योंकि उनका अपना कोई पक्ष नहीं है। इसलिए उनके निरूपण में बुद्धि की प्रगल्भता के साथ-साथ चित्त का प्रसाद और शैली की सहजता होती है।

पुस्तक की पाण्डुलिपि जैनेन्द्रजी ने स्वयं पढ़कर सुनायी। पुस्तक के कई अंश इतने तन्मय होकर सुने। प्रश्नोत्तरों के क्रम में यह लिखी गयी है। इसलिए इसमें अनुस्यूत गुणों की सजीवता और सुगन्ध है। विवेचन में गम्भीरता, सरलता और मौलिकता का संगम है।

मैंने जैनेन्द्रजी की सभी या अधिकांश रचनाएँ नहीं पढ़ी हैं। परन्तु उनके लेख और निबन्ध प्रायः बहुत चाव से पढ़ा करता हूँ। उनके लेखों का एक संग्रह कोई २०-२८ साल पहले निकला, जिसका नाम था—'जैनेन्द्र के विचार'। पूज्य किशोरलालभाई ने उसकी प्रस्तावना की। वह उचित भी था। पूज्य किशोरलाल-भाई के प्रस्ताव से पुस्तक की प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ा। पुस्तक भी उनके जैसे मनीषी के परिशीलन के योग्य थी। वहाँ तत्त्व-समस्याओं का चिन्तन था। अब मैं इतना अहम्-सम्भावित नहीं हूँ कि उनके साथ अपनी तुलना करूँ। उल्लेख केवल इसलिए कर रहा हूँ कि पाठकों को यह विदित हो कि जैनेन्द्रजी का गांधी-परिवार के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध बहुत पुराना है। सन् १९२ से ही वे गांधी-निष्ठ रहे हैं। उनके साहित्य पर गांधी की विभूति की उज्ज्वल आभा है। फिर भी जैनेन्द्रजी न तो गांधी के अनुयायी हैं और न सर्वोदय के अनुगामी। गांधी और

चतुर्थ खण्ड · अध्यात्म

●

चतुर्थ खण्ड · अध्यात्म

प्रशस्ति

जैनेन्द्रजी की पुस्तक की प्रशस्ति मैं करूँ? कोई तुक है? कोई जरूरत? कोई अधिकार?

अधिकार है, सिर्फ स्नेह का। जैनेन्द्रजी मुझे अपना सुहृद् और आत्मीय मानते हैं। गौरव और लाभ मेरा है। सच्ची मैत्री में अधिकार के विवेक की गुंजाइश ही कहाँ है? जैनेन्द्रजी जो कुछ लिखते या कहते हैं मुझे बहुत रुचिकर लगता है। वे अक्सर बिना प्रयोजन के नहीं लिखते, परन्तु प्रयोजन उनके स्वानन्द का सहोदर है। जीविका गौरव भाव से प्रयोजन और स्वानन्द की पैठ बनती है। उनकी शैली सुश्लिष्ट है। उनकी वाक्यरचना के सारे मौक्तिक कौस्तुभ ही हैं शायद ही कोई अतिरिक्त या व्यर्थ शब्द होता है। उनकी प्रतिभा में उनकी शैली और चढ़ती है। परिणाम बहुत मनोज्ञ होता है। जैनेन्द्रजी कोई तत्त्व-प्रचारक नहीं हैं। अपनी बात का प्रतिपादन करने के लिए वे युक्तियों का व्यूह नहीं रचते, क्योंकि उनका अपना कोई पक्ष नहीं है। इसलिए उनके निरूपण में बुद्धि की प्रखरता के साथ-साथ चित्त का प्रसाद और मैत्री की सहजता होती है।

पुस्तक की पाण्डुलिपि जैनेन्द्रजी ने स्वयं पढ़कर सुनायी। पुस्तक के कई अंश सुनते तन्मय होकर सुने। प्रश्नोत्तरों के रूप में यह लिखी गयी है। इसलिए इसमें प्रत्युत्पन्न वाणी की सजीवता और सुगन्ध है। विवेचन में गम्भीरता, उत्कटता और मौलिकता का संगम है।

मैंने जैनेन्द्रजी की सभी या अधिकांश रचनाएँ नहीं पढ़ी हैं। परन्तु उनके लेख और निबन्ध प्रायः बहुत चाव से पढ़ा करता हूँ। उनके लेखों का एक संग्रह कोई २७-२८ साल पहले निकला, जिसका नाम था—'जैनेन्द्र के विचार'। पूज्य किशोरलालभाई ने उसकी प्रस्तावना की। यह उचित भी था। पूज्य किशोरलाल-भाई के मन्तव्य से पुस्तक की प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ा। पुस्तक भी उनके जैसे मनीषी के परिशीलन के योग्य थी। वहाँ सम-समानों का मिलन था। अब मैं इतना आत्म-सम्मोहित नहीं हूँ कि उनके साथ अपनी तुलना करूँ। उल्लेख केवल इसलिए कर रहा हूँ कि पाठकों को यह विदित हो कि जैनेन्द्रजी का गांधी-परिवार के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध बहुत पुराना है। सन् १९२ से ही वे गांधी-निष्ठ रहे हैं। उनके साहित्य पर गांधी की विभूति की झलक आती है। फिर भी जैनेन्द्रजी न तो गांधी के अनुयायी हैं और न सर्वोदय के अनुगामी। गांधी और

सर्वोदय को वे सम्यक् रूप से मानते और समझते हैं, परन्तु उनमे खो नहीं जाते। वे केवल पूर्व-सूरियों और मनीषियो के भाष्यकार नहीं हैं, स्वय अपनी जीवन-निष्ठा सहज रम्य शैली मे प्रकट करते हैं। वे कोई सस्कृत के पंडित नहीं हैं, फिर भी उनकी शैली मे सस्कृति की भव्यता है।

महात्मा टालस्टाय ने अपना 'कन्फेशन ऑफ फेथ' लिखा है। जार्ज बर्नार्ड शा ने 'बैक टु मेथ्यूसैला' के 'इपिलाग' मे, एच० जी० वेल्स ने 'फर्स्ट एण्ड लास्ट थिग्ज' मे और सामरसेट माम ने 'समिग अप' मे अपनी-अपनी जीवन-निष्ठा का निवेदन किया है। मैं तुलना नहीं कर रहा हूँ, सिर्फ मिसालें दे रहा हूँ। यह ग्रन्थ जैनेन्द्र का 'जीवन-दर्शन' है। इसकी अपनी विशेषता यह है कि इसमे प्रवचन-कर्ता के व्यक्तित्व की सुषमा भी है। जीवन के प्राय सभी अगोपागो का ऊहापोह है। जैनेन्द्रजी के तत्त्व-दर्शन की प्रगल्भता, उनके हृदय का सौहार्द और उनकी वस्तु-निष्ठा तथा वैज्ञानिकता का प्रत्यय इसमे प्रकट हुआ है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक समस्याओ का मूलगामी विवेचन है। यह जीवन-दर्शन है, परन्तु जैनेन्द्र का अपना भी है।

इसमे जो विचार और मत व्यक्त किये गये हैं और जो निष्कर्ष सूचित किये गये हैं, उनसे पूरी तरह सहमत होना आवश्यक नहीं है। उसमें न तो जैनेन्द्रजी का गौरव है और न हमारी रसिकता। मत-भिन्नता बौद्धिक स्वतन्त्रता का उपलक्षण है। जैनेन्द्रजी के विचारों मे और सर्वोदय के तत्त्वज्ञान मे कौटुम्बिक साधर्म्य है। फिर भी उनकी रचनाओं मे उनकी अपनी बुद्धि के उन्मेष हैं। सर्वोदय के हम ऐसे प्रवक्ता जो कहने की कोशिश करते हैं, उसे वे कचन बना देते हैं। सर्वोदय-निष्ठ लोगों की दृष्टि से यह एक सर्वांग सुन्दर उपादेय ग्रन्थ है।

इससे अधिक लिखने में कोई तुक नहीं। अंग्रेजी में कहावत है—'पुडिग को परखना हो तो खाकर देखो।' पाठकों से यही निवेदन है। इस जीवनामृत का स्वय रसास्वादन करें।

जबलपुर
११ दिसम्बर, १९६१

दादा धर्माधिकारी

श्रीमान सोहनलालजी दूगड़ सुजानगढ़ की ओर से सादर भेंट

उपोद्घात

प्रस्तुत ग्रन्थ को इस रूप और आकार में पाकर मैं सुखद आश्चर्य ही कर सकता हूँ। कारण १७ जनवरी १९६१ की प्रातः जब मैं अपनी जिज्ञासा—स्पष्ट प्रश्न नहीं वरन् अन्तर के अस्पष्ट भाव—को लेकर श्रद्धेय जैनेन्द्रजी के पास पहुँचा था, तब तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि मैं दस नहीं बीस नहीं पूरे ४५ प्रश्न पूछ जाऊँगा, जिनके उत्तर इस विस्तृत ग्रन्थ की योजना तक खींच जायेंगे।

ग्रन्थारम्भ क्यों-कैसे ?

जिज्ञासा कौतुक और मनोरंजन की इच्छा से प्रेरित भी हो सकती है। पर मेरी जिज्ञासा ऐसी प्रेरणाओं की सृष्टि नहीं थी। कभी-कभी और विशेषकर जीवन और जगत् की सम्भव अथवा असम्भाव्य किसी एक अथवा अनेक घटनाओं से कीलित मन हो जाने पर, ऐसा होता है कि जैसे व्यक्ति का पूर्ण व्यक्तित्व एक गहरे अन्धेरे कुहासे से भर उठा हो। तब राह नहीं सूझती। आत्म-विश्वास हिल जाता है। व्यक्ति दीन मलीन, अवश और क्षुद्र अनुभव करता है। पहले की सभी मान्यताएँ जलहीन बादलों की तरह उपहास-सा करती लेती हैं और तैर कर आगे निकल जाती हैं। तब आवश्यक हो जाता है कि किसी समर्थ आत्मीय के सामने अपने हृदय का पोथा खोला जाय और उसके सशक्त आश्वासन से अपनी आत्मा को पुनः सचेत और सजीव किया जाय। सन् ६ का अन्तिम भाग मेरे लिए कुछ ऐसा ही विपद् और परीक्षा का काल था। मन बेहद आन्दोलित था और मुझे ईश्वर, परम्परा नीति और प्रीति सब पर एक बड़ा बहुत बड़ा प्रश्न-चिह्न लगा दीखता था। मेरी आस्तिकता मेरे हाथों से छूटी जाती थी और वह मुझे सह्य नहीं हो रहा था। मैं बहुत उदास और विषण्ण था। मेरी सीमित तुच्छ-बुद्धि अन्तर की घुटन और उमस को झेलने और भोगने में स्वयं को एकदम असमर्थ पाती थी। अध्ययन से उन दिनों मुझे अरुचि हो गयी थी। सत्य भी है कि मन की ऐसी अवस्था में बहुधा हमारी रहस्यमयी कविताएँ, सैकड़ों कलात्मक कहानियाँ और दर्जनों नये उपन्यास भी वह काम नहीं कर पाते जो सहानुभूतिपूर्ण सुजन के दो प्रेम-वाक्य कर जाते हैं। बन्धु डॉ. रणवीरचन्द्र राका द्वारा आयोजित एक गोष्ठी में अचानक मुझे जैनेन्द्रजी के दर्शन हो गये। वहाँ की चर्चा से मुझे हुआ कि क्यों न मैं जैनेन्द्रजी के समक्ष ही स्वयं को खोलूँ। शायद उन्हींके वचनों से

सर्वोदय को वे सम्यक् रूप से मानते और समझते हैं, परन्तु उनमे खो नहीं जाते। वे केवल पूर्व-सूरियों और मनीषियो के भाष्यकार नहीं हैं, स्वय अपनी जीवन-निष्ठा सहज रम्य शैली मे प्रकट करते हैं। वे कोई सस्कृत के पंडित नहीं हैं, फिर भी उनकी शैली मे सस्कृति की भव्यता है।

महात्मा टालस्टाय ने अपना 'कन्फेशन ऑफ फेथ' लिखा है। जार्ज बर्नार्ड शा ने 'बैक टु मेथ्यूसैला' के 'इपिलाग' मे, एच० जी० वेल्स ने 'फर्स्ट एण्ड लास्ट थिंग्ज' मे और सामरसेट माम ने 'समिंग अप' मे अपनी-अपनी जीवन-निष्ठा का निवेदन किया है। मैं तुलना नहीं कर रहा हूँ, सिर्फ मिसालें दे रहा हूँ। यह ग्रन्थ जैनेन्द्र का 'जीवन-दर्शन' है। इसकी अपनी विशेषता यह है कि इसमें प्रश्न-कर्ता के व्यक्तित्व की सुषमा भी है। जीवन के प्राय. सभी अगोपागो का ऊहापोह है। जैनेन्द्रजी के तत्त्व-दर्शन की प्रगल्भता, उनके हृदय का सौहार्द और उनकी वस्तु-निष्ठा तथा वैज्ञानिकता का प्रत्यय इसमे प्रकट हुआ है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक समस्याओं का मूलगामी विवेचन है। यह जीवन-दर्शन है, परन्तु जैनेन्द्र का अपना भी है।

इसमें जो विचार और मत व्यक्त किये गये हैं और जो निष्कर्ष सूचित किये गये हैं, उनसे पूरी तरह सहमत होना आवश्यक नहीं है। उसमे न तो जैनेन्द्रजी का गौरव है और न हमारी रसिकता। मत-भिन्नता बौद्धिक स्वतन्त्रता का उपलक्षण है। जैनेन्द्रजी के विचारों मे और सर्वोदय के तत्त्वज्ञान मे कौटुम्बिक साधर्म्य है। फिर भी उनकी रचनाओं मे उनकी अपनी बुद्धि के उन्मेष हैं। सर्वोदय के हम ऐसे प्रवक्ता जो कहने की कोशिश करते हैं, उसे वे कथन बना देते हैं। सर्वोदय-निष्ठ लोगों की दृष्टि से यह एक सर्वांग सुन्दर उपादेय ग्रन्थ है।

इससे अधिक लिखने मे कोई तुक नहीं। अंग्रेजी में कहावत है—'पुडिंग को परखना हो तो खाकर देखो।' पाठकों से यही निवेदन है। इस जीवनामृत का स्वय रसास्वादन करें।

जबलपुर
११ दिसम्बर, १९६१

दादा धर्माधिकारी

उपोद्घात

प्रस्तुत ग्रन्थ को इस रूप और आकार में पाकर मैं सुखद आश्चर्य ही कर सकता हूँ। कारण १० जनवरी १९६१ की प्रातः जब मैं अपनी जिज्ञासा—स्पष्ट प्रश्न नहीं वरन् अन्तर के अस्पष्ट भाव—को लेकर श्रद्धेय जैनेन्द्रजी के पास पहुँचा था, तब तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि मैं दस बीस नहीं पूरे ४५ प्रश्न पूछ जाऊँगा जिनके उत्तर इस विस्तृत ग्रन्थ की योग्यता तक फैल जायेंगे।

ग्रन्थारम्भ क्यों-कैसे ?

जिज्ञासा कौतुक और मनोरंजन की इच्छा से प्रेरित भी हो सकती है। पर मेरी जिज्ञासा ऐसी प्रेरणाओं की सृष्टि नहीं थी। कभी-कभी और विशेषकर जीवन और जगत् की सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध किसी एक अथवा अनेक घटनाओं से कीलित मन हो जाने पर, ऐसा होता है कि जैसे व्यक्ति का पूर्ण व्यक्तित्व एक ऐसे अमूर्त दुराहे पे आ खड़ा हो। राह नहीं सूझती। आत्म-विश्वास हिल जाता है। व्यक्ति दीन मलीन अवसन्न और क्षुब्ध अनुभव करता है। पहले की सभी मान्यताएँ बलहीन अस्त्रों की तरह उपहास-सा करती मिलती हैं और तैर कर आगे निकल जाती हैं। तब आवश्यक हो जाता है कि किसी समर्थ आत्मीय के सामने अपने हृदय को खोला जाय और उसके समक्ष आश्वासन से अपनी आत्मा को पुनः सचेत और सतेज किया जाय। सन् ६० का अन्तिम भाग मेरे लिए कुछ ऐसा ही विपद् और परीक्षा का काल था। मन बेहद आलोड़ित था और मुझे ईश्वर, परम्परा नीति और प्रीति सब पर एक बड़ा बहुत बड़ा प्रश्न-चिह्न खड़ा दीखता था। मेरी आस्तिकता मेरे हाथों से छूटी जाती थी और यह मुझे सह्य नहीं हो रहा था। मैं बहुत उदास और खिन्न था। मेरी सीमित तुच्छ-बुद्धि अन्दर की घुटन और उलझन को खोलने और सोचने में स्वयं को एकदम असमर्थ पाती थी। अध्ययन से उन दिनों मुझे अरुचि हो गयी थी। सत्य भी है कि मन की ऐसी अवस्था में बहुधा हमारी रहस्यभरी कविताएँ, सैकड़ों कलात्मक कहानियाँ और शक्तिशाली नये उपन्यास भी वह काम नहीं कर पाते, जो सहानुभूतिपूर्ण पुरुष के दो प्रेम वाक्य कर जाते हैं। अस्तु डॉ. रघुवीरशरण दाधा द्वारा आयोजित एक गोष्ठी में अचानक मुझे जैनेन्द्रजी के दर्शन हो गये। वहाँ की चर्चा से मुझे लगा कि क्यों न मैं जैनेन्द्रजी के समक्ष ही अपना जी खोलूँ। शायद उन्हीं के वचनों से

मन को शान्ति मिले। वहीं गोष्ठी मे मैंने उनसे समय मांगा और जाकर उनसे मिला। जो घुटन मात्र बौद्धिक अथवा सासारिक नही होती, जिसकी जडें अन्दर कही तथाकथित अवचेतन अथवा आत्मा तक फैली होती है, उसे परिगणित शब्दों की सीमा मे शत-प्रतिशत ज्यो-का-त्यो रखा जा ही नही सकता। व्यक्ति साफ-साफ कुछ भी कह नही पाता और एक अग्रेजी मुहावरे के शब्दो में झाडी के चारो ओर बस चक्कर काटता है। जैनेन्द्रजी के सामने पहुँचकर मेरी भी कुछ वैसी ही दशा हुई। अपनी व्यक्तिगत बात मैं कुछ भी उनके सामने नही रख सका। जो कुछ मैंने उनसे कहा, वह शायद यह था, "जो कुछ भी परम्परागत है, रीति-नीति, विश्वास-मान्यता, आज सबमें से मानवीय आस्था उठ चुकी है। आज का मानव नकार का उपासक है। पुरानी नीतियां मिट रही हैं, पर नयी बन नही रही हैं। ऐसी स्थिति में आप जैसे आस्तिकों का क्या यह कर्तव्य नही हो जाता कि प्राचीन का पुनर्मूल्यन और नवीन का समालोचन कर श्रद्धा, आस्था और आस्तिकता को टूटने से बचायें? कारण, विज्ञान की विभीषिका की छाया में मानवता को आस्था का ही सहारा हो सकता है।" कहने को मैं ये मोटे-मोटे शब्द कह गया, पर स्वय नही जानता था कि मैं जैनेन्द्रजी से क्या आशा करता हूँ, क्या चाहता हूँ। बातें हुईं। बातो में मुझे रस मिला। जैनेन्द्रजी जो कुछ कह रहे थे, उसमे प्रीति का आस्वाद तो था ही, एक नयी दृष्टि भी थी, जो आकर्षित करती और बांधती थी। मैंने निर्णय किया कि मैं जैनेन्द्रजी के सामने एक प्रश्न-माला रखूं, जिसके उत्तर लिपि-बद्ध होते जायें। यह भी फैसला किया कि प्रश्न पूर्व-निश्चित अथवा पूर्वा-योजित न होकर तात्कालिक सूझ की उपज हो और उनका स्तर बौद्धिक और अकादमीय न होकर सर्वसाधारण एव हार्दिक हो।

अगले दिन से प्रश्नो का और उनके उत्तरों का तांता आरम्भ हुआ, जो द्रौपदी के चीर की तरह खिचता और खुलता ही चला गया। कहां से प्रश्न आते गये और कैसे उत्तरो का चीर जैनेन्द्र में से अथवा उन 'पर' से उतर-उतरकर ढेरका-ढेर जमा होता गया, पता नही। जैनेन्द्र के कृष्ण तो शायद उनके अन्दर ही बैठे थे और नूतन उद्भावनाओ का चीर बढाते जाते थे। मैं स्वय को दु:शासन कहा जाना पसन्द नही करूंगा और श्रद्धेय जैनेन्द्रजी की श्रद्धा को द्रौपदी की सज्ञा देने का दु:साहस भी मेरे बस का नहीं है। पर मै यह स्वीकार करूंगा कि पूरा प्रयास करने पर भी चीर को अधूरा ही उतार पाया हूँ। अभी कितना कुछ जैनेन्द्रजी में और छुपा पडा है, यह बताना भी मेरी शक्ति से बाहर है। पर जब इस अधूरे प्रयास को आचार्य श्री दादा धर्माधिकारी ने जैनेन्द्र का 'जीवन-दर्शन' बताया, तो मेरी प्रसन्नता की सीमा न रही और मैंने स्वय को कृत-कार्य समझा।

जैनेन्द्र का मर्म

आज मैं सोचता हूँ तो आश्चर्य से भर उठता हूँ कि क्यों और कैसे जनवरी से सितम्बर तक कुछ खाली गये दिनों को छोड़कर, पूरे छह महीनों तक प्रतिदिन कमलानगर से चलकर दरियागंज तक मैं पहुँचता रहा और तीन-चार घण्टे दैनिक जैनेन्द्रजी पर प्रश्न डालता रहा और उत्तर टाँकता रहा। मैं जो इतना लम्बा टिक सका उसका श्रेय तब ही मुझे नहीं पहुँचता। महत्त्व प्रश्न का नहीं है। कौन है जिसकी आँखें शाश्वत प्रश्न से शून्य हैं? महत्त्व उस उत्तर का है जिसको पीकर उत्सुक आँखों में चमक आ जाय धुन्ध छँट जाय और रास्ता सूझने लगे। ऐसे ही उत्तरों के प्रकाश में नये गति-चिह्न बीच-बीच आते हैं कल्पना और बुद्धि में सक्रियता आती है और व्यक्तित्व में एक भराव एक उत्तीर्णता अनुभव होती है। मैं कहूँगा कि जैनेन्द्रजी की प्रतिक्रिया मुझ पर ठीक ऊपर जैसी ही हुई। उन दिनों मन जैसे उन विचारों और वचनों से भरा रहता था और एक दिन की चूक भी त्रुटि लगती थी। अजेय जैनेन्द्रजी मुझे प्रौढ़ अभिभावक गुरु से बढ़कर एक समवसरण पर सर्वज्ञ जिन के समान लगने लगे थे जिनका मान-सिक-हार्दिक सान्निध्य मानो मेरे लिए अनिवार्य बन गया था। ऐसा क्यों सम्भव हो सका? क्योंकि जैनेन्द्रजी इतने निर्द्वन्द्व हैं कि वे बौद्धिक साहित्यिक गरिमा और ख्याति से अनभिभूत रहकर सामने बैठे व्यक्ति के समतल तक उतर सकते और उसके हृत्-तारों से अपने हृदय के तारों को मिला सकते हैं। मैंने देखा है कि उन्हें हर आगन्तुक से पूछने और चर्चा करने में और उसके मन और बुद्धि को कुरेदने-टटोलने में बड़ा रस मिलता है। उनकी इस प्रवृत्ति का उद्देश्य मनो-रंजन करना अथवा अपनी विद्वत्ता की धाक जमाना कदापि नहीं होता। उनका लक्ष्य व्यक्ति का अध्ययन करना उसकी सहानुभूति प्राप्त करना और उसे सहा-नुभूति देना ही होता है। उनके यहाँ हर किसी का स्वागत है। और हर किसी को अवसर है कि वह उनके सामने स्वयं को खोल सके, निरावरण कर सके। मैं समझता हूँ शुभ ही हुआ कि जैनेन्द्रजी सरकार के अथवा विश्वविद्यालय के किसी पद पर पदासीन न हो सके। ऐसा हो जाता तो वे इतने उदार, खुले निरहंकारी और निर्द्वन्द्व न रह पाते। न मुझे उनका इतना लम्बा साक्षात्कार लेने की सुविधा मिल पाती और न ही उनके उत्तर मुझे अभिभूत कर पाते। क्योंकि तब कदाचित् वे व्यक्तित्व की उपर्युक्त विशेषताओं से सिक्त और प्रेरित न होते। इन उत्तरों की प्रभाव-शक्ति का दूसरा कारण यह है कि प्रीति-रस से भीगे ये उत्तर निरे बौद्धिक अथवा अनात्मीय स्तर से नहीं आये हैं। जहाँ तक मैं जान पाया हूँ जैनेन्द्रजी का अध्ययन विशाल नहीं है। जो कुछ भी योग-भाग पढ़ पाये हैं, उसे भी स्थूल रूप में स्मृति-कोष में जमा नहीं रखते बल्कि उसके तत्त्व अथवा प्रभाव को रस

रूप मे स्वय मे पचाकर सब-कुछ भूल जाते हैं। बरसा हुआ जल उनकी बुद्धि के गढ़े मे इकट्ठा होकर चमकता और सड़ता नही है, बल्कि उनके अन्तरग मे रिस और उतर जाता है। ऐसा व्यक्ति कभी भी यांत्रिक, अकादमीय स्तर मे बात नही कर सकता। उसकी बातें अन्तरतम से नि सृत होती है, वे स्वानुभूति और सम्बुद्धि की होती हैं। ऐसे व्यक्ति का स्थूल विवेक और प्रयोजन इतना पारदर्शी बन जाता है कि वह अन्तमन मे निहित व्यथा और अनुभूति को ढँक नही पाता। स्थूल सासारिकता और रूढ अहता के दबाव से मुक्त जैनेन्द्रजी का चिन्तनशील अन्तर्मानस मानो अनन्त अस्तित्व को अपने मे भर लेने मे समय बन गया है। परिणामत जीवन और जगत् के असख्य सत्य उनके मानस-पट पर अनायास झलक उठते हैं और उनके निरस्त्र बहिर्मन, बहिर्विवेक को बीधकर ऊपर छलक-छलक जाते है। ये सत्य इतने स्पष्ट, मौलिक एव पैने होते हैं कि चमत्कृत करते है। वे हृदय को तृप्त एव दृष्टि को स्वच्छ बनाते हैं। जैनेन्द्रजी के स्वभाव का अपनत्व-भाव और उनके विचारों की यह सूक्ष्म निगूढ़ मौलिकता ही है, जो श्रोता और पाठक को विमुग्ध-विमोहित करती जाती है। इसीमे उनके विचारों की शक्ति और उनकी अभिव्यक्ति की अनूठी कला का रहस्य निहित है।

दार्शनिक जैनेन्द्र

पूरे हिन्दी-जगत् की तरह मैं भी जैनेन्द्रजी को प्रेमचन्द के शिष्य, एक कहानीकार एव उपन्यासकार के रूप मे ही जानता था और उनके विचारक रूप को एक 'पोज' ही समझता था। पर इस एक वर्ष के निकटतम सम्पर्क से मुझे महसूस हुआ कि जैनेन्द्र का विचारक रूप उनके कथाकार रूप से कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। वरन् वही उनका सत्य, यथार्थ रूप है। विभिन्न साहित्यकार अलग-अलग प्रेरणाओ से प्रेरित होकर लिखते हैं। कोई किसी घटना से, कोई किसी चरित्र से, कोई एक आदर्श स्वप्न से और कोई हृदय की किसी भावना से। अपने कृतिकार जीवन के आरम्भ से ही जैनेन्द्रजी उन सत्यों की प्रेरणा से लिखते हैं, जिनका साक्षात्कार उन्होंने अपनी बुद्धि से नही, अपनी सम्बुद्धि से, अन्तर के गहनतम मे किया है। जैसे-जैसे यह सत्य-साक्षात्कार स्पष्ट, परिष्कृत, सम्पूर्ण होता गया, उनका विचारक रूप निखरता गया और साथ ही उनका कथाकार उन्हीकी अपनी दृष्टि मे गौण बनता गया। प्रस्तुत 'समय और हम' को इसी विकास-क्रम की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी मानना होगा। मुझे विश्वास है, यह ग्रन्थ जैनेन्द्र को प्रत्यक्ष मौलिक दार्शनिक रूप मे प्रतिष्ठित कर सकेगा। ऐसा होना मुझे बहुत आवश्यक प्रतीत होता है, जैनेन्द्र-साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए भी और इसलिए भी कि जैनेन्द्र की विचारणा मे बहुत कुछ ऐसा है, जो आज के—वैज्ञानिक,

वस्तुवादी आलोचनाप्रवण पर स्थिर-चित्त सन्तत्व—मानव को बौद्धिक आश्वासन प्रदान कर सकता है और उसके सामने जगत् और जीवन के शाश्वत मूल्यों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करके उसे उनके प्रति निष्ठावान् बना सकता है। आज के मानव को ऐसी निष्ठा की सबसे बड़ी आवश्यकता है क्योंकि उसके बिना वह विज्ञान की भीषणतम प्रलयकारी शक्तियों को अपने वश मे रखने और उनके दुरुपयोग से बचने की क्षमता प्राप्त नही कर सकता। ऐसी निष्ठा अन्ध-श्रद्धा-पूर्ण धर्म-सम्प्रदायो स्वमत-प्रतिपादन-प्रवण वितण्डावादी दार्शनिक मत-मतान्तरों और साहित्य-कला के तथाकथित सांस्कृतिक कार्यक्रमों म से मिल पानी असम्भव है। वह तो आस्तिकता की उस अन्तर्दृष्टि मे से ही प्राप्त हो सकती है, जो ईश्वर, जगत् और जीवन का वैज्ञानिक निरूपण हमारे सामने प्रस्तुत कर सकती है। मुझे जैनेन्द्रजी मे वह अन्तर्दृष्टि मिली है। हो सकता है कभी-कभी उनके विचार अटपटे अव्यावहारिक और असाधारण आदर्श-लोक के से लगें। पर यदि उन पर सचेत एवं उत्तीर्ण मानस से विचार किया जायगा तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि वे अनुभूति के सत्य पर आधारित हैं और उनमे और हमारे विचारों में कहीं भी तो विरोध नहीं है। बस हुआ यही है कि वे स्थूल सत्य और संस्कारों की परतों को कुछ अधिक उलट-पलट सके हैं और अधिक गहरे उतर सके हैं। हम स्पष्ट समझ लेंगे कि उनका सत्य पूर्णतया व्यावहारिक है और वे बहिर्मन की स्थूल, सीमित प्रयोजन-बद्धता और स्थूल लाभ-हानि के गणना-विवेक को अन्तर्मन में भरी अनन्त चिदुन्मेषता से जोड़ सकते और इस प्रकार अन्यथा साधारण मानव में निहित असाधारण सम्भावनाओं को उन्मुक्त कर सकते हैं।

दर्शन की एकांगिता

दर्शन का विषय-विस्तार कहाँ से कहाँ तक है यह विवादास्पद है। पर यदि दर्शन शब्द का अर्थ सत्य-साक्षात्कार किया जाय तो ज्ञान-विज्ञान के सभी विभाग दर्शन की शाखा-प्रशाखा बन जाते हैं। प्रकटतः धर्म-साहित्य कला-शिल्प इतिहास-अर्थशास्त्र राजनीति-समाजनीति रसायन एवं भौतिकशास्त्र ये सभी विषय दर्शन को समृद्ध और परिपुष्ट करते दीख पड़ते हैं। इन सबके चरम-तथ्य (Ultimate truths) दर्शन के अवयव हैं जो मिलकर विराट सत्य को अन्वित और प्रमाणित करते हैं। पर दर्शन अपने इस वास्तविक रूप में कभी भी मान्य न हो सका। क्यों ऐसा हुआ यह अध्ययन का विषय है। मानव-अस्तित्व को दो मोटे भागो मे बाँटकर देखा जाता है, मानसिक और भौतिक। यह दोनों विभाग निरन्तर एक-दूसरे की पूर्ति और पुष्टि करते चलते हैं। दोनों के ऐक्य सह-अस्तित्व एवं सह-गमन से ही मानव के व्यक्तित्व मे परिपक्वता कर्मण्यता

एव कृतार्थता आ सकती है। पर लगभग शत-प्रतिशत प्राचीन दार्शनिकों ने इन मनोनीत विभागो के बीच खिंची बौद्धिक लकीर को पत्थर की लकीर ही नही बना डाला, बल्कि इस कृत्रिम द्वैत को अधिकाधिक पक्का किया। उन्होंने एक फल के दोनो टुकडो का रस सम्मिलित निचोडने के बदले एक खण्ड को ग्राह्य और दूसरे को अग्राह्य घोषित कर दिया। उन्होंने सूक्ष्म मानसिकता को इतना आत्यन्तिक महत्त्व दिया कि स्थूल शारीरिकता और भौतिकता अस्पृश्य बन गयी और वे प्रथम को सत् (है) और दूसरे को असत् (नही है) कहने पर बाध्य हो गये। इस प्रकार दर्शन अस्तित्व के मानसिक-बौद्धिक अध्ययन तक सीमित हो गया। इस भौतिक-वैज्ञानिक पक्ष की तिलाजलि का परिणाम यह हुआ कि दार्शनिको के पास सत्य-साक्षात्कार का साधन रह गया—केवल यौगिक सम्बुद्धि, अथवा इलहाम। वे फिर इस तरह उपलब्ध मत को शब्द-प्रमाण, तर्क-वितर्क, वितण्डा द्वारा सिद्ध और पुनस्सिद्ध करने मे जुट गये।

सभी दार्शनिको ने अध्ययन के लिए जिन विषयो को चुना, वे रहे—सृष्टि, ईश्वर, आत्मा, मन, बुद्धि, कर्म, जन्म-पुनजन्म, मुक्ति, विलय आदि। ये मौलिक महाप्रश्न हैं। और एतत्-सम्बन्धी मानवीय विश्वास और मान्यताएँ आदिकाल से मानव-जीवन और भविष्य को प्रभावित करती रही हैं और करती रहेंगी। पर यह मानना होगा कि दार्शनिको के समाधान कितने भी अन्तिम क्यो न सिद्ध हो, वे विश्वास और अन्ध-विश्वास पर आधारित और उनके पोषक रहे, वैज्ञानिक प्रयोगसिद्ध स्थापनाओ का रूप उन्हें कभी नही दिया जा सका और वे कभी वैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण से पुष्ट नही किये गये। यह आश्चर्य का ही विषय है कि विराट् भारतीय दर्शन की विशुद्ध न्याय-पद्धति मे प्रयोग-प्रमाण की गणना नही है। गणित, भौतिकी, रसायन, शिल्प, यान्त्रिकी, नक्षत्र-विज्ञान, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि का पर्याप्त विकास भारत मे हुआ है, पर इनका उपयोग उपर्युक्त महाप्रश्नो के हल मे नही किया गया। वे मानव-अस्तित्व की रक्षा और विकास मे नियुक्त हुए, देवताओ की अर्चा-उपासना मे भी उनका उपयोग हुआ, पर मानव-जिज्ञासा के क्षेत्र से उन्हे कोसो दूर ही रखा गया। शाश्वत जिज्ञासाओ की तृप्ति को अनुमान और कल्पना पर छोड दिया गया। इस प्रकार दर्शन बौद्धिक विलास और तर्क-वितण्डा का क्षेत्र बन गया और मानव-अस्तित्व की भौतिक समस्याओ से उसका सम्बन्ध एकदम टूट गया। दर्शन का सकुचन हो गया और ठोस धरती उसके पैरो के नीचे से निकल गयी। वह 'रहस्य' और 'शून्य' मे डूब गया और भौतिक अस्तित्व सूक्ष्म मानसिकता से दूर पडकर स्वार्थ और हिंसा की घोरता को अपनी प्रेरणा बनाने के लिए बाध्य हो गया।

धर्म की जिम्मेवारी

दर्शन के इस एकांगीय अपूर्ण एवं अवैज्ञानिक आचरण के लिए धर्म-पन्थ बहुत दूर तक जिम्मेवार है। धर्म का प्रेरणा-स्रोत क्या है? धर्म क्या है? भय अथवा श्रद्धा के वशीभूत होकर सीमित स्व को शेष विराट् में व्यय करने और विराट् को सीमाओं में बांधने की आतुरता से प्रेरित मानव ने जिन विश्वास-मान्यताओं विधि-विधानों पूजा-अर्चनाओं और कर्मकाण्डों की उद्भावनाएँ कीं वे ही सब धर्म हैं। अधिकतर ऐसा हुआ कि ऋषियों-पैगम्बरों ने अपने साक्षात्कार को सामाजिक-राजनीतिक रुचि में ढालकर विशेष धर्म का आकार दे डाला और सम्बद्ध दार्शनिकों ने अपनी जिज्ञासा को उस रूप रूपरेखा को फाँदकर असीम में बढ़ने देने का साहस नहीं किया। धर्म ने शुद्ध जिज्ञासा को निषिद्ध ठहरा दिया और मिश्रित सीमित जिज्ञासा को भी अन्ध-श्रद्धा का दास बने रहने की शर्त पर ही जीने की इजाजत दी। भारत में विशेषकर उपनिषद्-काल तक फिर भी यह गनीमत हुई कि धार्मिक साक्षात्कार एक अकेले पैगम्बर की देन न रहकर अनेक ऋषियों के योगदान से सम्पन्न हुआ। उपनिषद्-काल तक भारत में सीमित जिज्ञासा और प्रयास को काफी खुला अवसर मिला। पर शीघ्र ही औपनिषदिक उपलब्धियाँ रूढ़ बन गयीं। बहुत कुछ पैगम्बरीय विशेषताओं से युक्त बौद्ध-धर्म के विरोध में वैदिक-औपनिषदिक उपलब्धियों को एक जामनी बनना पड़ा और स्पष्ट है कि आगे के भारतीय दार्शनिक वैदिक एवं बौद्ध इन दो वृत्तों में चक्कर काटते रहे। अस्तित्व की रक्षा एवं विस्तार के तल पर धर्म-दर्शन श्रद्धा-जिज्ञासा भावना बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान कला-शिल्प का सम्मिश्रण करके एक ठोस समाज-पद्धति व्यवहार-पद्धति और आर्थिक समृद्धि का विकास हमने भले ही कर लिया हो पर शुद्ध ज्ञान के स्तर पर श्रद्धा और जिज्ञासा कल्पना और प्रयोग आत्मिक और भौतिक को हमने परस्पर घुलने-मिलने नहीं दिया। उनके द्वैत को स्थिर रखा। सामी अरबी यहूदी और ईसाई देशों में क्योंकि पैगम्बरवाद का बोलबाला रहा इसलिए वहाँ के दार्शनिक तो विश्वास और तर्क की नोक-झोंक में ही उलझे रहे। अपनी मौलिक उपपत्तियों के नाम पर उन्होंने अफलातूं और अरस्तू का अनुवाद भर ही किया। यूनान का यह सौभाग्य ही मानना चाहिए कि वहाँ शुद्ध भौतिक जिज्ञासा की शुरुआत अफलातूं और अरस्तू आदि ने प्राण-प्रतिष्ठा की। शाश्वत प्रश्नों में उलझे रहना वहाँ के सामान्य नागरिकों का शौक बन गया था। यूनान का प्राचीन धर्म शायद अधिकांश भय पर आधारित था और वह यूनानी मेधा को बाँधे रखने में अक्षम सिद्ध हुआ। यूनानी दार्शनिकों ने अपना कार्यक्षेत्र मानसिकता तक सीमित न रहने दिया। वे एक साथ समाजशास्त्री वैज्ञानिक और कलाविद् भी बने। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान की विविध धाराओं

की उद्भावनाएँ कीं। अरस्तू ने प्रायोगिक विज्ञान का बहुत समर्थन किया। उसने और अन्य यूनानी दार्शनिकों ने वैज्ञानिक प्रयोगों को प्राकृतिक समस्याओं के हल में नियोजित किया। मध्योत्तरकालीन [illegible] के समय में यूरोपीय वैज्ञानिकों ने उन यूनानी दार्शनिकों की परम्परा को ही आंशिक रूप में पुनरुज्जीवित किया। आंशिक रूप में इसलिए कहता हूँ, क्योंकि वर्तमान विज्ञान विराट है, आविष्कारों में और मानसिकता के सन्दर्भ की अपेक्षा [illegible] सामाजिक प्रयोजनों के बल पर बढ़ा और बढ़ा। ऐसा धर्म और दर्शन के रूढ़िवाद और अविचार की प्रतिक्रिया में ही हो पाया। यदि आरम्भ से ही धर्म-दर्शन भौतिकता को अमान्य न बनाकर उसे समान रूप से साथ लेकर चलते, तो शायद विज्ञान इतना एकांगी और विद्रोही न बन पाता।

पैगम्बरवाद और दार्शनिक चिन्तन

एकेश्वर-एकपैगम्बर-वाद और बहुदेव-बहुऋषि-वाद में दोनों प्रकार के परिणाम की दृष्टि से क्या अन्तर रहा है, इसका अध्ययन बहुत आवश्यक है। एकेश्वरवाद का खुदा जगत् और सृष्टि से बहुत दूर आर-पार, इनसे एकदम पृथक् एक स्रष्टा, नियामक बादशाह का-सा अस्तित्व रखता है। वह सर्वोच्च सर्वशक्तिमान् पुरुष है और प्रकृति उसका खिलौना है। अरूप, निराकार कहे जाते हुए भी उसका व्यक्तीकृत और देवीकृत (Personified and Deified) रूप हर मौलिक के मन में स्वभावतया स्वीकृत है। प्राकृतिक तत्त्व-भूत इन खुदा के गुलाम हैं। उनसे खुदा का दूर का भी तन का सम्बन्ध नहीं है। ऐसे खुदा को तात्त्विक विवेचन एवं वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय नहीं बनाया जा सकता। उसके अदृश्य अस्तित्व और अमानवीय पौरुष पर ईमान ही लाया जा सकता है। पैगम्बरवाद और पवित्र ग्रन्थवाद भी मानवीय जिज्ञासा का पनपना और फलित होना सहन नहीं कर सकते। कथित-लिखित वचनों-स्थापनाओं की यह दीवार इतनी पक्की बन जाती है कि उनके बौद्धिक-वैज्ञानिक परीक्षण करने और नवोपलब्ध ज्ञान के आधार पर उनमें घटा-बढ़ी करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। सबसे बड़ी बात यह है कि मान्य पैगम्बर के अतिरिक्त अन्य कोई भी सम्बुद्धिशील, उच्चात्मा, ऊर्ध्वचेता हो सकता है, यह सम्भावना ही शत-प्रतिशत अस्वीकृत बन जाती है। ज्ञान-विज्ञान का विकास किसी एक के नहीं, अगणित ऋषियों के सम्मिलित प्रयास का फल ही हो सकता है। पैगम्बरवाद में धर्म और दर्शन अनिवार्यतः रूढ़ उपासना-पद्धति का रूप लेकर अनुदार, हठवादी पुजारियों और पण्डितों की सम्पत्ति बन जाते हैं और ज्ञान-विज्ञान की अनन्तता से उनका सम्पर्क नहीं हो पाता। इतिहास में मध्ययुग को जो अन्धयुग कहा जाता है, वह बहुत-कुछ उपर्युक्त विशेषता के कारण ही।

ऋषियों का उन्मुक्त चिन्तन

भारत में धर्म और दर्शन का आरम्भ बहुदेववाद और बहुऋषिवाद से हुआ। इन्द्र वरुण सूर्य आदि वैदिक देवताओं का भौतिक रूप अभौतिक नहीं यथार्थ में भौतिक है। विभिन्न भौतिक तत्वों एवं हलचलों को ही वहाँ देवी-देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। उनको लेकर जो कहानियाँ गूँथी गयीं वे उनकी मूल प्रकृति एवं आचरण से निरपेक्ष नहीं हैं। पौराणिक युग में निश्चय ही देवी-देवताओं का भौतिक रूप बहुत अधिक ओझल बन गया। कितने ही साम्प्रदायिक सांस्कृतिक कथात्मक आर्थिक तत्त्व इनमें आ मिले और सामयिक समस्याओं की दृष्टि से भी इनमें यथासमय उलटफेर किये गये। इस प्रकार औपनिषदिक युग के बाद से वैदिक देवी-देवता विशुद्ध भौतिक न रहकर भाव-कल्पना-निर्मित इष्टसिद्धि के रूप (Deities) बनते चले गये। पर औपनिषदिक युग तक के इन देवी-देवताओं का और उनकी अर्चा में किये जानेवाले यज्ञों का बौद्धिक-वैज्ञानिक महत्त्व स्पष्ट है। उपनिषत्कार ऋषियों ने जिस सर्वोच्च देवता परमब्रह्म की स्थापना की वह भी पैगम्बरवादियों का पिता या बादशाह खुदा नहीं है बल्कि वह परमतत्त्व है जो अन्य सभी भौतिक तत्त्वों से सूक्ष्मतम है उन सबमें निहित व्याप्त और उन सबसे शक्तिशाली है। वह सूक्ष्मवत् है अरूप है और रूप अर्थात् भौतिक पिण्ड उससे बने हैं यह नहीं कि उसने बनाये हैं। उपनिषदों का ब्रह्म व्यक्तिमय (Personified) एवं गुण-निरपेक्ष नहीं है और उसे बौद्धिक-वैज्ञानिक प्रयास का विषय बनाया जा सकता है। देवी-देवताओं और परमब्रह्म के उपनिषद्-काल तक के भौतिक-वैज्ञानिक स्वरूप और आगे उनके धर्मात्मक सांस्कृतिक एवं पौराणिक स्वरूप का विकास भारत की बहुऋषि प्रथा के कारण ही सम्भव हो सका। देवताओं की बहुसंख्या और दर्शन ज्ञान-विज्ञान की अनन्त शाखाएँ, जिनका विकास भारत में हुआ भारतीय परम्परा में वर्तमान मुक्त विचारणा और मुक्त प्रयास की प्रमाण हैं।

दर्शन का दिशा-परिवर्तन

पर वैदिक औपनिषदिक काल की सर्वग्राही उन्मुक्त जिज्ञासा आगे चलकर तथाकथित अध्यात्म में ही सिमट क्यों हो गयी और उसने जगत् शरीर और भौतिकता के प्रति पूर्ण निषेध का रुख क्यों अपना लिया यह भारतीय धर्म दर्शन और इतिहास की सबसे बड़ी समस्या है। भारतीय मानस ने किस दिन और किस प्रेरणा के वश होकर अगम्यता अनभिव्यक्ता की ओर पहला कदम बढ़ाया यह अज्ञात है। पर वैदिक औपनिषदिक दर्शन-विचारणा से एकदम विपरीत कर्म शरीर और जगत् को दुःख का मूल माननेवाली; वेदविरोधी बौद्ध-जैन धारा मात्र प्रतिक्रिया नहीं है, आकस्मिक नहीं है। उसका मूल कहीं सुदूर अतीत में है इससे इनकार नहीं होना

और 'स्थूल व्यवहार' की समग्र धारीणा, नापेक्ष और व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि अधिकतर दार्शनिकों ने इनका विवेचन बौद्धिक स्तर पर किया है, श्रद्धा के स्तर पर नही।

जैनेन्द्र-दर्शन

जैनेन्द्रजी सापेक्षतावादी चिन्तकों की परम्परा मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने समन्वय के महाप्रश्न को उठाया है और उस पर केवल बौद्धिक स्तर मे नही, हार्दिक तल पर विचार किया है। उनका दर्शन इस युग के लिए अनिवार्य दूसरी श्रेणी का है। उनकी विचारणा श्रद्धात्मक सन्तुलन मे सन्तुलित है। यह परस्परविरोधी मान्यताओ मे टकराती हुई नही, बल्कि उन्हे अपने मे सहेजती-समेटती चलती है। विभिन्न तत्त्वो का उनका विश्लेपण मात्र परम्परागत अथवा अकादमीय न होकर, मौलिक एव अकाट्य है। उन्होंने अपनी विचारणा को विशुद्ध आध्यात्मिक अथवा मात्र भौतिक तल पर न टिकाकर ब्रह्म और अह के उस मूल स्वरूप पर आधारित किया है, जिसमे आत्मा और पिण्ड दोनो सहज समाविष्ट है, जहाँ उन दोनो मे ग्रन्थियाँ नही हैं और वे अद्वैत रूप मे प्रकृत अकृत्रिम आचरण करते हैं।

चार मूल तत्त्व

मैंने 'भारती' मे प्रकाशित अपने लेख 'जैनेन्द्र-दर्शन के मूल तत्त्व' मे जैनेन्द्र-दर्शन को चार मूल तत्त्वों पर आधारित किया है। ये हैं—१ ब्रह्म अथवा आस्तिकता २ अह ३ स्व-परता की चुनौती अथवा परस्परता ४ अहिसा। जैनेन्द्रजी जीवन-जगत् के शाश्वत प्रश्नो का क्या समाधान प्रस्तुत करते हैं और हमारी वैज्ञानिक सभ्यता के सामने उपस्थित अध्यात्म-भौतिकवाद के सन्तुलन की समस्या को उन्होंने कितनी गहराई से अनुभव किया है, इसकी कुछ झाँकी आगे उपर्युक्त चार मूल तत्त्वो का विवेचन करते हुए दे पाने का प्रयास मैं करूँगा।

ब्रह्म की खोज में पहला चरण

'जिसके बारे मे हम कुछ बता नही सकते, उसके बारे मे हमे चुप रहना चाहिए।' विलैंस्तीन की यह उक्ति यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप पर पूरी तरह सही उतरती है, तब भी मानव की बुद्धि और उसकी वाणी ईश्वर के विषय मे कभी भी निष्क्रिय नही रही। ईश्वर मानव-प्रज्ञा के सामने उपस्थित सबसे विकट रहस्य है। मानव ने अपने अस्तित्व के सुदूर आदिकाल से आज तक इस रहस्य के उद्घाटन का अनवरत प्रयास किया है। इस प्रयास के प्रगति-क्रम का कुछ अध्ययन किया जा

सकता है। इस विचित्र विराट् सृष्टि में पुरातन मानव की अपरिपक्व बुद्धि ने जब विविध दुर्धर्ष शक्तियों को सक्रिय पाया, उनको उसने अपनी कल्पना के द्वारा मानवी मानवेतर अथवा मिश्रित काया-वस्त्र पहनाकर अपने देवी-देवता बना लिया और उनकी पूजा के लिए बृहद् मन्दिरों, रहस्यमय विधि-विधानों एवं भयानक पर मनोरंजक प्रथाओं की सृष्टि की। मिस्री, यूनानी और रोमन देवी-देवताओं के चित्र देखकर और उनके कार्य-कलापों के विवरण पढ़कर पता चलता है कि आदिम मानव ने ईश्वर को विभक्त भौतिक शक्तियों के रूप में देखा और समझा। उसके अनुसार संसार और मानव का भाग्य इन क्रूर, निरंकुश शक्तियों की मुट्ठी में है और ये उसके साथ मनमानी करने में अमानुषीय रस लेते हैं। पर सभी देवता ऐसे नहीं हैं। कुछ सरल उदार और सदय भी हैं, जो आसुरी शक्तियों के विरुद्ध मानव की सहायता करते हैं और उसे सौभाग्य प्रदान करते हैं। मानव की कल्पना ने इन सुरासुरों के बीच अनेकबार नोक-झोंक और भीषण युद्ध कराये हैं। होमर के इलियड-ओडीसी में इन सबका रोमांचक पर अनुरंजक चित्र प्रस्तुत है। एक विशेष बात यह कि अपनी विभिन्न वृत्तियों, कामनाओं, वासनाओं का आरोप भी मानव ने इन देवी-देवताओं में किया और अपना जातीय इतिहास भी इनकी कथाओं में गूँथ दिया। इस प्रकार विराट् भौतिक शक्तियों को उसने अपनी सुविधा के लिए आकारबद्ध बना लिया और अविज्ञात भय से प्रेरित होकर वह उनकी पूजा करने लगा। मानव की ईश्वर-सम्बन्धी इस आदिम कल्पना का विपुल नमूना यूनानी देवी-देवताओं में देखा जा सकता है। भारतीय (आर्य) देवी-देवता भी 'ग्रीक पान्थस' के समान ही कल्पित हुए होंगे पर भारतीय देवी-देवताओं का रूप भारतीय दर्शन और संस्कृति के विकास के साथ बहुत संस्कृत और परिष्कृत हो गया। वे उतने आदिम न रहे। दूसरे वे आरम्भ से ही अमूर्त रहे, मूर्त नहीं। भारतीय कल्पना का रुख शुरू से ही सूक्ष्म की ओर रहा। ग्रीक और भारतीय देवताओं का अन्तर भारतीय 'इन्द्र' को उसके समकक्ष ग्रीक 'ज़ियस' से तुलना करने पर स्पष्ट देखा जा सकता है। पर इन सभी आदिम देवी-देवताओं में कुछ समान तत्त्व स्पष्ट हैं। इन सभी में भौतिक दुर्धर्ष शक्ति का बोलबाला है। ये अमानवीय अलौकिक कारनामे करने में सक्षम हैं। मानव की बुद्धि इन शक्तियों के स्थूल दृश्य रूप पर ही अटकी है। वह इनकी अनेकता में एकता खोजने और पाने में प्रवृत्त नहीं हो पायी है। अभी मानव स्थूल-सूक्ष्म, दृश्य-अदृश्य, भौतिक-आत्मिक में स्पष्ट विभेद-विवेक नहीं रखता। वह भौतिक शक्तियों को अपनी अन्तर्वृत्तियों के चश्मे से देखता और समझता है और अभेद भाव से दोनों का मिश्रण कर उसने अपने लिए उपर्युक्त देवी-देवताओं का निर्माण कर लिया है। यह ईश्वर की खोज में मानव का पहला कदम था।

चाहिए। कुछ भी हुआ हो, वैदिक स्वीकारात्मक उल्लासवाद-कर्मवाद मे और नकारात्मक दुःखवाद-मिथ्यावाद मे एक स्पष्ट अन्तर्विरोध है। इस दुःखवाद-मिथ्यावाद के प्रभाव ने भारतीय दर्शन के सर्वग्राही उन्मुक्त प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया और उसको तथाकथित अध्यात्म के घेरे मे घूमनेवाला कोल्हू का बैल बना दिया। उपनिषत्-काल के बाद भारतीय दर्शन मे अध्यात्म, आत्मा, ब्रह्म आदि धारणाओ का अर्थ ही बदलकर शरीर-प्रकृति-जगत् का पूर्ण निषेध हो गया। यह निषेधात्मक दुःखवाद पूरे पूर्व एशिया मे व्याप्त हुआ और यूनानी दर्शन की सानिस्ट शाखा, ईसाइयत और इस्लाम के सूफियो पर उसका प्रभाव पड़ा। वेदान्त का परवर्ती रूप (शाकर अद्वैत) दुःखवाद-निषेधवाद का ही वैदिक संस्करण है। इस दुःखवाद-निषेधवाद के प्रवेश को भारतीय क्या, विश्वभर के धर्म-दर्शन मे एक ग्रन्थि (काम्प्लेक्स) का प्रवेश मानना होगा। यह धर्म-दर्शन की एकदेशीयता का सबसे बड़ा कारण बना। मुझे लगता है, बौद्ध-जैन धारा मे कुछ पैगम्बरवादी तत्त्व भी निहित रहे, जो परवर्ती पौराणिक धर्म मे भी प्रविष्ट और विकसित हुए। उन्होंने भी दर्शन के विकास को कुण्ठित किया और अन्धश्रद्धात्मक एकागी मान्यताओ को रूढ बनाया। धर्म-दर्शन की एकदेशीयता ही आज के भौतिक विज्ञान की चरम एकागिता की प्रेरक बनी, यह ऊपर कहा जा चुका है।

वर्गीकरण का नया आधार

शायद दार्शनिक मत-विचारणा का मापदण्ड अब बदलना होगा। दार्शनिक मतो का वर्गीकरण आस्तिक-नास्तिक, आध्यात्मिक-भौतिक आधार पर किये जाने के बदले नितान्त-सापेक्ष (Exclusive-Inclusive) आधार पर किया जाना चाहिए। हर सत्य का मर्म सापेक्ष बनकर ही सुरक्षित रह सकता है। सैद्धान्तिक तल पर यह बात सर्वथा सत्य है कि कर्म बन्धन का और जगत् दुःख का मूल है। पर इस सत्य के विरोधी जैसे दीखनेवाले दूसरे सत्य—कि कर्म से ही मुक्ति मिल सकती है और जगत् चरम सुख का कारण भी बन सकता है—को क्या निराधार और झूठ मानना होगा ? यह चरम सत्य है कि शून्य ही तथ्य है। इन स्थूल पिण्डो को परमाणुओ क्या, परमतम अणुओ मे टूटकर महाशून्य मे लय हो जाना है। इसलिए यह जगत् अस्थायी है, झूठा है, माया है। पर महाशून्य मे से फिर नये पिण्ड बनेंगे और नये जगत् प्रकट होंगे, यह सत्य क्या माया सिद्धान्त से कम महत्त्वपूर्ण है ? महाशून्य मे—सूक्ष्मतम रूप मे ही सही—सारे भूत, सारी भौतिकता नित्य वर्तमान रहती है, यह तथ्य क्या उपेक्षणीय है ? मानव क्या केवल आत्मा या केवल शरीर को लेकर जी सकता है ? यह तथ्य है कि आत्मिकता और भौतिकता दोनो को साथ लिये बिना सत्यानुभूति और सत्य-साक्षात्कार असम्भव है। इसी बात को

दृष्टि मे रखकर मैंने एक ओर अध्यात्मवाद शून्यवाद और मायावाद को और दूसरी ओर निरे वैज्ञानिक भौतिकवाद को एकदेशीय बताया है। उनके प्रति अश्रद्धा प्रकट करना मेरा उद्देश्य नहीं है। वेदान्तियो के अहं ब्रह्मास्मि' और भौतिकवादियों के 'व्यक्तिवाद-समाजवाद' में छुपी अमोघ प्रेरणा निस्सार नहीं है। पर जिस स्तर पर मानव-मेधा पहुँच चुकी है, वहाँ उनकी एकांगिता को समझ लेना भी तो बहुत आवश्यक है। एकांगी शून्यवाद-मायावाद ने भारत में वैयक्तिक-सामूहिक पुरुषार्थ को जितना क्षय किया और उसे बाह्य आक्रमणों के लिए उन्मुक्त कर दिया इसका ऐतिहासिक अध्ययन उतना ही अनिवार्य है जितना इस बात का कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध भाग में दो प्रलयंकर विश्व-युद्ध मानव की किन हीनता के कारण सम्भव हो पाये। एकांगिता की दृष्टि से अध्यात्म-भौतिक दोनो दर्शनो को एक श्रेणी में रखना मुझे उपयोगी लगता है। और दूसरी श्रेणी मे उन दर्शनो को रखा जाना चाहिए, जो इन दोनो को सापेक्ष मानकर चलते है।

प्रस्तुत प्रश्न

आज का वैज्ञानिक मानव यदि तत्काल ही उपर्युक्त दूसरी श्रेणी के सापेक्षता-वादी अर्थात् अध्यात्म-भौतिकवाद को परस्पर पूरक रूप मे लेकर चलनेवाले एक नये सर्वांगीण दर्शन को न अपना सका तो वर्तमान सभ्यता का विनाश निश्चित है। चरम सत्य और स्थूल व्यवहार इन दोनो को समान रूप से साधने की क्षमता क्या हमारी वर्तमान सभ्यता रखती है?—यह प्रस्तुत प्रश्न है, जो आज दर्शन की वर्त-मान वैज्ञानिक संस्कृति के सामने रखता है। जितनी शक्ति से दर्शन इस प्रश्न को मानव-समाज के सामने रख पायेगा उतनी ही उसकी महत्ता और कृतार्थता सिद्ध होगी। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के कितने ही दार्शनिकों ने उपर्युक्त प्रश्न को छेड़ा है और उस पर अपने-अपने ढग से विचार किया है। भारत मे स्वामी विवेकानंद ने पहली बार इस समस्या की गम्भीरता का अनुभव किया। उनकी प्रखर वाणी में अध्यात्म और भौतिकवाद मानो घुल-मिलकर एक बन गये। पर स्वामीजी के समय में विज्ञान का भय उतना बड़ नहीं बन पाया था जितना यह आज है। इस प्रश्न को सबसे अधिक ठोस और प्रखर रूप मे महात्मा गांधी ने रखा। पर उन्होंने ऐसा वाणी के माध्यम से नहीं कर्म के माध्यम से किया जिसके अर्थ उसके सत्य से मालूम पड़ता है, आज बहुत दूर पड़ गये है। काव्य-शैली से कवीन्द्र रवीन्द्र ने और दार्शनिक विवेचन की पद्धति अपनाकर श्री अरविन्द ने उपर्युक्त प्रश्न को ही आज की मानवता के सामने उठाया। पर यह प्रश्न अभी भी मानव-जाति के अन्तराल में उतर नहीं पाया है। हम समन्वय या सन्तुलन का महत्त्व समझ नहीं पाते है। उसको अपने रक्त में घोलना हमें असम्भव मालूम पड़ता है। हमारी 'चरम सत्य'

और 'स्थूल व्यवहार' की समझ बारीक, सापेक्ष और व्यावहारिक नही है, क्योंकि अधिकतर दार्शनिकों ने इनका विवेचन बौद्धिक स्तर पर किया है, श्रद्धा के स्तर पर नहीं।

जैनेन्द्र-दर्शन

जैनेन्द्रजी सापेक्षतावादी चिन्तको की परम्परा मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने समन्वय के महाप्रश्न को उठाया है और उस पर केवल बौद्धिक रूप मे नही, हार्दिक तल पर विचार किया है। उनका दर्शन इस युग के लिए अनिवार्य दूसरी श्रेणी का है। उनकी विचारणा श्रद्धात्मक सन्तुलन से सन्तुलित है। वह परस्परविरोधी मान्यताओं से टकराती हुई नही, बल्कि उन्हें अपने मे सहेजती-समेटती चलती है। विभिन्न तत्त्वो का उनका विश्लेपण मात्र परम्परागत अथवा अकादमीय न होकर, मौलिक एव अकाट्य है। उन्होंने अपनी विचारणा को विशुद्ध आध्यात्मिक अथवा मात्र भौतिक तल पर न टिकाकर ब्रह्म और अह के उस मूल स्वरूप पर आधारित किया है, जिसमे आत्मा और पिण्ड दोनो सहज समाविष्ट हैं, जहाँ उन दोनो मे ग्रन्थियाँ नही हैं और वे अद्वैत रूप मे प्रकृत अकृत्रिम आचरण करते हैं।

चार मूल तत्त्व

मैंने 'भारती' मे प्रकाशित अपने लेख 'जैनेन्द्र-दर्शन के मूल तत्त्व' मे जैनेन्द्र-दर्शन को चार मूल तत्त्वो पर आधारित किया है। ये हैं—१ ब्रह्म अथवा आस्तिकता २ अह ३ स्व-परता की चुनौती अथवा परस्परता ४ अहिसा। जैनेन्द्रजी जीवन-जगत् के शाश्वत प्रश्नो का क्या समाधान प्रस्तुत करते हैं और हमारी वैज्ञानिक सभ्यता के सामने उपस्थित अध्यात्म-भौतिकवाद के सन्तुलन की समस्या को उन्होंने कितनी गहराई से अनुभव किया है, इसकी कुछ झाँकी आगे उपर्युक्त चार मूल तत्त्वों का विवेचन करते हुए दे पाने का प्रयास मैं करूँगा।

ब्रह्म की खोज में पहला चरण

'जिसके बारे मे हम कुछ बता नही सकते, उसके बारे मे हमे चुप रहना चाहिए।' वितगेन्स्तीन की यह उक्ति यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप पर पूरी तरह सही उतरती है, तब भी मानव की बुद्धि और उसकी वाणी ईश्वर के विपय मे कभी भी निष्क्रिय नही रही। ईश्वर मानव-प्रज्ञा के सामने उपस्थित सबसे विकट रहस्य है। मानव ने अपने अस्तित्व के सुदूर आदिकाल से आज तक इस रहस्य के उद्घाटन का अनवरत प्रयास किया है। इस प्रयास के प्रगति-क्रम का कुछ अध्ययन किया जा

सकता है। इस विचित्र विराट् सृष्टि में पुरातन मानव की अपरिपक्व बुद्धि ने जन विभिन्न दुर्दम्य शक्तियों को सक्रिय पाया उनको उसने अपनी कल्पना के द्वारा मानवी मानवेतर अथवा मिश्रित काया-वस्त्र पहनाकर अपने देवी-देवता बना लिया और उनकी पूजा के लिए बृहद् मन्दिरों रहस्यमय विधि-विधानों एवं भयानक पर मनोरंजक प्रथाओं की सृष्टि की। मिस्री यूनानी और रोमन देवी-देवताओं के चित्र देखकर और उनके कार्य-कलापों के विवरण पढ़कर पता चलता है कि आदिम मानव ने ईश्वर को विभक्त भौतिक शक्तियों के रूप में देखा और समझा। उसके अनुसार संसार और मानव का भाग्य इन क्रूर, निरंकुश शक्तियों की मुट्ठी में है और वे उनके साथ मनमानी करने में अमानुषीय रस लेते हैं। पर सभी देवता ऐसे नहीं हैं। कुछ परम उदार और सदय भी हैं जो आसुरी शक्तियों से विरुद्ध मानव की सहायता करते हैं और उसे सौभाग्य प्रदान करते हैं। मानव की कल्पना ने इन सुरासुरों के बीच मजेदार नोक-झोंक और भीषण युद्ध कराए हैं। होमर के इलियड-ओडीसी में इन सबका रोमांचक पर अनुरंजक चित्र प्रस्तुत है। एक विशेष बात यह कि अपनी विभिन्न वृत्तियों कामनाओं वासनाओं का आरोप भी मानव ने इन देवी-देवताओं में किया और अपना जातीय इतिहास भी इनकी कथाओं में गूँथ दिया। इस प्रकार विराट भौतिक शक्तियों को उसने अपनी सुविधा के लिए आकारबद्ध बना लिया और अधिकांश भय से प्रेरित होकर वह उनकी पूजा करने लगा। मानव की ईश्वर-सम्बन्धी इस आदिम कल्पना का विशुद्ध नमूना यूनानी देवी-देवताओं में देखा जा सकता है। भारतीय (आर्य) देवी-देवता भी 'ग्रीक पाइस' के समान ही कल्पित हुए होंगे पर भारतीय देवी-देवताओं का रूप भारतीय दर्शन और संस्कृति के विकास के साथ बहुत संस्कृत और परिष्कृत हो गया। वे उतने आदिम न रहे। दूसरे वे आरम्भ से ही अमूर्त रहे, मूर्त नहीं। भारतीय कल्पना का रुख शुरू से ही सूक्ष्म की ओर रहा। ग्रीक और भारतीय देवताओं का अन्तर भारतीय 'इन्द्र' की उसके समकक्ष ग्रीक 'ज़ियस' से तुलना करने पर स्पष्ट देखा जा सकता है। पर इन सभी आदिम देवी-देवताओं में कुछ समान तत्त्व स्पष्ट हैं। इन सभी में भौतिक दुर्दम्य शक्ति का बोलबाला है। ये अमानवीय अलौकिक कारनामे करने में सक्षम हैं। मानव की बुद्धि इन शक्तियों के स्थूल दृश्य रूप पर ही अटकी है। वह इनकी अनेकता में एकता खोजने और पाने में प्रवृत्त नहीं हो पायी है। अभी मानव स्थूल-सूक्ष्म दृश्य-अदृश्य भौतिक-आत्मिक में स्पष्ट विभेद-विवेक नहीं रखता। वह भौतिक शक्तियों को अपनी अन्तर्वृत्तियों के चश्मे से देखता और समझता है और अपरोक्ष भाव से दोनों का मिश्रण कर उसने अपने लिए उपर्युक्त देवी देवताओं का निर्माण कर लिया है। यह ईश्वर की खोज में मानव का पहला कदम था।

एकेश्वरवाद

आरम्भ में ही यद्यपि मानव अस्तित्व की समस्या से [illegible] लगा, पर उसकी गति समृद्धि और भाव से ही प्रेरित रही, [illegible] प्रकाश की [illegible] उसे अभी उपलब्ध नहीं हो पायी थी। आगे इन समस्याओं की जटिलता के साथ, सामाजिक-राजनीतिक-मनोवैज्ञानिक कारणों से विवश, मानव [illegible] कि देवी देवताओं की इन स्थूल भौतिक मूर्तियों और इनके विकट रूपों में असल सत्य और शक्ति का निवास नहीं हो सकता। शक्ति स्थूल तत्त्व नहीं है, वह सूक्ष्म है। वह सगुण नहीं निर्गुण है, दृश्य नहीं अदृश्य है। फिर भी कठिन पहेली बुद्धि ने भी किसी सूक्ष्म तत्त्व की ओर संकेत किया होगा। इस प्रकार मानसिक [illegible] से यौन एक नयी चीज ने जन्म लिया, जिसे आज भी [illegible] में एकेश्वरवाद कहा जा सकता है। सूक्ष्म और अदृश्य की ओर बढ़ते हुए मानव के चरण दो दिशाओं में बँट गये। प्रथम चरण ने अनगिनत देवी-देवताओं में एक को सर्वोच्च शक्तिशाली और देवाधिप घोषित किया। यूनानियों का जियस, यहूदियों का जहोवा, आर्यों का वरुण या इन्द्र ऐसे ही देवता थे। यह चरण सीधा एकेश्वरवाद–परमेश्वरवाद तक पहुँच गया। ईसाइयों-मुसलमानों का 'खुदा' वही पुरातन सर्वोच्च देवता है जिस पर से मन्दिर-मूर्ति और पूजा-अर्चनाओं का आवरण तो उतार लिया गया है, पर जिसकी सर्वशक्तिमान् निरंकुशता को सुरक्षित रख लिया गया है। यह खुदा उपास्य, ज्ञातव्य और विवेच्य नहीं है। वह बहुत ऊँचे सातवें आसमान पर रहता है। उस तक तो विनीत-भयभीत दुआएँ ही मान्य पैगम्बर के माध्यम से भेजी जा सकती हैं। एकेश्वर-वाद की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें दृश्यादृश्य, आत्मिक-भौतिक का विभेद जाने-पहचाने बिना ही भौतिक शक्तियों से एकदम अलग और सृष्टि से बहुत दूर, ऊँचे एक अदृश्य, पर सर्वोच्च स्रष्टा, निरंकुश 'खुदा' को मान्यता दे दी गयी और स्रष्टा-सृष्टि का द्वैत स्थापित कर दिया गया। जीव सृष्टि का अंग बना, स्रष्टा का नहीं। यह द्वैत देवी-देवताओं के युग में उतना निर्दिष्ट और रूढ़ नहीं था। तब जैसे देवता और मानव परस्पर एक विचित्र भीषण क्रीडा में संलग्न थे। समान क्रीडा का स्थान अब मानव की गुलामी ने ले लिया। मध्य-पूर्व (Middle-East) के देश ईश्वर के सूक्ष्म, अदृश्य ब्रह्मरूप को, उसके उपयुक्त 'खुदा' रूप से कभी भी पृथक् न कर पाये। इसीलिए वहाँ रहस्य-साधना यद्यपि आरम्भ से ही रही, पर उपनिषद् के ऋषियों की साधना जैसी स्वच्छता और स्पष्टता उसमें कभी न आ पायी। दोनों में अन्तर रहा और वही अन्तर 'खुदा' और 'ब्रह्म' में है।

ब्रह्म

मानव का दूसरा चरण देवी-देवताओं के झाड़-झखाड़ों को पार कर ब्रह्म की

ओर बढ़ा। ऐसा भारत मे ही हो सका क्योंकि वैदिक देवता भौतिक शक्तियो एव परिस्थितियो के अमूर्त प्रतीक ही रहे मूर्त रूप और जड व नही बन गये। ऋषियो का चिन्तन सहज रूप म उस सूक्ष्मतम अदृश्य तत्त्व की ओर बढ सका जो भौतिक शक्तियो की प्रेरणा है और सभी दृश्य पदार्थों मे अदृश्य बनकर व्याप्त है। इसे उन्होने सभी देवताओ से परम कहा और ब्रह्म नाम दिया। उपनिषदो का यह ब्रह्म व्यक्ति नही बल्कि परम तत्त्व और चरम सत्य है। वही सारी वास्तविकता का स्रोत है। जगत् उसके हाथो मे बनी वस्तु नही बल्कि उसका अग है। सृष्टि उससे बनी है। शायद ब्रह्म उस सर्व-व्यापक विराट ऊर्जा चेतना का नाम है, जिसमे क्रमश सूक्ष्मतर कामना (Will) नीति (Law) और विचार (Idea) अन्तर्गर्भित है। कोई जड पदार्थ सूक्ष्म ऊर्जा (Energy) से शून्य नही। ऊर्जा से सूक्ष्म कामना उससे सूक्ष्म नीति और उससे सूक्ष्म विचार है। और उससे भी सूक्ष्म शायद पीडा है। ये सभी तत्त्व ब्रह्म मे परतो की तरह निहित और अणुओ की तरह मिश्रित है। शायद ऐसी ही कल्पना के आधार पर ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द रूप कहा गया। पर उसकी अदृश्य सूक्ष्मता और अकल्पनीय विराटता को दृष्टि मे रखकर ही मिस्री रहस्यवादी प्लोटिनस (१२७५-२८ ई पू) से लेकर औपनिषदिक ब्रह्मवादी तक और मध्ययुगीन-मुस्लिम सूफियो से लेकर आधुनिक रहस्यवादियो तक सभी ने उसे बुद्धि मन और वचन से परे कहा। उपर्युक्त सभी तत्त्व आधिक्य-आनुपातिक रूप मे जीवन मे निबद्ध है। उनका सर्वश्रेष्ठ अनुपात मानव मे उपलब्ध है। अह ब्रह्मास्मि' 'शिवोऽह' 'अनलहक' आदि उक्तियाँ इन्ही अर्थों मे शायद सबसे अधिक सार्थक है।

जैनेन्द्र का ब्रह्म

जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ जैनेन्द्रजी का ब्रह्म यही उपर्युक्त ब्रह्म है, जो प्रकृति जगत्, स्थूल से अद्वैत है और व्यक्तीकृत ईश्वर, 'खुदा' या 'गाड' से भिन्न है। सम्भवत मै तत्त्वत यह ब्रह्म आधुनिक दर्शन और विज्ञान को अग्राह्य नही है। हीगल वस्तु-सत्ता की समग्रता को ब्रह्म मानता है। उसके अनुसार इतिहास का सन्देश ही यह है कि ब्रह्म सतत अग्रसर है। स्पिनोजा कहता है, ईश्वर और प्रकृति मूल रूप मे एक है (Deus Sive \ tura)। एक अन्य दार्शनिक ईश्वर और सृष्टि को एक साथ ही अस्तित्व मे आया हुआ घोषित करता है। वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार भी सूर्य समेत सब ग्रह एक ही आग्नेय बादल से बने थे। भारतीय परम्परा मे भी सूक्ष्मतम भौतिक तत्त्व आकाश है, जिसमे शेष सूक्ष्मतर तत्त्व गर्भित है। दृश्य विशाल पर्वतों और समुद्रो का पिघलकर गैस बनना और शून्य मे अदृश्य हो जाना और फिर शून्य मे से दृश्य अस्तित्व मे आ जाना अनोखा है पर असिद्ध सम्भव नही। अन्तरिक्ष के ग्रह-परिवार मे ऐसा निरन्तर होता रहता है। इस प्रकार

स्थूलतम पिण्ड मे सूक्ष्मतम विचार तक ब्रह्म की अथवा सृष्टि की विभिन्न तहो को खोजा और खोला जा सकता है। भौतिक ऊर्जा और जैविक चेतना के बीच विभाजन-रेखा खींचने के बदले दूसरे को पहले का विकास मानना अधिक वैज्ञानिक और बुद्धि-सगत रहेगा। यदि इनका द्वैत ही सच हो, तब भी दोनो को एक-दूसरे के लिए अनिवार्य और दोनो का एक ब्रह्म मे अन्तिम विलय तो मानना ही होगा। परमाणु अविभाज्य नही है। इसलिए उसके न्यूट्रन और प्रोटोन के बीच दृश्य अन्तर भी अन्तिम नही है। फिर सभी स्थूल-सूक्ष्म तत्वो की तरह अन्तर यानी द्वैत भी तो ब्रह्म मे ही मुँह छुपायेगा। इस प्रकार प्रकट है कि ब्रह्म का उपर्युक्त स्वरूप शुद्ध अध्यात्मवादी ब्रह्म और शुद्ध भौतिकवादी प्रकृति के मध्य खिची सीमा-रेखा को मिटाता हुआ दोनो को अपने मे समेट लेता है। यह ब्रह्म केवल भय और अन्धविश्वास का विषय न रहकर सम्बुद्धि और प्रज्ञा का उपादान बन जाता है। इसकी विराटता अशरूप मानव की जिज्ञासा और श्रद्धा दोनो का विषय है। पर यह ब्रह्म विकासवाद से परे है, क्योकि विकास अश का होता है, समग्र का नही। वह अविवेच्य है, क्योकि असीम मानवीय प्रज्ञा की सीमा मे नही बँध सकता। जैनेन्द्र की चेतना ने ब्रह्म को इसी रूप में पाया और समझा है।

शाश्वतता नहीं विराटता, समग्रता

इस प्रसग मे एक बात और रह गयी है। सूक्ष्मतम की खोज करते-करते मानव स्थूल को हेय और तिरस्काय क्यो मानता चला गया ? मुझे लगता है, ऐसा सूक्ष्मतम की खोज के साथ-साथ एक नित्य, शाश्वत तत्व की खोज के कारण हुआ। स्थूल, भौतिक, नश्वर है। तब अनश्वर स्थायी, शाश्वत क्या है ? सूक्ष्मतम ही चिरस्थायी शाश्वत है। स्थायित्व के खोजियो ने सूक्ष्मतम को ही ब्रह्म अथवा परमात्मा की सज्ञा दी और स्तरो को मानने से इनकार कर दिया। सूक्ष्मतम को छोड सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और स्थूल सब उपेक्षणीय बन गये, क्योकि उन्हें असल ब्रह्म की नश्वर प्रकृति माया कहा गया। पर प्रकृति के रूप नश्वर नहीं, मात्र परिवर्तनीय हैं। प्रकृति स्थूल ब्रह्म है। आत्मा या परमात्मा को सूक्ष्मतम, परम, नित्य तत्त्व का पर्याय मान लिया गया। शरीर और प्रकृति आत्मा-परमात्मा से पृथक् दूर पड गये और उन्हें अब्रह्म की सज्ञा मिल गयी। यह बहुत कुछ भ्रम के कारण ही हुआ। प्रमाण यह कि ब्रह्मवादी 'पुरुष' ने स्वय को परम ब्रह्म का प्रतीक और 'स्त्री' को प्रकृति का प्रतीक घोषित किया। यह घोषणा हास्यास्पद और असत् है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे आत्मा शब्द शरीर से ब्रह्म तक के लिए प्रयुक्त हुआ है। वहाँ प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानमय आत्मा, आनन्दमय आत्मा का वर्णन है। भृगु के आख्यान मे अन्न को ब्रह्म कहा गया है। इस प्रकार उपनिषदो मे आत्मा नाम 'सत्' (अस्तित्व)

की समग्रता को लिया गया है मात्र पर्यवस्य सूक्ष्मतम को नहीं। 'आत्मिकता' 'आत्मीयता' आदि उक्तियाँ भी किसी सूक्ष्मतम के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होती। उनका अर्थ परस्परता होता है और परस्परता एकाकी सूक्ष्म-स्तर पर नहीं समग्र के तल पर ही सम्भव है। इस प्रकार ब्रह्म को विराट समग्रता के रूप में देखना और मानना सभी दृष्टियों से सार्थक और उपयोगी है। गीता के विराट रूप दर्शन के माध्यम से शायद यही बात कही गयी है। हिन्दू-दर्शन में ब्रह्म का समग्र रूप स्वीकृत है पर उपनिषद्-काल के बाद उसका एकाकी आध्यात्मिक परमसूक्ष्म रूप मानस में प्रतिष्ठित हो गया। यह प्रतिष्ठा ही मायावाद का प्रेरणा-स्रोत बनी।

आस्तिकता

उपनिषद् के ऋषियों से लेकर आधुनिक विचारकों तक कितनों ने ही ब्रह्म के उपर्युक्त समग्र विराट् रूप का समय-समय पर साक्षात्कार किया है। यही साक्षात्कार जैनेन्द्रजी ने भी किया और उसीमें से उन्हें वे उद्भावनाएँ मिली, जो बार बार छन आनेवाले सूक्ष्म सत्य को प्रकाशित करती हैं। जैनेन्द्रजी ने इस ब्रह्म को विश्वास और उपासना का विषय मात्र न रहने देकर वैयक्तिक सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक आचार-विचार के प्रेरक स्रोत के रूप में इसकी अत्यन्त वैज्ञानिक और अकाट्य व्याख्या की है जो उनकी सबसे बड़ी देन है। उपर्युक्त समग्र ब्रह्म में विश्वास ही उनकी आस्तिकता है और यही आस्तिकता उनके दर्शन का पहला तत्त्व है।

अहं का आरम्भ

फिक्टे ने ब्रह्म का वर्णन उस परम पुरुष के रूप में किया है, जो अपनी एकता से ऊबकर स्वयं को अनेकता में विभाजित कर लेता है, जिससे वह अपने ही एक अंश को दूसरे अंश की आँखों से परखने का मजा ले सके। उपनिषदों में भी वर्णन है कि ब्रह्म ने ईक्षण किया और उसके संकल्प मात्र से सृष्टि उत्पन्न हो गयी। सृष्टि का अर्थ ही है विविधता अनेकता। बादरायण की मान्यता है सृष्टि से पहले उसके अव्यक्त होने का अर्थ उसका अभाव नहीं है। अर्थात् स्थूल तत्त्व अथवा द्रव्य विशेष सूक्ष्मतम रूप में परिवर्तित होकर भी अपने व्यक्तिगत सत्त्व को सुरक्षित रखते हैं। उनके स्थूल रूप के अनस्तित्व को उनका अभाव न मान लिया जाय। परमाणुओं में परस्पर विभिन्नता है। सांख्य में अगणित नित्य पुरुषों अथवा जीवात्माओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस प्रकार एक पक्ष यह हुआ कि सूक्ष्मता की चरम स्थिति में भी तत्त्वों का वैविध्य सुरक्षित रहता है। दूसरा पक्ष यह कि वहाँ विभिन्नता नहीं रहती अन्त में सब एकता ही शेष बचती है। आशय सब यह कि

अन्तिम अवस्था मे पहुँचकर अनेकता इतनी अचेत और तद्गत बन जाती है कि मानो असद् ही हो उठती है। ब्रह्म जैसे सागर है और उसी अन्तराल मे लहरो की अनेकता नही है। सूक्ष्मतम विचार (Idea) से स्थूल पिण्ड तक अस्तित्व के विविध स्रोत ब्रह्म सागर मे पर्यवसित, विलुप्त हो जाते हैं और ब्रह्म से सृष्टि-तारल्य उत्पन्न होते ही फिर से प्रकट होने मे देर नही लगाते। विराट ब्रह्म मे विलीन भौतिक तत्त्व, चेतन जीव और जड वस्तु जिस क्षण अपनी विसर्जित पृथकता को प्राप्त करते और परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया, घात-प्रतिघात का क्रम आरम्भ करते हैं, इसी क्षण से जैनेन्द्र तत्त्व, जीव, पिण्ड के व्यक्तिगत अह की सत्ता स्वीकार करते हैं।

अहन्ता और आत्मता

मैं समझता हूँ 'अह' अर्थात् 'मैं' केवल चेतन जीव तक सीमित नहीं है। जड वस्तु भी अपना 'मैं-पन' अपनी अहन्ता, रखती है, यद्यपि उसे उसका बोध, उसकी अनुभूति नही है और उसमे अपने 'मैं-पन' को दूसरे के 'मैं' पर आरोपित करने की इच्छा अथवा क्षमता भी नहीं होती। जडता पूरी तरह प्रवाह पर आश्रित होती है। प्रवाह को चुनौती वह नहीं दे सकती। चेतना वैसा कर सकती है। इसलिए जीव का 'अह' व्यक्त प्रखर और सक्रिय होता है, जब कि जड का 'अह' अव्यक्त और निष्क्रिय। पर जड मे भी ऊर्जा है और एक धातु मे निहित ऊर्जा दूसरी धातु मे निहित ऊर्जा से विविध है। यह विविधता जड के भी 'अह' की स्थापना करती है। जीव की चेतना और जड की ऊर्जा मे अन्तर है। एक मे कामना है, दूसरे में नही। पर दोनो एक ही परम प्रेरणा से चालित हैं। तभी चेतना ऊर्जा का उपयोग करती है और ऊर्जा चेतना को जीवन-दान देती है। अस्तु, असख्य ग्रह, धरती, भूत, जीव, पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, फल, फूल, अणु, परमाणु सब अपनी-अपनी अहन्ता रखते हैं। अपनी-अपनी आत्मता रखते हैं। 'अहन्ता' और 'आत्मता' को यहाँ प्रचलित लौकिक अथवा नैतिक अर्थ मे न लेकर वैज्ञानिक अर्थ मे ही लेना होगा। अहन्ता अर्थात् अश का पूर्ण से भिन्न अस्तित्व और आत्मता अर्थात् अश का समग्र व्यक्तित्व। जैनेन्द्र इस व्यक्तिगत अस्तित्व के 'अह' को सृष्टि और जीवन का केन्द्र मानते हैं, क्योंकि 'अह' की सत्ता के साथ ही सृष्टि और जीवन का आरम्भ है और उसके क्षय के साथ उनका विलय।

अह की सजगता और सक्रियता

वैज्ञानिक अर्थो मे जीव और पिण्ड दोनो के 'अह' की सत्ता स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक अर्थो मे चेतन प्राणियो के ही 'अह' को जाना और माना जाता है।

प्राणि-मात्र में भी मानव-प्राणी का 'अहं' सर्वाधिक सचेत और सतेज है और उसमें समयप्रवाह के अनुभव उसकी अभिव्यक्ति और उसको प्रभावित करने की सर्वाधिक क्षमता है। मानवेतर प्राणी समयप्रवाह का आंशिक अनुभव भले ही कर लें पर उसकी अभिव्यक्ति करने और उसको प्रभावित कर पाने का विवेक-बल उनको नहीं मिला है। अन्य प्राणियों का 'अहं' रूढ़ और जातिगत है, जब कि मानवीय 'अहं' व्यक्तिगत और विकासशील है। यह विकासशीलता मानव को प्राप्त प्रज्ञा के कारण ही सम्भव हुई है। प्रज्ञा बुद्धि के संकल्प एवं विचार (Idea) का बोध है, जो मानवेतर जीवों को उपलब्ध नहीं है। उनके मानस का विकास चेतना-स्तर तक ही हुआ है और उनमें (Instin ts) की प्रबलता है। मानव में इंस्टिंक्ट्स हैं पर प्रज्ञा उनके ऊपर स्थापित है। प्रतीत होगा कि यहाँ 'अहं' का अर्थ व्यक्तिगत या जातिगत मानस अथवा चरित्र हो गया है और भौतिक अस्तित्व की उपेक्षा हो गयी है। पर भौतिक अस्तित्व समस्त प्राणियों में इतना अधिक स्थिर और उसका विकास इतना अधिक अदृश्य है कि वह सविशेष नहीं रहता और मानसिक 'अहं' में निहित-स्वीकृत मान लिया जाता है। इस प्रकार अहं सत्ता के अस्तित्व का ही नहीं उसकी गति और उसके आचरण चरित्र का पर्याय भी बन जाता है। वस्तुतः सत्ता के अननुभूत अस्तित्व से ही नहीं सत्ता द्वारा उसकी सचेत अनुभूति और क्रिया-प्रतिक्रिया से भी अहं का आरम्भ है। अपने अस्तित्व के प्रति इस सजगता और सचेत सक्रियता को ही जैनेन्द्रजी अहं नाम देते हैं। वैसे अहं कोई पृथक भौतिक तत्त्व नहीं है।

समग्र अहं को समझना

अहं का लौकिक एवं नकारात्मक भाव अहंकार शब्द में निहित है, जिसका अर्थ गर्व या घमण्ड लिया जाता है। पर जैनेन्द्र के 'अहं' का यह सीमित अर्थ नहीं है। यह समग्रात्मक है। उसमें सिर्फ सत्ता के अस्तित्व के सभी स्तरों (भौतिक प्राणिक मानसिक बौद्धिक) का ही समावेश नहीं है उसकी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का भी उसमें ग्रहण है। ये प्रवृत्तियाँ हैं—सत्ता का शेष के प्रति स्वागत एवं समर्पण का भाव और उसका शेष के प्रति निषेध और हठ का भाव। इन दोनों प्रवृत्तियों को ही जैनेन्द्रजी क्रमशः अहिंसा एवं हिंसा नाम देते हैं और ये ही द्वन्द्व की आधारशिला हैं। यह है जैनेन्द्रजी का 'अहं' जिसकी सही समझ बहुत आवश्यक है। इस 'अहं' को लौकिक निषेधात्मक अर्थ में ग्रहण करके ही जैनेन्द्रजी के कई आलोचक उनके पात्रों की त्रुटिपूर्ण आलोचना कर गये हैं। वास्तव में किसी भी मानव अथवा पात्र को सही रूप में समझने के लिए उसके 'अहं' को उपर्युक्त सर्वांगीण रूप में (अस्तित्व एवं प्रवृत्ति दोनों दृष्टियों से) आकलन कर लेना अनिवार्य

है, नहीं तो उसके प्रति दोषपूर्ण एकागी रुख अपनाने का खतरा हमें उठाना होगा और हम घटना अथवा समस्या के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर पायेंगे। सहानुभूति का अर्थ दम्भ दिखाना नहीं है। उसका अर्थ है, विषयी द्वारा विषय के साथ विषय की दृष्टि से सोचना, अनुभव करना। तभी हम समक्ष मानव अथवा घटनाविशेष का गूढ़, सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

सगठित सामूहिक अह

जैनेन्द्रजी की मान्यता है कि 'अह' केवल व्यक्ति का ही नहीं होता, समूह का भी सगठित 'अह' होता है। उनका कहना है कि राष्ट्रवाद, पूंजीवाद और समाजवाद ऐसे ही सश्लिष्ट सगठित 'अह' है। सामूहिक 'अह' का आचरण ठीक व्यक्तिगत अह जैसा ही होता है। जैनेन्द्रजी इस विश्वास का खण्डन करते है कि समूहो, सगठनो का आचरण अनिवार्य रूप मे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उदार, अहिंसात्मक एव शुभ होता है। उनका कहना है, दायरा फैल जाने से प्रकृति और प्रवृत्ति मे अन्तर नही पड जाता। व्यक्ति हो या समूह, जब तक उनका 'अह' शेष के प्रति स्वीकारात्मक, अथवा, समर्पणात्मक नही होगा, तब तक उनमे कल्याण की सम्भावना नहीं है। इसीलिए वे राष्ट्रवाद, पूंजीवाद या समाजवाद के प्रशसक नहीं दीख पाते, क्योंकि ये सभी छोटे-बडे दायरे हठवादी हिंसात्मक रुख अपनाकर ही खडे होते और चलते है। जितना सीमित हित ये कर पाते हैं, उससे कही असीम द्वन्द्व, त्रास एव ह्रास के प्रेरक ये अनजान मे ही वन जाते हैं। जैनेन्द्रजी की मान्यता है कि व्यक्तियो, समूहो और सगठनो के अन्तर्गर्भ मे से जब तक अह की इस निषेधात्मकता और हठवादिता को पहचाना और पकडा नही जायगा और उसे समर्पणात्मक, समन्वयात्मक नहीं बनाया जायगा, तब तक युद्धो का समूलोन्मूलन असम्भव है। जैनेन्द्रजी आज के आतक और त्रास का जिम्मेदार विज्ञान को नही, 'अह' के इस पर-निषेधात्मक रुख को ही मानते हैं। उनकी सम्मति मे विज्ञान सहायक है। वह जो अवरोधक बना है, वैसा उसके निषेधात्मक अह के हाथो मे पड जाने के कारण ही हुआ है। इसलिए समस्या विज्ञान की नही, 'अह' की है। आज बुद्धिवादियो एव दार्शनिको का सबसे बडा कर्तव्य इस अह का सस्कार करना ही हो जाता है। और जब अह सस्कृत अर्थात् शेष के प्रति समर्पणात्मक हो जाता है, तब व्यक्तिवाद और समाजवाद-समूहवाद दोनो ही समान रूप से कल्याणमय बन जाते हैं। ऐसा न होने पर व्यक्ति समाज के हाथो और समाज व्यक्ति के हाथो मे खिलौना बनकर रह जाता है। हो सकता है, अह का ऐसा परिष्कार असम्भव कल्पना ही माना जाय, पर उसे प्रज्ञा के सामने निरन्तर उपस्थित रखे, यह मानवता के बुद्धि-तत्त्व का कर्तव्य बन जाता है। अह को इस रूप मे देखना निश्चय ही जैनेन्द्र-विचारणा की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

व्यक्ति-अहं को मान्यता देने से हम किसी नतीजे पर नहीं पहुँचेंगे क्योंकि जैनेन्द्रजी का कहना है कि हम हर घड़ी व्यक्ति—प्रश्न-शक्ति-भावना—से ही सम्पर्क में आते हैं। तथाकथित समाज घटक से हमारा सामना कभी नहीं होता।

अंश अहं ब्रह्म से आवृत

अहं के सम्बन्ध में दूसरा सबसे विशेष तथ्य यह है कि अहं अंश और शेष भगवत्ता (पूर्ण अस्तित्व) के बीच एक अनिवार्य द्वार है, जिस प्रकार द्वार के माध्यम से घर शेष सृष्टि के भौतिक तत्त्वों आकाश पर्वत जल धरती अन्न तथा अन्य प्राणियों से जुड़ा होता है, उसी प्रकार अंश भी शेष भगवत्ता के भूत चेतना कामना नीति विचार आदि सभी अंगों से जुड़ा है। ब्रह्म स्वयं को अंश यानी अहं में अभिव्यक्त करता है। अहं शेष का अंश है। स्वयं को अंश मानने की भावना अहं में *जितनी विकसित और दृढ़ होती है उतना ही अहं विस्तृत बन जाता है और पूर्णता* उतने ही वेग से व्यक्ति-मानस के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगती है। तब अहं की दीवारें जैसे पारदर्शी बन जाती हैं। सम्पूर्ण ब्रह्म अहं में फूटा पड़ने लगता है। इस प्रकार जैनेन्द्र व्यक्त मानसिकता (Conscious Mind) के नीचे किसी रहस्यमय अन्धकारमय ग्रन्थिमय अवचेतन मानसिकता (Sub-Conscious Mind) की सत्ता को नहीं ब्रह्म को ही मानते हैं। अवचेतन की सत्ता से एक कुटिल आतंक की-सी ध्वनि निकलती है। उसे हम अशुभ मान लेते हैं। पर व्यस्त दृश्य मानव-व्यक्तित्व के नीचे जो अव्यक्त अदृश्य छुपा है, उसे कुटिल और अशुभ मानने की आवश्यकता जैनेन्द्रजी को नहीं दीख पड़ती। वरन् वे उस तथाकथित अव्यक्त, अदृश्य अवचेतन को ब्रह्म की संज्ञा देते हैं। ब्रह्म में अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं। यदि व्यक्ति-अहं शेष भगवत्ता के प्रति उन्मुख रहे, तो व्यक्ति की सम्भावनाएँ गुणानुगुणित होती हैं यदि अहं सिर्फ स्व में केन्द्रित रहे तो वे संकुचित-अवरुद्ध होती हैं। जहाँ तक पाश्चात्य मनोविज्ञान के ग्रन्थि-सिद्धान्त का सम्बन्ध है, जैनेन्द्रजी उसे यथावत् स्वीकार नहीं करते। उसकी कार्य-कारण व्यवस्था विशेषकर फ्रायड की व्यक्तिनिष्ठ व्याख्या उन्हें मान्य नहीं। वे व्यक्ति-अहं की स्व-केन्द्रिता और पर-निषेधक इत्यादिता को ग्रन्थियों के बनने का कारण और उसकी समर्पणात्मकता को उनके खुलने और मानस के स्वच्छ होने का उपाय मानते हैं। पर ग्रन्थि शब्द के प्रयोग में ही जैनेन्द्रजी की विशेष श्रद्धा नहीं है। वे अहं और ब्रह्म (समष्टि) की इस परस्परता को और व्यक्ति के ब्रह्म (समष्टि) द्वारा आवृत होने की तत्परता को ही मनोविज्ञान का आधार कहते हैं। युंग ने अवचेतन के दो भेद किये हैं व्यक्तिगत अवचेतन और सामूहिक अवचेतन और इस प्रकार उसने व्यक्ति-मानस के नीचे समाज के अस्तित्व को आंशिक रूप में स्वीकार किया। यदि इस परस्परात्मक दृष्टि से

विचार किया जाय, तो मनोविज्ञान पर एक नया प्रकाश पड़ता है और स्वय मनो-
विज्ञान की ग्रन्थिया सुलझती है। तब अचेतना-चेतना बुद्धि-असम्बुद्धि परस्पर विरोधी होने के बदले सहयोगी मित्र हो जाते है। युग ने इस सहयोग की सम्भावना की ओर सकेत किया है। व्यक्ति-मानस की ग्रन्थियो की गुत्थी काम मान बैठना और उन ग्रन्थियो को मात्र मानसिक तृप्तियो से खोलने का प्रयास करना रोग का सही वैज्ञानिक निदान नही है। मानव के प्रति इतना अविश्वासी होना और उसके रोग को इतने ऊपरी तल से छूने का प्रयत्न करना प्रभावी नही हो सकता। उसके रोग का मूल इन्द्रिय, मन और बुद्धि से बहुत गहरे मे उसके अह की दुहरी (पर-स्वीकार, पर-निषेधात्मक) प्रवृत्तियो मे निहित है। अह जीव को ब्रह्म की ओर से मिली एक सत्ता है। जीव की कृतार्थता उस सत्ता को समर्पित करने मे है, न कि हठ से उसे जडीभूत और ग्रन्थिमय बनाने मे।

अह की कसौटी परस्परता

अह-तत्त्व का अध्ययन इतने से ही पूरा नही हो जाता। अह की कसौटी परस्परता है। अह का पर-स्वीकार और समर्पण-भाव उसका शुभ पक्ष, उसकी प्रियता और नैतिकता है। और उसका पर-निषेधात्मक हठवाद उसकी अप्रियता और अनैतिकता। इस नैतिकता-अनैतिकता की जाच तभी हो सकती है, जब एक अह अन्य चेतन-अचेतन अह शक्तियो के सम्पर्क मे आता है। ऊपर अह और ब्रह्म की परस्परता का जिक्र आ चुका है। इस परस्परता पर विस्तृत विचार किये बिना अह की गति और उसके आचरण का पूरा ज्ञान नही हो सकता और शेष के साथ उसकी सापेक्षता को समझा नही जा सकता। हम आगे देखेगे कि सभ्यताओ-सस्कृतियो की उन्नतावनत अवस्था इसी बात पर निर्भर करती है कि परस्परता को कितना प्रिय, सहज और समग्र वे बना पायी। परस्परता की इस समस्या के हल की कोशिश मे ही सारा ज्ञान-विज्ञान विकसित हुआ। इस समस्या के कई रूप है ब्रह्म और विभिन्न चेतन-अचेतन अह शक्तियो की परस्परता, प्राणि-जगत् और भूत-प्रकृति की परस्परता, मानव-मानव की परस्परता। यद्यपि मानव के लिए सबसे अधिक तात्कालिक महत्त्व की चीज मानव-मानव के बीच का सम्बन्ध ही है, पर पहले और दूसरे रूप से भी उसका कम सीधा रिश्ता नही है। वस्तुत अह की हर सक्रियता समस्या के उपर्युक्त तीनो रूपो से घनिष्ट होकर ही क्रियमाण हो सकती है।

ब्रह्म-जीव पारस्पर्य

ब्रह्म का स्वरूप क्या है, यह पहले ही विचार का विषय बन चुका है। अस्तित्व की समग्रता, पूर्णता का नाम ही ब्रह्म है, मानव की सीमित बुद्धि उसकी यही परि-

धारण कर सकती है। सारे ग्रह-लोक उस समग्र-सूर्य के तुच्छ अंश हैं। सब अपनी अपनी सीमित कक्षाओं में घूमते हैं और एक-दूसरे के साथ अटूट आकर्षण और सम्बन्ध में बँधे हैं। सब एक-पर को प्रभावित करते हैं। क्षण-क्षण इन ग्रहों का प्रलय और नूतन निर्माण हो रहा है। मानव-कल्पना के लिए अन्तरिक्ष में इन विराट ग्रह-मण्डलों के और उनकी परस्परता के चित्र को आत्मसात करना असम्भव है पर अनादिकाल से ये हमारी भाव-कल्पना जिज्ञासा और खोज के विषय रहे हैं। अन्तरिक्ष-विज्ञान इसी खोज का परिणाम है। हमारी अपनी धरती पर जो नाना विस्फोट ज्वार-भाटे और भौतिक परिवर्तन होते हैं वे भी समग्र की प्रेरणा से निरपेक्ष नहीं होते। वर्तमान विभिन्न ऋतुओं वायुओं वनस्पतियों जीवों की यह विषमता-विविधता शेष समग्र में उपस्थित नानात्व से असम्बद्ध नहीं है। ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध पर तो धर्म दर्शन और विज्ञान सभी ने खुलकर विचार किया है। ज्योतिष और भाग्यवाद इसी विचारणा के अवकचरे फल हैं। असल में जो समग्र भौतिक शक्तियाँ अन्तरिक्ष के ग्रहों उनकी किरणों के रूप में प्राणि-जगत् को प्रभावित करता है और इस प्रकार उसके भविष्य का निर्माण करता है उसका सम्पूर्ण ज्ञान न मानव आज तक प्राप्त कर सका है और न ही विज्ञान की सहायता से शायद वह कर सकेगा। जितना हम जान पाते हैं उतना ही अथाह अँधेरा हमारे सामने गहरा उठता है। इसीलिए प्राणी के क्या हर अस्तित्व के भाग्य को अज्ञेय कहा गया है और जैनेन्द्रजी अज्ञात के अज्ञेय बने रहने में ही आकर्षण और सुषमा देखते हैं। शेष-विराट में निहित सम्भावनाओं के व्यक्ति-अहं में आंशिक प्रवेश पा लेने पर ही महान प्रतिभाएँ जन्म लेती और विकसित होती हैं। ऐसा तभी होता है जब व्यक्ति-अहं का द्वार अवरुद्ध नहीं उन्मुक्त होता है। जैनेन्द्रजी प्रतिभाओं की उत्पत्ति का यही स्पष्टीकरण देते हैं। और जब अहं के दर-दीवार एकदम पारदर्शी माध्यम बन जाते हैं, तब ऋषियों पैगम्बरों और समर्पित भक्त-प्रेमियों की सृष्टि होती है। सर्वव्यापी परस्परता की समुचित साधना के लिए इस ब्रह्म-जीव की परस्परता को जानना-मानना उपलब्ध करना बहुत आवश्यक है। हर भक्त साधनिक और कवि ने ईश्वर का जो गुणानुवाद किया है उसका यही रहस्य है। यही आस्तिकता है। इस दृष्टि से नास्तिकता एक अर्थहीन उक्ति बन जाती है और किसी का भी नास्तिक समझना असंगत प्रतीत होने लगता है।

प्राणि-जगत् और भूत-प्रकृति

परस्परता का दूसरा रूप है, प्राणि-जगत् और भूत-प्रकृति की परस्परता। ब्रह्म और विविध अहं-घटकों के बीच के सम्बन्ध लीला-प्रधान हैं पर जीव और प्रकृति की परस्परता का सार-तत्त्व उपयोगिता है। केवल प्राणी अपने अस्तित्व

की रक्षा और विकास के लिए प्रकृति का उपयोग करता है। प्रकृति जीवों की प्राण-शक्ति को और उनकी वृत्तियों को पुष्ट बनाती है। जीवों का प्रकृति से जो भावमय सम्बन्ध प्रकट है, वह लीला पर नहीं, उपयोग पर आधारित है। जीव प्रकृति का ही उपयोग नहीं करते, अन्य इतर जीवों का भी उपयोग करते हैं। वे उनको खाते हैं। मानव की उपयोग-क्षमता प्रकृति और मानवेतर प्राणियों तक ही सीमित नहीं है। मानव अन्य मानवों का भी वैयक्तिक, शारीरिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक उपयोग अथवा शोषण करता है। मानवेतर प्राणियों द्वारा उपयोग इन्स्टिंक्ट-नियमित होता है, जब कि मानवीय उपयोग-प्रणालियाँ बुद्धि-नियमित होती हैं। मानवों, मानवेतर जीवों और प्राकृतिक तत्त्वों की परस्परता में से ही जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, रसायन, चिकित्सा, भौतिकी, भूगर्भ विज्ञान, धातु-विज्ञान, यन्त्र-विज्ञान और नाना प्रकार के शिल्प आदि उपजे हैं। विद्युत्, रेडियो और अणु-उद्जन शक्तियों का विकास भी इसी परस्परता की देन है। जैनेन्द्रजी इन वैज्ञानिक उपलब्धियों को ब्रह्म-जीव और मानव-मानव की परस्परता के स्वस्थ विकास के लिए उपयोगी मानते हैं। वे धर्म और विज्ञान को विरोधी नहीं, परस्पर पूरक घोषित करते हैं। यह भौतिक उपयोगवाद भावना और लीला तक पहुँचने के लिए सीढ़ी है, उसके मार्ग की बाधा नहीं। जैनेन्द्रजी का मानना है कि विज्ञान ने मानव को जो गति की तीव्रता प्रदान की है उसने शिक्षा और सहानुभूति का जो अप्रतिम विस्तार किया है, उससे मानव मानव के निकटतर आया है और दूरी नगण्य बन गयी है। उसीके कारण विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति-सभ्यताओं का सम्मिलन-सम्मिश्रण सम्भव हो पाया है, जिसके फलस्वरूप एक विश्व-सभ्यता का विकास धीरे-धीरे हो चला है। अणु-युद्धों द्वारा अन्तिम प्रलय का जो संकट आज मानव के सिर पर मँडरा रहा है, उसके लिए विज्ञान नहीं, सामूहिक तल पर हमारी अपरिष्कृत मानसिकता और विस्तृत अहं-चेतनाओं से संघर्षशील वृत्त (राष्ट्रवाद, पूँजीवाद, समाजवाद आदि) ही उत्तरदायी हैं। जैनेन्द्रजी उपयोगितावाद के पीछे अहं का उदात्त समर्पण देखना चाहते हैं। इस प्रकार कर्मवाद अभिशाप के स्थान पर वरदान बन सकेगा और वह साध्य नहीं साधन की औचित्य-सीमा में बँध जायेगा।

मानव-मानव की परस्परता

मानव-मानव के सम्बन्धों की समस्या मानव के सामने उपस्थित सबसे बड़ी समस्या है। इस वैज्ञानिक युग की गुत्थी ही यह है कि हमने मानव-प्रकृति की परस्परता को मानव-मानव की परस्परता से अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया है और हम चेतन मानवों की सम्भावनाओं को भी मानवेतर अथवा जड़ प्रकृति के गणना-प्रक्रियात्मक माप-दण्ड से ही नापने का दुःसाहस करते हैं और उसीको वैज्ञा-

निक कहते हैं। समाजवाद-साम्यवाद में यही हुआ है—व्यक्ति के प्रति अविश्वस्त इन व्यवस्थाओं में मानव को अन्न-वस्त्र-सेक्स और सांस्कृतिक कार्यक्रम मात्र से तृप्त रहनेवाला यन्त्र मात्र किया गया है। जैसे उसके अहं की सत्ता ही वहाँ अस्वीकृत है। असाम्यवादी देशों में भी राजनीतिक-आर्थिक स्थितियाँ एवं आवश्यकताएँ कुछ ऐसी हैं कि व्यक्ति को उपयोग का उपादान भर ही मानने को शासन-यन्त्र बाध्य है। सभ्यता का अर्थ भौतिक-स्तर का उन्नयन और संस्कृति का अर्थ कलात्मक मनोरंजन बन गया है। अन्धस्त्रों के आतंक की छाया में सामूहिक अहं चेतना की वेदी पर व्यक्ति-अहं के समुचित परिष्कार एवं विकास की सम्भावनाओं की बलि दे दी गयी है। उपयोगितावादी योजनाओं के लिए मानव-यन्त्रों के थोक उत्पादन का प्रश्न ही सरकारों के सामने रहता है। जैनेन्द्र मानते हैं कि यह बहुत स्वस्थ और संस्कृत प्रक्रिया एवं परम्परा नहीं है। इससे व्यक्ति-अहं में अन्तरोत्पीडन की-सी स्थिति पैदा हो जाती है। मानव-मानव के बीच सरकार और पार्टी की चीन-भित्ति खड़ी दीखती है और वह व्यक्ति की परस्परोन्मुखता के मार्ग में सहायक होने के बदले बाधक ही सिद्ध होती है। मानवों के बरबस् उपयोग को जितने बड़े पैमाने पर आज साधा जा रहा है उतने बड़े पैमाने पर इतिहास में कभी भी साधा नहीं गया था। और ऐसा राष्ट्रीय-सामूहिक अहं चेतनाओं की तुष्टि के लिए वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया जा रहा है, प्राचीन शारीरिक गुलामी की प्रणाली से नहीं। जैनेन्द्रजी मानव-मानव की परस्परता के उपर्युक्त पक्ष में सबसे बड़ा दोष यह देखते हैं कि किसी भी समूह-अहं के प्रति निष्ठावान् मानव अन्य मानवों से और समग्र ब्रह्म के प्रति समर्पित रह ही नहीं पाता अथवा वह इतना मग्न बन जाता है कि किसीके प्रति भी निष्ठा रखने की उसमें रुचि और शक्ति ही वर्तमान नहीं रहती। आज सामूहिक महत्त्वाकांक्षाओं का ऐसा भीषण दबाव व्यक्ति-अहं पर पड़ा है कि वह निष्कर्तव्यविमूढ़ बन गया है और उसमें वैज्ञानिक प्रगति को समाने और झेलने में समर्थ मानसिकता विकसित नहीं हो पा रही है। जैनेन्द्रजी के अनुसार ऐसी मानसिकता का आधार मानव का मानव के प्रति प्रेम ही हो सकता है, उसका समूह-विशेष में विलीन हो जाना नहीं। सम्प्रदाय 'एक के स्वीकार—शेष के निषेध' इस स्मृति से ही प्रेरित होते हैं। किन्तु व्यक्ति के अन्य व्यक्ति के प्रति प्रीति-भाव में शेष के प्रति निषेध-भाव अनिवार्य नहीं मिलता। इस प्रकार मानव-मानव की परस्परता मूल व्यक्ति-अहं के परिष्कार एवं विकास का साधन बन जाती है। प्रीतिसे ऐसे व्यक्ति-अहं सामाजिक-राष्ट्रीय अहं-चेतनाओं में से हिंसात्मक डंक खींच फेंकने और उन्हें नैतिक स्तर तक उठाने में समर्थ हो जाते हैं। व्यक्ति का व्यक्ति के द्वारा जैसा उदात्त निर्माण सम्भव है, वैसा सामूहिकता के हाथों सम्भव नहीं है। महात्मा गांधी व्यक्तिगत सम्पर्क और प्रीति के माध्यम से ही पतित मनुष्य,

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, सरदार पटेल जैसे व्यक्तित्व भारत को दे पाये। पर संगठनवादी जोश और रोष में से ऐसा हो पाना दुःसाध्य था। इस प्रकार जैनेन्द्रजी व्यक्ति-व्यक्ति के सम्पर्क, प्रेम और समर्पण में वह नैतिक विद्युत् देखते हैं जो एक-एक नागरिक की मानसिकता को उदात्त और प्रकाशमय बना देने में और उनकी सक्रियता को सर्वभूतहित की ओर मोड़ देने में समर्थ है। व्यक्ति-मेधा ने ही विज्ञान का सृजन किया है। व्यक्ति-हृदय ही उसकी प्रलयकरता को मुट्ठी में बाँधने में सफल होगा। यह आश्चर्य का ही विषय है कि भौतिक अणु की विराट सम्भावनाओं के प्रति सजग वैज्ञानिक द्वारा मानव-चेतना की घोर उपेक्षा कैसे सम्भव हो पा रही है।

सेक्स, प्रेम, साहचर्य

मानव-मानव की परस्परता का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग नर-नारी संयोग अर्थात् सेक्स है। सेक्स पर जैनेन्द्रजी ने बहुत लिखा है। वे सेक्स को उपेक्षणीय अथवा घृण्य नहीं मानते। वे उसका कार्य-प्रभाव-क्षेत्र मात्र सतति-उत्पादन तक भी सीमित नहीं करते। सेक्स को वे वह मूलभूत शक्ति और स्फूर्ति मानते हैं, जो व्यक्ति-अहं का परिष्कार करने और उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में समर्थ है। व्यक्ति-अहं का नग्नतम वस्तुवादी रूप सेक्स क्षेत्र में ही प्रकट होता है और वहाँ जो संस्कार और प्रभाव वह ग्रहण करता है, वे उसके सारे जीवन को और उसके जीवन के माध्यम से सारे विश्व को प्रभावित करते हैं। सेक्स का यह नर-नारी द्वैत कैसे निर्मित हुआ? इस प्रश्न की जैनेन्द्रजी ने बड़ी अनूठी व्याख्या की है। वे कहते हैं कि समग्र में अहं-चेतनाओं के पृथक् होते ही उनमें पर के सान्निध्य की चाह पैदा हुई। उस चाह के दो रूप हो गये। एक ने चाहा 'वह मुझमें हो।' यह अहं स्त्रीत्व-प्रधान हो गया। दूसरे ने चाहा 'मैं उसमें हूँ' और यह अहं पुरुषत्व-युक्त हो गया। स्त्री-पुरुष एक ही अहं के दो रूप हैं और इस प्रकार अर्द्धनारीश्वर की पौराणिक कल्पना को जैनेन्द्रजी स्वीकार करते हैं। 'वह मुझमें हो' यह चाह समाने की चाह है और स्त्री अवधारण-शक्ति की प्रतीक है। उसकी प्रवृत्तियाँ हैं ग्रहण, वहन और व्याप्त आकर्षण। 'मैं उसमें हूँ' यह चाह स्थूल पिण्ड में निहित गति और शक्ति की चाह है। पुरुष उसीका प्रतीक है। और उसकी प्रधान वृत्तियाँ आरोप और प्रगति हैं। जिस प्रकार शून्य पिण्ड को धारण करता है और उसकी गति-प्रगति का क्षेत्र बनता है, उसी प्रकार स्त्री पुरुष को, शरीर, मन, बुद्धि और भावना हर दृष्टि से धारण करती और उसकी प्रगति को गति देती है। जैनेन्द्रजी आज की सभ्यता को पुल्लिंगी सभ्यता कहते हैं, क्योंकि उसमें गति और हिंसा की प्रधानता है। नारी की ग्रहण-वहन-वृत्तियों का समुचित योग उसे नहीं मिल पाया है। तभी इस वैज्ञानिक सभ्यता में इतना उद्वेग और विषम असमन्वय है। स्त्री के संयोग से पुरुष-अहं में एक स्निग्ध

प्रयत्नशीलता आती है। प्रचलित होता आकर्षण-शून्य बनता जैसे पुरुष की अन्ततम भी यह चाह है जिसे अपनी शक्ति प्रगति में वह कितना भी ऊँचे पर जो रख नहीं पाती। इसी प्रकार स्त्री की अन्तस्थ कामना रहती है, पुरुष को स्वयं में लेकर उस गति देकर ग्रह पथ (Orbit) मे फेंक देना। स्त्री-पुरुष के मध्य उपर्युक्त अन्तस्थ कामनाओं से प्रेरित घात-प्रतिघात निरन्तर चलते रहते हैं और यही मानवीय सभ्यता के मूल सूत्र प्रेरक बन जाते हैं। आज सामूहिक स्वार्थों एवं महत्वाकांक्षाओं ने नैसर्गिक व्यक्तिगत आकर्षण-अपकर्षण के उपर्युक्त क्रम और भ्रम को विचलित कर दिया है। स्त्री और पुरुष के बीच सामूहिकता आ गयी है, जिसने प्रगतिशील नर-नारियों को परस्पर समर्पित होने से रोक दिया है और उसमें एक गहरी घुटन पैदा कर दी है। जैनेन्द्रजी नर-नारी के बीच किसी सामान्य आदर्श अथवा स्थूल रुचि को नहीं शुद्ध प्रेम को प्रवर्तमान देखना चाहते हैं। प्रेम सहनशील और त्यागपूर्ण होता है। प्रिय की प्रेमी से अधिक हित-कामना और कोई भी नहीं कर सकता। प्रेमी प्रिय के अहं को सबसे अधिक मानता-पहचानता है और उसका विकास-विस्तार ही उसका लक्ष्य बन जाता है। इससे दोनों को ही समग्र तृप्ति मिलती है और कृतार्थता का अनुभव होता है। इस तृप्ति और कृतार्थता से स्व की सीमाएँ टूटती और व्यक्ति परोन्मुख-परमोन्मुख बनता है। इस प्रकार *जैनेन्द्रजी द्वारा की गयी सेक्स की व्याख्या नर-नारी के शरीर-सम्भोग को न तिर*स्कृत करती है, न ही उसमें बँधती है। शरीर-सम्भोग प्रेम का स्वाभाविक परिणाम बन रह जाता है। प्रधान चीज है प्रेम जिससे मिली तृप्ति शरीर-सम्भोग से कहीं गहरी स्थायी और सर्वव्यापी होती है। यह मानव की सम्भावनाओं को विस्तृत करती और उसके कदमों को विराट ब्रह्म की ओर मोड़ती है।

ब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्य

जैनेन्द्रजी का 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ भी प्रसिद्ध लौकिक नहीं है। अपनी वृत्तियाँ सब ओर से हटाकर अहं में केन्द्रित कर लेना ब्रह्मचर्य है, शेष सबको अपने प्रेम का दान करना ही ब्रह्मचर्य कहला सकता है। जो स्व को शेष सबको दे डालने के लिए आतुर बन चुका है वह शरीर और उसकी सीमाओं—वासनाओं में बँधा रह ही नहीं सकता। वह ब्रह्ममय बन जाता है। वह 'पर' का निषेध नहीं उसका स्वागत करता है। ब्रह्मचर्य को इन्द्रिय-निग्रह के अर्थ तक सीमित करना जैनेन्द्रजी हास्यास्पद समझते हैं। इस विषय में गांधीजी का उदाहरण हमारे सामने है। वे महात्मा इन्द्रिय-निग्रह के कारण नहीं अहं की विराटता के कारण कहलाये। अहं के परिष्कार-विस्तार के मार्ग में इन्द्रिय-निग्रह उन्हें स्वतःसिद्ध हो गया। स्व अहं अथवा काम कीटता विषय को जैनेन्द्रजी ने और अधिक सूक्ष्मता से समझाया है। वे [illegible]

और वुद्ध, हिटलर और गाधी के प्रयासो के नीचे काम की विराटता को ही पाते हैं। उनके अनुसार उपर्युक्त विभूतियो के सामने अनन्त जन-विस्तार जैसे स्त्री के समान ही फैला पडा था और उसमे उनको उन्मुक्त गति प्राप्त थी। चगेजखाँ और हिटलर की गति को जैनेन्द्रजी भय और हठ-प्रेरित मानते हैं तथा वुद्ध-गाधी की गति को प्रेम-समर्पण-प्रेरित। इन चारो के पीछे असख्य लोग उसी प्रकार पागल हो उठे थे, जैसे कृष्ण के पीछे गोपियाँ। यदि काम का शरीर-वद्ध अर्थ न लेकर उदात्त सूक्ष्म अर्थ लिया जाय, तो मानव की हर सक्रियता के नीचे 'वह मुझमे हो'—'मैं उसमे हूँ' इन दो मूल कामनाओ मे से एक अवश्य मिलेगी। काम को विराटता तव मिलती है, जव 'वह मुझमे हो', 'मैं उसमे हूँ' के स्थान पर क्रमश 'सव मुझमे हो',–'मैं सवमे हूँ' उक्तियाँ मानव-कामनाएँ वन जाती हैं।

काम और अर्थ (उपयोगितावाद)

मानव की मानसिकता और कामिकता का निर्माण दो तत्त्वो से होता है—प्रेम-अप्रेम मूलक काम से और सासारिक उपयोगितावाद अर्थात् अर्थ से। दम्पति, परिवार, सम्प्रदाय, समाज, राष्ट्र और विश्व ये क्रमश वडी होती सस्थाएँ काम और अर्थ के इस द्वैत से ही मिलकर वनी हैं। आज उपर्युक्त सभी सस्थाओ में अर्थ-पक्ष की प्रधानता और काम अर्थात् प्रेम-पक्ष की क्षीणता हो चली है। जैनेन्द्रजी चाहते हैं कि हमारी सभी सस्थाओ का मूल उत्स प्रेम मे हो। अर्थ प्रेम मे से रस ग्रहण करके ही अपना विकास-विस्तार करे। काम और अर्थ, प्रेम और उपयोगिता का समन्वय धर्म मे होता है, जिसका वैज्ञानिक अथ है, नीति। नीति शोपण की नही पोपण की, कूट नही सरल। हमारा दाम्पत्य, समाज, उत्पादन, वितरण और शासन काम-अर्थ के सयोग से प्रसूत प्रेम-नीति से चले। अनन्त अह चेतनाओ मे उपस्थित घोर विपमताओ के समक्ष प्रेम-नीति का प्रचलन और पालन वहुत कठिन दीखता है। पर यदि प्रेम का अस्तित्व है तो यह फलित होने के लिए ही है, निष्फल होने के लिए नही। जैनेन्द्रजी कल्पना के मूल्य को भी खोना नही चाहते। कल्पनाएँ ही वास्तविकता मे वदला करती हैं। फिर प्रेम कल्पना नही है। व्यक्ति-स्तर पर उसका चमत्कार हम नित्य देखते हैं। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर गाधी जैसे महापुरुपो ने उसका चमत्कार हमे दिखाया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हमारे नेहरूजी उसी सुहृद्-नीति के प्रयोग सफलतापूर्वक कर रहे हैं। इसलिए प्रेम को कल्पना मानना मानव का अपमान करना ही समझा जाना चाहिए। हाँ, प्रेम-नीति की सफल सिद्धि तभी सम्भव है, जव उसके पीछे उदात्त काम की तीव्रता अधिक हो, उपयोगितावाद की जडता कम। निरस्त्रीकरण की समस्या का हल प्रेम की, ब्रह्मचर्य की, इस तीव्रता मे से ही आ सकता है। मात्र उपयो[illegible] के

व्यक्ति-और में से वैसा होना असम्भव है। और विशाल पर मनुष्य की प्रेम-नीति ही चल सकती है, समूहवादी कट-नीति नहीं। समूह से—सबसे प्रेम नहीं कर सकता है, जो एक से प्रेम करने न सकते हैं। एक मूर्त है समूह अमूर्त भावना। इस विषय में जैनेन्द्रजी के विचार पहले रखे जा चुके हैं।

सत्य-संपृक्त अहिंसा

जैनेन्द्र-दर्शन के तीसरे तत्त्व परस्परता का यत्किंचित् स्पष्टीकरण मैंने ऊपर किया। परस्परता को प्रथम तत्त्व का रूप देने का उद्देश्य था अहं की सापेक्षता पर बल देना। अहं की बाधता और सापेक्षता अस्तित्व का सबसे बड़ा सत्य है। किसी भी अहं-चेतना को निरपेक्ष रूप में जाना और समझा नहीं जा सकता। जैनेन्द्र दर्शन का चौथा तत्त्व अहिंसा इसी तथ्य को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास करता है। जैनेन्द्रजी के अनुसार अहं में अपनी सापेक्षता की चेतना ही अहिंसा है और निरपेक्षता का दृष्ट हिंसा। निरपेक्षता अस्वाभाविक और असत्य है। इसीलिए उसकी हठ 'पर' की अवमानना और 'स्व' के दोष पर आरोप को प्रेरित करती है। यही हिंसा है। सापेक्षता की अनुभूति 'पर' के स्वीकार और उस के सम्मुख 'स्व' के समर्पण पर बल देती है। यह अहिंसा है। हिंसा-अहिंसा की यह व्याख्या इनके लौकिक अर्थों—जीव-वध जीव-रक्षण—से कहीं अधिक व्यापक वैज्ञानिक और व्यावहारिक है। यह व्याख्या पूर्वोक्त ब्रह्म अहं और परस्परता में निहित तथ्याधार का स्वाभाविक विकास है। ऊपर जिस नैतिकता अथवा प्रेम-नीति का जिक्र किया गया था अहिंसा उसीका अधिक वैज्ञानिक स्पष्टीकरण है। अहिंसा में तत्त्व मानो सत्य की भक्ति और प्रेम के रस दोनों का ग्रहण है। मानव का सम्पूर्ण आचार शास्त्र जैसे इस एक शब्द में समा गया है। महात्मा गांधी ने इस अहिंसा-शास्त्र को जीवन-व्यवहार में सर्वोच्च स्थान दिया था। किसी भी अहिंसात्मक आचरण को तीन अंगों में बाँटा जा सकता है। पहला अंग है—समग्र की अपेक्षा में समस्या के सत्य की अर्थात् 'स्व' और 'पर' की स्थिति की सत्य अवधारणा (Right assessment) दूसरा है—सभी सम्बद्ध व्यक्तियों के प्रति हृदय में स्नेह का दान और स्व-पर सबके हित का आयाम करना किसीके प्रति भी द्वेष और हिंसा न रखना होना तीसरा है—सत्य का निर्भय समर्थन पर विनम्र आग्रह। इस प्रकार परिष्कृत अहिंसा ही सत्याग्रह है। इस पद्धति में सत्याग्रही की सिद्धान्तप्रियता स्नेह-विनम्रता कष्ट सहिष्णुता और सर्वस्व-त्याग की तत्परता आदि अनेक बहुत कठोर शर्तें हैं। सारी प्रक्रिया में द्वेष क्रोध आदि के आवेग का पूर्ण अभाव आवश्यक है और जो कुछ भी किया जाता है, वह सर्वव्यापी सत्य की प्रेरणा से ही किया जाता है। सत्य की सर्वव्यापिता समग्र ब्रह्म अहं और परस्परता इन तीनों के तथ्य के पूर्ण ग्रहण से ही प्राप्त

और वुद्ध, हिटलर और गाधी के प्रयासो के नीचे काम की विराटता को ही पाते हैं। उनके अनुसार उपयुक्त विभूतियो के सामने अनन्त जन-विस्तार जैसे स्त्री के समान ही फैला पडा था और उसमे उनको उन्मुक्त गति प्राप्त थी। चगेजखाँ और हिटलर की गति को जैनेन्द्रजी भय और हठ-प्रेरित मानते हैं तथा वुद्ध-गाधी की गति को प्रेम-समपण-प्रेरित। इन चारो के पीछे असख्य लोग उसी प्रकार पागल हो उठे थे, जैसे कृष्ण के पीछे गोपियाँ। यदि काम का शरीर-वद्ध अर्थ न लेकर उदात्त सूक्ष्म अर्थ लिया जाय, तो मानव की हर सक्रियता के नीचे 'वह मुझमे हो'—'मैं उसमे हूँ' इन दो मूल कामनाओ मे से एक अवश्य मिलेगी। काम की विराटता तव मिलती है, जव 'वह मुझमे हो', 'मैं उसमे हूँ' के स्थान पर क्रमश 'सव मुझमे हो',—'मैं सवमे हूँ' उक्तियाँ मानव-कामनाएँ वन जाती हैं।

काम और अर्थ (उपयोगितावाद)

मानव की मानसिकता और कार्मिकता का निर्माण दो तत्त्वो से होता है—प्रेम-अप्रेम मूलक काम से और सासारिक उपयोगितावाद अर्थात् अर्थ से। दम्पति, परिवार, सम्प्रदाय, समाज, राष्ट्र और विश्व ये क्रमश वडी होती सस्थाएँ काम और अर्थ के इस द्वैत से ही मिलकर वनी हैं। आज उपयुक्त सभी सस्थाओ मे अर्थ-पक्ष की प्रधानता और काम अर्थात् प्रेम-पक्ष की क्षीणता हो चली है। जैनेन्द्रजी चाहते हैं कि हमारी सभी सस्थाओ का मूल उत्स प्रेम मे हो। अर्थ प्रेम मे से रस ग्रहण करके ही अपना विकास-विस्तार करे। काम और अर्थ, प्रेम और उपयोगिता का समन्वय धर्म में होता है, जिसका वैज्ञानिक अर्थ है, नीति। नीति शोपण की नही पोपण की, कूट नही सरल। हमारा दाम्पत्य, समाज, उत्पादन, वितरण और शासन काम-अर्थ के सयोग से प्रसूत प्रेम-नीति से चले। अनन्त अह चेतनाओ मे उपस्थित घोर विपमताओ के समक्ष प्रेम-नीति का प्रचलन और पालन वहुत कठिन दीखता है। पर यदि प्रेम का अस्तित्व है तो यह फलित होने के लिए ही है, निष्फल होने के लिए नही। जैनेन्द्रजी कल्पना के मूल्य को भी खोना नही चाहते। कल्पनाएँ ही वास्तविकता मे वदला करती हैं। फिर प्रेम कल्पना नही है। व्यक्ति-स्तर पर उसका चमत्कार हम नित्य देखते हैं। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर गाधी जैसे महापुरुषो ने उसका चमत्कार हमे दिखाया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हमारे नेहरूजी उसी सुहृद्-नीति के प्रयोग सफलतापूवक कर रहे हैं। इसलिए प्रेम को कल्पना मानना मानव का अपमान करना ही समझा जाना चाहिए। हाँ, प्रेम-नीति की सफल सिद्धि तभी सम्भव है, जव उसके पीछे उदात्त काम की तीव्रता अधिक हो, उपयोगितावाद की जडता कम। निरस्त्रीकरण की समस्या का हल प्रेम की, ब्रह्मचय की, इस तीव्रता मे से ही आ सकता है। मात्र उपयोगितावाद के

जीवेंगे। इन विचारों को रद्द बनाना बहुत दुस्साध्य पर अनिवार्य साधना है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। हिंसा अर्थात् पर का निषेध अन्तर्मन में रहे तो ऊपरी अहिंसा दोष बन जाती है, लेकिन अन्तर में अहिंसा और प्रेम यदि स्थिर रहें तो उनसे प्रेरित हिंसा अपना डंक और विष खो देती है, यह निर्विवाद है। जैनेन्द्रजी ने हिंसा-अहिंसा को स्पष्ट करने के लिए गर्भाधान-प्रक्रिया का उदाहरण प्रस्तुत किया है। हिंसा एवं आघात-प्रत्याघात उसमें निहित हैं। पर वे सब मिलकर युगल को कृतार्थ करते दीखते हैं। विराट ब्रह्म की समग्र दृष्टि से विचार करें, तब भी नहीं वस्तु स्थिर होता है। सृष्टि प्रलय का क्रम ब्रह्म-शरीर में सतत चलता रहता है। जिसकी सृष्टि होती है और जिसका प्रलय होता है, दोनों ही एक समग्र ब्रह्म के अंग हैं उससे 'पर' नहीं। इसीलिए ब्रह्म को हिंसा-अहिंसा से परे कहा गया है। उसके लिए न सृष्टि अहिंसा है न प्रलय हिंसा। क्योंकि हिंसा-अहिंसा स्व-पर भाव से होती है, जो उसमें नहीं है। स्व-पर भाव के मिट जाने पर सीमित उद्देश्य विराट में परिवर्तित हो जाता है और ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी करता है, वह हिंसा नहीं हो सकता। वह तब विराट से तद्रूप ही हो सकता है। लौकिक हिंसा-अहिंसा दोनों उसमें डूब जाते हैं खो जाते हैं। जैनेन्द्रजी गांधीजी को उस विराट से तद्रूप मानते हैं और हिंसा-अहिंसा की व्याख्या में उन्होंने बार-बार गांधी-जीवन का हवाला दिया है। अमृतसर में जलियांवाला बाग से पीड़ित एक वृद्धा उनके सामने आयी। उसके दो बेटे गोलीकाण्ड में मारे गये थे। वह फूट-फूटकर रो रही थी। बिलख रही थी। उसे देखकर सभी उपस्थित लोगों की आँखों में आँसू भर आये। पर गांधीजी भावहीन रहे। उन्होंने वृद्धा से पूछा 'क्या तुम्हारे कोई और बेटा भी है?' वृद्धा ने 'हाँ' की तो गांधीजी ने तत्काल कहा 'तो उसे भी तैयार करो उसे भी काम आना है।' गांधीजी की इस उक्ति को क्यों प्रेम से शून्य और हिंसामय न मान लिया जाय? एक स्थूल-दृष्टि अहिंसाभक्त ऐसी ही गलती करेगा। पर सूक्ष्मता से विचार करें, तो गांधीजी की उपर्युक्त उक्ति के पीछे कोई निर्दयता पर के कष्ट से अनुरंजित होने की प्रवृत्ति या हिंसा नहीं थी। विराट मानवता के हित से तद्रूप होने का सत्य ही उनको प्रेरित कर रहा था। इस भूमि से ममतावश सारा पंजाब उनके पीछे पागल हो उठा। सत्यनिष्ठ अहिंसक भावुक नहीं हो सकता। मात्र जन्म-मृत्यु, लौकिक हिंसा-अहिंसा उसे उद्वेलित नहीं कर सकते।

जैनेन्द्र-दर्शन की विशेषताएँ

ऊपर जैनेन्द्र-दर्शन के चारों मूल तत्त्वों की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास मैंने किया है। जैनेन्द्र की विचारणा की एक झाँकी ही इस प्रकार मैं दे पाया हूँ। इस विचारणा की जिन विशेषताओं ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया उनका

उल्लेख किये बिना इस प्रसंग को समाप्त नहीं किया जा सकेगा। यह विचारणा अत्यन्त वैज्ञानिक, तर्कसंगत एवं क्रमबद्ध है और किसी पूर्वाग्रह को अपनी सिद्धि के लिए अनिवार्य नहीं ठहराती। जैनेन्द्र के ब्रह्म को किसी अधिष्ठाता का ठेकेदार बनने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ है, वह हमारे सामने आज है। यह जड-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल सब ब्रह्म है और हम उसके अंग हैं। अपनी बुद्धि और कल्पना के अनुसार व्यक्ति इस ब्रह्म का यथाशक्ति आत्मग्रहण और साक्षात्कार कर सकता है। जैनेन्द्र का ब्रह्म मात्र सूक्ष्मतम तत्त्व अथवा केवल अदृश्य परम शक्ति नहीं है, जिसे कल्पना में लाना कवियों या दार्शनिकों के लिए ही सम्भव हो सकता हो, साधारण जनता के लिए नहीं। वह शून्य और पिण्ड का समन्वय है और कोई अस्तित्व ऐसा नहीं, जो उसमें समाविष्ट न हो। पुरुष प्रकृति का द्वैत यहाँ नहीं है। हो सकता है, ब्रह्म की यह समग्र-अद्वैत व्याख्या नयी न हो, पर इसकी समग्रता पर इतना नितान्त जोर विरले ही दार्शनिकों ने दिया है। अद्वैतता का विवेचन निःसन्देह काफी हुआ है। जैनेन्द्र का अहं तत्त्व भी विचारक मानस को सहसा आकर्षित करता है। अहं पृथक् व्यक्ति होते हुए भी समग्र का अंश है, इस तथ्य को प्रकाशित करता और उभारता है। अहं में व्यक्ति का पूर्ण अस्तित्व सन्निविष्ट है, मात्र सूक्ष्म चेतना नहीं। यह तत्त्व व्यक्ति की नितान्तता पर सापेक्षता (ब्रह्म से भी अन्य अहं-चेतनाओं से भी) का अंकुश लगाता है। सूक्ष्म स्थिर तत्त्व आत्मा में अंकुश गर्भित नहीं है, क्योंकि वह शरीर का निषेध करके चलती है और मूल में ही नितान्ततावादी है। इस सापेक्षता में से ही तीसरा तत्त्व निकल आता है—परस्परता, जो ब्रह्म-अहं के वैज्ञानिक सत्य को व्यवहार और कर्म की ओर मोड़ देता है। यदि सापेक्षता और परस्परता सत्य हैं, अनिवार्य हैं, तो ये पर के स्वागत अर्थात् अहिंसा के द्वारा ही सिद्ध और फलित हो सकते हैं। जैनेन्द्रजी की अहिंसा की व्याख्या भी परस्परता पर आश्रित होने के कारण अत्यन्त मौलिक बन पड़ी है। असल में सापेक्षता और परस्परता पर जैसा वैज्ञानिक और क्रमबद्ध बल जैनेन्द्रजी की विचारणा देती है, वैसा अन्य दर्शन नहीं देते। यह सापेक्षता और परस्परता उनकी दृष्टि से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व सबकी नीतियों की कसौटी है। यही धर्म एवं नैतिकता है। यह किसी वायव्य आदेश से प्रेरित नहीं, बल्कि ब्रह्म और अहं के अंशी-अंशभाव से बाध्य है। फिर ब्रह्म और अहं का जो रिश्ता है, उसमें अहिंसा ही सच्ची नीति ठहरती है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। जैनेन्द्र-दर्शन श्रद्धा और जिज्ञासा, सूक्ष्म सत्य और स्थूल व्यवहार, पुरुष और प्रकृति सबको अपने में समेट और साथ लेकर चलता है। वह नितान्त नहीं, सापेक्ष है। वह किसी विचार या वस्तु का निषेध नहीं करता। सबमें निहित सत्य को खोजता और उपलब्ध करता है।

गांधीवाद और जैनेन्द्र

गांधीजी और गांधीवाद ने जैनेन्द्र की विचारधारा के निर्माण में कितना योग दिया है, यह प्रश्न भी विचारणीय है। जैनेन्द्र गांधी-युग की ही उत्पत्ति हैं। गांधी ही उनकी विचारधारा के मूर्त आदर्श हैं। उन्हींका वे हर कदम पर हवाला देते हैं। साथ ही गांधीवाद के व्याख्याताओं में उनका बहुत ऊँचा स्थान है। इससे प्रकट दीखता है कि गांधीवाद ने उनकी विचारधारा को मौलिक रूप से प्रभावित किया है। पर जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ जैनेन्द्र को गांधी और गांधीवाद मूल में नहीं मार्ग में मिले। उनकी विचारधारा का स्रोत ब्रह्म की सम्भावना के उस साक्षात्कार में है, जिसे जैनेन्द्रजी ने 'आस्तिकता का पाना' कहा है। शेष सब उसमें से निःसृत होता चला गया। सामने ही गांधी थे जिनका व्यक्तित्व और जिनके कार्य अपनी विचारधारा के पुष्ट प्रमाण रूप जैनेन्द्र को दीखे। गांधीजी ने उन्हें गुरुभाव दिया और एक कसौटी प्रदान की। इस प्रकार कहानियों, उपन्यासों और लेखों के रूप में जैनेन्द्र की विचारधारा व्यक्त हो चली और धीरे-धीरे एक सुनिश्चित रूप ग्रहण कर चली। जैनेन्द्र की अभिव्यक्ति में जो सहजता और अनायासता है वह आत्म-साक्षात्कार का ही फल मालूम पड़ती है। बुद्धि द्वारा बाहरी विचारों के ले लेने से वह नहीं आ सकती थी। ब्रह्म, अहं और विश्वपरक परम्परा की उनकी व्याख्या एकदम मौलिक है और उनसे स्वयं गांधीवाद को एक वैज्ञानिक पुष्टि क्रम प्राप्त हो सकता है। जैनेन्द्रजी गांधीजी की अन्तःस्थ मूल प्रेरणाओं को शायद सबसे अधिक गहराई से समझ और पकड़ सके हैं, इससे अधिक प्रस्तुत प्रसंग में और कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

× × ×

आवश्यक है कि कुछ उन महत्त्वपूर्ण विषयों पर, जिनका स्पष्ट अथवा यथोचित उल्लेख ऊपर के विश्लेषण में नहीं आ पाया, जैनेन्द्रजी के विचार अत्यन्त संक्षेप में यहाँ दे दिये जायें। वे इस प्रकार हैं

आत्मा-पुनर्जन्म-कर्मसिद्धान्त

आत्मा शब्द का प्रयोग मुख्यतः उस सूक्ष्मतम नित्य तत्त्व के अर्थ में किया गया है जो व्यक्ति-मात्र और चेतना का आधार है, जो पुरुष है, शरीरी है और शरीर में 'मैं' करके स्थित है। शास्त्रों में इस आत्मा को ब्रह्म का अंश कहा गया है। शास्त्रानुसार यही वह है जो नाना जन्म और शरीर पाता और कर्मफल भोगता है। जैनेन्द्रजी ब्रह्म को ही अन्तिम स्थिर तत्त्व मानते हैं। इसलिए आत्मा को इतनी नितान्त क्षमता वे नहीं दे पाते कि वह ब्रह्म से निरपेक्ष होकर कर्मचक्र के अनुसार एक शरीर से दूसरा शरीर प्राप्त करता चला जाय। उनका विश्वास है कि हमारी आत्मा शरीर की समाप्ति के साथ ही ब्रह्म में विलीन हो जाती है। जिसका पुनर्जन्म माना

जा रहा है, उसमें नहीं बिल्कुल [illegible] है [illegible] अथवा में आकर, वह कुछ भी [illegible] नहीं [illegible] सकता। [illegible] है कि वह [illegible] यह पता नहीं है, जो पिछली [illegible] था। चलना है अजर [illegible] में [illegible] और [illegible] हैं। जैनेन्द्रजी पुनर्जन्म को [illegible] रूप में [illegible] हैं। [illegible] भिन्न नहीं [illegible]। [illegible] तत्त्व (परमत, [illegible], वासना, [illegible] आदि) [illegible] घुल जाता है, जैसे [illegible] में [illegible] है। [illegible] उठते रहते हैं। [illegible] है। आत्मा उसी रूप में अजर, अमर, अनादि, अनन्त है जिसमें कि ब्रह्म [illegible] है। आत्मा के नित्य व्यक्तित्व को, इस व्यक्तित्व के कर्माधीन पुनर्जन्म को जैनेन्द्रजी व्यवहार और धर्म के लिए उपयोगी मानते हैं, पर वैज्ञानिक नहीं मान पाते, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी को भी नित्य वे स्वीकार नहीं कर पाते। प्रश्न उठता है कि तब उन कर्मों का क्या होता है, जो व्यक्ति जीवनभर करता है? जैनेन्द्रजी कहते हैं कि जीवनभर के कर्म भी सूक्ष्म रूप (Idea), व्यथा रूप धारण कर पानी की तरह अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाते हैं। सबके और सभी अन्य तत्त्वों के साथ-साथ कर्म-रस में से भी एक भाग मिलता है। इस प्रकार व्यक्ति का कर्म, मात्र व्यक्ति का न रहकर सारे ब्रह्म का बन जाता है और व्यक्ति की जिम्मेदारी घटने के बजाय और बढ़ जाती है।

काम-प्रेम-परिवार

इस विषय पर जैनेन्द्र की उक्तियों एवं मान्यताओं की बड़ी कटु आलोचना हुई है और उन्हें अश्लील एवं अनैतिक घोषित किया गया है। अश्लील और अनैतिक ये दोनों समाज-सापेक्ष शब्द हैं। पर समाज क्या है? क्या वह आर्थिक-राजनैतिक-धार्मिक संगठन मात्र है। जब समाज का अर्थ संगठन किया जाता है, तब उसके नीचे अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न प्रधान बन जाता है, परस्परता का तत्त्व गौण। तब श्लील और नैतिक का अर्थ समाज-संगठन की अनुकूलता और अश्लील-अनैतिक का अर्थ उसकी अननुकूलता बन जाता है। ये अनुकूलताएँ-अननुकूलताएँ देश-काल-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनीय हैं और वह समाज का व्यावहारिक स्थूल अस्थायी आधार ही माना जा सकता है। सूक्ष्म आधार परस्परता है और उसे ही जैनेन्द्रजी स्थायी तत्त्व मानते हैं। अक्सर समाज की नीतियाँ-रूढ़ियाँ परस्परता को अर्थात् प्रेम को अपनी टक्कर में देखती-मानती हैं। इसलिए परम्परावादी नीति परस्परतावाद अर्थात् प्रेम को अश्लील और अनैतिक घोषित कर बैठती है।

परस्परता की दृष्टि से सच्ची स्वीकृता और नैतिकता वहुं की मानव-मात्र की ओर उन्मुखता है, जब कि संगठनवाद यह दर्जा व्यक्ति अथवा संगठन की स्वनिष्ठता को देता है। परिवार सबसे छोटा संगठन है। प्रश्न उठता है कि परिवार चहार दीवारी में ही बन्द रहे या शेष समाज से अपना खुला सम्बन्ध रखे। परम्परावादी भी मानते हैं कि प्रेम से परस्परता स्थापित किये बिना जिया नहीं जा सकता। पर वे परस्परता का अधिकार केवल पुरुष को देना चाहते हैं। स्त्री की परस्परता उन्हें अनैतिक अश्लील अधार्मिक मालूम पड़ती है। प्रश्न है कि जब पुरुष का परस्परता विस्तार उसे और उसके परिवार को समृद्ध करता दीखता है, तब स्त्री का आत्म विस्तार उसे विपन्न क्यों करेगा? जैनेन्द्रजी के अनुसार हम भूल करते हैं, जब विपरीत-लिंगियों में परस्परता आत्मीयता का अर्थ हम अनिवार्य रूप से कामुकता लगा लेते हैं। स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को काम कहा जाता है। समाज-संगठन के उद्देश्य से काम के नियमन के लिए, विवाह-संस्था की स्थापना हुई, जिसका नैसर्गिक परिणाम हुआ—परिवार। परिवार के दम्पति और अन्य वयस्क कितनी सीमा तक विपरीत लिंगियों के सम्पर्क में आयें? देखना होगा कि दाम्पत्य विशेष परिवार विशेष किस पर टिका है, स्थूल मर्यादा पर अथवा हृदय के समर्पण अर्थात् प्रेम पर? प्रेम पर टिके दम्पति को एक-दूसरे पर पहरा लगाने की आवश्यकता नहीं होगी। उनमें परस्पर विश्वास होगा। वे शेष संसार को अपने विरोध में नहीं पायेंगे और यथासम्भव अपनी आत्मीयता के विस्तार में नहीं हिचकेंगे। यदि कभी स्खलन होगा भी तो प्रेम समाधान ढूंढ लेगा। स्खलन का अनुताप उनके प्रेम को और सुदृढ़ ही करेगा। जहाँ मर्यादा को महत्त्व मिलता है, वहाँ कामुकता और शरीर सम्भोग का मूल्य और उनके प्रति आकर्षण बढ़ जाता है। वर्जनायें बढ़ती हैं और ग्रन्थियाँ गुणानुगुणित होती हैं। जिस भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से विवाह-संस्था बनायी गयी थी वही गुप्तरूपेण में पनपता और फैलता है। जैनेन्द्र समाज और परिवार को मर्यादा अथवा समाज हित पर आधारित न करके व्यक्ति-व्यक्ति के हार्दिक प्रेम और समर्पण पर स्थिर करना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि प्रेम ही कामुकता आर्थिक स्वार्थ तथा हिंसक महत्त्वाकांक्षा पर विजय पा सकता है। नीति-नियम आदेश मर्यादा पैदा करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। असल में अस्तित्व-रक्षा भी प्रेम और परस्परता के माध्यम से जैसी हो सकती है, शुद्ध मर्यादा से नहीं। इसलिए परस्परता ही नीति है, नैतिकता और स्वीकृता है। परस्परता के विपरीत जो है, सब अनैतिकता और हिंसा है।

पूंजीवाद-समाजवाद

पूंजी का भाव चलना कब आरम्भ हुआ? एक समय था, जब एक ओर श्रम

और दूसरी ओर आभिजात्य ही समाज-मूल्य थे। उस समय जो व्यापार-वाणिज्य द्वारा लाखो-करोडो बटोरते थे, उनका समाज-मूल्य नगण्य था। पूंजी का वाद बनना उस दिन आरम्भ हुआ, जिस दिन पूंजी को समाज-मूल्य मिला और पूंजी पैदा करने की स्पर्द्धा जन-साधारण मे पैदा हुई। पूंजीपतियो ने विकासशील यन्त्र-विज्ञान का सहारा लिया। उद्योगों का सूत्रपात हुआ। राज्य-सरकारो ने उद्योगो पर कृपा का रुख त्यागकर उनमें सजीव रुचि लेनी आरम्भ की और व्यक्तिगत पूंजी के रक्षण और विकास के लिए कानून बनाये। उद्योग, उत्पादन और वाणिज्य मानव-मानसिकता पर छा गये और धर्म, मर्यादा, नैतिकता के भाव ढँक गये। समय आया कि पूजीपति सरकार मे पहुँचा और सामन्त के स्थान पर स्वय विधायक बना। सत्ता पूंजीपति के हाथ आ गयी। समाज की सुविधाएँ पूंजी के आधार पर मिलने और छिनने लगी। पूंजी ही व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक पारस्परिकता का नियमन करने लगी और हर समस्या के आर्थिक पहलू को हम सर्वाधिक महत्त्व देने लगे। इस अर्थ-मानसिकता को ही जैनेन्द्रजी पूंजीवाद का नाम देते हैं। उनका मत है कि पूंजीवाद से समाजवाद तक पहुंच जाना इस अर्थ-मानसिकता से छुट्टी पा जाना नही है। खतरनाक चीज यह अर्थ-मानसिकता है, जो उपर्युक्त दोनो ही वादो का समान आधार है। पूंजी से प्रेरित व्यक्ति हो या राष्ट्र, दोनो की विचारणा एक ही पटरी की होगी और दोनों ही नैतिकता और पारस्परिकता को लाँघकर चलेंगे। जैनेन्द्र समाजवाद को राजकीय पूंजीवाद (State Capitalism) कहते हैं, जिसके पास अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा और ईर्ष्या-द्वेष का वातावरण पैदा करने की क्षमता आ जाती है। जैनेन्द्र वणिक् के हाथ मे शस्त्र और कानून का देना शुभ नहीं मानते। राज्य का वणिक् और पूंजीपति बन जाना उनकी दृष्टि में कल्याण का वाहक नहीं बन सकता। आज पूंजीवाद और समाजवाद मे जो अन्तर माना जाता है—अर्थात् व्यक्तिगत आर्थिक प्रयास की स्वच्छन्दता और उसका सरकारी प्रयास में विलुप्त हो जाना—उसे जैनेन्द्र बहुत महत्त्व नही दे पाते। वे सत्ता के केन्द्रीकरण से भी सहमत नही हैं। विकेन्द्रित और अनुशासनात्मक शासन को ही वे नैतिक मान पाते हैं। उनका सिद्धान्त है कि परस्परता से विमुख स्व-निष्ठ अहं चाहे व्यक्ति का हो या सगठन का, समस्याएँ ही पैदा करता है। विज्ञान की शक्ति ने राष्ट्रीय अह-वादिता को जो दुर्द्धर्ष बना दिया है, यही हमारी आज की सबसे बडी समस्या है।

अर्थ का परमार्थीकरण

आज विशालकाय उद्योगो और अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य पर टिकी हमारी अर्थ-व्यवस्था इतनी जटिल हो गयी है कि वह साधन न रहकर साध्य का स्थान ले चुकी

है। अर्थ-मानसिकता इतिहास के प्रवाह में हमें मिली है और विश्व की राजनीतिक-कूटनीतिक अवस्था ऐसी है कि सुदृढ़ केन्द्रित समाजवाद सबको अल्प पाप (Lesser Evil) के समान अनिवार्य जान पड़ता है। अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न आज सबसे विकट है और विज्ञान ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि अर्थ और राजनीति के क्षेत्रों में केन्द्रित सामूहिक प्रयास के बिना गुजारा नहीं रहा है। इतिहास के वेग को लौटाया नहीं जा सकता। पर एक बात की जा सकती है। वह यह कि नैतिकता को अर्थ-मानसिकता के प्रतिपक्ष में से हटाकर उसे अर्थवाद का शक्ति-स्रोत बना दिया जाय। हमारी आर्थिक योजनाएँ मात्र 'स्व-अर्थ' से प्रेरित न होकर 'पर और परम अर्थ' से प्रेरणा प्राप्त करें। राष्ट्र मात्र राष्ट्रीय हित के आधार पर योग-मात्र क्रय-विक्रय और दाँव-पेंच न करके समस्त विश्व का हित सोचें। यह तभी होगा जब व्यक्ति 'परम अर्थ' की दिशा थामे और उसका राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में अन्वय करेंगे। अर्थ-नीति और राजनीति को परस्परता की प्रेम-नीति पर चलाये बिना स्पर्द्धा द्वेष घृणा के वातावरण को बदला नहीं जा सकता। जैनेन्द्रजी का विश्वास है कि अर्थ का परमार्थीकरण राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी असंभव नहीं है। जो भी देश ऐसी पहल करने के लिए आगे बढ़ेगा यदि उसमें सिर्फ एक जोश ही न होकर समझ और बाह्य की सही अवधारणा (Right Assessment) की क्षमता और झुक कर गुजरने का साहस होगा तो उसे घाटे में नहीं रहना पड़ेगा। विज्ञान इस दिशा में मानव की पूरी सहायता कर सकता है। उससे सहायता लेना-न ले पाना यह मानव की अपनी नैतिकता पर निर्भर करता है।

वैज्ञानिक अध्यात्म

जैनेन्द्रजी ने 'वैज्ञानिक अध्यात्म' नाम का प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ जैनेन्द्र-दर्शन पर यह नाम ठीक बैठता है। आस्तिकता अर्थात् पारस्परिकता को स्वयं मानकर चलना और वैज्ञानिक सत्यों का आस्तिकता के विकास-क्रम में पूरा उपयोग करना ही वैज्ञानिक अध्यात्म कहला सकता है। बाह्य की समग्रता अहं की अपनता दोनों की सापेक्षता—ये तीन अस्तित्व के सबसे अधिक वैज्ञानिक सत्य हैं। इन तीनों का परस्परता और अहिंसा के लिए उपयोग ही सही व्यावहारिक अध्यात्म और धर्म का स्वरूप हो सकता है। जैनेन्द्रजी का यह प्रेमवादी अध्यात्म सर्वगामी है और शून्यवादी अध्यात्म की तरह चेतना को जड़ निष्क्रिय और गतिहीन नहीं करता वरन् उसे एक स्वस्थ स्फूर्ति प्रदान करता है और मानसिक शक्तियों को खोलता है। यह मानव के सामने व्यक्तिगत पारिवारिक सामाजिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सक्रियता की योजना प्रस्तुत करता है। मानवता के साथ यह एक उच्च नैतिक लक्ष्य स्थापित करता है और उसकी प्राप्यता को समीप-सम्भव बनाकर

और दूसरी ओर आभिजात्य ही समाज-मूल्य थे। उस समय जो व्यापार-वाणिज्य द्वारा लाखो-करोडो बटोरते थे, उनका समाज-मूल्य नगण्य था। पूंजी का वाद बनना उस दिन आरम्भ हुआ, जिस दिन पूंजी को समाज-मूल्य मिला और पूंजी पैदा करने की स्पर्द्धा जन-साधारण में पैदा हुई। पूंजीपतियो ने विकासशील यन्त्र-विज्ञान का सहारा लिया। उद्योगो का सूत्रपात हुआ। राज्य-सरकारो ने उद्योगों पर कृपा का रुख त्यागकर उनमे सजीव रुचि लेनी आरम्भ की और व्यक्तिगत पूंजी के रक्षण और विकास के लिए कानून बनाये। उद्योग, उत्पादन और वाणिज्य मानव-मानसिकता पर छा गये और धर्म, मर्यादा, नैतिकता के भाव ढंक गये। समय आया कि पूंजीपति सरकार मे पहुँचा और सामन्त के स्थान पर स्वय विधायक बना। सत्ता पूंजीपति के हाथ आ गयी। समाज की सुविधाएँ पूंजी के आधार पर मिलने और छिनने लगी। पूंजी ही व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक पारस्परिकता का नियमन करने लगी और हर समस्या के आर्थिक पहलू को हम सर्वाधिक महत्त्व देने लगे। इस अर्थ-मानसिकता को ही जैनेन्द्रजी पूंजीवाद का नाम देते हैं। उनका मत है कि पूंजीवाद से समाजवाद तक पहुंच जाना इस अर्थ-मानसिकता से छुट्टी पा जाना नही है। खतरनाक चीज यह अर्थ-मानसिकता है, जो उपर्युक्त दोनो ही वादों का समान आधार है। पूंजी से प्रेरित व्यक्ति हो या राष्ट्र, दोनो की विचारणा एक ही पटरी की होगी और दोनो ही नैतिकता और पारस्परिकता को लांघकर चलेंगे। जैनेन्द्र समाजवाद को राजकीय पूंजीवाद (State Capitalism) कहते हैं, जिसके पास अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा और ईर्ष्या-द्वेष का वातावरण पैदा करने की क्षमता आ जाती है। जैनेन्द्र वणिक् के हाथ मे शस्त्र और कानून का देना शुभ नहीं मानते। राज्य का वणिक् और पूजीपति बन जाना उनकी दृष्टि में कल्याण का वाहक नहीं बन सकता। आज पूंजीवाद और समाजवाद में जो अन्तर माना जाता है—अर्थात् व्यक्तिगत आर्थिक प्रयास की स्वच्छन्दता और उसका सरकारी प्रयास में विलुप्त हो जाना—उसे जैनेन्द्र बहुत महत्त्व नहीं दे पाते। वे सत्ता के केन्द्रीकरण से भी सहमत नही है। विकेन्द्रित और अनुशासनात्मक शासन को ही वे नैतिक मान पाते हैं। उनका सिद्धान्त है कि परस्परता से विमुख स्व-निष्ठ अह चाहे व्यक्ति का हो या सगठन का, समस्याएँ ही पैदा करता है। विज्ञान की शक्ति ने राष्ट्रीय अह-वादिता को जो दुर्द्धर्ष बना दिया है, यही हमारी आज की सबसे बडी समस्या है।

अर्थ का परमार्थीकरण

आज विशालकाय उद्योगो और अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य पर टिकी हमारी अर्थ-व्यवस्था इतनी जटिल हो गयी है कि वह साधन न रहकर साध्य का स्थान ले चुकी

है। अर्थ-सापेक्षता इतिहास के प्रवाह में हमें मिली है और विश्व की राजनीतिक-अर्थनीतिक अवस्था ऐसी है कि सुदृढ़ केन्द्रित समाजवाद सबको अल्प पाप (Lesser Evil) के समान अनिवार्य लग रहा है। अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न आज सबसे निकट है और विज्ञान ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि अर्थ और राजनीति के क्षेत्रों में केन्द्रित सामूहिक प्रयास के बिना गुजारा नहीं रहा है। इतिहास के वेग को लौटाया नहीं जा सकता। पर एक बात की जा सकती है। वह यह कि नैतिकता को अर्थ-सापेक्षता के प्रतिपक्ष में से हटाकर उसे अर्थवाद का शक्ति-स्रोत बना दिया जाय। हमारी आर्थिक योजनाएँ मात्र 'स्व-अर्थ' से प्रेरित न होकर 'पर और परम अर्थ' से प्रेरणा प्राप्त करें। राष्ट्र मात्र राष्ट्रीय हित के आधार पर मोल-भाव क्रय-विक्रय और दाँव-पेंच न करके समस्त विश्व का हित सोचें। यह तभी होगा जब व्यक्ति 'परम अर्थ' की चिन्ता करें और उसका राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में अन्वय करेंगे। अर्थ-नीति और राजनीति को परस्परता की प्रेम-नीति पर चलाये बिना स्पर्द्धा द्वेष घृणा के वातावरण को बदला नहीं जा सकता। जैनेन्द्रजी का विश्वास है कि अर्थ का परमार्थीकरण राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी असंभव नहीं है। जो भी देश ऐसी पहल करने के लिए आगे बढ़ेगा यदि उसमें सिर्फ एक जोश ही न होकर समग्र और वह की सही अवधारणा (Right Assessment) की क्षमता और झुक कर गुजरने का साहस होगा तो उसे घाटे में नहीं रहना पड़ेगा। विज्ञान इस दिशा में मानव की पूरी सहायता कर सकता है। उससे सहायता लेना-न लेना यह मानव की अपनी नैतिकता पर निर्भर करता है।

वैज्ञानिक अध्यात्म

जैनेन्द्रजी ने 'वैज्ञानिक अध्यात्म' नाम का प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ जैनेन्द्र-दर्शन पर यह नाम ठीक बैठता है। आस्तिकता अर्थात् पारस्परिकता को लक्ष्य मानकर चलना और वैज्ञानिक सत्यों का आस्तिकता के विकास-क्रम में पूरा उपयोग करना ही वैज्ञानिक अध्यात्म कहला सकता है। श्रद्धा की समग्रता अहं की लघुता दोनों की सापेक्षता—ये तीन अस्तित्व के सबसे अधिक वैज्ञानिक सत्य हैं। इन तीनों का परस्परता और अहिंसा के लिए उपयोग हो यही व्यावहारिक अध्यात्म और उसका लक्ष्य हो सकता है। जैनेन्द्रजी का यह प्रेमवादी अध्यात्म सर्वग्राही है और शून्यवादी अध्यात्म की तरह चेतना को रुद्ध, निष्क्रिय और जड़ित नहीं करता वरन् उसे एक स्वस्थ स्फूर्ति प्रदान करता है और मानसिक शक्तियों को खोलता है। यह मानव के सामने व्यक्तिगत पारिवारिक सामाजिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सक्रियता की योजना प्रस्तुत करता है। मानवता के साथ वह एक अन्य नैतिक सम्बन्ध स्थापित करता है और उसकी मानवता को असीम-अबाध बनाकर

भौतिकवाद और विज्ञानवाद पर आग्रह रखने की प्रेरणा देता है। जैनेन्द्र की विचारणा गांधीवाद का वैज्ञानिक अध्ययन करती है और उसकी मूल गांधी-प्रेरणाओं को बौद्धिक और व्यावहारिक तल पर ले आती है। नास्तिवाद और विज्ञान का 'परपरें' करना आस्तिकता का इनकार करना है। क्योंकि ये दोनों ही अनास्था की ही देन हैं। जैनेन्द्रजी का मत है कि इन दोनों का अन्य मानना व्यक्ति चेतना के भीतर सत्य की सत्ता को अमान्य करना है। विज्ञान और अध्यात्म अब परस्पर सापेक्ष बनकर घुले-मिलेंगे, तो इसका रूप यही हो सकता है कि राष्ट्र में परस्परता और प्रीति रहे, युद्ध की सम्भावना कम हो और एक विश्व-सरकार का निर्माण हो।

निवेदन

जैनेन्द्र के विचारों और उनकी अहिंसा में कोई नवीनता खोजना शायद सगत नहीं होगा। मुझे सन्देह है कि कोई भी विचार ऐसा है, जो पहले किसी न किसी रूप और प्रसग में प्रकट न हो चुका हो। मौलिकता इसी बात में खोजी जानी चाहिए कि विचारक ने विचार के किस पहलू पर, किस ढग और किस उद्देश्य से बल दिया है। जैनेन्द्र ने अहिंसा का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जिससे आज के बौद्धिक मानस में उसका सापेक्षतावादी और परस्परतावादी पक्ष उभर सके। उनके विश्लेषण के इसी तथ्य ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है। जैनेन्द्र की विचारणा के इसी पक्ष को मैंने प्रस्तुत उपोद्घात में पाठकों के सामने रखने का तुच्छ प्रयास किया है। जहाँ तक हो सका है, जैनेन्द्र-विचारणा का सार सक्षिप्त, पर स्वच्छ, अमिश्रित रूप में रख पाना ही यद्यपि मेरा उद्देश्य रहा है, पर मुझे अपनी सफलता में गहरा सशय है, क्योंकि जैनेन्द्रजी की विचारणा इतनी गहन और सश्लिष्ट है कि उस पर कलम मुझ बालक को शायद नहीं उठानी चाहिए थी। फिर भी जो यह साहस मुझसे बन पड़ा, उसमें श्रद्धेय बाबूजी का प्रोत्साहन और उनका मुझमें प्रेम ही कारण है। जो भी त्रुटियाँ अथवा अनधिकार-चेष्टाएँ इस प्रयास में मुझसे बन पड़ी हों, उन्हें क्या मैं आशा करूँ कि मान्य विद्वज्जन एव पाठक क्षमा करेंगे।

यहाँ एक अन्तिम निवेदन यह करना चाहूँगा कि इस 'समय और हम' ग्रंथ में जो भी प्रश्न मैंने किये हैं, वे विशुद्ध जिज्ञासा-वश ही किये गये हैं और उनका उद्देश्य जैनेन्द्र के अन्तरग से उनकी विचारणा को निकाल पाना ही रहा है। प्रश्न में निहित कोई भी विचार अनिवार्य रूप से मेरा नहीं समझा जाना चाहिए। मुझे याद आ रहा है, पहला ही प्रश्न मैंने किया था 'मैं ईश्वर को नही मानता। क्या आप मानते हैं?' पर स्वय को ईश्वर की मर्जी पर छोड सकूँ, यही मेरे हृदय की चरम कामना है। अस्तु।

दिल्ली
मकर-संक्रान्ति, २०१८

—वीरेन्द्रकुमार गुप्त

भौतिकवाद और विज्ञानवाद पर आरूढ़ होने की प्रेरणा देता है। जैनेन्द्र की विचारणा गांधीवाद का वैज्ञानिक अध्ययन करती है और उसकी मूल गहन प्रेरणाओ को बौद्धिक और व्यावहारिक तल पर ले आती है। भौतिकवाद और विज्ञान को 'परे-परे' करना आस्तिकता से इनकार करना है। क्योंकि ये दोनो भी भगवान् की ही देन हैं। जैनेन्द्रजी का मत है कि इन दोनो से भय खाना व्यक्ति-चेतना के नीचे ब्रह्म की सत्ता को अमान्य ठहराना है। विज्ञान और अध्यात्म जब परस्पर सापेक्ष बनकर घुले-मिलेंगे, तो उसका सुफल यही हो सकता है कि राष्ट्रो के बीच परस्परता और प्रीति बढ़े, युद्धो की सम्भावना कम हो और एक विश्व-सस्कृति का विकास हो।

निवेदन

जैनेन्द्र के विचारो और उनकी अहिंसा मे कोई नवीनता खोजना शायद सगत नही होगा। मुझे सन्देह है कि कोई भी विचार ऐसा है, जो पहले किसी न किसी रूप और प्रसग मे प्रकट न हो चुका हो। मौलिकता इसी बात मे समझी जानी चाहिए कि विचारक ने विचार के किस पहलू पर, कितना और किस उद्देश्य से बल दिया है। जैनेन्द्र ने अहिसा का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जिससे आज के बौद्धिक मानस मे उसका सापेक्षतावादी और परस्परतावादी पहलू उभर सके। उनके विश्लेषण के इसी तथ्य ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है। जैनेन्द्र की विचारणा के इसी पक्ष को मैंने प्रस्तुत उपोद्‌घात मे पाठको के सामने रखने का तुच्छ प्रयास किया है। जहाँ तक हो सका है, जैनेन्द्र-विचारणा का सार सक्षिप्त, पर स्वच्छ, अमिश्रित रूप में रख पाना ही यद्यपि मेरा उद्देश्य रहा है, पर मुझे अपनी सफलता में गहरा सशय है, क्योकि जैनेन्द्रजी की विचारणा इतनी गहन और सश्लिष्ट है कि उस पर कलम मुझ बालक को शायद नही उठानी चाहिए थी। फिर भी जो यह साहस मुझसे बन पडा, उसमें श्रद्धेय बाबूजी का प्रोत्साहन और उनका मुझमे प्रेम ही कारण है। जो भी त्रुटियाँ अथवा अनधिकार-चेष्टाएँ इस प्रयास मे मुझसे बन पडी हों, उन्हे क्या मैं आशा करूँ कि मान्य विद्वज्जन एव पाठक क्षमा करेंगे।

यहाँ एक अन्तिम निवेदन यह करना चाहूँगा कि इस 'समय और हम' ग्रथ मे जो भी प्रश्न मैंने किये हैं, वे विशुद्ध जिज्ञासा-वश ही किये गये हैं और उनका उद्देश्य जैनेन्द्र के अन्तरग से उनकी विचारणा को निकाल पाना ही रहा है। प्रश्न मे निहित कोई भी विचार अनिवार्य रूप से मेरा नही समझा जाना चाहिए। मुझे याद आ रहा है, पहला ही प्रश्न मैंने किया था 'मैं ईश्वर को नही मानता। क्या आप मानते हैं?' पर स्वय को ईश्वर की मर्जी पर छोड सकूँ, यही मेरे हृदय की चरम कामना है। अस्तु।

दिल्ली
मकर-सक्रान्ति, २०१८

—वीरेन्द्रकुमार गुप्त

२

ईश्वर

ईश्वर और प्रकृति

१. मैं ईश्वर को नहीं जानता। क्या आप जानते हैं?

—मैं उसके सिवा और कुछ भी नहीं मान पाता हूँ।

२. तब क्या आप प्रकृति को अथवा 'मैटर' को नहीं मानते हैं?

—मान सकता हूँ, पर उन्हें अनीश्वर मानने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं है।

३. ईश्वर प्रकृति से पैदा हुआ या प्रकृति ईश्वर से?

—ईश्वर शब्द की ध्वनि में ही है कि वह पैदा नहीं होता। फिर किसीसे के पैदा होने का सवाल ही नहीं है। वह केवल है। इस तरह वह अनादि अथवा आदिकारण है। पर कारण ऐसा कि कार्य उससे बाहर नहीं हो सकता।

४. इस बात को सविस्तर और स्पष्ट कीजिये।

—सब होने के अव्यक्त-स्वरूप को ईश्वर मानना होगा।

५. तब क्या मैटर भी ईश्वर है?

—अनीश्वर नहीं है।

६. ईश्वर और प्रकृति में, आपके मतानुसार, अद्वैत मानना होगा या द्वैत?

—अद्वैत-द्वैत सूक्ष्म-स्थूल रूप में दो हैं, जैसे रस और फल दो हैं। भाषा अद्वैत में द्वैत का रूप पकड़ा देती है।

७. क्या प्रकृति और ईश्वर में किसी प्रकार का विरोध है?

—नहीं। विरोध पूर्ण में कैसे हो सकता है?

८. किसी बन्धु ने मुझसे कहा था, जिस प्रकार जल से बिजली पैदा हो सकती है, पर बिजली से जल पैदा नहीं हो सकता, उसी प्रकार स्थूल प्रकृति से ईश्वर अथवा चैतन्य उत्पन्न होती है, पर सूक्ष्म ईश्वर से प्रकृति पैदा नहीं होती। इस विषय में आपका क्या विचार है?

—उन बन्धु ने विज्ञान की प्रक्रिया को देखकर कहा होगा। चित्-सृष्टि की प्रक्रिया सूक्ष्म से स्थूल की ओर है।

मैं अपने लिए यह समझ में ले लेता और मान लेता हूँ कि जिसमें हर दो एक हैं वह ईश्वर है।

अद्वैत-द्वैत

१२ इस अद्वैत की स्थिति क्या है ?

—स्थिति की कल्पना परिस्थिति के बीच हुआ करती है। वैसा यहाँ कुछ सम्भव नहीं है। इसलिए अद्वैत को धारणा से अगम मानना चाहिए। धारणा में उतरते ही उसे द्वैत मिल जाता है। अद्वैत में बात हमारी जा नहीं सकती, जाते ही खो जायगी। बात द्वैत में टिकती और चलती है। अतः मैं अनुभव करता हूँ कि अद्वैत के लिए जब भक्ति ही हममें हो सकती है तब दर्शन और विवेचन का क्षेत्र द्वैत तक है। पार जाने के प्रयत्न में तत्त्वज्ञान अपने साथ अन्याय और व्यभिचार का आचरण करता है। तत्त्व-जिज्ञासा अनेक में से चलने को बाध्य है। यह बुद्धि की मर्यादा है। यहाँ रास्ता प्रेम से खोता नहीं। जहाँ ज्ञाता रह नहीं जाता प्रेम जैसा उसके लिए बचे ही नहीं ऐसी जो शुद्ध सत् की स्थिति है उसमें तत्त्वज्ञता ठहर नहीं सकती।

हर दो-मन का इनकार

१३. आत्मा और परमात्मा के बीच अद्वैत के विषय में आपका क्या मत है ?

—अद्वैत हर दो के सर्वथा दो-मन का अनवकाश है। कुछ बात के आपसी दो-मन का नहीं। जैसे जड़ और चेतन उसी तरह जीवात्मा-परमात्मा उसी तरह सत्य और असत्य रूप-अरूप साकार-निराकार—आदिम जितनी द्वैत की कल्पनीय अवस्थाएँ हैं, अद्वैत में सबका समाहार है। आपके प्रश्न को देखते हुए कहा जा सकता है कि परम अद्वैत (परमेश्वर) जीव के साथ जिस तरह एक है, वैसे ही एक है जड़ के भी साथ। ईश्वर की परमता में द्वैत को अवकाश नहीं। द्वैत का स्थान हमसे है। लेकिन यह सब चर्चा से अगम जो है तो उस तट से इधर ही हमें बात को रखना चाहिए। आगे जाना डूब जाना है। वह बात द्वारा सम्भव नहीं है।

द्वैत में अद्वैत

१४. जीवन के व्यवहार में कदम-कदम पर हमें द्वैत का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में आपके अद्वैत का इस संसार में क्या स्थान है ?

—जगत के प्रसार में तो सचमुच कोई स्थान नहीं है। अद्वैत के सम्बन्ध में जिसकी सम्भावना कहो, वह तो सम्भव ही नहीं है। पर अनुभूति और प्रतीति में द्वैत से घूमते हुए भी अद्वैत अवश्य हमारे भीतर रह सकता है। क्या यह सच नहीं है कि

९ तब क्या सृष्टि और विज्ञान की प्रक्रियाओं में भेद है?

—काफी। विज्ञान के आविष्कार जितने हो, उतने ही रहते हैं। जैसे शिशु युवा होता और अन्त मे वृद्ध होकर मृत्यु मे मिल जाता है, वैसे सब विकास या ह्रास की व्यवस्था विज्ञान के उपकरणो मे नही मिलती।

श्रद्धा जिसमें, ईश्वर उसमें

१० विज्ञान को ही सब माननेवाले और ईश्वर का निषेध करनेवाले को आप कैसे विश्वास दिलायेंगे कि ईश्वर है?

—विश्वास दिलाने की आवश्यकता नही है। नदियाँ सब समुद्र मे गिरती हैं। इसी तरह विश्वास सब ईश्वर मे पहुँचता है। विश्वास मे हम अपने को छोड़ दे, तो ईश्वर के सिवा पहुँचने के लिए हमारे पास कोई गति नही रह जाती है। किनारे पर रुककर ही हम अपनी मान्यता को इस या उस, तत्त्व, देव या तीर्थ, का नाम दिया करते हैं। अर्थात् मेरी दृष्टि मे पूरेपन से मानना, जिसे श्रद्धा कहते हैं, काफी है। श्रद्धा किसमे, यह प्रश्न ही नही रह जाता। जिसमे भी है, वही पर्याप्त है। वही ईश्वर है। ईश्वर का एक नाम तो है नही। जितने नाम, सब उसीके हैं। उन नामो मे अटक रहने से ही दिक्कत होती है। अन्यथा असंख्य विधाओ मे भी दुविधा होने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

निषेध मे या नकार मे कठिनाई इतनी ही है कि विश्वास पूरी तरह वहाँ जम नही पाता। निषेध के प्रति भक्ति नही हो सकती। लेकिन यदि कोई ऐसा प्रतिभाशाली हो कि नकार की भाषा मे उसका विश्वास पूरा प्राणवन्त हो उठे, तो वह विश्वास मुक्ति-दाता हो सकता है। 'नेति' क्या ईश्वर की ही परिभाषा नहीं है? फिर नेति के मार्ग से ईश्वर की साधना क्यो नही हो सकती?

जिसमें हर दो एक हैं

११ तब ईश्वर का स्वरूप क्या है?

—स्वरूप किसी दूसरे को छोड कोई एक निश्चित हो नही सकता, इसीसे ईश्वर ईश्वर है। सुविधा हम सबको है कि अपने मन का स्वरूप उसको पहना लें। यह अनन्त सुविधा ईश्वर के सिवा कहीं अन्यत्र मिल नही सकती। उसे रूप मे बाँधना हमारी ही आवश्यकता है। ईश्वर ने वह क्षमता भी हमें दे दी है। लेकिन सब रूप जहाँ से प्रगटे हो, उसका अपना क्या रूप कहा जा सकता है? या तो अरूप कहो या अनन्त रूप कहो।

मैं अपने लिए यह समझ ले के लेता और मान लेता हूँ कि जिसमें हर दो एक हैं, वह ईश्वर है।

अद्वैत-द्वैत

१२ इस अद्वैत की स्थिति क्या है ?

—स्थिति की कल्पना परिस्थिति के बीच हुआ करती है। वैसा यहाँ कुछ सम्भव नहीं है। इसलिए अद्वैत को धारणा से अगम मानना चाहिए। धारणा में उतरते ही उसे द्वैत मिल जाता है। अद्वैत में बात हमारी जा नहीं सकती जाते ही खो जायगी। बात द्वैत में टिकती और चलती है। अतः मैं अनुभव करता हूँ कि अद्वैत के लिए जब भक्ति ही हममें हो सकती है तब दर्शन और विवेचन का क्षेत्र द्वैत तक है। पार जाने के प्रयत्न में तत्त्वज्ञान अपने साथ अन्याय और व्यभिचार का आचरण करता है। तत्त्व-जिज्ञासा अनेक में से चलने को बाध्य है। यह बुद्धि की मर्यादा है। जहाँ ज्ञाता ज्ञेय में खोता नहीं। जहाँ ज्ञाता रह नहीं जाय ज्ञेय जैसा उसके लिए बचे ही नहीं ऐसी जो शुद्ध सत् की स्थिति है उसमें तत्त्वता ठहर नहीं सकती।

हर दो-पन का इनकार

१३. आत्मा और परमात्मा के बीच अद्वैत के विषय में आपका क्या मत है ?

—अद्वैत हर दो के सर्वथा दो-पन का अनवकाश है। कुछ बात के बाबत दो-पन का नहीं। जैसे जड़ और चेतन उसी तरह जीवात्मा-परमात्मा उसी तरह सत्य और असत्य रूप-अरूप साकार-निराकार—आदि जितनी द्वैत की कल्पनीय अवस्थाएँ हैं, अद्वैत में सबका समाहार है। आपके प्रश्न को देखते हुए कहा जा सकता है कि परम अद्वैत (परमेश्वर) जीव के साथ जिस तरह एक है, वैसे ही एक है जड़ के भी साथ। ईश्वर की परमता में द्वैत को अवकाश नहीं। द्वैत का स्थान हममें है। लेकिन यह सब चर्चा से अगम जो है सो उस तट से इधर ही हमें बात को रखना चाहिए। आगे जाना डूब जाना है। वह बात द्वारा सम्भव नहीं है।

द्वैत में अद्वैत

१४ जीवन के व्यवहार में कदम-कदम पर हमें द्वैत का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में आपके अद्वैत का इस संसार में क्या स्थान है ?

—समझ के संसार में तो सचमुच कोई स्थान नहीं है। अद्वैत में सम्बन्ध न जिसको 'समझना' कहो वह तो सम्भव ही नहीं है। पर अनुभूति और प्रतीति में द्वैत से जूझते हुए भी अद्वैत अवश्य हमारे भीतर रह सकता है। क्या यह सच नहीं है कि

दुश्मन मानकर हम किसी से लड़ भी तभी तक सकते हैं, जब दोनों एक धरती पर हों। गाली तभी दी जा सकती और लगती है, जब भाषा बीच में एक हो। लड़ते वक्त दुश्मनी में हम इतने भर जाते हैं कि एक जमीन पर खड़े हैं, एक स्वार्थ पर खड़े हैं, यह याद नहीं रहता। अगर याद रहे, तो दुश्मनी में भी अर्थ मिल जाय और बिल्कुल सम्भव है कि दुश्मनी रहते भी उनकी दोस्ती में मेल हो जाय। अद्वैत की श्रद्धा से यदि हम द्वैतात्मक जगत् से निबटना सीखेंगे, तो इसी सत्कारिता का उदय होगा। केवल द्वैत को ही मानकर उसमें उलझेंगे, तो मूढ़ता से पार नहीं जा सकेंगे। न संस्कारों का उदय अपने बीच कर पायेंगे। कुत्ते को क्या इसीलिए कुत्ता नहीं कहा जाता कि वह देखते ही जाति भाई को गैर व दुश्मन समझता है? यह दो-पन और परायापन देही को अनायास अनुभव होता है। किन्तु मनुष्य को यह प्राप्त है कि वह भिन्न में अभिन्नता भी मान सके। इसी दर्शन और साधना को विकास का मूल और सत्य मानना चाहिए। इस तरह अद्वैत से द्वित्वपूर्ण जगत् के प्रति शक्ति ही कुछ प्राप्त होती है, बाधा नहीं।

आस्तिकता का प्रचार क्यों?

१५ क्या आस्तिकता का प्रचार करने की आवश्यकता है?

—नहीं। क्योंकि प्रचार द्वारा हम अपनी मान्यता का प्रचार कर रहे होते हैं, जो दूसरों की मान्यता से टक्कर में आती है। लेकिन आस्तिक्य चरितार्थ प्रेम में होता है। प्रेम में व्यक्ति अनायास विस्तार पाता है। यह विस्तार उसमें अपने को खोने की तैयारी में से मिलता है। मैं अपने स्वत्व को पर में खो देने को आतुर होता हूँ तभी प्रेम की अनुभूति पाता हूँ। अर्थात् प्रेम के माध्यम से ही आस्तिक्य का प्रचार जिस मात्रा में हो, उतना इष्ट है। प्रेम से अन्यत्र एवं अन्यथा उपाय से प्रचार आस्तिक्य का नहीं, आग्रह का होता है, मतवाद का होता है, और उसमें से प्रतिवाद, विवाद व वितण्डा फलित होता है।

आस्तिक का दायित्व

१६ एक आस्तिक के ऊपर, आपकी दृष्टि में, क्या और कितनी जिम्मेवारी आती है?

—प्रेम उस परम दायित्वशीलता का ही नाम है। प्रेम को सेवा बिना तृप्ति नहीं। प्रेम के नाते में एक अपने को दूसरे से श्रेष्ठ नहीं मान पाता। जब जान-बूझ कर दूसरे को ज्ञान देने, उसका सुधार करने, कल्याण करने का दायित्व ओढ़ते हैं, तो इससे हमारे अहंकार को स्वाद और आधार मिलता है। दुनिया को प्रकाश और सद्ज्ञान

देने के नाते मैं अपने अहंकार का भाव किंचित् समाया ही रहता है। ऐसे उपकारी जन आततायी तक बने देखे जाते हैं। जान-बूझकर जब दूसरों के प्रति हम कोई दायित्व उठाते हैं, तो जैसे उस दूसरे के अहं का सही सम्मान नहीं करते हैं। प्रेम में वह पर-भाव पूरी तरह मरा रहता है। प्रेम से चलकर व्यक्ति अपने को नेता, गुरु अथवा उद्धारक मान नहीं पाता। वह सेवक बनता है। इससे अनायास दूसरे के अहं को सत्कार मिलता है, मार नहीं मिलती। इसलिए मेरा मानना है कि जिसने सचमुच आस्तिक्य पाया हो वह विनम्र और आदरशील ही हो सकता है, प्रचार और उद्धार का दावा उसमें नहीं दीख सकता। इस आदरशीलता में दायित्वशीलता सहज ही देखी जा सकती है। अर्थात् ऐसा व्यक्ति अपने में क्षीण व मग्न नहीं रह पाता। उसे अपनी ममता सब ओर फूटती और बंटती होती है। आनन्द है ही वह जो अपने में घिरा-सिमटा नहीं रह सकता। सब ओर मानो बाहें पसार कर फैलना चाहता है। आनन्द और दायित्व में मैं कोई विरोध नहीं देखता हूँ।

हिंसक में आस्तिक्य नहीं

१७. इतिहास साक्षी है कि आततायियों ने सदा शस्त्र और हिंसा के बल से अपने धर्म का प्रचार किया। इसे आप क्या कहेंगे आस्तिकता की अधिकता या न्यूनता?

—न्यूनता बल्कि अभाव। मैं समझता हूँ कि आदमी अत्याचार जिस पर करता है वह सदा उपलक्ष्य होता है, लक्ष्य स्वयं उसका निज होता है। क्रोध में माँ बच्चे को मारती है तो वह असल में अपने को मार रही होती है। ऐसे ये आस्तिक जन जो शस्त्र और धर्म लेकर उसकी प्रतिष्ठा में चले असल में वहीं अपने भीतर की शंका से ही लड़ना चाह रहे थे। बस मैं मानता हूँ कि आततायी मूलतः दयनीय होता है। शासन के द्वारा वह अपने अहं की तुष्टि चाहता है। अस्त्र-शस्त्र के योग से वह जिस शासक की सृष्टि करता है उससे उसे कुछ अपने महत्त्व का आभास मिलता है। शासक यदि वह न बन सके, तो उसे ही गहरी विफलता का बोध हो आता है। शासक यदि लोग स्वीकार न करें, तो अत्याचारी और आततायी देख जाये कि वह भीतर से क्षुद्र पुरुष है, महापुरुष नहीं है। इतिहास के जिन उदाहरणों को आप याद करके पूछते हैं कि क्या जोर के साथ हित का और सत् का प्रचार नहीं किया जा सकता तो हाँ मुझे कहना होता है कि जोर का प्रेम के साथ मेल नहीं है। हित और सत्य के साथ भी उसका मेल नहीं है। भलाई और सचाई के लिए हिंसक बल का जिन्होंने उपयोग किया, उनमें कहीं आस्तिक्य की न्यूनता अवश्य रही, यह मेरे लिए स्पष्ट है। सत्य के साथ बल के रूप में अहिंसा का ही मेल हो सकता है। सच में तो अहिंसक बल ही सच्चा बल है। उसमें किसी का सत्त्व दबे

चित नहीं होता, परस्परता में मिलकर गुणानुगुणित ही होता जाता है। अहिंसा के युद्ध में भी सर्वोदय है।

सृष्टि ईश्वर में से

१८ यह सृष्टि कैसे सृष्टि मे आयी और इसका फैलाव किस प्रकार हुआ ?

—विज्ञान इसकी खोज मे है। उसने कुछ कल्पनाएँ भी इस बारे म हमे दी हैं। मैं समझता हूँ कि विज्ञान की बात का हमे स्वीकार करना चाहिए। ब्रह्माण्ड के और सृष्टि के बारे मे विज्ञान क्या व्याख्या देता है, वह शायद आप मुझसे सुनना नहीं चाहते। मेरा उधर बहुत अधिक ध्यान भी नहीं है। पर विज्ञान की अन्तिम-से-अन्तिम खोज इस मेरे विश्वास से उल्टी न होगी कि सृष्टि सब ईश्वर में से है। मेरा काम उस श्रद्धा से चल जाता है और उसे मैं अटूट भी मानता हूँ।

इसी को दूसरे शब्दो मे कहें, तो अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक ज्ञान रखकर भी रहस्य जैसा कुछ रह ही जायगा। इस तरह श्रद्धा और भक्ति विज्ञान की पूरक ही हैं, विरोधी नही हैं।

सृष्टि समक्ष है। जिस गर्भ मे से उसका उद्भव हुआ, उसके तल को पाना हमारे लिए असम्भव है। असम्भव इसलिए कि हम सृष्टि के अग हैं, यानी जन्म पा गये हैं, और गर्भ के बारे मे अनुमान ही रख सकते हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान नही पा सकते। जो फिर भी प्रत्यक्ष और निस्सशय है, वह यह कि सृष्टि स्रष्टा की लीला है। वैसा न होता, तो हममे जीवन के आनन्द की अनुभूति न होती।

उसने बनायी—उससे बनी

१९ सृष्टि ईश्वर से उत्पन्न हुई या उसे ईश्वर ने बनाया या वह स्वयंभूत है ?

—'उसने बनायी', 'उससे बनी', ये दोनो बातें हमारे मन मे दो अलग चित्र पैदा करती हैं। यह हम पर है कि चित्र हमे कौन-सा भाता है। लेकिन उस चित्र की सचाई हम तक है, स्रष्टा तक वह नहीं पहुँचती। आशय कि लीलामय और लीलासे अधिक कुछ नही कहा जा सकता। लीला मे कर्तृत्व का भाव है भी और नही भी। 'उसने बनायी' इसमे कर्तृत्व है और हेतु की अपेक्षा है। 'उससे बनी' यह स्वभावज हैं, इसमे जैसे अपेक्षा की आवश्यकता नही। स्वयम्भूत का भाव भी इसमे समा सकता है। सृष्टि और स्रष्टा मे हम इतना अभेद क्यो न मानें कि बीच मे 'क्यों', 'कैसे' आदि प्रश्न सम्भव न रह जायें। सृष्टि समक्ष है, क्यो न मानें कि स्रष्टा ही उस रूप मे समक्ष है। कठिनाई इतनी होती है कि सृष्टि दीखती अनन्त है, अनन्त उसकी विचित्रता और विविधता है। असख्य रूप-रसमय इस नानात्व मे स्रष्टा की एकता और

अवस्थता ठीक नहीं पाती। तो यह कि एक अनेक कैसे हुआ और अनेक एक क्योंकर है इसको हम विस्मय-प्रश्न के रूप में ही क्यों न अपने में धारें और रहें कि उसके रहस्य-पुलक का सदा स्पन्दन पाते रहें। जीवन ऐसे प्रशम और प्राणवन्त रहेगा। उसमें जिज्ञासा जगी रहेगी और मनीषा चिरन्तन होकर हमें सदा उन्मुख बनाये रखेगी।

सगुण-निर्गुण

१ 'ईश्वर है स्वामी' को न मानकर क्या हम आस्तिकता को मुख्य कुण्ठित नहीं करते?

—नहीं बिल्कुल कुण्ठित नहीं करते। बल्कि भगवद्भिप्सा को, उसकी आस्तिकता को, ज्वलन्त और अनन्य करने के प्रयास में हम देखेंगे कि यह 'मैं' की मात्रा वर्तुल की धारणा सहज पार होती जाती है।

अभी हाल के इतिहास के महात्मा गांधी को लें। उनसे बड़ा आस्तिक कौन होगा? लेकिन अन्त में 'ईश्वर सत्य है' की जगह 'सत्य ईश्वर है' कहना उन्हें अधिक मान्य और प्रिय हुआ। जवाहरलाल नेहरू जैसे उनके साथी इसका आशय नहीं समझ पाये। कैसे समझते? फिर भी वक्तव्य में गहरा सार है। यह यही कि सत्य में 'वर्तुल' का आरोप नहीं रहता 'ईश्वर' शब्द में जाने-अनजाने कर्ता का भाव आ जाता है। लेकिन ईश्वर की जगह सत्य को रखने से गांधीजी में क्या तनिक भी शिथिलता आयी? आस्तिकता क्या ढीली होती मालूम हुई? नहीं वैसा नहीं हुआ। बल्कि सर्वेश्वर के प्रति उनका समर्पण अमोघ और अनन्य होता ही चला गया।

सत्य निर्वैयक्तिक है। इसलिए खतरा यह रहता है कि उसके साथ उत्तम सम्बन्ध रागात्मक सम्बन्ध भावात्मक सम्बन्ध नहीं बन पाता। सम्भव यह भी रह जाता है कि सत्य के नाम पर हममें स्वार्पण-भाव भक्ति-भाव न हो, बल्कि एक स्वत्व और अहं-भाव हो। मानो यह माना हुआ सत्य हमारे ही अहं का प्रक्षिप्त रूप हो। यह खतरा ईश्वर कहने से एकदम कम जाता है। उसमें अनिवार्य एक दास्य-भाव प्राप्त होता है। अहं की सीमा उसमें गल जाती है और सिर झुक जाता है। यह आर्जव और नम्र-भाव जीवन को सम्पन्न व स्वस्थ करता देखा गया है। इसलिए तत्त्वतः मे ईश्वरत्व को मिटा देने का मैं हामी नहीं हूँ। काम-काज में लगे सामान्य मनुष्य के लिए ईश्वर बहुत उपयोगी और आवश्यक होता है, उस सत्ता के सहारे परम से उसका निजी व रागात्मक सम्बन्ध बना रहता है। वे दर्शन-पूजा द्वारा अनन्तानन्त समष्टि से अपना नाता जोड़ पाते हैं और इस तरह अपनी भिन्नता से ऊँचे उठते और पार जाते

नित नहीं होता, परस्परता से मिलकर गुणानुगुणित ही होता जाता है। अहिंसा से युद्ध में भी सर्वोदय है।

सृष्टि ईश्वर में से

१८ यह सृष्टि कैसे सृष्टि में आयी और इसका फैलाव किस प्रकार हुआ?

—विज्ञान इसकी खोज में है। उसकी कुछ स्थापनाएँ भी इस बारे में हमें दी हैं। मैं समझता हूँ कि विज्ञान की बात को हम स्वीकार करना चाहिए। ब्रह्माण्ड के और सृष्टि के बारे में विज्ञान क्या व्याख्या देता है, यह शायद आप मुझसे सुनना नहीं चाहते। मेरा उधर बहुत अधिक ध्यान भी नहीं है। पर विज्ञान की अन्तिम-से-अन्तिम खोज इस मेरे विश्वास से उल्टी न होगी कि सृष्टि सब ईश्वर में से है। मेरा काम उस श्रद्धा से चल जाता है और उसे मैं अटूट भी मानता हूँ।

इसी को दूसरे शब्दों में कहें, तो अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक ज्ञान रखकर भी रहस्य जैसा कुछ रह ही जायगा। इस तरह श्रद्धा और भक्ति विज्ञान की पूरक ही हैं, विरोधी नहीं हैं।

सृष्टि समक्ष है। जिस गर्भ में से उसका उद्भव हुआ, उसके तल को पाना हमारे लिए असम्भव है। असम्भव इसलिए कि हम सृष्टि के अंग हैं, यानी जन्म पा गये हैं, और गर्भ के बारे में अनुमान ही रख सकते हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं पा सकते। जो फिर भी प्रत्यक्ष और निस्संशय है, वह यह कि सृष्टि स्रष्टा की लीला है। वैसा न होता, तो हममें जीवन के आनन्द की अनुभूति न होती।

उसने बनायी—उससे बनी

१९ सृष्टि ईश्वर से उत्पन्न हुई या उसे ईश्वर ने बनाया या वह स्वयंभूत है?

—'उसने बनायी', 'उससे बनी', ये दोनों बातें हमारे मन में दो अलग चित्र पैदा करती हैं। यह हम पर है कि चित्र हमें कौन-सा भाता है। लेकिन उस चित्र की सचाई हम तक है, स्रष्टा तक वह नहीं पहुँचती। आशय कि लीलामय और लीलासे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। लीला में कर्तृत्व का भाव है भी और नहीं भी। 'उसने बनायी' इसमें कर्तृत्व है और हेतु की अपेक्षा है। 'उससे बनी' यह स्वभावज है, इसमें जैसे अपेक्षा की आवश्यकता नहीं। स्वयम्भूत का भाव भी इसमें समा सकता है। सृष्टि और स्रष्टा में हम इतना अभेद क्यों न मानें कि बीच में 'क्यों', 'कैसे' आदि प्रश्न सम्भव न रह जायें। सृष्टि समक्ष है, क्यों न मानें कि स्रष्टा ही उस रूप में समक्ष है। कठिनाई इतनी होती है कि सृष्टि दीखती अनन्त है, अनन्त उसकी विचित्रता और विविधता है। असंख्य रूप-रसमय इस नानात्व में स्रष्टा की एकता और

छूटती। इस नमन से भावनाओं को जो एक अद्भुत आस्था प्राप्त होती है, हृदय को जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, जिसे बौद्धिक अनुसन्धान में व्यक्ति को उससे वंचित रह जाना पड़ता है। जो कहिये कि उस उपासना से दिमाग को खुराक मिलती है, मस्तिष्क पुष्ट प्रखर होता है, दिल सूखा रह जाता है। अर्थात् मूल अहं को सत्कार नहीं मिलता। व्यक्तित्व को सान्निध्य नहीं प्राप्त होता। प्रेम मुरझाता है और ज्ञान-विज्ञान का सहारा लेकर भीतर ही भीतर अहं और कस जाता है। मस्तिष्क की तीक्ष्णता के साथ उस व्यक्तित्व को धार मिलती है और सामाजिक सम्बन्धों में स्पर्धा अधिक काम करने लग जाती है। उन्नति बढ़ती है उत्क्रान्ति घटती है। आज की मानव-सभ्यता का दृश्य कुछ यही है। विज्ञान के जोर से हम ग्रहों-उपग्रहों के पास पहुँच गये हो सकते हैं पर पड़ोसी से दूर हो गये हैं। विज्ञान के विस्तार ने पड़ोसी को उड़ा दिया है, उसकी आवश्यकता को जैसे खत्म कर दिया है। परिणाम क्या है? परिणाम यह है कि मानसिक रोग और विकार बढ़ती पर है। एक सूना-पन और अकेलापन सभ्य व्यक्ति को घेरे रहने लगा है, जिससे छूटने के लिए वह नये रोमांच और अपराध (Thrill) में शरण लेता है। सभ्यता ने तीखा नशा देने के नाना आविष्कार किये हैं। रोज-रोज नयी फिल्में सामने आती जाती हैं। मानो सभ्य आदमी अपने को कैसे भी हो कुछ देर के लिए भुला डालना चाहता है। उधर पैसे की दुनिया है, जिससे दूर जब वह अपने को बाँध रखने को मजबूर है, होश जरा भी खो नहीं सकता। तो फिर दूसरी तरफ उसे क्षण चाहिए, जब वह अपने को भी डाले होश से बेहोश हो जाय। अपने को एकदम खोल दे और कहीं तनिक सँभाले न रखे। यह जो आदमी तरेड़ खाकर दो बन गया है—दिमाग से तेज दिल से सूखा ऊपर से मर्यादित भीतर से निरंकुश व्यवहार से सभ्य आकांक्षा से जंगली—यह आज के उत्कर्ष का विद्रूप क्या इसी वजह से नहीं है कि मन के झुकावों से उठकर हमने अपने को ऊँचा मान लिया है और उस मन को कहीं समर्पित करने की जरूरत से हम बेखबर हो रहे हैं। ईश्वर से आत्मसमर्पण की उसी गहरी आवश्यकता की पूर्ति होती है। मानव की यह आवश्यकता आज अधूरी है, अतृप्त है और उन्नति के मद में उसको सहसा और हठात् भुलाया जाता है। धन भ्रष्टाचार पैदा कर रहा है और इस तरह उत्पन्न बल की बहुतायत हमारे सम्पन्न वर्ग को बहाये लिये जा रही है, अचरज नहीं है कि अपने भीतर के गहरे अभाव पर निगाह डाल सकें शायद यह कभी डर भी लगता है। इस बात में उन्नति अपने को उन्नत करती हुई अन्त में युद्ध में आ फूटी है और लोग थकरा गये हैं। संघर्ष शायद मन में उठ गया है, लेकिन उन्नति का वेग अब भी है और शस्त्रास्त्र की धड़ाधड़ तैयारियाँ हो रही हैं। किन्तु विज्ञान के उत्कर्ष के सहारे हम यहाँ आ गये हैं, जहाँ आगे राह बन्द दिखाई देती है।

की राह पा जाते हैं। कारण, अनन्तानन्त का एक मे, अखण्ड का खण्ड मे मूर्त और व्यक्त देख पाते हैं।

जैसे-जैसे उस व्यक्त, मूर्त और सगुण मे एकात्मता पाने की कोशिश होगी वैसे ही वैसे व्यक्त अव्यक्त, मूत अमूर्त और सगुण निर्गुण बनता जायगा। भावना साधक को आकार का सहारा देकर पार निराकार मे उठाती ही जायगी। इस प्रकार साधनाशील आस्तिक अनायास वैज्ञानिक होता जाता है। पूजा प्रार्थना से आगे अपने प्रत्येक आचरण मे वह जो परमेश्वर का दर्शन और अवधारण चाहता है, सो जान पडता है कि उसके दर्शन-ज्ञान मे अनायास सत्य का स्वरूप उत्तरोत्तर व्याप्ति में उद्घाटित और आविष्कृत होता जाता है। सत्य की उस भाँति आरती नहीं उतारी जा सकती, जैसे मूर्ति की उतारी जा सकती है। सत्य अमूर्त रहता है, इसलिए मन्दिर मे मूर्ति-पूजा से जो सहज सन्तोष सम्भव है वह सत्य-पूजा मे अनुपलब्ध रह जाता है। यहाँ गहरी तितिक्षा की आवश्यकता होती है। कारण, अमुक मन्दिर या मूर्तिवाला ईश्वर उपस्थिति से उठ जाता है, सारे विश्व मे फैल जाता है, तब उसको पाना व पकडना मुश्किल होता है। उसकी आराधना भी मुश्किल होती है। यह ध्यानियो-ज्ञानियो का काम है। गृहस्थ उस राह अपनी दिशा भी भूल जा सकता है। इतना कि श्रद्धा उससे खो जाय और मार्ग तक उसकी दृष्टि से लुप्त हो जाय। मुझे लगता है कि आज यही हो रहा है। सगुण रूप मे हम उसे मान्य कर नही पाते। इस तरह अभ्यन्तर की वेदी पर से जब कि ईश्वर खण्डित होता है, तब सत्य उसकी जगह प्रतिष्ठित नही हो पाता। कारण, सत्य के प्रति सर्वस्वार्पण का भाव पाना अत्यन्त दुस्साध्य है। इसीसे एक प्रकार की नास्तिकता फैली दीखती है और बौद्धिकता जैसे बौखलायी हुई है।

इसलिए संस्था तक के रूप मे धर्म को मैं अनुचित नही मानता। विशुद्ध अथवा सघन होकर संस्था, सगठन, सम्प्रदाय से धर्म अनायास उत्तीर्ण होता है। व्यवहार मे उसके संस्थागत रूप को बाहर से तोडने की आवश्यकता नहीं है। वह स्पर्धा अहजन्य और प्रतिक्रियात्मक है।

विज्ञान और ईश्वर

२१　विज्ञान यन्त्र अथवा ज्ञान को ही जो अन्तिम मानकर चलते हैं, उसीकी उपासना मे दत्तचित्त रहते और ईश्वर का निषेध करते हैं, उन्हें आप क्या कहेंगे—आस्तिक या नास्तिक?

—उपासना मे स्व-सेवन की जगह स्वार्पण की वृत्ति हो, तो आस्तिक। लेकिन अधिकाश ऐसा हो नहीं पाता। सिर नही झुकता, प्रार्थना नही होती, भक्ति नहीं

२
आत्मा, व्यक्ति, कर्म, भाग्य

विकासवाद

२२ क्या वास्तव में कीड़ों से क्रमशः मानव का विकास हुआ? क्या आप विकासवाद के अनुसार जीव-सृष्टि को और सभ्यता को निरन्तर विकासोन्मुखी मानते हैं?

—हाँ अन्यथा समय व्यर्थ ठहरेगा। सब अर्थ ही नष्ट हो जायगा।

विज्ञान ने सृष्टि-क्रम के बारे में यह मान्यता कि जल से कीट-पतंग आदि हुए और वहाँ से क्रमशः पशु-पक्षी-मनुष्य अस्वाभाविक नहीं है।

चेतना विकासशील

२३ तब तो संस्कृति के विकास के लिए शरीर का विकास अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ और आत्मा अथवा चेतना नगण्य सिद्ध हुई।

—क्यों यह अर्थ क्यों हुआ? विकासवाद जहाँ तक मैं समझता हूँ चेतना को नगण्य नहीं मानता। पुरुष का शरीर-तन्त्र अधिक जटिल व निपुण है तो क्या चेतना भी उतनी ही उन्नत नहीं है?

आत्मा और देह को दो मानकर चलने से भाषा व बुद्धि को सुविधा होती हो पर वे उस तरह अलग हैं नहीं। जैसे दो किनारों से एक नदी को हम निर्दिष्ट करते हैं, वैसी ही बात यहाँ माननी चाहिए।

२४ यदि आप आत्मा को भी विकासवाद के अधीन स्वीकार करते हैं, तो गीता में जो उसका रूप वर्णित है, उसको क्या ठेस नहीं पहुँचती?

—आत्मा अपने परम रूप में परमात्मा है। आम भाषा में आत्म शब्द को व्यक्तिगत सन्दर्भ में भी उपयुक्त किया जाता है। व्यक्तिगत चेतना या आत्मा 'विकासवाद के अधीन' है, यह कहने की बजाय यों क्यों न कहिए कि वह 'विकासशील' है। तब अधीनता मिट जाती है, सहजता आ जाती है। हाँ चेतन विकासशील है।

उस वेग मे एक क़दम आर वढा कि सर्वनाश स्पष्ट है। इससे सोचने विचारनेवालो के मन टिग गये हैं और वहाँ गम्भीर मथन मचा है। सिर्फ 'करने-धरने' वाले व्यस्त हैं और उन्हे लौटने की सोचने की ताव नहीं है। अन्यथा सिद्ध है कि उन्नति का रूप एकागी रहा है और व्यक्ति के आधे अश को छूछा छोड गया है। मस्तिष्क प्रखर वना है, हृदय सूखने को अलग रह गया है। धर्म हृदय का विषय है और ईश्वर उस हृदय की मांग को भरता है।

आस्तिक का आवश्यक लक्षण नम्रता और निरहकारिता है। विज्ञान अथवा यन्त्र-ज्ञान की उपासना ने जिनको यह ऋजुता दी, स्थापण-भाव दिया, उन्हें तो आस्तिक ही कहना चाहिए। क्योकि उपासना की वेदी वहाँ शून्य नही है, उस पर कुछ अवश्य विराजमान है, जिसके समक्ष वे नत मस्तक हैं। नतमस्तकता का यह प्रसाद उस क्षेत्र मे विरले ही पाते हैं। जो उस प्रसाद से वचित हैं, और अधिकाश वचित हैं, उन्हें आस्तिक कहने से शब्द पर जोर पडता है। ईश्वर का एक रूप नहीं है, सब रूप उसीके हैं। वृक्ष मे, पत्थर मे जब उसे पूजा जाता है, तो ज्ञान-विज्ञान के निमित्त से क्यों नही पूजा जा सकता ? प्रश्न नमन का, प्रत्यर्पण का है। बौद्धिक उपासना मे से वह आवश्यकता पूरी नहीं होती, ऐसा देखने मे आता है। ●

अनादि चित्प्रवाह

५७. कुछ विशेष तत्त्वों का संश्लेष जीवन और विश्लेष मरण है। इस मान्यता से क्या आप सहमत हैं?

—जन्म और मरण को क्रमशः कुछ तत्त्वों के एकत्र होने और बिखर जाने का परिणाम ठहराकर जो आत्मा को मानने से छुट्टी पा जाते हैं, वे भी क्या गलत करते हैं? मुझे उस तरह की मान्यता आस्तिकता से आवश्यक रूप से विरोधी नहीं जान पड़ती। धर्म हैं जो पूर्व एवं पुनर्जन्म नहीं मानते हैं। इससे उनकी आस्तिकता में त्रुटि नहीं आती।

व्यक्ति-चेतना का एक दिन उदय है और दूसरे अमुक दिन अस्त, यह अत्यन्त स्पष्ट है। आत्मता को व्यक्तिमत्ता के रूप में नित्य और सनातन मानना अनिवार्य क्यों हो? कहिये यही मानिये कि चितत्त्व अनादि नहीं है, बल्कि कल्पित है, अमुक संघटना का परिणाम है। लेकिन यदि कल्पित में प्रकट है, तो भी क्या यह मानने में आपत्ति की जा सकती है कि वह चित् बीजवत् विद्यमान ही था?

व्यक्तिगत-सन्दर्भ का अहं-ग्रस्त चेतना का ठीक ही है कि आदि है और अन्त है। लेकिन उस चित्-प्रवाह को अनादि मानने में क्या दोष है, जो कल्पित और विकसित होता हुआ सामने ही प्रत्यक्ष है?

जन्म-मरण-जन्म

५८. तब ऐसी स्थिति में पुनर्जन्म की मान्यता का क्या भविष्य होगा?

—मैं भविष्य क्या जानता हूँ? चिन्ता भी उसकी क्यों? आदमी नित्य जीता-मरता दीख रहा है। पुनः-पुनः जीता व पुनः-पुनः मरता है। यह सामने का नीम का पेड़ लीजिये। पतझड़ में हर साल इसके पत्ते झड़ जाते हैं। लेकिन हर साल नये पत्ते फिर आ जाते हैं। अब कुछ भी कहिये चाहे कहिये कि यह वृक्ष ही हर साल नया जीवन पाता है, चाहे कहिये कि पत्ते फिर-फिर कर नये पत्तों के रूप में उसी वृक्ष के शरीर के जन्म पर जन्म लेते जाते हैं। भाषा इस तथ्य को जैसे चाहे कह सकती है और मन जैसे चाहे मान सकता है। पर जान पड़ता है कि दूसरी कल्पना कुछ बेतुकी लगेगी। हर पत्ता मरकर फिर-फिर वृक्ष पर नयी कोंपल के रूप में जन्म लेता है, इस रूप में पुनर्जन्म मानना अनावश्यक बन जायगा। प्रत्यक्ष और सत्य यह प्रतीत होगा कि वृक्ष ही प्रतिवर्ष नव जन्म लेता है और नये पात लिया जाता है। उसी भाँति मानव-क्षेत्र में भी दृष्टि कुछ हमारी सामाजिक और समग्र बनती जा रही है। समाज और जगत् हम व्यक्तियों के जीने-मरने के द्वारा अपने को सिद्ध और सम्पन्न कर रहा है, यह मानना क्रमशः अधिक सुन्दर और सार्थक लगता जाता

आत्मा असीम

२५ इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि क्या उस चेतना अथवा आत्मा की सीमाएँ निर्धारित नहीं करतीं? उनकी अपनी भी क्या सीमाएँ नहीं हैं?

—मैं सीमा बनाने नहीं, मिटाने की तरफ चलना चाहता हूँ। इन्द्रियो का अपना-अपना विषय तो स्पष्ट ही है। आँख की सीमा है कि वह सुन नही सकती, कान की यह कि वह देख नही सकता। लेकिन आगे मन और बुद्धि के व्यापारो के सीमा-निर्धारण के विषय मे कुछ कठिनाई होती है। उनका क्षेत्र व्यापक है। उन सत्ताओं की सीमा अवश्य होगी, अन्यथा वे सत्ताएँ टिक नहीं सकेंगी। वह सीमा आप किसी पाठ्य-ग्रन्थ मे से शायद पा सकें। पर मुझे जो कहना रहता है वह यह कि सीमाएँ काम-चलाऊ होती हैं। व्यवहार से आगे के सत्य मे उनकी स्थिति डिग जाती है, यहाँ तक कि खत्म ही हो जाती है। हृदय-मस्तिष्क का व्यापार तो भी कुछ अलग-अलग देखा जा सकता है, शरीर मे स्थान भी उन्हे अलग-अलग मिला है। पर आत्मा को उस तरह कही एक जगह खोजा-देखा नही जा सकता है। व्यक्ति मे है तो अमुक स्थल पर नहीं, सब कही है, विश्व मे है, तो भी सब कहीं है, उसे इनकार तो किया जा सकता है, लेकिन किसी एक अग या स्थान मे स्थित नहीं बताया जा सकता। मेरा मानना है कि मन, बुद्धि, इन्द्रियो का, जो अपेक्षाकृत स्थिति-प्राप्त हैं, व्यापार यदि चल रहा है, तो मूल मे उस सच्चिदानन्द के कारण जो स्थिति से अतीत है, या कहो कि सर्वस्थ और सर्वत्र है।

हर मान्यता ईश्वर का एक रूप

२६ बुद्धि को ही जो अन्तिम सर्वशक्तिमान् तत्त्व मानते हैं, उनके विषय मे आपको क्या कहना है?

—वे भी गलत क्यो हैं? लेकिन फिर उन्हें 'जीवन' को ही एक व्यापक तत्त्व बनाकर मानना होता है। हम कुछ भी मानें, लेकिन उस मान्यता को कुछ-न-कुछ आधार देना होता है। वैसे हर मानने के साथ, मालूम होता है, कुछ अवशिष्ट बचा ही रह गया है। अन्त में श्रद्धा की आवश्यकता होती है। परमेश्वर को थामकर मानो इसी कठिनाई से एक तरह आदमी पार पाता है। जिसको उस कठिनाई का अनुभव न हो, उसे ईश्वर तक जाने की सचमुच कोई आवश्यकता नहीं है।

अन्त मे जिसको मानना पड़ता है, वही तो ईश्वर है। इस तरह हरएक की अन्तिम मान्यता को हम ईश्वर का ही एक रूप क्यो न कह दें। ऐसे बुद्धि और श्रद्धा की अनबन हमेशा के लिए कट जाती है।

अनादि चित्प्रवाह

१७. कुछ विशेष तत्त्वों का संश्लेष जीवन और विश्लेष मरण है। इस मान्यता से क्या आप सहमत हैं?

—जन्म और मरण को क्रमशः कुछ तत्त्वों के एकत्र होने और बिखर चलने का परिणाम ठहराकर जो आत्मा को मानने से छुट्टी पा जाते हैं, वे भी क्या गलत करते हैं? मुझे उस तरह की मान्यता आस्तिकता से आवश्यक रूप से विरोधी नहीं जान पड़ती। धर्म हैं जो पूर्व एवं पुनर्जन्म नहीं मानते हैं। इससे उनकी आस्तिकता में त्रुटि नहीं आती।

व्यक्ति-चेतना का एक दिन उदय है और दूसरे अमुक दिन अस्त यह अत्यन्त स्पष्ट है। आत्मता को व्यक्तिमत्ता के रूप में नित्य और सनातन मानना अनिवार्य क्यों हो? कहिये यही मानिये कि चित्तत्त्व अनादि नहीं है, बल्कि कल्पित है अमुक अवस्था का परिणाम है। लेकिन यदि कल्पित में प्रकट है तो भी क्या यह मानने में आपत्ति की जा सकती है कि वह चित् बीजवत् विद्यमान ही था?

व्यक्तिगत-सन्दर्भ का अहं-गत चेतना का ठीक ही है कि आदि है और अन्त है। लेकिन उस चित्-प्रवाह को अनादि मानने में क्या दोष है, जो कल्पित और विकसित होता हुआ सामने ही प्रत्यक्ष है?

जन्म-मरण-जन्म

१८. तब ऐसी स्थिति में पुनर्जन्म की मान्यता का क्या भविष्य होगा?

—मैं भविष्य क्या जानता हूँ? चिन्ता भी उसकी क्यों? आदमी नित्य जीता-मरता चला रहा है। पुनः-पुनः जीता व पुनः-पुनः मरता है। यह सामने का नीम का पेड़ लीजिये। पतझड़ में हर साल इसके पत्ते झड़ जाते हैं। लेकिन हर साल नये पत्ते फिर आ जाते हैं। अब कुछ भी कहिये चाहे कहिये कि यह वृक्ष ही हर साल नया जीवन पाता है, चाहे कहिये कि पत्ते फिर-फिर कर नये पत्तों के रूप में उसी वृक्ष के शरीर के जन्म पर जन्म लेते जाते हैं। भाषा इस तथ्य को जैसे चाहे कह सकती है और मन जैसे चाहे मान सकता है। पर जान पड़ता है कि दूसरी कल्पना कुछ बेतुकी लगेगी। हर पत्ता मरकर फिर-फिर वृक्ष पर नयी कोंपल के रूप में जन्म लेता है, इस रूप में पुनर्जन्म मानना अनावश्यक लग जायगा। प्रत्यक्ष और सत्य यह प्रतीत होगा कि वृक्ष ही प्रतिवर्ष नव जन्म लेता है और नये पात खिला जाता है। उसी भाँति मानव-क्षेत्र में भी दृष्टि कुछ हमारी सामाजिक और समग्र बनती जा रही है। समाज और जगत् हम व्यक्तियों के जीने-मरने के द्वारा अपने को सिद्ध और सम्पन्न कर रहा है, यह मानना क्रमशः अधिक सुन्दर और सार्थक लगता जाता

है। [illegible] व्यक्ति [illegible], लेकिन [illegible]
[illegible] ही [illegible] और [illegible] है। [illegible] सिद्धि में
[illegible], [illegible] और आनंद
[illegible] के लिए [illegible] जाता।

व्यक्ति-कर्म और समष्टि

२९ आपकी इस विवेचना से कर्म-फल और व्यक्ति की महत्ता का सिद्धान्त क्या कुण्ठित होता नहीं दीखता?

—कुण्ठित होता हाँ, पर साथ ही महत्त्व भी पा जाता है। [illegible] जब समग्र से जुड़ जाता है, तो उसका महत्त्व कम होता है या बढ़ता है? [illegible] ही हो, तो मुझे छोटा लग सकता है। लेकिन यदि मुझे लगे कि [illegible], सबको राष्ट्र पहुँचा रहा है, तो वह भार मेरे ही लिए बहुत कम हो जायेगा। इस ढंग से देखें तो कर्म का फल और व्यक्ति का महत्त्व घटता नहीं है, बल्कि गुणानुगुणित हो जाता है, जब कि समष्टि का सन्दर्भ उसे प्राप्त होता है।

जो चीज इस विधि कटती और घटती है, वह व्यक्ति और व्यक्ति-कर्म की अहम्मन्यता है। मुझे लगता है कि व्यक्ति और उसका कर्म तुच्छ और क्षुद्र कष्टकारी होता है, तो इसी कारण कि वह अहं की तुच्छता में जुड़ा होता है। अहं से छूटने पर व्यक्ति के और उसके कर्म के फल और महत्त्व के कम होने के बजाय उसके बृहत् और विराट् होते जाने की ही सम्भावना अधिक है।

क्या यह नित्य का अनुभव नहीं है कि प्रार्थना में अपने को प्रणत [illegible] परमेश्वर की महिमा याद में लेने से व्यक्ति छोटा नहीं, उल्टे महत्ता में उठता हुआ अपने को अनुभव कर आता है।

समग्र और समष्टि में अपने को लीन करने के द्वारा व्यक्ति विस्तार और व्याप्ति ही पाता है। यदि इस तरह एक ही साथ अपना वह अन्त भी होता हुआ पा रहा हो, तो उसीमें उसे अपनी परिपूर्ति का आनन्द भी अनुभव होता है। वह 'मैं' का अन्त ही इस 'मैं' की मुक्ति है।

जैसा करेगा, वैसा भरेगा

३० आम आदमी की जो आम धारणा है कि 'जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा' उसका आपकी विचारणा में क्या मूल्य है?

—यह धारणा मामूली तौर पर हमें बुराई से बचा सकती है। हम जो भर रहे हैं, वह हमारे ही किये का फल है—ऐसा सोचकर हम दूसरों पर दोष डालने और रोष

जाने से बच जाते हैं। लेकिन ऐसा कहकर जब हम दूसरे के दुःख के प्रति विमुख होते हैं तो अपने साथ घात करते हैं। यह सम्भव नहीं है कि दूसरे का दुःख-सुख हमें न छुए। बाहर की गर्मी-सर्दी हमें बिना छुए बिना नहीं रह सकती तब आसपास के सुख-दुःख से हम अपने को बन्द करके कैसे रख सकते हैं? यानी उस सिद्धान्त की उपयोगिता यह है कि हम अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर न डालें खुद ही उठायें। लेकिन यह जिम्मेदारी उठाने की क्षमता हममें बढ़नी ही जानी चाहिए और हमें अनुभव मिलना चाहिए कि दोष यहाँ है, मेरा है, बुराई की जड़ अन्त में मुझ स्वयं में है। ऊपर का सूत्र शायद वहाँ तक जाने में हमारी मदद नहीं कर सकता। इसलिए उसे अर्धसत्य ही मानना चाहिए।

कर्म सिद्धान्त एक सापेक्ष सत्य

११ कर्म-विशेष कितनी दूर तक हमारी भावी को, हमारे भावी जोगों को प्रभावित करता है इस विषय पर किञ्चित् प्रकाश डालें और हमारे दर्शन में कर्म-सिद्धान्त का जो इतना महत्त्व वर्णित है उसका भी कुछ मूल्यांकन करें।

—कर्म-सिद्धान्त शुभ है, इसलिए सत्य भी है। किन्तु सत्यता वहीं तक है, जहाँ तक शुभता है।

हाल का उदाहरण लें। सामाजिक विचार ने यह अब स्पष्ट कर दिया है कि अपनी गरीबी के लिए गरीब ही जिम्मेदार नहीं है, बल्कि अधिक जिम्मेदार माना जाने-वाला अमीर है। यह विचार लोगों की मन-बुद्धि में उतर चुका है। मैं मानता हूँ कि कर्म-सिद्धान्त के तत्त्ववाद को शुभ की मर्यादा से आगे खींचकर उसे असामाजिक भाव और दृश्य का आश्रय बना लिया गया है। इससे उसकी सत्यता भी नहीं समाप्त हो गयी। दुनिया को ऐसा मालूम हुआ कि मार्क्स तथा दूसरे सामाजिक विचारकों ने कुछ नवीन सत्य उन्हें दिया है, इस कारण उनकी प्रतिष्ठा भी हुई।

याद रखना चाहिए कि सापेक्ष सत्य तक ही मनुष्य का वश है। यही नहीं कि वह मानव-सापेक्ष होता है, बल्कि यह भी कि वह देश-काल-सापेक्ष होता है।

तत्त्व-सिद्धान्त की यह सापेक्षता और अनेकान्तता भूल जाते हैं तो वह हमें खोलने के बजाय बाँधने लग जाता है। परम सत्य परमेश्वर है, जो सर्वथा अगम होकर भी प्रत्येक क्षण और कण में सुगम है। जिस रूप में चाहे उसे माना जा सकता है। यहाँ तक कि नकार के द्वारा भी उसे नाना जा सकता है। अतः परमेश्वर की चर्चा व्यर्थ है, क्योंकि जाने-अनजाने हर कभी सम्पन्न उसके प्रति न्याय के लिए हानि है। अब तनिक कर्म को समझें। कोई कर्म बिना सम्बन्ध-सम्बन्ध के सम्भव ही नहीं होता। जिसके लिए अपने से दूसरा कुछ है ही नहीं, ऐसे परम अद्वैत में कर्म की स्थिति नहीं

है। जन्म-मरण व्यक्ति भोगता हो, लेकिन इस भोग के द्वारा मानो वह समष्टि लीला को ही व्यक्त और समृद्ध कर रहा होता है। व्यक्ति अपनी स्वय-सिद्धि में ही साध्य का साधन है, यह मान सकें तो दृष्टि हमारी बदल जायगी और शायद विचार के लिए सम्यक् सन्दर्भ मिल जायगा।

व्यष्टि-कर्म और समष्टि

२९ आपकी इस विवेचना से कर्म-फल और व्यक्ति की महत्ता का सिद्धान्त क्या कुण्ठित होता नहीं दीखता?

—कुण्ठित होता हो, पर साथ ही महत्त्व भी पा जाता है। मेरा कर्म मुझसे पार जब समग्र से जुड जाता है, तो उसका महत्त्व कम होता है या बढता है? पाप मेरा ही हो, तो मुझे छोटा लग सकता है। लेकिन यदि मुझे लगे कि वह जगत् भर से जुड़ा है, सबको कष्ट पहुँचा रहा है, तो वह पाप मेरे ही लिए बहुत बडा हो जायेगा। इस ढग से देखें तो कम का फल और व्यक्ति का महत्त्व घटता नही है, बल्कि गुणानुगुणित हो जाता है, जब कि समष्टि का सन्दर्भ उसे प्राप्त होता है।

जो चीज इस विधि कटती और घटती है, वह व्यक्ति और व्यक्ति-कम की अहम्मन्यता है। मुझे लगता है कि व्यक्ति और उसका कम ह्रस्व और क्षुद्र फलवाला होता है, तो इसी कारण कि वह अह की तुच्छता मे जुडा होता है। अह से छूटने पर व्यक्ति के और उसके कर्म के फल और महत्त्व के कम होने के बजाय उनके वृहत् और विराट् होते जाने की ही सम्भावना अधिक है।

क्या यह नित्य का अनुभव नहीं है कि प्रार्थना मे अपने को प्रणत मानकर परमेश्वर की महिमा याद मे लेने से व्यक्ति छोटा नही, उल्टे महत्ता मे उठता हुआ अपने को अनुभव कर आता है।

समग्र और समष्टि में अपने को लीन करने के द्वारा व्यक्ति विस्तार और व्याप्ति ही पाता है। यदि इस तरह एक ही साथ अपना वह अन्त भी होता हुआ पा रहा हो, तो उसीमे उसे अपनी परिपूर्ति का आनन्द भी अनुभव होता है। वह 'मैं' का अन्त ही इस 'मैं' की मुक्ति है।

जैसा करेगा, वैसा भरेगा

३० आम आदमी की जो आम धारणा है कि 'जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा' उसका आपकी विचारणा में क्या मूल्य है?

—यह धारणा मामूली तौर पर हमे बुराई से बचा सकती है। हम जो भर रहे हैं, वह हमारे ही किये का फल है—ऐसा सोचकर हम दूसरो पर दोष डालने और रोष

जाने से बच जाते हैं। लेकिन ऐसा कहकर जब हम दूसरे के दुःख के प्रति विमुख होते हैं, तो अपने साथ घात करते हैं। यह सम्भव नहीं है कि दूसरे का दुःख-सुख हमें न छुए। बाहर की सर्दी-गर्मी हमें जब छुए बिना नहीं रह सकती तब आसपास के सुख-दुःख से हम अपने को बन्द करके कैसे रख सकते हैं? यानी उस सिद्धान्त की उपयोगिता यह है कि हम अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर न डालें खुद ही उठायें। लेकिन यह जिम्मेदारी उठाने की क्षमता हममें बढ़ती ही जानी चाहिए और हमें अनुभव मिलना चाहिए कि दोष कहीं है, मेरा है, बुराई की जड़ अन्त में मुझ स्वयं में है। ऊपर का सूत्र शायद वहाँ तक जाने में हमारी मदद नहीं कर सकता। इसलिए उसे अर्द्धसत्य ही मानना चाहिए।

कर्म-सिद्धान्त एक सापेक्ष सत्य

११ कर्म-सिद्धान्त कितनी दूर तक हमारी जाती को हमारे जाती लोगों को प्रभावित करता है इस विषय पर किंचित् प्रकाश डालें और हमारे दर्शन में कर्म-सिद्धान्त का जो इतना महत्त्व कल्पित है, उसका भी कुछ मूल्यांकन करें।

—कर्म-सिद्धान्त सूत्र है, इसलिए सत्य भी है। किन्तु सत्यता वहीं तक है, जहाँ तक सूक्ष्मता है।

हाल का उदाहरण लें। सामाजिक विचार ने यह अब स्पष्ट कर दिया है कि अपनी गरीबी के लिए गरीब ही जिम्मेदार नहीं है बल्कि अधिक जिम्मेदार माना जाने-वाला अमीर है। यह विचार लोगों की मन-बुद्धि में उतर चुका है। मैं मानता हूँ कि कर्म-सिद्धान्त के तत्त्वगत को सूत्र की मर्यादा से आगे खींचकर उसे असामाजिक भाव और कृत्य का आश्रय बना लिया गया है। इससे उसकी सत्यता भी नहीं समाप्त हो गयी। दुनिया को ऐसा मालूम हुआ कि मार्क्स तथा दूसरे सामाजिक विचारकों ने कुछ अनोखा सत्य उन्हें दिया है, इस कारण उनकी प्रतिष्ठा भी हुई।

याद रखना चाहिए कि सापेक्ष सत्य तक ही मनुष्य का वश है। यही नहीं कि वह मानव-सापेक्ष होता है, बल्कि यह भी कि वह देश-काल-सापेक्ष होता है।

तत्त्व-सिद्धान्त की यह सापेक्षता और अनेकान्तता भूल जाते हैं तो वह हमें खोलने के बजाय बाँधने लग जाता है। परम सत्य परमेश्वर है जो सर्वथा अगम होकर भी प्रत्येक क्षण और कण में सुगम है। जिस रूप में चाहे उसे माना जा सकता है। यहाँ तक कि नकार के द्वारा भी उसे भजा जा सकता है। अतः परमेश्वर की चर्चा व्यर्थ है, क्योंकि जाने-अनजाने हर चर्चा अन्ततः उसीके प्रति न्याय के लिए होती है।

अब तनिक कर्म को समझें। कोई कर्म बिना अन्यासम्बन्ध के सम्भव ही नहीं होता। जिसके लिए अपने से दूसरा कुछ है ही नहीं ऐसे परम अद्वैत में कर्म की स्थिति नहीं

है। वह आप्तकामी और परिपूर्ण है। अत समस्त कर्म स्वतन्त्रता या परवशता में से उत्पन्न होता है। अब इन दो ओर-छोर के बिन्दुओं से निराली अपेक्षा से कर्म का निदान और अनुसन्धान करें?

कर्म सर्वसम्बद्ध, सामष्टिक

अभी की बात लीजिये। मुझे मेरी पत्नी पर क्रोध आया। क्रोध क्या आया? क्या पत्नी से वह सर्वथा असम्बद्ध था? नहीं, असम्बद्ध नहीं था। क्रोध में दाह और ताप का भोग मुझे मिलेगा, यह ठीक। लेकिन पत्नी तक वह दाह और ताप क्या नहीं पहुँचेगा? मेरा क्रोध मुझे ही सताये, यह हो नहीं सकता। इस आग में दूसरे का भी शामिल होना होता है।

कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति को अपने में पूरी इकाई और घटक मानकर अपना रूप निर्माण करता है। किन्तु क्या व्यक्ति अपने में पूरा घटक है? सत्यता में ऐसा सिद्ध हो नहीं पाता। सम्बन्धों से शून्य कोई नहीं है। वैसी सर्वथा निस्संग स्थिति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई या कुछ है, तो शेष के साथ और बीच है। केवल स्वत कुछ हो नहीं सकता, जी नहीं सकता, सिर्फ मर सकता है। ऐसी अवस्था में कर्म-सिद्धान्त के वाद को बहुत अधिक जोर से कसकर पकड़ने और बाँधने से हम अशुभ, अत असत्य पर उतर आ सकते हैं।

सच यह कि मेरा पाप, मेरा मैल सारी दुनिया को मैला करनेवाला है। वह मेरा ही नहीं है। मुझे ही कष्ट नहीं देता, सारे जगत् में कष्ट का कारण होता है। अपना मानकर मैं शायद अपने को क्षमा भी कर जाऊँ, पर यह क्षमा इसलिए झूठी पड जाती है कि पाप मुझ तक सीमित नहीं रहता, वह अपना त्रास चहुँ ओर फैलाता है।

मुझे जान पडता है कि दृष्टि और विचार के उत्तरोत्तर सामाजिक और सामष्टिक बनाने का समय आया है। स्वयं अध्यात्म का यह तकाजा है। अन्यथा माने हुए अनेक धर्म और दर्शन समय का साथ देने में असमर्थ बनकर टूट जायेंगे।

अपनी निजता के सन्दर्भ में जीवन-व्यापार को अब पूरी तरह समझा और खोला नहीं जा सकता। वह आग्रह टिकेगा नहीं। सन्दर्भ अब परस्परता का लेना होगा और विचार को उसी अनुक्रम से आगे बढना होगा। अन्यथा विचार प्रतिगामी बनेगा और मुक्ति में खोलने के बजाय बन्धन में डालेगा।

व्यक्तिसत्ता का स्वीकार-अस्वीकार

३२ समाजवाद ने जो व्यक्ति को पूरी तरह समष्टि-लीन कर दिया और व्यक्ति-

उस उद्यम की सत्ता अस्वीकार कर दी यह उसने ठीक ही किया। फिर पूँजीवादी और स्वातन्त्र्यवादी लोग उन्हें गलत क्यों बताते हैं?

—आप देखेंगे कि 'समाजवाद' के साथ व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता घट नहीं रही बढ़ रही है। यह 'करने' का प्रश्न नहीं 'होने' का प्रश्न है। लीन 'करने' की कोशिश से व्यक्ति की अस्मिता बढ़ेगी और मजबूत होगी। समर्पण में से जो लीन भाव होगा वही स्वस्थ और प्रतिक्रियाहीन होगा। वह समाजवाद, जो राज्य और कानून के जोर से व्यक्ति-उद्यम को छीनकर पचा लेना चाहेगा अपने बीच और बाहर नाना प्रकार की राजनीतिक समस्याओं को जन्म दिये बिना नहीं रहेगा। व्यक्ति को समाज में उत्तरोत्तर लीन पाने की पद्धति हिंसा नहीं अहिंसा है। मजबूत राज्य के रूप में राष्ट्र को हम एकत्रित और गठित करते हैं तो मालूम होता है कि एक ओर जब कि जीवन की प्रफुल्लता और मौलिकता कम होती है तब दूसरी ओर राष्ट्र की सीमा पर सुरक्षा-शक्ति को अस्त्र-सज्जित करने की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। साथ ही अन्तरंग एकता भी यांत्रिक और भौतिक होने से नाम-रूप की होती है आत्मगत नहीं हो पाती। भारत की एकता क्यों आज संकट में है? क्योंकि आधार उसे विभाग का है, वह राजनीतिक है इसीसे ऊपरी है, सहज और भीतरी नहीं है। फिर साम्यवादी सिस्टम जो-एक जगह चल रहा है, वहाँ देखने में क्या आता है? यही कि उन्न जब कि प्रबल बना है, तब आन्तरिक और बाहरी समाज उससे शान्त नहीं हुआ है। उत्पादन के क्षेत्र में जो सफलता मिली है, आपसी सम्बन्धों के अथवा लोक-नीति के क्षेत्र में वही विफलता बन गयी है।

पूँजीवाद की ओर से उठायी गयी आपत्ति तो आत्मरक्षा की भावना से बनी हो सकती है। यह सच है कि विज्ञान की तरक्की के साथ समाज का आज का रंग-ढंग नहीं चल सकता। पूँजी में जितना बल बढ़ता है, पूँजीवाद का खतरा उतना ही बड़ा होता जाता है। मुझे नहीं लगता कि समाजवाद उसका इलाज है। बल्कि समाजवाद और साम्यवाद पूँजीवाद के परिणाम और प्रतिफलन हो सकते हैं। इलाज यदि है तो यह कि मन धन में से छूटे और जन में आये। समाज और साम्य के नाम पर चलनेवाले दोनों वाद इससे बेखबर, बल्कि विमुख हैं। वे बल के मूल्यान्तरण की सोचते ही नहीं। अधिक-से-अधिक इस अर्थ में बल के स्थानान्तरण की सोचते हैं कि दुनिया की पिपासा और मोनोपोलिस्ट को उठाना है। इससे राजनीतिक उथल-पुथल होती है, समाज के सम्बन्ध-सूत्रों में गहरा अन्तर नहीं आता मूल्य नहीं बदलता। समाज और साम्य दोनों वादों में पूँजी का सिक्के का और राज्य का बल बढ़ता है। अर्थात् मानव-इकाई की ओर से देखें तो पूँजी को प्रधान मानने के द्वारा समस्याएँ पूँजीवाद से जो पैदा हुईं वे दूसरे वादों से हल नहीं हुईं, बल्कि उलझन बढ़-

कर और व्यापार और नीति ही हो गयी है। शस्त्र और प्रभाव के बल से लोक-नायक लोग नियन्त्रण के काम में इतने लग जाते हैं और वहाँ इतने चुक जाते हैं कि जान पड़ता है, ध्यान उनका नागरिकता के लिए शेष नहीं रहता, शिखर के लिए ही सतत रह जाता है। उनमें सामाजिकता स्थान में नहीं रहती, न ममता रहती है, बल्कि तन्त्र और यन्त्र का मानव पर दबाव ही बढ़ता है। इसलिए वहाँ मानवता मिलती नहीं, मात्रा सुरक्षा नहीं जाती है। उस समय प्रतीत होता है कि कूट-नीति के जोर उलट पलटकर शक्ति में केन्द्रित हुए जा रहे हैं।
मानव-समाज के इस विभाग पर कहाँ मेरे मन में रोष नहीं आता। बल्कि अनुभव होता है कि उनको एकाकीपन सनसनी पैदा कर रही है। तब दया का अनुभव होता है कि शक्ति-बल से उसका नैतिक बल का उदय हो और वह पतवार को हाथ में लेकर सभ्यता की नैया को सँभाले।

एक लक्ष्य आत्मोपलब्धि

३३ ईश्वर का इस सृष्टि में क्या प्रयोजन रहा? समस्त जीवों के जीवन का, विशेषकर मनुष्य का क्या लक्ष्य है?

—प्रयोजन का अपने से बाहर देखना उचित नहीं। बीज का प्रयोजन फलित होना और फल का प्रयोजन बीज छोड़ जाना कहा जा सकता है। इस तरह प्रयोजन सबका आत्मोपलब्धि हो जाता है। मनुष्य में तो अपूर्णता और अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट ही है, आत्मोपलब्धि की भाषा अतः वहाँ स्वयं संगत हो जाती है। ईश्वर में किसी न्यूनता, अभाव या द्वन्द्व की सम्भावना है नहीं। इसलिए वहाँ प्रयोजन को आत्मोपलब्धि से अधिक आत्म-लीला कहना सही जान पड़ेगा।
मानव-जीवन का लक्ष्य इस तरह मानव में अन्तःस्थ है। उस अन्तःस्थता की व्याप्ति और विस्तार ही असल लक्ष्य ठहरता है। यह भाषा यों भी उतनी अस्पष्ट नहीं लगेगी। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण अपने में अभाव और आकांक्षा का अनुभव करता है, उनसे मुक्ति आत्मोपलब्धि में ही सिद्ध होती है।

आत्मोपलब्धि व्यक्तिगत आदर्श नहीं

सच यह है कि सृष्टि के विषय में भी लक्ष्य को आत्मोपलब्धि की भाषा में ठहराना ठीक होगा। आत्मोपलब्धि क्या? इसको समझने के लिए हमें अपने से बहुत दूर जाना नहीं है। स्वत्व को परत्व में यदि और जितनी मात्रा में उतार पाते हैं, उसी रीति से पर को स्व में देख पाते हैं, तो उतनी ही उपलब्धि और समाधान का अनुभव पाते हैं। यह शेष के साथ एकता की अनुभूति आत्मोपलब्धि का स्वरूप है। अपने

को पाना सबको पा जाना है। कारण अपने को हम प्रेम में ही पा सकते हैं अन्यथा किसी विधि पा नहीं सकते। स्वाभिमान में हम बन्द होते हैं, मुक्त होते हैं प्रेम में। इसलिए आत्मोपलब्धि कोई वैयक्तिक आदर्शमात्र नहीं है वह एक ही साथ सामाजिक और समष्टिपरक है।

भाग्य ईश्वरेच्छा

१४. क्या कोई ऐसी शक्ति है, जो भाग्य अथवा ईश्वरेच्छा बनकर हमारे मन हमारी बुद्धि हमारे कर्म और हमारे युग-युग के विचार-प्रवाह के साथ खिलवाड़ करती है अथवा उन्हें पूरी तरह नियन्त्रित एवं अपने वश में रखती है?

—यह तो साफ है कि हम ब्रह्माण्ड में कण से भी कम हैं। जिससे ब्रह्माण्ड चलता है, वह शक्ति अवश्य मेरे 'मैं' की नहीं हो सकती। ऐसी निर्वैयक्तिक शक्ति को स्वीकार करने से बचना अहंकार में रहना ही माना जायगा। सो अब हम उसको जो चाहे दें—काल कहें, अकाल कहें, इतिहास कहें, भाग्य कहें, विधाता या विधान कहें या सीधे चाहें तो परमेश्वर कह दें। उसके अंगीकार से अभिमान से मुक्ति मिलती है, बुद्धि को एक स्थिति प्राप्त होती है। उसके बिना बुद्धि जैसे दिग्भ्रान्त हो जाती है।

भाग्य-विधान और मनुष्य

लेकिन मुख्य प्रश्न यह है कि भाग्य-विधान और मनुष्य का सम्बन्ध क्या है? मेरा मानना है कि जैसे मनुष्य विधान से स्वतन्त्र नहीं है, वैसे विधाता भी मनुष्य से स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य सहयोगी है, उसमें अन्तश्चेतना होने का अर्थ ही यह है। राम वह, जो सब में रमा हुआ हो। परमेश्वर के लिए भारत में राम-नाम ही चलता है। सच्चिदानन्द ही उस व्याप्त सत्ता का स्वरूप हो सकता है। सत्-चित्-आनन्द की अनुभूति हमें हर क्षण प्राप्त होती है। हम सचेतन हैं, इसका आशय ही यह है कि जो चित्-शक्ति ब्रह्माण्ड में संचरण कर रही है उसका सञ्चालन कर रही है, हमसे संयुक्त है। हमारी चेतना उसकी सहगामिनी सहयोगिनी है। ब्रह्माण्ड में जो रम रहा है, हमारे हृत्पिण्ड में भी रममाण है। हमारे 'मैं' के भान के नीचे कुछ भले निष्क्रिय हो पर 'मैं' का बोध हटने पर वही तत्त्व सक्रिय हो जायेगा। तब जान पड़ेगा कि व्यक्ति स्वयं भी विधाता है, विधान के साथ वह सम-स्वर है। तब उसकी सीमा असीम में मिट जायगी और उसका संकल्प अमोघ हो चलेगा।

मनुष्य क्रीडा-कन्दुक नहीं

विधाता या भाग्य के हाथों मनुष्य क्रीडा-कन्दुक के समान है, यह उपमा भेद-भाव की है। अभेद देखें, तो मालूम होगा कि भाग्य स्वय हमारे द्वारा अपने को सम्पन्न करने को बाध्य है। अन्यथा वह है तक नही।

भाग्य हमारे वश में

सृष्टि के प्राणियो मे यदि अपनी-अपनी चेष्टा न हो, तो क्या कल्पना की जा सकती है कि इतिहास या विकास अपने को अपने मे से निष्पन्न कर लेगा? इस प्रकार की कल्पना नितान्त असम्भव है। अर्थात् यदि कोई नियम काम कर रहा हो, तो वह प्राणियो के भीतर से ही काम कर पाता है, दूसरा उपाय उसके पास नही है। और यदि हम प्राणी चेतन हैं, तो विधान के हाथ मे निश्चेतन उपकरण बनकर नही रह जाते, बल्कि अखण्ड चित्-प्रक्रिया मे सहकर्मी होते हैं। चेतना उनकी जड है, सचेत ही नही हो पायी है, जो भाग्य का रोना रोते हैं। भाग्य जब और जहाँ तक हमारा है, हम उसके विधाता भी क्यो नही हैं? रोना जब रोते हैं तो हमीं रोते हैं, भाग्य कैसे रुला सकता है? इस तरह अपनी चेतना का अपमान करना है यह मानना कि भाग्य हमारे प्रति प्रतिकूल है, क्रूर है। सब 'होना' हमारे वश मे है, भाग्य के वश में बिलकुल नहीं। वह तो जो है सो है, प्रतिकूल-अनुकूल हमारे लिए ही बनना शेष रह जाता है। और आत्म-प्रतिकूल होकर हम परमात्म-प्रतिकूल होते हैं, एव आत्मानुकूल होना ही विधातृ-सत्ता से समरस होना है।

व्यक्ति की सीमा

३५ जब आप मानते हैं कि सब समान रूप से सचेत हैं और सबमे ईश्वर वर्तमान है, तब व्यक्ति का व्यक्तित्व अनेक सीमाओं से बँधा क्यो है? क्या ये सीमाएँ ही मनुष्य का भाग्य नहीं हैं?

—दूसरे शब्दो मे प्रश्न हुआ कि सबमे अपना-अपना 'अह' क्यो है? सीमा बिना 'अह' हो नही सकता। सीमा वह एक ही साथ स्व और पर की होती है। उस सीमा से स्व-पर-भिन्नता की अनुभूति होती है। स्पष्ट है कि इस भेद के कारण ही हममे राग अथवा द्वेष का तारतम्य अनिवार्य होता है। उसका अनुभव हम अह के द्वारा ही पाते हैं। अर्थात् सीमा होना हमें स्थिति देता है और उसी सीमा का दुःख हममे गति और चेष्टा उत्पन्न करता है। सीमा की, मर्यादा की, इस तरह यह बडी गहरी सार्थकता है। उस सीमा को हम हठात् अस्वीकार करते है, तो आशय है कि हम उसे बाहर की ओर ठेलते हैं और 'स्व' के द्वारा हठात् 'पर' पर दबाव डालते हैं।

वही हिंसा कहलाती है और मानना चाहिए कि वह वस्तु, हिंसा सृष्टि-विधान के अनुकूल नहीं है। सीमा को स्वीकार करके जब हम उस भिन्नता की व्यथानुभूति में से अन्य के प्रति प्रेम की प्रेरणा पाते और उस ओर उन्मुख होते हैं तब सीमा अनायास खुलती और फैलती है। तब अनुभव होता है कि व्यक्तित्व हमारा प्रशस्त हो रहा है। मैं आपकी भाषा मान लेता हूँ कि सीमा हमारा भाग्य है लेकिन इसके आगे यह भी समझ लेता है कि स्वीकृति के आधार पर प्रीति प्रेरणा से उस सीमा का अन्यान्य में छोर विस्तार करते जाना उस भाग्य की सम्पन्नता है।

अहं, द्वन्द्व, विवेक

१८. अहं का वास्तव स्वरूप क्या है? बुद्धि और हृदय से विशेष समय विशेष हिस्सा कर काम लेना क्या व्यक्ति के बस का है? कुछ गिने-चुने अवतार शायद ऐसा कर सकते हों, पर आम आदमी अपनी इस विवशता को लेकर क्या करे?
—'अहं' वह, जो सुख-दुःख को अपना करके मानता है। वह शरीर में स्थित किसी अवयव या अंग से सम्बद्ध नहीं है। अनुभूति देनेवाले अवयव-रूप हृदय और मस्तिष्क माने जाते हैं। उन दोनों के अपने व्यापारों का भी पृथक्करण किया गया है। लेकिन यहाँ उसमें हमें नहीं जाना है।
व्यक्ति के भीतर जितने आरोपात्मक हैं, वे सब मिलकर एक तनाव की स्थिति मानो में बनाये रखते हैं। इसीको चैतन्य या जीवन कहा जाता है। एक द्वैत और द्वन्द्व सदा हमारे भीतर कार्य करता रहता है। सोते समय भी वह नहीं सोता। साँस तक भी थाम और हृदय की धड़कन को भी थोड़ी देर के लिए रोक लिया जाय लेकिन यह प्राण-शक्ति तनाव के लिए भी रुक नहीं सकती। उसके रुक जाने का नाम मृत्यु है।
इस द्वन्द्व के भीतर विवेक काम करता है। विवेक से शून्य मनुष्य हो नहीं सकता। इधर आदिम और बर्बर मानव को लीजिये उधर अवतारी पुरुषों को लीजिये विवेक सबमें ही अनिवार्य है।
इस विवेक के कारण ही यह भाषा सम्भव बनती है कि क्या हम सर्वथा स्ववश हैं या विवश भी हैं? इस भाषा में यह स्वीकार कर लिया जाता है कि हमारे व्यक्तित्व में स्तर हैं और एक स्तर दूसरे के अधीन होकर काम करता न कर सकता है। यह मानने में कोई बाधा नहीं कि हाथ जो हिलता है, स्वयं नहीं दिमाग के अधीन होकर हिलता है। दिमाग कहता है, तब भी हाथ विवश बना रहे और न हिले तो वह स्थिति रोग की कहलायेगी। हाथ काँपता है, रुकता तक नहीं तो मानके

हैं कि रोग है, जिसका आशय यह है कि दिमाग और हाथ के बीच का सम्बन्ध-सूत्र (स्नायु) कही बिगड गया है। व्यक्तित्व के अंगोपांगों मे ही जो परस्पर विवाद और विग्रह देखा जाता है, अक्सर जो यह देखा जाता है कि हम चाहते कुछ और कर जाते कुछ हैं, तो यह द्वन्द्व की स्थिति ही है, जिसमे से यत्न-प्रयत्न को जन्म मिलता है। विवेक भी इसी स्थिति मे सम्भव और सङ्गत होता है। विवेक फिर वहाँ संवाद लाता है।

मानव वशपूर्वक विधि से संयुक्त

मैं मानता हूँ कि होता वह है, जो होनहार है। यह भी स्वीकार करना मेरे लिए अशक्य नही कि विधि का लेख लिखा रखा है। लेकिन विधि का प्रयोग केवल मानव-प्राणियो पर होता है, मानवो का उसमे केवल उपयोग होता है, यह मैं नही मानता। विधि-विधान मे, मेरा मानना है कि, विधि का मानव के साथ संयोग व सहयोग है। विवश अथवा वशवर्ती नही है, बल्कि मानव अपने पूरे वश के साथ विधि मे संयुक्त है। उस वश का अमुक अंश स्खलित-मूर्च्छित होकर अपने को अलग डालकर विवश मान ले, तो दूसरी बात है, अन्यथा यह सम्भव है कि मृत्यु मे भी मानव अपनी सार्थकता देखे और उसे स्वेच्छा से अपनाये। ऐसी मृत्यु मुक्ति बनती है। कारण, विधि और व्यक्ति का वहाँ योग, पूर्ण तादात्म्य, स्थापित होता है।

सत् में उत्पत्ति-व्यय निरन्तर

३७ अभी यह बात स्पष्ट होने से रह गयी कि व्यक्तित्व की यानी मन, बुद्धि आदि शक्तियों की अर्थात् भाग्य की विषमताओ का और जीवन मे नयी-नयी उथल-पुथल होने का आप क्या कारण मानते हैं?

—कारण के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नही है। 'है' की कोई निष्क्रिय स्थिति नहीं है। 'है' ही 'होता रहता' है। एक सूत्र है **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'**। सत् में उत्पत्ति और व्यय प्रतिपल होता रहता है। गतिशून्य स्थिति कोई होती ही नहीं। चित् में उसी स्पन्दनशीलता का भाव है। चित् विद्युत् की भांति लहराता रहता है, मानव का चित्त भी तद्रूप लहराया करता है।

मानस सृष्टि-क्रम से निरपेक्ष नहीं

यह तो सृष्टि के क्रम मे जो हलन-चलन गर्भित है, उसकी बात हुई। इसको मानव-निरपेक्ष भी देखा जा सकता है। किन्तु मानव उससे निरपेक्ष रह नही पाता। उसके

अन्तरङ्ग में जो हलन-चलन होता रहता है, वह दैव से सर्वथा विच्छिन्न नहीं होता। ऋतु गर्मी-सर्दी की अपने नियम से होती है और मनुष्य पर तदनुकूल प्रभाव-परिणाम डाले बिना नहीं रहती। यह स्थिति व्यक्ति और विधि के तारतम्य की अपेक्षा से है। मनुष्य की कठिनाई यहाँ से नहीं बनती। बल्कि यहाँ से तो प्रेरणा ही बनती है।

अन्तर्विग्रह और कलह युग के लिए

जो वस्तु मनुष्य के लिए समस्या बनती है वह है अपने भीतर अनुभव में आनेवाला अन्तर्विग्रह और कलह। इसी जगह यत्न और साधन की आवश्यकता होती है। पुरुषार्थ और चेष्टा का यहीं पर उपयोग है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय नाम से जो व्यक्तित्व के तीन स्तर हम मानते हैं, उनमें समरसता और एकाग्रता आ सके, तो समाधान जान पड़ता है अन्यथा असह्य मालूम होता है। इन विविध स्तरों से अलग और इन सबमें व्याप्त आत्मा की भी एक सत्ता है। कहा जाता है कि मन, बुद्धि, इन्द्रिय आत्मा के अनुगत होकर काम करें, तो सब व्यापार मुक्ति का साधक हो जाता है अन्यथा बाधक होता है। मूल भाषा से लगता है कि जैसे ये तीन अथवा विविध स्तर कुछ अपने में स्वायत्त भी हों और आत्मा से स्वतन्त्र हों। मनुष्य की यह बनावट, जिससे वह संयुक्त और सुगम नहीं बल्कि विभक्त और विविध अनुभव करता है, अन्त में शुभ के लिए ही है। ह्रास का नहीं वह विकास का साधन है। पशु में वैसी विभक्तता व समस्या नहीं है। वह उलझन नहीं है जिसमें से विवेक को काम करना पड़ता है और जिसके कारण स्वकर्तृत्व का बोध प्राप्त होता है। यह स्व-बोध ऊँचे जाकर बाधा भी बन जाता हो लेकिन यही व्यक्ति को स्रष्टा की महिमा व गरिमा भी देता है। मनुष्य के द्वारा जो स्थायी सृष्टि का काम हो जाता है, वह इसी बीच आत्मव्यथा और आत्मयुद्ध की वीथिका पर समुचित क्षणों में होता है। उन क्षणों में कि जब विवेक मानो द्वन्द्वावस्था से पार जाकर प्राण-वेग में व्याप्त और व्यक्त हो जाता है।

जीवन में जो गम्भीर संकट अनुभव होते हैं वे बाहरी आघातों के नहीं होते बल्कि घोर गहन अन्तर्विग्रह में से उठे हुए होते हैं। देव-दानव-युद्ध हर घड़ी हममें छिड़ा रहता है। विषमता और व्यग्रता के अनुभव इसी युद्ध-स्थिति के तत्कालीन परिणाम हुआ करते हैं, ऐसी मेरी प्रतीति है। ●

३

प्रतिभा, भविष्य

पूर्वजन्म के सस्कार

३८ क्या आप नहीं मानते कि व्यक्ति जो कुछ भी पाता है, ग्रहण करता है, वह जन्मोपरान्त ही। जन्म के पहले से वह कोई सस्कार अथवा प्रभाव लेकर नहीं आता।

—नहीं। जैसे समय में से किसी एक क्षण, प्रहर, दिवस, मास, वर्ष आदि की कोई कटी हुई अलग स्थिति नहीं मान सकता, वैसे ही समग्र के सातत्य में से सर्वथा विच्छिन्न किसी सपाट कटे एक व्यक्तित्व की स्थिति नहीं मान सकता हूँ। जन्म से आया प्राणी जीवन-सस्कार साथ नहीं लाया, तो साथ लाया क्या? जो तत्त्व मिले, क्या वे निर्गुण थे? उनमे अपना कुछ न था यह मानना सम्भव नहीं। माता-पिता का और [illegible] असर, सन्तति की शक्ल-सूरत पर प्रभाव मिलता है। माता-पिता उसी तरह स्वयं आनुवंशिक प्रभावों से सर्वथा मुक्त नहीं होते। इस तरह आज जन्म मे आया व्यक्ति इन कडियो के द्वारा समष्टि-इतिहास से, पूरे भाग्य से ही, जुड़ा रहता है। ऐसा न होता, तो जैविक-विज्ञान, नृतत्त्व शास्त्र आदि सम्भव नहीं हो पाते। यह किसी तरह नहीं माना जा सकता कि रज-वीर्य अपने मे कुछ गुण नहीं रखते। अतः चेतना का आरम्भ जन्म पानेवाले जीव से मानना वैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। आरम्भ वहाँ से व्यक्तिसत्ता का है, चिद्‌गुणता का नहीं। यह स्वीकार करें, तो जनमे हुए जीवन के साथ व्यवहार करने की एक नयी सूझ प्राप्त होगी और उसको अमुक मत के ही साँचे मे ढालने का स्वत्व-पूर्ण आग्रह मन्द होगा। हम जानते हैं कि ऐसा आग्रह होता है और प्रतिभा लगभग उस आग्रह का द्रोह ठानती हुई प्रगट हुआ करती है।

प्रतिभा चेतना का उत्कर्षण

३९ असाधारण प्रतिभाशालियो के बारे मे, जो आनुवंशिक परम्पराओं से मुक्त दीखते हैं, आप क्या कहते हैं? ये प्रतिभाएँ वर्तमान वातावरण की प्रतिक्रिया में से फूटती हैं या किसी Cosmic Power (अलौकिक सत्ता) की देन होती हैं या पूर्वजन्मों की साधना का परिणाम होती हैं?

—जिसकी प्रतिभा माना जाता है, उसका नियम स्थिर करना कठिन है। सच यह कि नियम में बंधती नहीं इसीसे तो उसे प्रतिभा कहते हैं। फिर भी एक बात निश्चय कही जा सकती है। वह यह कि अमुक वेग और विस्फोट उतने ही दबाव का फल होता है। अन्तर में कहाँ क्या कुछ घटित होता रहा कि जिसके परिणाम स्वरूप वह प्रभा चमकी जिसे प्रतिभा मानना पड़ा कहना मुश्किल है। अच्छा यह है कि हम प्रतिभा के जन्म को अलौकिक शक्तियों से जोड़ें ही नहीं व्यक्तिगत बुद्धि और भावना के सन्दर्भ में ही उसे समझने का प्रयास करें। तब यह तत्त्व ईश्वरीय से मानवीय तल पर कुछ समझने योग्य बन सकेगा। यदि जगत् को हम दो शक्तियों से बना हुआ मानें एक उत्कर्ष और दूसरी अपकर्ष शक्ति तो प्रतिभा को उस स्थिति का रूप मानना होगा जहाँ उत्कर्षण अपकर्षण पर प्रबल होता है। इस क्षेत्र में खोज होने की आवश्यकता है, भौतिक के समान इसको विचारात्मक और आध्यात्मिक क्षेत्र कहा जा सकता है। राम-कृष्ण प्रागैतिहासिक और बुद्ध-ईसा-मोहम्मद ऐतिहासिक हो गये लेकिन गांधी तो समकालीन माने जा सकते हैं। उनके हृदय और चरित्र को भौतिक हेतुओं की भाषा में समझा या रखा नहीं जा सकता है। फिर भी पदार्थ-क्षेत्र में उनका प्रभाव युगान्तरकारी हुआ सो क्यों? आशय क्या भौतिक क्षेत्र के अध्ययन और उपलब्धि के लिए अध्यात्म क्षेत्र की विभूति और प्रक्रिया को खोजना-समझना हितकारी होगा। जीवन के अध्ययन को यह समग्र बनायेगा। नहीं तो पदार्थ का विज्ञान हमें सम्पन्न करके भी चेतना के अर्थ में उल्टे विपन्न करता चला जायगा। मानो मालूम होता रहेगा कि उन्नति विपत्ति है और सम्पन्नता संकट है। तब उस सम्पन्नता को उलटकर आदिमता में लौट जाने की वृत्ति भी पनपेगी और बहुत से बेचारों और लोगों में आज वह रुझान दिखाई दे रहा है। निश्चय ही वह भ्रान्त और प्रतिक्रियात्मक वृत्ति है। लेकिन वस्तु-क्षेत्र की एकाङ्गी उन्नति प्रश्न की जटिलता और विवेक की क्षीणता सिरजे तो और नहीं तो क्या होने वाला है!

प्रतिभा और पुनर्जन्म

४ तब क्या आप प्रतिभाओं की उत्पत्ति को पूर्वजन्म के संस्कारों से जोड़ना पसन्द नहीं करेंगे?

—पूर्वजन्म को जब हम लाते हैं, तो भावना से लाते हैं। उससे कुछ प्रकाश नहीं मिलता है, जिज्ञासी को एक समाधान-सा जरूर मिल जाता हो। यह तो स्पष्ट ही है कि जीवन का और चेतना का आरम्भ मेरे अपने जन्म की घड़ी से नहीं है, विश्व में और समय में वह सदा से प्रवाही है। इसलिए आज की घटना में दीक्षा

[illegible] उसका अतीत [illegible] आगत से सम्बन्ध नहीं है ऐसा तो [illegible]। [illegible]।
जीव-विज्ञान, प्राण-विज्ञान इस अवस्था के प्रकार में [illegible] हो जायेंगे। लेकिन पूर्वजन्म एक ऐसी धारणा है जो मनमानी [illegible] नहीं [illegible], बल्कि मेरे 'मैं' को भले ही अपने जन्म के साथ [illegible] है। [illegible] धारणा को बीच में लाना [illegible]। [illegible] के भाग [illegible]।
मैं फिर चाहूँगा कि [illegible] प्रतिभा का [illegible] में यदि हमें सन्तोष न होता हो तो उसे व्यक्तिगत गुणों से, [illegible] से, [illegible] आदि में जोड़कर हम समझें। पूर्वजन्म आदि पर टालने से हम अपनी जिम्मेदारी से एक तरह से बच जाते हैं, जो शुभ नहीं है।

क्षति-पूर्ति का सिद्धान्त

एक और रूप में भी उस तरह की विशेषताओं को समझा जा सकता है। मैंने एक अन्धे आदमी को देखा, जो गाँव में घर-घर पानी पहुँचाया करता और इसी पर अपना गुजारा चलाता था। दूर-दूर अलग-अलग सब घरों का जानना, वहाँ से अपने आप ठीक जगह से घड़ा उठा लाना, फिर एकदम कुएँ की जगत पर चढ़ जाना, घुमाकर, रस्सी डालकर पानी खींचना और फिर सब घड़े यथास्थान पहुँचा आना—यह सब काम बिना आँख के कैसे किया जा सकता है, मैं अब तक समझ नहीं पाता हूँ। सिवा इसके क्या कहा जाय कि आँख न होने से उसमें यह प्रतिभा पैदा हो गयी!
अक्सर देखा जायगा कि जो 'इधर' से कम है, वही 'उधर' से बढ़ गये हैं। नाटे और छोटे कद के लोग विलक्षण बन गये हैं, शरीर से हीन हैं, वे बुद्धि से प्रवीण बन उठे हैं, बुद्धि में मन्द हैं, वे शरीर में मल्ल दिखाई देते हैं। अर्थात् चेतना के क्षेत्र में यह 'क्षति-पूर्ति' का सिद्धान्त जैसे काम करता दिखाई देता है। प्रतिभा के उदय के स्रोत में यह सम्भव हो सकता है कि सब ओर से प्रकाशन के मार्ग बन्द होने के कारण किसी एक दिशा में से चेतना फूटी और अद्भुत चमत्कार दिखा उठी। चेतना को बिखरने न दिया जाय, वह संगृहीत होती रहे और फिर मानो सूच्यग्र जितना मार्ग उसके बहिर्गमन को मिले, तो क्या वहाँ उत्कट गति और वेग नहीं आ जायगा?
मैं मानता हूँ कि कुछ इस रूप में प्रतिभा को समझें, तो संयम की सीख का लाभ भी हमें हो सकता है।

स्रष्टा प्रतिभाओं का विकास-क्रम

४१ आपके इस उत्तर से मेरी तृप्ति नहीं हुई। अन्धे का उदाहरण साधारण

भौतिक प्रतिभाओं को नियमित कर सकता है। पर महान् सच्चा प्रतिभा-विस्फोटन उसके वश की बात नहीं।
—परम पुरुष जो हो गये हैं, जिन्हें हम प्रतिभाशाली मानते हैं जिनसे युग भी इतिहास प्रकाशमान हो उठे हैं, तो उस प्रकार की सम्भावनाएँ भरकर उन्हें खास तौर से भेजा गया होगा यह मानना परमेश्वर पर पक्षपात का दोष डालना हो जायगा। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि नर से वे ही लोग नारायण बन, हम वैसे तो इधर नर-पशु बने बैठे हैं। क्या यह माना जाय कि भगवान् ने हमें नर से पशु बनाया है? यह किसी तरह से भी नहीं माना जा सकता है। इसी तरह नर से यदि कोई नारायण बनता दीखे तो उस सबका भी भार भगवान् पर डालना स्वयं अचेत रह जाने का बहाना कहलायेगा।
परमेश्वर सर्वव्याप्त सत्य एवं सत्ता है। सम्भावनाएँ सब कहीं हैं और अनन्त हैं। भगवान् घट-घट में व्याप्त और विराजमान है। अर्थात् परम पुरुषों में जो विभूति और चेतना का वैभव प्रत्यक्ष दीखने में आया यह उसीका व्यक्त रूप है, जो हम सबके भीतर अव्यक्त और सुप्त हो सकता है। अर्थात् हमारे भीतर भी सम्भावनाएँ अनन्त हैं। कहना यही होगा कि उन्होंने उन सम्भावनाओं को प्रकट होने दिया हमने उन्हें दबा रखा है।

अहं निजता और विश्वता के बीच द्वार

मेरे मन में यही चित्र उठता है। हम सबके पास अहं है। वह द्वार है, जिसमें से हम अपने से बाहर जाते हैं बाहर से फिर अपने में लौटते हैं। जिसने उस द्वार को केवल द्वार रहने दिया है, वह निमित्त भर रह गया है और उसके 'द्वारा' मानो अनन्त सम्भावनाएँ बाहर मुक्त होकर खिल उठने को विवश हो आई हैं। ऐसे ही पुरुष पुरुषोत्तम बने हैं। अर्थात् उन्होंने अपने को सर्वथा शून्य बना दिया है और परम चेतना ही उनके माध्यम से मूर्त और प्रत्यक्ष हो उठी है। वे स्वयं व्यक्त से मानो भगवान् हो चले हैं। उनके व्यक्तित्व में से ऐश्वर्य-दर्शन प्राप्त हुआ है। लेकिन हम प्राय अपने 'मैं' को शून्य बनाने से उलटे और जमा करते हैं, मानो मैं को फुलाते और फुसलाते रहते हैं। स्वयं कल्पना कीजिये कि इसका परिणाम क्या होगा? मानिये कि जो 'द्वार' होने के लिए है उसी दहलीज को हम मकान में गहराई तक ले जाते हैं—तब क्या वह मकान ऐसा या कि अन्धी गुफा बन जायगा? यही हुआ करता है। अहं-भाव को हम अपने में गहरे उतारते हैं, अवचेतन और अचेतन पर भी उसे थोपते हैं। ऐसे हमारे ही भीतर की सम्भावनाएँ दबती और घुट मरी रहती हैं, फूट नहीं पाती। उसका फल हम भुगतते हैं कि जैसे सांस

भीतर घुट रहा हो, बाहर न आ पाता हो। इस ऐंठे और घुटे जीवन को लेकर छटपटाते रहते हैं और पहचान नहीं पाते कि हमीं हैं, जो अपराध और रोग बने हुए हैं। अन्यथा चित्प्राण जो भीतर है परमोन्मुख है और अनायास मुक्ति में उठने को आतुर है। हमारी अधिकांश प्रवृत्तियाँ अपनी ही अन्तश्चेतना पर अत्या-चार करनेवाली होती हैं। मानो हमीं स्वयं अपनी दुश्मनी ठान रहे हों। जिसको हमने अपना नेता माना, बुद्धि-विवेक माना, उसी के द्वारा अपना अन्तःस्थ को हम दाबते और डाँटते है। समझते हैं, यही संयम है, धर्माचरण है, परायणता है। लेकिन फल यह होता है कि हमारी विजता में हमारे भीतर की विषमता उक और फट जाती है। नाना नागवणता का दाव बैठती है। शेष तक दर्पी, दम्भी, अभिमानी बनता है और नहीं जानता कि वह दर भीतर मानस मे दानव बन रहा है। मानता है वह फैल रहा है और फूल रहा है, पर असल मे यह सिमटता, गँठता और सँकराता जाता है। यहाँ तो उसे मुक्त और व्याप्त बनना था, कहाँ वह निरी गाँठ बना भीतर कसमसाता है। मै इसीलिए बाहरी धर्म का कायल नही हो पाता हूँ। उसी मात्रा मे धर्म सही और शुभ होना चाहिए, जिसमे वह अन्तरंग से अनुकूल और प्रेरित हो। शेष मे शायद वह जाल और जंजाल है।

मेरे मन मे मानसिकता और उसकी प्रक्रिया का यही चित्र उठता है और इसी भाषा मे मैं अवतारी और अधम पुरुषो का भेदाभेद समझ पाता हूँ।

प्रतिभा और देश-काल

४२ तब तो आपके कथनानुसार प्रतिभाओं का जन्म और उनके द्वारा संसार मे होनेवाला वाञ्छ्य-अवाञ्छ्य उद्वेलन-आन्दोलन मात्र chance (संयोग) का परिणाम हुआ, काल-विशेष की परिस्थितियों का प्रतिभाओ की उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रहा और तदनुसार हिन्दू-दर्शन की 'धरती पर पाप बढ़ने पर भगवान् द्वारा अपने गुणों सहित अवतार लिये जाने का सिद्धान्त' एकदम झूठा पड गया और आपकी उपपत्ति ने इस ऐतिहासिक तथ्य से भी मेल नहीं खाया कि प्रतिभाएँ अकेली नहीं चलतीं, अपने साथ अपने सहयोगी लेकर चलती हैं।

—तुम्हारे प्रश्न को मैं इस रूप मे लेता हूँ एक, कि प्रतिभा का क्या समय या युग की माँग से सम्बन्ध नही होता? दूसरे, कि प्रतिभा क्या एकाकी है, सामूहि-कता के साथ नही है? इतिहास के तमाम आन्दोलन जो प्रतिभा मे से निकले हैं, क्या समूह के योग से विशाल से विशालतर नही बनते गये हैं!

घटक कुल से स्वतंत्र नहीं

इन प्रश्नों के मूल में एक भ्रान्ति है। वह यह भ्रममूलक मत कि कहीं भी कोई एक इकाई अपने में अलग हो सकती है। वास्तव में ऐसा है नहीं। सत्य कुल है, एक है अखण्ड है। इससे यह हो नहीं सकता कि कुल हो और सब तक उसका प्रभाव न जाय या यह सब उसके कारण में ही न हो। यानी घटनामात्र से काल और देश जुड़ा हुआ है। काल जिसके विस्तार को हम अनुभव में पाते हैं। देश जिसके विस्तार को हम आँखों से देखते हैं। इन दोनों से अलग किसीकी भी कल्पना नहीं की जा सकती।

लेकिन कुल और अखण्ड को हम पा नहीं सकते। उसे समग्र में पाने के लिए अभिन्न को हम भिन्नता देते और असंख्य को संख्या में लेते हैं। ऐसे भटकों—प्रश्नों की सृष्टि होती है।

शेष कुल

हम-तुम जैसे कुछ अरब आदमी आज इस दुनिया में हैं। सब अपने में अलग-अलग और व्यक्ति हैं। मनुष्य की ही तरह फिर दूसरे असंख्य पशु-पक्षी और जीव-जन्तु हैं। फिर वनस्पतियाँ हैं। अन्य भी अनन्त तत्त्व हैं। इन सबको लेकर धरती एक है। वह फिर अपने में एक ग्रह है और सौर-मण्डल की सदस्य है। सूरज इसके केन्द्र में है। लेकिन ऐसे-ऐसे असंख्य सूरज अपने मण्डलों को लेकर तारों की तरह ब्रह्माण्ड-परिभ्रमण कर रहे हैं।

अब यह जो हमने अपने बीच अलगपन माना है, तुम तुम रहे हो, मैं मैं रहा हूँ और हम दो हैं—यह सब इसलिए कि हम परस्परता को समझ पायें और सब परस्परता की ही राह से समग्रता में मुक्त हों।

'मैं' आरम्भ का बिन्दु

यानी 'मैं' वह बिन्दु है जहाँ से हम चलते हैं, चल सकते हैं। बिन्दु माना हुआ है पर वहीं से अर्थ का आरम्भ होता है। 'मैं' सच नहीं है, यह तो शुरू में ही हमने स्वीकार कर लिया है। पर वही सापेक्षता में व्यवहार में सच बन जाता है, अगर 'मैं' में से हम-तुम 'इस' 'उस' की ओर बढ़ते हुए कुल में जा मिलने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

प्रतिमा एकाकी, निरपेक्ष नहीं

ऊपर जो विचार किया वह इस 'मैं' के तट से किया गया विचार है। देश-काल

से वह छूटा हुआ हो नहीं पाता है। प्रतिभा पर [illegible] नहीं मानी है। क्या आग कभी हो जाती है, जब आसपास गर्मी न [illegible] जाती है, जब उसमें को कुछ सामग्री न हो? [illegible] है, ईंधन है, तो भी प्रकट होती है। इसी तरह प्रतिभा और युग का मामला [illegible] है, [illegible] ही आवश्यकता के दबाव में से हो, तो प्रतिभा प्रकट होगी। अर्थात् युग विशेष उसे माना की आवश्यकता नहीं है। [illegible] विशेष गढ़ जाती है। अर्थात् प्रतिभा होती नहीं पाती, जिस [illegible] मानव-समाज में एक क्रान्ति जैसी चमत्कारी-घटना हुई न होती। किन्तु घटना में, इतिहास और समय के सन्दर्भ में प्रतिभा को देखने की कोशिश में उसकी ऊँचाई और [illegible] से दूर नहीं जाती है, हम और उसकी पुकार और [illegible] में अन्तर [illegible] जाते हैं। मैं उस विज्ञापन का अलग [illegible] नहीं [illegible] जाता। हम क्या न [illegible] पर और [illegible] का उत्तर न आगे बढ़ें? इसी उत्तर [illegible] के लिए प्रतिभा [illegible] घटना के सन्दर्भ में समझने का प्रयास ऊपर किया गया था। [illegible] में [illegible] भावना [illegible] के द्वन्द्व और [illegible] की भाषा में हम उसे [illegible] तो प्रतिभा [illegible] दूर की चीज नहीं मानी, बल्कि अपनी [illegible] मालूम पड़ेगी। [illegible], चमत्कार, संयोग आदि शब्द बुरे नहीं हैं। विस्मय का भाव जागे है और यह भाव हमें ताजा रखता है, नम्र और ग्रहणशील बनाता है, ज्ञान के दम्भ और [illegible] के लिए हमारे पास अवकाश नहीं छोड़ता। इसलिए प्रतिभा का [illegible] की ओर और उसकी चमत्कार कहें, तो बाधा नहीं है। पर उसमें से हम आशीर्वाद ही प्राप्त करें, अपना बचाव कहीं न भागने लग जायें।

भविष्य-वाणियाँ

४३ वर्तमान से भविष्य एकदम कटा हुआ अलग नहीं माना जा सकता है। उस भविष्य की ओर पहुँचने और उसे पहले से जानने के अनेकानेक प्रयास हुए हैं। इसमें नाना विधाएँ भी खड़ी हो गयी हैं। यह भी देखा जाता है कि भावी वर्तमान पर कुछ आभास और छाया डाल गया है। दूर से आनेवाली आँधी का पक्षी सहज भान पा जाता है। हमारा यन्त्र रडार दूर का पता हमें यहाँ तक पहुँचा देता है। ग्रह-विचार, ज्योतिष शास्त्र है, सामुद्रिक शास्त्र भी माना जाता है। उनके आधार पर या कभी स्वतन्त्र भी भविष्य वाणियाँ होती हैं और सही भी निकलती हैं। इन सबके सम्बन्ध में आपका क्या खुलासा है?

—हमारी इन्द्रियाँ यन्त्र के समान ही हैं। करोड़ों-करोड़ मील दूर का सूरज,

आँख हमारे पास है, इसलिए दीख जाता है। इसी तरह अनुमान और अनुभव के द्वारा हम अपने सम्बन्ध की व्याप्ति काल में भी अतीत और भविष्य की ओर बना और बढ़ा पाते हैं। यानी हम काल-देश में हैं पर काल-देश की कैद में नहीं हैं, बल्कि उनके प्रति खुले हैं। इसलिए काल मे और देश में हमारा उत्तरोत्तर विस्तार और गति हो यह तो अवसम्भावी है। हमारा ज्ञान-विज्ञान उस दिशा में हमें बढ़ाये बिना रह नहीं सकता।

लेकिन मैं ईमानदारी जरूरी समझता हूँ। उसमें अपनी मर्यादाओं को पहचाना जाता है। रात में सपने में हममें से हर कोई आसानी से आसमान मे उड़ जाता है। लेकिन आसमान में सचमुच में उड़ा ले जानेवाला वायुयान हमें सपने में से नहीं मिल गया। जिस कठोर विज्ञान में से वायुयान प्राप्त हुआ वह सपने की चीज से मानो ठीक उलटी चीज है।

भविष्य से निर्माण का सम्बन्ध

हम वर्तमान में हैं। भविष्य मे हम पहुँचना है। अपनी सम्पूर्णता के साथ वहाँ यदि पहुँचना है, तो इसका आशय यह कि भविष्य के प्रति हमारा सच्चा और पूरा सम्बन्ध प्रयास और निर्माण का है, अनुमान और कल्पना का नहीं है। मुझे उन सब विद्याओं में दिलचस्पी नहीं है, जो भविष्य को जान लेना और बता देना चाहती हैं। उसमें मुझे विज्ञान की साधना नहीं कुछ व्यसन की छिपकली जान पड़ती है। भविष्य के प्रति स्वस्थ सम्बन्ध निर्माण का होना चाहिए। दिवा-स्वप्नों में जिस भविष्य की रचना होती है, वह अस्वस्थ निकलता है। आदमी चाहता है और अक्सर उसके लिए मेहनत करना नहीं चाहता। इस मनोभाव में वह भाग्य के बारे में उत्सुक होता है। उस प्रकार की उत्सुकता व आतुरता को समाधान देने या उसका लाभ उठाने के लिए बहुत सारी अर्ध-विद्याएँ हमारे बीच मे पैदा हो जातीं और चल पड़ती हैं। उनसे धी-अहलाद और मन-बहलाव होता है। उनका धासा धन्धा भी चलाया जा सकता है। लेकिन मुझे उसमें रस नहीं है।

भविष्य अज्ञात-अज्ञेय रहे

भविष्य आने को है या कहिये कि हम उसमें जाने को हैं। इसकी सुविधा और समर्थता के लिए ही भविष्य को अज्ञात और अज्ञेय रहने दिया गया है। इसप से पुरुषार्थ को जन्म मिलता है। अज्ञात और अज्ञेय को न सह सकने की अवस्था को बदलना की अवस्था बढ़ना चाहिए। आस्तिकता मे उसे प्रसन्नता व विनम्रता के साथ सहना ही पड़ता है। वे जो सम्पूर्ण भविष्य को सर्वथा ज्ञात बनाने पर तुले हैं, उनकी

अनुमान-विद्या य गणना-विद्या के प्रति मेरे मन मे तनिक भी स्पृहा नही है। मुझे वह नास्तिक-व्यापार जान पडता है। जिसे प्रत्येक क्षण अपने पुरुषार्थ से हमे बनाते जाना है, उसको पहले मे ही पूरी तौर पर जान बैठना मानो उसे बनाने की चुनौती से मुंह चुराना है। भाग्य ऐसे वह है, जो हम बनाते है। जो बना नही सकते हैं, वे ही उसे जानने के चक्कर मे रहते हैं। भविष्य का हमे एक एक पट खोलते और उघाडते जाना है। इसीमे प्रयत्न का सौन्दय और साफल्य है। भविष्य और हमारे बीच मे जो व्यवधान है, वह अनिवाय है और मगलमय है। उसका आदर न करना सौन्दय का घात करना है।

सितारों का भाग्य हमारे पास

इतिहास के महापुरुष वे हुए हैं, जिन्होंने भाग्य का सामना किया है और परम एव निर्भीक विश्वास के साथ उसकी अज्ञेयता मे बढ़ते चले गये हैं। शौय का यही लक्षण है। उन्होंने भाग्य और भविष्य मे पहले मे कोई वायदा और वचन नहीं भराया है। बल्कि जो भी हो, खुली बांहो से उसे आलिंगन मे लेने की तैयारी मे चल पडे हैं।

जो सितारो मे है, क्या हममे भी नही है? इसलिए यह क्यो न कहें कि खुद नक्षत्रो का भविष्य और भाग्य हमारे पास है। ●

४

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-भेद

४४ डार्विन के विकासवाद से आप बहुत दूर तक सहमत दीखते थे। मार्क्स की समाजमूलक वैज्ञानिक ऐतिहासिकता के विषय में आपका क्या मत है? —डार्विन क्या आस्तिक थे? क्या उन्हें यह प्रिय होगा कि कोई उनकी खोज का आदर करे और आस्तिक भी बना रहे?

काल-गति को समझने का तर्क-शुद्ध प्रयास

मार्क्स के ऐतिहासिक विकासवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से मेरे लिए कोई चौंकने या आपत्ति करने की बात नहीं। इतिहास और काल-गति को समझने का यह तर्क-शुद्ध प्रयास है। इस रूप में मुझे उसमें कोई खोट नहीं दिखाई देती। विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का चित्र और विचार मार्क्स ने हेगेल से लिया कहते हैं। अन्तर यह कि हेगेल के विचार की भूमिका आन्तरिक थी और मार्क्स की भौतिक। विकास की इस द्वन्द्वात्मक धारणा से मुझे तो काफी समाधान प्राप्त होता है। उसमें एक जैसे फटकर दो होता और फिर मिलकर एक होता है—यह अद्वैत और द्वैताद्वैत की समस्या कुछ सुविहित होती-सी मालूम होती है। उसम मानो तथ्य पकड़ता है और अगम से समस्या सुगम बनती है।

मार्क्स-दर्शन सत्य से नहीं समाज से जुड़ा

काल के इतिवृत्त की यह समझ अपेक्षाकृत तटस्थ वृत्ति से ही मार्क्स को प्राप्त हुई। लेकिन तटस्थता वहीं समाप्त हो गयी जहाँ उन्होंने उसे वर्तमान से जोड़ा। तब उसमें इच्छाभाव डाल दिया गया। वर्तमान के प्रति हम लोग सर्वथा निस्संग नहीं होते इसीलिए सामने सदा कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रश्न खड़ा रहता है। इतिहास में से समस्त घटना-प्रक्रिया का एक सूत्र निकाल लें फिर उस सूत्र के सहारे कर्तव्याकर्तव्य के प्रश्न को डाल या तौल जायें ऐसा बन नहीं सकता। ऐसा जब हम करते हैं, तो मानो अपने साथ कुछ जोर-जबरदस्ती कर जाते हैं। नैतिक प्रश्न किसी के अन्दर सर्वथा समाप्त नहीं पाया जाता। इसलिए वह तत्त्वदर्शन भी मानो उसे अनावश्यक और व्यर्थ

ठहरा देता है, मानव-सत्य से अनमिल बनता है। मानो वह मनुष्य का उपयोग करता है, उसको स्वत्वशाली और पूर्ण करने की नहीं सोचता। मार्क्स के साथ यही हुआ। दर्शन उनका सत्य से अधिक समाज से जुड़ गया और प्रस्तुत वर्ग-विरोध और वर्ग-विग्रह मे आ टिका। वर्ग-विभेद बढाना, उसमे सहायक होना, मानो एक ऐसा कर्तव्य हो गया, जो इतिहास की ओर से नियत है। अर्थात् विकास-वाद और द्वन्द्ववाद के पाठ के जोर से व्यक्ति-मानव मे अन्तर्निहित नीति-चेतना को उलट डाला गया। द्वेष और घृणा के प्रति मामूली तौर पर हममे द्वेष और घृणा ही रहती है। मानो मार्क्स के सिद्धान्त और विश्वास ने आवश्यक बनाया कि उन्हें हम किसी सन्दर्भ मे उचित भी समझें। इसमे जन-मानस और व्यक्ति-मानस पर जोर पड़ा और आवश्यक हुआ कि मार्क्स का एक पन्थ बन और वह कट्टर होता जाय। इस प्रकार की कट्टरता मे मनुष्य अपनी अन्त प्रकृति के साथ बलात्कार करता और उस बल-प्रयोग मे एक गौरव अनुभव कर आता है। समझिये कि नशा चढाना होता है और नशा मतवाद का होता है। इसमे हिंसा-हत्या अनिवार्य, आवश्यक और उपादेय-उचित मालूम होने लग जाती है।

मार्क्स प्रसन्न से अधिक विपन्न

मेरा अनुमान है कि मार्क्स की विचारकता मे अन्दर कहीं किरक थी, गाँठ थी, और वह बराबर उस विचार को अपनी गन्ध देती रही। मार्क्स प्रसन्न से अधिक विपन्न अनुभव किया करते थे कि जब वे अपने मत-सिद्धान्त का निर्माण कर रहे थे। उस विपन्नता की सम्भावना के बीज इसलिए सिद्धान्त मे मौजूद हैं।

नैतिक द्वन्द्व

जो द्वन्द्व नित्यप्रति हममे से प्रत्येक अपने भीतर अनुभव करता है, वह नैतिक है। इतिहास पर अथवा ईश्वर पर डालकर उसमे मुक्त व उत्तीर्ण होने का उपाय कभी खतरे से खाली नहीं है। खतरे से खाली इसलिए नही है कि इधर वह उपाय आत्म-छल से खाली नही होता है। मूल मे वह मतावेश होता है और कोरे आदर्श-वाद को जन्म देता है।

इस मनोभाव या तत्त्ववाद मे से निकलनेवाली क्रान्ति अथवा आन्दोलन लहू-लुहान हो जाते हैं। वे प्रतिक्रान्ति उत्पन्न करते और प्रत्याक्रमण जगाते हैं।

भौतिकवाद को नैतिकता अमान्य

४५ नीति अथवा नैतिकता के आधार पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एव ऐतिहासिक

विकासवाद की कमियाँ आपने दिखायीं। पर भौतिकवाद तो नैतिकता के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता। इस स्थिति पर आपका क्या कहना है?

हर मतवाद द्वारा अन्तःकरण तिरस्कृत

—भौतिकवाद ही नहीं कोई भी वाद, स्वयं ईश्वरवाद हमें नैतिक द्वन्द्व से सहसा ऊँचे उठा ले जा सकता है। कारण अपने मत और विश्वास को हम उस अवस्था में इतना अधिक प्रक्षिप्त करते हैं कि उसमें स्वयं को खोने की सुविधा पा जाते हैं। तब अपने भीतर की उस यथार्थता की तरफ अचेत हो जाते हैं जिसे अन्तःकरण कहा जाता है। इस प्रकार नैतिक कुरेद को खोजना सम्भव ही नहीं वरन् प्रिय लगने लगता है और अपकर्म में स्वार्थ कर्म की तुष्टि हो जाती है।
किसी नीतिवाद की बात मैं नहीं करता हूँ। वाद के रूप में उसे पकड़ने चलेंगे तो वह सापेक्ष और सामाजिक चीज ही निकलेगी। मार्क्सवाद तो हाँ साफ कहता ही है कि नैतिकता समाज-मान्यों द्वारा बनायी और अपनायी गयी चीज है कृत्रिम है, महत्व नहीं है। दूसरे वादाक्रान्त भी कुछ-न-कुछ कहकर उससे छुट्टी पा जाते हैं। मुझे लगता है कि अपने प्रति पूरे तौर पर ईमानदार होकर चलें तो व्यक्ति यह नहीं कर सकता।

अन्तर्द्वन्द्व अनिवार्य

एक अनुभव अनिवार्य है। वह यह कि हम जो होना चाहते हैं वह अभी नहीं हैं। इसीमें से प्रयत्न व पुरुषार्थ निकलता है। इसी गति में पग-पग पर कर्तव्याकर्तव्य का प्रश्न खड़ा मिलता है और विवेक जरूरी होता है। हेगेल और मार्क्स जिस द्वन्द्व की भी चर्चा करें, पर यह अन्तर्द्वन्द्व सबका अनुभूत और प्रत्यक्ष है। सब यह भी अनुभव करते हैं कि इसी द्वन्द्व में से उनके विकास की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसको हम चाहे आत्मा की भाषा में रखें चाहे वस्तु की भाषा में रखें। वह द्वन्द्वात्मकता है, जो सबको प्राप्त है। आत्मिक नहीं है, भौतिक नहीं है। भीतर स्वरूप उसका मानसिक है। व्यक्त होने को बाहर आता है तो रूप वास्तविक हो जाता है। कोई इतिहासवाद और ईश्वरवाद इस चीज को मेरे या आपके पास से कैसे खंडित या ओझल कर दे सकता है, मैं जानता नहीं हूँ।

मार्क्स न कि हिंसा

मार्क्स से लगभग मैं सर्वथा ही सहमत हो सकता हूँ लेकिन हिंसा को गलत और अहिंसा को ठीक समझने से छुट्टी नहीं पा सकता। मार्क्स ने यह छुट्टी पायी ही

या और कोई पा ले, तो उसका अभिनन्दन मुझमे से नही निकलता। इस मूलभूत द्वन्द्व का दुःख ही जीवन का सार है और सुख उसे फेंक देने मे नहीं, प्यार से अपना लेने मे है।

मार्क्स-लेनिन और नैतिकता

४६ कर्तव्याकर्तव्य के प्रश्न की उपस्थिति को आपने ऊपर अनिवाय बताया है। जब हम एक मत अथवा धर्म को पूरी तरह ग्रहण कर लेते हैं, तब शका और प्रश्न की स्थिति समाप्त हो जाती है। जब रहती है, तब या तो हम बेईमान हैं या वह मत, धर्म, सिद्धान्त झूठा है। शका ही जब अनिवार्य नहीं रही, तो आपकी नैतिकता को भी स्थान न रहा। यही मार्क्स व लेनिन ने किया। शोषण को समाप्त करने का उन्होंने एक मार्ग खोजा और उस पर श्रद्धा-विश्वास व लगन के साथ चले। तब नैतिकता उनका मार्ग क्यों रोके और उन्हें पथ-भ्रष्ट क्यों करे ?

दो मोटरें

—मार्ग पर चलने की दो विधियाँ हैं। मान लो, दो मोटर-गाडियाँ हैं, जिनमे एक पर ड्राइवर है, दूसरे पर नहीं है। पहली गाडी एक ढग से चलेगी, क्योंकि ड्राइवर के सामने यह प्रश्न होगा कि क्या दायें-बायें मोडे, वेग को अधिक करे इत्यादि। दूसरी गाडी के लिए कोई प्रश्न होगा ही नही। तो क्या हम यह मानें कि दूसरी गाडी ज्यादा और अच्छा सफर तय करेगी ?

विवेक-शून्य श्रद्धा

तो यह ड्राइवर मनुष्य के अन्दर का विवेक है। श्रद्धा-विश्वास मे उस विवेक को भस्म कर दिया जाय, यह सम्भव नही है। जब यह किया जाता है, तो एक ऐसी कट्टरता को जन्म मिलता है, जो स्वय अपने को हराती है।
हराती इसलिए है कि उसमे लोच व लचक नही रह जाती है, जो जीवन का लक्षण है। पत्थर इसीलिए टूट जाता है कि वह कठोर है। हवा को किसी तरह नही तोडा जा सकता है।

प्रश्न श्रद्धा की खुराक

सच्ची श्रद्धा मताग्रह का रूप कभी नहीं लेती। वह श्रद्धा, जो प्रश्न को बन्द कर दे, सच्ची नही। बल्कि प्रश्न तो श्रद्धा की सही खुराक है। उसे बराबर प्रश्न का

पोषण देकर पुष्ट करते रहें, तभी वह श्रद्धा स्वस्थ व समर्थ रहती है, अन्यथा सूखकर कड़ी पड़ जाती है और जड़ हो जाती है।

मताग्रह टकराकर टूटेगा

जो नाक की सीध सीधा चलेगा वह टकराकर जरूर टूटे और गिरेगा। वह विवेक से शून्य हो जायगा जैसे दूसरी मोटर-गाड़ी ड्राइवर से शून्य थी।
मत जब हमको भर देता है तो हम अपने मे इतने बेसुध हो जाते हैं कि दूसरे से टकराये बिना नही रहते। दूसरा भी अपने मत मे बेसुध हो तब तो बात ही क्या है। तब टक्कर ही टक्कर रह जायगी गति कोई न कर पायेगा। इसका आशय यह कि हममे और हमारे मत मे दूसरे के लिए अवकाश हो, तभी हम चल सकते और गति कर सकते हैं। गति अन्धी हो नही सकती। अन्धा इंजन चल सकता है, जब कि नीचे पटरी बिछी हो। वहाँ तक तो चलो विश्वास से दिशा का निर्देश हो जाता है जैसे रेल की पटरी से इंजन का मार्ग बन जाता है। लेकिन ड्राइवर की अर्थात् विवेक की तब भी जरूरत रहती ही है।

मार्क्स-लेनिन विवेकशून्य न थे

मार्क्स और लेनिन के मार्ग मे कर्तव्याकर्तव्य के प्रश्न नही खड़े हुए और विवेक की आवश्यकता नही हुई, यह समझना सही नही है। बल्कि कहा जा सकता है कि जिस कदर मे श्रद्धा ने उनके विवेक को जाग्रत लोकशील और कर्तव्यशील बनाये रखा वही तक उनको सफलता मिली। ऐसे अहम्मन्यों को आप-हममे से कौन नही जानता है जो अपने से ही भरे-भरे रहते हैं जिसीसे भी वे चल नही पाते और अन्तत: विफल होते हैं। उनके अहंकार को विश्वास कहना कठिन है।

मूढ़ात्मा

प्रश्न ही प्रश्न लेकर शंकाशील बने रहने का समर्थन यहाँ आप न मानें। संशयात्मा तो विनाश पाता है। लेकिन मूढ़ात्मा की गति उससे भिन्न नही होती और मूढ़ात्मा वह है, जो जड़ मे बन्द होता है।

नैतिक द्वन्द्व गति-उन्नति के लिए अनिवार्य

नैतिक द्वन्द्व क्यों आवश्यक है, यह आपने पूछा है। उत्तर है कि गति और उन्नति के लिए आवश्यक है। गति की प्रक्रिया ही द्वन्द्वात्मक है अन्यथा सचेत गति सम्भव नहीं है।

को अपने से दीन-हीन के ऊपर बैठा हुआ पाता है। किसी स्तर पर भी कोई उन नीचे और ऊपर के दोनों दबावों से मुक्त नहीं है। नेता चोटी पर दीखता है, लेकिन अनुयायियों का कितना दबाव उस पर है, यह वही जानता है। वर्गों के बीच में ही इस हिंसा-तत्त्व को विराजमान बनाकर देखना मानो उसे अपने से दूर डालकर देखना है। इस दर्शन से सम्भव हो सकता है कि शोषण मिटाने की चेष्टावाला दल या व्यक्ति स्वयं शोषण का कारण बन निकले। अधिकांश ऐसा ही हुआ है। अमुक दमित वर्ग क्रान्ति के जोर से जब शास्ता-वर्ग बन बैठा है, तब मालूम हुआ है कि यहाँ शोषक बन गया है।

शोषण अधिक व्यापक

वर्गों में और उन स्तरों में ही शोषण नहीं है, बल्कि उससे अधिक व्यापक है। मानो परस्पर सम्बन्धों की प्रणालियों में, समाज के सारे ताने-बाने में वह रचा हुआ है। इकाई वर्ग या श्रेणी को मानना राजनीति के प्रयोजन के लिए काफी हो, विचार और विज्ञान के लिए काफी नहीं है। वह इकाई सर्वथा ठहरायी और मानी हुई है और नित्यप्रति के व्यवहार में उसका सामना लगभग नहीं होता है। जो प्रत्यक्ष और अनुभूत है, वह वैयक्तिक धरातल पर है और व्यक्तिगत सम्बन्धों के द्वारा प्रकट होता है। उनके ऊपर होकर जिन इकाइयों की धारणा हम जमाते और जिन पर फिर अपने सामुदायिक व्यवहार को चलाते हैं, वे सापेक्ष धारणाएँ होती हैं। उनमें सत्यता को पकड़ और बाँध रखने की चेष्टा से हित के बजाय अहित होने लगता है। सत्यता उनकी सापेक्ष है और उस अपेक्षता और मर्यादा को कभी भूलना नहीं चाहिए।

शोषण हिंसा है

अहिंसा को परम धर्म अंगीकार कर लेने से लोक-जीवन की यह आवश्यकता अनायास सिद्ध हो जाती है। तब श्रेणी और वर्ग की धारणा भी मदद कर जाती है, नुकसान नहीं कर पाती। शोषण के लिए शुद्ध शब्द हिंसा है। वह इतना सूक्ष्म और व्यापक तत्त्व है कि अमुक राजनीतिक क्रान्ति या दूसरे तरह के प्रोग्राम से उसका निदान व समाधान हो जायगा, यह मानना अपने को सिर्फ बहका व भरमा लेना है। बड़ी कठिन और दुर्द्धर्ष और जीवनव्यापी साधना है यह हिंसा से लड़ना और अहिंसा की मानव-सम्बन्धों में प्रतिष्ठा करना। जब उस पर चलेंगे, तो मालूम होगा कि शोषण को समाप्त करना कोई निरा आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है, बल्कि उसके अंग रूप में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इत्यादि भी अनिवार्य होते हैं।

गति पशु मे देखते हैं, मशीन मे देखते है। दोनों का वेग दर्शनीय होता है। पीछे दौड़ते बाघ और आगे-आगे दौड़ते हिरन को तटस्थ होकर देखें, तो चित्र मनोरम लगेगा। लेकिन जब मन मे उदित होता है कि बाघ हरिण 'पर' दौड़ रहा है, हिरण बाघ 'से' दौड़ रहा है, तो उस गति का सौन्दर्य सहसा लुप्त हो जाता है और आनन्द समाप्त हो जाता है। कारण, गति वह अन्धी है, गुणहीन है, विवेक का प्रकाश वहाँ नही है।

कमान से छूटे तीर को लीजिये, बन्दूक की गोली को लीजिये, आज के प्रक्षेपणास्त्रों को लीजिये। इस गति के वेग का भला आदमी क्या मुकाबला कर सकता है? पर इस गति मे सच ही स्वय मे क्या किसी उन्नति को भी देखा जा सकता है?

नही। क्योकि उनके पीछे नैतिक द्वन्द्व की व्यथा नहीं है। आदमी सदियो की चेष्टा और साधना से मानव-चेतना को बाल-भर भी ऊँचा उठा जाता है, तो इसको हम सस्कृति की उन्नति कहते हैं। वेग यद्यपि वहाँ नही है, और मनुष्य इस जगह पशु से कितना पिछडा है, फिर भी जो उसे उन्नति मानना पडता है, सो इसलिए कि वह घोर नैतिक सघर्ष मे से निष्पन्न हुई होती है।

मानवोत्कर्ष है ही वह, जो नैतिक द्वन्द्व की प्रक्रिया मे से फलित होता है। वही उपलब्धि कालक्रम मे ठहरती है। नहीं तो आवेगजन्य झझावात मानव-इतिहास मे आया ही करते हैं।

नीति-विमुख चेतना प्रबुद्ध नहीं

अपनी ही गली में घटी कल की घटना को लीजिये। मालूम नही झगडा शुरू कैसे हुआ था। पर इधर मुँह से गाली निकली, उधर आदमी जो आठ-दस कदम आगे बढ चुका था, पलटकर आया और पटापट गालीवाले को उसने पीटना शुरू कर दिया। अब यह भी हो सकता था कि व्यक्ति दूसरा होता, वह गाली सुनता, ठहरता, धीमे चलकर आता और मुसकराकर परस्पर में आयी सलवटो को निकालकर मैत्री का वातावरण बना देता। इन दोनो मे पहले स्थान पर तेजी देखी जा सकती है, दूसरे मे मन्थरता। लेकिन मनुष्यता की सार्थकता दूसरी जगह है।

नैतिक को डुबा देनेवाली चेतना को प्रबुद्ध चेतना न कहकर आविष्ट चेतना कहना होगा। असल मे वह विवेक-विमुख होने से दमित दशा होती है। मुक्तता का सहज भाव वहाँ होता ही नही। या तो क्रोध होता है या उपेक्षा होती है।

मानव का खण्डन न हो

असल मे भयकर सकट यही है। आदर्श और सिद्धान्त के नाम पर हम अपने मानस

को ऐसी जगह पहुँचा देते हैं कि मानव का उत्पीड़न हमें जँचता नहीं। नैतिक आवश्यक इसलिए है कि मानव का शोषण और उत्पीड़न न हो। जिस गति से हम मानवोत्पीड़न कर जाते हों, वह किसी भी मत-सिद्धान्त अथवा आदर्श के अनुसरण में हो, मानवोचित नहीं है, यह स्पष्ट हो जाना चाहिए।
मार्क्स का वाद निश्चित रूप से अपने वादियों को उस बारे में असावधान बल्कि उदासीन और उद्यत बनाने का काम करता है। यह खतरा जहाँ से भी हो, उससे बचना होगा।

शोषक-शोषित

४७. आर्थिक, बौद्धिक, मानसिक एवं आत्मिक जीवन के सभी स्तरों पर मानव मुझे दो वर्गों में बँटा दीखता है—शोषक एवं शोषित। क्या आप इसे तथ्य नहीं मानते? इन वर्गों के उन्मूलन के लिए और वर्गहीनता की स्थापना के लिए आप क्या उपाय प्रस्तावित करते हैं?

शोषण की जड़

—अरसा से मुख्यतः मानव-समाज स्त्री और पुरुष नाम के दो वर्गों में बँटा हुआ है। असल में, हर व्यक्ति में दोनों तत्त्व मौजूद हैं। उनके अनुपात की अधिकता से स्त्री अथवा पुरुष हुआ करते हैं। अब मनोविज्ञान में दो शब्द चलते हैं—Sadism और Masochism। इन दोनों वृत्तियों के बीज भी हर व्यक्ति में हैं। हमारे काम के लिए, अर्थात् विचार के अवगाहन के लिए, इस मौलिक वर्ग भेद से चलना अधिक विश्वसनीय होगा।
मान लीजिये शोषक माने गये वर्ग का एक व्यक्ति है, समझिये पूँजीपति। उसका परिवार पूरा-का-पूरा शोषक-वर्ग का ठहरता है। लेकिन हमें क्या मालूम कि उस घर की हालत क्या है? वहाँ पति द्वारा पत्नी का शोषण बड़े मजे से चल रहा हो सकता है बल्कि होता ही है। तथ्य यह है कि जब इस 'शोषण' को सामाजिक वर्गों में फैलाकर हम देखते हैं, तो परिणाम राजनीतिक कर्म होता है, अर्थात् वर्ग विग्रह की बुनियाद पड़ती है। उस तरह शोषण की जड़ हाथ आ जाती है, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ।

श्रमिक भी शोषक

सच यह कि आदमी अनुभव से उतरे, तो वह ठीक तरह अपने को किसी वर्ग में रख नहीं सकेगा। लखपति करोड़पति का बोझ अपने ऊपर अनुभव करता है और अपने

को अपने से दीन-हीन के ऊपर बैठा हुआ पाता है। किसी स्तर पर भी कोई जन नीचे और ऊपर के दोनो दबावो से मुक्त नहीं है। नेता पार्टी पर दीखता है, लेकिन अनुयायियो का कितना दबाव उस पर है, यह नहीं जाता है। वर्गों के रूप मे ही इस हिंसा-तत्त्व को विराजमान बनाकर देखना मानो उसे अपने से दूर डालकर देखना है। इस दर्शन मे सम्भव हो जाता है कि शोषण मिटाने की चेष्टावाला दल या व्यक्ति स्वयं शोषण का कारण बन निकले। अधिकांश ऐसा ही हुआ है। अमुक दलित वर्ग क्रान्ति के जोर से जब शासक-वर्ग बन बैठा है, तब मालूम हुआ है कि वही शोषक बन गया है।

शोषण अधिक व्यापक

वर्गों मे और उन स्तरो मे ही शोषण नही है, बल्कि उससे अधिक व्यापक है। मानो परस्पर सम्बन्धो की प्रणालियो मे, समाज के सारे ताने-बाने मे यह रमा हुआ है। इकाई वर्ग या श्रेणी को मानना राजनीति के प्रयोजन के लिए काफी हो, विचार और विज्ञान के लिए काफी नही है। वह इकाई सर्वथा ठहरायी और मानी हुई है और नित्यप्रति के व्यवहार मे उसका सामना लगभग नही होता है। जो प्रत्यक्ष और अनुभूत है, वह वैयक्तिक धरातल पर है और व्यक्तिगत सम्बन्धो के द्वारा प्रकट होता है। उनके ऊपर होकर जिन इकाइयो की धारणा हम जमाते और जिन पर फिर अपने सामुदायिक व्यवहार को चलाते हैं, वे सापेक्ष धारणाएँ होती हैं। उनमे सत्यता को पकड और बाँध रखने की चेष्टा से हित के बजाय अहित होने लगता है। सत्यता उनकी सापेक्ष है और उस अपेक्षता और मर्यादा को कभी भूलना नही चाहिए।

शोषण हिंसा है

अहिंसा को परम धर्म अंगीकार कर लेने से लोक-जीवन की यह आवश्यकता अनायास सिद्ध हो जाती है। तब श्रेणी और वर्ग की धारणा भी मदद कर जाती है, नुकसान नही कर पाती। शोषण के लिए शुद्ध शब्द हिंसा है। वह इतना सूक्ष्म और व्यापक तत्त्व है कि अमुक राजनीतिक क्रान्ति या दूसरे तरह के प्रोग्राम से उसका निदान व समाधान हो जायगा, यह मानना अपने को सिर्फ बहका व भरमा लेना है। बडी कठिन और दुर्द्धर्ष और जीवनव्यापी साधना है यह हिंसा से लडना और अहिंसा की मानव-सम्बन्धो मे प्रतिष्ठा करना। जब उस पर चलेंगे, तो मालूम होगा कि शोषण को समाप्त करना कोई निरा आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नही है, बल्कि उसके अंग रूप मे ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इत्यादि भी अनिवार्य होते हैं।

मिटाना हिंसा को है

अमुक वर्ग या श्रेणी का उन्मूलन ऊपर की बात के बाद आपको आवश्यक नहीं दीखेगा। उन्मूलन जब हिंसा का होता है तो वह किसी का नाश नहीं करता है, सिर्फ उनके सम्बन्ध में पड़े हुए जहर को ही समाप्त करता है। जहर मिटने पर अन्तर और भेद भी प्यारा हो जाता है। अन्तर ही बीच में अगर न हो, तो स्नेह और प्रेम के सञ्चार के लिए भी अवकाश नहीं बचता है। प्रेम के नाते बड़ा-छोटा और ऊँच नीच भी यदि हो तो अखरेगा नहीं बल्कि जीवन को समृद्ध और सम्पन्न करता जान पड़ेगा। माँ को कैसे इससे रोका जा सकता है कि वह बेटे की अपने से ज्यादा चिन्ता करे और उसके सुख के लिए अपने को निछावर करती रहे। प्रेम की अन्यथा तृप्ति नहीं है, तृप्ति नहीं है। प्रेम में हम अपने को नीचे और प्रेम-पात्र को ऊँचे पर ही रखकर सन्तोष पाते हैं। इस तरह किसीका भी उन्मूलन आवश्यक नहीं ठहरता है। बल्कि एक भी विविधता व विभिन्नता को खत्म करना जगत् की शोभा को कम करने जैसा हो जाता है। अहिंसा का आधार यही है। अनिष्ट हिंसा है, मिटाना उसको है। दुश्मनी मिटाने के लिए जब-जब दुश्मन को मिटाया गया है, तो पता चला है कि दुश्मनी बढ़ी है, मिटी जरा भी नहीं है। मिटाने की उस इच्छा में ही भ्रान्ति है, दोष है। अधूरापन है उस दृष्टि में जो रोग के मूल तक नहीं जाती सिर्फ ऊपरी चिह्नों को मिटाने में ही गौरव ले लेती है। इतिहास में आप देखियेगा कि ऐसी अधूरी इच्छा को लेकर चलनेवाले क्रान्तिकारी कुछ ही दूर चलने पर फिर पीछे भोगवादी अवसरवादी शासनवादी दुनियादार हो गये हैं। तुलना में जिसकी क्रान्ति की आग मृत्यु के क्षण तक उसी तरह जलती रही है, उसको देखिये और समझियेगा तो यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

वर्गहीनता क्या है?

वर्गहीनता से आपका क्या आशय है? क्या यह कि सभी सब लोग एक ही काम करें एक-से मकानों में रहें एक-सा खाना खायेंगे? तो यह चित्र मनोरमता के लिए हो सकता है सम्भवता के लिए नहीं। स्पष्ट है कि जीवन के विविध व्यापार रहेंगे। सच्ची वर्गहीनता में किसी व्यक्तित्व की सम्भावनाएँ नष्ट न होंगी और सब अपनी विलक्षणता में खिलने का अवसर पायेंगी। वहाँ जो होगा वह यह कि पैसा रहा भी तो उसमें व्यवहार को सुगम करने की ही शक्ति होगी, उससे अधिक किसी अभाव या अभाव को पुष्ट करने की शक्ति नहीं रहेगी। इसी प्रकार राज्य या शासन यदि होगा तो व्यवस्था की सुविधा जितना ही होगा, दमन वह नहीं जायेगा। हिंसोपकरण जैसे अस्त्र-शस्त्र-सैन्य इत्यादि के सहारे की जरूरत उसे न होगी।

हिंसा की शक्ति और उसके साधन उतनी ही मात्रा मे जरूरी होते हैं, जितना समाज के पास अहिंसक शक्ति का अभाव होता है। वर्गहीन समाज वह समाज होगा जो प्रेम की शक्ति से चलेगा और किसीको मानने का अवकाश न होगा कि वह शोषित या शोषक है। सब परस्पर पूरक अनुभव करेंगे और परस्पर की पूर्णता में सहायक होंगे। इस समाज को वर्गहीन संज्ञा देकर यह मानना कि कोई विविधता वहाँ कम होगी, वर्गहीनता को न समझना है। आज का शासक या शोषक-वर्ग क्या चैन से रहता माना जा सकता है? चैन से यदि वह रह सकता है तो तभी जब शेष सारा समाज उसके प्रति प्रीति या विश्वास रखे। और यदि यह प्रीति या विश्वास हो, तो क्या शासक अफसर जैसा रह जायगा? वह पूरी तरह सज्जन बना हुआ दीखेगा।

कहने का आशय यह कि वर्गहीनता के लिए वर्गों को मिटाना नहीं है, बल्कि सम्बन्धो मे उस सहयोगिता और स्वस्थता को लाना है जिसमे वर्ग-चेतना ही अनावश्यक हो जाय। वर्ग-चेतना जैसी चीज जहाँ अकारण और असम्भव होगी उसी समाज को वर्गहीन कहा जायगा।

मानव-प्रकृति और वर्ग-भेद

४८ आपके उत्तर से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आप सामाजिक वर्गों एव विभेदों को मानव-प्रकृति मे निहित परस्पर विरोधी वृत्तियों का व्यक्त परिणाम मानते हैं। पर जो मानव-स्वभाव की वृत्तियों को ही सामाजिक वर्ग-भेदों का परिणाम देखते हैं, उनके लिए हिंसात्मक क्रान्ति का पोषण अनुचित क्यों ठहराया जाय?

—अन्दर और बाहर के बीच कौन पहले है कौन पीछे, कौन कारण है कौन फल, इसके विवाद मे पडना अनावश्यक है। वह ऐसी तात्त्विक चर्चा है, जिसे जीवन में सहज अनावश्यक किया जा सकता है। जिसकी जैसी श्रद्धा हो ठीक है। आवश्यक यह है कि श्रद्धा से गति निकले और वे गतियाँ परस्पर को विफल न करें।

परिस्थिति और मानव-मन

हिंसक क्रान्ति करनेवालो का अधिकार कोई चाहे तो भी कम नही कर सकता है। कम इसलिए नहीं कर सकता कि उन्हें एक अन्दर की विवशता चलाती है। लेकिन हिंसक क्रान्ति हिंसा को दूर नही कर सकती, इसको बताने के लिए बड़े तर्क की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परिस्थिति से चेतना बनती और उपजती है, यह मान भी लो, तो परिस्थिति क्या सिर्फ स्थान-भेद का नाम है? 'अ' ऊपर है, 'ब' नीचे है, क्या 'अ' को नीचे लाने से और 'ब' को ऊपर कर देने से मान लिया जाय कि परि-

स्थिति बदल जाती है? मैं मानता हूँ कि परिस्थिति का सार-सत्य यह नहीं है कि कौन कहाँ है, उसकी वास्तविकता तो इसमें है कि जो-जो जहाँ हैं, उनके बीच क्या प्रवहमान है। उस समूची परिस्थिति का परिवर्तन स्थानान्तरण मात्र से नहीं हो जाता है। राजनीतिक क्रान्ति उसको महत्त्व देती है और जहाँ-जहाँ जब-जब क्रान्ति राजनीतिक ही रह गयी है, वहाँ वह होने के साथ ही बिगड़ भी गयी है। टिकी है तो तब जब वह राजनीतिक से आगे सामाजिक-आर्थिक होने की ओर बढ़ी है। अर्थात् केवल स्थानान्तरण से आगे उसने मानव-सम्बन्धों पर ध्यान दिया और उसके पहलू को छुआ है। मानव-सम्बन्धों की भूमिका पर जब भी आप उतरेंगे तो देखेंगे कि स्थान का विचार ही पर्याप्त नहीं है, मनोभावों का भी विचार आवश्यक है। मानो मन में पड़ा हुआ हेतु तब उतना निरर्थक नहीं रह जाता कर्म के द्वारा मन की प्रेरणा का बाहर की स्थिति के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। कर्म कोई ऐसा हो ही नहीं सकता जो केवल स्थिति-परिस्थिति से बन जाय और दूसरे सिरे पर मानव-मन से *उसका सम्बन्ध जाये नहीं। हर इतिहास हर सिद्धान्त हर मानव मानवों के माध्यम* से सम्पन्न होता है और इसलिए मानव-मन के साथ उसका सम्बन्ध आता ही है। परिस्थिति से चलाकर किसी तर्क को नीति से विमुक्त मान लिया जा नहीं सकता और चलाते हैं तो खतरे से खाली नहीं हो सकता।

हिंसा और अहिंसा व्यवहार में

हिंसा और अहिंसा के विचार को तात्त्विक भूमिका पर हम न लें। वहाँ तो उसे टाला जा सकता है। उस टालने से नुकसान भी कुछ नहीं होता। लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में गर्भित हिंसा और अहिंसा की बात को तात्त्विकता में उलझाकर उस सम्बन्ध में उदासीन व निरपेक्ष हो जाते और हिंसा को उचित और अनिवार्य ठहरा लेते हैं, तो एक तरह हम तर्क का सहारा लेते और पूरी तरह सचेत और जाग्रत होने से बचते हैं। अपने प्रति और इसलिए दूसरों के भी प्रति अन्याय किये बिना हिंसक कार्यक्रम को अपनाया और चलाया नहीं जा सकता। बहुतेरे ग्रन्थ हैं, जिनमें पूरी सहानुभूति से ऐसी कार्य-योजनाओं को चित्रित किया गया है। उनमें, हरएक में यह दीखे बिना नहीं रहता कि किस प्रकार क्रान्तिकारियों को अपने प्रति अन्याय करते हुए चलना पड़ता है। नैतिक से व्यक्ति मुक्त नहीं है। हिंसक कार्यक्रमों में जब वह चलता है, तब मानो उसे हृदय मुक्त होकर ही चलना पड़ता है। परिणामतः विभक्तता का शिकार होकर अन्त में उनके व्यक्तित्वों को टूटना और बिखरना पड़ जाता है। ऐसा नहीं भी होता तो वे बेहद कस जाते हैं और भीतर कसमसाते रहते हैं।

रहो, हिंसा के उपाय से हासिल होनेवाली शान्ति या मुक्ति और नाश का द्वार मैं नहीं मान सकता हूँ।

आक्रान्ता-आक्रान्त

४९ यदि शोषक और शोषित की जगह आक्रान्ता व आक्रान्त को रख दिया जाय, तो मैं समझता हूँ समस्या में ऐसी तात्कालिकता का प्रवेश हो जाता है, जिसका समाधान अहिंसा के पास नहीं रहता और मनुष्य के लिए शस्त्र उठाने के सिवा और कोई मार्ग नहीं रह जाता। गांधीजी ने शोषण का सामना तो किया, आक्रान्ता का सामना करने का मौका उनको नहीं मिला। इस स्थिति पर आपका क्या कहना है?

—शोषण हिंसा का व्यापक व सूक्ष्म स्वरूप है। उसकी चर्चा तो ऊपर आ ही गयी है। आक्रमण में स्थूल रूप में ही हिंसा दीखती है। क्या आपके प्रश्न का आशय यह पूछना है कि आक्रमण का जवाब अहिंसा से कैसे दिया जाय?

गांधी पर आक्रमण

गांधीजी को चर्चा से बाहर भी रख सकते हैं। यों आक्रमण तो उन पर कितने ही हुए, वचन से हुए, लाठी से हुए, गोली से हुए। इन सबके उत्तर में गांधीजी ने जो किया, वह उनकी जीवनी से जाना जा सकता है। कहा जाता है कि अन्त में गोली खाने पर उन्होंने हाथ जोड़कर 'हे राम' कहा। ईसा के बारे में भी कुछ वैसा ही सुना-पढ़ा जाता है। लेकिन इन विशिष्ट व्यक्तियों को लेने से प्रश्न को विशेषता के नाम पर कुछ अपने से दूर कर दिया जाता है। ऐसे वह सुलझता नहीं, सिर्फ हट जाता है।

आक्रान्त की मनःस्थिति

आक्रान्ता से सिर्फ आक्रमण करते हुए व्यक्ति का चित्र मन में उठता है। मानो आक्रान्त और आक्रान्ता ये दोनों परस्पर सम्मुख और संयुक्त आते हैं तो तत्क्षण आक्रमण की क्रिया और क्रम से। पर वास्तव में ऐसा नहीं होता है। आक्रान्त व आक्रान्ता के सम्बन्धों का सदा कुछ इतिहास हुआ करता है। पहले से उनमें सम्बन्ध चले आते हैं। इन सम्बन्धों में नाना प्रकार की उलझनें हो सकती हैं। अक्सर तो यही होता है, कभी कभी यह भी हो सकता है कि सम्बन्ध का इतिहास कोई नहीं है, अकस्मात् आक्रमण हुआ है। मान लीजिये कि रेल के डिब्बे में आप अकेले हैं और सिर्फ लूट की इच्छा से कोई एकदम अपरिचित आप पर हमला करता है। इन अनेक उदाहरणों में आपकी

प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है। यह निर्भर करती है पहले तो इस बात पर कि आप क्या हैं, यानी आक्रान्त जिसको कहा गया है, वह क्या है? फिर वह निर्भर करती है आक्रान्ता के साथ के उसके सम्बन्ध पर।

मनुष्य में विचारशीलता है

अहिंसा के पास हिंसक आक्रमण का कोई बचाव नहीं है, यह मान लेना शक्ति को हिंसा में बन्द कर देना होगा। लेकिन हम देखते हैं कि प्रकृति में मनुष्य जीता है, सिंह हारा है। आक्रमण सिंह करता है और वह उसी एक विधि को जानता है। मनुष्य यदि शेर पर विजय पाता है तो इसीलिए कि वह आक्रान्ता नहीं है, उससे कुछ अधिक है। शेर को खत्म करने के अलावा भी शेर के बारे में मनुष्य कुछ सोच सकता है। यह अतिरिक्तता ही मनुष्य का बल है और यह निश्चय ही हिंसा का बल नहीं है। मनुष्य के पास केवल हिंसा का बल रह जाता अगर वह शेर से सिर्फ डर ही सकता। हिंसा वहीं है और उतनी ही है, जितना डर है। मनुष्य शेर के सम्बन्ध में डर को जीत भी पाता है। परिणाम यह है कि वह शेर को लेकर सरकस में खेल भी दिखा सकता है। सरकस के खेल से आगे की भी कहानियाँ हैं। वास्तव घटनाएँ हैं, जब मनुष्य ने शेर को मारने की भाषा में सोचा ही नहीं है, बल्कि साधकर उसे अपना साथी बना लिया है।

प्रेम की निर्भयता

प्रश्न में हम यह मान लेते हैं कि बचना जरूरी है, मृत्यु से डरना जरूरी है। इस डर के नीचे होकर प्रश्न का विचार करने से जान पड़ता है कि मुकाबले के लिए हिंसा का बल अर्थात् प्रत्याक्रमण ही उपाय रह जाता है। डर के रहते सचमुच उपाय नहीं है और उसे अपनाने में झिझक नहीं होनी चाहिए। वह डर और भी नपुंसक और निकम्मा है, जिसमें से हिंसा की हिम्मत तक नहीं निकलती। निडरता तो बहुमूल्य है ही लेकिन निडरता की श्रेणियाँ हैं। सबसे पक्की निडरता प्रेम में से आती है। पार्श्व-ईसा की कहानियों में निडरता का यही रूप है। वह कोमल रूप है। उद्धतता का उसमें रंच भाव नहीं है। उससे उतरकर जो निडरता दीखती है, वह कड़ी पड़ती जाती है। कहा जा सकता है कि उसमें उसी सूक्ष्म मात्रा में प्रेम की जगह अप्रेम है, अथवा दूसरे शब्दों में मद मिलता जाता है। इस सिरे पर प्रेम की निर्भयता और दूसरे सिरे पर भय की कातर कायरता के बीच में नाना प्रकार के व्यवहार हैं, जो आक्रमण के उत्तर में सम्भव बन सकते हैं।

निडरता का मूल अहिंसा में

आक्रमण डर में से होता और डर पैदा करने के लिए होता है। यह स्पष्ट है कि डर ही है जो उसे जीत या छुड़ा नहीं सकता। निडरता में ही कुछ जवाब दिया जा सकता है, जो आक्रमण को जवाब जैसा मालूम हो। हिंसक प्रत्याक्रमण में भी कुछ अंश में निडरता का समावेश होता है। बारीकी से देखेंगे, तो मालूम होगा कि यह निडरता अहिंसा में से आती है। डर घोर होता है, तो कायर बनता है। नीचे इसमें कुछ जान होती है, तो वह डर को छोड़कर फिर उसे हिम्मत के रूप में आगे ठेलती है। यह जान मूल में प्रेम है।
स्त्री यों कायर होती है, लेकिन बच्चे की ममता को लेकर वार का जवाब देने की दिलेरी उसमें आ जाती है। बच्चे की जगह व्यक्ति में कोई दूसरा प्रेम भी काम कर रहा हो सकता है, अर्थात् कुछ ऐसी वस्तु, जिससे व्यक्ति को अपनी जान की परवाह तुच्छ बन जाती और मौत की बाजी आसान हो जाती है।

लोभ-प्रेरित आक्रमण

आक्रमण लोभ में भी होते हैं। छोटे-मोटे नहीं, बड़े-से-बड़े इतिहास के आक्रमण तक लोभ में हुए हैं। विजेता जिन्हें कहा जाता है वे छोटी प्रेरणाओं से नहीं चलते, महत्त्वाकांक्षाएँ उन्हें चलाती हैं। यहाँ तक कि यही नहीं कि भय और लोभ उनमें नहीं दीखता, बल्कि निर्भयता और निर्लोभ दीख आता है। अलेक्जेंडर के पास, चंगेजखाँ के पास क्या कमी थी? किसका भय या किसका लोभ था कि वे दूर-दूर तक धावा बोलते चले गये? उनकी जय-यात्राओं को भय-लोभ में जोड़ना मुश्किल हो जाता है। ओज और तेज है, शौर्य और वीर्य है, जो उन्हें आक्रान्ता बनाता है। महाहिंसा की बाढ़ पर मानो वे ऐसे चढ़े हुए चलते हैं कि हिंसा उन्हें छूती ही न हो! वे जैसे इतिहास से ही प्रेरे हुए हों और पराशक्ति से चल रहे हों!

भय और हीनभाव

मैं उन बड़े उदाहरणों के विश्लेपण में नहीं जाऊँगा। उनको अनुभूति द्वारा मैं पकड़ नहीं पाता हूँ। लेकिन लोभ में भय का अंश रहता है और महत्त्वाकांक्षा के नीचे अहं का हीनभाव शायद दुबका हुआ देखा जा सकता है। आवश्यक नहीं है कि यह हीनभाव व्यक्तियों को लेकर हो, समष्टि को लेकर भी हो सकता है। महान् चेतनाएँ इसी दबाव के नीचे काम करती हैं, उद्दीप्त पौरुष यहीं से जन्म लेता है और यहीं से महिम्न दिव्यभाव सृष्टि पाता है।

पहले के प्रतीक हैं रावण तो दूसरे भाव की प्रतिमा हैं राम। समष्टि के प्रति व्यक्ति में यह जो अगाध व्यवधान है उसको प्रेम और भक्ति से भर पाता वह भय से उबर जाता है। परिपूर्ण भक्ति में भक्त स्वयं में भगवद्-रूप होता जाता है। इस अन्तराल को भरने के लिए प्रेम का प्रसाद जिसके चित्त को प्राप्त नहीं होता वह मानो दमित और भयभीत अपने अहंकार को लेकर इधर से उधर दहाड़ता और पछाड़ता हुआ दौड़ता फिरता है। जाने वह क्यों लड़ रहा है और किससे लड़ रहा है? मानो समय की और विस्तार की अनन्तता उससे झेली नहीं जाती। डर होता है और वह उस डर में ही वे सारे उत्पात करने को विवश हो जाता है।
सूक्ष्म क्रोध और सूक्ष्म भय होता ही है उसमें जो अकारण आक्रमण करता दीखता है। इस हिंसा में उसे कोई हिंसा दीखती ही नहीं जैसे वह स्वप्न में चलता है और व्यवहार की विवशताओं से नहीं उत्तीर्ण हो सका रहता है।

अहिंसा यहाँ विफल

इतिहास की ऐसी निर्वैयक्तिक शक्तियों के आक्रमण से बचने का उपाय कोई आत्मिक प्रत्याक्रमण या बचाव न हो सकता है, न हुआ है। ऐसा लगता है कि नैतिक शक्तियाँ ऐतिहासिक के आगे बेकार हो गयी हैं और यह अनर्थ नहीं है।

हिंसक महाशक्तियों की पराजय

इन ऐतिहासिक महाशक्तियों को प्रकट करनेवाले व्यक्तियों के तल में जो अपनी ही अनन्तता का डर, और अपने अहं की अनन्तता का क्षोभ विद्यमान होता है, उस कारण उन्हें अन्त में हारना भी पड़ता है। लोग कहते हैं, भाग्य से वे हारते हैं। पर शायद वे स्वयं अनुभव करते होंगे कि वे अपने से ही हारते हैं। जय उनके लिए जय जैसी रह नहीं जाती। अहं की सीमितता उन्हें काटती और खाती रह जाती है और चारों ओर का वह अगाध विस्तार उन्हें खोखला-सा मालूम होता है। वह हार उनके अन्दर बैठी रहती है और उसी से वे लड़ा करते हैं। लेकिन अलेक्जेंडर के सामने अगर आ जाता है डायोजिनिस जिसमें चाहे स्नेह न हो पर भय या लोभ तो और भी नहीं होता तो अपनी ही हार क्षण के लिए उन्हें रस और सन्तोष-सा दे जाती है।
अलेक्जेंडर कहता है "मैं वह सम्राट् सामने हूँ। बोलो क्या चाहते हो?"
डायोजिनिस कहता है "यह कि बस एक तरफ खड़े हो। धूप छोड़ दो।"
अलेक्जेंडर स्तब्ध रह जाता है। जैसे एक अनुभूति भीतर तक उसे कौंध जाती है।

५

व्यक्ति चित् तन्त्र यन्त्र

१ पूँजीवादी और साम्यवादी इन दो विरोधी समाज-संकल्पों को ध्यान में रखते हुए बतलाइये कि समाज में व्यक्ति का क्या स्थान निश्चित है और समाज के भविष्य में उसका क्या योगदान होना चाहिए ?

दोनों व्यवस्थाएँ मूलतः अभिन्न

—भाई, ये दो कल्पनाएँ हैं। अलग होने की आवश्यकता ने दोनों ओर के समाज-संस्थानों को राज्य-प्रधान बना रखा है। एक में तो पूर्णतर अधिकार राज्य के पास माना जाता है। दूसरे में यह बात उस तरह स्वीकृत नहीं है, लेकिन अधिकांश यह अन्तर विधान के रूप और भाषा का है। पूँजीवादी संस्थान जिसको कहते हैं, उसमें माना जाता है कि व्यक्ति को अवसर है, अपनी सूझ-बूझ से वह काम कर सकता और उसका लाभ रख सकता है। दूसरे साम्यवादी संस्थान में माना जाता है कि काम और लाभ का यह व्यक्तिगत अवसर नहीं है। हाँ मात्रा का थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है, लेकिन सत्तावादी व्यवस्था में अवसर पर सत्ता का नियमन और नियन्त्रण है, तो दूसरी जगह वह नियन्त्रण पूँजी का काम कर रहा होता है। सत्ता की कृपा से इधर जो अवसर मिलता जान पड़ता है, उधर कुछ वैसा अवसर पूँजी के योग से मिल जाता है। सर्वथा स्वतन्त्र अवसर और समान अवकाश जैसी चीज दोनों समाज-व्यवस्थाओं में शायद है नहीं।

समाज के मूल्य मापक

व्यक्ति का स्थान उन दोनों में ठीक कहाँ और कितना है, इस निश्चय के लिए कसौटी यह मान लेनी चाहिए कि किसके श्रम और उत्पादन का मूल्य दोनों में कितना है ? अर्थात् धन का यदि मूल्य हो और इसलिए कार्य के श्रम और चिन्तन की दिशा वस्तु-प्रमुख और उत्पादन-प्रधान हो, तो मुझे प्रतीत होता है कि व्यक्ति का मूल्य धन-परक वस्तु-परक हो जायगा। अर्थात् व्यक्ति उपयोगिता और साधन का स्थान रखेगा साध्य नहीं बनेगा। सामाजिक मूल्य आर्थिक रहेंगे तब तक व्यक्ति केन्द्र में

नहीं आ पायेगा, किनारे रहेगा। व्यक्ति वहाँ सिरे से शुरू और निभ सकेगा। केन्द्र में तन्त्र होगा और व्यक्ति उसमें नन्हा यन्त्र होगा। सामाजिक मूल्य यदि उत्तरोत्तर नैतिक होने की दिशा में बढ़ेगा, तो व्यक्ति केन्द्र का स्थान प्राप्त करता जायगा। तब इस आधार पर संस्थान और व्यवस्था में भी मौलिक परिवर्तन होगा।

व्यवस्था विज्ञान से बहुत पीछे

आज की व्यवस्था का तन्त्र विज्ञान की प्रगति के साथ मेल नहीं खाता। ऐसा मालूम होता है कि विज्ञान आगे बढ़ गया है। व्यवस्था का तन्त्र उसके योग्य नहीं बना वह पिछड़ा और ओछा रह गया है। विज्ञान ने सम्भव यह किया है कि कुछ घण्टों में धरती के इस छोर से उस छोर तक पहुँच जाइये, बात बैठे-बैठे कर लीजिए, हाल-चाल, वृत्त-समाचार सब यहाँ का वहाँ प्राप्त कर लीजिये, इत्यादि। दुनिया को विज्ञान ने हमारे अनुभव तक में सचमुच एक इकाई बना दिया है। श्रद्धा और शास्त्र में ही माना करते थे कि धरती ब्रह्माण्ड का एक कण है। अब यह नित्य अनुभव और नैमित्तिक जानकारी की बात हो गयी है। लेकिन व्यवस्था मानव-जाति की राष्ट्र-राज्य की सर्वसत्तात्मक इकाई की धारणा पर ही खड़ी है। हर राष्ट्र-राज्य के पास अपनी विदेश नीति है, अपना स्वदेश-प्रेम है, अपनी फौज और अपना सिक्का है। विज्ञान ने दुनिया को एक किया है, व्यवस्था ने दुनिया को अनेक में बाँट रखा है।

राष्ट्र-राज्य में व्यक्ति शून्य

पूँजीवादी कहिये या साम्यवादी, राष्ट्र-राज्य की धारणा कहीं भी मन्द नहीं है। राजनीति, कूटनीति और उनके अधीन अर्थनीति उसी आधार पर चलायी जाती है। मनुष्य इस व्यवस्था में वहीं तक स्वतन्त्र है, जहाँ तक राष्ट्र और राज्य की आवश्यकता उसे स्वतन्त्र रखना सह सकती है। लेकिन राष्ट्र-राज्य स्वयं में एक ऐसी धारणा है कि यदि वह आवश्यक बनी रही, तो वह राजकारणीय आवश्यकता फैलती हुई मनुष्य-मात्र को अपने भीतर खींच लेगी। कारण, मिथ्या की आवश्यकता की कोई सीमा नहीं होती, तृष्णा अनन्त होती है। छोटे-से-छोटे देश अपने निर्यात को अधिकतम मात्रा तक बढ़ाना चाहता है कहीं भी रुकना नहीं चाहता। सम्पन्न और धनाढ्य होना राष्ट्र की भाषा में उसे अपना हक और कर्तव्य जान पड़ता है। इन्हीं में से फिर आत्मविस्तार आदि की बातें सूझती हैं। सम्भव नहीं है कि राष्ट्रवादी सम्पन्नता और समृद्धि का आदर्श हमें उधर न ले जाय। उपनिवेशवाद और

गिरावाद उस कल्पना में से फलित होने ही वाले हैं, जिसमें वस्तु प्रमुख और मन गौण है।

परमार्थ अर्थ का आधार बने

जान पड़ता है कि अपनी अर्थ-सृष्टि मानव-जाति को अब परमार्थ-दृष्टि में से प्राप्त करनी होगी यदि उसको विज्ञान की गति के साथ चलना है। नहीं तो विज्ञान के सहारे मानव-जाति अपना आत्मघात ही सुगम बनायेगी, आत्म-निष्पन्नता उसमें से नहीं निकलेगी।

व्यक्ति ब्रह्माण्ड का केन्द्र

मैं व्यक्ति को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मान सकता हूँ। कारण व्यक्ति चित्-रूप है। केन्द्र को चित् में मान लेने से सारा ब्रह्माण्ड सजीव और चिन्मय हो उठता है। वह दिव्य और ईश्वरमय बन जाता है। नर नारायण का प्रतीक हो जाता है। प्रत्येक की सम्भावनाएँ पवित्र बनती हैं और उनके बीच भ्रम का सम्बन्ध अनावश्यक हो जाता है। व्यक्ति और व्यक्ति में घात की बजाय योग का सम्बन्ध होता है और स्पर्धा के स्थान पर सहकार का भाव उपजता है। व्यक्ति को केन्द्र, और व्यक्ति में भी उसके अन्तःकरण को केन्द्र दिखा जानेवाला समाज-दर्शन ही अन्ततः सम्यक् दर्शन सिद्ध होगा ऐसा मेरा विश्वास है। मैं समझता हूँ, इसी को चित्-दर्शन और भगवत्-दर्शन कहना चाहिए।

व्यक्ति की दुर्दान्तता

५१ व्यक्ति-चित् को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानने की बात विशुद्ध आदर्श-स्तर पर ही सही हो सकती है, पर व्यवहार-स्तर पर यह युक्ति-युक्त नहीं दीखती। कारण कि मौका मिलते ही अपने क्रोध, मोह, मद अथवा महत्त्वाकांक्षा का आश्रय लेकर व्यक्ति दुर्दान्त हो सकता है और अपनी सत्ता को स्थायी बनाने के लिए वह बुरी चालाकी से नीति-धर्म रीति-रिवाज सबका पूरा उपयोग करता है और सदियों तक अपने चंगुल को मजबूत बनाये रखता है। उसकी यह महत् वृत्ति उसके व्यक्तित्व का उतना ही वास्तविक अंग है, जितना कि दया त्याग, निर्मोह आदि वृत्तियाँ। फिर समाज और तन्त्र के पीछे भी तो व्यक्ति ही दूसरे व्यक्तियों की दुर्बलता और कायरता रोक पाता है। और ऐसा साफ दीखता है कि समाज या तन्त्र के लिये नाम हैं, कर तो व्यक्ति रहा है। ऐसी स्थिति में आप क्या समाधान प्रस्तुत करते हैं?

नही आ पायेगा, किनारे रहेगा। व्यक्ति वहाँ सिर्फ मे तुच्छ और विकल रहेगा। केन्द्र मे तन्त्र होगा और व्यक्ति उसमे नन्हा यन्त्र होगा। सामाजिक मूल्य यदि उत्तरोत्तर नैतिक होने की दिशा मे बढ़ेगा, तो व्यक्ति केन्द्र का स्थान प्राप्त करता जायगा। तब उस आधार पर संस्थान और व्यवस्था मे भी मौलिक परिवर्तन होगा।

व्यवस्था विज्ञान से बहुत पीछे

आज की व्यवस्था का रूप विज्ञान की प्रगति के साथ मेल नहीं खाता। ऐसा मालूम होता है कि विज्ञान आगे बढ गया है। व्यवस्था का तन्त्र उसके योग्य नही बना, वह पिछडा और ओछा रह गया है। विज्ञान ने सम्भव यह किया है कि कुछ घण्टों मे धरती के इस छोर से उस छोर तक पहुँच जाइये, बात बैठे-बैठे कर लीजिये, हाल-चाल, वृत्त-समाचार सब यही का यहीं प्राप्त कर लीजिये, इत्यादि। दुनिया को विज्ञान ने हमारे अनुभव तक मे सचमुच एक उपग्रह बना दिया है। श्रद्धा और शास्त्र मे ही माना करते थे कि धरती ब्रह्माण्ड का एक कण है। अब यह नित्य अनुभव और नैमित्तिक जानकारी की बात हो गयी है। लेकिन व्यवस्था मानव-जाति की राष्ट्र-राज्य की सवसत्तात्मक इकाई की धारणा पर ही खडी है। हर राष्ट्र-राज्य के पास अपनी विदेश नीति है, अपना स्वदेश-प्रेम है, अपनी फौज और अपना सिक्का है। विज्ञान ने दुनिया को एक किया है, व्यवस्था ने दुनिया को अनेक म बाँट रखा है।

राष्ट्र-राज्य में व्यक्ति शून्य

पूंजीवादी कहिये या साम्यवादी, राष्ट्र-राज्य की धारणा कहीं भी मन्द नही है। राजनीति, कूटनीति और उनके अधीन अर्थ-नीति उसी आधार पर चलायी जाती है। मनुष्य उस व्यवस्था में वहीं तक स्वतन्त्र है, जहाँ तक राष्ट्र और राज्य की आवश्यकता उसे स्वतन्त्र रखना सह सकती है। लेकिन राष्ट्र-राज्य स्वय मे एक ऐसी धारणा है कि यदि वह आवश्यक बनी रही, तो वह राजकारणीय आवश्यकता फैलती हुई मनुष्य-मात्र को अपने भीतर खीच लेगी। कारण, मिथ्या की आवश्यकता की कोई सीमा नही होती, तृष्णा अनन्त होती है। छोटे-से-छोटे देश अपने निर्यात को अधिकतम मात्रा तक बढाना चाहता है, कही भी रुकना नही चाहता। सम्पन्न और धनाढ्य होना राष्ट्र की भाषा मे उसे अपना हक और कर्तव्य जान पडता है। उसीमे से फिर आत्मविस्तार आदि की बातें सूझती हैं। सम्भव नही है कि राष्ट्र-वादी सम्पन्नता और समृद्धि का आदर्श हमें उधर न ले जाय। उपनिवेशवाद और

साम्यवाद का आधार भी यही

आज का साम्यवादी और समाजवादी विचार क्या है? वह ऐसे ही आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयास है, जो मानव-चित् से स्वतन्त्र है। वहाँ सत्य की उपस्थिति इतिहास में मान ली जाती है अन्तःकरण में नहीं। व्यक्ति का समर्थन मानो समूह में पड़ जाता है, अपने-आप में व्यक्ति असमर्थित और अनुचित हो जाता है। तब बहुमतवाद (Conformism) जैसे धर्म हो जाता सत्याग्रह अधर्म। तब सत्य का स्वत्व मताधिक्य के पास आ जाता है और इस्टाब्लिशमेन्ट के पास इतना अधिकार पहुँच जाता है कि शेष उपवास व्यर्थ और अनर्थ ठहर जाये। इस पद्धति से वाद-वादी विचार पूट की और सत्ता की शक्ति को इतना बड़ा डालते हैं कि गुण का तिरस्कार होता है, पुरस्कार और सत्कार के लिए बड़ी सदस्य-संस्था का संगठन रह जाता है।

बौद्धिक विचारवाद का संकट

मनुष्य को केन्द्र न मानने से यह सब संकट सम्भव बन रहता है। सच यह है कि बौद्धिक आदर्श-विचार में ही यह खतरा समाया है, वह विचारवाद की सृष्टि करता है। वाद विरोध को उपजाता है और तब वादरूपी आदमी को प्रकृति का सीधा धर्म मालूम होने लगता है। वह सत्पुरुष बनने की जगह 'संदस्य' बनता है और उसीमें कृतकार्यता मानता है। बौद्धिक विचार हमको हमसे दूर किसी आदर्श की अटक में छोड़ देता है जो फिर कहीं नहीं मिलता और जिससे असल प्यास भी नहीं बुझती। चित् को और चितवान् प्राणी को केन्द्र मानने का आशय यह कि व्यक्ति अपने को उपेक्षित न करे, उपलब्ध करे। मेरा सचमुच मानना है कि समष्टि की प्राप्ति 'राकेटरी' से नहीं होती। यों भी राकेट चाँद तक जाता है, सूर्य तक भी जाय लेकिन उसके द्वारा चन्द्र और सूर्य का ज्ञान आखिर प्राप्त किसको होता है? उसीको न जो धरती पर है स्वस्थ है और जिसने राकेट आसमान में भेजा होता है। वह गति जो केवल बाहर की ओर होती है असल में फँसी हुई है। गति प्रगति वह है, जो चित् से जुड़ी रहती है और अन्तःचेतना से ओत-प्रोत होती है। आदर्श के वाद में रागात्मक सूत्र मानो टूट जाता है और चित् विपक्ष बन जाता है। चित् की अवमान और इस कारण मानव-व्यक्ति को केवल साधन मानने की भूल से वे सब तूफान पैदा हुए हैं जिन्होंने मानव-चेतना को झकझोरा और धराशायी ही किया सत्कार नहीं किया।

मनुष्य टिकता है, नारे बदलते हैं

आपने ठीक कहा है कि हस्ती अथवा सामुदायिकता के केन्द्र में होता व्यक्ति ही है।

—प्रश्न मे क्या आप पूर्वापर विरोध नही देखते ? व्यक्ति को केन्द्र ठहराया जाय, तो इससे आपको लगता है कि उसमे समायी असत्-वृत्तियों को भी समयन मिल जाता है। दूसरी तरफ आप ही मानते हैं कि समाज या समूह को जहाँ सीधा मान्य किया जाता है, वहाँ भी भीतर असल मे किसी एक व्यक्ति की ही निष्ठा-प्रतिष्ठा होती है। इस तरह आप दोनो ओर सकट वतला जाते हैं।

आदर्श बाहर नहीं, व्यक्ति-चित् में निहित

मुझे लगता है कि व्यक्ति को आदर्श मे नही, व्यवहार मे ही केन्द्र मानना अधिक आवश्यक होता है। आदर्श-लोक मे केन्द्र तो क्या, व्यक्ति को मिथ्या तक मानें, तो चल सकता है। परम और चरम आदश का ही नाम तो भगवान् है। वह अखण्ड है। अव यह व्यक्ति नाम का देशकालावद्ध जो खण्डातिखण्ड दीखता है, ता वह सचमुच अपने-आप मे सत् कैसे हो सकता है ? इसीलिए सवसे वडा असत्य अहकार है। ऊपर जो कहा गया, उसमे आप पायेंगे कि जब मानव-व्यक्ति को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानना वताया है, तव उसका भी केन्द्र अन्त करण वताया था। वही परमेश्वर का निवास माना जाता है। वह अखिल और अखण्ड है, घट-घट मे व्याप्त और प्राप्त है। विश्व की चिन्मयता ही जैसे चित्त मे प्रतिविम्वित, प्रतिध्वनित और प्रतिकृत होती है। व्यक्ति-चित् के विना नही तो निखिल की चिन्मयता अनर्थक और अननुभूत रह जाती, उसका अर्थ और अनुभव हमे अपने चित्-केन्द्र मे ही प्राप्त होता है। उससे अलग कही किसी दूसरे माने हुए आदश मे सत्य को विठाने के मोह और आग्रह मे से सदा अनिष्ट फलित हुआ है। जिसको आदर्शवाद कहा जाता है, वह यही प्रवृत्ति है। आदश को बाहर कही देखने से मरीचिका की सृष्टि होती और फिर सारी गति मृग-तृष्णा मे भागते हरिण की तरह वौखलायी और भरमायी वन जाती है।

क्रान्तियो के मूल में यही मरीचिका

इतिहास मे यही अधिकतर देखा जाता है। आदर्शवाद की झोक मे सामूहिक भाव से जाति और देश चल पडते हैं और राह मे मानव व्यक्तियो को मौत के घाट उतारते जाते हैं। ऐसे युद्धो के समय, क्रान्तियो के समय, उन्हें निश्चय रहता है कि वे गौरव का काम कर रहे हैं। पर पीछे प्रतिक्रिया आती है और होश आता है। ये जो मानव-इतिहास मे रह-रह कर तीव्र ज्वर के दृश्य घटित हो पडते हैं, वे आखिर किस आधार पर सम्भव होते हैं ? आधार उनके नीचे उस आदश का रहता है, जिसको मानव-चित् से स्वतन्त्र और निरपेक्ष प्रतिष्ठा देकर स्थापित कर लिया गया था।

मनुष्य को केन्द्र में लो

पूँजीवाद-साम्यवाद आदि वादों के समक्ष यही कहना आवश्यक और अर्थकारी जान पड़ता है कि मनुष्य को केन्द्र में लो। उसको अपनी धर्म-धारणा और कर्म-विचार का मध्य-बिन्दु बनाओ। फिर जो कार्यक्रम निकलेगा काम देगा। अन्यथा शब्द बाद बढ़ेगा और चक्कर ही कटता रहेगा। अनुभव में सुख न आयेगा न चेतना को चैन प्राप्त होगा। हमारी रीति-नीतियाँ अर्थ-नीतियाँ समाज-नीतियाँ राज-नीतियाँ बहुत भौतिक बनी जा रही हैं। वे आदमी को भोग जाती हैं। अतिक्रमण के आधार पर उसका कल्याण किया चाहती हैं। एवं एक बड़ा विभ्रम खड़ा हो जाता है। आदमी के भले के लिए उसे ईंधन बनाकर युद्ध की भट्ठी में झोंका जाता है। यह प्रक्रिया अब तक चली आयी यह तो खैर है। लेकिन विज्ञान के अपने चरम के साथ भी हमारी व्यवस्था की प्रक्रिया यही रही तो बिल्कुल भी खैर नहीं है यह पहचान लेने की जरूरत है।

१२ क्योंकि लाखों मनुष्यों में से कोई एक ही चैतन्य मिलता है और उनमें से कर्मठ व्यक्तियों की संख्या तो और भी कम होती है, इसलिए आन्तरिक नियन्त्रण के अभाव में नीति अथवा शासन-तन्त्र का बाह्य-नियन्त्रण क्या अनिवार्य नहीं है? यदि है, तो आप विभिन्न तन्त्रों में से किसको अपना समर्थन प्रदान करते हैं?

शासन और अनुशासन

—आत्मानुशासन की कमी उसी मात्रा में प्रशासन अर्थात् शासन को आवश्यक बनाती है। समाज में आत्मानुशासन उत्तरोत्तर इतना वर्धमान और वर्धमान हो सकता है कि केन्द्रित राजतन्त्र की जरूरत न रह जाय। उसी स्वप्न और आशा में मानव-समाज बढ़ता आ रहा है। इसका आशय यह है कि शासन को अधिकाधिक अनुशासन का रूप लेते जाना चाहिए। शासन वह जो दण्ड द्वारा केन्द्रित होता और सेना और शस्त्रास्त्र का पृष्ठ-बल जरूरी पाता है, अनुशासन का अर्थ यह कि शासन विकेन्द्रित और व्यवस्थात्मक होता जाय और इस तरह शक्ति-परक से नीति-परक होने की ओर बढ़े। राजकारण और राजतन्त्र व उतने हैं, जो प्रशासनात्मक शक्ति के उपकरणों से कम और अनुशासनात्मक नीति के साधनों से अधिक चलते हैं।

महत्त्व तन्त्र के रूप का नहीं

भाषा से वास्तविकता व्यक्त होने के साथ ढँकती भी है। इसी कारण भाषा में किसी तन्त्र को अच्छा-बुरा कहता देने से काम कुछ ऊपर से आसान होता हो पर असल में कठिनाई घटती नहीं है। प्रजातन्त्र लोकतन्त्र अधिनायक-तन्त्र राजतन्त्र आदि-आदि

इसीलिए कहा गया, केन्द्र व्यक्ति है। कारण, वास्तव और सम्भव वही है। दूसरी दशाएँ धारणात्मक ठहरती हैं और भावावेश में आग जगाती तथा भभकती-बुझती है। मनुष्य टिकता है, वादें बदलते हैं। वाद नये-पुराने होते हैं, मनुष्य सनातन रहता है। मनुष्य कसौटी है और सब वाद उस पर कसे, परखे और फेंके जायेंगे। वाद के लिए जब मनुष्य कटता है, तो मानसिक हालत वह होती है, जहाँ माटी चोटें का गिनती है। पर काल में माटी गिरती या है, चोला बदला है, फिर माया चाहे कुछ हो। वाद की पक्ति में ही चल और चल आ जाते हैं। वे यदि जीते रहते और टूटते हैं तो तभी, जब मनुष्य उनके चंगुल से गायब हो जाता है।

मानव-चेतना विभक्त

अब आपकी पहली बात, कि मनुष्य का सर्वदा समर्थन कैसे हो सकता है। उसमें क्या कुछ असत् है ही नहीं? जितना भी असत् और अनिष्ट उसमें भरा पड़ा है। कहाँ उसके प्रमाण और उदाहरण नहीं है? शूरता कौन होता है? दानव राक्षस कौन बन जाता है? यह सब होते हुए यह आपका मानव-व्यक्ति क्या है, जो कसौटी और केन्द्र बन सकता है? यही प्रश्न है न?

मानना होगा कि मनुष्य में स्तर है। उसकी चेतना बँटी हुई है। वह एकीकृत और एकत्रित नहीं है। इसी कारण हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य मनुष्य नहीं है। उसकी चेतना बिखर जाती है, चित् एकदम विघटित हो जाता है, तो उसी मनुष्य को ताला डालकर हम सींखचे में बन्द करते हैं, कहते हैं, वह पागल है। मनुष्य अमनुष्य हो जाता है, जब कि अपने ही चित् से वह विक्षिप्त, वियुक्त बनता है।

पर मनुष्य है अन्तःकरण

किन्तु मनुष्य का मूल्य इसमें है कि उसमें चित् है, अन्तःकरण है। मनुष्य का उस चित् से सम्बन्ध ढीला हुआ, बिगड़ा-बिखरा, तो उसी मात्रा में मूल्य खण्डित और नष्ट हो जाता है। उससे उल्टे मनुष्य अपनी अन्तश्चेतना से जितना युक्त, संयुक्त, अभिन्न बनता है, मूल्य उतना बढ़ जाता है। पूर्ण आत्मनिष्ठ और आत्मवान् पुरुष में सबको मानो आत्मदर्शन होता है। उससे सद्-दर्शन प्राप्त होता है। मानो वह एक न हो सब हो, व्यक्ति न हो समष्टि हो। उस नर में सहसा नारायण भाव हो आता है।

कारण, प्रत्येक के परम अभ्यन्तर में वही तो है, जो सब और सब कहीं है। उस अभ्यन्तर के साथ व्यक्ति-चेतना का पूर्ण योग हो, तो व्यक्तित्व उसकी सीमा नहीं, उल्टे उसका प्रकाश बनता है।

होता है। ऐसा राज्यतन्त्र सत्ता-तृप्ति का मार्ग नहीं रहता। शक्ति की जगह यदि केवल वहाँ नीति केन्द्रित हो, तो तन्त्र नैतिक और सांस्कृतिक बन जा सकता है। यों कहिए कि तन्त्र की नाम से नहीं काम से परख होती है। परख इसमें है कि कितने अंश तक वह दण्ड-बल से काम करता और किस अंश तक नीति-बल से चलता है। जहाँ नीति ही बल है, वह राज्य शस्त्र-निर्भर नहीं होगा क्योंकि वह विश्वास-निर्भर हो जायेगा। इस पद्धति का राज्य नैतिक और मनोव्यापी होता है, पहली विधिवाला शक्तिनिष्ठ बनता और कानून के दण्ड से प्रशासन चलाने को बाध्य होता है। गांधीजी के पास यही कसौटी थी और इसी दिशा में वह समाज और राज्य को उठाना चाहते थे। पद शासन का न रहकर सेवा का हो जाय उसके आस-पास गर्व और गौरव के चिह्न न रहें नम्रता और अकिंचनता के गुण दीखें तो मानना चाहिए कि रावण-राज्य से हम राम-राज्य पर आये हैं। शक्ति-प्रधान और नीति-प्रधान राज्य की व्याख्या में जाने से अन्य कुछ हाथ लग सकते हैं जो तन्त्र की विधि के सम्बन्ध में भी प्रकाश दें। लेकिन वह अभी प्रश्न से दूर की बात हो जायगी।

आधुनिक तन्त्र रजोगुण प्रधान

आज जिस सभ्यता के अधीन विश्व का राजनीतिक मानस चल रहा है, वहाँ सब तन्त्र दण्डाधिकार और हिंसा-बल को अपनाकर खड़े हुए हैं। हिंसा को कितना कम ज्यादा उन्हें उपयोग में लाना पड़ता है, अन्तर इतना ही है। बुनियाद और विश्वास सबका एक है और वह शक्ति-परक है। सब जगह आप देखेंगे कि राजसिक वृत्ति (Kinetic Energy) से प्रेरित व्यक्ति ऊपर पहुँचे हैं सात्त्विक को पीछे और नीचे रहना पड़ता है। आज का राजा और राज-कारण रजोगुणप्रधान है। गांधीजी इसे सत्त्वगुण-प्रधान बनाना चाहते थे। विकास अन्ततः उसी दिशा में है और पूँजीवादी तन्त्र हो या साम्यवादी तन्त्र सबको क्रमशः उस दिशा में बढ़ते जाना है। दृष्टि जब उस आदर्श पर होगी तब तन्त्रवाद उतना प्रमुख नहीं दीखेगा, प्रमुखतया स्वयं मनुष्य की चिन्ता जागेगी।

विज्ञान और राजतन्त्र

५१ विज्ञान और यन्त्र ने नवीन राजतन्त्रों को जन्म देने में कहाँ तक योगदान दिया है? क्या सत्ता के केन्द्रीकरण में इनका पूरा हाथ नहीं है? उत्पादन एवं संहार की शक्तियों को सुरसा के मुख का-सा रूप देकर क्या विज्ञान ही आज के मनुष्य को अभिभूत और किंकर्तव्यविमूढ़ करता नहीं जा रहा है?

शब्द प्रचलित है। भारत अपने तन्त्र को गणतन्त्र कहता है। इंग्लैण्ड में तन्त्र को कुछ विशेषण के साथ राजतन्त्र माना जाता है। लेकिन कहा जाता है कि यहाँ राष्ट्रपति का स्थान और अधिकार ब्रिटिश ताज से भिन्न है, कि [illegible] है? इस अर्थ में शब्द और विधि [illegible] है।
राजनीति के साथ व्यवहार चलाने और करने का [illegible] यह जरूरी नहीं है कि उस भाषा में ही कहा जाय और उसी पर आग्रह किया जाय। अराजकीय व्यक्ति राजसत्ता में भी आगे राज-व्यवस्था [illegible] है। राजनीतिक शब्दावली की [illegible] है। उससे आगे उसमें अवस्थित है नहीं। गांधीजी ने आधी शताब्दी [illegible] भारत के राजकारण को चलाया और वाणी में रामराज्य शब्द रखा। [illegible] जो गँवार और सभ्य, लेकिन शब्द सम्मुख रहा राम-राज्य ही लिया। राम-राज्य से किसी तन्त्र-विशेष का निश्चय मन में नहीं बनता है। जैसे तन्त्र कहीं कोई भी हो सकता है, आवश्यक इतना भर है कि एक भी आदमी उस राज्य में दमित, दीन और दुःखी अनुभव न करे, हर कोई अपनी बात कह सके और वह बात सीधी [illegible] के कान तक पहुँच सके। तो जहाँ राजा और प्रजा के बीच आत्मीयता का सम्बन्ध है, उसी राज्य-व्यवस्था को बेहतर मानना चाहिए। प्रतिनिधि या कमिश्नर या अधीक्षक वगैरह नामों से कुछ अन्तर नहीं पड़ता है। चुनाव की पद्धति से माना जाता है कि प्रजा ही राजा बनाती है, जो ठीक काम नहीं करता है, उसे कुछ काल बाद हम फिर चुनने से इनकार कर सकते हैं। इस तरह समझा जाता है कि शक्ति सुरक्षित होती है, ऊपर का दबाव उस पर नहीं आता है। इंग्लैण्ड में राजकुल मौजूद है और अनुभव होता है कि गति उससे बँध होती है, बहुत अस्थिर नहीं हो पाती, ताज की संस्था के कारण एक स्थिरता बनी रहती है। जिसको कम्युनिस्ट तन्त्र कहते हैं, चुनाव वहाँ भी है, लेकिन दल अनेक नहीं हो पाते, एक ही बना रहता है और लगभग शत-प्रतिशत राय से शासन में चुना जाता और बागडोर थामे रखता है। यहाँ व्यक्ति-पूजा (Personality Cult) को गिराकर समिति-राज्य की पद्धति बनी है, फिर भी उसको अधिनायकवाद कहने तक की दूसरा का सुविधा है। रूप में डिक्टेटर को स्थान नहीं दीखता, फिर भी डिक्टेटरशिप चलती तो दीखती है।

तन्त्र और नीति-बल

सच तो यह है कि शक्ति जहाँ किसी भी पद्धति से, चुनाव से या रूढि से, असंख्य जनों के पास से, अर्थात् जनता से, उठकर कुछ गिनती के लोगों के पास पहुँचती और वहाँ से किसी एक के पास मान ली जाती है, तो ऐसे दण्ड-शक्ति के संस्थान का निर्माण

होता है। ऐसा राज्यतन्त्र संस्कृति का अंग नहीं रहता। शक्ति की जगह यदि केवल जहाँ नीति केन्द्रित हो तो तन्त्र नैतिक और सांस्कृतिक बन जा सकता है। यों कहिए कि तन्त्र की माप से नहीं, नाम से परख होती है। परख इसमें है कि कितने अंश तक वह दण्ड-बल से काम करता और किस अंश तक नीति-बल से चलता है। जहाँ नीति ही बल है, वह राज्य शस्त्र-निर्भर नहीं होगा क्योंकि वह विश्वास-निर्भर हो सकेगा। इस पद्धति का राज्य नैतिक और मनोव्यापी होता है, पहली विधिवाला शक्तिनिष्ठ। जनता और कानून के दण्ड से प्रशासन चलाने को बाध्य होता है। गांधीजी के पास यही कसौटी थी और इसी दिशा में वह समाज और राज्य को उठाना चाहते थे। पद शासन का न रहकर सेवा का हो जाय, उसके आस-पास गर्व और गौरव के चिह्न न रहें, नम्रता और अकिंचनता के गुण दीखें तो मानना चाहिए कि रावण-राज्य से हम राम-राज्य पर आये हैं। शक्ति-प्रधान और नीति-प्रधान राज्य की व्याख्या में जाने से अन्य गुण द्वार बन सकते हैं, जो तन्त्र की विधि के सम्बन्ध में भी प्रकाश दें। लेकिन वह अभी प्रश्न से दूर की बात हो जायगी।

आधुनिक तन्त्र रजोगुण प्रधान

आज जिस सभ्यता के अधीन विश्व का राजनीतिक मानस चल रहा है, वहाँ सब तन्त्र स्वत्वाधिकार और हिंसा-बल को अपनाकर चले हुए हैं। हिंसा को कितना कम ज्यादा उन्हें उपयोग में लाना पड़ता है, अन्तर इतना ही है। बुनियाद और विश्वास सबका एक है और वह शक्ति-परक है। सब जगह आप देखेंगे कि राजसिक वृत्ति (Kinetic Energy) से प्रेरित व्यक्ति ऊपर पहुँचते हैं, सात्त्विक को पीछे और नीचे रहना पड़ता है। आज का राजा और राज-कारण रजोगुणप्रधान है। गांधीजी उसे सत्त्वगुण-प्रधान बनाना चाहते थे। विकास अन्ततः उसी दिशा में है और पूँजीवादी तन्त्र हो या साम्यवादी तन्त्र सबको क्रमशः उस दिशा में बढ़ते जाना है। दृष्टि जब उस धरातल पर होगी तब तन्त्रवाद उतना प्रमुख नहीं दीखेगा, प्रमुखता स्वयं मनुष्य को मिलती जायगी।

विज्ञान और राजतन्त्र

५१ विज्ञान और यन्त्र ने नवीन राजतन्त्रों को जन्म देने में कहाँ तक योगदान किया है? क्या सत्ता के केन्द्रीकरण में इसका पूरा हाथ नहीं है? उत्पादन एवं संहार की शक्तियों को सुरक्षा के मूल्य कम-सा कम देकर क्या विज्ञान ही आज के मनुष्य को अभिभूत और किंकर्तव्यविमूढ़ करता नहीं जा रहा है?

दोनो का विकास अन्योन्याश्रित

—समय मे हम सब साथ चलते है। यानी राज और विज्ञान दोनो एक विकास के अग हैं। विज्ञान और उसकी गति मे उत्पन्न नये-नये यन्त्र और उनसे सम्भूत उत्पादन-विधि ने आज की राज्य-व्यवस्था को केन्द्रित रूप दिया, यह कहना गलत नही है। लेकिन यह कहना भी उतना ही सही ठहरेगा कि विज्ञान-सृष्ट यन्त्रोत्पादन ने जो रूप लिया, उस निर्धारण मे राज्य-व्यवस्था भी कारणीभूत रही। अन्योन्याश्रित भाव के बीच मे से मानव-समाज बढ़ रहा है। मैं स्वय समग्र दृष्टि के पक्ष मे हूँ, जो केवल राज्य-शास्त्र की परिधि मे ही राज्य-तन्त्र का विचार नही करती। अब समय है कि समग्र जीवन की अपेक्षा मे इन चीजो को देखा जाय और दृष्टि को सम्यक् बनाया जाय।

विज्ञान सकीर्ण मन के हाथ पडा

विज्ञान से यन्त्र मिले। यन्त्र से प्रचुर उत्पादन की सुविधा मिली। अपने-आपमे यह मानव-जाति के लिए वरदान बन सकता था। लेकिन यदि अभिशाप भी बन गया, तो इस कारण कि हमने विज्ञान की विभूति को मानवीय मानस से नहीं, जातीय और राष्ट्रीय वासना से अपनाया। विज्ञान ने तो सिर्फ फैलाव की सुविधा हमे दी थी। उसमे उपनिवेशवाद का प्रयोजन हमने अपने मानस से डाला। मूल मे परम-भाव होता, तो द्रुत साधनो से हम दुनिया मे दूर दूर पहुँचते, लेकिन परस्पर देशी-विदेशी नही बन रहते। हमारा स्वदेश-भाव ही वहाँ तक फैल जाता, यानी विश्व हमारा देश बन जाता। लेकिन वह नही हुआ। विज्ञान ने जो फैलाव दिया, वह सँकरे और सिकुडे मन के हाथ पड गया।

अणु-शक्ति आज प्रकट हुई है, लेकिन यह बाध्यता कहाँ से आयी है कि उससे बम बनें, वही बनते जायँ, बचे-खुचे मे ही हो तो दूसरा उपयोग हो। मेरा मानना है कि विज्ञान की ओर से कोई ऐसी बाध्यता और विवशता नही आ सकती है, जो हमारे प्रयोजन और हेतु को छोटा करे। युद्ध की आवश्यकता विज्ञान नही पैदा करता है। शायद हो सकता है कि युद्ध की आवश्यकता हमारे मानस मे पहले पैदा होती हो और उस तेजी मे से स्वय विज्ञान गति पाता हो। एक हिटलर शासन के शीर्ष पर पहुँचकर अनेक वैज्ञानिकों को साधन सौंपकर कह सकता है कि अमुक दिशा में शोध करो और अमुक फल निकालकर दो। वैज्ञानिक राज्य नहीं बनाते, बल्कि राज्य की आवश्यकताओ के काम आते हैं।

हमें विज्ञान का बिन्दु बनना है

यहाँ वही अपनी पहली उपपत्ति को ध्यान में रखना होगा। परिस्थितियों

में से अपने मानस का अमुक निर्माण हम आवश्यक मान लेते हैं, तो काल-गति के हाथ निरपेक्ष साधन बन जाते हैं। लेकिन मनुष्य रहते हम पूरी तरह यन्त्र बन नहीं सकते हैं। हम अनुभव करते हैं हम कर्ता हैं, स्रष्टा हैं। हममें स्वप्न है कल्पना है, निर्मायकता है। हम भाग्याधीन नहीं भाग्य-विधाता हैं। ऐसा गौरव मनुष्य के पास न हो, तो वह अपने को मनुष्य नहीं मान सकता पशु बन जाता है। इसलिए कहना होगा कि विज्ञान के भी हमें प्रभु और विभु रहना है। विज्ञान यन्त्र या केवल यन्त्र देगा लेकिन यन्त्र से काम हम वह लेंगे जो हमें लेना है। यन्त्र के काम हम स्वयं आगे बन जायें वह कैसे सम्भव है? और यदि यही असम्भव सम्भव बनता है, मशीन मनुष्य का उपयोग तय करने चलती है तो इसमें मनुष्यता की भयंकर हानि होती है।

मानव-चेतना अवन्ध्य

आपके प्रश्न के उत्तर में यही कहना होगा कि आज उस मानवात्मा की आवश्यकता है, जो यान्त्रिक विवशताओं के पार देखे और यान्त्रिक उद्योगों एवं राजनीतिक आवेगों को अपनी ओर से चमत्कार न दिखा दे। मानव-चेतना अवन्ध्य है, अविजेय है। मुझे विश्वास है कि यह चेतना अपने अन्तरतम पटल को भेद और फूटकर आयेगी तो वह यान्त्रिक राजनीति और अर्थनीति के पाश में घिरेगी नहीं, स्वयं उनको मुक्त करती हुई उठेगी। ●

६

प्रजातन्त्र, मार्क्सवाद, साम्यवाद

प्रजातन्त्र की योग्यता

५४ यह सोचना कि मानव नीति पर चलता तो तन्त्र को ऐसा रूप मिल जाता और कि मानव को यन्त्र का दास नहीं, स्वामी होना चाहिए था, क्या मनमाना विचार ही नहीं है ? मेरा प्रश्न है कि मानव की, यन्त्र एव तन्त्र की वर्तमान परिस्थिति मे क्या प्रजातन्त्र को ही आप सर्वोत्तम एव सर्वसफल तन्त्र नहीं मानते और क्या उसीमें आप मानव को सर्वनाश से बचाने की योग्यता नहीं पाते ?

—सभी विचार आकाक्षा और असन्तोष मे से जन्म पाते हैं। लेकिन उस कारण वह व्यर्थ नही बन जाते। हम व्यतीत का विश्लेपण करते और विद्यमान मे कुछ सत् और असत् तत्त्वो का अनुभव करते हैं। इसी विवेक में से भावी का विचार और निर्माण करते आगे बढ़ते हैं।

प्रजातन्त्र के भीतर का यह भाव सही और स्थायी है कि प्रजा से अलग और ऊपर बैठनेवाला राजा नही होना चाहिए। पर यह स्थिति उत्तरोत्तर प्राप्त करनी है, प्राप्त है नही।

प्रजातन्त्र स्पर्धात्मक उन्नति के अयोग्य

लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे अच्छाई इतनी है कि मूल आदर्श मुखर रहता है। लेकिन तन्त्र सिर्फ ओट बन जाय और अन्दर की असलियत यह हो कि भीतर-ही-भीतर राजकीय और शासकीय मानस पनपे, तो केवल प्रजात्मक नाम होने से उसको बढ़िया नहीं ठहराया जा सकता। तन्त्र के रूप में अधिक सम्भव है कि प्रजातन्त्र उतना सुगठित और सक्षम न हो, उसमे कई तरफ की खीचें रहे और कुल मिलाकर एकाग्रता और एकचित्तता न आ पाये—तो उन्नति की होड मे यह प्रजासत्ताक तन्त्र ही उस राष्ट्र को आगे निकलने से रोकनेवाला हो जायगा। हमारे देखते-देखते कई लोकतन्त्र सैनिक अधिनायक-तन्त्र बन गये हैं, सो इसी कारण। आज राष्ट्र को समग्र और प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) मानकर हम स्पर्धात्मक उन्नति करना

चाहती है, तो तन्त्र का प्रजासत्तात्मक रूप अक्षम सिद्ध होगा। केन्द्रित और एकजुट रूप सक्षम निकलेगा।
आज की उन्नति स्पर्धात्मक है। हर राष्ट्र अपनी उन्नति चाहता है। सबकी अर्थ-रचना तदनुरूप है। सबकी कोशिश है कि निर्यात बढ़े आयात की जरूरत घटे। सब मशीन-प्रधान और उद्योग-प्रधान होना चाहते हैं। सबमें मंडियों को पाने और पकड़ने की होड़ है। सबकी अलग मुद्रा है और सबकी व्यापार-नीति स्वार्थ हित की धुरी पर घूमती है। इस प्रवृत्ति और आवश्यकता के अधीन राजसत्ता को एक बड़े व्यापार-तन्त्र के रूप में उठना होता है। यदि मानव-सभ्यता का रुख यही रहा तो प्रजातन्त्र का कोई भविष्य नहीं है। वह प्रणाली शास्त्र में रहे, शायद मुँह पर भी रहे, लेकिन वास्तविकता में उसे झुठलाया जायगा। वर्तमान सभ्यता में दूसरी गति नहीं है।
मानव को सर्वनाश से बचाने की योग्यता नामधारी प्रजातन्त्र में नहीं हो सकती। इतना ही नहीं बल्कि उल्टे उससे विनाश को निमन्त्रण मिल सकता है, यदि मशीनपरता और मन्दता उसका लक्षण बना रहे।

अहिंसा-धर्मी प्रजातन्त्र से ही आशा

विनाश को वह प्रजातन्त्र रोक सकेगा जो अहिंसा को अपनी निश्चित नीति मानेगा। तदनुरूप अपनी अर्थ-रचना बनायेगा, शस्त्रास्त्र-निर्भरता से तत्परिणाम-स्वरूप मुक्त होगा और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बेशर्त (Unilateral) निःशस्त्रता का संकल्प लेकर आगे आयेगा।
हम देखेंगे कि वह प्रजातन्त्र राष्ट्र-राज्य से भी अधिक जगत् के समक्ष स्वयं मानव-राज्य के तन्त्र का नमूना पेश कर जाता है। शासन का रूप वहाँ अनुशासन है। वह केन्द्रित कर्म-एवं-व्यापार-तन्त्र नहीं है, जन-विश्वास के आधार पर स्थित सर्वथा नीतितन्त्र है। राज्य मानो वहाँ केवल अन्तःकरण है, लवाजमा नहीं है। ठोस रूप उसका धीरे-धीरे कम होता जाता है, व्याप्त महत्त्व उसका बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि शासन-मुक्त समाज का रूप उसमें स्पष्ट प्रकट हो चलता है।
प्रजातन्त्र इस दिशा में विकास पा सके तब विनाश ही न बचेगा बल्कि स्वयं मानवता को परिष्कार प्राप्त होगा। अन्यथा अश्रद्धा बढ़ेगी, श्रद्धा सत्ता ही टूटेगी और विश्वास फिर शस्त्र-शक्ति के आधार को ढूँढ़ेगा। आधुनिक स्थिति यही दिखा रही है। हिंसा और प्रजातन्त्र दोनों साथ चलते हैं, तो झूठ चलता है। और झूठ चल नहीं सकता। इसलिए एकदम निश्चित है कि अहिंसा को खुली आँखों अप

जाने की हिम्मत से और तत्पर आचरण से तो [illegible] हो सकता है। नहीं, तो नहीं।

अहिंसात्मक राष्ट्र की सफलता

५५ क्या आपकी राय मे वर्तमान परिस्थितियो मे कोई राष्ट्र स्पर्धामय राष्ट्र-नीति को त्यागकर और तथाकथित अहिंसात्मक नीति एव निःशस्त्रीकरण को अपनाकर अपना अस्तित्व बचाये रख सकता है? अकेला चूहा बिल्ली के गले मे घण्टी बाधने चलेगा, तो मृत्यु के मुख मे ही जायगा।

वही सबको बचायेगा

—अपने को ही नहीं, साथ सबको भी ऐसा ही राष्ट्र बचा सकेगा! लेकिन राष्ट्र को अपने पूरेपन मे वैसा होना होगा। सिर्फ राजनीतिक आशावाद मे से वह घोषणा नही आ सकती। उसको अपना अर्थतन्त्र नीचे से उसी प्रकार उठाना और बनाना होगा। आज के अर्थ-जाल मे राष्ट्र परस्पर ऐसे अनुबद्ध हैं कि सच पूछिये तो विश्व-युद्ध मे तटस्थ तक कोई नहीं रह सकता।

एक नहीं, तो आपकी कल्पना मे सब चूहे मिलकर बिल्ली को जरूर जेर कर सकते मालूम होते हैं। लेकिन सब कभी नहीं मिलेंगे, अगर मिलेंगे और बिल्ली को कभी काबू कर पायेंगे तो तभी, जब सचमुच कोई एक अकेला चूहा बिल्ली के गले मे घण्टी बाँधने बढ़ने का साहस दिखायेगा। भय से भी अधिक साहस सक्रामक होता है।

साहस भी सक्रामक होता है

भय सक्रामक होता है, यह आप जानते है, मैं जानता हूँ। लेकिन विश्वास और साहस उससे भी सक्रामक होते हैं, यह भी आप-हमको जानना चाहिए। तीली एक और नन्ही-सी होती है, जलकर भस्म होनेवाला जगल बियावान और भयानक होता है। तीली की आग क्या अपने पर शरमाकर जगल के भयानकपन से डरी रह जाय? वह नही हो पाता और तीली जगल को जला डालती है। बिल्ली के सामने चूहा तो भी है, भयानक अग्निकाण्ड की घोरता के सामने तो बीडी की सुलग उतनी भी नही है। अरे, अणु के जमाने मे एक की और अल्प की सम्भावनाओ से हम अनजान बने रहेंगे? उससे मुँह मोडेंगे? अब तक शायद यही होता आया है। 'बहुत' का भरोसा किया है, कण को कम समझा है। आइन्स्टीन के सूत्र ने आँखें खोल दी हैं और समष्टि को अणु मे ला दिया है। ब्रह्माण्ड मे है, वह पिण्ड मे भी

है। यह सत्य आध्यात्मिक से भौतिक हो गया है। उस अणु के जमाने में आप यह क्या कहने बैठे हैं कि एक राष्ट्र अपनी ओर से पहल नहीं कर सकता। पहल एक की ओर से ही होगी। फिर दूसरों को एक-एक कर उस पाँत में आना जरूरी बनता जा सकता है।

मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि

आज रूस और अमरीका की दो छावनियाँ हैं। शिखर-सम्मेलन हुए हैं और हो रहे हैं। निःशस्त्रीकरण की चर्चा निरन्तर है। शान्ति दोनों महादेश चाहते हैं। अणु-अस्त्रों का नियन्त्रण चाहते हैं विसर्जन चाहते हैं। राष्ट्र-नेता दोनों तरफ अच्छे सच्चे और बहादुर हैं। लेकिन सबके एक-दूसरे की तरफ शर्त के साथ हैं। 'हम करते हैं अगर तुम भी करो' 'हम जितना करें, उतना करोगे? 'तुम करके दिखाओ, तो फिर देखना हम क्या कर दिखाते हैं' इत्यादि। मगर यह शर्त के साथ मानना सच्चा मानना नहीं है। क्यों वे बहादुर लोग पूरे और खुले तौर पर नहीं मान पाते हैं? इस मजबूरी का क्या कारण है? कारण है कि वे राष्ट्र-नेता हैं। राष्ट्र का प्रतिनिधि ऐसा हो सके, जो मानवता का प्रतिनिधि और मानव-नेता भी हो तो क्या वह भी शर्त रखेगा? शर्त किसके साथ रखेगा? शस्त्र किसके खिलाफ रखेगा? आज का हमारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र राष्ट्र-प्रतिनिधियों राज्य-नीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों का क्षेत्र है। मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि किसी राष्ट्र में और उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्र में प्रमुखता पायेगा तो दृश्य दूसरा दिखाई देगा। पर शायद उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

१९. वर्तमान परिस्थितियों में अहिंसात्मक अर्थ-नीति और राज्य-नीति को अपनाने के लिए एक राष्ट्र को क्या करना होगा, यह किंचित् स्पष्ट व स्थूल रूप में समझाइये।

मनोभाव और मनोत्साह की पूँजी

—यह काम मुश्किल है। मेरे हाथ में राष्ट्र कोई नहीं। राष्ट्र की कल्पना को लेकर ही यह काम करने लग जायें तो नक्शा बनेगा काम नहीं बनेगा। होना में अन्तर होता है। नक्शे में गणित से और दिमाग से काम चल जाता है। काम में जब एक नया और अनिश्चित तत्त्व सामने आता है और वह तत्त्व होता है, मनुष्य। उसके अभाव में नक्शा भरपूर नहीं होकर भी सूझ पड़ सकता है। और यह भी देखा गया है कि नक्शा नहीं है और केवल और नितान्त शून्य में से आकर चमत्कार कर दिखाया है। जीवन का क्षेत्र ऐसा ही है। इसलिए आपके प्रश्न के कार्यक्रम के

भी पहले मैं मनोभाव और जनोत्साह की पूँजी माँगता हूँ। तब आपके प्रश्न का रूप बन जाता है कि वह जनोत्साह कैसे उदय मे आये, कैसे प्रकट हो?

समिधा की आकृति ?

यो आकाश मे सूरज है। वह मूर्तिमान् अग्नि है। लेकिन सूरज से हमारे काम-काज नही होते। उसके लिए अपने पास मे चिनगारी प्रकट करनी होती है। उस चिनगारी को पाने के नाना उपाय निकले हैं। कल एक जापानी बन्धु यह अपना सिगरेट-लाइटर मेरे यहाँ भूल गये। सदा यह उनकी जेब मे चलता होगा। वक्त पर चिनगारी दे आता है, बाकी समय जेब मे सोया पडा रहता है। तो मैं उस चिनगारी की बात ही कर सकता हूँ। अपने दर्प को, अह को, कामना-आकाक्षा को समिधा की तरह हाथ मे लेकर ध्येय की आस्था और उसके प्रेम मे स्वाहा करते है, तो चिनगारी पैदा होती है। मूलत वह चाहिए। फिर उस जड से वृक्ष फूटेगा, जो समूचे राष्ट्रीय और आर्थिक कार्यक्रम को पुष्पित और फलित करता हुआ उठेगा। शेप उसकी विधि और स्वरूप के चित्र के लिए हमारे पास गाँधीजी का उदाहरण और साहित्य है।

५७ समस्त यन्त्र-विज्ञान मुझे शृंखला की तरह अन्योन्याश्रित प्रतीत होता है। कोई भी दुर्घटना सारे क्रम को विचलित एव भ्रष्ट कर सकती है। क्या आप किसी भी ऐसी दुर्घटना की कल्पना कर सकते हैं—यदि ऐसा कभी हुआ, तो इन नवीन राज्य-तन्त्रों की क्या स्थिति होगी? क्या दुनिया फिर पूर्व मध्यम युग (Pre-medieval Period) मे नहीं लौट जायगी?

—यन्त्र विज्ञान के फल हैं। यन्त्रो का प्रयोजन बदल सकता है और बदलेगा। उस अर्थ मे अमुक चीज का कारखाना खुद अनावश्यक होकर खतम हो सकता या दूसरी चीज तैयार करने लग सकता है। लेकिन विज्ञान स्वय खतम हो, ऐसी किसी परिस्थिति की मैं कल्पना नही कर सकता, सिवा इसके कि आदमी ही खत्म हो जाय।

विज्ञान नष्ट नहीं होगा

विज्ञान ने यन्त्रो की प्रक्रिया दी। लेकिन उन यन्त्रो को हम किस काम मे लायें, यह निर्णय विज्ञान मे से नही, बल्कि हमारी मानसिकता और सभ्यता मे से आया। वह मानसिकता और सभ्यता टूटेगी, यह तो साफ दीखता है। कारण, यन्त्र को वह नकारात्मक और सहारात्मक वासनाओ की पूर्ति मे बढ़ाती और लगाती है। लेकिन सभ्यता के गिरने से स्वय विज्ञान क्यो गिरेगा? अरब सभ्यता, मिस्री

सभ्यता चीन सभ्यता रोमन सभ्यता आदि उठीं और गिरीं। लेकिन उनके साथ अमुक जातियों का उत्कर्ष और गौरव भले लुप्त होता चला गया हो ज्ञान नष्ट नहीं हुआ। वह हाथों-हाथ उत्तराधिकार के रूप में केवल स्थानान्तरित होता गया। मानव-जाति के पास केवल वह सुरक्षित ही नहीं रहा बल्कि संवर्द्धित भी हुआ।

चेतना पीछे नहीं लौटेगी

वस्तु-विद्याओं को मानवताओं (Humanities) के साथ चलना होगा। उनमें जब परस्पर सन्तुलन बिगड़ेगा कि संकट बना दीखेगा। लेकिन संकट का परिणाम और अन्त सिवा इसके दूसरा नहीं होगा कि उसको पार करके मानव-जाति फिर नये सन्तुलन और समन्वय की ओर उठे।

भविष्य भी अज्ञेय है। यही उचित भी है। इसी कारण उसके प्रति हमारा दायित्व पुरुषार्थ और निर्माण का बना रहता है। लेकिन अब तक के अतीत की प्रक्रिया को समझने से भविष्य के सम्बन्ध में विश्वासी बना जा सकता और भय से मुक्त रहा जा सकता है। तूफान इससे पहले भी मानव-जाति के भाग्य ने कम नहीं भोगे हैं लेकिन मानव-चेतना टूटी नहीं है, निरन्तर वर्द्धमान रही है। मुझे विश्वास है वर्तमान सभ्यता के विकट संकट का काल भी पार होगा और विज्ञान का योग अनिष्ट से टूटकर आगे इष्ट के साथ हो चलेगा। चेतना को पीछे नहीं लौटना है आगे ही बढ़ना है। दूसरा कुछ सम्भव नहीं है।

५८. मेरा प्रश्न यह था कि सत्ता का जो निगूढ़ केन्द्रीकरण और उसके प्रयोजन में जो उत्तरोत्तर वृद्धिकरण होता है, क्या वह यन्त्र द्वारा ही प्रेरित नहीं है ? विज्ञान तो बन्द नहीं हो सकता। पर क्या इन यन्त्रों से भी मानवता का पीछा कभी नहीं छूटेगा ? साम्यवाद का जो स्वरूप सामने आता है, वह यन्त्रों की ही देन है इससे आपको इनकार क्यों है ?

चेतना प्रधान, यन्त्र गौण

—आपके प्रश्न से मेरे मन में यह प्रश्न उठता है कि यन्त्र किसकी देन है ? जिस मानसिकता की वह देन है और जो उसका उपयोग लेती है, उसको मैं परिणाम भर मानकर यन्त्राधीनता को अनिवार्य स्वीकार नहीं करना चाहूँगा। अब भी मैं मानता हूँ कि मानव यन्त्राधीन है बल्कि यन्त्रारूढ़ है। ऐसा न हो तो रेल में हम बैठें नहीं, बल्कि उसके नीचे पिसा करें। यन्त्र की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, यह मैं स्पष्ट देखता हूँ। इसलिए चेतन्य को पहले और यन्त्र को बाद में रखना चाहता हूँ।

कारण, यह क्रम यथार्थता का, स्वस्थता का है। अस्वस्थता तब आती है, जब मशीन मानव पर सवार होती और मानस में ज्वर भरती है। कुछ उस अस्वास्थ्य के लक्षण हैं, तभी यह चर्चा आवश्यक हुई है। लेकिन अगर यह मान लें कि यन्त्रों की बेबसी में से सब कुछ हुआ है, होता है और हो जाता है, तो फिर दुष्ट-चक्र में से निस्तार पाने की कोई राह ही नहीं बचती। राह है तो यही कि मनुष्य की अन्तश्चेतना उद्दीप्त हो और वह मशीन को अपने नियोजन में रखे।

साम्यवाद के नीचे मार्क्स-दर्शन, यन्त्रवाद नहीं

साम्यवाद के स्वरूप के नीचे मैं पूछूं कि यन्त्र अधिक है या मार्क्स-दर्शन अधिक है? उसके शरीर में और कर्म-व्यापार में यन्त्रोद्यम कितना भी हो, लेकिन उसकी समग्रता को स्वरूप-निर्देश क्या मार्क्स दर्शन में से ही नहीं मिलता? ख्रुश्चेव क्या यान्त्रिक और वैज्ञानिक है? स्तालिन या लेनिन क्या यन्त्राचार्य थे? मैं उसी मानस-दर्शन की बात कहता हूँ, जो दिशा और प्रयोजन से जन-मन को भर देता और तदनुसार यन्त्र-नियोजन करता है। दूसरा नवीन दर्शन उनका स्थान ले सकता है और तब यही मानव-यन्त्र और लौह-यन्त्र कुछ और कर दिखाने लग जायेंगे। मार्क्स-दर्शन ने अपने समय का काम दिया। अगले समय के लिए कोई समग्रतर दर्शन आ सकता है। अगर भावी के प्रति हममें निष्ठा हो, तो हम मान लें कि वह दर्शन आयेगा और शायद स्थिति के गर्भ में इस समय भी वह आकार पा रहा हो।

मार्क्सिज्म और वर्गवाद

५९ तब क्या आपकी मान्यता है कि मार्क्सवाद अपना काम कर चुका और वह मानव का भविष्य बनने की क्षमता अब नहीं रखता?

—हाँ! वर्गवाद की बात अब उतनी जन-मानस को पकड़ती नहीं है। स्वयं साम्यवादी विचारक मार्क्स को आगम-शास्त्र की भाँति अब नहीं ले पाते हैं।

मार्क्सिज्म और साम्यवाद

६० आपकी दृष्टि में क्या मार्क्सवाद और साम्यवाद में काफी अन्तर है और वह अन्तर बढ़ रहा है?

—हाँ, मार्क्सिज्म सिद्धान्त और वाद है, कम्यूनिज्म कर्म-प्रक्रिया और वास्तविकता है। इसलिए मार्क्सिज्म दर्शन है, कम्यूनिज्म राज-कारण है। संगठन और तन्त्र-व्यवस्थापन से अलग करके कम्यूनिज्म का अस्तित्व नहीं रह जाता है।

यह किताब में नहीं है, क्रिया में है। मार्क्सिज्म का घर किताब है, कम्यूनिज्म व्यवहार में बसता है।

दोनों के बीच फासला बढ़ा है

हर सिद्धान्त की कसौटी जीवन-व्यवहार में होती है। जीवन विकासशील है। इसलिए अनिवार्य होता है कि प्रत्येक मत-वाद और सिद्धान्त समय के साथ अपनी ही कर्म-प्रक्रिया और परिस्थिति से निबटकर दूर हटता और किनारे छूटता चला जाय। मूल मार्क्सिज्म और अद्यतन कम्यूनिज्म के बीच काफी फासला हो गया है और राष्ट्र-जीवनों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे पीठ की ओर चलकर वापस मार्क्स-सिद्धान्त में जा बैठें। विश्व-विस्तार में जैसे-जैसे कम्यूनिज्म को आगे बढ़ना होगा वैसे-वैसे मालूम होगा कि मूल मत-वाद दूर रह गया है।

११ अब कम्यूनिज्म की प्रगति की दिशा क्या प्रतीत होती है? क्या कम्यूनिज्म सहिष्णुता एवं विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ेगा और मानव-चेतना को आध्या-त्मक मान्यता प्रदान करने का प्रयासी होगा?

कम्यूनिज्म हिंसा को त्यागेगा?

—हाँ वर्गवाद, वर्ग-विरोध, वर्ग-विग्रह, वर्ग-संहनन की भूमिका से उसे मुक्त होना होगा। ऐसा करने से क्रमशः वह हिंसा के विश्वास से मुक्त हो जायगा। तब द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कुछ एकात्मवाद की भावना के निकट पहुँचेगा। लेकिन तब वह कम्यूनिज्म के रूप में ही बना और बना रहना चाहेगा यही क्यों आवश्यक है?

उसके नाना संस्करण होंगे

आज भी सुनते हैं रूस और चीन में अन्तर है। दोनों देश कम्यूनिस्ट हैं, पर दोनों के लिए उसका चरितार्थ भिन्न है। कारण दोनों की राष्ट्रीय स्थिति और परिस्थिति भिन्न है। कम्यूनिज्म कोरा सिद्धान्त तो नहीं है। वह तो सजीव और सक्रिय राजनीति है। इसलिए देशों की अपनी-अपनी राजकीय स्थितियों का प्रभाव क्यों न होगा और कम्यूनिज्म के ही नाना रूप और संस्करण क्यों न बन जायँ?

उसमें भावना का प्रवेश होगा

कम्यूनिज्म वैज्ञानिक समाजवाद की बुनियाद पर खड़ा मानो वैज्ञानिक कर्मवाद है। भावुकता के लिए वहाँ जगह नहीं। लेकिन राजनीतिक नेता की

कारण, यह क्रम यन्त्रायता का, स्वस्थता का है। अस्वस्थता तब आती है, जब मशीन मानव पर सवार होती और मानव मे ज्वर भरती है। कुछ उस अस्वास्थ्य के लक्षण हैं, तभी यह चर्चा आवश्यक हुई है। लेकिन अगर यह मान लें कि यन्त्रो की बेबसी में से सब कुछ हुआ है, होता है और हो सकता है, तो फिर दुष्ट-चक्र मे से निस्तार पाने की कोई राह ही नही बचती। राह है तो यही कि मनुष्य की अन्तश्चेतना उद्दीप्त हो और वह मशीन को अपने नियोजन मे रखे।

साम्यवाद के नीचे मार्क्स-दर्शन, यन्त्रवाद नहीं

साम्यवाद के स्वरूप के नीचे मैं पूछूं कि यन्त्र अधिक है या मार्क्स-दर्शन अधिक है? उसके शरीर मे और कर्म-व्यापार मे यन्त्रोपयोग जितना भी हो, लेकिन उसकी समग्रता को स्वरूप-निर्देश क्या मार्क्स-दर्शन में से ही नहीं मिलता? ख्रुश्चेव क्या यान्त्रिक और वैज्ञानिक है? स्टालिन या लेनिन क्या यन्त्राचार्य थे? मैं उसी मानस-दर्शन की बात कहता हूँ, जो दिशा और प्रयोजन से जन-मन को भर देता और तदनुसार यन्त्र-नियोजन करता है। जरूर नवीन दर्शन उसका स्थान ले सकता है और तब यही मानव-यन्त्र और लोह-यन्त्र कुछ और कर दिखाने लग जायेंगे। मार्क्स-दर्शन ने अपने समय का काम दिया। अगले समय के लिए कोई समग्रतर दर्शन आ सकता है। अगर भावी के प्रति हममे निष्ठा हो, तो हम मान लें कि वह दर्शन आयेगा और शायद स्थिति के गर्भ मे इस समय भी वह आकार पा रहा हो।

मार्क्सिज्म और वर्गवाद

५९ तब क्या आपकी मान्यता है कि मार्क्सवाद अपना काम कर चुका और वह मानव का भविष्य बनने की क्षमता अब नहीं रखता?

—हाँ। वर्गवाद की बात अब उतनी जन-मानस को पकड़ती नहीं है। स्वयं साम्यवादी विचारक मार्क्स को आगम-शास्त्र की भाँति अब नही ले पाते हैं।

मार्क्सिज्म और साम्यवाद

६० आपकी दृष्टि मे क्या मार्क्सवाद और साम्यवाद मे काफी अन्तर है और वह अन्तर बढ़ रहा है?

—हाँ, मार्क्सिज्म सिद्धान्त और वाद है, कम्यूनिज्म कर्म-प्रक्रिया और वास्तविकता है। इसलिए मार्क्सिज्म दर्शन है, कम्यूनिज्म राज-कारण है। सगठन और तन्त्र-व्यवस्थापन से अलग करके कम्यूनिज्म का अस्तित्व नही रह जाता है।

यह किताब में नहीं है, क्रिया में है। मार्क्सिज्म का घर किताब है, कम्यूनिज्म व्यवहार में बसता है।

दोनों के बीच फासला बढ़ा है

हर सिद्धान्त की कसौटी जीवन-व्यवहार में होती है। जीवन विकासशील है। इसलिए अनिवार्य होता है कि प्रत्येक मत-वाद और सिद्धान्त समय के साथ अपनी ही कर्म-प्रक्रिया और परिस्थिति से निकलकर दूर हटता और किनारे छूटता चला जाय। मूल मार्क्सिज्म और अद्यतन कम्यूनिज्म के बीच काफी फासला हो गया है और राष्ट्र-नीतियों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे पीठ की ओर चलकर वापस मार्क्स-सिद्धान्त में आ बैठें। विश्व-विस्तार में जैसे-जैसे कम्यूनिज्म को आगे बढ़ना होगा वैसे-वैसे मालूम होगा कि मूल मत-वाद दूर पड़ गया है।

११ तब कम्यूनिज्म की प्रगति की दिशा क्या प्रतीत होती है? क्या कम्यूनिज्म सहिष्णुता एवं विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ेगा और मानव-चेतना को मौलिक मान्यता प्रदान करने का प्रयासी होगा?

कम्यूनिज्म हिंसा को त्यागेगा?

—हाँ वर्गवाद वर्ग-विरोध वर्ग-विद्वेष वर्ग-उन्मूलन की भूमिका से उसे मुक्त होना होगा। ऐसा करने से क्रमशः वह हिंसा के विश्वास से मुक्त हो जायगा। तब द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कुछ एकात्मवाद की भावना के निकट पहुँचेगा। लेकिन तब वह कम्यूनिज्म के रूप में ही बना और बचा रहना चाहेगा यही क्यों आवश्यक है?

उसके नाना संस्करण होंगे

आज भी दीखते हैं रूस और चीन में अन्तर है। दोनों देश कम्यूनिस्ट हैं, पर दोनों के लिए उसका चरितार्थ भिन्न है। कारण दोनों की राष्ट्रीय स्थिति और परिस्थिति भिन्न है। कम्यूनिज्म कोरा सिद्धान्त तो नहीं है। वह तो सजीव और सक्रिय राजनीति है। इसलिए देशों की अपनी-अपनी राजकीय स्थितियों का प्रभाव क्यों न होगा और कम्यूनिज्म के ही नाना रूप और संस्करण क्यों न बन जायँ?

उसमें भावना का प्रवेश होगा

कम्यूनिज्म वैज्ञानिक समाजवाद की बुनियाद पर खड़ा मानो वैज्ञानिक कर्मवाद है। भावुकता के लिए वहाँ जगह नहीं। लेकिन राजनीतिक नेता को

मानव-सामग्री से काम लेना होता है और मनुष्य चलता भावना की बाग्ड से है। इसलिए भावना का पहलू लोक-नेता के लिए उतना नगण्य नहीं रहता।

धर्म को जगह मिलेगी, छावनियां टूटेंगी

भावना-पक्ष कम्यूनिज्म की वैज्ञानिकता में प्रवेश पायेगा। तो क्या रासायनिक प्रक्रिया होगी, कहना मुश्किल है। मार्क्सिज्म ईश्वर के और धर्म के लिए जगह नही छोडता। कम्यूनिज्म में उनके लिए जगह रखनी पड जाती है। राज्य के रूप में बिलकुल सम्भव है कि धर्म को प्रश्रय और सहायता भी देनी पड जाय। राज्य को कब भावनात्मकता के सहारे की जरूरत नही होती ? धर्म इसमें बडे काम आ सकता है। धर्म का मेल होने पर साम्यवाद क्या चीज बनेगा, यह सोचने की बात है। एक तरह वह धर्महीनता का धर्म है। दो धर्मों का मेल आसान नहीं होता। लेकिन जरूरी हो जाय तो क्या होगा, यह भविष्य ही जाने। मुझे लगता है, मेल तो अनिवार्य है। एक ही किनारा कभी होता नहीं है, दूसरा हो तभी प्रवाह बीच में सम्भव है। जीवन को भी दो तट चाहिए ही। वाद और प्रतिवाद एकान्तिक किनारे खडे कर लें, पर जीवन उन्हें किनारे ही रखता है। जब वाद की कट्टरता ओछी और अधूरी पडकर हमसे छूटेगी, जीवन की स्वीकारता हममें आयेगी, तो सह-अस्तित्व से आगे सहकार-सहयोग के रास्ते ऐकात्म्य की ओर हम बढ़ेंगे। पर तब छावनियां टूट जायेंगी, समाज मानव-समाज होगा और विज्ञान बडी-से-बडी दूरी को नष्ट कर चुका होगा।

पूंजीवाद और साम्यवाद

६२ छावनियो का जिक्र आपने ऊपर किया। छावनियां विश्व मे इस समय दो ही हैं, साम्यवादी और पूंजीवादी। इन दोनो भौतिकवादी अर्थ-प्रणालियो के बीच जो विरोध है, वह क्या केवल सैद्धांतिक ही है ? उससे अधिक कुछ नहीं ?

दोनों में बुनियादी अन्तर नहीं

—"सैद्धान्तिक" और "सैद्धान्तिक से अधिक", प्रश्न के इन शब्दो का आशय मैं ठीक नही समझा। सैद्धान्तिक मूलगत और बुनियादी को भी कह सकते है। लेकिन उन दोनो प्रणालियो मे जो विरोध अथवा विग्रह है, उसे उतना बुनियादी मैं नही मानता। इसलिए सैद्धान्तिक भी मैं नही कहना चाहूंगा। बल्कि उसे शाब्दिक अधिक कहना चाहिए। पूंजी नियामक तत्त्व के रूप मे दोनो जगह व्याप्त है। राज्यवाद को अतिरिक्त केन्द्रित-पूंजीवाद क्यो नहीं कहा जा सकता ? साम्य-

वादी जिन्हें कहा जाता है, वहाँ भी समाज-व्यवस्था का नियमन सिक्के से होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में शायद पूँजीपति एक से अधिक हो सकते हैं। साम्यवादी व्यवस्था में समस्त पूँजी का पति एक है और वह राज्य है। सच यह कि पूँजीवादी अथवा स्वतन्त्र व्यवस्थावाले देशों में भी पूँजी अपने ही जोर से कम हाथों में और अन्त में एक हाथ में संगृहीत होने की ओर बढ़ रही है। कहना चाहिए कि इसी प्रवृत्ति का चरम रूप साम्यवाद है। पार्लियामेण्टरी डिमोक्रेसी में अनेक दल होते हैं, क्योंकि अनेक स्वार्थ होते हैं। वे दल क्रमशः घटकर मुख्यता से दो रह जाते हैं अर्थात् प्रमुख स्वार्थ दो पंक्तियों में संगठित हो जाते हैं। यदि एक दल बहुत प्रबल हो जाय तो विरोधी स्वार्थ को वह मिटा सकता और सर्वाधिपति के रूप में ऊपर आ सकता है। यदि राज्य को ही जीवन का केन्द्र बनना है, जिसका आशय है सिक्के का केन्द्र बनना तो एक दल और एकच्छत्रवाली व्यवस्था अधिक निरापद समझी जायगी।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का नारा

यों एक ओर नारा है व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का भी। दूसरी ओर का उद्घोष व्यक्ति को अभाव के भय से मुक्ति देने का है। बेकाम और भूखे रहने के लिए व्यक्ति यदि स्वतन्त्र है, तो वह स्वतन्त्रता भी विडम्बना ही है। अमीर बनने की स्वतन्त्रता दूसरे सिरे पर गरीब बनने की स्वतन्त्रता रह जाती है।' इस नाम और तर्क पर साम्यवाद अपने सम्बन्ध में निर्भ्रम हो जाता और राज्य को पूरी तौर पर नियामक सत्ता बनाने का समर्थन पा जाता है। दूसरी ओर स्वतन्त्रता को आदर्श-स्थिति माननेवाला कहता है कि 'राज्यसत्ता ही यदि अभाव भरने और भोजन-वसन देनेवाली हो तो स्वाधीन-चेता पुरुष का क्या होगा? राज्य मालिक होगा तो शेष को उसके अनुगत बन कर रहना होगा। स्वाधीन-चिन्तन और स्वाधीन-साधना की प्रेरणा व प्रोत्साहन की सामग्री उस राज-नियन्त्रित समाज में से मिल नहीं पायगी। मनुष्य इसलिए वहाँ मनुष्यता के वैभव की दृष्टि से दीन-हीन और सम-सामान्य रह जायगा।

दोनों शरीर-प्रधान तन्त्र-प्रधान

इत्यादि तर्क दोनों ओर से एक-दूसरे के लिए दिये जाते हैं। मुझे नहीं प्रतीत होता कि दोनों में किसी और व्यवस्था-संगठन गौण और मनुष्य प्रधान है। जान पड़ता है कि दोनों धारणाएँ तन्त्र प्रधान हैं और दोनों ही उस सभ्यता की अंग रूप हैं, जो शरीर-रचना को प्रथम और मनोभाव को द्वितीय स्थान देती है। इस मूल के

मानव-सामग्री से काम लेना होता है और मनुष्य चलता भावना की वारूद मे है। इसलिए भावना का पहलू लोक-नेता के लिए उतना नगण्य नहीं रहता।

धर्म को जगह मिलेगी, छावनियाँ टूटेंगी

भावना-पक्ष कम्यूनिज्म की वैज्ञानिकता मे प्रवेश पायेगा। तो क्या रासायनिक प्रक्रिया होगी, कहना मुश्किल है। मार्क्सिज्म ईश्वर के और धर्म के लिए जगह नहीं छोडता। कम्यूनिज्म मे उनके लिए जगह रखनी पड जाती है। राज्य के रूप मे बिलकुल सम्भव है कि धर्म को प्रश्रय और सहायता भी देनी पड जाय। राज्य को क्व भावनात्मकता के सहारे की जरूरत नहीं होती ? धर्म इसमें वडे काम आ सकता है। धर्म का मेल होने पर साम्यवाद क्या चीज वनेगा, यह सोचने की वात है। एक तरह वह धर्महीनता का धर्म है। दो धर्मों का मेल आसान नही होता। लेकिन जरूरी हो जाय तो क्या होगा, यह भविष्य ही जाने। मुझे लगता है, मेल तो अनिवार्य है। एक ही किनारा कभी होता नहीं है, दूसरा हो तभी प्रवाह वीच मे सम्भव है। जीवन को भी दो तट चाहिए ही। वाद और प्रतिवाद एकान्तिक किनारे खडे कर लें, पर जीवन उन्हें किनारे ही रखता है। जव वाद की कट्टरता ओछी और अधूरी पडकर हमसे छूटेगी, जीवन की स्वीकारता हममे आयेगी, तो सह-अस्तित्व से आगे सहकार-सहयोग के रास्ते ऐकात्म्य की ओर हम वढ़ेंगे। पर तव छावनियाँ टूट जायेंगी, समाज मानव-समाज होगा और विज्ञान वडी-से-वडी दूरी को नष्ट कर चुका होगा।

पूंजीवाद और साम्यवाद

६२ छावनियो का जिक्र आपने ऊपर किया। छावनियाँ विश्व मे इस समय दो ही हैं, साम्यवादी और पूंजीवादी। इन दोनों भौतिकवादी अर्थ-प्रणालियों के वीच जो विरोध है, वह क्या केवल सैद्धांतिक ही है ? उससे अधिक कुछ नहीं ?

दोनों में बुनियादी अन्तर नहीं

—"सैद्धान्तिक" और "सैद्धान्तिक से अधिक", प्रश्न के इन शब्दो का आशय मैं ठीक नही समझा। सैद्धान्तिक मूलगत और वुनियादी को भी कह सकते हैं। लेकिन उन दोनो प्रणालियो मे जो विरोध अथवा विग्रह है, उसे उतना वुनियादी मैं नही मानता। इसलिए सैद्धान्तिक भी मैं नही कहना चाहूँगा। वल्कि उसे शाब्दिक अधिक कहना चाहिए। पूजी नियामक तत्त्व के रूप में दोनो जगह व्याप्त है। राज्यवाद को अतिरिक्त केन्द्रित-पूंजीवाद क्यो नही कहा जा सकता ? साम्य-

७

वैज्ञानिक अध्यात्म

सह-अस्तित्व

११ वर्तमान सभ्यता के इस अभाव की पूर्ति क्या पंचशील के सिद्धान्त से हो सकती है? क्या दोनों आदमियों का सह-अस्तित्व व्यावहारिक है?

कागजी व्यावहारिकता

—व्यावहारिक तो सह-अस्तित्व ही है। अन्यथा युद्ध और उसकी तैयारी को ही व्यावहारिक मानना होगा इस अर्थ में कि युद्ध के प्रयोग के लिए सब देश सोचते हैं और तैयारी कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि सह-अस्तित्व कागजी व्यावहारिकता है, मन के गहरे में वह नहीं है।

सह-अस्तित्व परस्पर के बीच रेखा को पक्की करता और उस मर्यादा को सबसे कायम और अन्तिम ठहराता है। वह राज्य की सार्वभौम (Sovereign) सत्ता को स्वीकार करता है। इस आशय में तो यह सिद्धान्त सत्य है कि वह हिंसा और आक्रमण के अधिकार को सीमित करता है। लेकिन अहिंसा के अधिकार को भी सीमित करने की ओर बढ़ता है तो वह एकदम असत्य बन जाता है। तब मानव-गत आपसी स्नेह और सहानुभूति का उससे अपमान होता है।

आज के पंचशील का सह-अस्तित्व केवल राजनीतिक है। हम सब कहते हैं कि सम्मति तो वह है तक नहीं। 'आउट' जैसी बात बन गया है। इसलिए उसको बहुत ज्यादा महत्व देने में वैज्ञानिक दृष्टि से भी कुछ अर्थ नहीं रह गया है।

यह अधिकार की सीमा बाँधे

आज के ही कामों के सवाल को लीजिये। यह कैसे हो सकता है कि यहाँ जो हो रहा है, दुनिया के अन्य देश भी उसके साथ वास्ता अनुभव न करें। कल जो तिब्बत में हुआ था उसके प्रति यदि मानव-समाज की संवेदना और सहानुभूति सम्भव एवं समर्थ नहीं हुई, तो इसको अप्राकृतिक ही मानना चाहिए, प्रकृत वह नहीं है। राजनीतिक दृष्टि से भारत का चुप रहना धर्म हो सकता है और चीन के तत्सम्बन्धी

विन्दु और कोण से देखें, तो पूजीवादी अथवा साम्यवादी व्यवस्थाओ मे जो अन्तर दिख रहा है, वह सस्कृति की दृष्टि से उतने महत्त्व का नही रह जाता।
मानव-चेतना के लिए जो मूल प्रश्न है वह यह कि आन्तरिक स्नेह-स्फूर्ति को जीवन के वाह्य परिवेश से कितना अवकाश और सहारा प्राप्त होता है। अगर समाज परस्पर स्पर्धा के सम्वन्धो से चलता है, तो मानवीय गुणो पर जोर पडता है, वौद्धिक अस्मिता जागती है। मन में परार्थभाव मन्द होता और स्वार्थभाव तीखा पडता है। यह परिस्थिति हर दो को परस्पर मे ऋण करती है, सयुक्त नहीं करती। एक की सम्भावनाएँ मानो दूसरे को अस्त करने की शर्त पर ही उदय मे आ सकती हैं। अर्थात् आर्थिक विचार समाज के परस्पर सयोजन को परिपूर्ण कर नही सकता। वह यदि किसी समुदाय को सम्पन्न करता भी है, तो इस शर्त पर कि समक्ष प्रति-स्पर्द्धा के लिए कोई दूसरा समुदाय हो, जिसको परास्त करना हो।

साम्यवाद एक आर्थिक विचार

पूंजीवादी विचार प्रकट मे ही आर्थिक है। साम्यवादी विचार भी सर्वथा आर्थिक है। उसकी मूल प्रेरणा आर्थिक खुशहाली है। कुछ की आर्थिक सम्पन्नता के प्रति आकाक्षा और सम्पन्नता के वर्तमान भोक्ताओ के प्रति विद्वेप जगाने से उसका काम सधता है। साम्यवादी राज्य के सामने पूंजीवादी देश अगर न हो, तो मालूम होता है कि उत्साह का आधार वहाँ नही रह जाता। इस प्रेरणा को प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा ही माना जायगा। अर्थात् आर्थिक सम्पन्नता व समृद्धि के लिए जो मनुष्य के अन्दर स्वगत-वासना छिपी रहती है, आर्थिक सभ्यता उसी नीव पर उसीको लहकाती हुई वढती है। इसमें मनुष्य की स्निग्धता सूखती और जलन जागती है।
आर्थिक की जगह पारमार्थिक यदि मूल्य हो, तो व्यक्ति अपने पडोसी की कीमत पर वडे वनने का विचार नहीं अपनायेगा। वल्कि पडोसी को वडा वनाने मे तृप्ति का अनुभव करेगा। वर्तमान सभ्यता मे उस वृत्ति को चेताने की सामग्री नहीं है।

कैसे यह महत्त्व का विचार छूट जाता है। इसलिए शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को अर्द्ध-सत्य मानना चाहिए।

वह आत्मिक विभुता को नहीं गिनता

ऊपर के कथन का आशय केवल इतना ही है कि शस्त्र की अथवा दूसरी भौतिक शक्ति के समक्ष प्रति-शक्ति का अभाव उसके प्रदर्शन और प्रयोग के आमन्त्रण के समान होगा। तब उत्पात अनिवार्य होगा और फिर चाहे शक्ति कितनी भी नगी व बर्बर हो उसकी प्रतिष्ठा होगी। किन्तु सत्ता और शस्त्र के सामने समक्ष और साहस का बल ठहर ही नहीं सकता बल्कि भारी और विजयी भी हो सकता है। इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। यहीं से अहिंसक शक्ति की श्रद्धा प्राप्त की जा सकती है। अकेले ईसा ने अपनी आस्था में अडिग रहकर स्वेच्छापूर्वक मृत्यु स्वीकार को और प्रीतिपूर्ण यही बलिदान इतिहास की वह अमोघ शक्ति बना कि रोम-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा और क्रिस्टेनम का ऐश्वर्य उदय में आया। शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त इस मानवीय और आत्मिक विभुता को गणना में नहीं ले पाता।

धर्म

१५. भौतिक तर्कवाद और वैज्ञानिक जनवाद ने धर्म को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहा है। फिर भी क्या धर्म आज की सभ्यता के कुछ काम आ सकता है? क्या वह शस्त्रों पर अंकुश रख पाने में मानव की सहायता कर सकता है?

व्यवहार भाव से अभिन्न

धर्म आज संगठित मतवाद और पूँजीवाद का नाम बन गया है। लेकिन अनिवार्य है कि कुछ हो, जहाँ से हमारे हृदय को और भावनाओं को पोषण मिले। इस दृष्टि से धर्म सदा उपयोगी रहा है और रहेगा। अपने जैसे अस्तित्ववाले व्यक्ति या पदार्थ के साथ हम समझ या बुद्धि का सम्बन्ध बिठाकर व्यवहार चला लेते हैं। पर अन्दर कुछ अधिक को भी भूख रहती है। वह है, और अतर्क्य है। व्यवहार जिस बुद्धि शक्ति से चलता है, उसका उस मूल की इस भावात्मक (Emotional) भूमिका से अभिन्न है। धर्म उसी तत्त्व की अभिव्यक्ति है। मुझे प्रतीत होता है कि आज की प्रगति से जब जायेंगे जिसके लक्षण प्रकट हैं और जो अनिवार्य है तो धर्म की सम्भावनाओं की ओर ही हम मुड़ेंगे।

समाज का अन्तर्विरोध

समाज के ऊपर स्तर के नीचे आज भी एक पूरी-की-पूरी दुनिया जीती है।

अधिकार के बारे मे सन्धि आदि का हवाला देकर मुह खोलने से वह बाज रह सकता है। पर नैतिक दृष्टि से क्या पीडा प्रकृत नही है? मौन अधर्म नही है? पचशील मानव-धम के अधिकार को एव मानव-सहानुभूति को बाँधनेवाला हो, तो वह गलत है। अनधिकार की सीमा बाध, वही तक ठीक है।

शक्ति-सन्तुलन

६४ किसी अग्रेज ने शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power) के सिद्धात को जन्म दिया था। वर्तमान परिस्थितिया मे इस सिद्धान्त की उपयोगिता पर आपके क्या विचार हैं?

वह प्रकृत हो सकता है

शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को आप प्रकृत कह सकते हैं। उससे स्थिति को समझ लेने मे सहायता मिलती है। तराजू के एक पलडे मे हम सरकारी मोहरवाले एक सेर के बाट को रखते हैं, तो उस तराजू की डडी बराबर तब होगी, जब दूसरे पलडे मे उसी तौल की दूसरी चीज हो। उस सिद्धान्त पर तराजू हमारे काम आती और रोज साग-भाजी वगैरह के तौल-हिसाब मे बडी सहायक होती है। इस शक्ति-सन्तुलन की नीति के उपयोग से वुद्धि प्राप्त हो सकती है कि बाट को हम हलका-भारी भी कर दिया करें, खरीदते वक्त भारी और बेचते वक्त हल्का। यानी, सिद्धान्त जब कि प्रकृत होता है, उपयोग मनोवृत्ति पर निभर करता है।

उसमें से शस्त्र-सन्नद्धता निकली है

शक्ति-सन्तुलन के तत्त्व से यह सूझ प्राप्त हो सकती है कि दुश्मन के पास इतनी सेना है, उसके बराबर जितनी शक्ति जब तक हमारे पास रहेगी, शान्ति बनी रहेगी, मात्रा से कम होते ही आक्रमण की परिस्थिति उत्पन्न होगी, तब युद्ध और अन्त मे पराभव अनिवार्य होगा। शान्ति के लिए शस्त्र-सन्नद्धता की नीति Balance of Power के सिद्धान्त मे से निकली ही रखी समझिये। उसके प्रमाण भी आज उजागर हैं।

इसमें नैतिकता, आध्यात्मिकता का अभाव

लेकिन इस सिद्धान्त मे से जिस सत्यता की ध्वनि नही प्राप्त होती है, वह यह कि शक्ति बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक भी होती है। हिसाब से बाहर के इस मानवीय तत्त्व के चमत्कार से इतिहास भरा पडा है। शक्ति-सन्तुलन के नियम से

इस नरक के नियम मानो विल्कुल उलटे होते हैं। जो 'सभ्य' और 'उन्नत' विचार इस गर्भस्थ नरक (under world) को कानून और जेल-फाँसी मे जोर से ही जीतने की कल्पना करता है, वह कभी समग्र व मुक्त नही वन सकता, न मुक्ति दे सकता है। यह अधोगत जगत् वासना के तल से चिपटा हुआ रहता है और उसे अधम वनने की सुविधा इसीसे हमारे समाज मे उसके लिए हो आती है। यों देखा जाय, तो यह अपराधी वर्ग रागात्मक दृष्टि से अधिक सम्पन्न एव विश्वसनीय होता है। एक-दूसरे के लिए जान तक देने की तैयारी जितनी इस वर्ग के लोगो मे मिलेगी, उतनी सभ्य लोगो मे नही। वौद्धिक युग और सभ्यता मे यह भावापन्न वर्ग अनुपयोगी और निकृष्ट वने रहने को वाध्य है, सो ही वह उस सभ्यता के अस्तित्व को वरावर नीचे की ओर खीचता रहता है। सभ्यता के शरीर मे इससे एक गहरा तनाव अनुभव हुआ करता है। अन्त मे जाकर अपने ही इस अन्तर्विरोध की तीव्रता मे उसको सभ्यता को फटकर नष्ट होना पडता है।

स्वर्ग-नरक परस्पर सटे

धर्म मे आप एक विचित्र वात देखेंगे। उसमे पुण्य और पाप, स्वर्ग और नरक, सयम और सेक्स सिमटकर जैसे एक-दूसरे से सटे हुए पास आ जाते हैं। पवित्रता को जैसे आस-पास चारो ओर से अपवित्रता घेर लेती है। उसके इस विलक्षण चुम्वकाकर्षण से अरुचि और भय भी हो सकता है। वौद्धिक विवेक को ही सव कुछ माननेवाला सज्जन-वर्ग इस कारण उससे किनारा ही किये रहता है। उधर दृश्य देखने मे आता है कि भयकर डाकू और घोरतम वेश्या भी मूल मे धार्मिक हैं। इस दृश्य से घवराने की जरूरत नही है। वल्कि यह घटना हमारे लिए चुनौती होनी चाहिए कि हम उसमे की सत्यता को देखें और पहचानें।

धर्म विचार-विवेक को लाँघ जाता है

दास्तोवस्की के प्रसिद्ध उपन्यास "ब्रदर्स कैरेमेजोव" मे वडे भाई और मँझले भाई के अन्तर के द्वारा जैसे लेखक ने यही स्पष्ट किया है। वडा एकदम पापमय दीखता है, मँझला विद्वान् है और तत्व-विचार की ऊँचाइयो मे रहता है। पहला हर तरह लफगा है, दूसरा गौरवशाली है। लेकिन वडे भाई की सम्भावनाएँ कहीं उज्ज्वल हैं, मँझले के अन्तरग मे जैसे काला अँधेरा घुमडता हुआ भरा रहता है। दास्तोवस्की की रचनाएँ जिस वल से आज के वैचारिक को खीचती हैं, वह यही से उत्पन्न होता है। शिष्ट विचार नीचे उस गह्वर मे जाता नही है, झाँकता नहीं है, जहाँ आग-सी धधकी रहती है। इसलिए उस विचार के आधार पर खडा

व्यक्तिगत जीवन की आँच में समूचा साबित नहीं होता और टूट जाता है। हृदय की रागात्मकता को दबाकर जो सभ्यता खड़ी होगी एकांगी रह जायगी। धर्म का इसी जगह उपयोग है। वह वैचारिकता को तोल पाता है। विवेक में भी अधिक वहाँ श्रद्धा की माँग होती है।

वैचारिकता का दुष्परिणाम

कहना चाहिए कि भावना से मुक्त होकर जब विचार की प्रतिष्ठा होती है तो सरस्वतिता से सभ्यता छूट जाती और केवल एक शिष्टाचार बन जाती है। सभ्यता इसलिए उनके-उनके अन्त में इतनी खोखली हो जाती है कि वहाँ संस्कृति के तत्त्व ही नहीं रहते। तत्त्वदर्शी व्यक्ति सारे जानेवाले जब मध्य तथा उच्च समाज में नीचे रहने और अवसरवादी ऊपर उठ आते हैं। मूल्य नैतिक और सामाजिक से उत्तरोत्तर आर्थिक और विज्ञापक होते जाते हैं और पैसा की कीमत समाज में मान्यता पाती है।

सभ्यता की इस एकांगिता और खोखलेपन के लक्षण बहुत प्रकट हो चले हैं। इसलिए धर्म की सम्भावनाओं के खिलने और खुलने का अवसर भी मुझे बहुत दूर नहीं मालूम होता है।

१९. जो धर्म आज के शिक्षित मानस को आकृष्ट कर सकेगा, वह केवल विश्वास व श्रद्धा की चीज तो नहीं हो सकता। फिर उसका रूप क्या होगा? क्योंकि केवल आचार और पूजाचार आज हमारे मन को सन्तुष्ट व तृप्त नहीं कर पाते।

विश्वास बुद्धि का पूरक

निश्चय है कि अगर वैज्ञानिक मानस धर्म की ओर खिंचेगा तो वहाँ वह न होगा जिसे आप केवल विश्वास व केवल श्रद्धा कहते हैं कुछ उससे अधिक होगा। लेकिन 'केवल' जोड़कर विश्वास और श्रद्धा से आप क्या प्रकट करना चाहते हैं मैं समझ नहीं पाता हूँ। विश्वास निश्चित रूप से वह है जो सौ-फी-सदी तर्काधीन नहीं है। तर्क-विचार जहाँ तक जाता है और फिर असमर्थता के कारण रुक जाता है वहीं से विश्वास का आरम्भ है। यह विश्वास सब देखा पाया जाता है। आखिर वैज्ञानिक अपनी खोज में बढ़ पाता है तो किस आधार पर? आप देखेंगे कि वह अन्त में केवल विश्वास है।

बुद्धि जिसको विश्वास का सहारा नहीं वन्ध्या होती है। वह विश्वास बुद्धि का पूरक होता है। वह बुद्धि को नहीं केवल उसके दम्भ को नष्ट करता है और इस तरह केवल उसे नम्रता अनुगत ग्रहणशीलता देता है।

इस नरक के नियम मानो बिल्कुल उलटे होते हैं। जो 'सभ्य' और 'उन्नत' विचार इस गभस्थ नरक (under world) को कानून और जेल-फाँसी के जोर से ही जीतने की कल्पना करता है, वह कभी समग्र व मुक्त नही बन सकता, न मुक्ति दे सकता है। यह अवोगत जगत् वासना के तल मे चिपटा हुआ रहता है और उसे अधम बनने की सुविधा इसीमे हमारे समाज मे उसके लिए हो आती है। यों देखा जाय, तो यह अपराधी वग रागात्मक दृष्टि मे अधिक सम्पन्न एव विश्वसनीय होता है। एक-दूसरे के लिए जान तक देने की तैयारी जितनी इस वर्ग के लोगो मे मिलेगी, उतनी सभ्य लोगो मे नही। बौद्धिक युग और सभ्यता मे यह भावापन्न वग अनुपयोगी और निकृष्ट बने रहने को बाध्य है, सो ही वह उस सभ्यता के अस्तित्व को बराबर नीचे की ओर खीचता रहता है। सभ्यता के शरीर मे इससे एक गहरा तनाव अनुभव हुआ करता है। अन्त मे जाकर अपने ही इस अन्तर्विरोध की तीव्रता मे उसको सभ्यता को फटकर नष्ट होना पडता है।

स्वर्ग-नरक परस्पर सटे

धम में आप एक विचित्र बात देखेंगे। उसमे पुण्य और पाप, स्वर्ग और नरक, सयम और सेक्स सिमटकर जैसे एक-दूसरे से सटे हुए पास आ जाते हैं। पवित्रता को जैसे आस-पास चारो ओर से अपवित्रता घेर लेती है। उसके इस विलक्षण चुम्बकाकर्षण से अरुचि और भय भी हो सकता है। बौद्धिक विवेक को ही सब कुछ माननेवाला सज्जन-वर्ग इस कारण उससे किनारा ही किये रहता है। उधर दृश्य देखने मे आता है कि भयकर डाकू और घोरतम वेश्या भी मूल में धार्मिक हैं। इस दृश्य से घबराने की जरूरत नही है। बल्कि यह घटना हमारे लिए चुनौती होनी चाहिए कि हम उसमे की सत्यता को देखें और पहचानें।

धर्म विचार-विवेक को लाँघ जाता है

दास्तोवस्की के प्रसिद्ध उपन्यास "ब्रदर्स कैरेमेजोव" मे बडे भाई और मँझले भाई के अन्तर के द्वारा जैसे लेखक ने यही स्पष्ट किया है। बडा एकदम पापमय दीखता है, मँझला विद्वान् है और तत्व-विचार की ऊँचाइयो मे रहता है। पहला हर तरह लफगा है, दूसरा गौरवशाली है। लेकिन बडे भाई की सम्भावनाएँ कहीं उज्ज्वल हैं, मँझले के अन्तरग मे जैसे काला अँधेरा घुमडता हुआ भरा रहता है। दास्तोवस्की की रचनाएँ जिस बल से आज के वैचारिक को खीचती हैं, वह यहीं से उत्पन्न होता है। शिष्ट विचार नीचे उस गह्वर मे जाता नही है, झाँकता नहीं है, जहाँ आग-सी धधकी रहती है। इसलिए उस विचार के आधार पर खडा

व्यक्तिगत जीवन की आँच में समूचा साबित नहीं होता और टूट जाता है। हृदय की रागात्मकता को दबाकर जो सभ्यता बनी होगी एकांगी रह जायगी। धर्म का इसी जगह उपयोग है। यह वैचारिकता को लाँघ जाता है। विवेक से भी अधिक वहाँ श्रद्धा की माँग होती है।

वैचारिकता का दुष्परिणाम

कहना चाहिए कि भावना से मुक्त होकर जब विचार की प्रतिष्ठा होती है, तो संस्कारिता से सभ्यता छूट जाती और केवल एक शिष्टाचार बन जाती है। सभ्यता इसलिए उठते-उठते अन्त में इतनी खोखली हो जाती है कि वहाँ संस्कृति के तत्त्व ही नहीं रहते। संस्कारी व्यक्ति माने जानेवाले उस सभ्य तथा उन्नत समाज में पीछे रहते और असंस्कारी ऊपर उठ जाते हैं। मूल्य नैतिक और सचाई से उत्तरोत्तर आर्थिक और दिखाऊ होते जाते हैं और चलन की नीति समाज में मान्यता पाती है।

सभ्यता की इस एकांगिता और बाह्यता के लक्षण बहुत प्रकट हो चले हैं। इसलिए धर्म की सम्भावनाओं के खिलने और खुलने का अवसर भी मुझे बहुत दूर नहीं मालूम होता है।

१९. जो धर्म आज के आधुनिक मानस को आकृष्ट कर सकेगा, वह केवल विश्वास व श्रद्धा की चीज तो नहीं हो सकता। फिर उसका रूप क्या होगा? क्योंकि केवल मतवाद और पूजावाद आज हमारे मन को सन्तुष्ट व तृप्त नहीं कर पाते।

विश्वास बुद्धि का पूरक

निश्चय है कि अगर वैज्ञानिक मानव धर्म की ओर खिंचेगा तो वहाँ वह न होगा जिसे आप केवल विश्वास व केवल श्रद्धा कहते हैं, कुछ उससे अधिक होगा। लेकिन 'केवल' छोड़कर विश्वास और श्रद्धा से आप क्या प्रकट करना चाहते हैं, मैं समझ नहीं पाता हूँ। विश्वास निश्चित रूप से वह है जो तर्क-बुद्धि-द्वारा प्रमाणित नहीं है। तर्क-विचार जहाँ तक जाता है और फिर असमर्थता के कारण रुक जाता है वहीं से विश्वास का आरम्भ है। वह विश्वास बल देता पाया जाता है। आखिर वैज्ञानिक अपनी खोज में बढ़ चलता है, तो किस आधार पर? आप देखेंगे कि वह अन्त में केवल विश्वास है।

बुद्धि जिसको विश्वास का सहारा नहीं अन्धी होती है। पर विश्वास बुद्धि का पूरक होता है। वह बुद्धि को नहीं केवल उसके दम्भ को नष्ट करता है और इस तरह केवल उसे नम्रता अनुगत सहयोगिता देता है।

इस नरक के नियम मानो बिल्कुल उलटे होते हैं। जो 'सभ्य' और 'उन्नत' विचार इस गभस्य नरक (under world) को कानून और जेल-फांसी के जोर से ही जीतने की कल्पना करता है, वह कभी समग्र व मुक्त नही बन सकता, न मुक्ति दे सकता है। यह अधोगत जगत् वासना के तल मे चिपटा हुआ रहता है और उसे अवम बनने की सुविधा इसीमे हमारे समाज मे उसके लिए हो आती है। यों देखा जाय, तो यह अपराधी वर्ग रागात्मक दृष्टि से अधिक सम्पन्न एव विश्वस-नीय होता है। एक-दूसरे के लिए जान तक देने की तैयारी जितनी इस वर्ग के लोगो मे मिलेगी, उतनी सभ्य लोगो मे नहीं। बौद्धिक युग और सभ्यता मे यह भावापन्न वर्ग अनुपयोगी और निकृष्ट बने रहने को वाध्य है, सो हो वह उस सभ्यता के अस्तित्व को बराबर नीचे की ओर खीचता रहता है। सभ्यता के शरीर मे इससे एक गहरा तनाव अनुभव हुआ करता है। अन्त मे जाकर अपने ही इस अन्त-र्विरोध की तीव्रता मे उसको सभ्यता को फटकर नष्ट होना पडता है।

स्वर्ग-नरक परस्पर सटे

धर्म मे आप एक विचित्र बात देखेंगे। उसमे पुण्य और पाप, स्वर्ग और नरक, सयम और सेक्स सिमटकर जैसे एक-दूसरे से सटे हुए पास आ जाते हैं। पवित्रता को जैसे आस-पास चारो ओर से अपवित्रता घेर लेती है। उसके इस विलक्षण चुम्बकाकर्पण से अरुचि और भय भी हो सकता है। बौद्धिक विवेक को ही सब कुछ माननेवाला सज्जन-वर्ग इस कारण उससे किनारा ही किये रहता है। उधर दृश्य देखने मे आता है कि भयकर डाकू और घोरतम वेश्या भी मूल मे धार्मिक हैं। इस दृश्य से घवराने की जरूरत नही है। बल्कि यह घटना हमारे लिए चुनौती होनी चाहिए कि हम उसमे की सत्यता को देखें और पहचानें।

धर्म विचार-विवेक को लांघ जाता है

दास्तोवस्की के प्रसिद्ध उपन्यास "ब्रदर्स कैरेमेजोव" मे बडे भाई और मॅझले भाई के अन्तर के द्वारा जैसे लेखक ने यही स्पष्ट किया है। बडा एकदम पापमय दीखता है, मॅझला विद्वान् है और तत्व-विचार की ऊँचाइयो मे रहता है। पहला हर तरह लफगा है, दूसरा गौरवशाली है। लेकिन बडे भाई की सम्भावनाएँ कही उज्ज्वल हैं, मॅझले के अन्तरग मे जैसे काला अँधेरा घुमडता हुआ भरा रहता है। दास्तोवस्की की रचनाएँ जिस बल से आज के वैचारिक को खीचती हैं, वह यही से उत्पन्न होता है। शिष्ट विचार नीचे उस गह्वर मे जाता नही है, झांकता नही है, जहाँ आग-सी धधकी रहती है। इसलिए उस विचार के आधार पर खडा

वैज्ञानिक भौतिकवाद से निम्नतम अथवा एकांगी बताया था। वैज्ञानिक अध्यात्म का क्या स्वरूप आपकी कल्पना में है, यह स्पष्ट करें।

अभेद श्रद्धा

यह जो ब्रह्माण्ड है जिसका आर-पार नहीं अन्त नहीं ओर-छोर नहीं—इसको हम अपनी चेतना पर कैसे उतारें? कैसे झेलें? इस समग्रता को लेकर जो एक गहरा विस्मय और अनिर्वच भाव हममें होता है वही मानना चाहिए अध्यात्म का बीज है। समग्रता को हम किसी भी तरह समा नहीं पाते अपनी व्यग्रता से ही उसे स्पर्श दे पाते हैं। तब सहसा एक महान विवशता में से आविष्कृत होता है कि उसे नहीं तो अपने को तो उसमें हम समूचा समा दे सकते हैं। इस चेष्टा में से जो क्षणभर भी टिकनेवाला एक सर्वथा निःस्वभाव प्राप्त हो जाता है, वही हमें धन्य कर जाता है। जैसे भाप से झुलसी अवस्था में शीतल जल का स्नान मिल गया हो। डूबकर जब नहाये हुए हम बाहर अपनेपन में लौटते हैं, तो विलक्षण स्वस्थता और स्वच्छता का अनुभव होता है। स्व को खोकर स्वास्थ्य की अनुभूति पाने की प्रक्रिया मनुष्य के लिए अनोखी नहीं है। यह तो सनातन है।
उस समग्र को किसी भाषा या परिभाषा में लाकर अपने समक्ष अवतरित करते और स्तोत्रादि से स्तवन करते हैं, तो मानो कुछ बाह्य धर्म की सृष्टि हो जाती है। यह अपने को खोमने की सुविधा का निर्माण करता है।

भेद विज्ञान

लेकिन समग्र को जहाँ हम अपनी व्यग्रता से छेते हैं, उस व्यग्रता को खोमते नहीं बल्कि सींचते हैं, तो शायद उसको जन्म मिलता है जिसे वैज्ञानिक अध्यात्म कहा जाय। विरह और व्यथा को वहाँ स्तुति-स्तवन में उतना बहुलता और घुल-जाना नहीं जाता जितना कठोर बौद्धिक साधनों से अनुभव में गहरे उतार व ओटा जाता है। इस साधना में ही ज्ञान विज्ञान को जन्म मिलता है। गणित की सृष्टि होती है, जिससे ब्रह्माण्ड अणु में आ जाता है। नारायण नर में अवतीर्ण होता है और समष्टि का अध्ययन हम व्यष्टि में कर पाते हैं। पहली प्रक्रिया अभेद श्रद्धा की थी तो दूसरी भेद विज्ञान की हो जाती है। दोनों ही व्यक्ति में उत्सर्पण जाती और उसे उत्कृष्ट बनाती हैं।

अध्यात्म भेद-विज्ञान से आगे नहीं

जिस अध्यात्म को मैं वैज्ञानिक कहना चाहूँगा वह वह है जो भेद से मुँह नहीं

हर सृजनशील वैज्ञानिक आस्तिक

क्या परम वैज्ञानिकों के उदाहरण आज कम हैं, जो आस्तिक हैं। सच यह कि सृजनशील वैज्ञानिक आस्तिक ही हो सकता है। फिर प्रचलित धर्म से उसका सम्बन्ध हो या न हो।

तत्त्ववाद केवल पात्र है

धर्म भावनात्मक वृत्ति है। सामूहिक भाव मे उसे धारण रखने के लिए एक मत-वादात्मक पात्र आवश्यक होता है। तत्त्ववाद या अमुक धर्म-दर्शन पात्र से अधिक नही है। पात्र न हो, तो रस किसमे टिके? पर रस स्वय पात्र नहीं है, पात्र-निर्भर नही है, यह स्पष्ट होना चाहिए। विज्ञान-शुद्ध मानस रस के नाते पात्र को भी स्वीकार करता हो, तो इसमे कुछ भी अनहोनी बात नहीं है। रस पर ध्यान हो, तो पात्र आपस मे खटकेंगे नही, न उनमे परस्पर गर्व या विगाड़ होगा।

पूजा का इष्ट

पूजावाद का भी रूप सब जगह कुछ अलग-सा बन गया है। क्रिया-काण्ड अलग-अलग हैं। लेकिन पूजा का तत्त्व, जो सब धर्मों मे अनिवार्य है, सो तो मनुष्य के अभिमान को सस्कार देने के लिए इष्ट ही है। मनुष्य उद्धत और धृष्ट होकर अपने और सब के लिए त्रास का कारण ही हो पाता है, सुख-साफल्य का नहीं। स्वय मस्तक झुकाने की यह विशेषता सब प्राणियों को छोडकर केवल मनुष्य मे ही मिलेगी। प्रार्थना मे शीश झुका आने की प्रक्रिया को मनुष्य ने अपने लिए तृप्तिदायक और परिपूरक ही पाया है।

प्रार्थना से कभी किसी ने खोया नही है। जैसे इस पद्धति से उसके अपने स्वय मे कुछ परिवर्द्धन ही हुआ है, विघटन नहीं हुआ है।

पात्रता का महत्त्व

मान लेना चाहिए कि आगामी काल मे जब धर्म की गहरी सम्भावनाएँ प्रस्फुटित होगी, तब पात्र का महत्त्व पात्रता से तनिक भी आगे नही हो पायेगा। महत्त्व रसानुभूति का ही होगा, जिससे व्यक्ति व्यष्टिरूप में व्यस्त न रहकर समग्रता मे खुलेगा और उत्तरोत्तर मुक्त व विस्तृत होता जायगा।

वैज्ञानिक अध्यात्म

६७ आपने एक दिन 'वैज्ञानिक अध्यात्म' शब्द का प्रयोग किया था और उसे

वैज्ञानिक भौतिकवाद से विज्ञानतम अथवा एकात्म बताया था। वैज्ञानिक अध्यात्म का क्या स्वरूप आपकी कल्पना में है यह स्पष्ट करें।

अभेद श्रद्धा

यह जो महाभाव है जिसका आर-पार नहीं अन्त नहीं ओर-छोर नहीं—उसको हम अपनी चेतना पर कैसे सहारें? कैसे झेलें? उस समग्रता को लेकर जो एक गहरा विस्मय और घनिष्ठ भाव हममें होता है, वही मानना चाहिए अध्यात्म का बीज है। समग्रता को हम किसी भी तरह समा नहीं पाते अपनी व्यष्टता से ही उसे स्पर्श दे पाते हैं। तब सहसा एक गहन विवशता में से आविष्कृत होता है कि उसे नहीं तो अपने को तो उसमें हम समूचा समा दे सकते हैं। इस चेष्टा में से जो क्षणभर भी टिकनेवाला एक सर्वथा निःस्वभाव प्राप्त हो जाता है वही हमें धन्य कर जाता है। जैसे घाम से झुलसी अवस्था में शीतल जल का स्नान मिल गया हो। डूबकर जब नहाये हुए हम बाहर अपनेपन में लौटते हैं, तो विलक्षण स्वस्थता और स्वच्छता का अनुभव होता है। स्व को खोकर स्वास्थ्य की अनुभूति पाने की प्रक्रिया मनुष्य के लिए अनोखी नहीं है। यह तो सनातन है।
उस समग्र को किसी भाषा या परिभाषा में लाकर अपने समक्ष अवतरित करते और स्तोत्रादि से स्तवन करते हैं, तो मानो कुछ बाह्य धर्म की सृष्टि हो जाती है। वह अपने को होमने की सुविधा का निर्माण करता है।

भेद विज्ञान

लेकिन समग्र को जहाँ हम अपनी व्यष्टता से लेते हैं उस व्यष्टता को होमते नहीं समग्र झेलते हैं तो शायद उसको जन्म मिलता है जिसे वैज्ञानिक अध्यात्म कहा जाय। विराट और व्यष्टि को यहाँ स्तुति-स्तवन में उतना बहलाया और पुकारा नहीं जाता जितना कठोर बौद्धिक साधनों से अनुभव में गहरे उतारा व भोगा जाता है। इस साधना में ही ज्ञान-विज्ञान को जन्म मिलता है। व्यष्टि की दृष्टि पैनी है जिससे ब्रह्माण्ड अणु में आ जाता है। नारायण नर में अवतीर्ण होता है और समष्टि का अध्ययन हम व्यक्ति में कर पाते हैं। पहली प्रक्रिया अभेद श्रद्धा की थी तो दूसरी भेद-विज्ञान की हो जाती है। दोनों ही व्यक्ति में उत्कर्षण करती और उसे उत्कृष्ट बनाती हैं।

अध्यात्म भेद विज्ञान से आगे नहीं

जिस अध्यात्म को मैं वैज्ञानिक कहना चाहूँगा, वह वह है जो भेद से मुँह नहीं

हर सृजनशील वैज्ञानिक आस्तिक

क्या परम वैज्ञानिकों के उदाहरण आज कम हैं, जो आस्तिक है। सच यह कि सृजनशील वैज्ञानिक आस्तिक ही हो सकता है। फिर प्रचलित धर्म से उसका सम्बन्ध हो या न हो।

तत्त्ववाद केवल पात्र है

धर्म भावनात्मक वृत्ति है। सामूहिक भाव मे उसे धारण रखने के लिए एक मत-वादात्मक पात्र आवश्यक होता है। तत्त्ववाद या अमुक धर्म-दर्शन पात्र से अधिक नही है। पात्र न हो, तो रस किसमे टिके? पर रस स्वयं पात्र नहीं है, पात्र-निर्भर नही है, यह स्पष्ट होना चाहिए। विज्ञान-शुद्ध मानस रस के नाते पात्र को भी स्वीकार करता हो, तो इसमें कुछ भी अनहोनी बात नहीं है। रस पर ध्यान हो, तो पात्र आपस मे खटकेंगे नही, न उनमे परस्पर बैर या बिगाड़ होगा।

पूजा का इष्ट

पूजावाद का भी रूप सब जगह कुछ अलग-सा बन गया है। क्रिया-काण्ड अलग-अलग हैं। लेकिन पूजा का तत्त्व, जो सब धर्मों मे अनिवार्य है, सो तो मनुष्य के अभिमान को सस्कार देने के लिए इष्ट ही है। मनुष्य उद्धत और धृष्ट होकर अपने और सब के लिए त्रास का कारण ही हो पाता है, सुख-साफल्य का नहीं। स्वयं मस्तक झुकाने की यह विशेषता सब प्राणियों को छोडकर केवल मनुष्य में ही मिलेगी। प्रार्थना मे शीश झुका आने की प्रक्रिया को मनुष्य ने अपने लिए तृप्तिदायक और परिपूरक ही पाया है।

प्रार्थना से कभी किसी ने खोया नहीं है। जैसे इस पद्धति से उसके अपने स्वयं मे कुछ परिवर्द्धन ही हुआ है, विघटन नही हुआ है।

पात्रता का महत्त्व

मान लेना चाहिए कि आगामी काल मे जब धर्म की गहरी सम्भावनाएँ प्रस्फुटित होंगी, तब पात्र का महत्त्व पात्रता से तनिक भी आगे नही हो पायेगा। महत्त्व रसानुभूति का ही होगा, जिससे व्यक्ति व्यष्टिरूप मे व्यस्त न रहकर समग्रता मे खुलेगा और उत्तरोत्तर मुक्त व विस्तृत होता जायगा।

वैज्ञानिक अध्यात्म

६७ आपने एक दिन 'वैज्ञानिक अध्यात्म' शब्द का प्रयोग किया था और उसे

वैज्ञानिक भौतिकवाद से निरस्तम अथवा एकात्म बताया था। वैज्ञानिक अध्यात्म का क्या स्वरूप आपकी कल्पना में है यह स्पष्ट करें।

अभेद श्रद्धा

यह जो ब्रह्मांड है, जिसका आर-पार नहीं अन्त नहीं ओर-छोर नहीं—इसको हम अपनी चेतना पर कैसे सहारें? कैसे झलें? इस समग्रता की सिफर की एक गहरा विराग और घनिष्ठ भाव हममें होता है यहीं मानना चाहिए अध्यात्म का बीज है। समग्रता को हम किसी भी तरह समा नहीं पाते अपनी व्यष्टता से ही उसे स्पर्श कर पाते हैं। तब सहसा एक महत विवशता मन से आविष्कृत होता है कि जसे नहीं तो अपने को तो उसम हम समूचा समा दे सकते हैं। इन चेष्टा में से की अपनापन की टिकनेवाला एक सर्वथा निःस्वभाव प्राप्त हो जाता है, वही हम बन्द कर जाता है। जैसे घाम से झुलसी अवस्था में शीतल जल का स्नान मिल गया हो। डूबकर जब नहाये हुए हम बाहर अपनेपन में लौटते हैं, तो विलक्षण स्वस्थता और स्वच्छता का अनुभव होता है। स्व को खोकर स्वास्थ्य की अनुभूति पाने की प्रक्रिया मनुष्य के लिए अनोखी नहीं है। वह तो सनातन है। उस समग्र को किसी भाषा या परिभाषा में बांधकर अपने समक्ष अवतरित करते और स्तोत्रादि से स्तवन करते हैं, तो मानो कुछ बाह्य धर्म की सृष्टि हो जाती है। यह अपने को होमने की सुविधा का निर्माण करना है।

भेद विज्ञान

लेकिन समग्र को जहाँ हम अपनी व्यग्रता से लेते हैं उस व्यग्रता को होमते नहीं बल्कि सेंकते हैं, तो शायद उसको जन्म मिलता है जिसे वैज्ञानिक अध्यात्म कहा जाय। विराट और व्यष्टि को वहाँ स्तुति-स्तवन में उतना बहुलता और पृथकता नहीं जाना जितना कठोर बौद्धिक साधनों से अनुभव में गहरे उतारा व भोगा जाता है। इस साधना में ही ज्ञान-विज्ञान को जन्म मिलता है। ग्रथित की सृष्टि होती है जिससे ब्रह्माण्ड अणु में आ जाता है। नारायण नर में अवतीर्ण होता है और समष्टि का अध्ययन हम व्यष्टि में कर पाते हैं। पहली प्रक्रिया अभेद श्रद्धा की थी तो दूसरी भेद-विज्ञान की हो जाती है। दोनों ही व्यक्ति में उत्कर्ष लाती और उसे उत्कृष्ट बनाती हैं।

अध्यात्म भेद-विज्ञान से भाग नहीं

जिस अध्यात्म को मैं वैज्ञानिक कहना चाहूँगा वह वह है जो भेद से मुँह नहीं

वे एक ही ईश्वर की खोज व उपलब्धि के अर्थ चलते हैं? तब क्या यहाँ भी उन दोनों का मिलन सम्भव नहीं है?

दोनों दो तट

अगर कहा जाय कि वे दो तट हैं। स्नान नदी में होता है और दोनों में से किसी तट से उतर कर स्नान किया जा सकता है। इस तरह नदी में वे दोनों तट सहज मिले ही हुए हैं। इसीको दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जब तक प्रवाह है प्रवाह में पानी है, तट दो रहने ही वाले हैं। प्रवाह के स्पर्श के माध्यम के अतिरिक्त वे कभी आपस में मिलनेवाले भी नहीं हैं।

वाद अनुभूति में खोता है

अर्थात् वाद की समाप्ति विवाद अथवा प्रतिवाद से कभी सम्भव हो नहीं सकती। भावों में और जीवन में पहुँचकर वाद टिकता नहीं, स्वतः ही किनारा बना किनारे रह जाता है। शब्दों द्वारा हम जिसे अभिव्यक्त करते हैं, उस अनुभूति में अभेद है तो अभिव्यक्ति में भेद है। गुड़ खाकर अगर एक 'मीठा' और दूसरा 'बढ़िया' कहे तो स्वाद के सार में अन्तर नहीं है ध्वनि में अन्तर अवश्य रहता है। इसलिए जो अधिकांश खाली-खाली चीजों को लेकर चलता है व्यवहार से आगे बढ़ने पर यथार्थ और भावार्थ के बारे में हमेशा ही उसे मतभेद की उलझन सामने मिलती है। जो सचमुच पाना चाहता है 'अहंभाव' को टिकाना-जिताना नहीं चाहता, वह शब्दों पर अटकता नहीं है विवाद में समय और समझ नहीं खोता है बल्कि भावावगाहन द्वारा परस्परोपलब्धि की चेष्टा करता है। शब्दों के पीछे के भाव में उतरने के यत्न से सहानुभूति उसे सहज होती है।

इस प्रकार मतवाद यदि उन पर आग्रह रखा जाय तो, केवल अहंकार को व्यक्त करते हैं। विग्रह वादों में है, तो अहंवाद के कारण। अन्यथा सब वाद उसीको पाने और देने की कोशिश में बने हैं, जो परम सत्य है। इसीसे वह अगम और अरूप है। अतः सब रूप स्वरूपवान् होकर जब कि विविध चलते हैं, तब प्रेम के नाते वे फिर उसी एक में समाहित होते हैं।

भेद अभेद परस्पर पूरक

यह एकता और अभिन्नता श्रद्धा में से ही फैल सकती है। तब बुद्धि को यह अनिवार्य नहीं मानना चाहिए कि भाषा के प्रकट अन्तर को न पहचाने अथवा उस अन्तर का खण्डन करे। अर्थात् मतवादों के सूक्ष्म अन्तर को पहचानना और उनका

सिर्फ सूत्र में बचपन से सिद्ध नहीं हो सकती है। न वह व्यवहार से निरपेक्ष है। व्यवहार परस्पर के सम्बन्धों के आधार पर चलता है और व्यक्तित्व की आन्तरिक एकता इन सम्बन्ध-सूत्रों के द्वारा बाहर प्रमाण और सद्भाव उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती। व्यक्ति को विराट् बनना है वह इसी प्रक्रिया से। कोई अपने में बड़ा हो इसका अर्थ ही कुछ नहीं। ऐसा बड़प्पन एकता का नहीं अहं का द्योतक है। अहं के रोग में गहरे फँसे हुए प्राणी ही विक्षिप्त माने जाते हैं। आप किसी पागलखाने में जाकर देखिये सब अपने को परमात्मा मानते हैं नहीं तो बादशाह, नवाब, राजा वगैरह। यह शक्ति-भ्रम की सीमा है। इसके विरोध में एक वह भी स्व-भाव सिद्ध किया जा सकता है, जिसमें न स्व के भीतर गाँठ हो न स्व-पर में काट की अनुभूति हो। वह अवस्था शक्ति-सम्पन्नता की पराकाष्ठा होगी।

स्वप्न-ग्रस्त, विचार-ग्रस्त अहं

इस पर से यह प्रकट होना चाहिए कि शक्ति विनम्रता और निरहंकारता के साथ है। लेकिन नहीं ऐसा दीखेगा कि अहंकार नष्ट नहीं हुआ है उससे पुष्ट, विस्तृत हुआ है और वहीं शक्ति के दर्शन प्राप्त हुए हैं। इतिहास के प्रसिद्ध और प्रचण्ड विजेता लोग क्या निरहंकारी थे? अलेक्जेण्डर, चंगेज़ खाँ, नेपोलियन, हिटलर, स्तालिन अहंकार से मुक्त थे? किसीके लिए भी उन्हें नम्र और निरीह मानना कठिन होगा। अहंकार की भाषा में उन्हें मूर्ख और इस तरह इतिहास को फिर उनके साथ एकीकृत मानना सचमुच सम्भव नहीं है। इसलिए जो 'शक्ति' उनमें से प्रकट हुई, वह उस अर्थ में अपरिमित भी थी। फिर भी अपरिमित यदि शक्ति रूप हुई और दीखी तो क्यों? मैं यह कहूँगा कि एक अमुक विचार या स्वप्न या कल्पना को प्राणपण से अपना रहने के कारण उनके व्यक्तित्व को एक अन्तर्गठन प्राप्त हो गया था और वही उनकी प्रभुता व विभुता का कारण बना था। अहंकार मानो उनका स्वगत न रहकर विचारगत और आदर्शगत हो गया था। उस अर्थ में उसने दूसरों को भी अपने भीतर समा लिया था। लाखों लोग जो उनकी दीर्घ पर लेकर इकट्ठे हो जाते और उनके आदेश पर जान-माल देने को तैयार हो गये तो वह चमत्कार एक स्वप्न-निष्ठा में से ही सम्भव बन आया होगा।

पूर्ण संयुक्त व्यक्तित्व में हिंसा नहीं मिलेगी

लेकिन मेरे मन में प्रश्न है कि परिपूर्ण संयुक्तता यदि हो, तो व्यक्तित्व का क्या स्वरूप होगा? मुझे यह अनिवार्य जान पड़ता है कि तब हिंसा के भाव या कर्म

पृथक्करण पर जाना बुद्धि व व्यवहार के लिए उपयोगी होता है। बुद्धि की यह क्षमता कम या नष्ट होने से श्रद्धा बलवती होगी, यह समझना भ्रम है। भेद-विज्ञान की सूक्ष्मता प्रतिभा मे जितनी अधिक होगी, अभेद-श्रद्धा उतनी ज्यादा ही स्थिर और सतेज हो सकेगी। बुद्धि द्वारा जाना जानेवाला भेद और श्रद्धा के द्वारा अनु-भव मे आनेवाला अभेद परस्पर पूरक और अभिन्न है। इन दोनो मे विमुखता पैदा होने देना जीवन का ह्रास करना है।

६९ तब इन दोनो मे से कौन मार्ग व्यक्ति को सच्ची व स्थायी शक्ति प्रदान कर सकेगा?

शक्ति मानसिक सघटन मे

शक्ति मार्ग मे नही है, चलनेवाले के भीतर उसका स्रोत है। असल मे शक्ति हमारे भीतर और बाहर की एकता का प्रतिफलन है। हम अन्दर कटे-बँटे रहते है, व्यक्तित्व मे स्तर रहते हैं और चेतना उन विविध स्तरो पर द्वन्द्वो मे घिर और गुँथकर क्षय एव क्षीण होती रहती है। यदि चेतना मे उलझन और ग्रन्थियाँ न पड़े, तो जीवन का ऐश्वर्य प्रकट हो उठता है। दीनता और हीनता मानसिक विघटन का फल होता है। यह विघटन आगे बढकर विक्षिप्तता को जन्म देता है। दूसरी दिशा मे यदि सघटन या सुगठन होता जाय, तो अमित क्षमता और शक्ति का उदय होता है।

अन्त प्रवृत्तियो का एकीकरण

प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व मे यह एकत्रितता और एकाग्रता लाना चाहता है। दृढ व्यक्तित्व हमे दिखायी देते हैं, वे वही है जिन्होने किसी न किसी प्रकार यह योग और ऐक्य अमुक मात्रा मे साधा है। अमुक विचार, मत, आदर्श या आसक्ति के पीछे जिन्होने अपने को होम दिया है, एक उसी लगन मे बाँध लिया है, ऐसे लोग बहुत कुछ कर जाते हैं। दृढ़ता व क्षमता अन्त प्रवृतियो के इसी एकीकरण का नाम है।

नि स्वता, स्व-भावता

दो शब्द चला करते हैं, अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। ये दोना वृत्तियाँ और प्रवृ-त्तिया अन्त मे एकता साधन के लिए ही हैं। जो अन्दर मे एक बनता है, बाहर के साथ भी उसका सामञ्जस्य बढ़ता है। या बाहर के प्रति अपना सम्बन्ध सही बनाता है, वह अपने अन्दर में शान्त और तृप्त बनता है। अर्थात् एकता किसी

कठोर ही टूटेगा

इससे यह मान लिया जाय मैं तो मानता ही हूँ कि मानव व्यक्तित्व की अखण्ड पूर्णता कठोरता मे नहीं कोमलता मे ही सम्भव हो सकती है। कठोरता मे से जिन्होंने एकाग्रता की साधना चाही ऐसे उग्र तपस्वी और उद्भट पुरुष अन्त मे टूटे ही हैं, क्योंकि गहरे मे उनमे कहीं दरार और छेद पड़ गयी हुई रहती है।

मुक्त मानव

जिनको इतिहास ने और मानवता ने मुक्त माना है जिन्हें व्यवहार तक कर कर मनुष्य की आतुर व्यथा तृप्ति नहीं पाती है, जिन पर कष्ट पर कष्ट आते गये हैं और जिनसे उत्तर मे मिठास पर मिठास मिलती गयी है जिन्होंने बलिदान किया नहीं है तिल-तिल अपना ही बलिदान दिया है वे पुरुष ही उस सिद्धि के परम दृष्टान्त बने हैं जिसे पूर्णयोग (Complete integration of personality) कहा जा सकता है।

के लिए वहां अवकाश नहीं रह जायगा। दुश्मन न रहेगा। जब तक सम्भावना है तब तक सुरक्षा में कुछ त्रुटि ही माननी चाहिए। जो प्रेम में सदा आगे रहता है, उसमें वैर-भाव या पर-भाव कहाँ रह जायगा? जो इस दूसरे प्रकार के पुरुष भी निडर हैं और इनका डर कायरता का नहीं माना जाता है। पहले प्रकार के शूर-वीर लोग बढ़ते चले गए, बाधाओं को काटते गिराते चले गए और उन्हें यह लगा ही नहीं कि वे क्या कर रहे हैं। मानो वे हिंसा-अहिंसा से ऊँचे थे और सिर्फ अपनी शक्ति के प्रभावशाली आचरण कर रहे थे। 'मारना' इस शब्द का, मानो हो जैसे उनके पास न था और किसी प्रकार की दुविधा-कल्पना उन्हें इस सम्बन्ध में नहीं प्रतीत होती थी। अब दूसरी तरह के लोगों की तुलना में ईसा और गांधी जैसे पुरुषों को लीजिए। मारने के शब्द और विचार से ही मानो वे सिहर काँप जाते हैं। जैसे मारने के भय से ही उन्हें भय हो। मरने से अवश्य उन्हें डर न था। जान पड़ता है कि पहले प्रकार के पराक्रमी पुरुष मारने के सम्बन्ध में निडर थे, तो इस आधार पर कि सारा डर उन्हें मरने से लगा रहा। इस सच्चाई की साक्षी उन सभी के जीवन में अवश्य मिल जायगी। चंगेज आदि के इन योद्धाओं के प्रयत्नों की कथा तो सुविदित ही है, जो मौत से बचने के लिए उन्होंने किए। दूसरी ओर ईसा-गांधी को अपनी मृत्यु के बारे में अखण्ड निर्भयता यदि प्राप्त हुई, तो शायद इस आधार पर कि भय की सारी क्षमता उन्होंने ईश्वर, पाप, हिंसा के प्रति समर्पित कर दी थी। सब चिन्ता दूसरे के कष्ट की, इससे अपने मृत्यु-कष्ट के प्रति भी सानन्द निश्चिन्तता!

हिंसा का मूल भय में

मुझे प्रतीत होता है कि हिंसक पराक्रम बुनियाद में अपने डर में से निकलता है। अपना डर मूल में संयुक्तता नहीं, विभक्तता का परिचायक है। अर्थात् सम्पूर्ण संयुक्तता ईश्वर और प्रेम में से ही प्राप्त हो सकती है। वह जो कभी टूटे नहीं, डिगे नहीं, ऐसी दृढ़ता हिंसक नहीं हो सकती। हिंसक दृढ़ता कट्टर होती है, लोच उसमें नहीं होता। इससे दृढ़ता भी वह सच्ची नहीं होती। ऐसा बल सदा अपने से अधिक बल से डर जाता है। इस बल से प्रबल माने जानेवाले व्यक्तियों के समक्ष मानो उनके पुत्र-कलत्र की हत्या का दृश्य आये, तो क्या होगा? क्या वे अविचल रह सकेंगे? सबके मन से उत्तर निकलेगा कि मारने में जितने निःस्पृह वे लोग हो सके, स्वयं और स्वकीय की मौत पर निश्चय ही वे उतने ही उद्विग्न हो जाते। दूसरी ओर गांधीजी के बारे में यह सोचा भी नहीं जा सकता कि स्वयं उनके पुत्रों को उनके सामने फांसी दी जाती, तो गांधी तनिक डिगते!

द्वितीय खण्ड

पश्चिम

काम और शोषण से शुरू हुआ। परमार्थ बीच में से ओझल हो चला। सामूहिक स्वार्थ फूल और फैलकर लोक-मानस पर छा गये। विज्ञान ने जो और जितनी सुविधा पैदा की वह मानो इस समूह-स्वार्थ के अधीन होकर रह गयी। परमार्थ के प्रतिनिधि-जनों में सूझ-बूझ नहीं देखी गयी कि वे विज्ञान की इस विशाल शक्ति को सही उपयोग में ला सकें। पदार्थ के इस बृहत् बल के समक्ष मानो उन पारमार्थिकों को आत्मरक्षा और आत्मत्राण की सूझी। वे तत्त्ववाद और दर्शनवाद में बिखरते-खोते चले गये। स्वार्थ के हाथ संगठन और प्रगति आयी।

ऊपर जो कहा वह भाषा ही है। उसमें से किसी निश्चित कारण-कार्य को बिठाकर दिखाने का मेरा आशय नहीं है। इतिहास की व्याख्या एक नहीं अनेक हो सकती हैं। वह व्याख्या भौतिक हो सकती है, चाहे तो आत्मिक भी की जा सकती है। लेकिन उस सबकी यहाँ संगति नहीं है। जिस भाँति चाहे हम इतिहास से अपनी दृष्टि और रुचि का सम्बन्ध बना-बिठा सकते हैं। उस इतिहास के पट की बनावट को स्पष्ट करने से अधिक मुझे रुचि है वर्तमान के आगामी भविष्य में कदम बढ़ाते जाने की प्रक्रिया में। तत्काल से स्वतन्त्र और निरपेक्ष भूतकाल में मुझे रस नहीं है, न भावी की कल्पनाओं में जा बैठने का मेरा चाव है। ऐसा भी लगता है कि भूत और भावी में शरण लेने की आवश्यकता वर्तमान के प्रश्नों की परेशानी से बचने की खातिर होती है। बचाव उन प्रश्नों से वर्तमान से बाहर कहीं है नहीं। बचाव-सा जो मालूम होता है वह सिर्फ भटकाव है। इसलिए उन प्रश्नों का सामना ही पुरुषार्थ कहलाता है। दूसरा सब कापुरुषता है। इसी कारण धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र है और कुरुक्षेत्र युद्ध-क्षेत्र है। युद्ध से विमुख जो धर्म है वही दर्शन बनता है। दार्शनिक बनकर शायद मौका होने से छुट्टी हो जाती है। यही दार्शनिकता का खतरा है।

आपका प्रश्न एक तरह दर्शन और तर्क के जाल के लिए निमन्त्रण है। मैं उसमें नहीं जाना चाहता।

वस्तुवादी तृष्णा प्रतिक्रिया

प्रवाह-पतित वस्तुवादी तृष्णा मुझे प्रतिक्रिया जान पड़ती है। चुनौती का सामना उसमें नहीं, मिलता पलायन है। गांधीजी ने अंग्रेज को यही कहा कि तुम क्यों नहीं पहचानते कि हिन्दुस्तान को गुलाम रखने के बहाने तुम अपने को गुलाम बना रहे हो। उससे आज़ाद करना तुम्हारा इसलिए भी पहला फ़र्ज़ है कि तुम खुद आज़ाद बनो। भारत के प्रति पीछे होना पहले अपने प्रति फ़र्ज़ है। इसलिए भारत की दुर्दशा का नाम लेकर अपने को भ्रमणा में न डालो। अर्थात् वह भाव-

हैं, लेकिन सभी जगह उनमे अपना-अपना राष्ट्रीय अभिनिवेश भी है। वही कुछ बढकर विद्वेप और सशय बन जाता है। उनके अधीन होकर चलने मे विभिन्नता कुछ ऐसी भी हो जाती है कि परस्पर को सम्पन्न करने की जगह उल्टे विपन्न कर डाले। योरप के देशो मे, और वह हवा सब कही बह रही है, मुझे अनुभव हुआ कि सभ्यता का जो दौर चल रहा है, उनमे पुरुपत्व ऊपर और प्रधान है, स्त्रीत्व का योग मन्द और यथामात्रा से कम है। भारत की धर्म-प्रधानता मे मैंने ऐसा अनुभव नही किया था। पश्चिम की, या कहो जमाने की, वास्तविक सभ्यता कर्म प्रधान इतनी जान पडी कि धार्मिक भावना का समय पर समुचित सयोग उसे नही मिला, तो वह अपने को खा जायगी और सबको भी व्यस्त-ध्वस्त कर डालेगी। कर्म का ज्वर मालूम हुआ और धर्म का डर। डर का ही यह फल मानना चाहिए कि कुछ वर्ग वहाँ अब भी बुरी तरह धर्म मे चिपटे और शरण लेते दीखते हैं।

पूर्व भी उसके चक्कर में

७२ जो ऊपर आपने कहा, वह क्या पूर्वीय देशो के बारे मे भी उतना ही सच है, जितना कि पश्चिम के यूरोपीय देशों के बारे मे। अर्थात् चीन अथवा जापान में भी क्या आपने कर्म-ज्वर को ही प्रधान पाया ?

—हवा, मैंने कहा, पश्चिम से उठकर वही दुनिया मे बह रही है। पूरब के देश अपने अधिष्ठान से सभी उखड गये हैं, ऐसा तो नही है। पर खतरा है और एक-एक कर उनके पाँव लडखडाते-से दीखते हैं। अर्थवाद उसी कर्मवाद का रूप है और हमारा भारत भी राज्य-स्तर पर उस चक्कर मे दीखता है।

७३ इस कर्मवाद अथवा अर्थवाद के मूल मे नये राजकीय वाद हैं अथवा यत्र हैं अथवा इस ज्वर का कोई विशेष मनोवैज्ञानिक व दार्शनिक कारण है ?

—जो भी होता है, सच ही अकारण नही होता। एक अनिवार्यता उसके पीछे होती है।

विज्ञान निहित स्वार्थों के हाथ पडा

मानव-बुद्धि को निरन्तर विकास पाते जाना था। हो नही सकता था कि समय पर उसमे से विज्ञान की निष्पत्ति न हो। उस समय धर्म-भावना में इतनी सूझ-बूझ न पायी गयी कि वह विज्ञान को सभाल ले और उसका उपयोग और नियोजन करे। यन्त्र की वृद्धि और कुशलता जनमी, तो वह समूह अथवा राष्ट्रवादी निहित स्वार्थों के हाथ आ गयीं। उन्होंने यन्त्रों का विनियोग साधा। औद्योगिक स्पर्द्धा पैदा हुई। उपनिवेश जनमे। आयात-निर्यात का क्रम सहज आवश्यकता से टूटकर

काम और शोषण से जुड़ गया। परमार्थ बीच में से ओझल हो चला। सामूहिक स्वार्थ फूल और फैलकर लोक-मानस पर आ छाये। विज्ञान ने जो और जितनी सुविधा पैदा की वह मानो इस समूह-स्वार्थ के अधीन होकर रह गयी। परमार्थ के प्रतिनिधि-वर्गों में सूझ-बूझ नहीं देखी गयी कि वे विज्ञान की इस विशाल उपलब्धि को सही उपयोग में लगा सकें। पदार्थ के इस बृहद् चक्र के समक्ष मानो उन परमार्थियों को आत्मरक्षा और आत्मसांत्वना की सूझी। वे तत्त्ववाद और दर्शन वाद में बिखरते-खोते चले गये। स्वार्थ के हाथ संगठन और प्रगति आयी।

ऊपर जो कहा वह माया ही है। उसमें से किसी निश्चित कारण-कार्य को निकालकर दिखाने का मेरा आशय नहीं है। इतिहास की व्याख्या एक नहीं अनेक हो सकती है। वह व्याख्या भौतिक हो सकती है, चाहो तो आत्मिक भी की जा सकती है। लेकिन उस सबकी यहाँ संगति नहीं है। जिस भाँति चाहे हम इतिहास से अपनी दृष्टि और रुचि का सम्बन्ध बना-बिठा सकते हैं। उस इतिहास के पट की बनावट को स्पष्ट करने से अधिक मुझे रुचि है वर्तमान के आगामी भविष्य में कदम बढ़ाते जाने की प्रक्रिया में। तत्काल से स्वतन्त्र और निरपेक्ष भूतकाल में मुझे रस नहीं है, न भावी की कल्पनाओं में जा बैठने का मेरा वश है। ऐसा भी लगता है कि भूत और भावी में शरण लेने की आवश्यकता वर्तमान के प्रश्नों की परेशानी से बचने की खातिर होती है। बचाव उन प्रश्नों से वर्तमान से बाहर कहीं है नहीं। बचाव-सा जो मालूम होता है वह सिर्फ बहकाव है। इसलिए उन प्रश्नों का सामना ही पुरुषार्थ कहलाता है। दूसरा सब का-पुरुषता है। इसी कारण धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र है और कुरुक्षेत्र युद्ध-क्षेत्र है। युद्ध से विमुख जो धर्म है वही दर्शन बनता है। दार्शनिक बनकर आदमी योद्धा होने से छुट्टी हो जाती है। यही दार्शनिकता का खतरा है।

आपका प्रश्न एक तरह दर्शन और तर्क के वाद के लिए निमन्त्रण है। मैं उसमें नहीं जाना चाहता।

वस्तुवादी तृष्णा : प्रतिक्रिया

प्रवाह-पतित वस्तुवादी तृष्णा मुझे प्रतिक्रिया जान पड़ती है। चुनौती का सामना उसमें नहीं जितना पलायन है। गांधीजी ने अंग्रेज को नहीं कहा कि तुम क्यों नहीं पहचानते कि हिन्दुस्तान को गुलाम रखने के बदले तुम अपने को गुलाम बना रहे हो। उसको आज़ाद करना तुम्हारा इसलिए भी पहला फर्ज है कि तुम खुद आज़ाद बनो। भारत के प्रति पीछे होना पहले अपने प्रति फर्ज है। इसलिए भारत की दुर्दशा का नाम लेकर अपने को प्रवंचना में न डालो। अर्थात् वह आप

दौड और विस्तार-फैलाव की प्रवृत्तिवाली सभ्यता प्रतिक्रियात्मक है। मनुष्य-की आत्म व परमार्थ-सिद्धि उसमें नही है। अपने लिए आदमी जब दूसरे को कीमत मे लेता है, तब वह बढ़ता नही है, सिर्फ परिग्रह बटोरता है। इसमे जो जोर है, वह बुखार का है। स्वास्थ्य की क्रिया नही है, विकार की प्रतिक्रिया है। मूल मे उसके हिंसा है। और इस प्रतिक्रिया को अहिंसा की मौलिक सक्रियता से झेलना और शान्त करना होगा, दूसरी गति नही है।

उल्लग भोग आलोडन-विलोडन

७४ यूरोप के आम आदमी के जीवन पर आप वहाँ की इस होड़मय सभ्यता का क्या प्रभाव पाते हैं?

—वह लगकर कमाता है और फिर कमाई के पैसे के जोर से जहाँ जैसे हो, सुख खीच लेना चाहता है। इसमें वह एक-दूसरे पर लपटता-झपटता है, नोचता-खरोचता है और इस उद्दाम सुखोपभोग मे अपने को जो थोडा-बहुत भूल पाता है, सो उसको सुख मानता है। इसमे मदिरा सहायता देती है और पाप-बोध रस मे तीव्रता लाता है। 'थ्रिल' सामान्य मे मिलना बन्द हो जाता है, इसलिए असाधारण और अपसाधारण मे से उस थ्रिल का नित-नया आविष्कार करना होता है। व्यवस्था अत्यन्त सभ्य है, लेकिन वह अन्त मे इसलिए जान पडती है कि भीतर आत्यन्तिक स्वच्छन्दता के अवकाश को सुलभ, सुरक्षित और सुसज्ज रखे। हृदय मे उसके उल्लग भोग है, कलेवर मे व्यवस्थित सयम है। यह बाहर का नियन्त्रण और शासन-अनुशासन, जिसकी प्रतीक राजनीतिक सत्ता है—उस स्तर पर जो बराबर हलन चलन आन्दोलन-आलोडन मचा रहता है, सो इसी कारण है। अन्दर की बेचैनी का दबाव बाहर की सत्ता को शान्त कैसे रहने दे सकता है? सत्ता यदि इस या उस देश की कुछ काल स्थिर रह भी पाती है तो तब, जब बडे पैमाने पर युद्ध की आशका को जन-मानस मे विराजमान कर दिया जाता है। युद्ध की सभावना के तले एक देश मिला भी रहता है, नही तो उसके विविध तत्त्व व वर्ग स्पर्धा और विग्रह मे आपस की घात मे व्यस्त बने रहते हैं। एक युद्ध के मित्र दूसरे मे आपस मे ही जो शत्रु बन रहते हैं, सो भी इसी कारण।

स्त्री मात्र प्रेयसी

स्त्री का पत्नी और माता का रूप इस जीवन-विधान मे मुझे पीछे पड गया दिखाई दिया। प्रेयसी और विनोदिनी का रूप ऊपर आ गया है।

मुझे माफ किया जाय, लेकिन ऐसा लगा कि स्त्री का उस सभ्यता में

सहयोग नहीं रहता है केवल उपयोग रह जाता है। वह केवल काम में है, मिलती में नहीं है। शायद वह मिलती वह भी इसी कारण रही है। प्रचुर सामग्री यन्त्रों से उत्पन्न की जा रही है। तब स्त्री के रूप में भोग्य सामग्री भी प्रचुर हो, तो मानो वह अनुकूल ही है।

७५. क्या यूरोप की स्त्री पर भी आप केवल भोग्या होने का आरोप लगाते हैं? वर्तमान सभ्यता ने वहाँ स्त्री की संभावनाओं को उन्मुक्त कर उसे पुरुष के बराबर पद व गौरव दिया है। तब उसके विषय में आपकी ऐसी धारणा क्यों और कैसे बनी?

नारीत्व वहाँ गौण

—यों तो स्त्री स्वतन्त्र है और कानूनन बराबर है। सामाजिक परम्परा की दृष्टि से भी उतनी सीमाबद्ध नहीं है। लेकिन योरोपीय जीवन का मूल्य और मान पैसा है। आर्थिक दृष्टि राजनीतिक से जुड़ जाती है और यह मानना होगा कि जहाँ विग्रह और स्पर्द्धा उन्नति के मूल्य बन जायें वहाँ पुरुष को कुछ सुविधा हो जाती है। योरोपीय सम्यतावील समाज-जीवन में युद्ध नहीं घटित हुआ है। नारीत्व के गुण उन्नति और कमाई की आपाधापी में मानो गौण रह गये हैं। मानो कोमल गुणों से सम्पन्न नारी का उपयोग यह हो कि वह आर्थिक और सामाजिक दबादबी में लगे हुए पुरुषों को उत्साहित व प्रसन्न रखे। उनके अहंभाव को सेंकाये और चहकाये रखे।

कर्मवाद में पुरुषत्व प्रधान

ऊपर मैंने एक शब्द का उपयोग किया था कर्मवाद। यह कर्म-परता और उपक्रम-परायणता पुरुष में अहंभाव को पुष्ट और सक्रिय रखती है। परिवार की संस्था में पुरुष का अहंभाव जगह-जगह पर लचक खाता और परिष्कार पाता रहता है। परिवार की संस्था और उस तरह की नैतिकता पश्चिम में ह्रस्व होती जा रही है। पारिवारिक मनोवृत्ति सिमटती जाती है। मानो वहाँ के जीवन में है चाक्षता की गति की स्थिरता से अधिक अस्थिरता की जिसके दबाव से लोक-जीवन कर्मोन्मुख रहे और घूमता हुआ बराबर उन्नति करता जाय। इस आन्तरिक दबाव में से ही नये युद्धों की आवश्यकता का निर्माण होता है। जान पड़ता है कि व्यक्ति कर्मठ और योद्धा हो तो अधिक उपयोगी है। सामान्य शान्त पारिवारिक हो तो उपयोगिता अपेक्षाकृत कम हो जाती है। इन कारणों से इस प्रकार की जीवन-विधि में पौरुष प्रधान स्थान पा जाता है और स्त्रीत्व के लिए तदनुकूल गौण स्थान रह जाता है।

अर्जन-क्षमता में स्त्री दोयम

देखने में स्त्री स्वाधीन दीखेगी। पर अर्थ की अधीनता उसे दबा ही देती है, जब वह व्यक्ति बनती है। वहाँ हर स्त्री या पुरुष व्यक्ति बनने को लगभग मजबूर है और इस तरह आर्थिक नियमन के अधीन हो जाता है। पारिवारिक होकर स्त्री को एक अधिष्ठान मिलता है और अलग निज की भाषा में उसे नहीं सोचना होता। आर्थिक चिन्ता में उसे नहीं पड़ना पड़ता। तब उसका मान वैयक्तिक गुणों की अपेक्षा से होता है, अर्जन की क्षमता के हिसाब से नहीं। व्यक्तिपरक जीवन होते ही अर्जन-क्षमता की अपेक्षा में हर व्यक्तित्व का मूल्य निश्चित हो जाता है। स्पष्ट है कि इस दौड़ में स्त्री को पुरुष ने समकक्ष नहीं, बल्कि दोयम स्थान स्वीकार करना होगा। दोयम ही नहीं, बल्कि कुछ अधीन स्थान भी। अधीन न कहकर जब उसे स्वतन्त्र कहा जाता है, तो उसमें केवल भाषा और भाव का सौन्दर्य देखना चाहिए, अधिक नहीं।

७६ अर्थ एवं बदाबदी पर आश्रित इस व्यवस्था में तब आपकी राय में क्या दाम्पत्य प्रेम को यहाँ कोई भी स्थान नहीं रहा है? स्त्री का रूप प्राचीन वेश्या के बहुत निकट पहुँच गया है?

नारी-मास का विक्रय

—प्राचीन वेश्या को मैं नहीं जानता, लेकिन हैम्बर्ग की बात है। वहाँ शहर के एक विशेष भाग में जाने कितने नाइट क्लब हैं। एक खास बन्द गली है, जहाँ जाना हुआ, तो बेहद खीझ मालूम हुई। नारी-मास के विक्रय की दूकानें वैसी मैंने पहले नहीं देखी थीं। दूसरे समलिंगी अड्डे भी थे। नाइट क्लब के कुछ मालिकों को इकट्ठे बुलाकर बात की, तो उन्होंने जताया कि यह सब व्यवसाय समाज की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए जरूरी है। इस ढंग से अनिष्ट को कुछ सीमित और स्थानीय रखने का उपाय हो जाता है, नहीं तो वह समाज की रगों में प्रवेश कर जाय। यह भी बताया कि हैम्बर्ग बहुत समय से जहाजरानी का औद्योगिक केन्द्र है। इसलिए काफी जनसंख्या यहाँ रहती है, जिसको तैरती हुई कहना चाहिए। मनोरंजन की इसे अनिवार्य आवश्यकता है। नगर की उस मुक्त आबादी के हित में हम यह व्यापार चलाते हैं। बाहरी लोग इतनी संख्या में यहाँ बराबर मौजूद रहते हैं कि मनोविनोद का साधन न हो, तो उत्पात का डर बना रहे। नगर की समृद्धि के लिए यह भी जरूरी है कि सारी दुनिया से वह लोगों को आकृष्ट करे और व्यापार बढ़ाये। व्यापार की उन्नति के नाते धर्म ही जाता है कि अतिथियों का जी बहलाये रखा जाय।

आपका नाक-भौं सिकोड़ना कोरी भावुकता है। जीवन को उससे कठोर पदार्थ होना पड़ता है।

पत्नियाँ वेश्याएँ भी

उन लोगों ने यह भी बताया कि ऐसे गरजमन्द लड़कियों की सहायता भी हो जाती है। कालेज में पढ़नेवाली लड़कियों को फीस के लिए पैसा मिल जाता है। आप विस्मय न मानियेगा कि पत्नियाँ आती हैं और सवेरे-सवेरे पति आकर पकड़ ले जाते हैं। कुछ इससे उन्हें सहारा ही होता है।

कोरम-कोर कमाईवाली

यह हालत भारत में बड़े शहरों में भी हो सकती है। लेकिन कारण स्पष्ट नहीं है।
प्राचीन भारत की वस्तु मैं समझता हूँ भिन्न थी। उस संस्था में सौन्दर्य तथा संस्कृति के तत्त्व भी शायद कुछ रह ही सकते हैं। पर अर्थ के तल पर यह कोरम-कोर कमाईवाली की मान्यता आज की सभ्यता का फल है। उस दबाव के नीचे पारिवारिक नैतिकता कैसे टिकेगी मैं देख नहीं पाता।

उद्योगवाद और परिवार

७७. ऐसी स्थिति में दाम्पत्य कहाँ कैसा बच पाता है? इस पर आपने अभी प्रकाश नहीं डाला। कुछ भी हो, इस स्थिति को स्वतंत्र प्रेम के नाम पर संगत ठहराया नहीं जा सकता।
—स्त्री-पुरुष के बीच आकर्षण का फल है सन्तति। उसके लिए विवाह और परिवार की व्यवस्था है। पशु की-सी सुविधा मनुष्य-जाति को नहीं है। मानव शिशु जन्म पर बहुत असमर्थ होता और उसे पालन-पोषण की आवश्यकता होती है। इसके लिए नाना प्रयोगों के बाद मानव-जाति ने अधिकांश आज एक विवाह आश्रित परिवार-व्यवस्था स्वीकार की है। जहाँ कृषिप्रधान समाज है, वहाँ तो यह परिवार-संस्था फैलती और घनी होती गयी। संयुक्त परिवार खास तौर से भारत में बहुत ही पल्लवित और फलित हुआ है। उद्योगवाद की परिस्थितियों में इस संस्था पर दबाव पड़ता है। परिवार की संयुक्तता फटती है, वह उस भार के तले छोटा होता जाता और अन्त में पति-पत्नी तक सिमिट जाता है। कल्पना भी जा सकती है उन परिस्थितियों की जब हर सक्षम पुरुष से माँग हो कि वह सैनिक बने। तब रहन-सहन का ढंग छावनियों और बैरकों का रूप ले सकता

है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो से जो सन्तति हो, उसके लिए अलग घेरा या नसरी आदि हो सकती है। वह विकट अवस्था आज अभी आयी नहीं है। लेकिन यमं-वाद और अर्थवाद इसी तरह हम पर सवार रहा, तो शायद आ भी सकती है।

प्रेम विश्वास विलुप्त नहीं

ऊपर से आप यह न मान लीजियेगा कि प्रेम, विश्वास और वफादारी का भाव वहाँ दाम्पत्य मे रह नही गया है। नही, मानव-स्वभाव के वे गुण नष्ट कैसे हो सकते हैं? तब तो मनुष्य का ही नाश आ जायगा। लेकिन जिस प्रकार का अर्थतन्त्र, राज्यतन्त्र और समाज-तन्त्र वहाँ अपने बीच उपजा लिया गया है, उसके दबावो मे से क्या विकार फलित हो रहे और हो सकते हैं, यही देखने की बात है।

मैं भारत या भारतीय की दृष्टि से ही विचार नही करता हूँ जब कहता हूँ कि वह गली अंधी है, आगे रुक जाती है।

अपारिवारिक सेक्स-जीवन

७८ (अ) इस विकृत एवं अपारिवारिक सेक्स-जीवन से क्या मानव के मन पर दबाव कम हो पाते हैं? (ब) उससे क्या व्यक्ति वास्तविक मनोरंजन एव तृप्ति पाता है? (स) क्या आर्थिक दबाव के नीचे कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी नहीं रहते, जो मानव को इन आकर्षणो की तरफ खींचते हैं? (द) ऐसे उपभोगो का मानव-चेतना पर क्या प्रभाव पड़ता है?

—(अ) लैंगिक सम्बन्ध अपने को बाँटने और इस प्रकार भरने की आवश्यकता में से पैदा होता है। पत्नी से यह प्रयोजन साधा जाता है, तब पुरुष के अह-भाव को उतनी खुराक नही मिलती है। जय-विजय की वासना और चेष्टा का अवकाश विवाहित अवस्था मे कम है। हाँ, चाह से राह जो निकाली जाती है, उसमें अधिक सार्थकता जान पडती है।

—(ब) तृप्ति तीखी उन सम्बन्धो मे प्रतीत होती हो, लेकिन भरी नहीं होती। कारण, समर्पण की अनुभूति नही होती।

पैसे से मिला आह्लाद-विषाद

—(स-द) आर्थिक और मनोवैज्ञानिक ये एक ही वास्तविकता के आत्मिक और सामाजिक दो सिरे हैं। इसलिए इनमें आपस मे क्रिया-प्रतिक्रिया चलती ही रहती है। आर्थिक मे मानसिक कारण होता है और मानसिक मे आर्थिक भी

कारणीभूत होता है। इसीसे दो प्रकार के कार्यकर्ता भी नजर आते हैं। जो परिस्थिति की ओर से सुधार का यत्न करते हैं वे राजनीतिक मानव चेतना की ओर सचेष्ट रहनेवाले सांस्कृतिक। मन खाली रहता और दौड़ता है। सम्बद्धता (सेंस ऑफ बिलौंगिंग) जैसे भीतर से स्खलित हो जाती है, जेब में पैसा रहने पर तब व्यक्ति बाहर की ओर बढ़ता और सम्बन्ध खरीद लेना चाहता है। पैसा न रहने पर वह विषाद की गहराई में उतरता अनुभव करता है, विषाद में से ही यदि कल्पना और भावना के माध्यम से कोई सम्बद्धता पैदा की जा सके, तो सृजन-शक्ति फूटती है। धर्म दर्शन कला आदि की सृष्टि अधिकांश इसी मनो-दशा में से हुई है। पैसा पास होने पर वह कम सम्भव बनता है और पैसे के जोर पर जो सम्बद्धता तत्काल के लिए खरीदकर पैदा की जाती है, वह सम्बन्धहीनता सिद्ध होती है और आदमी पीछे ठगा-सा रह जाता है। कुल मिलाकर अहं का समर्पण नहीं हो पाता है। जैसे उपभोग में से अहंभाव लौटकर तीखा और कड़ा ही बनता है। यह वृत्ति फिर वैयक्तिक संघर्ष और स्पर्धा को प्रेरित करती और स्त्रीत्व के प्रति पौरुष मे प्रभुता की वासना लाती है।

सेक्स और समग्र जीवन

७९. मैं यह जानना चाहता हूँ कि सेक्स मानव-मन बुद्धि हृदय एवं सभ्यता-संस्कृति से सम्बद्ध माना जाय या नहीं? यदि हाँ, तो उसकी समग्र संस्कृति पर क्रिया-प्रतिक्रिया होगी। यौरप में जो सेक्ससम्बन्धी अनैतिकता और पतन फैली है, उसका वहाँ की समग्र संस्कृति पर और मानव के समग्र व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ा है?

काम जीवन-मूल

—काम (सेक्स) जीवन-मूल में ही है। उसके सिवाय शेष तत्त्वों को अधिक पल्लवन की अवस्था के कहिए। मूल पत्र पुष्प फल आदि से असम्बद्ध कैसे हो सकता है?

नैतिक-अनैतिक

अनैतिकता शब्द मानसिक नहीं है, सामाजिक है। अर्थात् वैज्ञानिक विचार में हम उसे बाहर भी रख सकते हैं। समाज की अपेक्षा से ही नैतिक-अनैतिक की दृष्टि होती है। मानव-जाति के विविध समूह-समाजों की भिन्न-भिन्न रीति-नीति होने के कारण नैतिक-अनैतिक की रेखा व धारणा भी वहाँ भिन्न होती है।

पश्चिम के समाज को अनैतिक ठहराने का अधिकार मेरा नही है। ऊपर यदि अनैतिक शब्द आया है, तो पारिवारिक नैतिकता को केन्द्र मे रखकर। हो सकता है, प्रयोगपूर्वक मानव-समाज ऐसी जगह पहुँचे, जहा उसकी नैतिकता की धारणा परिवार-केन्द्रित न रह जाय। तब उस ढग से विचार करना होगा। लेकिन आज पश्चिम के जिन देशो की चर्चा है, वे अपने तन्त्र मे विवाह और परिवार को मान्य ठहराते है, इसलिए विवाह से बाहर के लैंगिक सम्बन्ध अनैतिक ठहरते है।

पश्चिम का अन्तर्द्वन्द्व

इस प्रकार के विवाहेतर सम्बन्ध यदि अनिवार्य बनते है, यदि यह भी अनिवार्य होता है कि ऐसे सम्बन्धो की सख्या गुणानुगुणित होती जाय, तो दो दिशाओ मे विचार करना होगा। एक तो यह कि समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, जगत्-व्यवस्था मे क्या परिवर्तन व सुधार किया जाय, जो हमारी नैतिक धारणाओ के अनुकूल पड़े और मूल्यो को सुरक्षित रखे। या फिर यह सोचना होगा कि नैतिक धारणाओ और मूल्यो को क्या मोड दें कि वे आज की नव उन्नति और विविधता को अपने मे समा सके। पश्चिम के आज के साहित्य मे यह द्वन्द्व पूरे तौर पर प्रतिबिम्बित दीखता है। वहाँ का राजकारण भी जो अस्थिर है, सो इसी कारण। पूर्वी योरप, जहाँ साम्यवाद कुछ जम चुका है, अब उतना अस्थिर नही है। वहाँ फिर लौटकर विवाह और परिवार की पवित्रता की प्रतिष्ठा की जा रही है। तदनुकूल समाज-व्यवस्था और राजतन्त्र का निर्माण किया जा रहा है। पर कुल मिलाकर पश्चिम की सभ्यता इस अन्तर्द्वन्द्व मे मुक्त नही है और मेरा विचार है कि बडे द्रुत वेग से होनेवाली वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति के नीचे या तो नैतिक विचारणा टूटेगी या व्यवस्था हटेगी। तनाव इतना विकट है कि वहा के साहित्य मे से इसकी पूरी चेतावनी मिल जाती है।

पति-पत्नी में तनाव

यह तनाव सिद्ध होता है मानसिक रोगो की बढती जाती हुई गणना मे। जीवन के वेग मे और सामाजिक नीति-मानो की स्थिरता मे घोर अनबन बन आयी है। व्यक्ति-मानस अशान्त रहता है, उसे समाधान की स्थिति नही प्राप्त होती। इस स्थिति का प्रभाव व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्ध के सूत्रो पर बडा बोझ डालता है। उस क्षेत्र मे बडी उद्भ्रान्तावस्था दीखती है। आपका साथी साथी नही रह सकता, सभ्यता के वेग और आवर्त मे आपको अलग और साथी को अलग चक्र मे घूमना

पड़ता है। घर की एक ही छत के नीचे कुछ देर को आप मिल पाते हैं तो मालूम होता है कि व्यवधान है, जिसमें नाना प्रश्न संशय और शंकाएँ पड़ी हुई हैं। आप विश्वास से चलते हैं, पर विश्वास पर दबाव बना रहता है। अन्त में क्योंकि आप दोनों उदारता और स्वतन्त्रता के आदर्श में विश्वास करते हैं आप दोनों के बीच ठण्डक जम जाती है और शिष्टाचार का उपचार रह जाता है। यह तो समझ में नहीं आता कि घर कैसे तोड़ा जाय इसलिए वह घर ऐसे पति-पत्नी को लेकर चलता जाता है जो अजनबी हैं, इसलिए मित्र हैं। असल में पति-पत्नी रह चुकने के कारण न मित्र की भाँति रहना सम्भव होता है न अजनबी की भाँति और जीवन पर एक अजब कृत्रिमता छायी रहती है। यह घर तो उत्तम नमूने का है, इससे घटिया प्रकार के घरों की तो आप बात ही न कीजिये।

बन्धन से सुरक्षा की नीति में स्त्री को घाटा

स्वतन्त्रता सबको प्यारी है लेकिन सभीको भारी है। भारी है इसलिए एक दूसरे के पास खिचते और आपसी लिपट में बन्धन खोजते हैं। लेकिन प्यारी है, इससे फिर एक-दूसरे से आजाद हो जाते हैं और परिणाम का दायित्व नहीं उठाना चाहते। ऐसे हृदय का सम्बन्ध आमोद-विनोद और पैसे का अनुबन्ध रह जाता है। सम्बन्ध के बीच में पैसे का हिसाब आने पर जैसे बन्धन समाप्त हो जाता है और दोनों ओर आजादी बनी रहती है। विवाह की स्थिति 'सोशल कान्ट्रैक्ट' की होगी और फिर आगे बढ़कर 'म्युचुअल एग्रीमेंट' की हो जाती है। इस विकास में हम यह देख सकते हैं कि बन्धन (एन्गेजमेंट) से सुरक्षा खोजी गयी और व्यक्तिगत सुरक्षा अपनायी गयी है। इस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधार पर उन्नति को बहुत अवकाश और आयाम मिला है और निस्सन्देह सभ्यता की उपलब्धियाँ इस बुनियाद पर खड़ी होकर इतनी ऊँची उठ सकी हैं। लेकिन ठीक उसी कारण सम्बन्ध-तन्तुओं में क्षीणता और अस्थिरता आती गयी है। कर्तव्य भावना ने स्वतन्त्रता के विचार से अपना सम्बन्ध जोड़ा है, प्रेमार्पण और तदुचित त्याग और यज्ञ की आवश्यकता से सम्बन्ध तोड़ लिया है। कर्तव्य बुद्धि में से सभ्य समोचित शिष्टाचार का अपरिसीम विकास हुआ है लेकिन प्रतिष्ठा परस्पर लोभ की हुई है, परस्पर उत्सर्ग की नहीं। इसमें मैं मानता हूँ कि स्त्री को बेहद घाटे में रहना हुआ है क्योंकि प्रकृति की ओर से ही उसे मातृ-धर्म मिला है, अर्थात् व्यसन से अधिक वहन और सहन का धर्म।

८ स्त्री के बारे में यह चली-सी बात को आपने पहले भी एक जगह कहा था और उसका सम्बन्ध उसकी उपार्जन-क्षमता की हीनता से जोड़ा था। इस वैवा-

निक युग मे स्त्रियाँ बडे-से-बडे पदो पर सुशोभित हैं और तत्र मे नितान्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं। जहाँ तक सेक्स का सम्बन्ध है, भूख दोनों तरफ बराबर है और उसको बराबरी के स्तर पर लिया और समझा गया है। फिर स्त्री को पहले की अपेक्षा आज नफे मे क्यों नहीं आप मान सके हैं?

सिक्का और सहृदयता

—सम्बन्ध पैसे पर बनेंगे और चलेंगे, तो मैं नही समझ सकता कि स्त्री घाटे में रहने से कैसे बच सकती है। एकआध महिला यहाँ-वहाँ म्युनिसिपल बोर्ड पर हो गयी या राज्य के परामर्श मे, तो कृपया आप भ्रम मे न पडिये। खोजेंगे, तो शायद आप पायेंगे कि इतना भी रू-रियायत के या पुरुष के कारण हुआ है। पैसा हिसाब पर चलता है, हृदय हिसाब नही जानता। स्त्री के पास निश्चय ही हृदय का धन अधिक है। इसलिए जब धन सिक्का होगा, तब सहृदयता का मूल्य बढेगा, यह असम्भव मानना चाहिए, हृदयमूल्य का घटना तो अनिवार्य ही है।

सहृदय पुरुष भी घाटे में

८१ सहृदय तो पुरुष भी कम नहीं होते। तो क्या वे भी घाटे मे रहते हैं?

—अवश्य रहते ही हैं। हृदय की कोमल भावनाओ को मूल्य देनेवाले कवि, कलाकार, साहित्यकार का क्या भाग्य होता है? वह अथ और स्वार्थ के बारे मे आग्रही नहीं हो सकता है, तो उसे नीचे रहना ही होगा। यह आग्रह उसकी प्रकृति मे नही है, उसके वश का नही है। भाव में वह बिछ और बह जाय, हिसाब में अटका न रहे, यह बिलकुल सहज है। ऐसे व्यक्ति को व्यवसायी सभ्यता मे जो भी भुगतना पडे, उसे थोडा समझना चाहिए।

लेकिन कलाकार हैं, जिन्हे अकूत पैसा मिलता है, ख्याति भी मिलती है। कृपया ध्यान दीजिये कि उसकी प्रक्रिया क्या है। व्यवसायियो को और दुनियादारो के जगत् को इन भावुक व्यक्तियो से जब ऐसा कुछ प्राप्त होता है, जो उनका जी बहलाये, तभी उन लोगो के पास से पैसा निकलकर सहृदयो की सेवा और सिंचन मे लगता है। अर्थात् वे इस कृपा के बल पर जीते और उठते हैं।

इतना होकर भी आप देखेंगे कि उनकी नस हिसाबदाँ के हाथ से बाहर नही हो पाती है। हिसाबदाँ है वह व्यक्ति, जो कवि को या कलाविद् को रायल्टी या वेतन देता है। अक्सर देनेवाला 'फर्म' होता है। फर्म का अर्थ मजबूत भी है। हिसाब की मजबूती से ही फम को फ़र्म कहते हैं।

स्त्री की उन्नति का मार्ग कुछ खुलता है, अगर वह पुरुषोचित बने। पुरुष का मार्ग कुछ बन्द होता है, अगर वह स्त्रियोचित गुण अपनाता है। व्यावसायिक सभ्यता में यही हो सकता है। उस सभ्यता का उद्भव पश्चिम से है और वह मैस्कुलिन है।

सेक्स में मनोरंजन

८२ सेक्स में जो मनोरंजन मात्र देखा जाता है और उसको अपने दबाव को हल्का करने का साधनमात्र मानकर चला जाता है, यह स्थिति सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से कहाँ तक उचित मानी जानी चाहिए?

—उचित-अनुचित विशेषणों द्वारा मैं विचार नहीं करना चाहता। ऐसा विचार वैज्ञानिक होता भी नहीं।

मनोरंजन को क्या हर कोई गहरा और घना नहीं बनाना चाहता। क्या हर कोई नहीं चाहेगा गम्भीर तृप्ति और उपलब्धि को? अगर मनोरंजन गम्भीर तृप्ति और उपलब्धि तक नहीं जा पाता है, तो यह कहने में क्या अर्थ है कि यह उचित या अनुचित है? जिसके हाथ जो पाथ है, उसी हिसाब से यदि वह जीवन में से रस लेता है, तो उसमें दोष या श्रेय का क्या प्रश्न है? इससे मैं नहीं चाहता कि कोई भी दूसरे का जज बनकर विचार करने बैठे। ऐसे जो हुआ करता है, वह विचार नहीं है, केवल दबाव है।

'मैं' की स्वतन्त्रता का आदर्श

एक बात समझ लेनी चाहिए। वह यह कि हम एकान्त नहीं हैं। मैं की भाषा में बोलते हैं, उसके द्वारा व्यवहार-वर्तन करते और काम-काज चलाते हैं। लेकिन यह 'मैं' माध्यम है, द्वार है, भाषा है, सचाई नहीं है। तथ्य भर है, सत्य बिलकुल नहीं है।

अब क्या होता है कि 'मैं' को लेकर हम स्वतन्त्रता के आदर्श को बनाते हैं। इसमें भूल जाते हैं कि इस आदर्श का सार नकारात्मक है। अर्थात् स्वतन्त्रता के आदर्श का मूल्य इस अर्थ में है कि हम उसका हरण न करें। हर एक स्वतन्त्र है, केवल मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ कि किसीकी स्वतन्त्रता को दबाऊँ। उसके इस सच्चे आशय को छोड़कर जब स्वतन्त्रता को मैं निरपेक्ष आदर्श मानकर पकड़ता हूँ तो स्वरूप यह बनता है 'मैं हूँ' पूँगा। औरों की ऐसी तैसी। स्वतन्त्रता का यह स्वरूप कर्तव्यों से मुक्त हो जाता है और यदि आदमी उसमें ही अपने को उठता पाए तो अनुभव करेगा कि वह एकान्त है, वीरान है, व्यर्थ है।

है, चीन के लिए वह वृद्धि समस्या बन गयी है। इस कारण से पारिवारिकता के सम्बन्ध में भी दोनों के रुखों में कुछ अन्तर हो, तो कुछ अचरज की बात नहीं है।

मैंने जो ऊपर कहा, उसका सम्बन्ध जीवन-विधि और जीवन-दर्शन से विशेष है। मेरा मानना है कि साम्यवाद पाश्चात्य सभ्यता में से निकला है, उसका अंग है, उसीकी [illegible] है। राज्य को जब हम केन्द्र में लेते और असाधारण महत्त्व का बना देते हैं, तब जन दोयम पड़ जाता है, नियम और धन पहला हो जाता है। इस दर्शन के नीचे हमेशा सम्भव है कि लोगों के आपसी सम्बन्ध प्रयोजन को लेकर जुड़ें और उनमें गहरे बन्धन बिना भी चल सकें। वह व्यवस्था जहाँ पारिवारिक सम्बन्धों में स्थिरता और घनता बढ़े कुछ वह होनी चाहिए, जहाँ श्रम का मूल्य धन से प्रथम और स्वप्रतिष्ठ हो। साम्यवादी व्यवस्था उस आदर्श का नाम लेती है सही, पर वैसी है नहीं।

अपराध-वृत्ति

८४ इन साम्यवादी देशों में भरपेट भोजन व स्वच्छन्द विहार के द्वारा अपराध-वृत्ति को क्या एकदम समाप्त नहीं कर डाला गया है? यदि नहीं, तो वहाँ अपराध की क्या स्थिति है?

—अपराध के लिए उत्तेजना और अवसर वहाँ कम है। भरपेट भोजन तो है, लेकिन काम के आधार पर है। इसलिए फालतू चीजों के लिए समय और सुविधा उतनी नहीं है।

२

वर्ग विचार और राष्ट्रवाद

जाति और धर्म

८५. योरप के समाज में जो विभिन्न वर्ग हैं, उनका आधार जातीय व धार्मिक अधिक है अथवा आर्थिक?
—आर्थिक ही कहना चाहिए। वैसे प्रादेशिक भावना भी सब जगह मौजूद है।
८६. तब यहाँ जातीयता एवं धर्मों की क्या स्थिति है?
—धर्म की प्रधानता नहीं है और जातीयता को राष्ट्रीयता और प्रादेशिकता का आधार मिल गया है। नात्सी जर्मनी जातीय गौरव और परम्परा के नाम पर उठा था। लेकिन उस जातीयता को राष्ट्रीयता का आधार बना लिया गया था।
८७. क्या यहाँ जातीयता और धर्म का राजनीति पर कुछ भी प्रभाव पड़ता है?

राष्ट्रवाद प्रधान

—हाँ प्रभाव तो है। लेकिन राष्ट्रवाद सब जगह प्रधान है। राज्यप्रधान व्यवस्था में राष्ट्रवाद पनपे बिना रह नहीं सकता। सोशलिज्म और कम्युनिज्म राष्ट्राश्रित धारणाएँ नहीं हैं। लेकिन सोशलिज्म नेशनल बना और कम्युनिज्म का भी नेशनल रूप देखा जा सकता है। किसी-न-किसी प्रकार धार्मिक और जातीय धाराएँ इन राष्ट्रवादों को अपना बल दे जाती हैं।

आर्थिक वर्ग

८८. विभिन्न आर्थिक वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों का यहाँ क्या स्वरूप है?
—साम्यवादी देशों में तो विधान से दूसरों में वस्तुता से राज्य की शक्ति ही प्रधान है। आर्थिक स्तरों व वर्गों में सम्बन्ध उसी ओर से साधे रखा जाता है। वे वर्गीय स्वार्थ इस तरह गठित नहीं हो पाते कि सीधे विग्रह में आ सकें। इस

सार्थकता देने में

इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि स्वतन्त्रता देने में सार्थक होती है, लेने में वह निरर्थक पड़ जाती है।
प्रकृति ने यद्यपि हमें मैं के साथ पैदा किया है, पर एकान्त और एकाकी नहीं बनाया है। सम्बन्धों के बीच हमें सिरजा गया है। मैं की अनुभूति उस सम्बन्धता की स्वीकृति की सुविधा देती है। इससे अधिक मैं का काम नहीं है। अधिक जो होता है, वह इसलिए बेकाम और कुकाम हो जाता है। उसे अहंकार कहते हैं।

स्वरति और प्रेम

लेकिन मैं का प्यार लेकर हम चलते है। इसको स्वरति कहिए। इसमें से देखी गयी स्वतन्त्रता मानो लेने की ही चीज रह जाती है देने से उसका सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाता है। उन्नति वह बनती है, जो स्व की निजता और पृथक्ता के आधार पर होती है, व्यक्ति के मैं को पुष्ट करती है। उसके चित्त में से कर्तव्य के बन्धन को शिथिल करती और अधिकार के दावे को तेज करती है। इस मनो-भाव से जब स्त्री-पुरुष परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते है, तो मानो दोनो अपनी आजादी एक ही साथ खोना और रखना चाहते है। खोना तो विधाता के विधान के वश होकर चाहते हैं, रखे रहना अपने अहकृत आदर्श के वशीभूत होकर चाहते हैं।

अनुबन्धन नहीं, अनुरजन

कोई सम्बन्ध या दुनिया मे कोई घटना ऐसी नही है, जिसकी परिणति या परि-णाम न हो। प्रत्येक सम्बन्ध एक प्रकार का अनुबन्ध भी होता है। अनुबन्ध को हम, बीच मे पैसे को लाकर, सम्बन्ध होने से थोडा बचा लेते हैं। मानो उस प्रकार उसे समय मे सीमित कर देते और परिणाम के दायित्व से बचा लेते है। मनोरजन इसीको कहा जाता है। दोनो ओर मनों का अनुबन्धन नहीं होता, सिर्फ अनुरजन होता है। दोनो अनुरजन के नाते मिलते हैं तो मिलते हैं, शेष अलग, आजाद और अजनबी बने रहते हैं। यह सुविधा किसीको कम नही करती, मानो अनुरजन देकर दोनो को बढा जाती है।

पर एक उलझन

साधारणतया यह आपसी मनोरजन का रिश्ता परस्पर स्वातन्त्र्य देनेवाला होता है। लेकिन गहरे मे कहीं थोडी उलझन भी पड जाती है। वह उलझन इस कारण

कि सब कोई स्वतन्त्र कटा-छंटा नहीं होता और पूर्व और पर मे एक तारतम्य का सूत्र रहता ही है। मन इस सूत्र की सृष्टि करता है या उससे विद्रोह करता है। लेकिन यह पूर्वापरता यह परम्परा यह कर्मफलता का तत्त्व किसी तरह भी निष्क्रिय नहीं हो पाता।

नैतिक की सृष्टि

ठीक इसी जगह नैतिक की सृष्टि होती है। मान लीजिये दो मिले और गर्भाधान हो गया या नहीं भी हुआ तो याद और कसक बनी रही। बीच मे पैसा ले आकर सब को मानो उस पैसे के जोर से दूसरे क्षण से काटकर हमने अलग कर दिया। दायित्व जैसी वस्तु अब किसी और रह नहीं जाती है। लेकिन परिणाम और अवशिष्ट बचा ही रहता है। इस तरह समस्या उत्पन्न होती है।

नैतिक की समाप्ति असम्भव

मैं नहीं मान सकता कि आर्थिक के जोर से नैतिक को समाप्त किया जा सकता है। गर्भाधान लेकर यह तो हो सकता है कि अनुबन्ध की तात्कालिकता दे रखें और सम्बन्ध की स्थायिता और पवित्रता देने से उसे बचा लें। लेकिन व्यवहार के तल पर ही यह हो सकता है चेतना के तल पर सर्वथा असम्भव है। स्वयं धर्म की सहायता हो या दूसरे आदर्शों व तत्त्वो का सहारा हो चेतना मे से नैतिकता को और विवेक के कांटे को खतम नहीं किया जा सकता है। समष्टि का हो या स्वतन्त्रता का हो कोई नशा यह काम नहीं कर सकता।
मानसिक रोगों की बढ़ती के नीचे इसी असफल साधन की चेष्टा को मानना चाहिए।

साम्यवादी देशों में पारिवारिकता

८१. जिन देशों में साम्यवाद है, उन देशों में भी पारिवारिक नैतिकता एवं सैक्स की उच्छृंखलता क्या उसी स्तर पर है जिसका स्वरूप आपने ऊपर वर्णित किया है? वहाँ पारिवारिक स्नेह, जिम्मेवारी और संयम-नियम आदि की क्या स्थिति है?

—साम्यवादी देशों के बारे मे अधिकारपूर्वक मैं विशेष नहीं कह सकता। वहां भी भिन्न देशों की भिन्न स्थिति हो सकती है। रूस और चीन की अवस्थाएँ अलग हैं। साम्यवादी व्यवस्था के आरम्भ की दृष्टि से दोनो देशो मे अनेक दशक-वर्षों का अन्तर है। अपेक्षाकृत साम्यवादी व्यवस्था मे पारिवारिकता को बल और प्रश्रय दिया जा रहा है। लेकिन रूस को जब कि जनसंख्या मे वृद्धि की आवश्यकता

सार्थकता देने में

इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि स्वतन्त्रता देने में सार्थक होती है, लेने में वह निरर्थक पड़ जाती है।
प्रकृति ने यद्यपि हमें मैं के साथ पैदा किया है, पर एकान्त और स्वाधीन नहीं बनाया है। सम्बन्धों के बीच हमें गिरजा गया है। मैं की अनभूति इन सम्बन्धों की स्वीकृति की सुविधा देती है। इससे अधिक मैं का काम नहीं है। अधिक जो होता है, वह इसलिए बेकाम और दुष्काम हो जाता है। उसे अहंकार कहते हैं।

स्वरति और प्रेम

लेकिन मैं का प्यार लेकर हम चलते हैं। इसको स्वरति कहिये। इसमें मैं देनी गयी स्वतन्त्रता मानो लेने की ही चीज रह जाती है, देने में उसका सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाता है। उन्नति वह बनती है, जो स्व की निजता और पृथक्ता के आधार पर होती है, व्यक्ति के मैं को पुष्ट करती है। उससे चित्त में से कर्तव्य के बन्धन को शिथिल करती और अधिकार के दावे को तेज करती है। इस मनो-भाव से जब स्त्री-पुरुष परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तो मानो दोनो अपनी आजादी एक ही साथ खोना और रखना चाहते हैं। खोना तो विधाता के विधान के वश होकर चाहते हैं, रखे रहना अपने अहकृत आदर्श के वशीभूत होकर चाहते हैं।

अनुबन्धन नहीं, अनुरजन

कोई सम्बन्ध या दुनिया मे कोई घटना ऐसी नही है, जिसकी परिणति या परि-णाम न हो। प्रत्येक सम्बन्ध एक प्रकार का अनुबन्ध भी होता है। अनुबन्ध को हम, बीच मे पैसे को लाकर, सम्बन्ध होने से थोड़ा बचा लेते है। मानो उस प्रकार उसे समय मे सीमित कर देते और परिणाम के दायित्व मे बचा लेते हैं। मनोरजन इसीको कहा जाता है। दोनो ओर मनो का अनुबन्धन नहीं होता, सिर्फ अनुरजन होता है। दोनो अनुरजन के नाते मिलते हैं तो मिलते हैं, शेष अलग, आजाद और अजनबी बने रहते हैं। यह सुविधा किसीको कम नही करती, मानो अनुरजन देकर दोनो को बढ़ा जाती है।

पर एक उलझन

साधारणतया यह आपसी मनोरजन का रिश्ता परस्पर स्वातन्त्र्य देनेवाला होता है। लेकिन गहरे मे कही थोडी उलझन भी पड जाती है। वह उलझन इस कारण

२

वर्ग विचार और राष्ट्रवाद

जाति और धर्म

८५. योरप के समाज में जो विभिन्न वर्ग हैं उनका आधार जातीय व धार्मिक अधिक है अथवा आर्थिक?

—आर्थिक ही कहना चाहिए। वैसे प्रादेशिक भावना भी सब जगह मौजूद है।

८६. अब वहाँ जातीयता एवं धर्मों की क्या स्थिति है?

—धर्म की प्रधानता नहीं है और जातीयता को राष्ट्रीयता और प्रादेशिकता का आधार मिल गया है। नात्सी जर्मनी जातीय गौरव और परम्परा के नाम पर खड़ा था। लेकिन उस जातीयता को राष्ट्रीयता का आधार बना लिया गया था।

८७. क्या वहाँ जातीयता और धर्म का राजनीति पर कुछ भी प्रभाव बाकी बचा है?

राष्ट्रवाद प्रधान

—हाँ प्रभाव तो है। लेकिन राष्ट्रवाद सब जगह प्रधान है। राज्यप्रधान व्यवस्था में राष्ट्रवाद पनपे बिना रह नहीं सकता। सोशलिज्म और कम्युनिज्म राष्ट्राश्रित धारणाएँ नहीं हैं। लेकिन सोशलिज्म नेशनल बना और कम्युनिज्म का भी नेशनल रूप देखा जा सकता है। किसी-न-किसी प्रकार धार्मिक और जातीय धाराएँ इस राष्ट्रवाद को अपना बल दे जाती हैं।

आर्थिक वर्ग

८८. विभिन्न आर्थिक वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों का वहाँ क्या स्वरूप है?

—साम्यवादी देशों में तो विधान से दूसरों में वस्तुतः से राज्य की शक्ति ही प्रधान है। आर्थिक स्तरों व वर्गों में सन्तुलन सभी ओर से थाम रखा जाता है। वे वर्गीय स्वार्थ इस तरह पुष्ट नहीं हो पाते कि सीधे विग्रह में आ जाएँ। इस

है, चीन के लिए वह वृद्धि समस्या बन गयी है। इन कारणों से पारिवारिकता के सम्बन्ध मे भी दोनो के रुखो मे कुछ अन्तर हो, तो कुछ अचरज की बात नही है।

मैंने जो ऊपर कहा, उसका सम्बन्ध जीवन-विधि और जीवन-दर्शन से विशेष है। मेरा मानना है कि साम्यवाद पाश्चात्य-सभ्यता मे से निकला है, उसका अंग है, उसीका तर्कान्त है। राज्य को जब हम केन्द्र मे लेते और अधिकाधिक महत्त्व का बना देते हैं, तब जन दोयम पड जाता है, नियम और धन पहला हो जाता है। इस दर्शन के नीचे हमेशा सम्भव है कि लोगो के आपसी सम्बन्ध प्रयोजन को लेकर जुड़ें और उससे गहरे बने बिना भी चल सकें। वह व्यवस्था जहाँ पारिवारिक सम्बन्धो मे स्थिरता और घनता बढ़े कुछ वह होनी चाहिए, जहाँ श्रम का मूल्य धन से प्रथम और स्वप्रतिष्ठ हो। साम्यवादी व्यवस्था उस आदर्श का नाम लेती है सही, पर वैसी है नहीं।

अपराध-वृत्ति

८४ इन साम्यवादी देशों में भरपेट भोजन व स्वच्छन्द विहार के द्वारा अपराध-वृत्ति को क्या एकदम समाप्त नहीं कर डाला गया है? यदि नहीं, तो वहाँ अपराध की क्या स्थिति है?

—अपराध के लिए उत्तेजना और अवसर वहाँ कम है। भरपेट भोजन तो है, लेकिन काम के आधार पर है। इसलिए फालतू चीजों के लिए समय और सुविधा उतनी नहीं है।

ठीक यही हाल पश्चिमी यूरोप का नहीं है। वहाँ उस प्रकार का केन्द्रीकरण न होने से सत्ता की मशीन उतनी चुस्ती और एकता से काम नहीं कर सकती और कुछ समय लेती है।
इसलिए आज की होड़ में और दौड़ में पूरब की व्यवस्था कुछ आगे निकली और अधिक सक्षम और चुस्त दिखाई देती है।

साम्यवादी गुट और राष्ट्रवाद

९१ पश्चिमी देशों में तो राष्ट्रवाद प्रखर है ही और वे एक बाड़े में घिरे पशुओं की तरह परस्पर सींग मारते ही रहते हैं। पर क्या साम्यवादी गुट में भी राष्ट्रवाद को समाप्त किया जा सका है?

वर्ग-विचार

—राष्ट्रवाद वह आधार है जिस पर दुनिया की व्यवस्था चल रही है। मार्क्स ने एक विचार दिया जिसने बताया कि समाज खड़ी रेखाओं से प्रादेशिकताओं में बँटा नहीं है, बल्कि पड़ी रेखाओं से वर्गों-स्तरों में बँटा है। उसने वह दृष्टि दी जिससे पड़ोसी जरूरी तौर पर हमारा भाई और मित्र नहीं रहता बल्कि वह अगर पूँजीपति हो तो दुश्मन और शोषक बना दीखता है। 'दुनिया के मजदूर एक हो जाओ'—इस आवाज में यह मान लिया गया है कि देश-विशेष की रेखाओं से मजदूरों की जमात बँटी नहीं है। यह एकता की आवाज थी और उसमें असर था लेकिन एकता जमात की थी और जमातपन मजदूर होने के नाते। इससे जो मजदूर न थे उनसे गैर हो गये और एक होने के माने उन सब गैर मजदूर जमातों से लड़ने के लिए एक होना बन गया। इस विचार ने देश विभाजन को मिटाया तो वर्ग-विभाजन दे दिया। यानी लड़ाई नहीं मिटी वह कायम रही।

वर्ग-विचार राष्ट्र-सीमित बना

इस नये वर्ग विचार के आधार पर पहले अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद और फिर अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद चला और दोनों उसमें एक जगह आते और परस्पर अपना भेद खोते हुए जान भी पड़े। लेकिन जब क्रान्ति के एक राज्य रूस में सफल होने और राज्य का रूप लेते ही जान पड़ा कि व्यवस्था के तल पर राष्ट्र को पहचानना और मानना ही जरूरी होता है। समाजवाद राष्ट्रीय हुआ साम्यवाद राष्ट्रीय हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौम क्रान्ति की प्राथमिक मान्यतायें ट्राटस्की

प्रकार के व्यक्ति-सघर्षों और समूह-सघर्षों को बचाने का काम करने के लिए सब देशो ने अपनी-अपनी व्यवस्थाओ का निर्माण किया है और वे कुछ विभिन्न भी हैं। वर्ग एव हित-सन्तुलन का प्रश्न फिर भी सरकारों के लिए एक जीवित प्रश्न बना रहता है। फ्रास मे दिगाल से पहले कितनी जल्दी-जल्दी सरकारें बन-गिर रही थी। कुल मिलाकर पश्चिम के देशो की समाज-व्यवस्था मे स्थिरता के तत्त्व कम और अस्थिरता के ही अधिक हैं। इसी कारण राष्ट्रीय स्तर पर विग्रह का डर बना रहता और शस्त्रास्त्र की तैयारी करते ही रहना पडता है। यह मूलत उस जीवन-दर्शन के कारण है, जो वहाँ लोक-मानस को सचालित करता है और जिसमे स्वत्व प्रधान है, परत्व प्रयोजनाय है। इस आधार पर बनी उन्नति चैन नही ले सकती, स्पर्द्धा और विग्रह की उत्पत्ति जरूरी होती है।

मजदूर-आन्दोलन

८९. पश्चिमी देशों मे मजदूर-आदोलनो को किस प्रकार नियन्त्रित रखा गया है? वहाँ ट्रेड यूनियन आन्दोलन राजनीति को कितनी दूर तक प्रभावित करती है?

—ट्रेड-यूनियन आन्दोलन मे वामपक्षीय विचार का आधार है। समाज और साम्य दोनो ही शब्दो के हामी और वादी दल इस क्षेत्र मे काम कर रहे हैं। समाजवादी ट्रेड यूनियनिस्ट राष्ट्रीय सरकारो से मेल रखकर चलते हैं और साम्यवादी असुविधा उत्पन्न करने मे विश्वास रखते हैं। यह विग्रह राजनीतिक है और विविध देशो की राजनीति के हिसाब से उसका स्वरूप भी भिन्न है। श्रम और श्रमिक की समस्या तक सीमित रखने का उद्योग समाजवादी विचार की ओर से होता है, साम्यवादी श्रम-हित मे ही उसे राजनीति से अलग करके नही देखना चाहते हैं। स्पष्ट है कि साम्यवादी देशो मे ट्रेड-यूनियनवाली चीज अगर है, तो शासन की ओर से है। शासन पर उसके दबाव या प्रभाव आदि का प्रश्न नही उठता है।

सफल व्यवस्था

९० परस्पर अविश्वस्त योरप की पश्चिमीय व्यवस्था क्या उसकी पूर्वीय व्यवस्था का मुकाबला कर पा रही है? क्या धीरे-धीरे पूर्वीय व्यवस्था पश्चिमी के ऊपर हावी होती नहीं जा रही है?

—पूर्वीय व्यवस्था साम्यवादी है। उसका आशय कि वहाँ सत्ता बिखरी हुई नहीं है और साधन भी बिखरे हुए नहीं हैं। एक सकल्प और आदेश के नीचे सब शक्ति एक मुट्ठी में आकर जुट सकी है।

ठीक यही हाल पश्चिमी योरप का नहीं है। वहाँ इस प्रकार का केन्द्रीकरण न होने से सत्ता की मशीन उतनी द्रुतता और एकता से काम नहीं कर सकती और कुछ समय लेती है।
इसलिए आज की होड़ में और दौड़ में पूरब की व्यवस्था कुछ आगे निकली और अधिक समर्थ और अनुपम दिखाई देती है।

साम्यवादी युग और राष्ट्रवाद

११ पश्चिमी देशों में तो राष्ट्रवाद प्रखर है ही और वे एक बाड़े में घिरे पशुओं की तरह परस्पर सींग मारते ही रहते हैं। पर क्या साम्यवादी युग में भी राष्ट्रवाद को समाप्त किया जा सका है?

वर्ग-विचार

—राष्ट्रवाद वह आधार है जिस पर दुनिया की व्यवस्था चल रही है। मार्क्स ने एक विचार दिया जिसमें बताया कि समाज खड़ी रेखाओं से प्रादेशिकताओं में बँटा नहीं है बल्कि पड़ी रेखाओं से वर्गों-स्तरों में बँटा है। उसने वह दृष्टि दी जिसमें पड़ोसी जरूरी तौर पर हमारा भाई और मित्र नहीं रहता बल्कि वह अगर पूँजीपति हो तो दुश्मन और शोषक बना दीखता है। 'दुनिया के मजदूर एक हो जाओ'—इस आवाज में यह मान लिया गया है कि देश-विशेष की रेखाओं से मजदूरों की जमात बँटी नहीं है। यह एकता की आवाज थी और उसमें असर था लेकिन एकता जमात की थी और जमातपन मजूर होने के नाते। इससे जो मजदूर न थे उनसे गैर हो गये और एक होने के माने उन सब गैर मजदूर जमातों से लड़ने के लिए एक होना बन गया। इस विचार ने देश विभाजन को मिटाया तो वर्ग विभाजन दे दिया। यानी लड़ाई नहीं मिटी वह कायम रही।

वर्ग-विचार राष्ट्र-सीमित बना

इस नये वर्ग विचार के आधार पर पहले अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद और फिर अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद चला और देश उसमें एक जगह आये और परस्पर मत्था भर पीछे हुए पास भी पड़े। लेकिन जब क्रान्ति में एक राष्ट्र रूस में सफल होने और राज्य का रूप लेते ही जान पड़ा कि व्यवस्था के तल पर राष्ट्र को पहचानना और मानना ही जरूरी होता है। समाजवाद राष्ट्रीय हुआ साम्यवाद राष्ट्रीय हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौम क्रान्ति की प्राथमिक मान्यतावाला ट्राट्स्की

क्रान्ति के शीर्ष से गिरकर लुप्त हो गया, राष्ट्रीय रूप में इस क्रान्ति को बांधने और जमानेवाला स्टालिन शीर्षस्थ हो गया। यानी नये वर्ग-विचार ने परम्परागत राष्ट्र-विचार की बुनियाद को अपने अनुकूल पाना और बनाना शुरू कर दिया।

राष्ट्र-राज्य सर्वोपरि

साम्यवाद कर्म के क्षेत्र मे विचारात्मक (आइडियोलॉजिकल) दृष्टिकोण और सकल्प को ऊपर लाता है। वह नयी वफादारी, पार्टी की वफादारी, पैदा करता है। भारतीय साम्यवादी भारत से भी ऊपर अमुक दलगत वफादारी को महत्त्व दे सकता है। लेकिन साथ ही प्रत्येक देश का साम्यवादी, यदि वह निरा आदर्शवादी नही बना रहना चाहता, राजनीति मे सक्रिय प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है, तो राष्ट्रीयता को उसे स्वीकार करना ही पडता है।

इस तरह राष्ट्र सब कही उस इकाई के रूप मे मौजूद है, जिसको लेकर विश्व-व्यवस्था चल रही है। व्यवस्था ही नहीं, विश्व की मानसिकता भी उसी आधार पर चलती है। राष्ट्र सर्वोपरि (सावरेन) है, राष्ट्र-राज्य सावरेन (सर्वोपरि) है। पचशील, सह-अस्तित्व (को-एक्सिजटेंस) यूनो इसी तथ्य को दर्शाते हैं।

आधार अन्तर्राष्ट्रीयता, मानवता नहीं

इन सब राष्ट्र-राज्यों की 'सावरेंटी' को लेकर मानव-जाति झमेलों मे पडती आयी है। युद्ध हुए हैं और पहले विश्व-युद्ध के बाद 'लीग आफ नेशन्स' बनी है। वह युद्ध नही रोक सकी, तो दूसरे युद्ध के बाद यू०-एन० का निर्माण हुआ और अब यू० एन० के रहते-रहते युद्ध की तैयारियाँ जोर-शोर से हो रही हैं और कभी उसकी गडगडाहट तक सुनाई दे आती है। कारण, जैसे लीग-आफ-नेशन्स, वैसे ही यू० एन० मूल मे राष्ट्र-राज्यो की सावरेंटी की ही स्वीकारता पर खडी हैं।

यदि सावरेन राष्ट्र-राज्य हैं, तो सुविधा होने या असुविधा होने पर पडोसी पर हमला करने से उन्हे कौन रोके और कैसे रोके? अन्तर्राष्ट्रीय सस्था स्वय शक्ति-सतुलन के तत्व पर निर्भर खडी है और नीति की निष्ठा पर चल नहीं सकती। उसका निर्माण ही शक्ति की भूमिका और स्वीकारता पर हुआ है। नीति को ध्येय में लिया गया है, बुनियाद मे नही। राष्ट्र-राज्य के प्रतिनिधि मिलकर अन्तर्राष्ट्रीयता को बनाते हैं, मानवता के प्रतिनिधि असगत और निरुपाय होते हैं। इसलिए मानवता का प्रतिनिधि राजनीतिक व्यवहार में कोई रह नहीं जाता। मानवता किसी सस्थागत रूप मे हमे प्राप्त नहीं है, न मानव-नीति सावरेन रूप मे कहीं

प्रतिष्ठित है। इसलिए विश्व के स्तर पर जो पद्धति चलती है वह राजनीति और शक्तिनीति ही रह जाती है। ये परिणाम राष्ट्र-राज्य-सावरेंटी व एतद् सम्बन्धी राजनीतिक धारणाओं के कारण प्राप्त होते हैं और उनमें से निकलना नहीं हो पाता।

ऋषि राज्य से श्रेष्ठ

सच यह है कि समूचा यह जीवन-दर्शन भ्रान्त है, जो जीवन-मूल्य को इस तरह प्रस्तुत करता है कि धन बल से बड़ जाता है, राज्य ऋषि के ऊपर आ जाता है शक्ति नीति पर हावी हो जाती है। यही औंधापन है, दृष्टि की चूक है और इस राह कभी निस्तार आनेवाला नहीं है। कारण यदि मूल्य शक्तिमूलक ही रहे होते तो पशु से कभी मनुष्य बनने की आवश्यकता न होती। पर मनुष्य बना है तो स्पष्ट है कि उन मूल्यों का विकास राज्य की दिशा में नहीं नीति की दिशा में है, और अन्त में राज्य को श्रेष्ठतम नहीं ऋषि को श्रेष्ठतर माना जाता है।

मानवीय राष्ट्र

राज्य का वाद हमें उस दिशा में बढ़ने से रोकता है, वह वाद नीति को राज्याश्रित कर देता है। इसलिए वह राष्ट्र विश्व-व्यवस्था के सही विकास में सहायक होगा जो अपने सत्त्व और स्वत्व को सांस्कृतिक और मानवीय स्वरूप देकर उस आधार पर सर्वथा निःशस्त्र बनेगा जो अपने भीतर सर्वथा समभावमूलक अर्थ-रचना और समाज-रचना उठाकर विश्व की राजनीति के आँगन में आयेगा। वह राष्ट्र होगा जो अपने लिए जीवते समय सारी मानव-जाति के लिए जीता रहा होगा और उसका स्वार्थ केवल परमार्थ में अपनी आहुति दे जाना होगा।

गांधी की राष्ट्रीयता

मेरी प्रतीति है कि गांधी भारत की राष्ट्रीयता को नहीं संस्कार दे रहे थे और उस राज्य-सत्ता से फिर वे मानवता की एकता के अभिक्रम की आशा रखते थे। उनको निश्चय था कि निःशस्त्रता का आरंभ यहाँ से होगा और भय-संशय का चक्र इस आत्म निर्भीकता से टूटेगा।

जाहिर है कि इस दृष्टि से राष्ट्र की एक अविरोधी और पूरक भावना हमको प्राप्त होती है। उसको लेकर रक्षा की चिंता जरूरी नहीं रह जाती और सीमा-रेखा लाँघने की ही सुविधा देती है, मनों को जोड़ने की शक्ति को देती है।

९२ राष्ट्रवाद को व्यवहार में उसने अनिवार्य-सा माना है। तब उसके कुपरि

णाम भी अनिवार्य हैं और आज स्पष्ट दृष्टि पडते हैं ऐसी अवस्था मे विश्व-शाति का भविष्य क्या है? क्या भय और स्वार्थों के सन्तुलन पर वह टिकी रह सकती है?

राष्ट्र स्वार्पण करें

—नही, व्यक्ति को मानकर भी व्यक्तिवाद को बचाया जा सकता है। आखिर प्रेम सम्भव तभी होता है, जब हममे स्व का भाव है। वह भाव ही जब अभाव बन जाता है, कष्ट दे आता है, थोडा सूना और एकाकी-सा मालूम होता है, तब स्व का अभिमान ही भार हो जाता है, स्व के अर्पण की इच्छा होती है और पर के प्रति आत्म-निवेदन मे तृप्ति और पूर्ति प्रतीत होती है। व्यक्ति के होने का अन्त मे यही समर्थन है कि इसी प्रकार वह प्रेम की अनुभूति को पाता और व्याप्त होता है। राष्ट्र का राष्ट्रत्व, जैसे कि व्यक्ति का व्यक्तित्व, आत्मार्पण मे से और समृद्ध और सम्पन्न बनेगा। स्व को लेकर, अभिमान और अहकार को लेकर, जो हम चेष्टाएँ करते हैं, वे आखिर अल्हडपन की समझी जाती हैं। राष्ट्र को लेकर राष्ट्रवादी अभिमान उसी तरह का अल्हडपन है। राष्ट्र-भावना यदि सचमुच परिपक्व होगी, तो दर्प की जगह वहाँ दायित्व दिखाई देगा और शेखी का स्थान नम्रता लेगी।

भारत की एकता का रहस्य

ऊपर इसी अवास्तविक और अव्यावहारिक अवस्था की बात कही है। आप अपने इस भारत को ही लीजिये। आज तो एक विधान है और एक शासन है, लेकिन क्या कभी यह सुविधा इतिहास मे भारतवर्ष के पास हो सकी है? राजनीतिक दृष्टि से शायद ही कभी भारत एक और अखण्ड रहा है। लेकिन इतिहासकार बतलाते हैं कि आज दुनिया मे कोई सस्कृति जीवित है और अपनी परम्परा से अविच्छिन्न है, तो वह भारतीय है। वह कौन भारत है, जो हजारो-हजार वर्षो से अटूट और एक बना चला आया है? जिसके अन्दर निरन्तर टूट-फूट, युद्ध-विग्रह होते रहे हैं, फिर भी जो समूचेपन मे अडिग और अचल बना रहा है, जो सतत है, सनातन है, वह भारत क्या है? भारत का वह धर्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे किसी पुस्तक, विधान या व्यक्ति का उल्लेख नही किया जा सकता है। किसीने उसे बाहर से या ऊपर से एक बनाकर नही रखा है। वैसा होता, तो एकता छिन्न-भिन्न हो गयी होती, अजस्र नही रह पाती। निरन्तर जो वह प्राण-वान् और प्रवहमान रही, तो इस कारण कि वह भीतर से आत्मिक गुण की तरह मानव नीति के रूप मे, सहज धर्म के रूप मे, स्वीकृत और अगीकृत होती चली

गयी। भारत का भाव आदिकाल से लगभग अनादि-काल से लोगोंके मनों में अनुस्यूत और प्राप्त बना रहा। राज्य के रूप में मूर्त देखने की निर्भरता कोई नहीं रही। राज्यों की नीति यहाँ भी और देशों की तरह जुड़कर आपस में लड़ती झगड़ती रही, मारकाट मचाती और खून-खराबा करती रही। लेकिन अपनी सनातन धर्म-नीति की निर्भरता के कारण भारतीयता का सूत्र नहीं बिखरा। वह अक्षुण्ण बनी चली गयी।

राष्ट्र आलिंगन में बधेंगे

इसलिए आपकी यह बात कि राष्ट्र होंगे तो राष्ट्रवाद होंगे और वे सब वाद होंगे तो विग्रह अवश्य होगा—मुझे मान्य नहीं है। वादों की स्पृहा और स्पर्धा होने पर विग्रह और युद्ध को टाला नहीं जा सकेगा यह तो समझ में आता है। पर राष्ट्र अपना एक अलग दम्भ और दर्प पैदा करके उस सहारे ही जीने का उपाय देखते रहेंगे यह अनिवार्य नहीं जान पड़ता। अलहदापन की उमर बीतेगी तब उत्तरोत्तर मेल बढ़ जायगा। आँखों में नमी आयेगी और मन में प्रेम फूटेगा तब अलग-अलगता की जगह चलन में मर्यादा और शील का प्रवेश होगा। स्वत्व की सार्थकता तब हमें प्रणय और परिणय में जान पड़ेगी। स्पर्द्धा जितनी है उन्हींमें परस्परता फूटेगी और आयेगी। *यह मैं सम्भव ही नहीं अनिवार्य मानता हूँ। अनिवार्य* अपने और सबके इस अनुभव के आधार पर मानता हूँ कि स्वत्व को हम सब ही बढ़ाते हैं, बढ़ाते जाते हैं तब तक कि जब वह स्वयं व्यर्थ दीख आये और उस सबको किसीके चरणों में निछावर करने का अर्थ ही एक अर्थ रह जाय। वहीं स्वार्थ जान पड़े वहीं परमार्थ जान पड़े, शेष अर्थ सब यहाँसे सर्वथा लुप्त हो जायें। यह सब सबके जीवन में आता है। राष्ट्रों के जीवनों में भी आये बिना न रहेगा। हो नहीं सकता कि विधाता व्यर्थ हो, विधान व्यर्थ हो और जीवन चलते-चलते प्रेम की दशा के तट तक न पहुँच जाय। यहीं राष्ट्रवाद की वह अवश्य अवस्था होगी जब सिर तानने की जगह वह सिर झुकायेगा। और अपने और दूसरे के बीच के अन्तर पर सुरक्षा की फौज नहीं रखेगा बल्कि आलिंगन में दोनों ओर की बढ़ी हुई बाँहों के बीच फौज भाग में पलभर एकदम शून्य हो जायगी।

गांधी-नीति व्यावहारिक

सपना नहीं है वह, बल्कि अनिवार्यता है। और आज के दिन कांगो की समस्या है और भारत के प्रधानमन्त्री नेहरू ने समर्थन किया है कि एक भी बेल्जियन सैनिक न रहने दिया जाय। लेकिन इन्हीं नेहरू ने गोआ को, राज्य और साम्राज्य

के हटने के वाद अग्रेजी लार्ड माउटवेटन को भारत के पहले गवर्नर जनरल के तौर पर रखना प्रिय माना था। कारण थे इसमे गाघी और गाघी-नीति। गाघी-नीति आसमान मे नहीं, ठेठ राजकारण में चली थी, क्योंकि व्यावहारिक थी। आगे की दुनिया की राजनीति जैसे-जैसे कच्ची से अवस्था मे पकती और समझ अपनाती जायगी, गाघी-नीनि की व्यावहारिकता देख सकेगी और उसको अमल मे लेना और उतारना चाहेगी।

उस नीति और उस दृष्टि मे व्यक्ति अपने को परिवार के हित मे, परिवार समाज के हित मे, समाज देश के हित मे, देश विश्व के हित मे आहुति देने मे अपनी उन्नति देखेगा। तव एक की उन्नति दूसरे की अवनति पर खडी होकर मुस्कराना भूल जायगी, वल्कि इस कृत्य पर शर्म खायेगी और दूसरे की उन्नति मे ही अपनी उन्नति देखेगी। ऐसा राष्ट्रवाद हो सकता है, आगे होगा। अगर नही हो सकेगा, तो मान लेना होगा कि मानव पशु से अलग और विशिष्ट नही है और भविष्य जैसा भी कुछ नही है। सव ईमान से तव हाथ धो लेना पडेगा। ●

३

यह हिंसावादी संस्कृति

हिंसा-अहिंसा

११ इतिहास इस बात का साक्षी है कि अहिंसा हिंसा के अन्धकार में ज्योति की तरह चमकी तो जरूर, पर चमकी कुछ ही देर के लिए, और उसका सन्देश मानव-मन में स्थिर न रह सका। ऐसी अवस्था में क्या अहिंसा और प्रेम का वास्तव उन्मुक्त सपना पूरा हो सकेगा और संसार वर्तमान की भीषण सम्भावनाओं से सुरक्षित बच सकेगा?
—सपना पूरा कभी न होगा। लेकिन सपना संकेत जरूर देता रहेगा। सपना न रहकर जब उस संकेत को भी हम टालते हैं तो संकट को ही निमन्त्रण देते हैं।

अहिंसा का अभाव हिंसा का समर्थन नहीं

हिंसा-अहिंसा किन्हीं निश्चित रूप और तत्त्व के नाम नहीं हैं। यदि हम मानव की गति और उसके विकास को हिंसा से अहिंसा की दिशा में न मानें तो इसी क्षण सब कुछ व्यर्थ और अहेतुक हो जाता है। सम्पूर्ण अहिंसा का व्यवहार कल्पना तक में यदि स्पष्ट नहीं हो पाता है, तो इसका अर्थ हिंसा का समर्थन नहीं बना लेना चाहिए। मनुष्य में से पशुता बचे रहने के लिए सदा शेष रहती चली जायगी। इसमें से पशुता को समर्थन नहीं मिल जाता है। बल्कि पशुता से निवृत्ति उतनी ही मानवता का लक्षण बनी चली जाती है।
इतिहास में हिंसा का अन्धकार मिलेगा। लेकिन अगर वह सवेरा थोड़ी देर के लिए भी रहा तो उस ज्योति को इतिहास फिर भूल नहीं सका है। उसे ज्योति के रूप में मानना रहा इसीमें इतिहास के लिए सान्त्वना और आशा के तत्त्व मिल जाते हैं। अन्धकार को ज्योति का अभाव ही हम मान सकते हैं। अभाव नियम नहीं हो सकता। अभाव अपवाद है, नियम यह है।

युद्धो के पीछे अनिवार्य मिलन

स्वय युद्धो के रूप को ही लीजिये। उनका रूप विशाल से विशालतर और विकट से विकटतर होता गया है। लेकिन सूक्ष्मता से देखें कि इस विशालता और विकटता के नीचे कुछ उसके नियम और नियत्रण भी अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति मे विकास पाते चले गये हैं। युद्ध मे ही सही, दुनिया के देश ऐसे एक दूसरे के परिचय मे आये हैं। विश्व-व्यवस्था जैसी चीज प्रकट हुई है और यह दर्शन सवको सुलभ हो गया है कि सव परस्पर अन्त.प्रभावित और अनन्य निभर हैं। सारे विश्व का शरीर अव अपने को एकत्रित और एकात्म अनुभव करता है। एक स्थल पर क्षति प्रकट होने पर जैसे समस्त शरीर मे से रक्त उस ओर दौड पडता है। हिसा के रक्त-रजित दृश्यो के पीछे जो हठात् यह एकता और एकत्रितता घटित और सम्पन्न होती चली जा रही है, उसे हम सहसा देखा-अनदेखा कर देते हैं। हिसा फटती और फूटती है, तव दीखती है। अहिसा अलक्ष्य भाव से जो हमारी परस्परता को घनिष्ठ, व्याप्त और ठोस वनाती जा रही है, सो उसका लेखा हमारी वाह्य इन्द्रियाँ सहसा ले नही पाती। उसको प्रज्ञा की आँखो से देखना होता है। यह प्रक्रिया अनिवार्य यद्यपि अदृश्य रूप से मानव-जीवन के इतिहास मे से घटित होती चली आयी है। ऐसा न होता, तो इतिहास कभी का वन्द हो गया होता।

अणु-वम से अहिसा का पाठ

आज अणु-शक्ति प्रकट हुई है और उसकी पहली सार्थकता अणु-वम के रूप मे हमने पहचानी है। जाहिर है कि भीपण सहार-शक्ति उसमे है और वह हिसा का दारुण उपकरण है। लेकिन इस आविष्कार से दुनिया खुली आँखो देख आयी है कि मन की तनिक विकृति किस तरह सारे ससार को ध्वस्त कर सकती है। अर्थात् हिसा का भाव कितना घातक और अहिसा का विचार कितना आवश्यक है। जो धर्मशास्त्र और साहित्य-दर्शन इतने काल से मानव-मन के निकट प्रत्यक्ष नही कर पाये थे, हिसक कहे जानेवाले इस आयुध के आविष्कार ने वह पाठ विश्व-मानस के मर्म में एक ही साथ उतार दिया है। अर्थात् इतिहास मे से हिसा नहीं निकलती है, बल्कि अहिसा के विचार की अनिवार्यता निकलती है, यह देखना कठिन नही होना चाहिए। वाह्य-दर्शन की हिसा जैसे अन्तर्दशन की अहिसा को पाठ के रूप मे प्रस्तुत करने को ही वनी हो।

हिसा का अगौरव बढ़ा है

बुद्ध, ईसा, गाधी हमे इतिहास मे ज्योति की भाँति चमककर लुप्त हुए जान पडते

है। पर ज्योति उन अवतारी पुरुषों की काया के साथ चली ही गयी होती तो उनके नाम मात्र शेष बचे कैसे रह जाते? वह ज्योति मानवता के हृदयों में अपनी किरण छोड़े बिना अस्त हो गयी होती तो स्मृति किस सहारे उस ज्योतिर्मयता को सँजो सकती? अतीत और व्यतीत मानकर इतिहास में से उनकी वर्तमानता को मिटाया नहीं जा सकता है। यह कि मनुष्य अपनी हिंसा की घोरता से संत्रस्त और भयभीत है उसकी अहिंसक चेतना को ही दरसाता है। हिंसा का गौरव क्रमशः घटता जा रहा है। उस पर बल्कि अगौरव इतना चढ़ गया है कि हिंसा पर उतरनेवाली सत्ता और शक्ति को विश्व-मत के आगे अपनी कैफियत और सफाई देनी होती है। चाहे यह जाहिर हो कि वह जुर्म है, इससे सफाई देना चूक से ही जरूरी है। इसको मानव-चेतना में अहिंसा के भाव की व्याप्ति से अतिरिक्त दूसरा और क्या कहेंगे।

१४ विज्ञान ने मानव-मनों को कम्पा और युद्धों का सृजन किया, आपकी ही यह बात आपके उपर्युक्त कथन से उलटी पड़ जाती है कि विज्ञान के उपकरणों ने विश्व-मानव में प्रेम और अहिंसा की अनुभूति को दृढ़ एवं प्रशस्त किया। इस विरोध का क्या कारण है?

विज्ञान विश्लेषण है

—विज्ञान बुद्धि की वह तटस्थ प्रक्रिया है जो स्थूल से सूक्ष्म की तरफ चलती है। अन्वय और पृथक्करण उसकी पद्धति है। उसमें एक को दूसरे से भिन्न पहचाना जाता है। विज्ञान इस तरह सदा भेद-विज्ञान है। इसलिए विज्ञान स्वतः अभेद से वास्ता नहीं रखता है। जितना भी चमत्कार विज्ञान दिखाता है, पृथक्करण द्वारा पाये गये मर्म को फिर लौटाकर जीवन के संश्लिष्ट उपयोग में उतारने के द्वारा ही दिखा पाता है। अर्थात् विज्ञान विश्लेषण है जीवन की आवश्यकता उसमें से संश्लेषण साध लेती है।

जीवन संश्लेषण है

विज्ञान के उपकरण और आयुध जैसे-जैसे आविष्कृत होते चले गये वे पहले नाश-आत्मक वृत्ति के हाथ पड़े। यह भी कहा जा सकता है कि वासना के वेग और दबाव में से बुद्धि की प्रेरणा सचेष्ट हुई और नया-नया आविष्कार करती चली गयी। 'निसेसिटी इज दी मदर आफ इन्वेन्शन' यानी आवश्यकता जीवन सम्बन्धी थी और बुद्धि के विश्लेषण से प्राप्त तथ्यों को तत्क्षण जीवन की परिस्थितियों से मिलता गया। विज्ञान युद्ध की आवश्यकता के दबाव के नीचे फैलता रहा और

पीछे जाकर भी स्थानात्मक और [illegible] में आता। बुराई में से [illegible] इस भलाई फलित होती है [illegible] बुराई [illegible] बना देती। फिर भी उस [illegible] को [illegible] है। [illegible] अपने आप में [illegible] बुरा [illegible]। [illegible] क्या कहा जाय? [illegible] जब [illegible] की भूमि और श्रद्धा प्राप्त [illegible]? [illegible] की भूमिका है और [illegible] श्रद्धा से [illegible] नहीं हो पाता है। यही जीवन का सनातन धर्म है। [illegible] जो जीवन का [illegible] लेना और [illegible] धर्म एवं [illegible] के लिए भी [illegible] नहीं है। [illegible] अपने सब उत्पातों के बावजूद [illegible] में उठता और बढ़ता आया है। [illegible] की ओर से जो अपराध हुआ है, उसके प्रति कोई [illegible] का भाव नहीं [illegible] चाहिये। केवल [illegible] विवेक ही पहला होना चाहिए।

९५ योरप ही वर्तमान संस्कृति का जनक है और उसकी समस्याएँ आज तक विश्व-जीवन को प्रभावित करती आयी हैं। आप क्या मानते हैं कि संस्कृति केन्द्र अब बदलकर अमरीका चला गया है?

यूरोपीय सभ्यता की धुरी स्थानान्तरित

— शक्ति की धुरी अवश्य स्थानान्तरित हुई है। संस्कृति यह बहिर्मुख थी, शक्ति-प्रधान थी। इसलिये यह मानने में बाधा नहीं है कि उसका प्राण केन्द्र भी हट गया है। अमरीका और रूस आज सबसे प्रमुख देश हैं। दोनों ही जगह उन सभ्य, शिष्ट, पाबंद और कुलीनोचित सभ्यता का महत्व गिरा हुआ दीखता है। दोनों ही जगह सामान्यता का आदर बढ़ा है और व्यवहार का खुलापन पसन्द किया जाने लगा है। श्रेणियों के बीच रहनेवाली मर्यादा अपनी महिमा खो रही है। स्थिति से गति की गरिमा बढ़ती जाती है। स्थानबद्ध 'लैण्डलार्ड' की कल्पना पुरातन और जीर्ण पड़ गयी है, इधर-उधर नाना सम्पर्क रखनेवाला 'इंटर प्रेन्युअर' अधिक महिमान्वित हो उठा है। आगे और अन्तर इस स्थानान्तरण के साथ घटित हुए देखे जा सकते हैं। लेकिन उस सभ्यता का मूलाधार बदला नहीं है। वह अर्थाश्रित और राज्य केन्द्रोन्मुख है, जिसकी चर्चा पहले आ ही गयी है।

उसका अन्तर्द्वन्द्व चरम सीमा पर

अमरीका और रूस में भविष्य का झुकाव किधर अधिक है, इसका उत्तर साफ हो

जाय तो शायद संकट ही टल जाय। खेल का अन्त नहीं आया है और बाजी किसके हाथ रही है यह निर्णय देने का अवसर नहीं है। यह कह सकते हैं कि रूस में वैचारिक दृष्टि से यदि पाश्चात्य सभ्यता की व्यवस्थितता का रूप उभरा है, तो अमरीका में उसी के मुक्त भाव-पक्ष का स्वरूप देखने में आता है। वैसे यह सभ्यता अब ह्रास में आ रही है और फटाव के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। मुझे लगता है कि यह सभ्यता लगभग अपना वेग दे चुकी और थक चुकी है। यह उसके अपने आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व का चरम है और यह रोग बढ़ता है, उसे ले ही बैठेगा।

१८. 'सभ्यता को ले बैठेगा' इससे आपका क्या तात्पर्य है? क्या इस पाश्चात्य सभ्यता का ध्वंस हो जायगा। यदि हाँ, तो किस रूप में?

सभ्यता फट जायगी

—सभ्यता ऐंठ, यानी फट, जायगी। उसमें से नये निर्माण की सामग्री प्राप्त होगी। उसके 'प्रकार' के बारे में कुछ भी कहना असम्भव है। लेकिन पूर्वतर और उत्तरतर समन्वय का सूत्र नये निर्माण को धारण करनेवाला होगा।

पश्चिम के कई मनीषियों ने यह विचार प्रकट किया है। स्पेंग्लर का 'डिक्लाइन आफ दि वेस्ट' संस्कृतियों के इतिहास का एक महत् अध्ययन है। पश्चिम की सभ्यता अस्त व्यस्त होने के निकट है, इस निश्चय का वहाँ प्रतिपादन है। टायन बी के नये ग्रन्थ में भी कुछ ऐसी ही धारणा प्रकट की गयी है।

१९. इस सभ्यता के स्तम्भ इंग्लैण्ड फ्रांस और जर्मनी कुछ नया देकर इस सभ्यता को बचाने की क्षमता क्या अब नहीं रखते?

—ऐसा मालूम होता है कि नया कुछ यदि आयगा जो फटने की प्रवृत्ति को रोक सके तो शायद फटाव टल जायगा। वह तत्त्व जो इस सभ्यता को उठाये और मिलकर आगे रख रहा है, अब स्वयं आक्रान्त होकर समय से पीछे पड़ता जा रहा है, तो नया कुछ उसके विघटन पर ही कार्यकारी हो सकेगा।

इंग्लैण्ड और फ्रांस के दो तट

ऐसा भान पड़ता है कि हर स्थिति के दो तट होते हैं। एक जिसे मर्यादा कहते हैं और जिसमें से सभ्यता की रेखा और परिधि का निर्माण होता है। दूसरा जिसे उसका अन्य पक्ष चित्-पक्ष कहा जा सकता है। वहाँ नियमितता से अधिक व्यथा होती है और खोज और अस्पृष्ट की प्रेरणा वहाँ फूटती रहती है। पहले को यदि गुणात्मक तो दूसरे को रूपात्मक कहा जा सकता है। दूसरा प्रभाव-

नोन्मुख होता है। इसमे से आवरणो को तोडने और मुक्त करने की वृत्ति निकलती है। सुरक्षात्मक आवरणो की सृष्टि करता है। इन दोनों को लेकर अमुक संस्कृति सभ्यता के रूप मे उत्तरोत्तर प्रकाशन पाती है। इग्लैण्ड और फ्रास ने स्वभावो मे जैसे ये दो तट मूर्त हो जाते है। इगलिश स्वभाव नियम-प्रधान है तो फ्रेंच आनन्द-प्रधान हो कर प्रकटा। अब रूस मर्यादितता और अमेरिका भोगोन्मुखता के तटो को व्यक्त करते है। जर्मनी कुछ बीच मे पडने के कारण गभीर और मननशील रहा और कहा जा सकता है कि सभ्यता को वहाँ से वह तत्त्व प्राप्त होता रहा, जो टिकाव देता है। लेकिन कुल मिलाकर यह उन्नति बौद्धिक और पुल्लिंगी थी और मानवता के लिए आवश्यक मन-मस्तिष्क दिल-दिमाग के सयोग को नही साध सकती थी। आज यह प्रकट है कि विज्ञान से जब बाहर के चन्द्र और मगल निकट आ गये हैं, तब अन्दर मे पडोसी दूर पड गया है। विवाह मे मिलने पर भी पति-पत्नी के वृत्त मिलते नही है, दो बने रहते है। बाहर को मिलाने की क्षमता ही जैसे अन्दर को बाँटे रखती है। यह अन्तर्विरोध सतह पर आ गया है और इसीसे कहना पडता है कि शायद अब उसकी आयु आ गयी है। जीर्ण होकर उसके फटने का समय है और नवीन के अभ्युदय का।

एशिया और अफ्रीका

९८ एशिया और अफ्रीका का पुनर्जागरण इस सभ्यता के सस्कार मे क्या सहयोग देता आपको दीख पडता है?

—एशिया, अफ्रीका और इस तरह के दूसरे नामो का सहारा कुछ दूर तक ही सहायक हो सकता है, आगे वह खतरनाक है। कारण, ये सज्ञाएँ और धारणाएँ अन्त मे राजनीतिक हैं। जब वह एक मानव-समूह की एकता को प्रकट करती है सही हैं, लेकिन जब उनके विग्रह को दर्शाने लगती हैं, तब उनमे एक तात्कालिकता रह जाती और इसलिए एक भ्रान्ति पड जाती है।

अभी तक तो एशिया और खासकर अफ्रीका के देश विदेशी प्रभाव के इतने अधीन थे कि तन्त्र मे भी परतन्त्र थे। अब राजनीतिक रूप से ही सही, स्वतत्र होते आ रहे हैं। लेकिन स्वतन्त्रता लगभग सभी जगह जन-मानस में उस रूप मे उतर रही है, जो पाश्चात्य विचार मे से आया है। वह स्पर्द्धात्मक और सुरक्षात्मक रूप है। वह अविरोधी नही विरोधी है, पूरक नही भाजक है। स्वतत्रता की इस धारणा के अधीन निर्माण पाकर मैं नही समझता कि एशिया और अफ्रीका के देश मानवता की कुछ अधिक सेवा कर सकेंगे।

स्वतन्त्रता का अहिंसक रूप

भावी नवीन युग का निर्माण तब से मानना चाहिए जब स्वतन्त्रता की यह धारणा बेहद अधूरी और ओछी साबित हो आयी होगी और स्वतन्त्रता की नयी कल्पना का उदय जन-मानस में हुआ होगा। इस कल्पना के अधीन अलग बाँट रखनेवाली फौज की पंक्ति किसी भी नैष्ठिक देश को व्यर्थ के खिलवाड़-सी जान पड़ेगी और पड़ौसी की ओर वह अविभक्त मानव के भ्रातृभाव से बढ़ेगा। आज तो वह बात कुछ व्यर्थ और व्यवहार से बाहर गयी हुई-सी लग सकती है क्योंकि स्वतन्त्रता का अर्थ ही राष्ट्रगत है सार्वजनीन नहीं। यों तो आज भी अनुभव में आ गया है कि स्वाधीन जैसी अलग कहीं कोई स्थिति ही नहीं है सब परस्पराधीन हैं। फिर भी हमारी व्यावहारिक समझी जानेवाली राजनीति अभी उस अतथ्य धारणा पर, जिसे राष्ट्र राज्य की सावरेंटी कहते हैं, चल रही है। इस अतथ्य पर जगत् का समूचा अर्थ व्यापार चल रहा है। आयात-निर्यात सन्धि-सहायता सहयोग-विनियोग सब उसी बुनियाद पर चलाये जा रहे हैं। ऋणदाता और ऋणकर्ता सम्पन्न और विपन्न उन्नत और विनत देशों की सृष्टि होती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध वे बनते हैं जो हार्दिक नहीं हैं केवल महाजनी हैं। वे मानवीय सम्बन्धों को विषम और विषमय बनाते हैं। इस कारण जहाँ हार्दिकता हो सकती थी वहाँ कूटनीति का प्रवेश होता है और सिंचन की जगह शोषण होने लगता है। वे पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र शोषण की प्रणालियों के तौर पर जो काम आते हैं, सो उसी राष्ट्र, स्वतन्त्रता अधिकार आदि सत्ता धारणाओं के कारण जिन पर सभ्य विचार की इमारत खड़ी है। अधिक समय नहीं कि पता चल जायगा यह विचार ही सभ्य नहीं असभ्य है। कम-से-कम आगामी मानव-सभ्यता की दृष्टि से तो अवश्य ही यह पिछड़ा रह गया है।

भावी संस्कृति पूर्व से उदय होगी

कम-से-कम भारत के पास उस राष्ट्रीयता का आधार था जो उन अर्थों में 'सभ्य' न था, बल्कि मानवीय था। भारत की भी आज की राजनीति में वह विचारमान मृतप्राय मालूम होता है। गांधीजी के स्मरण और अनुसरण में वह बीज फिर जागे और भारत के राजकारण को हाथ में ले सकें तो एशिया के इस देश से अवश्य कुछ आशा हो सकती है। लेकिन भारत पर ही सब मौकूफ नहीं है। न भावी पर नेहरू आदि का स्वत्वाधिकार ही है। मेरा मानना है कि पिछड़े माने गये देशों में वह मानवता वर्तमान भी और है कि उस आधार पर उनका राष्ट्रीय राजकारण और अर्थ-कारण निर्माण पाकर खड़ा हो सके तो भविष्य का पथ प्रदर्शन हो

सकता है। लेकिन एशिया और अफ्रीका के नव देशों में इतिहास और स्थिति का मुझे पता नहीं। फिर भी श्रद्धा मेरी है कि जहाँ का मानस अभी नहीं बना, वहाँ का ही बोलबाला है, ऐसा पूर्व की ओर से सामाजिक आदि समस्याओं का हल हो सकेगा।

९९ पूर्व की परम्परागत चेतना को छुपाकर चीन में जो नव निर्माण हो रहा है, उसको विश्व-संस्कृति के लिए आप कितनी दूर तक शुभ मानते हैं?

राज्य प्रधानता अनिश्चयनीय

—मैं ऊपर कह चुका हूँ कि अधिष्ठान में सत्ता और राज्य के संगठन को प्रधानता दे बिना नहीं रह पाता। यद्यपि अच्छी बातें साम्यवादी राज्य में सम्भव होती हैं। वहाँ जन के लिए अधिक स्थान है और तन्त्र का ढाँचा ऐसा बना होने से जीवन-निर्वाह की स्थिति अधिक सुगम और सुविधा की बनती है। लेकिन राज्य-प्रधानता से स्वतन्त्र समाज या नागरमुक्ति की अवस्था कैसे प्राप्त होगी, यह मेरी समझ में नहीं बैठता है। इस सम्बन्ध में शायद दो मत नहीं है कि राज्य-मुक्त समाज अधिक उपयुक्त होता है और सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रगति की वही दिशा होनी चाहिए। मेरी आशा है कि साम्यवाद से पृथक् कोई दूसरी प्रक्रिया हो सकती है, जो इष्ट दिशा में ले जा सके और जहाँ साम्य के समान साथ भी मुक्त प्रीति के हों, शस्त्र-सेना के न हों। इस प्रकार का प्रयोग राष्ट्रीय पैमाने पर अभी कहीं हुआ नहीं है। लेकिन तत्सम्बन्धी प्रकाश अवश्य गांधी से प्राप्त हो गया है। लेकिन उसकी चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती है। चीन में जिस महाशक्ति के जोर से देश का काया-पलट किया जा रहा है, उसमें केन्द्रित राज्य और सैन्यशक्ति का योग है। इसीसे पूरा आश्वासन मुझे वहाँ से नहीं प्राप्त होता है।

साम्यवाद हार्दिक नहीं

चीन उसी साम्यवाद में से प्रेरणा लेकर काम कर रहा है, जिसमें से रूस ने अपनी क्रांति का और फिर राज्य-व्यवस्था का निर्माण किया। ऊपर से समझा जा सकता है कि प्रेरणा का स्रोत अभिन्न होने से दोनों देशों में भी अभिन्नता ही होगी। कुछ दूर तक वैसी अभिन्नता देखी भी गयी, लेकिन अब शनैः शनैः भिन्नता नजर आने लगी है। चीन और रूस में बहुत बड़ा अन्तर यह है कि चीन की समस्या आबादी की अधिकता है, रूस की समस्या उसकी कमी है। प्राकृतिक और मानवीय नियमों से दोनों देश एक दूसरे के परिपूरक हो सकते थे और सूना पड़ा साइबेरिया का इतना बड़ा भूभाग चीन के योग से हरा-भरा और बसा-पुसा हो सकता था। पर

साम्यवाद की एकता से यह बात संभव बनेगी ऐसा नहीं दीख पड़ता। रूस-चीन मैत्री राजनीतिक से आगे हार्दिक और आत्मिक दिशा में बढ़ने में असमर्थ जान पड़ती है। जो मैत्री को इस तरह अधबीच तक पहुँचाकर उसे वहीं रोक देता है, वह वाद मानवता के स्वर्णिम भविष्य को कैसे ला पायेगा यह सोचने की बात हो जाती है।

कौमी जीवन की अटल माँग

आज तो सीमान्त को लेकर हिन्द-चीन समस्या आ बनी है। मेरा मानना है कि साम्यवाद के ही कारण यह समस्या नहीं बन गयी। शासक दूसरा भी कोई होता तो भी बढ़ती हुई साठ करोड़ तक आ गयी और आगे भी बढ़ती जानेवाली जनसंख्या को लेकर क्या करता? उत्तर में साइबेरिया की तरफ तो भूराजनीतिक दीवार खड़ी है, दक्षिण-पूर्वी दिशा में अगर कोई गुंजाइश हो तो साम्यवादी चीन उधर बढ़ ही रहा है। फिर भारत आज हिमालय पड़ जाता है। जनसंख्या का दबाव आखिर उधर न जाय तो किधर जाय? जीवन की इन अनिवार्य और अटल माँगों के बीच चीन को चलना पड़ रहा है।

साम्यवादी विश्वास पर बोझ

चीन के साम्यवादी होने से यदि यह सुविधा नहीं होती है कि रूस अपने निर्जन प्रदेश में उसकी अतिरिक्त जनसंख्या का स्वागत करे, तो इससे अवश्य ही साम्यवादी विश्वास पर बोझ पड़ना शुरू हो जायगा।

क्रान्ति अन्ततः जिम्मेदारी

मैं यह मानता हूँ कि विश्वास कुछ भी रखा जा सकता है और उसके बल में चुनौती देते हुए कुछ दूर तक आगे भी बढ़ा जा सकता है। क्रान्ति की नकारात्मक आवश्यकता को इस बोध में पूरा तक कर डाला जा सकता है। मुसोलिनी-हिटलर और लेनिन-स्टालिन अलग-अलग राजनीतिक मतवादों को लेकर शासन को उलट सकते और उसकी जगह अपना शासन जमा-बिठा सकते हैं। यहाँ तक तो बोध फिर चाहे किसी नाम या वाद पर हो, मजे में काम दे जाता है। फिर कुछ दूर तक बाहरी आक्रमण की आशंका विरोधियों के भय और द्वेष आदि की चाबुक-मार आदि कर्म-प्रेरणा की बेतायें रख सकती है। लेकिन आखिर तो जीवन की ही समस्याएँ निपटाने को सामने होती हैं और हर क्रान्ति अन्त में जिम्मेदारी बन जाती है। शासन को गिराकर खुद शासन बन बैठने में आज रस आता है, तो कल उसकी पीड़ा भी भोगनी पड़ती है।

सकता है। लेकिन एशिया और अफ्रीका के सब देशों के इतिहास और स्थिति का मुझे पता नहीं। फिर भी श्रद्धा मेरी है कि [illegible] का ही बोलबाला है, ऐसे पूर्व की ओर से [illegible] का उदय हो सकेगा।

९९ पूर्व की परम्परागत चेतना को ठुकराकर चीन में जो नव निर्माण हो रहा है, उसको विश्व-संस्कृति के लिए आप कितनी दूर तक शुभ मानते हैं?

राज्य प्रधानता अविश्वसनीय

—मैं ऊपर कह चुका हूँ कि अधिष्ठान [illegible] रखे बिना नहीं रह पाता। [illegible] हैं। [illegible] और [illegible] जीवन निर्वाह की स्थिति [illegible] है। लेकिन राज्य-प्रधानता से [illegible] समाज का [illegible] होगी, यह मेरी समझ में नहीं बैठता है। इस सम्बन्ध में शायद यों कह सकूँ कि राज्य-मुक्त समाज अधिक उपयुक्त होता है और सामाजिक व्यवस्था राजनीतिक प्रगति की सही दिशा होनी चाहिए। मेरी आशा है कि साम्यवाद से पूर्णतर कोई दूसरी प्रक्रिया हो सकती है, जो दृष्ट दिशा में ले जा सके और जहाँ साम्य में समान शासन भी मुक्त प्रीति से हो, शस्त्र-सत्ता से न हो। इस प्रकार का प्रयोग राष्ट्रीय पैमाने पर अभी कहीं हुआ नहीं है। लेकिन तत्सम्बन्धी प्रकाश अवश्य गांधी से प्राप्त हो गया है। लेकिन उसकी चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती है। चीन में जिस महाशक्ति के जोर से देश का काया-पल्ट किया जा रहा है, उसमें केन्द्रित राज्य और सैन्यशक्ति का योग है। इसीसे पूरा आश्वासन मुझे वहाँसे नहीं प्राप्त होता है।

साम्यवाद हार्दिक नहीं

चीन उसी साम्यवाद में से प्रेरणा लेकर काम कर रहा है, जिसमें से रूस ने अपनी क्रांति का और फिर राज्य-व्यवस्था का निर्माण किया। ऊपर से समझा जा सकता है कि प्रेरणा का स्रोत अभिन्न होने से दोनों देशों में भी अभिन्नता ही होगी। कुछ दूर तक वैसी अभिन्नता देखी भी गयी, लेकिन अब शनैः शनैः भिन्नता नजर आने लगी है। चीन और रूस में बहुत बड़ा अन्तर यह है कि चीन की समस्या आबादी की अधिकता है, रूस की समस्या उसकी कमी है। प्राकृतिक और मानवीय नियमों से दोनों देश एक दूसरे के परिपूरक हो सकते थे और सूना पड़ा साइबेरिया का इतना बड़ा भूभाग चीन के योग से हरा-भरा और बसा-पुसा हो सकता था। पर

साम्यवाद की एकता है यह बात सम्भव बनेगी ऐसा नहीं दीख पड़ता। रूस-चीन मैत्री राजनीतिक है जाने हार्दिक और आत्मिक दिशा में बढ़ने में असमर्थ जान पड़ती है। जो मैत्री को इस तरह अनबीच तक पहुँचाकर उसे वहीं रोक देता है, वह वाद मानवता के स्वर्णिम भविष्य को कैसे ला पायेगा यह सोचने की बात हो जाती है।

चीनी जीवन की अदम्य माँग

आज तो सीमान्त को लेकर हिन्द चीन समस्या आ बनी है। मेरा मानना है कि साम्यवाद के ही कारण यह समस्या नहीं बन गयी। शासक दूसरा भी कोई होता तो भी बढ़ती हुई साठ करोड़ तक आ गयी और आगे भी बढ़ती जानेवाली जनसंख्या को लेकर क्या करता? उत्तर में साइबेरिया की तरफ तो कूटनीतिक दीवार खड़ी है, दक्षिण-पूर्वी दिशा में अगर कोई गुंजाइश हो तो साम्यवादी चीन उधर बढ़ ही रहा है। फिर भारत-भाल हिमालय रह जाता है। जनसंख्या का दबाव आखिर उधर न जाय तो किधर जाय? जीवन की इस अनिवार्य और अदम्य माँगों के बीच चीन को चलना पड़ रहा है।

साम्यवादी विश्वास पर चोट

चीन में साम्यवादी होने से यदि यह सुविधा नहीं होती है कि रूस अपने निर्जन प्रदेश में उसकी अतिरिक्त जनसंख्या का स्वागत करे, तो इससे अवश्य ही साम्यवादी विश्वास पर चोट पड़ना शुरू हो जायगा।

शान्ति अन्ततः जिम्मेवारी

मैं यह मानता हूँ कि विश्वास कुछ भी रखा जा सकता है और उसके वेष में चुनौती छिपे हुए कुछ दूर तक जाये भी बढ़ा जा सकता है। शान्ति की नकारात्मक आवश्यकता को इस बीच में पूरा तक कर डाला जा सकता है। मुसोलिनी-हिटलर और लेनिन-स्टालिन अलग-अलग राजनीतिक मतवादों को लेकर शासन को उलट सकते और उसकी जगह अपना शासन जमा-बिठा सकते हैं। यहाँ तक तो जोश फिर चाहे किसी नाम या वाद पर हो, मजे में काम दे जाता है। फिर कुछ दूर तक बाहरी आक्रमण की आशंका विरोधियों के भय और द्वेष आदि की मारकाट आदि धर्म-प्रेरणा को जगाये रख सकती है। लेकिन आखिर रोजीजीवन की ही समस्याएँ निपटाने को सामने होती हैं और हर व्यक्ति अन्त में जिम्मेदारी बन जाती है। शासन को गिराकर खुद शासन बन बैठने में आज रस आता है, तो तब उसकी पीड़ा भी ओढ़नी पड़ती है।

४

प्रेम-परिवार

१०० परिवार की संस्था का समाज-व्यवस्था तथा मानव-सभ्यता के विकास में क्या मूल्य है? योरप ने इस मूल्य को कितनी दूर तक मान्यता दी है?

परिवार की उत्पत्ति

—परिवार इतिहास मे ठीक किस जगह हमे प्राप्त हो गया, मेरे लिए कहना कठिन है। लेकिन काफी प्रागैतिहासिक समय से मनुष्य ने परिवार के रूप का आविष्कार कर लिया और उसे अपना लिया होगा। पहले यूथ के रूप मे रहा जाता था। एक नेता होता था और उसके नीचे समूचा समूह इकट्ठा रहता था। उसमे सबके सम्बन्ध शीर्ष की वनते और चलते थे, वे उतने अपक्षा परस्पर के प्रति नहीं होते थे। यह अवस्था खानावदोशी की रही होगी और खेती जमते ही विवाह-परिवार आ गया होगा।

परिवार वह प्रयोग है जिससे मानव-जाति टिकी है और सभ्यता को विकास का आधार मिला है। इसने हमे यूथ की जगह व्यक्ति को दिया और परस्परता की धारणा उत्पन्न हुई। मैं मानता हूँ कि जिसे हम समाज कहते हैं, उसका भी आरम्भ यहींसे हुआ। झुण्ड से निकलकर जब हम व्यक्ति की पहचान तक आये, तभी समाज की धारणा की सृष्टि हुई। तभी धर्म-नीति, कर्तव्य-कर्म आदि की सृष्टि हुई।

स्पर्धामूलक विज्ञान का उदय

पश्चिम के देशों में सर्दी अधिक है और खेती की अनुकूलता भारत जैसे देशो की अपेक्षा कुछ कम है। स्वास्थ्य और वलिष्ठता आदि की सुविधा कम नही, वल्कि वहाँ कुछ अधिक ही मानी जा सकती है। ऐसा तो कैसे हो सकता था कि व्यक्ति-भाव का और फिर परस्परता की धारणा का उदय वहाँ न होता। लेकिन सभ्यता का योग कृषि और कृषिमूलक रहन-सहन के साथ अधिक घनिष्ठ होता है। पश्चिम में व्यक्ति-मानस पर अपेक्षाकृत अधिक दवाव पड़ा और होते-होते विज्ञान का उदय

१०१. यहाँ की अर्थ-व्यवस्था ने, यहाँ के परिवारों के संगठन को कितनी दूर तक प्रभावित किया है?

मुद्रा के महत्त्व से जीवन में फटाव

—परिवार के भीतर जितना अर्थ-विचार नहीं आता, उतना ही स्नेह रहता है। आज भी ऐसे घर हिन्दुस्तान में हैं जिनकी सदस्य-संख्या सौ पार होगी। लेकिन धन उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बीच फिर भी कहीं देखने में आता ही नहीं है। सब व्यवस्था केन्द्र से होती है और धन वहीं जमा होता है। यह तो सम्भव है कि इस परिवार में कमानेवाले केवल दो हों, लेकिन सत्ता के मामले में वे दो शेष से अलग या विशेष नहीं होते हैं, एकदम परिवार में गर्भित रहते हैं। यह हालत यहाँ भी धीरे-धीरे कम होती जा रही है और संयुक्त परिवार टूट रहा है। कारण है, मुद्रा का जीवन के विभागों में अधिकाधिक प्रवेश और प्रसार। जीवन इस तरह खण्डित और चंचल होता और व्यक्ति-मानस नीतिनिष्ठ से अधिक स्वनिष्ठ होने की ओर बढ़ता है।

वैवाहिक सम्बन्ध प्रवाही

पश्चिम का अर्थ-जीवन उद्यम और उद्योग की बहुतायत से अधिक चलनशील है। सिक्के की चाल वहाँ अधिक द्रुत है और गति के वेग का भी छन्द तमाम है। वैवाहिक और पारिवारिक सम्बन्ध उसी हिसाब से वहाँ अधिक प्रवाही हैं और उतने एक-दूसरे को रोकते-बाँधते नहीं हैं। हिसाब की वहाँ अधिक प्रतिष्ठा है और पति-पत्नी के बैंक में अलग-अलग खाते होते हैं। आय अलग और कुछ खर्च भी अलग होते रह सकते हैं। वहाँ की संस्थाएँ—उदाहरण के लिए क्लब, होटल, रेस्तराँ आदि इसी प्रवहनशीलता के प्रमाण हैं।

मुसाफिर और गृहस्थी

मैं अभी जो योरप गया, तो कुल पन्द्रह सेर सामान मेरे पास था। हिन्दुस्तान में कुछ दूर सफर के लिए भी अधिक सामान साथ लेना होता है। कारण, योरप में यह चलनशीलता इतनी स्वीकृत है कि व्यवस्था तदनुरूप रखनी पड़ी है। जहाँ जाइये, बिस्तर पाइयेगा, तौलिया-साबुन भी मिलेगा, इत्यादि। यहाँ सब सामान साथ रखिये तो ही गुजारा है। वहाँ आदमी मुसाफिर है, यहाँ गृहस्थी है। वहाँ मालूम होता है कि जहाँ जाइये, वहीं घर आपको मिलेगा। ट्रैवल एजेंट आपको निमन्त्रित करते हैं, आश्वस्त करते हैं, दायित्व लेते हैं कि सब जगह आपको सब

सुभीता देंगे। जेब में चेक-बुक रखिये और बेधड़क निकल पड़िये। अपनी पहचान के कुछ कागज-पत्र जरूर पास रखियेगा बाकी आवश्यकताओं के बारे में आप साथ चेक-बुक रखकर निश्चिन्त हो सकते हैं। पैसे के त्वरित चलन ने आदमी को एक-दूसरे के साथ बँधे रहने से बहुत आजाद कर दिया है। जितनी तेजी से चलता है पारिवारिक सम्बन्ध को उसी हिसाब से जुड़ बने रहने की आवश्यकता से छुटकारा होता जाता है। धर्म और नीति तात्कालिक और व्यावसायिक स्तर पर आ जाते हैं और अर्थ प्रयोजन से उनका नियमन होने लगता है।

नैतिकता का भिन्न मान

औद्योगिक क्रान्ति और औद्योगिक चमत्कार का सम्बन्ध पारिवारिक नैतिकता से जुड़ सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि उस प्रकार के जीवन के लिए नैतिकता का मान कुछ बदला हुआ होना चाहिए। पारिवारिक से अधिक उसे वैयक्तिक होना चाहिए। यह अन्तर आर्थिक उन्नति और विकास के साथ प्राप्त हुआ माना जा सकता है।

१ २ यह भी तो सत्य है कि परिवार की संस्था ने भारत के व्यक्ति-मानस में जो कुछ संकीर्णता और जड़ता पैदा की है, पश्चिम का व्यक्ति उससे उत्तीर्ण है, इसलिए पश्चिम के परिवार का ढाँचा अर्थपरक भले ही हो, पूर्व की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक, प्राकृतिक एवं सहज है। आप इस विषय में क्या कहते हैं?

भारतीय परिवार बिखर रहा है

—व्यावहारिक है, पर प्राकृतिक और सहज है यह माना जा सकता तो ठंडे और गर्म मुल्क की परिस्थितियाँ वहाँ नहीं होनी चाहिए थी।

निश्चय ही कुल मिलाकर भारत का समाज-तन्त्र मुकाबले में अधिक समर्थ और बलिष्ठ साबित नहीं हुआ है। यहाँ के शहरों को देखिए, किस तेजी से परिवर्तन हो रहा है। देखते-देखते आलीशान होटल यहाँ जगमगाती बनी जा रही हैं। रेस्तराँ आदि की बात न कीजिये। चार बड़े-बड़े होस्टल हैं और इतने ही और की बात चलती है, कि वहाँ काम करनेवाली वयस्क लड़कियाँ रहती हैं और रहें। इस अन्तर को देखा-अनदेखा नहीं किया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि भारतीय विधि की श्रेष्ठता के विचार पर अड़े और खड़े रह जाना भी सम्भव नहीं है। मानना होगा कि जीवन छूट गया था, बँध गया था, रुक गया था कि मार्ग खुलते ही वह वेग से स्वतन्त्रता की ओर दौड़ पड़ा।

१०१ यहाँ की अर्थ-व्यवस्था ने, यहाँ के परिवारों के संगठन को कितनी दूर तक प्रभावित किया है?

मुद्रा के महत्त्व से जीवन में फटाव

—परिवार के भीतर जितना अर्थ-विचार नहीं आता, उतना ही स्नेह रहता है। आज भी ऐसे घर हिन्दुस्तान में हैं जिनकी गृहस्थ-संख्या सौ तक होगी। लेकिन धन उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बीच फिर भी वहाँ देखने में आता ही नहीं है। सब व्यवस्था केन्द्र से होती है और धन वहीं एकत्र होता है। यह हो सकता है कि इस परिवार में कमानेवाले केवल दो हों, लेकिन गणना के मामले में वे दो शेष से अलग या विशेष नहीं होते हैं, एकदम परिवार में घुले-मिले रहते हैं। यह स्थिति यहाँ भी धीरे-धीरे कम होती जा रही है और संयुक्त परिवार टूट रहा है। कारण है, मुद्रा का जीवन के विभागों में अधिकाधिक प्रवेश और प्रसार। जीवन इस तरह चलित और चंचल होता और व्यक्ति-भाव गोष्ठीनिष्ठ से अधिक स्वनिष्ठ होने की ओर बढ़ता है।

वैवाहिक सम्बन्ध प्रवाही

पश्चिम का अर्थ-जीवन उद्यम और उद्योग की बहुतायत से अधिक चलनशील है। सिक्के की चाल वहां अधिक द्रुत है और गति के वेग का भी छन्द तत्सम है। वैवाहिक और पारिवारिक सम्बन्ध उसी हिसाब से वहाँ अधिक प्रवाही हैं और उतने एक-दूसरे को रोकते-बांधते नहीं हैं। हिसाब की वहाँ अधिक प्रतिष्ठा है और पति-पत्नी के बैंक मे अलग-अलग खाते होते हैं। आय अलग और कुछ खर्च भी अलग होते रह सकते हैं। वहाँ की संस्थाएँ—उदाहरण के लिए क्लब, होटल, रेस्तराँ आदि इसी प्रवहनशीलता के प्रमाण हैं।

मुसाफिर और गृहस्थी

मैं अभी जो योरप गया, तो कुल पन्द्रह सेर सामान मेरे पास था। हिन्दुस्तान में कुछ दूर सफर के लिए भी अधिक सामान साथ लेना होता है। कारण, योरप में यह चलनशीलता इतनी स्वीकृत है कि व्यवस्था तदनुरूप रखनी पड़ी है। जहाँ जाइये, बिस्तर पाइयेगा, तौलिया-साबुन भी मिलेगा, इत्यादि। यहाँ सब सामान साथ रखिये तो ही गुजारा है। वहाँ आदमी मुसाफिर है, यहाँ गृहस्थी है। वहाँ मालूम होता है कि जहाँ जाइये, वही घर आपको मिलेगा। ट्रैवल एजेंट आपको निमन्त्रित करते हैं, आश्वस्त करते हैं, दायित्व लेते हैं कि सब जगह आपको सब

उन्नति जिसको कहा जाता है, उसे असत्य, मिथ्या और माया कहकर उधर से आँख मोडने की सलाह मैं नही दे सकता। अवश्य कुछ सत्यांश ही होना चाहिए जिसके बल पर यह उन्नति जीत और जाग रही है। अपनी किसी मानी हुई श्रेष्ठता पर मूढ भाव से अडे रहने का कोई समर्थन नही हो सकता है। अडने का वह हठ वेग मे टिकनेवाला भी नही है।

पश्चिमी व्यवस्था सहज प्राकृतिक नहीं

लेकिन उन्नति को स्वय यदि एक दिन अवनति और अधोगति नही बन रहना है, तो उसको भी सावधान होना होगा। अभी तो वह उन्नति उस ओर से असावधान है। लेकिन यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि व्यावहारिक व्युत्पन्नता, जो राजनीतिक-कूटनीतिक दक्षता तक उठती चली गयी है, अब स्वय अपने से परास्त है। वह जिच मे पड गयी है। इसलिए स्वय उस व्यावहारिकता के पुर्निरीक्षण और पुनर्मूल्यन की आवश्यकता है। वह उन्नति निश्चय ही सहज नही है, प्राकृतिक नही है और एक कृत्रिम और अप्राकृतिक तनाव की द्योतक है। हमारा अर्थ-मूलक विकास अनर्थ के तट तक आ पहुँचा है, इससे इनकार नही किया जा सकता। इसीने नये अर्थ-विचार की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। सावधानी के अभाव मे अर्थ स्वार्थ से जुडे विना नहीं रहेगा। स्वार्थ के वृहद् और राष्ट्रव्यापी होनेमात्र से स्वार्थता से मुक्ति नही मिलती है। किसी अन्तर्राष्ट्रीय सधि से दुनिया मे एक अधिसत्ता-प्राप्त सार्वभौम राज्य भी हो जाय, तो भी स्वार्थता की भूमिका से एक राष्ट्र को छुटकारा नही मिलनेवाला है। सोचना होगा कि क्या यह सम्भव है कि अर्थ मे ही परमार्थ की प्रतिष्ठा हो। परमार्थ पारिवारिक स्वार्थ का नाम नही है। भारत की पारिवारिकता पारिवारिक स्वार्थों का विग्रहमूलक जमघट बन गयी होगी, परमार्थ के सन्दर्भ से वह च्युत हो गयी होगी, तभी उस पारिवारिकता को टूटना पडा। परिवार यदि एक स्थापित स्वार्थ का नाम बन जाता है, तो समाजवादी नारा, अर्थात् सामाजिक स्वार्थ, उसे ढा देगा। तात्कालिक उन्नति सामाजिक श्रेय, समाजवादी व्यवस्था सोशलिस्टिक पैटर्न आदि नाम लेकर आती है। परिवार समाज-भवन की ईंट न हो, वल्कि बाधा हो, तो वह कैसे टिकेगा? लेकिन रूस के प्रयोग ने यह भी दिखा दिया है कि इकाई के रूप मे सीधे व्यक्ति को लेकर कलेक्टिव के निर्माण से साम्य समाज बनेगा, यह भ्रान्त कल्पना है। परिवार की पवित्रता और अभगता का स्वीकार फिर नये सिरे से रूसी क्रान्ति को करना पडा। अब अगर कही परिवार पर बल है, उस पर अवलम्बन रखने की बात है, तो उस रूस देश में ही सबसे अधिक है।

अब परमार्थ से जुड़े

परमार्थ कोई हवाई आदर्श-लोक की चीज नहीं है। उसमें स्वार्थ का भय या नाश नहीं है। उसमें एक ही साथ व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता और परिवार की पारिवारिकता को अवकाश है। परमार्थ पड़ोसपन से शुरू हो जाता है। बस वह इस पड़ोसपन को लाँघने का अवकाश कभी नहीं देता है। अर्थ इस परमार्थ से जुड़े वह स्वार्थ और राज्यार्थ होकर ही न रह जाय तो वह प्रतिस्पर्धा का अस्त्र न रहकर सहयोग का साधन बन जायगा।

यह उन्नति चिन्तनीय

आज की उन्नति में बहुत निपुणता है बहुत विलक्षणता है। लेकिन इस मौलिक मूल्य की अवमानना है। यदि वह उन्नति समाज के ध्यान से प्रीति के मूल्य की अनिवार्यता से च्युत और विच्छिन्न बनी रहती है तो संकट लाये बिना नहीं रह सकती। और कहना होगा कि शहरों में उठनेवाले पाँच-सात मंजिलों के ये होटल आलीशान की शक्ल में कर्मचारिणी कुमारियों को बसानेवाले ये होस्टल और चमचमाते अनगिनत ये रेस्तराँ श्री-शोभा के नहीं बल्कि व्याधि-उपाधि के चिह्न हैं। हर्ष के बजाय उन पर चिन्ता की आवश्यकता ही हो सकती है। अगर ग्राम्य जीवन से उससे जिससे हमें हमारा जीवन प्राप्त होता है यह शहरी शृंगार विमुक्त और विरूप है तो सचमुच वह नहीं टिकनेवाला है। और उन्नति वह जो उन्हें ऊँचा उठाते जाने में बेसुध है जल्दी मिट्टी में गिरकर मुँह की खानेवाली है। कारण शहरी शिक्षा ग्रामीण जन के आधार से छूट जाता है। सत्त्व उसका नष्ट हो जाता है सिर्फ शोषण में उसकी क्षमता रह जाती है। ऐसे शिक्षके का खेल बाजीगर के खेल की तरह बहलानेवाला हो सकता है टिकनेवाला नहीं।

१ १ परिवार की संस्था में प्रेम की वृत्ति के विकास परिष्कार में कितनी दूर तक सहयोग दिया? क्या उसने परिवार के नाम पर सामाजिक गुत्थियाँ अधिक पैदा नहीं कीं?

संपत्तिमूलक विवाह

—परिवार सामाजिकता के सहज विकास में हमें प्राप्त हुआ। उसका प्रयोजन था कि व्यक्तियों की परस्पर पूर्ति में वह सहायक हो। लेकिन विवाह जिस मात्रा में स्वत्व और सम्पत्तिमूलक बनता गया उसी अंश में वह गाँठ भी बनता गया जो व्यापक समाज में खुलकर एकरस नहीं हो पाती थी।

विवाह और प्रेम में अनबन

प्रेम मूल जीवन-शक्ति को कह सकते हैं। पर उपयोगी बनाने के लिए आग को

अपने चूल्हे मे और दीये मे सीमित करके रखना पड़ता है। वैसे ही विवाह आदि सम्बन्धो मे प्रेम को नियोजित करके फलप्रद बनाया जाता है। नियोजन के प्रयोजन को लांघकर जब विवाह स्वयं प्रेम से अनबन बना बैठता है, तब जीवन-शक्ति का ह्रास होता है। कुठाएँ जन्म लेती हैं, रोग-शोक उपजते हैं और हत्या-युद्ध आदि की आवश्यकता बन आती है।

आज यह बड़ी समस्या है कि विवाह द्वारा बनी हुई परिवार नामक संस्था को कैसे साधा और सुधारा जाय कि जीवन की द्रुत गति के साथ उसका मेल बना रहे। मेरे मन मे सन्देह नही कि विवाह प्रेम से टकरायेगा, तो उसकी कुशल नहीं है, फिर उसका भविष्य नही है। प्रकट मे ही इस कारण सम्पत्ति-मूलक से उसका अधिष्ठान सहयोग-मूलक होता जा रहा है। जुए के दांव पर अब भी कहीं-कही पत्नी को चढा दिया जा सकता है और वह हार-जीत म जा सकती है। लेकिन यह बहुत असामान्य घटना है और समाज के चलन से बाहर हो गयी है। जीवन जैसे-जैसे द्रुतता पकडता जाता है, वैसे ही वैसे आवश्यक होता है कि साथवाला हर व्यक्ति बोझ न हो, साथी हो। यह सहानुभूति और सद्भाव से ही हो सकता है, आईनकानून से नही। नियम-कानून के बल मे चलनेवाला सगठन टिक तो सकता है, गति-वेग नही पकड सकता है।

परिवार का योगदान

परिवार का सभ्यता मे बहुत योगदान है। इस अर्थ मे कि उसने व्यक्ति को सहन-शीलता, सन्तोष, धैर्य और परस्परावलम्बन का पाठ दिया है। आदमी के पास जो तीखी निजता है, उसके जहर को बहुत कुछ चूसकर कम किया है। लेकिन उस निजता मे ही जो आगे और दूर तक जाने की सम्भावनाएँ है, उनको भी अन-जाने मन्द किया है। पूर्व और पश्चिम की उन्नति मे जो हम अन्तर देखते हैं, उसमे बहुत कुछ यह पारिवारिकता भी कारण है। दोनो जगह उन्नति के अन्तर को शायद कुटुम्ब-सस्था की स्थिरता के अन्तर से समतोल देखा जा सके। लेकिन वह दूसरा प्रश्न है।

१०४ आज की अर्थमूलक स्पर्धात्मक समाज-रचना मे परिवार का क्या स्वरूप हो कि उसका पूरा उपयोग मानव-मानस करता रह सके?

परिवार द्वार है

—अर्थमूलक और स्पर्धात्मक समाज का रूप धीरे-धीरे नीतिमूलक और सहयोगा-त्मक होता जायगा। इस विकास मे वह परिवार सहायक होगा, जो प्रेम को अपने

में बन्द करनेवाला न होकर खोलनेवाला हो। परिवार-संस्था का यही समर्थन हो सकता है। परिवार वह अधिष्ठान है जिसके द्वारा व्यक्ति आदान प्रदान में समर्थ होता और इस तरह समाज के प्रति जाग्रत और उपयोगी होता है। परिवार के कारण वह नागरिक बनता है। परिवार द्वार है जहाँ से वह बाहर समाज में प्रवेश पाय और जहाँ से फिर समाज का प्रवेश उसके अन्दर हो। एकाकी व्यक्ति सामाजिक और नागरिक बनने की आवश्यकता से मुक्त रहता है। वह चाहे तो सन्त-संन्यासी अनागरिक बन जाय नागरिकता के बंधन का अवकाश उसके पास नहीं है।

धर्म और काम में विरोध

परिवार का यह महत्त्व और प्रयोजन नष्ट हो जाता है, यदि उसका द्वार स्वागत-भाव से बाहर समाज के प्रति न खुला रहे। इसीलिए सद्गृहस्थ का आवश्यक लक्षण आतिथ्य है। 'अतिथिदेवो भव' यह सूत्र सामाजिक की प्रतिष्ठा में ही बन सकता है। आज अखबारों में छपनेवाली कहानियाँ मेहमान को ही सबसे बड़ा दुश्मन बता जाती हैं। हृदय से चलनेवाली गृहस्थी हो, तो अतिथि देवता होगा। वही गृहस्थी पैसे के हिसाब से चलेगी तो मेहमान मुसीबत होगा या नहीं तो शिकार होगा। सभ्यता की ओर बढ़नेवाले घरानों में मेहमान जाने-अनजाने शिकार होता है। कारण मेहमान में से निकलनेवाले लाभ पर ही वहाँ ध्यान रहता है। अतिथि देवता का स्थान रखे यह कल्पना जिस गृहस्थी में साकार होती है, वही है जो प्रकृति की गति के साथ न केवल निभती जा सकती है बल्कि उसकी दिशा को भी वही रख सकती है। अर्थमूलक और स्वार्थमूलक गृहस्थी पश्चिम में बिखर चुकी है। वह समय का साथ नहीं दे पायी और टूट गयी। विवाह से 'अतिथिदेवो भव' वाला गृहस्थाश्रम भी प्राप्त हो सकता है, यह कल्पना पश्चिम के पास भी नहीं। परिणाम यह है कि वहाँ के जीवन में बड़ी सफलता है, स्वयं उनके अपने मानों के मुताबिक बड़ा व्यभिचार है। कारण क्रिश्चियन विवाह की परम्परा और प्रतिष्ठा मौजूद है साथ ही काम में प्रेम के मुक्त भाव को भी स्वीकारता है। इस तरह धर्म और काम में विरोध दीखता है। इस विरोध के बीच खुली ईमानदारी न होकर एक तरह की लुका-छिपी है और स्वयं वहाँ के समाज के नीति-मानों के अनुसार इसे व्यभिचार कहना पड़ता है।

विवाह की वेदी पर प्रेम हो

गृहस्थी ऐसी हो सकती है जो व्यक्ति को परस्पर दूर बनाये रखे पकड़ न

वनने दे। परिवार की सार्थकता ही इसमे है। यह तभी हो सकता है, जव विवाह की वदी पर स्वय प्रेम हो। वेदी पर विवाह को विठाते और आशा करते हैं कि प्रेम पुजारी वनेगा, तव उलझन खडी होती और सकट पैदा होता है। प्रेम परमेश्वर से मिला है और वह मनुष्यता की मूल पूंजी है। विवाह अपनी व्यवस्था मे मनुष्य ने सिरजा है और वह मूलधन के सदुपयोग की विधि का रूप है। विवाह प्रेम को प्रतिष्ठित करने के वजाय जव खण्डित करता है, तो वह अपने पाँव पर स्वय कुल्हाडी मारता है।

परिवार विश्वासमूलक है

फ्रासो मौरियाक वडे माने हुए लेखक हैं। गहरे धार्मिक भाववाले हैं। पारिवारिक सम्बन्धो का वडा सूक्ष्म और ग्राह्य चित्रण उनके साहित्य मे है। लेकिन मैं दग रह गया—उनके लेखन मे यह देखकर कि मानो कुटुम्ब वह है, जहाँ सदस्य एक-दूसरे पर जीते हैं, मानो एक-दूसरे को खाते हुए जीते हैं। जैसे मूल मे वह सम्वन्ध हिंसा का हो, प्रेम का न हो। लेकिन उनके चित्रण मे असत्यता और अयथार्थता भी नही है। मेरी उनसे साक्षात् वाते भी हुईं। मेरे इस विस्मित प्रश्न को उन्होने अमान्य भी नही किया।

तो मेरा कहना है कि परिवार हो सकता है, जहाँ सम्वन्धो मे हिंसा की जगह अहिंसा हो। वह परिवार टिकेगा, कारण विवाह और प्रेम के वीच वहाँ टकराव न होगा, वल्कि सामजस्य होगा। विवाह और परिवार की यह धारणा सम्पत्तिमूलक से भिन्न विश्वासमूलक होगी और दोनो मुक्तिदायक होगी। ऐसा गृहस्थआश्रम होगा, जिसमे सामाजिक मोक्ष की ओर वढना अनिवार्य और सहज होता चला जायगा। भारतीय गृहस्थ का आधार वही था। आज तो उसका अपलाप हुआ है। विडम्बना और प्रवचना खडी हो गयी है। मूल मे अविकार की वासना न थी, कर्तव्य-धर्म की धारणा थी। इस नीव पर फिर हम खडे हो सकें, तो परिवार सच्चे समाजवाद से आगे समाज-धर्म का, मुक्त समाज का, आधार-स्तम्भ वन सकेगा।

था, केन्द्र न था। मनुष्य के गुण-अवगुण परस्पर खुले खेल सकते थे, एक व्याप्त हिसावी शक्ति जीवन को ग्रसे हुए नही थी। महाजन ही वैक था और उसके स्वय अच्छे-बुरे होने का प्रभाव आस-पास पडता था। निर्वैयक्तिकता घन मे नही पडी थी और सामन्त और विद्वान् आदि अर्थोपार्जन मे सतृष्ण नही होते थे। उनमे वणिज-व्यापार के प्रति वल्कि एक अगौरव का भाव रहता था। मामन्त वहादुरी को ऊँचा मानता था, विद्वान् विद्या को सर्वोपरि ममझता था। वैश्यत्व और विभुता ये दो अलग वस्तुएँ थीं, और पैसे से एक वडी शक्ति समाज को चला पाती थी। पैसा उसका माध्यम और वाहन होता था और जीवन की सेवा अधिक करता था, सचालन उतना नही करता था।

तब सिक्के ने जीवन को सम्पन्न किया

कहा जा सकता है कि सिक्के ने उम काल मे जीवन को व्यक्त और सम्पन्न करने का काम किया। कुठाएँ और तृष्णाएँ पैदा करके इतना विपन्न नही किया। उस समय वह मानो साक्षी था, हावी नही हो पाया था।

अब श्रम का सत्य पूंजी में निहित

औद्योगिक उन्नति ने पैसे के चलन को वहुत तीव्र कर दिया है। गणित मे इससे वेहद शक्ति आ गयी है। श्रम मे से सत्यता उठकर जैसे पूँजी मे विराजमान हो गयी है और अर्थनीति राजनीति वन आयी है। राज्य से अर्थ जुड गया है और इस कारण पुरुषार्थ, जो कि परमार्थ का ही दूसरा नाम था, राजकीय और राजनीतिक वन उठा है। इसमे मानवता और पारमार्थिकता की परम हानि हुई है और परमेश्वर का आसन राष्ट्र और राज्य ने लिया है। पर यह प्रसगान्तर हो जायगा और उस चर्चा को यहाँ छोडा जा सकता है।

करेन्सी सुविधा की चीज थी

१०६ सिक्के का स्थान कागजी करेन्सी जव ले वैठी, तो उसने मानवीय और सामाजिक जीवन मे क्या उलझनें पैदा कीं ?

—यो तो विकास के साथ परस्पर विश्वास और साख का मूल्य बढ़ते जाना चाहिए। सिक्का ठोस धातु से जव नोट-हुण्डी तक आया, तो हम मानो उस विकास की दिशा मे उठते गये। क्रेडिट और साख ही मानो आज घन हैं। इससे जीवन सुगम और वेगवान् हुआ है। मूल्य स्थूलता से सूक्ष्मता तक बढ़ा है। और ये सब विकास के प्रमाण होने चाहिए।

यह स्वार्थी वासनाओं के हाथों पड़ी

यद्यपि अपने-आप में कागजी सिक्के का चलन सुभीते की चीज है। लेकिन सामाजिक मूल्य जो हमारे नहीं उठे हैं मानसिकता नहीं उन्नत हुई है, सो यह कागजी मुद्रा बरतने की सुविधा उन वासनाओं के हाथ पड़ गयी है, जो परमार्थ का नहीं स्वार्थ का ध्यान रखती हैं। हिसाब शोषण का अस्त्र यदि बन जाता है तो दोष गणित विज्ञान का न होकर लोकमानस की असंस्कारिता का मानना चाहिए। विज्ञान ने अमित सम्भावनाएँ हमारे हाथों दे दी हैं। ध्वंसात्मक और रचनात्मक दोनों ही दिशाओं में उनका उपयोग हो सकता है। हमारे लोक-जीवन में से पारमार्थिक मूल्यों की जो हानि हो चली और मूल्य स्वयं जो आर्थिक और स्वार्थिक बन गये इसमें दोष गणित और विज्ञान का नहीं देखा जा सकता। कहना चाहिए कि बौद्धिक विकास मानव के हार्दिक विकास के साथ-साथ नहीं चला वरन् कुछ स्वतन्त्र और निरपेक्ष हो गया। बौद्धिक सम्पदा उन हाथों में आ पड़ी, जिनके हृदय अपेक्षया सुसंस्कृत नहीं थे। शायद ऐसा ही होता है। वामिल धीरे-धीरे पनपता है। आरम्भ में हर नवीनता वासना के हाथ आकर पलती और संहारक होकर प्रकट होती है। विधायकता बाद में उसमें पलती है। फल प्रकट होने के साथ कच्चा और खट्टा होता है। पककर मीठा होने में समय लगता है। अणु-शक्ति का आविष्कार रचनात्मक समय पाकर होगा। शुरू में तो संहार करता हुआ ही प्रकट हुआ है।

बड़ी-बड़ी संस्थाएँ जन्मीं

कागजी चलन से बड़ी-बड़ी संस्थाएँ सम्भव हुई हैं। सबसे प्रमुख तो उनमें स्वयं राज्य है। राज्य विशाल से विशालतर बन रहे हैं और अरब-खरब से आगे बीस-पद्म की गणनाओं में बजट बन रहे हैं। जल्दी शायद दस शंख और असंख्य तक गति पहुँच जायगी। इस महा-गणित के विकास के सहारे विश्व का अर्थ-व्यापार आज चल रहा है, जिसमें तत्काल इस छोर की बात उस छोर तक पहुँच जाती और आदमी भी इस कोने से कुछ घण्टों में उस कोने तक पहुँच जाता है। हवाई-यात्राएँ चल रही हैं। हर घड़ी असंख्य प्रकार के सन्देश-प्रति-सन्देश इस शून्य में से यहाँ-वहाँ चले जा रहे हैं। सुविधा और सीधे हो रहे हैं। आधे घण्टे में आपकी यात्रा के लिए दुनिया भर में सब आवश्यक रिजर्वेशन्स हो जाते हैं, सूचनाएँ पहुँच जाती हैं। यह सब महा-व्यापार उस सिक्के से नहीं चल सकता है जो धातु की पिंड में भारी भरकम बना रहता है बल्कि तभी सम्भव हो पाया है, जब यह सारा सिक्का सूक्ष्म हो गया है और हिसाब की विधा भी बड़ी जल्दी ही त्वरित और उन्नत हो आयी है। विस्तृत

रहना चाहिए। उसकी सीमा वहीं आ जाती है, जहाँ उससे संश्लिष्ट दर्शन घुसने-घिसरने लगता है। ज्ञान व्यथा से नाता तोड़ लेता है कि सूखा पाठ हो जाता है। ज्ञान के लिए वैसी अनुमति नहीं है। विज्ञान की बात दूसरी है।

मेरा ड्राइंग-रूम भव्य बने

अब तुम्हारी बात लें। ड्राइंग रूम जैसा तो यह कमरा नहीं है, जहाँ तुम बैठे हो। लेकिन कल्पना करो मैं हैसियत का आदमी हूँ और यह ड्राइंग रूम ही है। अब उत्पादन, वितरण और विनिमय की अत्याधुनिक सुविधा से यही तो होगा कि इस मेरे ड्राइंग-रूम में जर्मनी, अमरीका, रूस आदि से बढ़िया-से-बढ़िया और खूब-सूरत से खूबसूरत चीज आसानी से आ जायगी और सज जायगी। इस सबसे यह जरूरी कैसे बनता है कि मेरा पड़ोसी भूखा और बेकार न रहे। ड्राइंग-रूम भव्य से भव्यतर बनता जा सकता है और सभ्यता के विकास का शोभा-शृंगार हो सकता है। लेकिन ड्राइंग-रूम की शोभा दीन को और दरिद्र बनते जाने से कैसे रोक सकती है? अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि वह ड्राइंग रूम अपनी श्री-शोभा की सम्पन्नता लेकर दैन्य और दारिद्र्य का उपालम्भ और व्यंग्य बने, और इस राह स्वयं में विडम्बना और अभिशाप बन जाय।

एक विवशता

परिस्थिति ऐसी है कि मेरे पास दस-बीस लाख रुपया बड़ी आसानी से फालतू पडा हो सकता है तो कोई वजह नही कि मैं उस रुपये से अपने आस-पास बढिया-से-बढिया माल न जुटाऊँ, या प्रेयसी के लिए बेशकीमती भेंट न खरीदूं। यह विवशता कि मैं वैसा न करूँ, अपने आस-पास अभावग्रस्तो मे उस धन को पहुँचा दूं, आखिर कहाँ से आ सकती है? क्या वह राज्य से अथवा कानून से आ सकती है? कानून रुपये की चौकसी कर सकता है और उसे शायद छीन भी सकता है। लेकिन मुझमे पडोसी के साथ अपने को बाँटने की प्रेरणा कैसे डाल सकता है?

मन की वृत्ति

अर्थात् आर्थिक किसी कार्यक्रम और विकास का, उत्पादन-वितरण-विनिमय-उपकरण की किसी प्रकार की उन्नति का, सम्बन्ध सीधा उन मुसीबतो से नही है, जिनमे दीन-दरिद्र फँसे हुए हैं। मन की वृत्ति मेरी अपनी ही ओर है, तो वस्तु गत सुवि-धाओ के साथ मैं यही कर सकता हू कि उन्हे अपनी ओर खीचू और अपने पास जुटाऊँ। दूसरा इसमे मुझसे होशियार और प्रवीण निकलता है, तो झकमारा

देखता रहूँ कि हाय सब दुनिया उधर चली गयी है, मैं ठगा रह गया हूँ। हाय मैं भूखा हूँ और बेहाल हूँ।

स्पर्धात्मक सम्बन्ध

स्पर्धात्मक सम्बन्धों पर जब तक हम खड़े हैं, तब तक मेरी उन्नति वही रहेगी जिसमें दूसरे की अवनति है। मेरा उठना इसी शर्त पर होगा कि दूसरे को गिरना हो। सम्पन्न देश सम्पन्न नहीं हो सकते जब तक अपने बनने के लिए व विपन्न देश को न पायें। उत्पादन मान लीजिये कि खूब ही बढ़ता जाता है। एक मिनट में दुनिया में जितने बच्चे बढ़ते हैं उससे ज्यादा मोटरें बढ़ जाती हैं। तो हिसाब बतलायेगा कि जीवनमान भी मानव-जाति का बस खूब उठ जानेवाला है। कारण जनसंख्या से मोटर संख्या बढ़ गयी है! लेकिन आज भी दुनिया में जितनी मोटरें चल रही हैं उसके आँकड़े लें तो विस्मय होगा। लेकिन मोटर से चलनेवाली गुणा चपलता वेग कितनों के जीवन को प्राप्त हो रहा है? और भी मोटरें गुणा गुणित होती जायें तो उससे अपने-आप में भूख और अभाव मिट जायेंगे यह मानना बड़ी भारी भ्रान्ति है।

पदार्थ और मन

अन्त में प्रश्न पदार्थ और मन के सही सम्बन्ध पर आकर टिकनेवाला है। इस सम्बन्ध से ध्यान को हटाकर पदार्थ के परिमाण पर ही उसे केन्द्रित कर देने से मालूम होता है, प्रश्न कहीं का नहीं रह जाता है। सम्पन्नता बढ़ती अवश्य है लेकिन उसी मात्रा में दूरी और विषमता को बढ़ा जाती है।

मानव-नीति

यह दृष्टि भी गलत है कि पहले सबकी आवश्यकता लायक माल बना लो बस फिर सबमें बराबर बाँटने का काम ही रह जायगा। कोरी हिसाबी बात होती है। घर में हम क्या करते हैं? मेहमान आता है तो जितना है, साथ बाँट लेते हैं। घर के दरवाजे पर नोटिस नहीं लगाते कि अतिरिक्त की तैयारी की जा रही है आवश्यकता से अधिक हो जाय तब तक मेहमान अपना सन्तोष रखें। ऐसा करना गृहस्थ-नीति नहीं है, मानव-नीति नहीं है, कोई भी नीति नहीं है। बल्कि आदर्श गृहस्थ वह है, जो मेहमान को सुख देने में स्वयं कष्ट पाकर कृतार्थता का अनुभव करता है।

उत्पादन आदि की योजनाओं में इस मानव-नीति और प्रीति का प्रवेश न होगा,

कारपोरेशन, बैंक, कम्बाइन्स, फर्म इत्यादि संस्थाएं अथवा विराम पा नहीं सकती थीं।

पर यह उन्नति ऋणात्मक है

यह सब उन्नति मानव-जाति के जमा खाते दर्ज की जा सकती, तो किसी प्रसन्नता की बात थी। पर अवस्था यह नहीं है। अधिकांश उसका ऋण खाते लिखना पड़ता है। हर सभ्य देश की राजधानी का नगर आज मानो विश्व का प्रतिबिम्ब हो उठा है। सब वर्ण और देश के नमूने वहां आपको मिल जायेंगे। वे नगर सब सार्वभौम हैं, विश्व-नगर हैं। मानव जाति का यह संगम किसका आनन्दसागर हो सकता था। लेकिन जरा अन्दर जायें, तो मालूम होता है कि भीतर दांव-घात चल रहे हैं। कूटनीतिक चक्र हैं, षडयन्त्र हैं, गुप्तचर हैं और इन बड़े नगरों की अधिकांश रौनक इन कूटनीतियों से बनी हुई है। तब मन को धक्का लगता है। अगर यह सब विश्व-नागरिकता हार्दिक और मुक्त हो जाती! सरकारी के बजाय वह विकसित लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब होती, तो क्या ही बात थी!

अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास बढ़ेगा

मैं यह मानता हूँ कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के क्षेत्र में परस्पर विश्वास और बढ़ेगा। अन्तर्राष्ट्रीय संशय के बजाय सहानुभूति और स्नेह होगा, तो जगत् की अर्थ-रचना कुछ भिन्न होगी। मुद्रा विनियोग की प्रणालियाँ बहती हुई होंगी और आज जो परस्पर व्यवहार द्रुत होकर भी जगह-जगह रुद्ध और विभक्त दीख पड़ता है, वह रोध और विभाजन बीच में से अनावश्यक हो जायगा। विज्ञान और गणित अवश्य इतना समर्थ हो गया है कि वह विश्व की एकता और विश्व-मानवता को सभाल सके। वह उस सबकी परस्परता को सुनियोजित और व्यवस्थित रख सकता है। वे प्रणालियाँ बडी आसानी से उदय मे आ सकती और स्वरूप पा सकती हैं, जिनसे जागतिक व्यवहार सुगम और सरल हो आये। मुद्रा इतनी प्रवहमान बन सकती है कि सीधे हर व्यक्ति से उसका सम्बन्ध जुड जाय और किसीको राज्य-प्रार्थी होने की आवश्यकता न पडे, पुरुष परस्पर की प्रीति और पुरुषार्थ ज्ञापन के साथ ही मानो मुद्रा से सम्पन्न हो जाय। आज की राजकीय मुद्रा मे यह सामर्थ्य नही है। उसकी सामर्थ्य केन्द्र से चलती और वही विभुता-प्रभुता का भाव दिये रहती है, यहाँ तक कि परिधि पर रहनेवाला जनसामान्य अपने को सर्वथा असमर्थ और असहाय अनुभव कर आता है। मुद्रा के श्रम और पुरुषार्थ से हटकर राजकीय-अर्थ मे आ टिकने से उसकी सार्वभौम क्षमता मे यह त्रुटि रह गयी है। यह क्षमता उसमें

जा सकती है, अगर हमारा समाज विज्ञान और नीति-ज्ञान उस आविष्कार तक हमें ले जाये जहाँ सिक्का श्रम से और इस तरह जन से जुड़ जाता है।

सिक्का श्रम से जुड़े

हो सकता है कि सिक्के के जन से जुड़ने की प्रक्रिया इतनी मौलिक हो कि वर्तमान सभ्यता का आधार ही उससे खिसक जाये और इस सभ्यता के तौर को ही फिरना पड़ जाय। लेकिन आशा करनी चाहिए कि यह आमूल उन्मूलन जरूरी न होगा और सहज विकास के द्वारा हम अपनी अन्तर्राष्ट्रीयता को उसकी राज्य-रचना और अर्थ-रचना को मानवीय सन्दर्भ में परिणत कर सकेंगे। तब राष्ट्र परस्पर से सुरक्षा के बजाय परस्पर में पूरकता खोजेंगे और हमारी करेंसी तदनुरूप एकी रूप सुगम और सहायक होगी। आज की मुद्रा प्रणाली देशों की परस्पर सुरक्षा की सुविधा के लिए है। जब वह आवश्यकता निःशेष हो जायगी तो मुद्रा प्रणाली को ही नया संस्कार मिलेगा और वह अर्थ रचना धीरे धीरे प्रकट होगी जो परमार्थ से युक्त होगी और मानवता को अखण्ड मानेगी और बनायेगी।

बेकारी निर्धनता

१७. सम्पादन व्यापार और विनिमय के सर्वोत्कृष्ट साधनों के वर्तमान रहते भी बेकारी, निर्धनता और अभिशाप की समस्या क्यों संसार के सामने निरन्तर उपस्थित है? जितना भी विकास होता है, मानो समस्या बढ़ती ही जाती है। इसका आप क्या कारण मानते हैं?

सूखा काठ का ज्ञान

—एक बात कहूँ बुरा तो न मानोगे? प्रश्न तुम्हारे कुछ ऐसे हो रहे हैं कि मुझसे ज्ञान माँगते हो। वह मेरे पास है नहीं जो दूँ। ज्ञान भी सामान है जो बटोरा जाता है, जैसे कपड़ा ही जो ओढ़ा जाता है। वह परिग्रह है। कम-से-कम मुझे उसकी नहीं उससे छुट्टी की चाह रहती है। मुझे लगता है उस चीज को तुम कारण-कार्य की कड़ी में बैठा देखना चाहते हो। चाहते हो, मैं कार्य की प्रक्रिया को सुव्यवस्थित तुम्हारे सामने पेश कर दूँ। एक अर्थ में मैं उस काम से इनकार करना चाहता हूँ। कारण यह नहीं कि मैं मानता हूँ कि कोई दो घटना आपस में सघन सम्बन्ध में आबद्ध नहीं है, बल्कि इसलिए कि तिनकों को अलग करना रस्सी को तोड़ना हो जाता है। मेरेलिए प्राथमिक पक्ष है अर्थात् उस रस्सी को रहने देना आगे रहना जो वापस तिनकों के रूप में बिखरने को राजी नहीं है। विश्लेषण से तत्काल

रहना चाहिए। उसकी सीमा वही आ जाती है, जहाँ उसमे सश्लिष्ट दर्शन बुझने-बिखरने लगता है। ज्ञान व्यथा से नाता तोड लेता है कि सूखा काठ हो जाता है। ज्ञान के लिए वैसी अनुमति नही है। विज्ञान की बात दूसरी है।

मेरा ड्राइग-रूम भव्य बने

अब तुम्हारी बात लें। ड्राइग रूम जैसा तो यह कमरा नही है, जहाँ तुम बैठे हो। लेकिन कल्पना करो, मैं हैसियत का आदमी हूँ और यह ड्राइग-रूम ही है। अब उत्पादन, वितरण और विनिमय की अत्याधुनिक सुविधा से यही तो होगा कि इस मेरे ड्राइग-रूम मे जर्मनी, अमरीका, रूस आदि से बढिया-से-बढिया और खूबसूरत से खूबसूरत चीज आसानी से आ जायगी और सज जायगी। उस सबसे यह जरूरी कैसे बनता है कि मेरा पडोसी भूखा और बेकार न रहे। ड्राइग-रूम भव्य से भव्यतर बनता जा सकता है और सभ्यता के विकास का शोभा-सिगार हो सकता है। लेकिन ड्राइग-रूम की शोभा दीन को और दरिद्र बनते जाने से कैसे रोक सकती है? अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि वह ड्राइग-रूम अपनी श्री-शोभा की सम्पन्नता लेकर दैन्य और दारिद्र्य का उपालम्भ और व्यग्य बने, और इस राह स्वय मे विडम्बना और अभिशाप बन जाय।

एक विवशता

परिस्थिति ऐसी है कि मेरे पास दस-बीस लाख रुपया बडी आसानी से फालतू पडा हो सकता है तो कोई वजह नहीं कि मैं उस रुपये से अपने आस-पास बढिया-से-बढिया माल न जुटाऊँ, या प्रेयसी के लिए बेशकीमती भेंट न खरीदूँ। यह विवशता कि मैं वैसा न करूँ, अपने आस-पास अभावग्रस्तो मे उस धन को पहुँचा दूँ, आखिर कहाँ से आ सकती है? क्या वह राज्य से अथवा कानून से आ सकती है? कानून रुपये की चौकसी कर सकता है और उसे शायद छीन भी सकता है। लेकिन मुझमे पडोसी के साथ अपने को बाँटने की प्रेरणा कैसे डाल सकता है?

मन की वृत्ति

अर्थात् आर्थिक किसी कार्यक्रम और विकास का, उत्पादन-वितरण-विनिमय-उपकरण की किसी प्रकार की उन्नति का, सम्बन्ध सीधा उन मुसीबतो से नही है, जिनमे दीन-दरिद्र फँसे हुए हैं। मन की वृत्ति मेरी अपनी ही ओर है, तो वस्तु-गत सुविधाओ के साथ मैं यही कर सकता हू कि उन्हे अपनी ओर खीचूँ और अपने पास जुटाऊँ। दूसरा इसमे मुझसे होशियार और प्रवीण निकलता है, तो झकमारा

देखता रहूं कि हाय सब सुविधा उधर चली गयी है, मैं ठगा रह गया हूँ। हाय मैं भूखा हूँ और बेहाल हूँ!

स्पर्धात्मक सम्बन्ध

स्पर्धात्मक सम्बन्धो पर जब तक हम खड़े हैं तब तक मेरी उन्नति वही रहेगी जिसमे दूसरे की अवनति है। मेरा बढ़ना इसी शर्त पर होगा कि दूसरे को गिरना हो। सम्पन्न देश सम्पन्न नही हो सकते जब तक मण्डी बनने के लिए वे विपन्न देशो को न पायें। उत्पादन मान लीजिये कि खूब ही बढ़ता जाता है। एक मिनट मे दुनिया म जितने बच्चे बढ़ते हैं उससे ज्यादा मोटरें बढ़ जाती हैं। तो हिसाब बतलायेगा कि जीवनमान भी मानव-जाति का बस खूब चढ़ जानेवाला है। कारण जनसंख्या से मोटर संख्या बढ़ गयी है! लेकिन आज भी दुनिया मे जितनी मोटर बन रही हैं उसके आँकड़े से तो विस्मय होगा। लेकिन मोटर से आनेवाली सुविधा अपनाना देश कितनो के जीवन को प्राप्त हो रहा है? और भी मोटरें दुगुनी चौगुनी होती जावें तो उससे अपने-आप मे भूख और अभाव मिट जायेंगे यह मान्यता बड़ी भारी भ्रान्ति है।

पदार्थ और मन

अन्त मे प्रश्न पदार्थ और मन के सही सम्बन्ध पर आकर टिकनेवाला है। इस सम्बन्ध से ध्यान को हटाकर पदार्थ के परिमाण पर ही उसे केन्द्रित कर देने से मालूम होता है, प्रश्न सहीला नही रह जाता है। सम्पन्नता बढ़ती अवश्य है, लेकिन उसी मात्रा मे दूसरी ओर विपन्नता भी बढ़ा जाती है।

मानव-नीति

यह बुद्धि जो कहती है कि पहले सबकी जरूरत लायक माल बना लो, बस फिर उसमे बराबर बाँटने का काम ही रह जायगा कोरी हिसाबी साबित होती है। घर मे हम क्या करते हैं? मेहमान आता है, तो जितना है बाँट बाँट लेते हैं। घर के दरवाजे पर नोटिस नही लगाते कि अतिरिक्त की तैयारी की जा रही है आप व्यवस्था के कायम हो जाने तक मेहमान कृपया सन्तोष रखें। ऐसा करना गृहस्थ-नीति नही है मानव-नीति नही है कोई भी नीति नही है। बल्कि आदर्श गृहस्थ वह है जो मेहमान को सुख देने मे स्वयं कष्ट पाकर कृतार्थता का अनुभव करता है।

उत्पादन आदि की योजनाओ मे इस मानव-नीति और प्रीति का प्रवेश न होगा,

तो आँकड़ा बेहद आकर्षक और सही होने पर भी मानव-समस्याओं का निपटारा न होगा, न होगा।

कम में सुख पाने की वृत्ति

कम मे भी सुख पाया जा सकता है, इस अनुभव को व्यापक और सुलभ बनाना होगा। अर्थात् वह मनोवृत्ति पैदा करनी होगी, जहाँ व्यक्ति स्वेच्छा से सामान कम करने मे आनन्द पाये। आज तो वह वृत्ति दुर्लभ बन गयी है। मालूम होता है, सुख का सामान के साथ सीधा सम्बन्ध हो गया है। तब क्या कारण रहता है कि हर कोई धन को अपनी ओर न खींचना चाहे ? और अगर प्रकार यही हुआ, तो सबसे सुभीते की जगह बैठा हुआ शासक-वर्ग फिर क्यो न अपने स्थान का लाभ उठायेगा ? इस तरह सारे समाज मे एक तनाव पैदा होता है, आपाधापी बढती है। और माल कितना भी अधिक हो, मानो लूट-खसोट के लिए वह उतना ही कम होता है। मन और माल के सम्बन्ध को जब तक स्वच्छ और स्वस्थ नही बनाया जायगा, तब तक माल की बढवारी मन के मैल को बढानेवाली भी हो सकती है। यही उस अन्तर्विरोध के मूल मे है, जिस पर आपका प्रश्न आकर टकराता है।

साम्यवादी देशो में गरीबी, बेकारी

१०८ साम्यवाद ने जो स्पर्धात्मक मानसिकता को समाप्त कर परिग्रह का सम-वितरण किया, उससे क्या साम्यवादी देशों मे गरीबी और बेकारी का समूलोन्मूलन हो पाया ? क्या आप इस साम्यवादी अर्थ-प्रक्रिया से सन्तुष्ट हैं ?

असन-वसन की सुविधा

—समूलोन्मूलन उन देशो मे विषमता की जडो का हो सका है, ऐसा वहाँ के अधिकारियो का भी कथन मैंने नही देखा है। स्थिति पहले से सँभली अवश्य है। असन-वसन की प्राथमिक आवश्यकताओ के बारे मे सचमुच अधिक सुरक्षा प्राप्त हो गयी है और अभाव मिटा है। साम्यवाद की इस क्षमता मे से ही उसकी सफलता निकली है और वह आज का सबसे व्यापक वाद बन गया दीखता है।

श्रम को प्रचुरता मिले

वह इस प्रण से चला कि जिसके पास अधिक और अतिरिक्त है, वह अनुचित ही नहीं, बल्कि अनधिकृत है और कानूनन छिन जाना चाहिए। छिनकर वह उनमे बँट जायगा, जिनके पास श्रम है और अभाव है। श्रम के पास अभाव रहे और श्रमहीन के पास

प्रभुसत्ता हो जाय। यह अन्याय जिस हथकंडे और षड्यन्त्र के बल पर सदियों से होता चला आया वह ईश्वरवाद, धर्मवाद, नीतिवाद था जो सत्तालोभियों ने अपने स्वार्थ-साधन के निमित्त चलन में रखा हुआ था।

शोषक श्रेणियाँ गिरें

इन शोषक श्रेणियों को गिराकर बहुसंख्यक शोषित समाज अपने को मुक्त करे और अपने कामकाज स्वयं हाथ में लेकर सँभाल ले तो यही इतिहास का इष्ट है। आरम्भ में राज्य जैसे एक नियामक केन्द्र की आवश्यकता होगी फिर धीरे-धीरे मनुष्य का मानस इतना सामाजिक बन जायगा कि नियामक सत्ता बीच से स्वयं ही मुरझाकर समाप्त हो जायगी।

आत्म-रक्षा की समस्या

यह वाद सुसम्बद्ध था। तर्क की त्रुटि न थी। लेकिन साम्यवादी क्रान्ति के इस में पहले ही प्रश्न बन आया कि यह राष्ट्रीय रूप में रहे और रखी जाय या सार्वभौम हुए बिना क्रान्ति का राष्ट्रीय रूप भी टिक नहीं सकेगा। चारों ओर की पूँजीवादी व्यवस्था की परिस्थिति के दबाव के नीचे साम्यवादी अर्थ-रचना बड़ी व्यग्रता से अपने पैरों खड़े होने की चेष्टा में लगी है। इसमें उसे बड़ा जूझना पड़ रहा है और लगातार सुरक्षा के प्रश्न को सबसे प्राथमिक और जीवन-मरण का प्रश्न मान कर उसी पर सबसे अधिक ध्यान देना पड़ रहा है। इस अर्थ-व्यवस्था में नागरिक और नागरिक सुविधाएँ सैन्य और सैनिक आवश्यकताओं से प्रथम बनने का अवसर नहीं पा सकती। यह दबाव साम्यवादी देशों में स्पष्ट देखा जा सकता है। उसके नीचे वहाँ की जनता को सतत सजग और एक आवेश में सदा सतर्क बने रहना आवश्यक होता है। इन परिस्थितियों में प्राथमिक अभावों से जो सुरक्षा जन सामान्य को मिलती भी है, उसका मूल्य काफी कम हो जाता है।

छीननेवालों का अंकुश

लेकिन मेरे मन में एक दूसरा सवाल भी उठता है। अतिरिक्त और अनुपार्जित धन को कानूनन छीनकर जनसामान्य में बाँट देने की बात तो प्रिय और न्याय्य लगती है। लेकिन कानून के जोर से यह छीनने का काम करनेवाली जमात के लिए भी क्या कुछ अंकुश है? राज्य अधिपति है, तो राजन्य-वर्ग में यदि मद और प्रमाद हो तो क्या हो? ईश्वर-धर्म-नीति का सहारा तो मूल से फिर शुरू होता है जब शक्ति को मूर्त करनेवाली सत्ता समाज में रह नहीं जाती। चर्च जब शासित्व

और मच सब राज्याधीन और अनुगामी बन जाते हैं। तो वह क्या है, जो छीनने-वालो (डिसपोसेस्सर्ज) को सीमा मे (डिसपोजेस्ड) रखे ?
स्टालिन का जो रूप पीछे प्रकट किया गया, उससे जान पडता है कि डिसपाजेशन का यह कार्यक्रम सत्ता के सत्त्व को मजबूती से एक हाथ मे केन्द्रित किये रहने के आधार पर ही चल सका था। ये, अर्थात् नियन्त्रण लानेवाले राजकीय तत्त्व, मुरझाने और समाज मे उत्तरोत्तर अन्तर्भूत होने मे तो नही आये। वल्कि उनके स्वय मे पीन-पुष्ट और समाज पर भारी वनते जाने की वीमारी वढती ही चली गयी।

नयी समस्याओं को जन्म मिला

दूसरे शब्दो मे भूख और बेकारी के सवाल को एक हद तक हल करने के राज्योपाय मे से साम्यवाद ने नयी तरह की समस्याओ को जन्म दे दिया है। वे समस्याएँ कम विषम नही दीखती। साम्राज्यवाद की आवश्यकता तो पहले के राष्ट्रवाद को रही हो, लेकिन साम्यवाद को भी मालूम होता है कि एक नये प्रकार के विस्तार-वाद की आवश्यकता रहती ही है। मानव-जाति के लिए यह विस्तारवादी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद कुछ अधिक आश्वासन का निमित्त नहीं वन रहा है।

उन्मूलन समूल नहीं

इसलिए मुझे इसमे सन्देह है कि वहाँ दीखनेवाला उन्मूलन समूल है, या वह सामाजिक सन्दर्भ मे उन्मूलन भी है। साम्यवादी क्रान्ति राजनीतिक और तान्त्रिक क्रान्ति से आगे और गहरी कोई मानसिक क्रान्ति, मूल्य-क्रान्ति, भी है, यह देखने की वात रह जाती है। आगामी इतिहास मे से यह सिद्ध या असिद्ध होता जायगा। ●

६

अर्थ-क्षेत्र में मूल्यों का संकट

देशों में सहयोग

१ ९. आज विश्व के सामने आर्थिक दृष्टि से दो ही प्रश्न हैं: १ विकसित देशों के सामने विकास को कायम रखने का प्रश्न, २ अविकसित देशों के सामने विकास को पकड़ने का प्रश्न। इन समस्याओं के समाधान के लिए विकसित-अविकसित देशों के पारस्परिक सहयोग एवं सहायता का जो वर्तमान स्वरूप है, क्या आप उससे सन्तुष्ट हैं?

देश से दो तात्पर्य सरकार और जनता

—प्रश्न मे एक भ्रान्ति है। उसको स्पष्ट किये बिना बढ़ना नहीं होगा। प्रश्न का 'देश' क्या है? *देश का मतलब सरकार हुआ करता है। सरकार एक वर्ग है* गुट है और उसका अपना स्वार्थ भी है। इस तरह दो देशों के स्वार्थों मे एकता ही नहीं होती विग्रह और विरोध भी हुआ करता है।
देश का दूसरा आशय यह जन-सामान्य है जो अमुक भू-सीमा मे रहता है। सारी दुनिया पर यह जनता बिखरी हुई फैली हुई है। मैं मानता हूँ कि इस तमाम मानव जाति का स्वार्थ अखण्ड है। यह अखण्ड स्वार्थ ही परमार्थ है। इस तरह मूल स्वार्थ सब देशो का एक और अविरोधी हो जाता है। सरकारी स्वार्थ इन देशो का परस्पर विरोधी हो तो इसमे अनहोनी क्या बात है?
राजनीतिक दृष्टि देशों को लोगों की मानव-जाति और मानव-जनता को सरकारों के द्वारा समझती-बूझती है। यही हमारे व्यापक व्यवहार की पद्धति है। उसी पैटर्न पर कहा जानेवाला अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार चलता है।

मूल मानवीय दृष्टि

यह मानकर भी कि कोई और परिपाटी जगत्-व्यापी व्यवहार-व्यापार के लिए हमारे पास सुलभ नहीं है दृष्टि एक अवश्य मूल-मानवीय हो सकती है और राज नीतिक व्यवहार को भी उसके अनुसार और अधीन चलाने का आग्रह रखा जा सकता

है। वह दृष्टि सरकारी तन्त्र को अमुक भू-खण्डवासियों के हित और स्वार्थ के प्रतिनिधि के रूप मे स्वीकार करेगी, लेकिन उन-उन देशो की अर्थ और विदेश-नीति को वह जनता के मूल-हित से अविरोधी रखेगी।

विकसित, अर्धविकसित, अविकसित

अब कुछ देश विकसित पाये जाते हैं, कुछ अर्ध-विकसित, कुछ अविकसित। ठीक यही हाल मेरे कुटुम्ब मे देखा जा सकता है। तीन बरस की नातिन है, जिसे अविकसित कहिये, सत्रह वर्ष की कन्या अर्ध-विकसित, तीस वर्ष का पुत्र विकसित और मैं पचपन से ऊपर और पार आने पर विश्रान्त। इस कुटुम्ब मे परस्पर यह तरतमता मिलती है, तो क्या आपस मे कुछ अमीरी-गरीबी भी पैदा होती है? कर्जदार और साहूकार बनता है? शायद अलग-अलग जगह और अलग-अलग घरो मे भी रहते होंगे, रहन-सहन की विधि और स्तर मे भी अन्तर होता होगा। लेकिन पुत्र के पास सूट हो, तो क्या मुझे अपने धोती-कुर्ते मे आपत्ति होती है, या सूट मे उसे गर्व होता है? या हमारे बीच विषमता होती है?

अर्थ-रचना का मानवीय आरम्भ

मुझे लगता है कि अर्थ-रचना का मानवीय आरम्भ हो सकता है। उस आरम्भ के साथ हम देखेंगे कि हमारी मूल आवश्यकताओ की उत्पादन-विधि मे विकेन्द्रित या स्वावलम्बी भाव आ गया है। आज पैसे के बल पर अगर मैं सात समन्दर पार के मक्खन-रोटी, बिस्कुट, जैम, फ्रैण्ड फ्रूट्स वगैरह पर बडे आराम और ठाट से रह लेता हूँ, तो सम्भव हो सकता है कि अर्थ-विचार के मानवीय आरम्भ के बाद वह तरीका मुझे व्यर्थ और आडम्बर-भरा जान पडे। सम्भव है, तब पास-पडोस के साथ मिल-जुल कर मेरे खाने, पीने, पहनने आदि का काम चले और वही अधिक प्रिय भी मालूम पडे।

हमारे यहाँ सोने का भाव एक सौ चालीस है, वही सोना हागकाग मे पचास मे मिल रहा है। अभी फ्रास मे नकद पाँच हजार मे मोटर-गाडी मिल रही थी, जो दिल्ली मे तेरह हजार से कम मे हाथ नही आती। जिन दिनो भारत मे अकाल से लाखो टपाटप मर रहे थे, सुना गया कि अमरीका मे नाज समुद्र मे फेंका गया था। यह सब इस कारण नही कि आपस मे दूरी है, यातायात के साधन नही हैं, आदि। नही, विज्ञान ने दूरी दूर कर दी है और सब साधन सहज कर दिये हैं। लेकिन फिर जो यह तमाशा चलता है, सो इस कारण कि हम लोग सरकारो से चलते हैं, अर्थ-नीति, उत्पादन-नीति, व्यापार-नीति सरकार-नीति से चला करती है!

अर्थनीति की प्राथमिकता

हर देश के लिए निर्यात को आयात से ज्यादा रखना जरूरी है, अन्यथा विकास नहीं माना जायगा। इस नीति पर चलने से युद्ध की परिस्थिति सदा बनी और जगती पनपती रहती है, कभी घट नहीं सकती। अभाव होगा तो सब कहीं अपनी मण्डी बनाने के प्रयत्न में दौड़ेंगे और मरें-मारेंगे। निर्यात उसको बढ़ाना है माल सबको खपाना है। खपत के लिहाज से तो कारखानों की उपज की नहीं जाती है लाभ के लिहाज से उपज जरूरी होती और अपने-आप बढ़ती है। उस माल को कहीं तो ले जाकर बेच डालना है, नहीं तो उद्यम का अन्त ही इधर फालतू और बेकार हो जायगा। अर्थात् अन्योन्य अभाव क्षेत्र के मानव के विकास में दिलचस्पी नहीं रख सकता है, उसकी दिलचस्पी मण्डी में है। इस वास्ते विकसित अर्ध-विकसित और अविकसित देशों का आपसी सम्बन्ध खासा प्रामाणिक यानी राजनीतिक कूटनीतिक और व्यापार कौशल-नीतिक बना रहता है। शक्ति का आवर्त इस परिस्थिति में से उत्पन्न होता है और किसी स्थल पर तनिक स्थिति-भंग हुआ कि वहीं अन्तर्राष्ट्रीय संकट की घटाएँ उमड़ कर घिर आती हैं।

जीवन-स्तर का मद-मोह

अविकसित देश अपने पर लज्जित होते ग्लानि मानते और हीन भावापन्न बनते हैं, तो शायद इसलिए कि सभ्यता के सम्पर्क ने उन्हें यह बताया है। जीवन-स्तर को बढ़ाने का एक मद-मोह सभ्यता ने पैदा कर दिया है। खूब चलन है इस फैशन का पहली आवश्यकता है कि यह माया-जाल टूटे। क्यों साहब, महल में रहने से मैं मैं न रहूँगा कुछ ऊँचा हो जाऊँगा? या सिर्फ झोंपड़ी में रहने से नीचा हो जाऊँगा? आदमी को आदमियत से तोलकर हैसियत से तोला कि आदमियत घटी और हैसियत के नाम पर बाकी सब फिजूलियात की कीमत बढ़ी। इस बढ़ती हुई व्यर्थता की कीमत के बल पर सभ्यता का व्यापार फैल रहा और मुसीबत फैल रहा है। सम्भव है वह देश जो विकसित माने जाते हैं। लेकिन जब प्रकट होगा कि यह व्यर्थचारी सभ्यता भी ही नहीं बल्कि शायद असभ्यता थी तो आज का दृष्टिमान अर्थात् महत्त्वमान ही बदल जायगा। तब क्या अचरज कि पिछड़ा ही बढ़ा दीख जाये!

जन के मूल्यों से प्रेरित नीति

क्या देखा जाता है अब भी? छोटे और अविकसित देश आपस में मिलकर हठात् संयुक्त राष्ट्र में बल पकड़ते जा रहे हैं। अचरज नहीं है कि विश्व-स्थिति का भार केन्द्र अफ्रीका-एशिया की ओर सरकता हुआ दिखाई दे। यह सब इस कारण कि

सब कार्यवाहियो के बावजूद जन को धन से ऊपर आना ही है, सत्ता के भी ऊपर आना है। अर्थात् केवल जन की सख्या के, जन-ता के, परिमाण (क्वाण्टिटी) से चलनेवाली नीति सरकारी बना करती है। नही, जन के गुण (क्वालिटी) से चलनेवाली नीति होगी, जिससे प्रतिष्ठा जन-मन को और मानव-मानो को मिलेगी। तभी शान्ति-सुख-सहयोग जुबान से आगे देशो के आपसी सम्बन्धो मे स्थान पायेंगे।

धर्म-नैतिक अर्थ-रचना

अर्थ की धारणा भी हमारी वेढव बनी हुई है। अथशास्त्र की बुनियाद मे यह मान्यता है कि इन्सान स्वार्थी है। परमार्थ के जैसी कोई कल्पना ही उस शास्त्र के पास नही है। मुझे लगता है उस नीव पर खडा अर्थशास्त्र अपना खेल खेल चुका। समय शायद आया है कि वह तमाशा समेटे और अपनी दूकान उठा ले जाय। उठाकर कहाँ ले जाय ? नही, माल को कही ले जाना नही है, उसकी तो माँग है। लेकिन दूकानदारी को दिमाग मे से उठा ले। तब विकास एक दायित्व हो जायगा और अविकसित समझे जानेवाले देशो के प्रति विकास-प्राप्तो मे जो होगा, वह लोभ नही, कतव्य का भाव होगा। मेरा मानना है कि मनुष्य की गहराई मे पडे इस धर्मनैतिक भाव की बुनियाद पर नयी अर्थ-रचना का आरम्भ हो सकता है और गाधीजी का प्रयत्न उसीका सूत्रपात था।

सरकारी मनोवृत्ति से मुक्त सहायता

११०—तब क्या आपका कहना है कि रूस, अमरीका जो अरबों की सहायता अविकसित, अर्धविकसित देशो को दे रहे है, वह विदआउट स्ट्रिंग्ज् नही है ?

—यह हो नही सकता कि जगह खाली हो और वायु भरने उसे न दौडे। इसलिए यह अरबो-खरबो की मानी जानेवाली सहायता प्राकृतिक नियमो से ही अनिवार्य है। उस दृष्टि से वह आवश्यक और उचित भी है। लेकिन जो निवारणीय है, और इसलिए जो अनुचित भी है, वह है स्ट्रिंग्स पीछे हाथ मे रखने की वृत्ति। अमरीका और रूस की ओर से मैं कुछ नही कह सकता। लेकिन उनके मनोभाव चाहने पर भी शुद्ध नही हो सकते। शुद्ध नहीं हो सकते इसलिए कि सहायता सीधी जनता से नही आ रही है, सरकार से आ रही है। देश की सीमाओ को पार करती हुई जनता से जानेवाली सहायता के उदाहरण हाल के इतिहास मे भी कम नही हैं। भूचाल ने आकर कहीं प्रलय उपस्थित कर दिया है, भयकर बाढ़ आ गयी है, या महाविध्वसक अग्निकाड हो गये हैं, या कोई दूसरा प्राकृतिक कोप उपस्थित हुआ

है जो सब ओर से सहायता वह निकली है। इसमें स्निग्ध कहीं कोई नहीं रहे। प्रीति सहानुभूति का संदेश ही काम करता रहा है। लेकिन ठीक नहीं है जो सरकार के लिए सम्भव नहीं है। रूस की आधिपतिक सरकार हो सकती है, अमरीका की सभापतिक हो सकती है पर सरकारी मनोवृत्ति से दोनों स्वतन्त्र न पायी जायें तो दोष किसे दिया जाय? दोष सिस्टम में सभ्यता के शरीर में ही है ऐसा मैं मानता हूँ।

दोनों को प्रभाव-क्षेत्र चाहिए

१११ जहाँ तक आर्थिक सहायता का प्रश्न है, क्या रूस और अमरीका की मनोवृत्तियों में कुछ अन्तर आप पाते हैं? इनमें किसकी वृत्ति कम कूटनीतिक और अधिक आत्मीय है?

—अन्तर पाना और उसमें जाना मेरे वश और क्षेत्र का नहीं है। सरकार की दृष्टि से रूस अधिक केन्द्रित और नियन्त्रित है। सरकारीपन के साथ चलनेवाला भाव दोष यदि इस कारण वहाँ कुछ विशेष हो, तो मुझे विस्मय न होगा। लेकिन रूस के पक्ष में एक विशेषता मैं अवश्य देखता हूँ। वह ब्रिटिश परिपाटी की कूटनीति और राजनीति की लीक पर नहीं है। उसने क्रान्ति की है और कूटनीतिक क्षेत्र में नयी परम्पराएँ भी डाली हैं। स्टालिन मौन थे ख्रुश्चेव मुखर हैं। ख्रुश्चेव के व्यवहार से मानो कूटनीति आसमान से धरती पर और दरबार से घर-बार में आ गयी है। रूस के व्यवहार का रंग-ढंग खुला है और अपनत्व से भरपूर है। यहाँ की सहायता ऐसी कम मालूम होती है कि ऊपर से आ रही है मानो वह बराबर से आती है। लेकिन यह अन्तर तौर-तरीके का है। मूल में मुझे लगता है कि दोनों को अपने-अपने लिए प्रभाव-क्षेत्र की आवश्यकता है। दोनों को संयुक्त राष्ट्र-संघ में केवल राय ही नहीं चाहिए, बल्कि जन-साधन का बल भी चाहिए। उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद विस्तारवाद प्रभाव-क्षेत्रवाद इत्यादि शब्द जिसकी आवश्यकता है उसके द्योतक नहीं हैं आवश्यकता यदि धर्म भाव की है, तो वे सभी शब्द अधर्म भाव के द्योतक हैं।

क्या परमार्थ-नीति अ-व्यावहारिक है?

११२ आपने अपनी अर्थनीति को जिस धर्म पर आधृत किया है, क्या वह अव्यावहारिक नहीं है? घरेलू क्षेत्र में भले ही सम्भव हो पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वार्थ के अस्तित्व को कैसे परिवर्तित किया जा सकता है? मेरी समझ में वैसा होना असंभव है।

नहीं, वह व्यावहारिक

—नहीं, अव्यावहारिक मैं नही मान सकता। तुम स्वय घर मे उसे व्यावहारिक देखते हो। सिर्फ इतना है कि घर से वाहर व्यावहारिक वह कैसे वने ? अगर हम यह मानते होते कि जो नीति घर मे चलती है, वह घर तक ही वन्द रहने के लिए है, तो हमारा विकास रुक गया होता। विकास का अर्थ ही यह है कि हमारा स्व-भाव वढ़े और इतना हो कि ससार हमारे लिए घर हो जाय। जाने-अनजाने हम उस तरफ गति करते ही जा रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान इसमे हमारी मदद कर रहे हैं। विश्व-मानव और विश्व-कुटुम्व आज काव्य का शब्द नही है, वल्कि व्यावहारिक वन गया है। विश्व-नगर तो इस समय भी कई माने जा सकते हैं, क्योकि वहाँ विश्वभर के देशो के लोग रहते-सहते देखे जा सकते हैं।

शोषण एक ठोस वास्तविकता

इसका अभिप्राय यह नही है कि अर्थनीति मे जो आज स्वार्थ और शोषण का भाव देखा जाता है, वह मेरी भावना या किसीकी कविता या तीसरे के उपदेश से छूमतर हो जायगा। द्रव्य और मुद्रा द्वारा होनेवाला शोषण एक ठोस वास्तविकता है और उसका मुकावला केवल भावना से नही किया जा सकता। इसीसे कवि, आदर्शवादी, उपदेशक आदि लोगो की जमात होती रही और अपना धन्धा चलाती रही, उतने से विशेष अन्तर नही आया।

अर्थ समूह-राजनीति से जुडा

ऊपर जो कहा, उसका आशय अर्थ-शोपण की वुराई को कम दिखाकर वताने का विलकुल नही था। लेकिन यह स्वीकार कर लेना होगा कि अर्थ-नीति अगर धर्म-नीति से मिलकर नही चलेगी, तो सच्चा अर्थ सिद्ध नही होगा, अनर्थ ही होता रहेगा। इसका तात्पर्य यह कि वह अर्थ-दृष्टि वहुत जल्दी अपर्याप्त और अयथार्थ वन जायगी। आज भी उस वृत्ति की अयथार्थता प्रकट हो चली है, जो अर्थ से विनिमय का ही काम नही लेती, वल्कि विभुता और प्रभाव-विस्तार का काम लेती है। आज अर्थ-दृष्टि जुडी हुई है राजदृप्टि से। इससे अर्थ अनर्थकारी वन रहा है। यह विल्कुल आव-श्यक, वल्कि अनिवाय ह कि वह अर्थनीति राजनीति के वजाय धर्मनीति से जुडे। आज का व्यापारी राज-सत्ता की ओर देखता है और वहाँ से कृपा-लाभ लेता है। पहले का व्यापारी लोक-सत्ता मे रहता और उसका प्रार्थी होता था। वह लोकनीति के साथ रहने को वाध्य था। उसे अपने व्यवहार मे धार्मिक होना ही पडता था। महाजन और साख यह दोनो एक थे। प्रामाणिकता से हटना या गिरना उसके

अपने मन की बात न थी क्योंकि उसका अधिष्ठान लोकनीति में होता था। लेकिन जब अर्थ का योग राजनीति से हो चला, स्टेट ट्रेडिंग में दिलचस्पी लेने लगी सरकार ने अपना कारोबार बढ़ाना और फैलाना शुरू किया तो राजनीति धर्म-नीति से छूटकर स्वयं प्रतिष्ठ मूल्य बन गयी। राजसत्ता सर्वोपरि सत्ता हो गयी। तो लोक-मूल्य भी गुणों से हटकर द्रव्य पर आ गये और अर्थ परमार्थ से हटकर समूह-स्वार्थ से आ लगा।

द्वेष और द्रोह मूल्य न माने जायें

आत्मीयता और पारिवारिकता की सदा ही एक परिधि होती है। हरएक की पहचान और परख उस परिधि पर ही है। परिधि से केन्द्र की ओर स्नेह का सम्बन्ध होता है और वहाँ दूसरे में से कमाने और खींचने के बजाय उसको देने और उसके काम आने की भावना हम रखते हैं। परिधि के पार हममें परायेपन और गैरियत का ही नहीं बल्कि उससे आगे बढ़कर द्वेष और द्रोह का भाव तक होता है। यह भाव सिर्फ ही यहाँ तक तो सम्भवता और यथार्थता है लेकिन यह द्वेष और द्रोह मूल्य ही बन जाय उचित और समर्थित मान लिया जाय तो संकट का कारण होता है। परम परमार्थ आज ही हमारा स्वार्थ नहीं बन जायगा। लेकिन इसीके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जीवन की साधना में निश्चय ही वह उपलब्धि श्रम-साध्य और समय-साध्य है। लेकिन जो बात आज और अभी हो सकती है, और निश्चित रूप से अवश्य ही आनी चाहिए, वह यह कि परिधि से बाहर भी द्वेष और द्रोह के सम्बन्ध को उचित न ठहराया जाय उसे मूल्य न मान लिया जाय।

मूल्य का संकट

ऐसा होने से फिर व्यवहार की त्रुटि के लिए तो आधार रह जाता है लेकिन मूल्य निश्चित हो जाता है, तो इतने भर से संकट में कुछ समाधान के तत्त्व हो जाते हैं। स्वदेश-विदेश स्वजाति-विजाति स्वमत-विमत में किसी भी हालत में परस्पर प्रहार और विनाश की नीयत और वैसा आचरण उचित नहीं है, यह विश्वास धर्म नैतिक है। हमारा व्यवहार इस विश्वास से क्यों चूक नहीं सकता है? विश्वास और व्यवहार में अन्तर तो रहेगा ही त्रुटियाँ व्यवहार में अनन्तकाल तक न रहती चली जायें यह असम्भव है। लेकिन वे विश्वास की त्रुटि क्यों बनें? ऐसा होता है, मूल्य की श्रद्धा उठ जाती है विश्वास शिथिल हो जाता है तब का संकट मूल्य-संकट हो जाता और वह बड़ा ही विकट होता है। अर्वाचीन अर्थशास्त्र ही इस बुनियाद पर खड़ा है, जो अर्थ को सीधे राजनीति से जोड़ती और धर्मनीति से तोड़ती है। समस्त विचार इसी पर बल देता और इसी ओर बढ़ा जा रहा है। इसके विरोध में दूसरा तत्त्व-दर्शन

आता है, जो पैसेको छूना हराम ठहराता है। यानी अर्थकी वह दृष्टि समाज में दो प्रतिकूल क्रिया-प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। एक ओर नितान्त दिगम्बर मुनि, दूसरी ओर खरबपति बनने के प्रयास मे लगा अरबपति।

पैसा स्नेह का माध्यम

मैं नही मानता कि पैसे मे यह अनिष्टता रहना अनिवार्य है। वह शोषण का शस्त्र ही नही, स्नेह का भी माध्यम हो सकता है, और अर्थ-प्रणालियों मे प्रवहमान क्या तत्त्व है, स्नेह है कि स्वार्थ है, यह हमारी मानसिकता और मूलनिष्ठा पर निर्भर करता है।

मूल्य मुद्रा में नहीं, श्रम में

आज खेत मे यदि नाज पैदा होता है, तो खेतीहर के पास ही खाने के लिए वह जुट नही पाता है। अर्थात् वस्तु मुद्रा के जोर से खिंची हुई वहाँ पहुँच जाती है जहाँ श्रम नही, सिक्के की शक्ति है। महलो के अन्त पुर से लगाकर मीलोमील तक संगमरमर और इसी तरह के पत्थरो का फर्श मिलेगा। पर अपार धान्य और नाना व्यंजन वहाँ मौजूद हैं। पर जिस धरती ने धान्य दिया है, उसमे लगकर रहनेवाले श्रमी के पास ही उसका दाना नही है। क्यो ऐसा होता है? कारण है क्रय-शक्ति, जिसकी पीठ पर है न्याय-व्यवस्था की सत्ता-शक्ति। यदि मनों मे धर्म-प्रवाह हो, तो यह हो सकता है कि महल मे रहनेवाली रानी छप्पन की जगह अपने भोग की संख्या पचपन कर दे और शेष एक भोग को अपने प्रयत्न से वहाँ पहुँचाना चाहे, जहाँ भोग है नही, नितान्त अभाव है। लेकिन यह भावना का प्रश्न है। पर यदि मूल्य ही मुद्रा से-हटकर श्रम की ओर बढ़ चलें, तो श्रमिक को अन्न स्वत मिलेगा और राज्य उसकी कृपा पर होगा।

अर्थशास्त्र, अर्थदृष्टि और अर्थनीति मे वह क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता और लाया जा सकता है, जिसमे मूल्य श्रमनिष्ठ हो और तदुपरान्त, एव तन्निमित्त, मुद्रा का मूल्य हो। मार्क्स ने कुछ वह दृष्टि दी, लेकिन उस भले आदमी ने उपकार-वृत्ति के वशीभूत होकर उसे राज और राजनीति से ऐसा जोडा कि परिणाम उसका अधूरा और ओछा ही रह गया। शासनमुक्त समाज की जगह शासनबद्ध समाज का दृश्य उपस्थित हो आया।

गणित की अकृतार्थता

अन्तर्जातीय, अन्तर्प्रान्तीय, अन्तर्राष्ट्रीय आदि किसी भी व्यवहार मे होनेवाला स्वार्थ-मूलक गणित तब बदलेगा, जब स्पष्ट हो चलेगा कि वे सब स्वार्थ परस्पर अनुबद्ध

है और परमार्थ को ध्यान में नहीं लेते तो स्वयं अपनी ही हानि करते हैं। यह दर्शन धर्म से प्राप्त होता रहा है, वर्तमान संकट और आगामी युद्ध के निदान में स्वयं राजनीति द्वारा भी प्राप्त हो सकता है। आज का अर्थ-गर्भित कूटनीति की भूमिका पर उल्टा फल आता दिखाई देता है। अमरीकी डालर सहायता में आता है और सहायता नहीं कर पाता। स्वयं के द्वारा कूटनीतिक तल पर उसीको बाधा में बदल दिया जाता है। यह उस गणित की महत्त्वार्थता का ही प्रमाण है। कूटनीति जैसे स्वीकार कर रही है कि अर्थ-गणना से ऊपर किसी लोक-भावना की भी आवश्यकता है।

जागतिक भाव स्वप्न नहीं

मुझे प्रतीत होता है कि अर्थ स्वयं अपने विकास में स्वार्थ भाव से इतने ऊँचे उठ जायेगा कि परमार्थ की धारणा आदर्श और धर्म के क्षेत्र की कल्पना न रहकर आर्थिक व्यवहार की सत्ता बन जायगी। तब राष्ट्रों की उत्पादन और व्यापार की नीति कुछ भिन्न स्वरूप के बनेगी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा के पार जाकर वास्तविक उत्पादन और आवश्यकता के सम्बन्ध में नये सहयोग-युग का सूत्रपात होगा। राजकीय और राष्ट्रीय आदर्श कुछ दिनों की चीज मालूम होते हैं। जल्दी ही वे क्षीण हो जायेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय की जगह जागतिक भाषा में सोचना-करना सम्भव होगा। यह स्वप्न नहीं है विज्ञान से बननेवाली परिस्थितियाँ हमें उधर ही ले जा रही हैं।

१११ आपने ठीक कहा कि विज्ञान हमें जागतिक दृष्टि से सोचने की प्रेरणा दे रहा है। पर साथ ही देशों में एक मुकाबले की कूटनीति, अर्थनीति और शस्त्रनीति भी तो पनप चुकी है, जो अब चाहे जिसे-जहाँ पर धावा बोल देने को तैयार है। राजकारण को दोष देते रहने से इसलिए नहीं चलेगा क्योंकि राजकारण अनिवार्यता है। ऐसी परिस्थिति में वर्तमान से वांछित भविष्य तक पहुँचने के लिए कुछ ठोस प्रस्ताव प्रस्तावित करें।

राजकारण द्वारा संस्कृति सम्पन्न

—राजकारण को दोष नहीं देता हूँ। बल्कि उल्टे मैं यह मान सकता हूँ कि राजकारण के द्वारा संस्कृति अपने को सम्पन्न करती है। वर्तमान के प्रति असन्तोष का मतलब वर्तमान का नाश नहीं बल्कि भविष्य का आवाहन है। राजनीतिक चेतना में हम विरोधी या विजातीय कहकर किसीके प्रति रोष लाते हैं, तो भी यह एक सजीव सम्बन्ध की निशानी है। यह तो अपने ही चक्कर में है, विशेष जैसे किसी देश के अस्तित्व से भी बेखबर है यह उस रोष के भाव से अपने-आप बचा रहता

आता है, जो पैसेको छूना हराम ठहराता है। यानी अर्थकी वह दृष्टि समाज मे दो प्रतिकूल क्रिया-प्रतिक्रियाओ को जन्म देती है। एक ओर नितान्त दिगम्बर मुनि, दूसरी ओर खरबपति बनने के प्रयास मे लगा अरबपति।

पैसा स्नेह का माध्यम

मैं नही मानता कि पैसे मे यह अनिष्टता रहना अनिवार्य है। वह शोषण का शस्त्र ही नही, स्नेह का भी माध्यम हो सकता है, और अर्थ-प्रणालियो मे प्रवहमान क्या तत्त्व है, स्नेह है कि स्वार्थ है, यह हमारी मानसिकता और मूलनिष्ठा पर निभर करता है।

मूल्य मुद्रा में नहीं, श्रम में

आज खेत मे यदि नाज पैदा होता है, तो खेतीहर के पास ही खाने के लिए वह जुट नही पाता है। अर्थात् वस्तु मुद्रा के जोर से खिंची हुई वहाँ पहुँच जाती है जहाँ श्रम नही, सिक्के की शक्ति है। महलो के अन्त पुर से लगाकर मीलोमील तक सगमरमर और इसी तरह के पत्थरो का फर्श मिलेगा। पर अपार धान्य और नाना व्यजन वहाँ मौजूद हैं। पर जिस धरती ने धान्य दिया है, उससे लगकर रहनेवाले श्रमी के पास ही उसका दाना नही है। क्यो ऐसा होता है ? कारण है क्रय-शक्ति, जिसकी पीठ पर है न्याय-व्यवस्था की सत्ता-शक्ति। यदि मनो मे धर्म-प्रवाह हो, तो यह हो सकता है कि महल मे रहनेवाली रानी छप्पन की जगह अपने भोग की सख्या पचपन कर दे और शेष एक भोग को अपने प्रयत्न से, वहाँ पहुँचाना चाहे, जहाँ भोग है नही, नितान्त अभाव है। लेकिन यह भावना का प्रश्न है। पर यदि मूल्य ही मुद्रा से-हटकर श्रम की ओर बढ चलें, तो श्रमिक को अन्न स्वत मिलेगा और राज्य उसकी कृपा पर होगा।

अर्थशास्त्र, अथदृष्टि और अथनीति मे वह क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता और लाया जा सकता है, जिसमे मूल्य श्रमनिष्ठ हो और तदुपरान्त, एव तन्निमित्त, मुद्रा का मूल्य हो। मार्क्स ने कुछ वह दृष्टि दी, लेकिन उस भले आदमी ने उपकार-वृत्ति के वशीभूत होकर उसे राज और राजनीति से ऐसा जोडा कि परिणाम उसका अधूरा और ओछा ही रह गया। शासनमुक्त समाज की जगह शासनबद्ध समाज का दृश्य उपस्थित हो आया।

गणित की अकृतार्थता

अन्तर्जातीय, अन्तर्प्रान्तीय, अन्तर्राष्ट्रीय आदि किसी भी व्यवहार मे होनेवाला स्वार्थ-मूलक गणित तब बदलेगा, जब स्पष्ट हो चलेगा कि वे सब स्वार्थ परस्पर अनुबद्ध

है और परमार्थ को ध्यान मे नही देते तो स्वय अपनी ही हानि करते है। यह दर्शन धर्म से प्राप्त होता रहा है वर्तमान सकट और आगामी युद्ध के निदान मे स्वय राजनीति द्वारा भी प्राप्त हो सकता है। आज का अर्थ-प्रधान कूटनीति की भूमिका पर उसका फल जाता दिखाई देता है। अमरीकी डालर सहायता मे आता है, और सहायता नही कर पाता। ससद के द्वारा कूटनीतिक तल पर उसीको बाधा मे बदल दिया जाता है। यह उस गणित की असमर्थता का ही प्रमाण है। कूटनीति जैसे स्वीकार कर रही है कि अंक-गणना से ऊपर किसी लोक-भावना की भी आवश्यकता है।

आत्मिक भाव स्वप्न नहीं

मुझे प्रतीत होता है कि अर्थ स्वय अपने विकास मे स्वार्थ भाव से इतने ऊँचे उठ जायेगा कि परमार्थ की धारणा आदर्श और धर्म के अंग की कल्पना न रहकर आत्मिक व्यवहार की सज्ञा बन जायगी। तब राष्ट्रो की उत्पादन और व्यापार की नीति कुछ भिन्न स्वरूप ले चलेगी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रतिस्पर्धा के पार जाकर आवश्यक उत्पादन और आवश्यकता के सम्बन्ध मे नये सहयोग-युग का सूत्रपात होगा। राजकीय और राष्ट्रीय आदर्श कुछ दिनो की चीज मालूम होते है। जल्दी ही वे क्षीण हो जायेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय की जगह आत्मिक भाषा मे सोचना-करना सम्भव होगा। यह स्वप्न नही है विज्ञान से बननेवाली परिस्थितियाँ हमे उधर ही ले जा रही है।

१११ आपने ठीक कहा कि विज्ञान हमें आत्मिक भूमि से सोचने की प्रेरणा दे रहा है। पर साथ ही देशों में एक मुकाबले की कूटनीति, अर्थनीति और शस्त्रनीति भी तो चल चुकी है, जो सब चाहे किये-कराये पर पानी फेर देने को तैयार है। राजकारण को दोष देते रहने से इसलिए नहीं बनेगा, क्योंकि राजकारण अनिवार्यता है। ऐसी परिस्थिति में वर्तमान से वांछित भविष्य तक पहुँचने के लिए कुछ ठोस प्रस्ताव प्रस्तावित करें।

राजकारण द्वारा सस्कृति सम्पन्न

—राजकारण को दोष नही देता हूँ। बल्कि उलटे मैं यह मान सकता हूँ कि राजकारण के द्वारा सस्कृति अपने को सम्पन्न करती है। वर्तमान के प्रति असन्तोष का मतलब वर्तमान का काट नही बल्कि भविष्य का आवाहन है। राजनीतिक चेतना मे हम विरोधी या विजातीय कहकर किसीके प्रति रोष करते है, तो भी यह एक अजीब सम्बन्ध की निशानी है। यह जो अपने ही भमकर पे है विरोध जैसे किसी देश के अस्तित्व से भी बेखबर है यह उस रोष के भाव से अपने-आप बचा रहता

है। इसलिए उसे उन्नत नागरिक तो हम नही कह सकते। राजकारण आगे वढता है और, चाहे नकारात्मक मही, अपने से या अपनेपन की परिधि से वाहर आकर कुछ सम्वन्व तो स्थापित करता है। इस दृष्टि से उन माने गये मज्जन पुरुषो के लिए मेरे मन मे प्रशसा का भाव उदय नही होता, जो अच्छे तो हैं, पर अपनी अच्छाई मे इतने तुष्ट और वन्द हैं कि वाकी दुनिया से वेखवर हैं। राजकारण की यह चेतना ही है जो उसे अपने मे मुंह नही गाडने देती है, वल्कि उसे मक्रिय रखती और युद्ध तक मे उतार लाती है। यह सचेष्टता और पराक्रम ही हैं, जो राजकारण के प्रभाव के पीछे हैं।

वहादुरी को वढाया जाय

वह सात्त्विकता, सज्जनता, चारित्र्यशीलता यदि राजनीतिक प्रभाव के आगे मन्द दीखती है, तो इसी कारण कि उसमे विक्रम-पराक्रम के दर्शन नही होते हैं। वल्कि राजनीति मे कुछ आत्मत्रुटि देखने का अवसर है, क्योकि आत्मतुष्टि का अवसर नही है। अत राजकारण को वुरा मैं नही कहता हूँ, दोष उसमे नहीं ढूंढता हूँ। पर यह तो कहना ही पडता है कि राजकारण जितना है, उससे अधिक लगनशील, पराक्रमशील और समग्र क्यो नहीं हुआ। मुझे जान पडता है कि राजकारण यदि अपने ही प्रति अधिक न्याय करेगा, अधिक दायित्वशील होगा, तो उसकी नकारात्मकता कम होती जायगी। पर इस कारण तेजस्विता घटेगी नहीं, वढेगी। मैं मानता हूँ कि राजकारण के शीर्ष पर वहादुर ही पहुँच सकता है। साथ ही उसे कुशल होना पडता है। जो कुशल है, पर वहादुर नहीं है, वह चोटी पर नहीं पहुँचता। कुशलता वुद्धि का गुण हो सकता है, पर वहादुरी आत्मा का गुण है। मैं जो कहता आ रहा हूँ, वह यही कि इस वहादुरी को और वढाया जायगा, तो वह स्वय अहिंसक हो आयेगी। अहिंसक होने के साथ कुशलता भी वढ़ेगी, क्योकि वुद्धि तव आवेश से मुक्त रहकर काम कर सकेगी।

राजकारण धर्म-नीति में से क्षमता ले

राजकारण का दिशा-परिवर्तन यदि घटित होगा, तो वह स्वय उसके भीतर से आयेगा, किसी वाहरी आध्यात्मिक या नैतिक आदि कहे जानेवाले स्तर से नही। इसलिए मेरे शब्दो में किसी प्रकार का आदेश-उपदेश देखना वेहद गलत होगा। सच्चाई और अच्छाई कोई भी अलग से राजकारण को सस्कार नही दे सकती। राजकारण की अवगणना और दोष-दर्शन की प्रवृत्ति में से ही अध्यात्म निवीर्य और निष्प्राण हो गया है। विरोध में राजकारण का प्रभाव उतना ही प्रवल होता चला गया है। राज-

कारण जिन समस्याओं से जूझता है, जिन जिम्मेदारियों को उठाता है उनको सँभालने और झेलने की क्षमता यदि धर्मनीति में से ही नहीं आती तो कोई कारण नहीं कि राजनीति धर्मनीति से क्यों न निरपेक्ष और उपेक्षापूर्ण बन जाय। धर्मनीति अपनी जगह पर अपने को ऊँचा माने तो कारण हो जाता है कि राजनीति मुकाबले में अपने को ऊँचा रखे। सच यह कि वह धर्म नहीं वह परिपूर्ण धर्म-नीति नहीं जो रहन-सहन की भौतिक समस्याओं और उनसे उत्पन्न विग्रह-वैमनस्य की घटनाओं से मुँह मोड़कर किनारा लेती है। धर्म का क्षेत्र समाज है जंगल नहीं। आप सुबह वन में से *स्वच्छ हवा लीजिये स्वास्थ्य और स्फूर्ति वहाँ से लीजिये।* लेकिन उस उपार्जन को उपयुक्त करने का क्षेत्र समाज है। यह आप नहीं है, है तो उसका उपार्जन अनिष्ट है जो फिर सबके काम नहीं आती। वह धर्म नहीं है, है तो अधर्म है जो व्यक्ति को इसलिए उठाता है कि वह औरों के लिए बेकाम हो जाय।

पारमार्थिक श्रद्धा संसार में उतरे

आपने पूछा है कि ठोस उपाय बताया जाय। यही ठोस उपाय है कि पारमार्थिक श्रद्धा को आर्थिक कार्यक्रम में उतारा जाय। अर्थात् पारमार्थिक रुचि और वृत्ति के लोग आर्थिक एवं सांसारिक समस्याओं में उतरें और वहाँ अपनी पारमार्थिकता की नसें और उसका तेज प्रकट करें। इस प्रत्यक्ष सृष्टि में स्रष्टा को ढूँढ़ें और पायें। संसार में स्वयं विचरें। एक साथ निश्चय कर लें कि संसार से अलग किसी स्वर्ग को नहीं बनाना है और अपनी सृष्टि से विमुख स्रष्टा को नहीं खोजना-पाना है। इस प्रकार धर्म कर्म से किनारा नहीं लेगा और तब वह धर्म बन्धन रचने के बजाय बन्धन काटता हुआ दिखाई देने लगेगा।

प्रेम आक्रमणशील हो सकता है

स्थिति की विडम्बना यह है कि विक्रम-पराक्रम बुराई की विशेषता समझी जाती है। अच्छाई निश्चेष्ट, उदासीन और चुप बनी रह सकती है। जैसे मानो बढ़ना द्वेष और वैर को ही है। प्रीति और स्नेह तो सिमटे रहने के लिए ही हैं। नहीं प्रेम आक्रमणशील हो सकता है और स्नेह की व्यथा में लोग अपने में से निकलकर दूर-दूर जा सकते हैं। यह विरह की व्यथा प्रेम की वेदना महत्त्वाकांक्षा से कहीं तेजोमय और वेगवान हो सकती है। इस प्रस्ताव से ठोस मुझे कुछ और नहीं सूझता है।

●

७

अर्थ का परमार्थीकरण

११४ आपने पहले कहा कि पारमार्थिकता के आधार पर सासारिक समस्याओं को सुलझाया जाय। आप पारमार्थिकता के आधार पर वर्तमान अर्थनीति की गणित-प्रणाली को किस दिशा मे और किस प्रकार मोड देना चाहेंगे ?

पूंजी की विशाल सस्था

—आज व्यापार मांग और पूर्ति के सिद्धान्त पर चलता है। अगर सौ आदमी वेरोजगार हैं और किसी रोजगार को सिर्फ दो आदमियो की जरूरत है, तो श्रम की दर नीचे चली जायगी। काम कम है, आदमी ज्यादा हैं, तो काम मंहगा होता जायगा, आदमी सस्ता होता जायगा। पूंजीवाद जिसे कहते हैं, उसके नीचे यही पूंजी का गणित है। पूंजी को केन्द्र मानकर हमारी सस्थाओ का निर्माण होता है और पूंजी के आंकडो से सारे हिसाव को विठाया जाता है। ज्वाइट-स्टाक कम्पनी का मतलब है पूंजी को शामिल होकर इकट्ठा करनेवाले लोगो का समुदाय। एक कम्पनी के अन्तर्गत हो सकता है कि मजदूर दो लाख काम करते हो और पूंजी मे कुल पचीस-तीस साझीदार हों। तो दो लाख मजदूर, और उनके ऊपर समझिये दो हजार बाबू, केवल नियुक्त वेतन पायेंगे, लेकिन बाकी इन पचीस-तीस पूजी के साझीदारो मे करोडो का नफा वहा चला आयेगा। आज के हिसाव की प्रणालियो से रूप पानेवाली व्यवस्था यह है। इसमे कही अवैधता और हिसा नहीं देखी जा सकती, वल्कि मालिक को मजदूरों का उपकर्ता समझा जा सकता है। जिस देश मे और भी वहुतेरे वेरोजगार हो, वहाँ कुछ को रोजगार देने का काम कौन करता है ? कम्पनी करती है। उस कम्पनी की ओर से उपकार के लिए दान-खाते में अलग धन भी निकाला जा सकता है। यह सब मैनेजिंग एजेण्ट या डाइरेक्टर की देख-रेख मे होता है। यह एजेण्ट या डाइरेक्टर शेयर मे लगायी गयी पूंजी के आधार पर बनते हैं। इस व्यवस्था से सुविधा हुई है कि उद्योग वडे-वडे वनें और फैलें। धन-दौलत दुनिया की बढ़ी है और तरह-तरह के माल-असबाब से जो आज सभ्य-सुशिक्षित परिवारो के घर भरे-पूरे मिलते हैं, सो उसी औद्योगिक उन्नति के कारण सम्भव

हुआ है। लेकिन समष्टि के साथ इस व्यवस्था में से समस्या भी बन खड़ी हुई है। उस मानवीय समस्या को श्रम और पूँजी की समस्या कहा जाता है। बड़े कारखानों में एक लेबर सेंटर, लेबर यूनियन लेबर आफिसर जैसी चीजें हुआ करती हैं। हड़तालों और झगड़ों का इतिहास श्रम-पूँजी के तनाव को सामने लाता है। हित और स्वार्थ जब खड़े होते हैं जो संगठित होकर वर्गों का निर्माण करते हैं। पश्चिम के कार्ल मार्क्स ने इस पूँजी की विशाल व्यापक सत्ता का बड़ा अच्छा और वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उसका ग्रन्थ 'कैपिटल' शास्त्र ही बन गया है। पूँजी के हिसाब की प्रणालियों की बहुत खोलकर उसने छानबीन की है। अन्त में उस वैज्ञानिक शोध-प्रबन्ध से यह सार निकाला है कि पूँजी की सत्ता शोषण का साधन है। अर्थात् कुछ को अमीर और श्रमिक को गरीब बनाने की यह युक्ति है।

मार्क्स की राज्यार्थ-प्रमुखता

मार्क्स की इस शोध पर पहले बौद्धिक और फिर एक राजनीतिक आन्दोलन खड़ा हुआ। उस शक्ति से दुनिया के काफी हिस्से की व्यवस्था में आज जबर्दस्त उलट-पलट हो गयी है। पूँजी का स्थान पहलेवाला नहीं रहा है। लेकिन उस कारण उद्योगों में कमी नहीं आयी बल्कि बढ़वारी हुई है। रूस देश में मार्क्स के सिद्धान्त को आदर्श बनाकर जो राज्यक्रान्ति हुई, उसने पचीस-तीस साल में उद्योग की दृष्टि से बेहद पिछड़े देश रूस को दुनिया का सबसे शक्तिशाली देश बना दिया है। इस विकास में हिसाब की जो प्रणाली काम में लायी गयी उसमें ज्वाइंट स्टाक कम्पनी के लिए अवकाश नहीं था। उसमें पूँजी कमाने वाले अलग-अलग लोग साझी बनने के लिए नहीं थे। बल्कि एक केन्द्रीय शासन था और वही सत्ताधिकारी था। उस शासन के अधीन विकास-योजनाएँ चलीं और तदनुकूल संस्थाएँ पनपीं। मुझे लगता है कि उस हिसाब में राज्यार्थ जो प्रमुख हो बैठा सो राजनीतिक शक्ति के साथ में जैसे एक महा-समस्या का उदय हो गया। शक्ति-सन्तुलन का झगड़ा खड़ा हुआ और यह नये प्रकार की अर्थ-व्यवस्था दुनिया के लिए चुनौती का विषय बन गयी। राज्यार्थ यदि प्रमुख बनता है, तो शान्ति तभी हो सकती जब या तो दुनिया एक राज्य हो, या राज्यार्थ पुरुषार्थ और परमार्थ का ही नाम हो। मैं समझता हूँ कि राष्ट्र और राज्य एकाएक समाप्त नहीं हो सकते लेकिन समर्पित अवश्य हो सकते हैं। विश्व के हित में समर्पित राष्ट्र और राज्य का रूप क्या होगा, इसकी कल्पना को उत्तरोत्तर जनमानस में लाना है।

पारमार्थिक राज्य का स्वरूप

भारत देश में महात्मा गांधी की राजनीति और अर्थनीति आयी उसी लक्ष्य की ओर

चल रही थी। मार्क्स मे से सर्व सत्ताधिकारी राज्य को जन्म मिला। गाधीजी ऐसे राज्य की कल्पना कर सकते थे, शायद अपने ढग से उसका निर्माण भी कर रहे थे, जिसकी सत्ता नैतिक हो, साम्पत्तिक हो ही नहीं। उसका उदाहरण अभी इतिहास मे कोई मिलता नही है। इस्लाम के पैगम्बर हजरत मुहम्मद की खिलाफत शायद वैसी ही सस्था थी और उसकी अयनीति का अध्ययन होना चाहिए। वैसे राज्य और राष्ट्र का कोई अलग अपना अर्थ या स्वार्थ नही होगा, परमार्थ मे ही उसे अपने लिए पुरुषार्थ का अवकाश दीखेगा। तब अर्थ-प्रणालियो का किस प्रकार का क्या रूप होगा, यह अभी स्पष्ट नहीं है। लेकिन इतना निश्चित है कि श्रम की कीमत पर पुष्ट होनेवाला धन और प्रजा की कीमत पर शक्ति पानेवाला राज्य वहाँ नहीं होगा। सिक्का श्रम से जुडा होगा और राज्य उसी तरह प्रजा से जुडा होगा। इनके बीच गणित और व्यवस्था की जो प्रणालियाँ होगी, उनमे प्रवाह श्रम की ओर से सिक्के की ओर और प्रजा की ओर से राजा की ओर बहेगा। आज ऊचाई पर धन है और राजा है। श्रम और प्रजा की ओर जैसे वहाँ से कृपा-पूर्वक जीवन बहकर आता है। तब जीवन का स्रोत श्रमिक जन या प्रजाजन मे होगा और उसकी भूमिका ऊँची होगी। उस भूमिका से, व्यवस्था और गणित की प्रणालियो द्वारा, वह जीवन धनिक-जन और राजन्य-जन को जीवित रखेगा। स्पष्ट है कि तब यह प्रभु-वर्ग न होगा, सेवक-वर्ग होगा। लेकिन समाज अहिंसक होने के कारण यह स्वेच्छा से सेवक-वर्ग होगा, आत्मिक दृष्टि से उन्नत होने के कारण कम में सुखी और सन्तुष्ट रहना जानेगा। तृष्णा-वासना उसमें कम होगी, इससे सेवाभाव मे ही उसे आत्मतुष्टि जान पड़ेगी। यह कुछ स्वप्न जैसा आज तो लग सकता है, लेकिन स्वप्न में भी यदि उस समाज के आदर्श को हम साथ रखना चाहते हैं, जो शासनमुक्त और श्रेणी-मुक्त (स्टेटलेस एण्ड क्लासलेस) होगा, तो उसका उपाय पूँजीवादी अर्थ और राज्यवादी राज्य के पारमार्थीकरण के सिवा दूसरा नही है।

पारमार्थीकरण

उस पारमार्थीकरण के हिसाब का आरम्भ यह होगा कि मनुष्य की प्राथमिक भोग-भरण-पोषण की आवश्यकताएँ बाजार-निर्भर नहीं होगी। वे बेंच-खरीद के सिद्धान्त से स्वतन्त्र होगी। वह प्राथमिक आपसीपन, अर्थात् ग्राम-श्रम, मे से अनायास पूरी होगी। अर्थात् भूखा रखने न रखने, कामिन्दा रखने न रखने की शक्ति आदमी से कहीं भी दूर न रहेगी, वह हर एक के पास आ जायगी। फिर इस मूल इकाई, अर्थात् सृजनशील मानव की उदारता से जीवन-साधन उन लोगों के पास भी पहुँचेंगे, जो शारीरिक दृष्टि से किंचित् असमर्थ हैं। जैसे शिशु, वृद्ध, माताएँ, कवि,

कलाकार, नेता, दार्शनिक, बौद्धिक विद्वान् आदि। व्यवस्था का उचित स्वरूप ऐसा बन सकता है जो स्वार्थ-प्रेरित से अधिक परार्थ प्रेरित हो। आज भी लोकमत से *नहीं तो कानून-कायदे के जोर से स्वार्थ को घटाकर आवश्यक परार्थ का प्रवेश यथोचित* की प्रणालियों से कराया जाता है। अर्थात् मांग-पूर्ति केन्द्रस्थ सिद्धान्त को यथोचित और सुसंस्कृत करना आवश्यक होता है। सांस्कृतिक चेतना समाज-व्याप्त होगी तो हिसाब शुद्ध होगा और किसका श्रमफल को छीन कर नहीं उठा ले जा सकेगा। बल्कि श्रमिक की उदारता और स्नेह के माध्यम के रूप में उस फल को दूर-दूर तक पहुँचाने में सहायक होगा। महात्मा गांधी ने अपने रचनात्मक कार्यों में इसी मानवीय हिसाब को दाखिल किया था और खादी के क्षेत्र में करोड़ों का व्यापार भी चलाकर दिखाया था। व्यवस्था और पूँजी-लाभ के मद्दे कम-से-कम खर्च लागत पर पड़े और श्रमिक कतिन को जीवन-निर्वाह के लिए यथावश्यक मिलता रहे, यह उनकी कोशिश थी।
इसी आधार पर आगे बैंक आदि की आर्थिक प्रणालियों का विकास होता जा सकता है, *जिससे राष्ट्र-राज्य परस्पर परिपूरक बनें प्रतिस्पर्धी होने से बच जायें।*

सम्पत्ति का रूपान्तर

११९. आपके उत्तर में अर्थनीति के आधार सम्पत्ति को किस दिशा में और कैसे आज परिवर्तित कर देना चाहेंगे, यह बात नहीं आ पायी। इस समस्या पर तनिक प्रकाश डालें।

स्वकेन्द्रित सम्पत्ति

—आज के विनिमय-सिद्धान्त के पीछे जो सम्पत्ति काम करता है, पहले तो वह अर्थमूलक और धन-केन्द्रित है और दूसरे स्वार्थमूलक और स्वकेन्द्रित। देने के ऊपर उसमें लेने का भाव रहता है जिसके हाथ में हिसाब है, वह अपने लाभ में ही सदा सम्पत्ति को जमाता और फैलाता है।

चार प्रकार के पुरुष

इस लाभवादी विनिमय-वृत्ति के व्यक्ति को वैश्य कहते हैं। कुछ दूसरी वृत्तियों के भी पुरुष होते हैं, जिन्हें वैश्य नहीं कहा जा सकता। उनको क्षत्रिय ब्राह्मण कहना होता है। क्षत्रिय का मूल्य लाभ नहीं होता न उस प्रकार के सम्पत्ति में उसकी गति होती है। वह वीरत्व चाहता है और आन-बान का आदमी होता है। लाभ के बह मान को अधिक महत्त्व देता है। फिर ब्राह्मण प्रकृति का पुरुष अपने प्रति लाभ

का हक जब सबका होगा और वैश्य अपने हिसाब में उन सबके हक का पूरा ध्यान रखेगा तब वैश्य का बही-खाता सही समझा जायगा। सुनते हैं पहले भारत में महाजन की बही खुली थी। दूसरे के हक की पाई-पाई वहाँ बही खाते में जमा मिलती थी और महाजन उसको चुकाकर ही चैन पाता था। हिसाब की यह स्वच्छता समाज के लिए बड़ी सहायक होती थी और महाजन के भरोसे इतर सब वर्ग के लोग अपना-अपना काम निश्चिन्ततापूर्वक करते चले जाते थे। हिसाब में पड़ने और जानने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती थी। मानो वैश्य उनके आर्थिक हित की सुरक्षा का स्वयं दायी होता था। तब निश्चय ही लोगों में स्वत्व-भाव इतना चढ़ा हुआ नहीं रहता था और समत्व भाव की हानि नहीं कर पाता था।

स्वार्थी गणित : समाज का राजरोग

हिसाब में दुकानदार ग्राहक के हित का ध्यान रखे यह कोई अनहोनी बात नहीं है। आज की व्यापार-नीति इस सिद्धान्त को पहचानती जाती है। इसी पहचान को यदि गहरी सचाई में उतारेंगे तो जान पड़ेगा कि हिसाब की ये प्रणालियाँ झूठी और अदूरदर्शी हैं, स्वयं हिसाबी का उनमें लाभ नहीं है, जो दूसरे की हानि पर लाभ करने का लालच देती हैं। इस प्रकार देखें तो अर्थनीति धर्म-नीति से दूर नहीं पड़ती है और धर्म-व्यापार जीवन-व्यापार को सम्पन्न और समृद्ध कर सकता है। हिसाब की तो आवश्यकता होगी ही। उसके बिना व्यक्तित्व की स्वाधीनता और स्वावलम्बिता ही खतरे में पड़ जायगी। तब केवल राग-द्वेष बीच में रहेंगे और ममता बन्धुता न्यायोचितता आदि के लिए अवकाश नहीं रहेगा। हिसाब से व्यवस्था आती है और सबकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है। लेकिन हिसाबी बुद्धि स्वार्थ से चले तो वही हिसाब की प्रणालियाँ शोषण की नालियाँ बन जाती हैं और हिसाब के सूत्रों से जैसे एक वर्ग दूसरे के खून से मोटा होता जा सकता है। अन्यथा ये ही हिसाब के सूत्र हैं, जिनसे सारे समाज के शरीर में समान और सन्तुलित रक्त संचार होता रह सकता और शरीर के सब अंगोपांगों को स्वस्थ और सक्षम बनाये रख सकता है। शरीर के उस रक्त-प्रवाह को आप क्या कहियेगा जिससे अंगोपांग तो सूखे रहते हैं और स्वयं हृदय को काफी रक्त पहुँच नहीं पाता है। यह हिसाब जो यह करता है अंधा है और मानना होगा कि आज का अर्थगणित उस राजरोग से ग्रस्त है।

११९- क्या आप कुछ प्रकाश डाल सकते हैं कि आपकी इस पारमार्थिक अर्थनीति में वर्तमान आर्थिक संस्थाओं को, उदाहरणार्थ बैंक, स्टाक-एक्सचेंज, बीमा, सम्मिलित कम्पनियों और आयात-निर्यात आदि को क्या क्या स्वरूप प्राप्त होगा?

वित्तीय संस्थाओं का संस्कार

—आज तो मुझे वह नया रूप पूरा स्पष्ट नहीं हो पाता है। व्यवस्था राष्ट्र-राज्य की धारणा पर चल रही है और राष्ट्रों का सम्बन्ध परस्पर स्पर्धामूलक है। मूल मे प्रतिस्पर्धा है, फिर भी सहयोग तो अनिवार्य होना ही है। इन दोनों आवश्यकताओं के अधीन हमारी वित्त-संस्थाओं का निर्माण और विकास हुआ है। फिर देश की आन्तरिक विवशता और अवस्था का भी अर्थनीति पर प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र जब परस्पर परिपूरक होंगे, उनकी सीमाएँ सुविधा के लिए होंगी, निरोध-प्रतिरोध के लिए नहीं रह जायेंगी, तब करेंसी का, स्टाक एक्सचेंज का, बैंकिंग आदि का स्वरूप और उन्नत तो अवश्य होगा। पर परिवर्तन की रेखाओं को निर्दिष्ट करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैं उस बारे मे कुछ अतिरिक्त भाव से अनाड़ी हूँ। पर अब भी वर्ल्ड-बैंक जैसी संस्थाएँ काम कर रही हैं। निश्चय ही वे पूरे अर्थ मे विश्व-बैंक नहीं हैं। लेकिन इतना तो है ही कि यह संस्था राष्ट्र-सीमित नहीं है। राष्ट्रों के सहयोग से बनी है और उनके परस्पर कल्याण की भाषा में सोचती है। उसके पीछे अमुक राष्ट्र-हितों के सूत्र यदि हों, तो धीरे-धीरे माना जा सकता है कि वह चेतना कम होगी और जो हित अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वजनीन है, उनका आधिपत्य और ध्यान बढ़ता जायगा। आज की अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्र-हितों के समझौतों पर टिकी है। तब मानो हितों के समझौते से आगे हितों की एकता अभिप्रेत होगी, राजनीति की आवश्यकता कम हो जायगी, सकुटुम्बता का भाव अधिक होगा। इस आवश्यकता और अनिवार्यता के नीचे वित्तीय प्रणालियों और संस्थाओं को जो संस्कार प्राप्त होगा उसकी स्वरूप-रेखा यदि मैं आज न दे सकूँ, तो यह कोई चिन्ता की बात नहीं है। सच यह है कि यह स्वरूप देने का काम तब तक कुछ अयथार्थ ही होगा, जब तक उसको यथार्थ करने का अवसर ही नहीं आ पहुँचता है। मेरा विश्वास है कि वह अवसर शीघ्रता से पास आ रहा है।

विदेशी सहायता

११७ द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विदेशी सहायता अविकसित देशों की अर्थव्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग बन रही है। यह अरबों की विदेशी सहायता क्या आपको पारमार्थिक अर्थनीति की ओर एक कदम नहीं है ?

हम इतिहास के साधन

—बे-जाने-बूझे, हाँ, जान-बूझकर नहीं। बे-जाने-बूझे का अर्थ यह कि मानव-जाति का विकास अनिवार्य रूप से हमें परस्परता के विस्तार की ओर ले जा रहा है। यह

हो नहीं सकता कि समय के साथ और विज्ञान की उन्नति के साथ हम एक-दूसरे में अधिक दिलचस्पी न लें और एक-दूसरे के अधिक काम न आवें। अमरीका का ही उदाहरण लीजिये। यह कहना मुश्किल है कि वह स्वार्थ से मुक्त है, लेकिन पहले वह मुनरो डाक्ट्रिन के अधीन था। तब उन्नति वहाँ उसी नीति के आधार पर हुई और अमरीका शक्ति-सम्पन्न होता चला गया। संकीर्ण स्वार्थ की दृष्टि से आज भी तर्क हो सकता है कि क्या वह मूल सिद्धान्त-नीति ही उसके लिए हितकर न होती? लेकिन बुद्धि तर्क को कितने भी स्वार्थ के पक्ष में रखें बढ़ते हुए ऐतिहासिक विकास का तर्क अमोघतर सिद्ध होता है। इतिहास हमसे वह करा लेता है जिसके लायक हम लायक नहीं होते हैं। यानी छोटे मन से ही बड़ी बातें हमसे हो जाया करती हैं और हम इस तरह इतिहास कहो या ईश्वर कहो, उसके हाथ के मात्र साधन सिद्ध हुआ करते हैं।

दाता-आदाता सम्बन्ध

बुद्धिमत्ता यह है कि जो ऐतिहासिक साम्य हमारे द्वारा अनिवार्यतया सिद्ध हो रहा है, साधन के रूप में हम स्वेच्छा से उसके अनुकूल बनें। अन्यथा भी गति होती है लेकिन वह उतनी हमारे द्वारा नहीं होती जितनी हमारे बावजूद होती है। अच्छा यह है कि वह हमें अपने बावजूद न लगे बल्कि विचार-विवेकपूर्वक हम उसके सहयोगी बने चलें। आज की परस्पर की ओर बढ़नेवाली राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सहायताएँ शुभ हैं। वे शुभतर हो सकती हैं, अगर पीछे उनके हार्दिक भाव ही हो राजनीतिक हिसाब न हो। यह कहना गलत होगा कि इन सहायताओं के पीछे आज वे राजनीतिक अपेक्षा-आकांक्षाएँ एकदम नहीं हैं। उनके कारण वातावरण में तनाव रहता है। दाता में मान और आदाता में लोभ का विचार रहता है। इस आधार पर बने सम्बन्ध सम नहीं रहते विषम हो जाते हैं और आगे जाकर कानूनी और कूटनीतिक दाँव-पेंचों को जन्म देते हैं।

मदद का शासन : कारण

परस्परता सब जगह मदद के रूप में है। व्यवहार की दृष्टि से यह उचित है। लेकिन राजनीतिक अपेक्षा मन में छुपी हो तो यह साहूकार-कर्जदार का सम्बन्ध उपकार को अपकार बना दे सकता है। अर्थ-व्यापार में यह बहुधा अनुभव आता है कि पैसे की साख उदारता बनकर फैलती और अपना जाल डालती है। वह मीठी होती है उदार नहीं होती, और व्यक्ति की आवश्यकता के प्रति उदार बनकर आती है। हिसाब का व्यवहार स्वाभाविक भी हो सकता है लेकिन उस हिसाब के पीछे इरादा

सहायता न होकर निजीय या राष्ट्रीय विस्तार-साधन है, तो वह हिसाब भी फंदा बन जाता है और सारी बात उससे कस जाती है। देहाती कहावत है 'औरत का खसम मर्द, मर्द का खसम कर्ज।' यह कर्ज सारे पौरुष को मार देता है और बड़े-बड़े इसकी मार के नीचे सारी चौकड़ी भूल बैठे हैं।

इन ऋणो का भविष्य

ऋण और सहायता के य अनुबन्ध यदि राजनीतिक गठबन्धन न पैदा करें, तो बहुत ही शुभ बात है। लेकिन इतनी शुभ है कि उसी कारण भरोसा नहीं होता। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय ऋण एक ऐसा भार है कि एक राष्ट्र क्रान्तिपूर्वक अपनी व्यवस्था बदल डाले, तो उसके जुए को अपनी गर्दन से उतार फेंक सकता है। युद्ध से पूर्व और युद्ध के अथ अमरीका ने रूस को ऋणरूप जो की सहायता दी थी, तो उसका क्या हुआ? शायद वह लौटायी नही गयी है। कोई अन्तर्राष्ट्रीय साधन ऐसा हमारे पास नहीं है कि जो ऐसे कर्ज को अदायगी का जिम्मा उठा सके। राष्ट्र सावरेन है और यदि उसकी नयी सरकार तय कर दे कि हम पुरानी सरकार के कृत्यो और ऋणो का भार नही स्वीकार करते हैं, तो कोई उपाय बाध्यता का नहीं है। राष्ट्र इनकार करके युद्ध के लिए ठनकर उतारू हो सकता है। बहर हाल युद्ध पिछले इतिहास को मिटाकर नये परिच्छेद का आरम्भ है और कहा नहीं जा सकता कि उन भारी ऋणों का क्या भविष्य है, जो सहायता के रूप मे इधर-उधर जा रहे हैं। भारत की बात कही जाय, तो उसको सारे ऋण पूरे तौर पर चुकाने होंगे। और मुझे नही लगता कि उस आधार पर उठायी गयी एक-दो-तीन नम्बर की पचवर्षिकी योजनाएँ बुद्धिमानी की साबित होगी। शायद हो कि वे अधीरता की सिद्ध हों और आगे आनेवाली सरकार को क्षति-पूर्ति मे लगना पडे।

धनाधारित उद्योगवाद का पुनर्निरीक्षण

मैं नही कह सकता कि वह हिसाब, जो औद्योगिक उत्पादन की अतिशयता के कारण विस्तार पाता और उसके लिए सहायता का हाथ आगे कर दुनियाभर की तरफ बढता है, स्वस्थ हिसाब है। वहा उत्पादन आवश्यकता से टूट चुका होता है और निर्यात और लाभ के नाते बडाबड और अनवरत बढाया जाता है। वह आदमी के काबू मे नही रहता और खुद आदमी को बेकाबू कर देता है। औद्योगिक उत्पादन और खपत के क्षेत्र मे वह समस्या आज विश्व के सामने खडी दिखाई दे रही है। कई देशो की अर्थ-व्यवस्था उसके परिणाम मे डगमगा आयी है और कुछ देश बुरी तरह उससे जूझ रहे हैं। कई करेन्सियाँ डाँवाडोल हैं और तेजी से उन सिक्को का

अवमूल्यन हो रहा है। इन लक्षणों से कहा जा सकता है कि जल्दी ही अमर्यादित उद्योगवाद के पुनर्निरीक्षण की आवश्यकता आ उपस्थित होगी और विश्व के सन्दर्भ में नयी अर्थनीति का विचार अनिवार्य हो जायगा।

अर्थ-प्रधान उद्योगवाद उस सभ्यता का परिणाम या उद्गम है जो अर्थ-विनियोग को आत्मशून्य बनाकर नहीं देख सकती और इसलिए जिसके वास्ते यह असम्भव है कि वह शिल्प और यान्त्रिकी सिखलाने के नाम पर दूसरे को ढेर करने की न सोचे। उत्पादन का यह नशा विकसित समझे जानेवाले और अविकसित समझे जानेवाले दोनों प्रकार के ही देशों में हो सकता है। इस नशे के नीचे होनेवाले वित्तीय हिसाब किताब को मैं खतरे से खाली नहीं मानता हूँ। भारी यन्त्रोद्योगों से पैदा हुए माल के एकत्व को लेकर नशा हो सकता है, या अपने अभावग्रस्त देश को धन-दौलत से मालामाल करने की बेसब्री में भी यह नशा पैदा कर लिया जा सकता है। लेकिन उस चक्कर में से शान्ति की शक्तियाँ नहीं बल्कि विग्रह और दुर्भाव की सम्भावनाएँ प्रतिफलित होती दीखती हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपयोग

११८. कर्ज करने के बदले क्यों न एक देश अपने नागरिकों के वैयक्तिक धन-साधनों को किसी भी प्रकार प्राप्त करे और देश को उन्नति की ओर गति देने में उनका उपयोग करे? राजाओं, जमींदारों और धनिकों के खजानों में पड़ने-वाली तथाकथित व्यक्तिगत सम्पत्ति क्यों न राष्ट्र के हित में लगे?

क्या जोर-जबरदस्ती जायज है?

—क्यों न सब धन जन राष्ट्र के हित में लगे? सचमुच इस मामले में कहीं कुछ जोर-जबरदस्ती को भी जायज मानकर काम किया गया है। इस पद्धति से परिणाम भी दिखलाया है। रूस चीन की तेज तरक्की में यह तरकीब बरती गयी है। सहसा व्यवहार-दृष्टि से इसके विरोध में कुछ कहा नहीं जा सकता है। कहना होगा कि अगर सचमुच उन्नति की ऐसी अधीरता है, तो यही कर गुजरना चाहिए। राज्य जो समाज का ही वैधानिक रूप है, क्यों न बिखरे हुए सब धन-जन को अपना के सङ्गठित कर डाले और उस आधार पर तेजी से अपना निर्माण शुरू कर दे? जो थोड़े-बहुत असहमत हों, बाधक हों, विघ्न बनें, उनको रास्ते में से साफ कर दिया जाय। आखिर प्रगति और इतिहास कब इन छोटे-मोटे मन्तव्यों पर रुकते हैं? चलता जाता है तो क्या हम-तुम का विचार करके वह रुक जाय? क्या इतिहास अपनी गति समेट ले सिर्फ इस ख्याल से कि कोई जीव न मरे? काल सबको अपने

शयता न होकर निजीय या राष्ट्रीय विस्तार-भावना है, तो वह हिसाब भी फंदा बन जाता है और सारी जान उसमें फँस जाती है। देहाती कहावत है 'औरत का खसम मर्द, मरद का खसम कर्ज।' यह कर्ज मार पौरुष को मार देता है और बड़े-बड़े इसकी मार के नीचे सारी चौकड़ी भूल बैठे हैं।

इन ऋणो का भविष्य

ऋण और सहायता के ये अनुबन्ध यदि राजनीतिक गठबन्धन न पैदा करें, तो बहुत ही शुभ बात है। लेकिन इतनी शुभ है कि उसी कारण भरोसा नहीं होता। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय ऋण एक ऐसा भार है कि एक राष्ट्र क्रान्तिपूर्वक अपनी व्यवस्था बदल डाले, तो उसके जुए को अपनी गर्दन से उतार फेंक सकता है। युद्ध मे पूर्व और युद्ध के अर्थ अमरीका ने रूस को ऋणरूप वाली सहायता दी थी, तो उसका क्या हुआ? शायद वह लौटायी नही गयी है। कोई अन्तर्राष्ट्रीय साधन ऐसा हमारे पास नहीं है कि जो ऐसे कर्ज की अदायगी का जिम्मा उठा सके। राष्ट्र सावरेन है और यदि उसकी नयी सरकार तय कर दे कि हम पुरानी सरकार के कृत्यों और ऋणों का भार नही स्वीकार करते हैं, तो कोई उपाय बाध्यता का नहीं है। राष्ट्र इनकार करके युद्ध के लिए ठनकर उतारू हो सकता है। बहरहाल युद्ध पिछले इतिहास को मिटाकर नये परिच्छेद का आरम्भ है और कहा नही जा सकता कि उन भारी ऋणों का क्या भविष्य है, जो सहायता के रूप मे इधर-उधर जा रहे हैं। भारत की बात कही जाय, तो उसको सारे ऋण पूरे तौर पर चुकाने होंगे। और मुझे नहीं लगता कि उस आधार पर उठायी गयी एक-दो-तीन नम्बर की पचवार्षिकी योजनाएँ बुद्धिमानी की साबित होंगी। शायद हो कि वे अधीरता की सिद्ध हों और आगे आनेवाली सरकार को क्षति-पूर्ति मे लगना पड़े।

धनाधारित उद्योगवाद का पुर्नानिरीक्षण

मैं नही कह सकता कि वह हिसाब, जो औद्योगिक उत्पादन की अतिशयता के कारण विस्तार पाता और उसके लिए सहायता का हाथ आगे कर दुनियाभर की तरफ बढता है, स्वस्थ हिसाब है। वहाँ उत्पादन आवश्यकता से टूट चुका होता है और निर्यात और लाभ के नाते धड़ाधड़ और अनवरत बढ़ाया जाता है। वह आदमी के काबू मे नही रहता और खुद आदमी को बेकाबू कर देता है। औद्योगिक उत्पादन और खपत के क्षेत्र मे वह समस्या आज विश्व के सामने खड़ी दिखाई दे रही है। कई देशो की अर्थ-व्यवस्था उसके परिणाम मे डगमगा आयी है और कुछ देश बुरी तरह उससे जूझ रहे हैं। कई करेन्सियाँ डाँवाडोल हैं और तेजी से उन सिक्को का

अवमूल्यन हो रहा है। इन अनुभवों से कहा जा सकता है कि जल्दी ही पाश्चात्य उद्योगवाद के पुनर्निरीक्षण की आवश्यकता आ उपस्थित होगी और विश्व के सन्दर्भ में नयी अर्थनीति का विचार अनिवार्य हो जायगा।

अर्थ-प्रधान उद्योगवाद उस सभ्यता का परिणाम या उद्गम है जो अर्थ विनियोग को लाभशून्य बनाकर नहीं देख सकती और इसलिए जिसके वास्ते यह असम्भव है कि वह विश्व और शान्ति की रखवाली के नाम पर दूसरे को जेर करने की न सोचे। उत्पादन का यह नशा विकसित समझे जानेवाले और अविकसित समझे जानेवाले दोनों प्रकार के ही देशों में हो सकता है। इस नशे के नीचे होनेवाले वित्तीय हिसाब-किताब को मैं खतरे से खाली नहीं मानता हूँ। भारी यन्त्रोद्योगों से पैदा हुए माल के इफरात को लेकर नशा हो सकता है, या अपने अभावग्रस्त देश को धन-दौलत से मालामाल करने की बेसब्री में भी वह नशा पैदा कर लिया जा सकता है। लेकिन उस चक्कर में से शान्ति की शक्तियाँ नहीं बल्कि विग्रह और दुर्भाग्य की सम्भावनाएँ प्रतिफलित होती दीखती हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपयोग

११८. कर्ज करने के बजाय क्यों न एक देश अपने नागरिकों के वैयक्तिक धन-साधनों को किसी भी प्रकार प्राप्त करे और देश को उन्नति की ओर गति देने में उनका उपयोग करे? राजाओं, जमींदारों और धनिकों के तहखानों में सड़नेवाली तथाकथित व्यक्तिगत सम्पत्ति क्यों न राष्ट्र के हित में लगे?

क्या जोर-जबरदस्ती जायज है?

—क्यों न सब धन-धान राष्ट्र के हित में लगे? सचमुच इस भावना से कहीं कुछ जोर-जबरदस्ती को भी जायज मानकर काम किया गया है। इस पद्धति ने परिणाम भी दिखलाया है। रूस चीन की तेज तरक्की में यह तरकीब बरती गयी है। सहसा चलताऊ दृष्टि से इसके विरोध में कुछ कहा नहीं जा सकता है। कहना होगा कि अगर सचमुच उन्नति की वैसी अभीप्सा है, तो यही कर गुजरना चाहिए। राज्य जो समाज का ही वैधानिक रूप है, क्यों न बिखरे हुए इस धन-धान को अपने में एकत्रित कर डाले और उस आधार पर तेजी से अपना निर्माण शुरू कर दे? जो थोड़े-बहुत असहमत हों बाधक ही सिद्ध बनें उनको रास्ते में से साफ कर दिया जाय। आखिर प्रगति और इतिहास क्या इन छोटे-मोटे मन्तव्यों पर रुकते हैं? अवसर आता है, तो क्या दुख-सुख का विचार करके वह रुक जाय? क्या इतिहास अपनी गति समेट ले सिर्फ इस ख्याल से कि कोई जीव न मरे? काल सबको अपने

अपने समय पर खाता हुआ ही तो आगे चलता है। अगर आदमी न मरे, अमर बन जाय, तो बेचारा काल खुराक के अभाव में भूखा रहकर खुद ही मर जाय। अहिंसा का चाहना यही नही तो और क्या है। लेकिन स्पष्ट है कि यह सब खामखयाली है और व्यग्रता है।

सीमा-रेखा पर युद्ध की स्थिति

मैं यदि ऊपर के तर्क से सहमत नहीं हो पाता हूँ, तो किसी अहिंसा नाम के सिद्धान्त के कारण ऐसा नहीं है, न किसी डिमोक्रेसी का प्रेम ही बाधक है। बल्कि यह कि उस पद्धति से उधर एक समस्या हल होती दीखती है, तो उससे दूसरी विकटतर समस्या बन आती है। यह बात शायद पहले भी कही गयी है। ऐसे उत्पन्न होने-वाली आन्तरिक समस्या को छोड भी दें, पर सीमारेखा पर जो युद्ध की परिस्थिति बनी रहती है, उसको ओझल नहीं किया जा सकता है। जोर-जबरदस्ती से बनायी गयी स्थिति को जोर-जबरदस्ती से ही परिस्थिति के बीच टिकाये रखा जा सकता है, दूसरा उपाय सम्भव नही है। व्यवहार इस अनिवार्यता से छूट नहीं सकता। सिद्धान्त का यह बिलकुल सवाल नही है, परीक्षण मे आ रहे और लगातार तैयार हो रहे अणु और हाईड्रोजन बमो का सवाल है। सब शान्ति-प्रयत्नो के बावजूद क्यो सन्धि नही हो पाती और आणविक अस्त्र-निर्माण क्यो रुक नहीं पाता ? इस अमोघ विवशता के गर्भ मे जो तर्क पडा है, वहाँ तक पहुँचने की आवश्यकता है। वह जोर-जबरदस्ती का तर्क है और यह कि उससे शुरू करके फिर उसका अन्त नही लाया जा सकता।

कानून और जन-मन

लेकिन देश एक-मन और एक-प्रण होकर आत्मनिर्माण मे जुट जाय, यह आशा जोर-जबरदस्ती से ही घटना में आ सकती है सो क्यो ? गाधी के जमाने मे क्या ऐसा नही लग आया था कि सारा भारत देश एकात्म है और स्वतन्त्रता पर बलि होने के लिए बच्चा-बच्चा आतुर है ? लाम के लिए रगरूट-भरती को कानून से जरूरी बनाया जा सकता है, कान्सक्रिप्शन आम हो सकता है। लेकिन ऐन लडाई के मौके पर जो चीज काम आयेगी, वह सिपाही की स्वत स्फूर्ति होगी, या दूसरे की जबरदस्ती होगी ? अर्थात् जबरदस्ती धन को इकट्ठा कर सकती है, तन को भी शायद जमा कर ले, पर उसके पीछे जन-मन नहीं होगा, तो कुछ भी काम नहीं हो सकेगा, यह निश्चय है। आखिर जिसको क्रान्ति कहते हैं, वह क्या है ? राज्य का कानून एक होता है, प्रजा का मन सर्वथा दूसरा होता है। तो इनके विग्रह में से ही तो विद्रोह और

दिखाई जाते हैं। अतः आवश्यक है कि राज्य को अपार सम्पूर्ण देशवासियों का सहयोग और उत्सर्ग प्राप्त होगा तो जबरदस्ती के मार्ग से नहीं स्वयं बलिदान का उदाहरण और मिसाल पेश करने के बल पर होगा। जिम्मेदारी के नाम पर शासन-पदों पर पहुँचकर लोग प्रभुता में भूलेंगे सामान्य जन से टूटकर उनकी बाहें मोटी होंगी तो जन-मानस आत्म-निर्माण में तत्पर नहीं होगा बल्कि सरकार की अमलदारी में तरह-तरह के करों द्वारा जमा अनन्त कोषराशि को लूटने और लुटाने में मग्न रहेगा। निश्चय ही तब प्रजाजन और राजकीय कर्मचारीगण सभी आत्मदान से हटते चलेंगे सब अपने-अपने लिए छीनने और जुटाने में प्रवृत्त होंगे और भ्रष्टाचार का बोलबाला होगा।

मूल्य लोक-मत

जो स्वर्ण और रत्न के खजाने तहखानों में सड़ रहे हैं वे अपना धन नहीं समझेंगे बल्कि और दबने-छुपने की कोशिश करेंगे जब तक उनके स्वामियों को अपनी सुरक्षा की चिन्ता सतावेगी। कानून से उस चिन्ता को बढ़ाया ही जा सकता है। लोकमत में पूरा बल हो लोकमूल्य में से उस बेकाम सोने-हीरे का मूल्य एकदम गिर जाय और उनके स्वामियों में सर्वथा मुक्तभाव हो तो जरा भी अचरज नहीं है कि वे तहखाने अपना धन उगलने लग जायें। जिसने महात्मा गांधी को देखा और जाना है, वह इस सम्भावना को असम्भव नहीं मान सकता है। हम अपनी ओर से गांधी को और उस प्रकार के अचरज को असम्भव कर देना चाहेंगे तो बात दूसरी है। नेहरू चाहें तो स्तालिन की राह चल सकते हैं, लेकिन सोच में रह जाना पड़ता है कि क्या वे गांधी की राह चलने की सोचेंगे?

अपने समय पर खाता हुआ ही तो आगे चलता है। अगर आदमी न मरे, अमर बन जाय, तो बेचारा काल खुराक के अभाव मे भूखा रहकर खुद ही मर जाय। अहिंसा का चाहना यही नही तो और क्या है। लेकिन स्पष्ट है कि यह सब ख़ामख़याली है और व्यग्रता है।

सीमा-रेखा पर युद्ध की स्थिति

मैं यदि ऊपर के तर्क से सहमत नहीं हो पाता हूँ, तो किसी अहिंसा नाम के सिद्धान्त के कारण ऐसा नही है, न किसी डिमोक्रेसी का प्रेम ही बाधक है। बल्कि यह कि उस पद्धति से उधर एक समस्या हल होती दीखती है, तो उससे दूसरी विकटतर समस्या बन आती है। यह बात शायद पहले भी कही गयी है। ऐसे उत्पन्न होने-वाली आन्तरिक समस्या को छोड भी दें, पर सीमारेखा पर जो युद्ध की परिस्थिति बनी रहती है, उसको ओझल नही किया जा सकता है। जोर-जबरदस्ती से बनायी गयी स्थिति को जोर-जबरदस्ती से ही परिस्थिति के बीच टिकाये रखा जा सकता है, दूसरा उपाय सम्भव नही है। व्यवहार इस अनिवार्यता से छूट नहीं सकता। सिद्धान्त का यह बिलकुल सवाल नहीं है, परीक्षण मे आ रहे और लगातार तैयार हो रहे अणु और हाईड्रोजन बमो का सवाल है। सब शान्ति-प्रयत्नो के बावजूद क्यों सन्धि नही हो पाती और आणविक अस्त्र-निर्माण क्यो रुक नहीं पाता ? इस अमोघ विवशता के गर्भ में जो तर्क पडा है, वहाँ तक पहुँचने की आवश्यकता है। वह जोर-जबरदस्ती का तर्क है और यह कि उससे शुरू करके फिर उसका अन्त नही लाया जा सकता।

कानून और जन-मन

लेकिन देश एक-मन और एक-प्रण होकर आत्मनिर्माण में जुट जाय, यह आशा जोर-जबरदस्ती से ही घटना में आ सकती है सो क्यो ? गाधी के जमाने मे क्या ऐसा नही लग आया था कि सारा भारत देश एकात्म है और स्वतन्त्रता पर बलि होने के लिए बच्चा-बच्चा आतुर है ? लाम के लिए रगरूट-भरती को कानून से जरूरी बनाया जा सकता है, कान्सक्रिप्शन आम हो सकता है। लेकिन ऐन लड़ाई के मौके पर जो चीज काम आयेगी, वह सिपाही की स्वत स्फूर्ति होगी, या दूसरे की जबरदस्ती होगी ? अर्थात् जबरदस्ती धन को इकट्ठा कर सकती है, तन को भी शायद जमा कर ले, पर उसके पीछे जन-मन नहीं होगा, तो कुछ भी काम नहीं हो सकेगा, यह निश्चय है। आखिर जिसको क्रान्ति कहते हैं, वह क्या है ? राज्य का कानून एक होता है, प्रजा का मन सर्वथा दूसरा होता है। तो इनके विग्रह में से ही तो विद्रोह और

कि आर्थिक-समस्या अपने-आप में बढ़ती गयी है, बढ़ती जाती है, जब तक कि किसी ओर से या किसी स्तर पर निष्काम भाव, नीतिभाव का भी वहाँ प्रवेश नहीं हो पाता है। तृष्णा यदि अनन्त है, तो अर्थोत्पादन को भी अनन्त परिमाण तक बढ़ाये चला जा सकता है और समस्या बनी की बनी रहती चली जा सकती है। अर्थ की माँग समाधान तब पहुँचाती है, जब नयी आवश्यकता एकाएक न खड़ी हो जाय और पुरानी की पूर्ति पर थोड़ी देर मन रुका रहे।

दो घटनाएँ

दो घटनाएँ सुनिये। प्रेमचन्द का नाम सब जानते हैं। स्थिति में अभाव था और चार सौ रुपये कहीं से आने की आशा थी। राह देखते-देखते आँखें हार चलीं तो आखिर दो सौ पचास रुपये आये। सब पत्नी के हाथ दे दिये गये। "कितने हैं?" "ढाई सौ हैं।" सुनकर पत्नी ने उन सब नोटों को जोर से आँगन में फेंक दिया वे उड़ते हुए इधर-उधर फैल गये! क्यों ऐसा हुआ? उस विपन्नावस्था में ढाई सौ का तो बहुत मूल्य था। वही नाचीज बनकर क्यों तिरस्कार के पात्र हुए? कारण, आशा अधिक की थी धन कम था।

मेरे साथ की सन् तीस की बात है। मैं पैसा जानता न था। मेरे लिए पैसे की दुनिया तिलस्म थी। अखबार ने बताया जैनेन्द्र की किताब को पाँच सौ का इनाम मिला है। मैंने सोचा माँ को खुशी होगी। माँ हैरान रहा करती थी कि इस अनहोने लड़के का होगा क्या। मैं खूब हैरान था। घर आया तो माँ ने कहा "सुना है इनाम मिला है, कहाँ है ला।" मैं क्या जानता था कि चेक घर आ चुका है। खैर, मालूम हुआ तो माँ ने कहा "यह हुए पाँच सौ, तीन सौ और ला। बहू की चूड़ियाँ जो बनी थीं।" यानी इनाम पर प्रसन्नता का मौका ही न आया उलटा रोना पड़ गया। कारण, मुझे सूझता न था कि बाकी तीन सौ कहाँ से कैसे कब आयेंगे। अर्थात् स्वप्न से भी बाहर की रकम एकाएक घर में आ पड़ी तो भी यदि हर्ष की जगह क्लेश हुआ तो क्यों? कारण यही कि अर्थ स्वप्रतिष्ठ वस्तु नहीं है। वह इच्छा-आवश्यकता से जुड़ा है और सुख-दुख देने की शक्ति उसे वहीं से मिलती है।

अर्थ सत्तावाद के पीछे कामोद्दीपन

१९ यह तो हुआ, पर अर्थ की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सेक्स से आप कैसे वहाँ जोड़ पायेंगे?

—व्यक्ति के पास सेक्स है। राष्ट्र के पास वह कहाँ है, यही न? लेकिन कामना दोनों के पास है। शायद पहले मैंने यह कहा भी है कि वर्तमान सभ्यता पूंजीवादी

८

अर्थ और काम

अर्थ और काम

११९ कल बातों-बातों मे आपने अर्थ की जडो को काम अर्थात् सेक्स मे निहित बताया था। इस कथन का स्पष्टीकरण कराये विना मेरे लिए आगे बढना कठिन हो रहा है।

प्रयत्न का मूल है काम

—पुरुष क्यो प्रयत्न करता है? जिसको उद्योग की भाषा में 'इन्सेंटिव' कहते हैं, वह कहाँ से आता है? बहस चला करती है कि स्वत्व और स्वामित्व नहीं रहेगा, तो प्रयत्न के लिए इन्सेंटिव नहीं रहेगा। इसका क्या आशय है? आशय यही है कि प्रयत्न कामना मे से निकलता है। प्रयत्न का मूल इस तरह काम है, फल अर्थ। पडोस की ही बात लीजिये। तीन वर्ष पहले वह युवक आवारा समझा जाता था। मनमाना खर्च करता था, काम कुछ नही करता था। तीन वर्ष हुए, विवाह हो गया। विवाह प्रेम-विवाह था और युवक मे अब काफी परिवर्तन देखा जाता है। पत्नी सुन्दर और समाज मे अपना स्थान बनाने योग्य है। इसलिए मामूली खर्च में काम नही चलता है और युवक दिन-रात पत्नी की और अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए कमाई के कामो मे लगा दीखता है। इसमे क्या आप काम और अर्थ जुडा हुआ नहीं देख सकते हैं?

अर्थ की उलझनें निष्कामता से कटेंगी

सूक्ष्मता से देखें, तो और सब दूसरी जगह भी अर्थ के मूल मे काम को देखा जा सकेगा। इसीलिए अर्थ की उलझनो को काटने के लिए निष्कामता का अभ्यास सुझाया जाता है। मैं स्वय मानता हूँ कि अर्थोत्पादन के जोर से आर्थिक समस्याओ का निपटारा न हुआ है, न होगा। इस निर्णय के आधार के लिए अपने पास मैं स्वय हूँ, मेरा परिवार है, आस-पास के सब लोग और सब परिवार हैं। सबका अनुभव यही है

८

अर्थ और काम

अर्थ और काम

११९ कल बातो-बातो मे आपने अर्थ की जड़ो को काम अर्थात् सेक्स मे निहित बताया था। इस कथन का स्पष्टीकरण कराये बिना मेरे लिए आगे बढना कठिन हो रहा है।

प्रयत्न का मूल है काम

—पुरुष क्यों प्रयत्न करता है? जिसको उद्योग की भाषा में 'इन्सेंटिव' कहते हैं, वह कहाँ से आता है? बहस चला करती है कि स्वत्व और स्वामित्व नही रहेगा, तो प्रयत्न के लिए इन्सेंटिव नहीं रहेगा। इसका क्या आशय है? आशय यही है कि प्रयत्न कामना मे से निकलता है। प्रयत्न का मूल इस तरह काम है, फल अर्थ। पड़ोस की ही बात लीजिये। तीन वर्ष पहले वह युवक आवारा समझा जाता था। मनमाना खर्च करता था, काम कुछ नही करता था। तीन वर्ष हुए, विवाह हो गया। विवाह प्रेम-विवाह था और युवक मे अब काफी परिवर्तन देखा जाता है। पत्नी सुन्दर और समाज मे अपना स्थान बनाने योग्य है। इसलिए मामूली खर्च में काम नही चलता है और युवक दिन-रात पत्नी की और अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए कमाई के कामो मे लगा दीखता है। इसमे क्या आप काम और अर्थ जुड़ा हुआ नही देख सकते हैं?

अर्थ की उलझनें निष्कामता से कटेंगी

सूक्ष्मता से देखें, तो और सब दूसरी जगह भी अर्थ के मूल मे काम को देखा जा सकेगा। इसीलिए अर्थ की उलझनो को काटने के लिए निष्कामता का अभ्यास सुझाया जाता है। मैं स्वय मानता हूँ कि अर्थोत्पादन के जोर से आर्थिक समस्याओं का निपटारा न हुआ है, न होगा। इस निर्णय के आधार के लिए अपने पास मैं स्वय हूँ, मेरा परिवार है, आस-पास के सब लोग और सब परिवार हैं। सबका अनुभव यही है

कि आर्थिक-समस्या अपने-आप में बढ़ती गयी है, बढ़ती जाती है, जब तक कि किसी ओर से या किसी स्तर पर निष्काम-भाव नीतिवाद का भी वहाँ प्रवेश नहीं हो पाता है। तृष्णा यदि अनन्त है, तो अर्थोत्पादन को भी अनन्त परिमाण तक बढ़ाये चला जा सकता है और समस्या बनी की बनी रहती चली जा सकती है। अर्थ की अन्य समाधान तब पहुँचाती है, जब नयी आवश्यकता एकाएक न खड़ी हो जाय और पुरानी की पूर्ति पर थोड़ी देर मन रुका रहे।

दो घटनाएँ

दो घटनाएँ सुनिये। प्रेमचन्द का नाम सब जानते हैं। स्थिति में अभाव था और चार सौ रुपये कहीं से आने की आशा थी। राह देखते-देखते आँखें हार चलीं तो आखिर दो सौ पचास रुपये आये। सब पत्नी के हाथ दे दिये गये। "कितने हैं?" "ढाई सौ हैं।" सुनकर पत्नी ने उन सब नोटों को जोर से आँगन में फेंक दिया वे उड़ते हुए इधर-उधर फैल गये। क्यों ऐसा हुआ? उस विपन्नावस्था में ढाई सौ का तो बहुत मूल्य था। वही नाचीज बनकर क्यों तिरस्कार के पात्र हुए? कारण आशा अधिक थी धन कम था।

मेरे साथ की सन् तीस की बात है। मैं पैसा जानता न था। मेरे लिए पैसे की दुनिया तिलिस्म थी। अखबार ने बताया जैनेन्द्र की किताब को पाँच सौ का इनाम मिला है। मैंने सोचा, माँ को खुशी होगी। माँ हैरान रहा करती थीं कि इस कामहीन लड़के का होगा क्या मैं खुद हैरान था। घर आया तो माँ ने कहा "सुना है इनाम मिला है, कहाँ है ला।" मैं क्या जानता था कि चेक घर आ चुका है। और, मालूम हुआ तो माँ ने कहा "यह हुए पाँच सौ, तीन सौ और ला। बहू की चूड़ियाँ जो बनी थीं।" मानो इनाम पर प्रसन्नता का मौका ही न आया उलटा रोना पड़ गया। कारण, मुझे सूझता न था कि बाकी तीन सौ कहाँ से, कैसे कब आयेंगे। अर्थात् स्वप्न से भी बाहर की रकम एकाएक घर में आ पड़ी तो भी यदि हर्ष की जगह क्लेश हुआ तो क्यों? कारण यही कि अर्थ-स्वप्रतिष्ठ वस्तु नहीं है। वह इच्छा-आवश्यकता से युक्त है और सुख-दुख देने की शक्ति उसे वहीं से मिलती है।

अर्थ सत्तावाद के पीछे कामोद्दीपन

१९०. यह तो हुआ, पर अर्थ की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर से आप कैसे क्या सोच पायेंगे?

—व्यक्ति के पास वैभव है। राष्ट्र के पास वह नहीं है, यही न? कठिन समस्या दोनों के पास है। शायद पहले मैंने यह कहा भी है कि वर्तमान सभ्यता पूंजीवादी

है और उसे भोग की चाह रहती है। उस सभ्यता की मानो मांग है कि नारी प्रतीक पदार्थ हो कि जिसे वह जीते, मर्दित और दलित करे, इत्यादि। अर्थ का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस लिप्सा से क्या शून्य देखा जा सकता है? करोड़ से अरब और खरबपति बनने से जो भागता हुआ दीखता है, उसके मनोभावों में जाइये। स्त्री जैसे उसके लिए नाकाफी हो, अपनी प्रभुता वह विस्तृत क्षेत्र पर छायी हुई चाहता है। मानो चाहता है कि एक उपनिवेश का उपनिवेश नीचे ऐसा बिछा हो कि जैसे भोग्य स्त्री। आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद मे कामोद्दीपन देखने में मुझे तो कोई विशेष कठिनाई नही होती। यदि यह उद्दीपन वहाँ से खिच रहता है, तो हमारी सारी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एकाएक नया स्वरूप ले सकती है। जिस दर्शन और भाव के अधीन हमारी अर्थ और राजनीति चल रही है, उसमे सेक्स और भोग की निश्चय ही युक्त से अधिक प्रतिष्ठा है। आवश्यकताएँ बढ़ती है और बढ़ती जानी चाहिए। जीवन-स्तर जितना उठता है, आदमी उतना बड़ा होता है। अर्थ और सत्ता के मान से व्यक्तित्व का मान है। आदि धारणाएँ क्या बतलाती हैं? मुझे सचमुच लगता है कि हमारे दर्शन मे पौरुष का एकांगी भाव रहा है, नारीत्व का सन्तुलित योग नही रहा। मानव-जाति करीब-करीब समान भाव से स्त्री-पुरुष मे बटी हुई है, लेकिन हमारे आदर्शों और नीतियो में इन दोनो तत्त्वों का समानुपात नही है। इसीसे प्रेम से अधिक काम का महत्त्व है और उसीका स्थिति पर खिचाव है।

नारीत्व का समीचीन योग

नारीत्व का समीचीन योग हो, तो केन्द्रित राज्य-व्यवस्था कुछ गृह-व्यवस्था के निकट आयेगी और शस्त्र-सैन्य की आवश्यकता कुछ कम होगी। आज तो जहाँ देखिये, सेना की महिमा के दृश्य हैं। सिनेमा मे वही, राष्ट्रीय उत्सवों-पर्वों मे वही। मानो उत्साह का उपाय शस्त्र-दर्शन और सैन्य-प्रदर्शन है। यह सब हिंसक सभ्यता के प्रतीक हैं और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थनीति को भी इसके आनुषांगिक रूप मे ही देखना मानना होगा।

१२१. नर और नारी में शारीरिक विभेद से बढ़कर तात्त्विक अथवा आत्मिक विभेद मानना क्या अवैज्ञानिक नहीं? पुरुषत्व को अनिवार्य रूप से हिंसापरक और भोगी और स्त्रीत्व को अहिंसापरक और भोग्य मानकर क्या हम कहीं गलती नहीं करते?

नर-नारी में निगूढ़ अन्तर

—नर और नारी मे शारीरिक भेद भर मानना बल्कि अवैज्ञानिक है। यह शरीर को मन से पृथक् मानने जैसा हो जायगा। अनुभव से ही वह ग़लत है।

इसके अर्थ यह नहीं कि मानव की दृष्टि से दोनों में सम-समानता नहीं है। लेकिन यह अवश्य है कि स्त्री वह नहीं है जो पुरुष है। ऐसा न होता तो वे परस्पर पूरक न हो सकते थे।

पुरुष निर्गुण स्त्री सगुण

हिंसा-अहिंसा से नर-नारी को समगत या पृथग्गत देखना सचमुच संकट है। नारी में हिंसा-अहिंसा दोनों की उत्कृष्टता देखी जा सकती है। यदि इन दोनों में तरतमता और पृथकता है तो शायद इस अर्थ में कि पुरुष निर्गुण और स्त्री सगुण होसकती है। निर्गुण सत्य सगुण अहिंसा। सत्य और अहिंसा में विरोध नहीं है, पर यदि एकत्व है, तो तनाव के साथ। अर्थात् यह एकता हमेशा साधना और सावधानता से साधी जाती है। यह सहज नहीं है, परम साम्य और दुःसाम्य है। काम में इतनी शक्ति इतनी अनिवार्यता और अमोघता इसी कारण दिखाई देती है और इसी प्रकार का प्रेम परम गूढ़ और दुर्विगम्य इसीसे बना हुआ है।

भोगी और भोग्य में अन्तर

भोगी और भोग्य का थोड़ा अन्तर तो स्वीकार करना होगा। पुरुष में 'ऑब्जेक्टि-विटी' प्रधान है। स्त्री अपेक्षाकृत 'सब्जेक्टिव' होती है। एक पुस्तक मैंने देखी थी 'दि अदर सेक्स'। स्त्री के बारे में थी और स्त्री ही उसकी लेखिका थी। लेखिका उच्च थी और अनुभवी थी। सारी पुस्तक में यह भाव व्याप्त था कि स्त्री को खुशी के साथ अपने को पुरुष से दोयम मान लेना चाहिए, क्योंकि वह दोयम है। पुस्तक के शीर्षक में 'अदर' का भाव यहाँ यही द्वितीय था। इतना भी अन्तर पुरुष स्त्री में न मानें तो जैसे सृष्टि का रहस्य नहीं खुलता है, उसका मर्म नहीं मिलता है। इस रूप में जैसे कुछ पता चलता है कि क्यों जीव-सृष्टि मूल से ही दो लिंगों में बँटी हुई चली है।

१२२ अर्थ की जड़ें काम में आपने दिखायीं, पर क्या और गहरे जाकर मोक्ष में वे नहीं हैं? अर्थ धर्म काम, मोक्ष के चतुर्भुज का क्या तारतम्य आप समझते हैं?

चार पुरुषार्थ

—मोक्ष की चर्चा नहीं की जा सकती। सफर जिसका काम है, वह मुसाफिर मंजिल को जाने नहीं बैठेगा। मुझे तो यह भी लगता है कि जो मंजिल को जान गया वह कभी मंजिल तक पहुँचा नहीं। विमान से वहाँ पहुँच जाना पाँव-पाँव चलकर कड़ी मेहनत से पहुँचने के काम से अपने को बचाना ही है। कवि और दार्शनिक

ऐसे ही लोग हुआ करते हैं। आदर्श और स्वप्न को गाते जाते हैं, उसे पाने-पहुँचने की झंझट मे नही पडते। इसलिए मजिल और मोक्ष की बात से आप खुद भी वचिये, मुझे भी वचाइये। चतुर्भुज को देखना ही हो, तो मैं उसे उल्टा खडा देखता हूँ
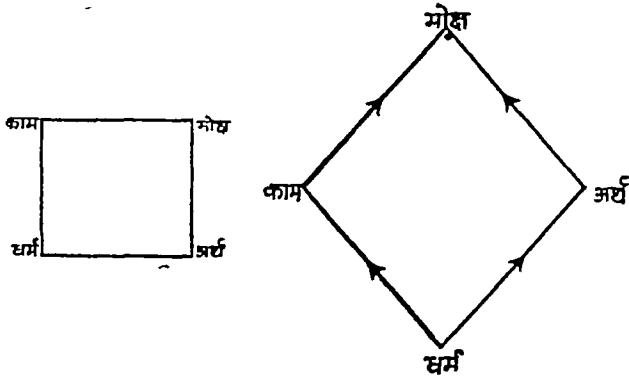
सामान्यत चतुर्भुज का चित्र 'अ सामने आता है। चतुर्भुज के ही चित्र मे मुझे इन चारो पुरुषार्थों को देखना होता है, तो 'व' चित्र के रूप मे ही देख पाता हूँ। धर्म मूल भाव और मूल दृष्टि है। वही अर्थ और काम इन दो तटो की ओर जीवन को विस्तार दे और वही दृष्टि फिर दोनो को परस्परापेक्षा मे व्यवस्था देती हुई मुक्ति में समाहित कर दे, तो मानो चतुर्भुज का इष्ट परिपूर्ण हो जाता है। धर्म एक अखण्ड श्रद्धा है। श्रद्धा को व्यवहार पर लाते हैं, तो विवेक का रूप वनता है। और उसके समक्ष अर्थ और काम से रूपाकार पाया हुआ द्वैत का ससार आता है। इस समग्र विस्तृत द्वैत में से फिर एक एकत्व अर्थात् मुक्ति की ओर उन्नति होती है। दूसरे शव्दो मे मोक्ष में अर्थ और काम का परिहार नही है, वल्कि समाहार है। अर्थ-काम की कोई अतिरिक्त अतृप्ति और त्रुटि मोक्ष-प्राप्ति मे अन्तराय और बाधा ही बननेवाली है। यानी मोक्ष मे अतृप्ति किसी प्रकार की नही रह सकती है। पर यह चार पुरुषार्थ के चतुर्भुज रूप की कल्पना इसलिए नही है कि आप और मैं उस पर अटकें, या दर्शन को उसी चित्र से साधें। वह तो सिफ बुद्धि के सहारे के लिए है। उससे अधिक महत्त्व देना भूल करना होगा। ●

चखा और परखा जाता है, फिर निर्णयपूर्वक फेंक दिया जाता है—यह कहकर कि यह नहीं है। अपराध मे, पाप मे, घृण्य मे, कुत्सित मे, शराब के नशे मे, बुद्धि के मद के सहारे उतरकर हठात् सब भुलाकर, मुक्त लास्य मे वहाँ विलसा और रमा जाता है, अन्त मे यह पाने के लिए कि नही, यह भी नही है। इस दुर्दम प्यास और दुर्दान्त साहस पर मेरे मन मे सहानुभूति और प्रशंसा होती है। वह मानस है जो बनी-बनाई राह को नही लेता। सच भी है कि मुक्ति के लिए चली राह पर चलने से नही चलता। सब राहे बाहर हैं, भीतर के लिए अपनी ही खोज से राह बनानी और चलनी पडती है। आत्मा कभी दूसरे की नही पायी जा सकती, अपनी ही पानी होती है। वहाँ कोई राह नही रहती, सब भीतर निविड और आकीर्ण होता है। पश्चिम का लेखक चलते-चलते ऐसी ही जगह पहुँच गया है। वह अपने आमने-सामने है। सहारे जान-बूझकर उसने सब पीछे छोड दिये हैं। न परम्परा है, न पन्थ है, न विश्वास। वह है और जिन्दगी है। पास के दिग्यन्त्र को भी फेंक दिया है। सफर का कोई नक्शा साथ नहीं छोडा है। और दोनो एक-दूसरे से जूझ रहे हैं, जिन्दगी उसको नही बख्शना चाहती और वह जिन्दगी को नहीं बख्शेगा। जीने-मरने की यह बाजी है और एक-दूसरे के आदर-उपचार का यहाँ सवाल नहीं है। मानो परिरम्भण हो, दया-हया का प्रश्न न हो। इस घोरता मे से मैं मानता हूँ, प्रकाश निकलेगा। अँधेरा है और निविड है, इसीसे है कि उद्योत उगेगा। मन्थन जहर दे रहा है, पर अन्त मे अमृत ऊपर आयेगा।

अश्लील, बीभत्स की घोरता

अश्लील, बीभत्स, कुत्सित, अधम की सीमा-रेखाएँ यदि खोयी सी जा रही हैं, तो यह भी मेरी दृष्टि से अनिष्ट नही है। क्योंकि भीतर बडा श्राम है, बडी प्यास है, और बडी तलाश है। उसकी कीमत है और सब कही है। उसकी थाह को गहने के लिए जो निकला है, उसे फिर क्या कहने को रह जाता है। ऐसा लगता है कि बीसवीं सदी के खुलने से पहले ही उठ जानेवाले दोस्तोवस्की के भीतर भी यदि घोरता थी, तो उसे सहारने के लिए श्रद्धा का सहारा भी था। आज अपने नरक को झेलने के लिए बौद्धिक के पास वह आस भी नहीं है। फिर भी वह मुसाफिर है, हक की तलाश है और उससे पहले रुकने की उसे ताब नही है। मैं इसको भव्य भविष्य का सूचक मानता हूँ। हद से गुजरकर दर्द क्या दवा नही बनता?

साहित्य बैंक 'यार्ड'

व्यवस्था के क्षेत्र मे मनुष्य को राज्य प्राप्त है और सभ्यता प्राप्त है। उनकी आव-

सभ्यताओं के अधीन वह शिष्ट व्यावहारिक और नियन्त्रित जीवन बिता लेता है। इसीसे उसकी हद के नीचे वह अलक्ष्य असाध्य और व्याप्त है। वहाँ केवल अनियन्त्रित निर्बन्ध है। मानस उन मर्यादाओं से आबद्ध नहीं है और दिन के बीतते ही वह रात को सरप लेता है। घर में सामने ही ड्राइंग रूम है, पीछे बैक यार्ड रहता है। वैसे ही इस मनुष्य की अवस्था है। जीवन के पृष्ठभाग के पीछे भी अति-पृष्ठभाग उसने रख छोड़ा है। वहाँ शिष्टता की जगह मनमानेपन को अवकाश है। सभ्य आदमी में जो दबा हुआ असल आदमी है, वह वहाँ घूमता है। साहित्य सारी साफ लपेट को उतारकर उस असल आदमी को अपने पूरे नग्न मनमाने के बीच ही खोज और पा लेना चाहता है। उस पृष्ठातिपृष्ठ भाग में कितनी भी रात का अँधेरा रखो कितने भी बेहोशी के लिफाफ रखो, साहित्य अपनी तीखी किरणों से पहुँचकर वहाँ पा ही लेगा और तुम्हारे नंगे रूप को तुम्हीं ही उघाड़कर धर देगा। इस साहित्य के काम का मैं अभिनन्दन ही कर सकता हूँ।

प्राच्य त्रास-प्यास से रहित क्यों?

१२४ पाश्चात्य मानस में यह जोर त्रास, प्यास और तनाव क्यों है और क्यों प्राच्य उससे रहित दीखता है? साहित्य की इस निष्ठिकता में से जिस भव्य भविष्य की आप आशा करते हैं, उसका स्वरूप क्या होगा?

—यहाँ पूरब में आदमी अपने अस्तित्व से लिपटा है। अस्तित्व की रक्षा में जूझ रहा है। अस्तित्व जहाँ सहज होता है जीवन वहाँ से आरम्भ होता है। ये दो चीजें हैं रहना और जीना 'टु एग्जिस्ट' 'टु लिव'। मानसिक समस्याएँ जीवन के तल पर आती हैं, अस्तित्व (एग्जिस्टेंस) के तल की समस्याएँ आर्थिक होती हैं। पूर्व और पश्चिम में आज यह फर्क है। शिष्टता-सभ्यता पूर्व के लिए स्पृहणीय और आकांक्षणीय चीज बनी हुई है। यहाँ आदमी फर्नीचर बढ़ाना चाहता है पश्चिम में घटाने के भाव से चला जाता है। आर्थिक सम्पन्नता के कारण पश्चिम के आदमी की समस्या जैविक (एग्ज़िस्टेंशल) से मानसिक होती जाए तो सहज है। वहाँ मानसिकता में घूम कर तो मानो जैविक पर निपटकर ऊपर आना होता है। इसी-लिए यहाँ का साहित्य अधिक भौतिकता और विधि-निषेध की रेखाओं से भरा होता है। इन रेखाओं से सुविधा सविस्तार वर्णित हो भी सकती जाती है। लेकिन प्राणवत्ता कम होती है। यहाँ के प्राचीन साहित्य में जो उमंग और आह्लाद दीखता है वह शायद इसी कारण कि तब यहाँ जीवन साथ अधिक था आनन्द अधिक था। खाम-खाम अभाव का भाव उतना नहीं था, अभावों से दैन्य नहीं था। स्वयं धार्मिक ग्रन्थों में काम पर मुक्त बात मिलेंगे। धर्म और नीति की समस्या मानसिक तल पर सृष्ट होती है।

उससे पहले जो है वह ऐहिक और सामाजिक समस्यामात्र रहती है। उसके आधार पर साहित्य व्याख्यायित होता है उससे वह अलग नहीं होता।

पीड़ा में से ज्ञान, पाप में से आत्मा

सघन व्यथा में से किस नये ज्ञान या उपलब्धि की आशा की जा सकती है?
मुझे लगता है पीड़ा में से ज्ञान और पाप में से आत्मा प्राप्त होता है। समाज यदि पहचानेगा कि पाप में पतन से सब गिरकर भी कुछ है उसका जो गिरना नहीं है, पहचानेगा कि आदमी पाप नहीं है, तो एक नया ज्ञान उसे प्राप्त होगा। तब युद्ध की हत्या या कानून की हत्या बन्द होती जायेगी, वह बेतुकी मालूम होगी, और कानून अपराधियों से समाज को बचाने का दायित्व ओढ़कर नहीं बैठेगा, बल्कि उन अपराधियों को समझ में उतारेगा और उनके लिए अस्पताल की व्यवस्था करेगा। आज जो राज्य के कानून के जोर से हमने दुनिया को अच्छे और बुरे, उजले और काले, सही और गलत, उत्तम और अधम, सज्जन और दुर्जन, पूज्य और पामर आदि में बाँटकर मानवता को दो टूक काट डाला है, वह गर्व और दम्भ खतम होगा। व्यवस्था शासन और नियन्त्रण की मुहताज न होगी, वह भीतर से उठती हुई आवेगी। चोर आज चोर है, कल मालूम हो जाता है कि वह बेचारा और भूखा था। मुन्सिफ के लिए जो मुजरिम है, माँ के लिए वही बेटा होता है। उस भव्य भविष्य में जिसकी आप बात करते हैं, मैं करता हूँ, मुन्सिफ में माँ का दिल आ सकेगा। अर्थात् सिर्फ मुन्सिफ और हाकिम होना बन्द हो जायगा, क्योंकि मुन्सिफ अपनी निगाहों में खुद मुजरिम होगा और शास्ता स्वयं में आत्मानुशासित होगा। वह भव्य भविष्य कभी नहीं आनेवाला है अगर साहित्य यह दिखाने में बचेगा, कतरायेगा, असमर्थ होगा कि सन्त और दुष्ट दोनों में मनुष्य है, सती और वेश्या दोनों में नारी। हजारों वर्ष पहले गीता ने यह कहने का साहस किया था। आज शब्द कृष्ण के मुँह से नहीं निकले हैं, संस्कृत भाषा के नहीं हैं, तो क्या इसीलिए पश्चिम के साहित्य को नास्तिक कहकर गर्व मानने का हक किसीको हो सकता है?

कम्युनिस्ट साहित्य तत्काल बद्ध

१२५ पाश्चात्य-साहित्य के बारे में आपने जो कहा, क्या वही कम्युनिस्ट-साहित्य के बारे में भी सत्य है?

—नहीं, उन देशों के साहित्य के बारे में स्वयं उन्हींको शिकायत होने लगी है कि वह अधिक सुनिश्चित है, काफी नकारात्मक और प्रश्नात्मक नहीं है। जिसको कहा जायगा तीसरा आयाम (थर्ड डाइमेन्शन), वह उसमें कम है। मत वहाँ बना-बनाया है

और जिज्ञासा-अभीप्सा उतनी तीव्र नहीं है। उन देशों में प्रयोजन लक्ष्य है। समस्त जो सामाजिक और लौकिक है, मानो साहित्य तदर्थ और तदनुगत है। प्रतिकार और प्रतिचार के रूप में वह स्वतन्त्र मूल्यों की खोज में नहीं चलता। उस सत्य का शोध जो समय और युग के दायित्वों के अधीन नहीं है जो हृन्मर्म है जीवन का मूलमर्म है, उसकी सम्मुखता साम्यवादी देशों के साहित्य में उतनी प्रत्यक्ष नहीं है। साहित्यकार से राष्ट्र-निर्माण आदि की सर्वोपरि अपेक्षा है और वह इस मांग से मुक्त नहीं होता। वहाँ का लोकमन उसको इस अपेक्षा में घेरे ही रहता है उस पूर्ति की आशा में उसे रहन-सहन की सब प्रकार की सुविधाएँ भी देता है। राज्य की ओर से उसे जीवन के सुख-साधन ही प्रस्तुत नहीं होते प्रस्तुत विशिष्टता और प्रतिष्ठा का वातावरण भी उसके लिए सुरक्षित रखा जाता है। अतः भीतर किसी अभावात्मक व्यथा के जागने और उस व्यथा के द्वारा अपने हार्द से उद्गत होने की सम्भावना इतनी नहीं रहती। लोकमानस के निर्माता एवं शिल्पी के रूप में उनका काम चलता है, उससे गहरे डूबने और चित्त की थाह लेने की उतनी आवश्यकता उन्हें नहीं रहती है। दो डाक्टरों की कल्पना कीजिये। एक जिसको लैबोरेटरी (प्रयोगशाला) में वैज्ञानिक शोध-प्रयोग में रहना होता है दूसरा जिसे अस्पताल में नित्य रोगियों के तात्कालिक उपचार से काम पड़ता है। कम्युनिस्ट देश के साहित्यकार के सुपुर्द मानो वह औपचारिक और सामाजिक दूसरा काम है जिसकी तात्कालिक उपयोगिता और आवश्यकता है। व्यक्तिपरकता के लिए वहाँ उतना अवकाश नहीं है। इसलिए जिसे आत्मिक गहनता कहा जाता है वह चीज वहाँ के साहित्यों में कम मिलेगी। फलतः रहस्यमयता कम होगी। स्पष्टता प्रवृत्तिमयता और उपयोगशीलता अधिक होगी। कारण उसका सम्बन्ध समय-समाज से विशेष है और उससे तटस्थ किसी अन्तिम सत्य के प्रति उन्मुख होने की छुट्टी कम है।

कम्युनिस्ट-साहित्य और भारतीय रस-साहित्य

२२८. कम्युनिस्ट-साहित्य की इस स्थिति में और हमारे रस-साहित्य की स्थिति में क्या कुछ दूर तक समानता आप नहीं पाते?

—उपयोगी होने के लिए जो भी है, वह लगभग एक कोटि पर आ जाता है। शिक्षा और उपदेश देनेवाला साहित्य और केवल मन बहलाने और रंजन करनेवाला साहित्य गुण की दृष्टि से एक स्तर पर आ जाता है। आप वहाँ प्रभाव और परिणाम की दृष्टि पायेंगे। मानो वह राग हेतु बन जाता है रचना 'फॉर इफेक्ट' की जाती है। रसवादी साहित्य अमुक प्रयोजन की पूर्ति को इष्ट मानकर सृष्ट होता है इसलिए नये-नये तौर पर नयी-नयी विधाओं में पैदा करना जरूरी होता है। अरागमयी

और उक्ति की खूबियां यही से पैदा होती है। नयी-नयी तरकीबें निकलती हैं और एक स्वतन्त्र कला सौन्दयवाद के नाम पर जन्म पाती है, जिसके नीचे गम्भीर अभीप्सा नही होती। मुझे प्रतीत होता है कि जिसमे केवल जीवन-शोध और सत्यानुसन्धान की स्पृहा है, ऐसा साहित्य रसशून्य न होगा, पर वह रसवादी भी न होगा। इन दोनो रसो मे अन्तर यह है कि एक रस से मन भरता है और दूसरे से भरता ही नही। वह रस अनन्य और स्थायी होता है। उसमे आपके लिए नव-नवाविष्कार का अवसर रहता है। जैसे रस वहां से कभी खाली नहीं होता और स्रोत पुराना वासी नही पडता। रसवादी वस्तु का रस आज ताजा है, कल वह वासी पड जाता है। यह कहिये कि रूप-स्तरवाला वह रस है, जिसको वदलते और पलटते रहना जरूरी होता है। गुणात्मक रस किंचित् अरूप होता है और वह उतना ही स्थायी वनता है। 'फॉर इफेक्ट' होनेवाली रचना, चाहे इष्ट उसका मनोरजन हो अथवा व्यवस्थापन, स्थायी भाव नही पाती। कारण, कर्ता और भोक्ता मे वीच इस हेतु का एक व्यवधान पड रहता है, ऐक्य नही रहता। रचना मानो वनायी जाती है, वह सृष्ट नहीं होती। जो कृत है और कारित है, वह मानो लेखक और पाठक के बीच सम्वन्ध वनाकर भी अन्तराय रखता है। अत उस रस मे आत्मीयता परिपूर्ण नही होती है। जहां प्रयोजनीय दान है, वहां आत्मदान नही है। यही कारण है कि रस की कसौटी पर वादी रचना हलकी तुलती है और लाभ की कसौटी पर उपदेश-आदेशवाली रचना आत्मलाभ की अपेक्षा मे सदा ओछी रह जाती है। मनोरजन और शिक्षण दोनो ही उपयोग हैं। रसवाद पहले को प्रधानता देता तो समाजवाद दूसरे को प्रमुख रखता है। दोनो ये वाद जव तक प्रयोजन मन मे रखते हैं, परस्पर पूरी तरह समन्वित नही हो पाते और उनमे कुशलतापूर्वक सन्तुलन साधे रखने की वात सोचनी पडती है। सृजन की एक तीसरी विधा है, जहां प्रयोजन-विचार के लिए अलग से अवकाश ही नही रहता। जहां प्रेरणा आत्म-व्यथा मे से आती है, आत्म-विसर्जन आत्म-प्रकाशन मे पूर्ति पाती है। इस जगह यदि रस और प्रभाव का अनायास ऐक्य एव समन्वय हो जाता हो, तो विस्मय नही है।

हेतुपूवक किया गया कुछ भी विषयी (सब्जेक्ट) और विपय (आब्जेक्ट) मे तादात्म्य नही ला सकता है। कारण, इस आत्मप्रेषण मे बहुत कुछ पीछे रोक लिया जाता है, और हेतुगत किंचित् ही दिया जाता है। इससे उतनी तृप्ति और भुक्ति भी किसी ओर प्राप्त नही होती।

रस-सिद्धान्त की भारत मे वडी मीमासा हुई है। मर्म है उसका विषयी का मनोभोग द्वारा विषय मे लीनता और अभिन्नता पाना। सृजन के द्वारा होनेवाली यह साधना पठन के द्वारा मानो फिर उस छोर से इस ओर प्रतिकृत होकर आती है। अर्थात्

सामाजिक विनय द्वारा विषयी की अनुभूति का आस्वादन पाता है। यों बुध पुष्ट होता और रस-संचार का उद्भावन और संवहन करता है। यह प्रक्रिया बीच में हेतु और प्रयोजन के आने से अनिवार्य नहीं रहती और नियमतः हेतुमत्त्व साधारणीकरण में बाधा बनता है।

आन्तरिक कुरेद और शेक्सपियर

१२७. आन्तरिक कुरेद और व्यथा इनमें से आप साहित्य के लिए किसे अधिक आवश्यक और उपयोगी मानते हैं? शेक्सपियर ने शायद आज के-से यूरोपीय लेखकों की-सी कुरेद नहीं की। तब क्या उनकी रचनाओं को आप आज की रचनाओं से हीन मानेंगे?

—कुरेद और व्यथा मेरी समझ में दो दूर की चीजें नहीं हैं। व्यथा को जब हम अंगीकार करते हैं, कलपते-कराहते नहीं हैं तो वह अन्तर्मुख होती और अवचेतन अचेतन स्तरों को छोड़ती हुई व्यक्तित्व में गहरे पैठती है। इसीको कुरेद कहिये। बुद्धि का बरमा इतना बारीक नहीं है और वह अवचेतन के तल को नहीं भेद पाता। बुद्धि समग्र नहीं होती हाँ-नहीं में बँटी होती है। कहिये कि वह द्विविधु या द्विमुख होती है। व्यथा में वैसे दोपन टिक सकता नहीं है, वह एकाग्र हो जाती है। गम्भीर तम चिन्तन व्यथा का रूप ले लेता है यहाँ तक कि वह चिन्तन रहता ही नहीं। हमारे शास्त्रों में उद्धव-गोपी-संवाद में गोपियों ने विरह में से जो पा लिया वह उद्धव की ज्ञानोपलब्धि से नहीं गहरा था। इस कथा में सिवा इसके क्या सार है कि बुद्धि से व्यथा गहरे मर्म में जाती है और गहरी सत्यता पा जाती है।

शेक्सपियर शायद सबसे स्वस्थ लेखक माने जा सकते हैं। हाँ कुरेद की दृष्टि से शायद कम-से-कम व्यथित। इस कारण शेक्सपियर में ऐसी विशेषता है कि सदियों से वे सबसे लोकप्रिय लेखकों में हैं। लेकिन आत्मसाधना की दृष्टि से उन्हें आसानी से अनावश्यक भी मान लिया जा सकता है। टाल्स्टाय ने उन्हें प्रथम श्रेणी में नहीं रखा है। आध्यात्मिक विचार मजे से उनसे किनारा लेता हुआ चल सकता है। शायद वे अनिवार्य लेखक नहीं हैं। कुछ वैज्ञानिक जैसे नया आविष्कार, नया प्रकाश का दान दे जाते हैं वैसे कुछ लेखक भी मानो विश्व-दर्शन के प्रति एक नया आयाम खोल जाते हैं। शेक्सपियर को मैं स्वयं उनमें नहीं मान पाता हूँ।

यूरोपीय कलाएँ

१२८. क्या यूरोपीय कलाओं में आप साहित्य की ऊपर वर्णित प्रवृत्तियों को वर्ण-

मान पाते हैं ? फ्री आर्ट का जो काफी मजाक इधर बनाया गया है, क्या उससे आप सहमत हैं ?

—हां, कलाओं में भी तत्सम्बन्ध प्रभाव देखा जा सकता है। बात यह मालूम होती है कि प्रयोजनवाले अर्थ से काम नहीं चलता, वह अधूरा जान पड़ता है। बीच में ही उसका सहारा छूट जाता है। इनमें यह अर्थ (मीनिंग) टूट रहा है। कुल मिला-कर जो सहसा इन सब होने-हवाने में कुछ भी अर्थ नहीं पकड़ मिलता है, सो जिद होती है कि मानो अर्थ-हीनता ही अर्थ हो। मानो सबके अपने-अपने होने में अर्थ गर्भित हो। यह अस्तित्ववाद (एग्जिस्टेंशलिज्म) समन्वित अर्थ की आवश्यकता को मानो समाप्त कर देता है। उसे इतना अधिक छितरा देता है कि जैसे कुल होने में किसी एक अर्थ अथवा भाव का होना, वैसा मानना-देखना, मूर्खता हो। रूप पहले सुन्दर होकर कला में उतरता था। रूप क्या है, सुन्दर क्या है, यदि यह प्रश्न खड़े हो जायें, प्रतीतियों से अलग कहीं हम उन्हें पा ही लेना चाहें, तो क्या परिणाम होगा ? जो होगा, वह परिणाम कलाओं की आधुनिकताओं में नजर आ रहा है। रूप का रूप के रूप में आना ही जैसे अनभीष्ट हो गया है। आकृति अनाकृति बन जाती है, सुघड़ अनगढ़ बनता है। सब कुछ अनिर्दिष्ट होता है और यह आप पर निर्भर करता है कि आप उसमें अर्थ देखें, रूप देखें, आकार देखें, सुघरता देखें या चाहें तो इन सब चीजों का अभाव देखें। कलाकृति मानो समक्ष इसलिए है कि आपकी निश्चितता को विशृंखलित कर दे और वहां केवल प्रश्न की पूंछों को कुलबुलाता छोड़ दे। मान लीजिये, चित्र का शीर्षक है युवती। तो मानो युवती ही है जो चित्र में नहीं मिल सकती है। क्या यह युवती का मुख है, लेकिन फिर वक्ष कहां है ? इत्यादि प्रश्न उठते जाते हैं और चित्र उठाने में ही उनकी मदद कर सकता है, बुझाने में नहीं। जिसको कहा जाता है सबजेक्टिविज्म, उसकी मुक्त अतिशयता कलाओं में कदाचित् इसलिए आयी हो कि बाहरी सामाजिक व्यवस्थाओं में ऑब्जे-क्टिविज्म की अतिशयताओं से काम पड़ता है। पश्चिम का कलावाद, प्रतीत होता है, उस पश्चिम के ही वस्तुवाद और समाजवाद की प्रतिक्रिया में ही यह रूप लेकर उठा है। शायद इसका जन्म भी समान स्रोत से हुआ। व्यवहार में नियम-संयम की प्रतिष्ठा है, तो कला में अ-नियम और अ-संयम की उपासना होगी। व्यवस्था सामाजिक है, तो अव्यवस्था को कलात्मक होना होगा। समाज और राज्य यदि समूह को गिनते हैं, तो कला नितान्त व्यक्ति की उपासना में लगेगी। सामाजिक और राजनीतिक प्रयत्न एकता को अनेक के सम्मिलन के द्वारा साधना चाहेंगे, तो कला हर एक-एक की निजता को बिखराकर मानो परमाणु द्वारा अन्तिम ऐक्य को प्रतिष्ठित करेगी। यह दो विरोधी गतियां पश्चिम में जोर-शोर से चलीं।

एक का छोर दूसरे को अनायास छोर पहुँचाता रहा। समाजवाद की सामूहिकता और कलावाद की एकाकिता दोनों पन्थ साथ-साथ पनपे और साथ ही साथ समानान्तर भाव से बढ़ते चले आ रहे हैं। पाँच तीन,दस आदि की गणना के साथ अमुक वर्षीय सुनिश्चित कर्म-योजनाओं के समक्ष कला की यह विद्रोही आधुनिकता है जहाँ सब उलट-पलट और गड्डमगड्ड हो जाता है। स्टील का कारखाना वहाँ ऐसा दीख सकता है कि झोपड़ी हो, और फिर उन दोनों में धूम मचाकर बैठ सकता है। ऐसा वहाँ इसलिए होता है कि असल में हो नहीं सकता। स्टील का कारखाना झोपड़ी से अनमेल है, इसीसे दोनों के जमघट को चित्र में होना पड़ता है। मैं इस भौतिकी गणित और आत्मिकी कला की क्रिया-प्रतिक्रिया में स्वास्थ्य के लक्षण न देख पाऊँ, तो क्या आप मुझे दोष देंगे? •

तृतीय खण्ड

भारत

१ सास्कृतिक सम्मिश्रण

२ जातीय राष्ट्रवाद और गांधी

३ सविधान, दलीय प्रजातन्त्र, निर्वाचन

४ हमारे दल और नेता

५ भाषा का प्रश्न

६ अव्यवस्था और अपराध

७ सेक्स, वेश्या, शराब, जेल, प्रशासनिक ढील

८ प्रादेशिक समस्याएँ

९ सरकारी कर्मचारियो का प्रश्न

१

सांस्कृतिक सम्मिश्रण

भौगोलिक नहीं सांस्कृतिक

११९. आपकी दृष्टि में भारत एक भौगोलिक इकाई मात्र है अथवा इस नाम के साथ एक सांस्कृतिक तस्वीर भी जुड़ी हुई है?

—भौगोलिक इकाई के रूप मे भारत स्थिर नही रहा है। उसकी सीमा टूटती बनती रही है। कभी लाहौर उसमे नही है कभी काबुल उसमे था। फिर भी सहस्रो वर्षों से भारत के नाम पर कुछ अविच्छिन्न और अजस्र चला आया है। वह भौगोलिक नही सांस्कृतिक ही रहा हो सकता है।

अटूट अखंड

१२०. सांस्कृतिक भारत की रूपरेखा क्या है?

—उसे वस्तुगत रूपरेखा देना कठिन है। उस भारत को भावगत और मानसिक कहना चाहिए। सामाजिक संस्थाएँ, जिनमे यहाँ का पारस्परिक जीवन व्यक्त और व्यवस्थित हुआ है, वे चरित्र और आदर्श जो यहाँ के मानस को संस्कार देते रहे हैं संस्कृति के तत्त्व को दरसाते हैं। रूपरेखा वस्तु पर बँध गयी होती तो शायद राजनीतिक आघातो को वह संस्कृति अपने मे समा नहीं सकती थी। शायद तब वह टूटकर बिखर जाती जैसा कि और जातीय संस्कृतियो के साथ हुआ है। किसी रूप मे वह बद्ध नही पायी तभी वह अटूट और अखंड बनी रही। शायद कुछ मूल्यो का स्वीकार और व्यवहार उसकी निरन्तरता को थामे रहा।

मिश्रित संश्लिष्ट

१२१. तब क्या आप भारतीय संस्कृति को एक संश्लिष्ट और मिश्रित संस्कृति के रूप में ही देख पाते हैं? वे मूल्य क्या थे, जो भारतीय संस्कृति को थामे रहे?

—हाँ वह मिश्रण और संश्लेषण ऊपर से थोपा गया नही था। उससे किसी विविधता और भिन्नता की हानि नही हुई। उसमे हिंसा का प्रवेश नही हुआ।

हिंसा जितनी रही, व्यवहार-व्यापार के क्षेत्र में रही हो सकती है, मूल्यों के स्वीकरण मे वह प्रवेश नहीं पा सकी, श्रद्धा को खण्डित नहीं कर सकी। भिन्नता को भंग न करने की इच्छा रखते हुए जो एकता की अनुभूति है, उसको ठेठ भारतीय कहा जा सकता है।

तटस्थ सग्राहक वृत्ति

भारत को लोगो ने हिन्द कहा है। हिन्द सिन्ध से निकला है, जो नदी का नाम है। वही सिन्ध हिन्द बना। हिन्दू-धर्म मे एक शास्त्र, एक देवता, एक प्रवर्तक या अवतार नहीं है। शास्त्र बनते चले गये और देवता बढ़ते चले गये। कोई ऐसा मत विचार नहीं जो वहा न मिल जाता हो। आवश्यक इतना ही रहा है कि पैतृक पूजी के प्रति आदर रहे। उस मूल विनय के साथ जो भी आता है, वहाँ स्थान पाता रहा है। अर्थात् आग्रह पर उस सस्कृति का निर्माण नहीं है, आग्रह फिर मत का हो अथवा नीति-रीति का। ऐसा मालूम होता है कि आपसी रहन-सहन के विकास और अभ्यास के क्रम मे से उस सस्कृति का निर्माण होता चला गया है और किसी बौद्धिक प्रतिपादन और लौकिक नियन्त्रण का आरोप उस पर नहीं हो पाया है। मानो एक तटस्थ सग्राहक वृत्ति और दृष्टि उसके पीछे रही है। ऐसे ऋषि वहाँ होते रहे हैं, जिनके पास अपने अलग स्व का भाव नहीं था, जिनकी कामना सबको परम्परता मे समा लेने और अपने को सबमे समा देने की थी। शायद भारतवर्ष की परिस्थिति और उसका जलवायु इस दाक्षिण्य और वदान्यता के अनुकूल हुआ। जो हो, मानव-चेतना की सब प्रकार की अभिव्यक्ति का समावेश और सग्रह करके, उन धातों के प्रति परिचय और आदर को जीवन का यहाँ मूल-ज्ञान मान लिया गया है। वेद भारत की विशिष्ट पूजी है। किन्तु वेदो मे सग्रह है उस सब कुछ का, जो प्रागैति-हासिक काल से भारत-भूमि मे मनुष्य ने सिरजा और रचा। उसमे महिम्न भाव है तो मारारण और तुच्छ का भी वर्णन है। जैसे महान् और क्षुद्र मे कोई भेद नहीं बरता गया है, सबको अगीकारभाव से आदर मे ले लिया गया है।

पर की स्वीकारता

यह पर के प्रति उदारता और स्वीकारता का भाव उन सस्थाओ मे भी व्यक्त हुआ, जिन्होंने यहाँ रचना पायी। परिवार का जितना पल्लवन भारत मे दीखेगा, उतना विश्व के किसी और देश मे नहीं। तीर्थ, धमशाला, सदावर्त, प्याऊ, अतिथि, महन्त, परिव्राजक, सन्यासी ये सब धारणाएँ और सस्थाएँ भारत की निजी हैं। परिव्राजक और सन्यासी कोई विलक्षण व्यक्ति न थे। वे 'फ्रीक्स' नही थे, समाज की व्यवस्थाओं

मे उनके लिए त्याग था। गृहस्थ के धर्म का परिपाक ही सन्यास मे होता था। जीवन का यह समग्र विचार, जहाँ धर्म और कर्म एक-दूसरे से हटकर अलग दिशाओं मे नही चलते है, भारतीय संस्कृति के आधार में देखा जा सकता है। स्वयं परिवार की कल्पना यहाँ धर्माश्रित है नितान्त लौकिक और ऐहिक वह नही है। पति-पत्नी परस्पर सुविधा और सामाजिकता के विचार से ही अनुबद्ध नही हैं बल्कि माने यहाँ से आगे भी उस सम्बन्ध की व्याप्ति है। इस भाँति ऐहिक को पारलौकिक से ऐसे जोड दिया गया है कि उसका आधार छिन नही पाता है। कर्म के नीचे धर्म की बुनियाद है और इसलिए कर्म उतनी उथल-पुथल पैदा नहीं करता है। मानो वह परस्पर परिपूरक बना रहता है। स्व और स्वकीय की परिधि पर पर और परकीय की उपस्थिति यहाँ अभ्यर्थनीय ही होती है, भय और आशंका का कारण नहीं बनती है। अतिथि देवता है। कल्पना यहाँ तक गयी है कि जो जिस रूप में समक्ष है, क्या पता कि भगवान ही उस रूप मे प्रकट हुआ है। इस प्रकार मनुष्यमात्र जीवमात्र के लिए एक सम्भ्रम और श्रद्धा की वृत्ति यहाँ पनपती रही है।

विकास हार्दिक

इसका आशय यह नही कि जीवन का परुष और कठोर पहलू यहाँ अनुपस्थित रहा है। यह तो सम्भव नही है। भारतवर्ष मे जैसा इतिहास बताता है, आर्य लोग आये और क्रमश फैलते चले गये तो प्रकृति के साथ उन्हें वह सब युद्ध करना पड़ा होगा जो रहने-सहने की सुविधा जुटाने में आवश्यक होता है। किन्तु इस सब प्रयत्न के नीचे प्रकृति के प्रति भाव उनमे संघर्ष से अधिक विस्मय और सहयोग का रहा। इसी तरह जिन आदिम लोगों से उन्हें मुठभेड़ झेलनी हुई, उनके प्रति भी भाव मानो धीरे-धीरे स्वकीय होता चला गया है। जान पड़ता है कि एक विशेष प्रकार की निःस्वता उन आदि-पुरुषाओं को सिद्ध हो गयी जिन्होंने यहाँ के जीवन को बुनियादें दी। उस निःस्वता के कारण उस जीवन का विकास इतना निर्बाध और हार्दिक होता चला गया कि विग्रह और दमन के बीज गहरे तक नहीं गये और उस संस्कृति मे समन्वय और सम्मिलन की शक्ति बराबर जाग्रत और क्रियमाण रही।

इस्लाम और ईसाइयत

११२ प्र ऊपर आपने जिस संस्कृति का विश्लेषण किया है, वह मात्र हिन्दू-जातीय संस्कृति मात्र ही मानी जाती है। भारत में दो विशेष और बड़ी संस्कृतियाँ और हैं, जिन्हें इस्लामी और ईसाई-संस्कृति कहा जाता है जो तथाकथित भारतीय संस्कृति के मूल्यों एवं संस्थाओं को स्वीकार नहीं करती। वास्तविक

भारतीय सस्कृति क्या इन तीनों के भावी सश्लिष्ट स्वरूप का आधार लेकर ही विकसित नहीं होगी ? क्या आप इन तीन धाराओ का मिश्रण सम्भव समझते हैं ?

विदेशी राष्ट्रवाद

—हाँ, हिन्दू-जातीय आज सही अर्थो मे उतनी उदार भारतीय है, यह कहना कठिन है। इस्लाम और ईसाइयत दोनो मे एक निश्चित और एकाग्र धर्म-श्रद्धा थी। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि एक अमुक आवेश भी उनके पास था। भारतीय भूमि पर मैं मानता हूँ कि इस्लाम आया, तो धीरे-धीरे उसका आवेश दब चला और जीतने से अधिक उसकी दिलचस्पी जीने मे होने लग गयी। उस समय से मान लीजिए कि सश्लेषण की प्रक्रिया भी जारी हो चली थी। नातो-रिश्तो मे एक से सम्बोधन चलते थे। पर्व-उत्सव सम्मिलित होने लगे थे। अनेक ऐसी धार्मिक विधियों ने जन्म पाया था, जिनमे हिन्दू-मुस्लिम साथ होते थे। यह प्रक्रिया रुक गयी, जब एक नये कमवाद ने प्रवेश किया। उसको मैं ईसाइयत नही कहता हूँ। ईसाइयत यहाँ उससे बहुत पहले आ चुकी थी और उसने कोई समस्या उत्पन्न नही की थी। आज भी केरल मे ईसाई हैं, जिनको अहिन्दू कहना मुश्किल होता है। खान-पान, रीति-नीति, रहन-सहन, यहाँ तक कि स्वय गिरजा भी कुछ ऐसा रूप लेता गया है कि उस सबको अहिन्दू कहना आवश्यक नही है। यह नवागत वस्तु ईसाइयत से कुछ भिन्न थी, यह एक (विदेशी) राष्ट्रवाद था। राष्ट्रवाद का इससे पहले भारत के जीवन मे प्रवेश नही हुआ था। मतवाद तो थे, और भी दूसरे प्रकार के मानवीय आग्रह-वादो से भारत का सामना होता रहा था। लेकिन अग्रेजो के आने से एक नया स्वार्थवाद आया, जो हिल-मिल रहने के लिए तैयार न था। उसको यहाँ की सम्पदा सात समुन्दर पार ले जानी थी। इस नये तत्त्व के प्रवेश ने समन्वय की उस प्रक्रिया को जैसे रोक दिया। यदि केवल विजातीय होता, तो शायद यह तत्त्व शनै -शनै यहाँ के अगाध जीवन मे समाकर घुल सकता था। लेकिन विजातीय से अधिक वह विदेशीय था। अर्थात् उसे अपने भौगोलिक स्वदेश का खयाल था। इस तरह मानवीय से इतर एक भौगोलिक देश-विदेश-विचार यहाँ घर करने लगा। उसके सहारे स्वजातीय और विजातीय, स्वमत और विमत, ये भाव भी सोते-सोते मानो जाग उठे और समन्वय की पाचन-प्रक्रिया मे भग आ गया।

हिन्दुत्व, हिन्दीत्व, गाधी

हिन्दू जिसको आप कहिये, उसमे यदि इतनी साम्प्रदायिकता आ गयी है और उस कारण इतनी असमथता आ गयी है कि इस्लामी और ख्रिस्ती धाराओ से मेल न

हो सके अलग-अलग ही बनी रहे, तो मैं मानता हूँ कि भारतीयता में अब भी वह क्षमता है कि इन धाराओं को ऐसे समा ले जैसे सागर नदियों को समा लेता है। मूल हिन्दुत्व साम्प्रदायिक नहीं था और मेरी आशा है कि आनेवाला हिन्दीत्व साम्प्रदायिक न होगा। हिन्दू का सम्बन्ध मतवाद से आज यदि कुछ पता लगता हो, तो हिन्दी के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। पहले हिन्दू-संज्ञा भूमि से जुड़ी हुई थी आज वह स्थिति हम हिन्दी-संज्ञा को मान सकते हैं। जो हिन्द का वह हिन्दी। वह भी नहीं तो जो हिन्दुस्तान का वह हिन्दुस्तानी। नाम कोई हो—हिन्दू हिन्दी हिन्दुस्तानी भारतीय ! मुझे लगता है कि भारत में से यह रचना होगी, जिसका मूल मानवीय आधार होगा। मानसिकता की ओर से कोई सीमा और संकीर्णता उस पर न होगी भूमि और क्षेत्र को लेकर ही मर्यादा होगी तो होगी। वह भारतीयता न केवल इस्लाम और क्रिस्ती धारा को बल्कि इनसे इतर दूसरी धार्मिक श्रद्धाओं को भी उसी आदर और आत्मीय भाव से अपना सकेगी जो उसमें हिन्दू-सम्प्रदायों के लिए है। हिन्दुत्व यदि मान सकेगा और मैं समझता हूँ आगे-पीछे माने बिना न रहेगा कि गांधी उसके कुलीन अवतार थे तो स्वयं हिन्दुत्व में यह क्षमता आ जायगी। गांधीजी ने कहा मैं हिन्दू हूँ हिन्द का हूँ। लेकिन दुनिया के सब कौमों और जातों ने कहा कि तुम हमारे हो। मेरी आशा है, बल्कि विश्वास है कि आगामी हिन्दुत्व हिन्दीत्व और भारतीयत्व गांधी को आधार में लेगा और इस तरह विश्व-मानवत्व का प्रतीक हो सकेगा।

इस्लाम की वफादारी

१११ मैं समझता हूँ कि इस्लाम जो हिन्दुत्व में घुल-मिल न सका, इसका कारण विरोधी राष्ट्रवाद ही नहीं है। इस विरोध की जड़ें अधिक गहरी हैं। प्रथम इस्लाम को माननेवाले भारतीय प्रथम तो भारत के प्रति वफादार न रहकर अरब के प्रति वफादार होते हैं, यह एक कारण है। और दूसरे यह कि जितना जीवन हिंसात्मक आवेग लेकर इस्लाम भारत में आया उतना आवेग कोई भी अन्य जाति अपने साथ नहीं लायी। इस आवेग ने भारत की छाती पर जो घाव किये हैं, मैं समझता हूँ जब तक वे भर नहीं जाते तब तक इन दो संस्कृतियों का मिलन असम्भव है। क्या आपका विश्वास है कि इस्लाम के माननेवाले अपनी मूल वफादारी को बदलेंगे और भारत की छाती के ये घाव भरेंगे?

राजनीतिक समाज अधूरा

—इतिहास की राजनीतिक समझ को मैं बहुत अधूरी मानता हूँ एक बात।

दूसरी बात कि संस्कृति दो होती ही नही। धाराएँ दो होती हैं, पानी दो नही होते। नदियो के पानियों मे फर्क हो सकता है, फिर भी पानी एक होता है।
जड़ें गहरी आखिर होगी तो कहाँ होंगी ? मानव ने अधिक गहराई कहीं नहीं है। देश और भूमि मे गड़ी चीजों की गहराई उतनी नही माननी चाहिए।

इस्लाम की फतह

इस्लाम का जोश आज हममे आलोचना पैदा कर सकता है। लेकिन अरब जैसे पिछड़े और गये-बीते देश मे से यह स्फूर्ति और उद्भावना जगी, इसको इतिहास का बहुत बड़ा चमत्कार मानना चाहिए। मैं कैसे मानूँ कि इतिहास राजनैतिक हेतुओं से चलता है। शायद हेतु उसमे अधिक गम्भीर, अधिक व्यापक होते हैं, शायद वे हेतु ऐतिहासिक, जागतिक, 'कॉस्मिक' होते हैं। भारतवर्ष ने विविध की ममता में शायद लक्ष्य की एकता को खो दिया था। परमेश्वर नाना देवताओं मे बिखरकर मानो हमारे जीवन और व्यवहार मे से अनुपस्थित हो चला था। उस समय वहदत और बुत-शिकनी को लेकर इस्लाम भारत मे आया। कौन जानता है कि परमेश्वर को क्या इष्ट था। यदि हिन्दू-भारत मे कहीं कुछ जीवन-चैतन्य का अभाव न होता और इस्लाम मे पूरक तत्त्व के कुछ अंश न होते, तो सम्भव था कि इतिहास दूसरा होता। पर यदि यह घटना घटी कि इस्लाम ने फतह पायी, यहाँ इस्लामी राज्य हुआ, तो इसमे भारत का पराभव ईश्वर को इष्ट न रहा होगा। बल्कि वह इतिहास भारत की सम्पूर्ति मे सहायक ही बनने के लिए आया होगा।

इन्सानियत का पानी

हिन्दू का पहला और अन्तिम कर्तव्य यदि हिन्दुत्व के प्रति है, और मुसलमान का समझे गये इस्लाम के प्रति, तो दोनो ही इन्सान से विमुख होते हैं और दोनों के लिए आपस मे दो बने रहने का ही शाप शेष रहता है। पर यदि भविष्य है, तो अभिशाप स्थायी नही होनेवाला है और दोनो को सीख लेना है कि उनका पहला ईमान और पहला धर्म मनुष्य के प्रति है। उनका दर्शन, उनका विश्वास और ईमान, उनका वाद और मत, यदि इसमे सहायक होते हैं तो ही वे ठहरते हैं, अन्यथा समय की गति मे ठहरनेवाले नही हैं। ऐसा हो तो हिन्दू और मुस्लिम इन दो धाराओं में बहनेवाली संस्कृतियों का पानी मिलकर एक नहीं होगा, यह मैं नहीं मान सकता हूँ। यदि उनमे पानी है तो मैं जानना चाहूँगा कि आखिर वह जायगा कहाँ, अगर सागर मे जाकर आपस मे मिलेगा ही नहीं ? दोनो धाराएँ सूख जायँगी, मिट जायँगी, अगर आग्रह रखेंगी कि पानी उनका अलग-अलग ही बना रहे, अन्त तक कहीं

मिले नहीं। आवश्यक है कि दोनों में पानी इस्लामियत का हो और इस्लामियत एक होगी।

स्फूर्ति का स्रोत

इस्लाम को माननेवाला भारतीय अरब से अपनी स्फूर्ति लेता है, तो बुरा क्या करता है? स्फूर्ति तो उपयोगी चीज है। जीवन उससे समर्थ होता है। प्रश्न यह है कि क्या यह स्फूर्ति और जीवन-सामर्थ्य प्राप्त करके अरब में ही खर्च होती है? अंग्रेज और मुसलमान में यही फर्क था। मुसलमान का देश भारत था, तीर्थ अरब था। उस तीर्थता से भारत को नुकसान क्या था? धर्म-भाव आदमी कहीं से भी प्राप्त करे, लाभ तो उसका आस-पास के समुदाय को मिलता है। आप क्या इस कारण कि ब्रह्मपुत्र का स्रोत तिब्बत में (और अन्य चीन में) है, तो उसके जल को अपवित्र और विदेशी मानेंगे? सच यह कि चेतना कहीं से भी अपने लिए स्फूर्ति प्राप्त करे, वह शुभ ही है। धर्म का और स्फूर्ति का स्रोत अमुक प्रान्त प्रदेश या देश में स्थापित होकर बना हो यह मोह मूढ़ता का ही है। टॉल्स्टॉय और दोस्तो-विस्की से रस और स्फूर्ति लेना क्या मेरे लिए इस आधार पर नाजायज हो जायगा कि भारत-भूमि पर उनका जन्म नहीं हुआ था? भूमि का महत्त्व स्वयं व्यक्ति से होता है। उसको व्यक्ति और इन्सान से ऊपर चढ़ा देना भारी गलती है।

राजनीति का इसलाम

धर्म और राजनीति में यही अन्तर है। पाकिस्तान इस्लाम के कारण बना, लेकिन कायदे-आजम जिन्ना धर्म की दृष्टि से कितने मुसलमान थे यह स्वयं मुसलमान से पूछिये। इस्लाम के नाम पर चलनेवाली राजनीति से ढँका हुआ घिरा हुआ जो है वही इस्लाम धर्म है, यह समझना सच को न समझना है। हिन्दू-धर्म के बारे में भी भारी भ्रम होगा अगर हिन्दू-महासभा को उसका खरी-खोटी समझ लिया जायगा। आपके प्रश्न में भी कुछ इस तरह की भूल समाती है। राजनीति में से इतिहास के सार और सन्देश को देखना कभी सही नहीं होगा।

इतिहास की सीवनें मत उधेड़िये

धार्मिक-मतभेद इस्लाम में ज्यादा रहा तो क्या यह नहीं माना जा सकता कि धर्म पर कुर्बानी करने की शक्ति उसमें ज्यादा रही? दूसरे की कुर्बानी में भी अपनी कुर्बानी की तैयारी जरूरी होती है। उन क्रूर कृत्यों का समर्थन यहाँ नहीं है, जो इस्लाम के नाम पर हुए या हिन्दू या दूसरे धर्मों के नाम पर भी होते रहे। उनकी बात

पोसना और उनके घाव पोसना चाहे, तो पीछे जाइये। लेकिन जब इतिहास की सीवन उधेडने आप पीछे जा रहे होंगे, भविष्य की तरफ आगे बढनेवाले नहीं रहे जायेंगे। तब यदि आप वैष्णव हैं और मैं जैन हूँ, तो वे अमानुषी लीलाएं जाग कर हमें उद्विग्न कर छोडेंगी, जो जैन और वैष्णव अथवा शैव और वैष्णव आदि दलो में अपना ताण्डव कभी अतीत-काल मे दिखाती रही थी। इतिहास और पुरातत्त्व उनको जगा भी सकता है, लेकिन उस अध्ययन का लाभ इसमें है कि हम उसको मूर्खता समझें और उससे बचें। यदि राग-द्वेष से ऐतिहासिक तथ्य को अपनाकर वहाँ से अपनी मानसिकता की रचना करेंगे, तो हम अपने प्रति ही अन्याय कर रहे होंगे। वैष्णव और जैन रहते यदि मुझको और आपको परस्पर चर्चा करने मे कोई कठिनाई नहीं हो रही है, तो क्या इस दावे के साथ कि इस प्रकार से इतिहास के सब घाव भर चुके हैं? पागलपन क्या आये दिन पति-पत्नी के बीच भी नही घटित हो जाया करता है? उस तीव्र रोष और घृणा को याद कीजिये, जो इन निकटतम सम्बन्ध मे क्षण मे उदय पाकर मानो सब भस्म कर डालने पर उतारू हो आता है। लेकिन एक ही क्षण बाद फिर किस तरह वह छू-मन्तर हो जाता है, पति-पत्नी आलिंगन मे आ जाते हैं, कि पता ही नहीं चलता। घाव पहली हालत मे इतना गहरा मालूम होता है कि जैसे कल्प-कल्पान्त तक नहीं भरेगा, अगले ही क्षण वह सब इतना जड से उड जाता है कि उस पर यह यकीन आना मुश्किल होता है। प्रेम-भाव और हिंसा-भाव की इस निकटस्थता को व्यक्तिगत सम्बन्धों में हम रोज देखते और भोगते हैं। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण से उसकी यथार्थता और तर्कता को भी समझ पाते हैं। लेकिन जातीय और राष्ट्रीय पैमाने पर उस हिंसा को देखकर हमारी श्रद्धा मानो खो जाती है। लेकिन मैं आपसे कहता हूँ कि इतिहास के मर्म मे जायेंगे, तो आप देख सकेंगे कि व्यक्ति-मानस, जाति-मानस और विश्व-मानस मे कोई बहुत अन्तर नही होता है। एक ही सिद्धान्त एक ही नियम यहाँ और वहाँ काम करता है। मनुष्य समझ लिया करता है कि राज-नीतिक और विग्रहात्मक हेतुओ से घटना जगत् चल रहा है। लेकिन जरा गहरे जायगा, तो वह पहचान पायेगा कि उसके हेतु सिर्फ उस तक ही सच हैं, अर्थात् उन हेतुओ के द्वारा वह कर्म-समय होता और इस प्रकार विधाता और विधान के हाथो साधन सिद्ध होता है। अन्यथा उन हेतुओ के लिए जागतिक प्रक्रिया मे कही स्थान नही है।

मुसलमान अधिक हार्दिक

यों आप मुझसे पूछना चाहे तो मैं कहूँगा कि इस्लाम के सहारे मुसलमान आज भी

अधिक हार्दिक और भावुक है। उधर विचार और हिसाब के अतिरेक से हिन्दू अधिक स्वकेन्द्रित और स्वनिष्ठ है।

धर्म निरपेक्षता

२१४ नये भारत में जो आर्थिक और औद्योगिक प्रगति हो रही है और उसके पीछे जो एक धर्म-सम्प्रदाय-निरपेक्षता पनप रही है, वह कितनी दूर तक वांछित सांस्कृतिक सम्मिलन एवं सम्मिश्रण को प्रेरित करने में समर्थ है?

धर्म-समादर, धर्म-निरादर

—धर्म-निरपेक्षता के दो स्वरूप हो सकते हैं। एक तो वह जो सर्व-धर्म-समादर में से आती है। दूसरी जो धर्म की उपेक्षा में से फलित होती है। मुझे प्रतीत होता है कि धर्म के बिना व्यक्ति लौकिक से गिर जाता है, लौकिक का बिन्दु नहीं बन पाता। वह धर्म प्रत्येक की आन्तरिकता से सम्बन्ध रखता है, लेकिन रहन-सहन के इकट्ठे होने के कारण तत्त्व-दर्शन और प्रार्थना-पूजा की विधियों को लेकर सामुदायिक भी हो जाता है। विश्व का सारा मानव-समाज इस तरह पाँच-सात धर्मों में बँटा हुआ है। वे बुद्धिशाली लोग भी जो धर्म-निर्भर अपने को नहीं मानते उससे उत्तीर्ण मानते हैं, जाने-अनजाने अमुक भाषा में अमुक धर्म-समुदाय में रचे-पचे होते हैं। मैं जैन हूँ, आप सनातनी हैं, वे मुस्लिम हैं, तीसरे ईसाई हैं, इत्यादि घटना सदा मन के निर्णय से नहीं बनती, मानो जन्म की और आस-पास की स्थिति से सहज बनी हुई होती है। जो धर्म निरपेक्षता इस यथार्थता और वास्तविकता से विमुख और असावधान होकर लोक-कल्याण करना चाहती है, वह उतनी सफल नहीं हो सकती। कारण वह ऊपरी सतह के काम-काजी आदमी को लेती है, उसकी अभ्यन्तरता को हिसाब से बाहर छोड़ देती है। अर्थात् वह पूरे व्यक्तित्व का लाभ नहीं उठा पाती।

लोकवाद से मनुष्यता का ह्रास

लोकवादी दर्शन और कोरमकोर कर्मवादी कार्यक्रम मेरे विचार में सांस्कृतिक विकास में बहुत मदद नहीं कर पायेंगे। उनमें से जो फलित होगा वह भौतिक प्राचुर्य तो हो सकता है और उत्कट राजकारण भी हो सकता है, लेकिन नैतिक और सांस्कृतिक उन्नति दूसरी चीज है।

वस्तु और कर्म पर जब एकाग्री जोर पकड़ता है, तो मानवीय गुणों के प्रति अपेक्षा वातावरण में कम हो जाती है, कुछ उपेक्षा-सी होने लगती है। इस कारण कुल

मिलाकर मनुष्य और मनुष्यता का ह्रास होना है। धर्म गई हैं और सम्प्रदायो में वँटे हैं। इसलिए उन सबसे एक-साथ किनारा लेकर जो लोकवाद (सेक्युलरिज्म) सुरक्षा बनाकर चलना चाहता है, उसके गहरे मे उन धर्मो के प्रति समान तटस्थता नही होती है, बल्कि एक प्रकार का समान निरादर होता है। जिसमे समानता आदर की है, उपेक्षा की नही है, वह धर्मभाव-सम्पन्न लोकवाद अधिक कार्यकारी हो सकता है।

गाधी और नेहरू

आपका प्रश्न शायद भारत की स्थिति को मन मे लेता है। तो इन दोनो दृष्टिकोणो को स्पष्ट करने के लिए दो नाम समक्ष हैं गाधी और नेहरू। गाधी भी व्यावहारिक और राजनीतिक थे, लेकिन मूलत धर्मभावापन्न थे। चोटी रखते थे, अपने को वैष्णव कहते थे। लेकिन धर्मों और सम्प्रदायो को परस्पर पास लाने मे उनसे अधिक काम कौन कर पाया है?

सास्कृतिक सम्मिश्रण

१३५ पिछला प्रश्न शायद कुछ उलझ गया। म यह जानना चाहता हूँ कि भारत के नये जन-जीवन मे जो एक बौद्धिकता, एक वैज्ञानिक प्रश्न-चेतना और अर्थ-मानसिकता पनप रही है, वह क्या इस समस्या के समाधान मे कुछ योगदान दे सकेगी?

सम्मिश्रण की व्यग्रता निरर्थक

—समस्या सास्कृतिक सम्मिश्रण की आप मानते है न? सिन्धु और ब्रह्मपुत्र का क्या हम सम्मिश्रण चाहते हैं? मार्ग दोनो के अलग हैं, स्रोत और समाधि मे दोनो आज भी एक है। दोनो हिमालय मे बहुत पास-पास मे निकलती हैं और अन्त मे सागर मे जा मिलती हैं।

मैं मिलाने की कोशिश मे कुछ बहुत अर्थ नही देखता हूँ। मिलाने मे अक्सर रूपाकार को एक बनाने की कोशिश की जाती है। वह चेष्टा बहुधा एकता को सम्पन्न नही, खण्डित करती है। ऊपरी राजनीतिक समझौते भीतर मनो की टूई और दूरी को ज्यो का त्यो छोड जाते है। यहाँ वही पहली बात ध्यान मे रखनी होगी, जिसको मैंने भारतीय सस्कृति की विशेषता कहा था। अर्थात् विविधता के प्रति उसमे अधैर्य नही है, क्योकि विविधता के नीचे एकता की अनुभूति है।

पृथक्करण के सहारे मिश्रण

जीवन नीचे से जो खिलता-फैलता हुआ आता है, वह बहुजन समाज को अनायास

नाना सम्बन्धों में उलझाये बिना नहीं रहता। सम्बन्धों का यह नानात्व यह निविड़ता जटिलता उनका यह गुम्फन बढ़ता ही जानेवाला है। जिसको आप संस्कृतियों का सम्मिश्रण कहते हैं, वह भावनानुभूति में होता है। बाहर, रूप प्रत्यक्ष में, तो मानो अभेद से अधिक भेद-विभेद और उनका भेद-विज्ञान बढ़ता है। विज्ञान की प्रगति बुद्धि की प्रगति सिवा इसके क्या है कि हम सूक्ष्म-से-सूक्ष्म का भी पृथक्करण कर पाते हैं। जितना आदमी आगे जायगा बुद्धि की भेद-शक्ति बढ़ती ही जायगी। अणु-विज्ञान आज परमाणु तक पहुँचा है और उसमें भी नाना भिन्नताओं को देख पा रहा है। भेद की इस तीव्र शक्ति में से ही मानो अभेद आविष्कृत होता जा रहा है इस अर्थ में कि चेतन और जड़ भिन्न नहीं रह गये हैं। देखने की बात है कि इस तरह मिश्रण स्वयं पृथक्करण के सहारे सहज सम्पन्न होता है।

सम्मिश्रण के प्रयास

आपको उन प्रयत्नों की याद दिलाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए, जो जान-बूझकर इस सम्मिश्रण के लिए किये गये हैं। अकबर को इस सम्बन्ध में याद किया जा सकता है। सामाजिक दृष्टि से हिन्दू मुस्लिम विवाह द्वारा, धार्मिक और तात्त्विक दृष्टि से तरह-तरह के सम्मिलित शास्त्रार्थ और नीति-रीति के प्रचलन द्वारा उसने अपना दीने-इलाही चलाना चाहा। क्या कुछ उसका फल हुआ? सम्मिश्रण जब-जब किया जाता है, वह ऊपर से होता है, भीतरी अनिवार्यता में से नहीं आता। अतः अधिकांश उसका फल उलटा ही आता है।

धर्म-परायणता द्वारा एकता

आप एक बात देखियेगा। धार्मिक हिन्दू और धार्मिक मुसलमान व्यवहार में जैसे एक समान सज्जन बन जाते हैं। एक मन्दिर जाता है, दूसरा मस्जिद जाता है। मानो इस विधि से दोनों अलग और उलटे तक चलते मालूम हो सकते हैं। लेकिन फल एक और एक समान आता है। दोनों अच्छे नागरिक बनते हैं। सच्चे धर्म भाव से इस तरह हिन्दुत्व और इस्लाम आप ही मिल जाते हैं। भावना से बाहर, कोरी लोक-हितैषिता और लोक-शासित्व के नाम पर, उन दोनों को मिलाने की कोशिश विशेष फल नहीं ला सकती।

हाँ विज्ञान और धर्म की सघनता और विपुलता में से निश्चय ही हम अनिवार्यतया समाज में सहयोग में और समानता में एक-दूसरे के निकट-से-निकट पाते जा रहे हैं, यह स्पष्ट ही है।

प्रयासों की विफलता

१३६ फिर भी यह आवश्यक है कि जातीय द्वेष और घृणा को कम किया जाय। इसके लिए क्या प्राचीन पौराणिक पद्धति का ग्रहण लाभप्रद नहीं होगा? प्राचीन पुराणों में धार्मिक एवं सांस्कृतिक कथाओं को इस प्रकार परस्पर मिलाया और गूंथा गया कि विरोधी सम्प्रदायों के लिए पुराण समान रूप से मान्य एवं पूज्य बन गये। क्या इसी प्रकार के कुछ ग्रन्थ नहीं रचे जा सकते, जिनमे भारत के सभी विभिन्न धर्मों के तत्त्व और धार्मिक मान्यताओं का समावेश हो और जिन पर सभी ईमान ला सकें। अकबर और गांधी जो विफल हुए, मेरी समझ मे इसलिए कि विभिन्न धर्मों को विश्वास का एक समान आधार वे न दे सके।

हृदय के तल के प्रयास

—गाधी और अकबर के प्रयत्नो की भूमिका मैं एक नही मानता हूँ। पौराणिक प्रथा जिसको आपने कहा, वह ठीक है। लेकिन यह काम कैसे हुआ और किसने किया? मुझे नही प्रतीत होता कि यह काम शासक या लोकनायक द्वारा हुआ था। भावनाशील पुरुषो के द्वारा यह काम अनायास होता चला गया। लम्बा-चौडा आयोजन और जुटाव उसके पीछे नही था। ऐसे प्रयत्न हो सकते हैं जो गहरी आत्म-श्रद्धा मे से न आयें, लोक-प्रयोजन के तल पर ही हो। मेरा इस जगह आग्रह यह है कि हृदय मे से निकले हुए प्रयत्न ही इस क्षेत्र मे फलदायक होंगे। केवल प्रयोजन के हेतु किया गया काम सफल नही होगा। अर्थात् जो स्वय एक धार्मिक कार्य है, केवल लौकिक नहीं है, उसकी सिद्धि मे वह लोक-कर्म या सघ-कर्म उपयोगी होगा, जिसके मूल मे स्नेह की विवशता होगी।

मात्र परिचय निष्फल

केवल परिचय से काम नही चलता है। बल्कि उल्टे घृणा का काम भी उससे लिया जा सकता है। एक वन्धु ने बडे परिश्रम से अरवी भाषा पढी और कुरान का गहरा अध्ययन किया। अच्छे-अच्छे मौलवी उनके इस्लामी ज्ञान पर दग रह जाते थे। लेकिन यह सव विद्या इस काम आयी कि वे इस्लाम के प्रति अवज्ञा और द्वेष ही जीवनभर फैलाते रहे! सस्कृतज्ञ मौलवी भी ऐसे मिल जाते हैं कि जिनकी विद्या उन्हें हिन्दू के निकट नहीं लाती है, वल्कि विमुख वनाती है। केवल एक-दूसरे के विषय का बोध काफी नहीं है। स्वय मे यह उलटा फल भी ला सकता है। जो आवश्यक और मूलभूत है, वह यह कि पहले पर के लिए हममे स्नेह और आदर हो। स्वय के प्रति राग कम होगा, ठीक उतनी ही मात्रा मे पर के प्रति द्वेष भी कम होता जायगा।

पर को परम्परा में देखकर जितना भी जानेंगे वह सब जानकारी वैरियत को मिटाने वाली नहीं बढ़ानेवाली होगी।

वैरियत के सम्बन्ध

बचपन में एक कहानी एंड्रोक्लीज की पढ़ी थी। कभी शेर के पाँव से उसने काँटा निकाला था। कई रोज भूखे रखे गये शेर के सामने जब सजा के तौर पर एंड्रोक्लीज को डाला गया तो शेर ने उसको पहचान लिया। लोग तब सारे अचम्भे में रह गये देखकर कि दोनों तो परस्पर प्यार कर रहे हैं। मैं अपने मन से पूछता हूँ कि एंड्रोक्लीज से पूछा जाता कि शेर लम्बा कितना था, पूँछ कितनी बड़ी थी, कहाँ पैदा हुआ इत्यादि, तो क्या वह कुछ भी बता सकता था? लेकिन शिकारी के ज्ञान को देखें। वह जब वैज्ञानिक अध्ययन करता है शेर की एक-एक बात को पहचानता और परखता है तो वह ज्ञान आखिर उसको शिकारी ही तो बनाता है। शेर के लिए उसमें कोई अपनेपन का भाव तो नहीं पैदा करता। शेर और शिकारी का सम्बन्ध अपनेपन का नहीं है, वैरियत का है। अर्थात् परस्पर-परिचय आदि स्वयं में उस दृष्टि में सहायक नहीं होता है। होता है तो तब जब पहले भावना उस प्रकार की जाग चुकी होती है।

गम्भीर धर्मभाव अनिवार्य

भारत के सेक्युलर राज्य की ओर से इस प्रकार के प्रयत्न हो रहे हैं। वे शुभ हैं, उपयोगी हैं। लेकिन शुभता और उपयोगिता वह फलवती तब होगी जब वातावरण में गम्भीर धर्मभाव भी होगा। सेक्युलरिज्म तो केवल लोकवादी है अगर हवा उससे भरी होगी तो मिलकर आने के प्रयत्न होते रहेंगे और टूटते भी रहेंगे। कारण बुद्धि-व्यापार हृदय से समानान्तर चलता है। धर्म हृदय की वस्तु है।

गांधी और अकबर

११७. इधर आपने गांधी और अकबर के एकता-प्रयासों की भूमिकाओं को भिन्न-भिन्न बताया है। पर मैं उनको लगभग एक मानता हूँ इस दृष्टि से कि दोनों ही हिन्दू-मुस्लिम-एकता को स्थिर करने में और पारस्परिक विरोध को मिटाने में असफल रहे। इस विषय को तनिक और स्पष्ट करें।

महात्मा और शाहन्शाह

—अकबर स्वयं शासक थे। गांधी का सम्बन्ध शासन से या भारत की राजनीति

से काग्रेस के द्वारा था। अकवर ने उस रूप का निर्माण किया, जिसमे उन्हें आशा थी कि हिन्दू-मुस्लिम-सगम हो जायगा। गाधी मे उस प्रकार का कोई प्रयत्न नही दीखता। उनके आश्रम मे जैसे जिस-जिस प्रकार के लोग आते चले गये, प्रार्थना में उसी विधि के भजन-स्तवन शामिल होते चले गये। यह नियोजनपूर्वक नहीं हुआ, परिस्थिति की और हृदय की आवश्यकता के अनुसार हुआ।

गाधी के एकतासम्बधी प्रयत्न मानो तपस्या और तितिक्षा को प्रगाढ से प्रगाढ़तर वनाने की ओर चलते गये। साथ ही कर्म-क्षेत्र मे काग्रेस को वे उस प्रकार की प्रेरणा देते गये। ऐसा कोई प्रयत्न उनके द्वारा नहीं हुआ, जहाँ वेद और कुरान का मिला-जुला सस्करण निकालने की चेष्टा की गयी हो। न मस्जिद मन्दिर के समन्वय की बात उनमे देखी जाती है। गाधीजी का प्रयत्न महात्मा का है। अकवर का शाहन्शाह का है।

प्लेटफार्म और साधना

विफल दोनो हुए, तो सच यह कि सम्पूर्ण रूप से सफल कभी कोई होगा ही नही। आदमी मे द्वेष शेष रहे ही चला जायगा, जिससे पुरुपार्थ के लिए अवकाश रहे। लेकिन दीने-इलाही की विफलता जैसी चीज गाधीजी के लिए कही न थी, क्योकि वैसा प्रयत्न न था। हिन्दू-मुस्लिम-विद्वेष की जो ज्वालाएँ फैली, तो काग्रेस के हिन्दू-मुस्लिम-एकता कार्यक्रम में से काग्रेस-लीग की फूट ही निकलती चली गयी। वह इतिहास दूसरा है और उसके कारण दूसरे हैं। यह तो निस्सन्देह माना जायगा कि वह विफलता गाधी की भी है, लेकिन उसका निदान मैं गाधी-काग्रेस के सम्वन्व में अधिक देखता हूँ। गाधी का धर्म-भाव काग्रेस के पास अगर केवल कमवाद वनकर रह गया, तो अवश्य त्रुटि गाधी मे भी रही होगी। काग्रेस ने एकता को प्लेटफार्म वनाया, साधना नही वनाया। गाधी साधना मे से एकता सिद्ध किया चाहते थे। काग्रेस राजनीतिक जमात थी और साधना की वात ही उसे असगत थी। काग्रेस की विफलता गाधी की विफलता नही है, यह मैं नही कहता हूँ। लेकिन गाधी का इस प्रश्न के प्रति दृष्टिकोण अकवर से और काग्रेस से भिन्न था। यही इस समय के लिए सगत वात है।

दार्शनिक ऐक्य-भूमि

१३८ यद्यपि अर्थ, राजनीति और समाज इन तीन स्तरों पर विभिन्न सम्प्रदाय एक भूमि पर खड़े होते हैं। फिर भी यह भूमि ऊपरी है, आन्तरिक नहीं। क्या आप दर्शन और श्रद्धा की किसी ऐसी ऐक्यभूमि की ओर सकेत कर सकते हैं, जिस पर सभी विरोधी धर्म एक होने की ओर बढ़ सकें?

ऐक्य धर्म में बाहर नहीं

—यह भूमि ईश्वर के सिवा दूसरी नहीं है। आज भी लगभग सभी अनुभव करते हैं कि ईश्वर, गॉड, अल्लाह एक हैं। कुछ पहले ऐसा अनुभव नहीं था और वे सब भूत तीन थे। लेकिन उत्तरोत्तर ज्ञान फैलता रहा है कि तीन नहीं सहस्र-सहस्र नाम और लाखों-करोड़ों अन्तर ईश्वर में विलीन हो जाते हैं। परम एकता यही है।

धर्म वह है जहाँ व्यक्ति स्मरण प्रतिस्मरण पूजा-प्रार्थना आदि के द्वारा अपना सम्बन्ध उसी एक से बनाता है। अत धर्म से बाहर ऐक्य कहीं मिलनेवाला नहीं है।

धर्म स्वयं अनेक हैं, लेकिन पहचान गये हैं कि वे आपस में जुड़े सब उस एक से ही हैं। अनेकता सम्प्रदायों की रहती भी चली जाय तो हानि नहीं है, बशर्ते कि वहाँ धर्म भाव हो। क्योंकि धर्म भाव होने पर एकता की अनुभूति के द्वारा अनेकता स्वयं सुन्दर और आदरास्पद बनती है।

संघ-बद्ध स्वार्थ

जीवन-व्यवहार की लोकभूमिका पर हरएक को व्यक्ति और नागरिक बनकर आना पड़ता है। उस तरह मजहब वहाँ सब समाप्त हो जाते हैं। लेकिन हम देखते हैं कि यह काफी नहीं होता। कारण संघबद्ध स्वार्थ सम्प्रदाय की आड़ लेते हैं और उस साम्प्रदायिकता का पूरा-पूरा लाभ उठाया करते हैं। अभी हाल के अपने अनुभव की बात कहता हूँ। दोनों के दो सम्प्रदाय वैमनस्य में मानो जकड़ ही पड़े थे बड़ी मारामारी थी। लेकिन दोनों पक्षों के सर्वमान्य स्थानीय नेता एक जगह टिके थे एक नाते से वाले थे एक कम्पनी में साझीदार थे। दोनों के लिए साम्प्रदायिक प्रभाव साधन-रूप होता था दोनों ही इस तरह करोड़पति बनकर आपस में बराबरी के मित्र बन चले थे।

२

जातीय राष्ट्रवाद और गांधी

पाकिस्तान की सृष्टि

१३९ पाकिस्तान की सृष्टि के लिए आप किन-किन शक्तियो को जिम्मेदार मानते हैं? काग्रेस की मुस्लिम अपीजमेंट की अव्यावहारिक नीति इसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी है? पाकिस्तान बनने को आप भारत के भविष्य के लिए शुभ मानते हैं अथवा अशुभ?

काग्रेस की प्रयोजन-प्रियता

—व्यतीत घटना के लिए क्या-क्या तत्त्व उत्तरदायी थे, यह किसलिए हम जानना चाहते हैं? अगर आगे की सावधानता के लिए जानना चाहते हैं, तो यह प्रश्न उपयोगी हो सकता है। केवल जानने के लिए जानने का विचार छोड़िये। कारण, वह जानना आधा स्थितिगत और आधा मनोगत होता है। अर्थात् कोई जानना सही, सच नही हुआ करता।

काग्रेस एक राजनीतिक सस्था थी और उसको भारत का स्वराज चाहिए था। सन् १९,२० से उसने गाधीजी को अपनाया और गाधी-नीति उसकी नीति बनी। लेकिन जो गाधी के लिए नीति से अधिक था, सिद्धान्त था, अवसर-साधन का उपाय-मात्र न था, काग्रेस के लिए वह प्रयोजन-साधन की युक्ति तक ही रह गया। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए गाधीजी ने आगे जाकर काग्रेस की सदस्यता तक से अपने को अलग कर लिया और केवल परामर्श का सम्बन्ध रखा । इस परामर्श के नाते नेतृत्व का काम फिर भी उनके कन्धो से उतरा नही।

काग्रेस और गाधी की अहिंसाएँ

इन परिस्थितियो मे भारत का स्वराज्य आया। घोर वेदना का वह काल था। गाधी सत्यरूपी परमेश्वर के लिए ही जीते थे। उनका वचन था कि दो भाइयो में जैसा बँटवारा होता है, वैसा हो तो ठीक है, नही तो देश का बँटवारा मेरी लाश पर से होगा। क्रिप्स-मिशन से अधिकारत बात करनेवाले काग्रस-नेता थे, गाधीजी

उन्हें अनिवार्य केवल अपने व्यक्तित्व के कारण थे, वैधानिक स्थिति उनकी नहीं थी। यह अ-स्थिति गांधीजी ने जान-बूझकर अपनी बना रखी थी। देश को फाड़ने और चीरने की बात पर उनका कलेजा ही जैसे फिरता था। क्या हलाहल की घूंट उन्हें उस वक्त पीनी पड़ी यह धीरे धीरे खुले इतिहास में आता जा रहा है। यह उनकी मनोवेदना आगे जाकर अमोघ बनेगी और लोगों के दिलों को हिला सकेगी। कांग्रेस की राजनीति ही अहिंसा थी इससे आगे वह कोई धर्मनीति तो न थी। गांधीजी अहिंसा के साथ जीने और मरनेवाले थे। लेकिन गांधी की यह अहिंसा सत्य के साथ थी इसलिए वह तनिक भी अपीजमेण्ट न थी। भय रखने का लोभ उसमें रत्तीमात्र न था। वह शक्ति का एक नया रूप था—नयी और बर्बर शक्ति के सामने मानवीय और भव्य शक्ति का रूप! लेकिन भव्यता के कारण वह शक्ति कम नहीं अधिक ही प्रखर और अमोघ थी। कांग्रेस के हाथ उसका राजनीतिक रूप ही जो आया सो जान पड़ा कि कांग्रेस के पास अपीजमेण्ट की नीति ही है।

गांधी की लाश पर

सब जानते हैं कि कांग्रेस के वैधानिक नेताओं को उस समय गांधीजी का मार्ग और गांधीजी का परामर्श रुचा और पचा नहीं। पाकिस्तान कांग्रेस के नेताओं ने स्वीकार किया। कांग्रेस की जनता ही शायद नेताओं के इस निर्णय को न मानती। नेताओं को स्वयं यह संशय था। गांधीजी की वे शरण गये और आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी में हिन्द भंग का प्रस्ताव गांधीजी के आशीर्वाद से पास हुआ। क्या गांधीजी उस समय अपना कौल भूल गये थे? मेरे विचार में नहीं भूले थे। मुझे विश्वास है कि उस प्रस्ताव पर जो गांधीजी ने जो आशीर्वाद दिया था वह स्वयं उन्हें शव बनाकर ही छोड़ गया था। उनका वचन झूठा नहीं हुआ सचमुच सच्चा हुआ कि उनकी लाश पर से हिन्दुस्तान आरी से चीरकर दो बना।

केवल अहिंसा अपीजमेण्ट

अपीजमेण्ट! केवल अहिंसा सचमुच अपीजमेण्ट रह जाती है। सत्य के साथ और सत्य के आग्रह के साथ वह एक ऐसी शक्ति का आविष्कार है जो विज्ञान के क्षेत्र के अणु-शक्ति के आविष्कार से कहीं अधिक महत्त्व का है। वही शक्ति आगामी मानव-इतिहास को सँभालने और बनानेवाली होगी। अब तक शक्ति का जो रूप हम देखते और परखते आये हैं वह अमानुषी रहा है। यह नयी शक्ति सर्वथा मानुषी होगी। व्याघ्र सिंह जैसे नख-दन्तवाले हिंस्र पशुओं से दुर्बल और स्वल्पकाय मनुष्य बलि

२

जातीय राष्ट्रवाद और गांधी

पाकिस्तान की सृष्टि

१३९ पाकिस्तान की सृष्टि के लिए आप किन-किन शक्तियों को जिम्मेवार मानते हैं? काग्रेस की मुस्लिम अपीजमेंट की अव्यावहारिक नीति इसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी है? पाकिस्तान बनने को आप भारत के भविष्य के लिए शुभ मानते हैं अथवा अशुभ?

काग्रेस की प्रयोजन-प्रियता

—व्यतीत घटना के लिए क्या-क्या तत्त्व उत्तरदायी थे, यह किसलिए हम जानना चाहते हैं? अगर आगे की सावधानता के लिए जानना चाहते हैं, तो यह प्रश्न उपयोगी हो सकता है। केवल जानने के लिए जानने का विचार छोडिये। कारण, वह जानना आधा स्थितिगत और आधा मनोगत होता है। अर्थात् कोई जानना सही, सच नही हुआ करता।

काग्रेस एक राजनीतिक सस्था थी और उसको भारत का स्वराज चाहिए था। सन् १९,२० से उसने गाधीजी को अपनाया और गाधी-नीति उसकी नीति बनी। लेकिन जो गाधी के लिए नीति से अधिक था, सिद्धान्त था, अवसर-साधन का उपाय-मात्र न था, काग्रेस के लिए वह प्रयोजन-साधन की युक्ति तक ही रह गया। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए गाधीजी ने आगे जाकर काग्रेस की सदस्यता तक से अपने को अलग कर लिया और केवल परामर्श का सम्बन्ध रखा। इस परामर्श के नाते नेतृत्व का काम फिर भी उनके कन्धो से उतरा नही।

काग्रेस और गाधी की अहिंसाएँ

इन परिस्थितियो मे भारत का स्वराज्य आया। घोर वेदना का वह काल था। गाधी सत्यरूपी परमेश्वर के लिए ही जीते थे। उनका वचन था कि दो भाइयो मे जैसा बँटवारा होता है, वैसा हो तो ठीक है, नही तो देश का बँटवारा मेरी लाश पर से होगा। क्रिप्स-मिशन से अधिकारत बात करनेवाले काग्रस-नेता थे, गाधीजी

लिए कांग्रेस को 'हिन्दू' बनना हुआ क्योंकि लीग को 'मुस्लिम' बनना था। हम इस व्याधि से साम्प्रदायिकता के नाम पर ऊपर ऊपर लड़ना चाहेंगे जैसी कि कोशिशें होती हैं तो फल नकारात्मक आयेगा। इस और ऐसे प्रयत्नों में ही अपीजमेण्ट का घुन लगता है। वह प्रयत्न सच से दूर हो जाता है। सच से बाल बराबर हटने पर भद्रता सभ्यता शिष्टता आदि सचमुच दुर्बलता के ही नाम हो जाते हैं। अगर हम सच को अपनाने की हिम्मत न रखें तो अहिंसा में खतरा ही खतरा है। इसीलिए चालित राजनीति में जैसे दिखाई देता है कि अहिंसा एक कल्पना है, वह निर्बलता है, पराजय को अपनाना है। लेकिन अगर मृत्यु के प्रति निर्भयता हो और हर हालत में सच को अपनाने का हौसला हो, तो उसके साथ शर्त के तौर पर चलने-वाली अहिंसा से बड़ी कोई राजनीति नहीं है कूटनीति नहीं है। एक तरह सारी नीतिमत्ता उसमें समा जाती है। आज जिसे 'पीछे बन्द मुक्का सामने मीठी मुस्कान' की नीति माना जाता कूट और सफल नीति कहा जाता है, मानो वह सहज हो जाती है, कठिन नहीं रहती। छल्या में मुक्के और मुस्कान में मेल जो नहीं है, भीतर कपट जो रहता है, सो मुक्के को छिपाकर पीछे रखना पड़ता है। गांधीवादी निष्कपटता में सारी बाजी सामने खोल दी जा सकती है और मुस्कराहट के साथ वैसे मुक्के को भी समक्ष रख दिया जा सकता है। अर्थात् चालित राजनीति का सत्त्व गांधीनीति में अविद्यमान नहीं होता, बल्कि सर्वथा स्पष्ट और प्रत्यक्ष होता है। और वह है बल। सत्य के बल से क्या कोई भी बड़ा बल हुआ है, हो सकता है? एकत्र के रूप में उसीको सामने और साथ लेकर चलने से फिर अहिंसा में निर्बलता की प्रतीति का अवकाश किसीके लिए नहीं रह जाता। सत्य से छूटी अहिंसा ही है जो निर्बल हो सकती है और इससे राजनीति के लिए अनिष्ट और त्याज्य समझी जा सकती है।

पड़ोसी मित्र बनें

पाकिस्तान और हिन्दुस्तान आज दो हैं और अपने पड़ोसपन के प्रभाव से उनकी राजनीति और विदेश-नीति मुक्त नहीं हो सकती है। दोनों की वे राजनीतियाँ जो अपने-अपने बल में विश्वास रखती हैं, दोनों को बेचैन बनाये रखेंगी। कभी वह समय आये कि पड़ोसी इतने मित्र हों कि एक अनुभव करें, तो वह बल की बात को भूल जाने से आयेगा। केवल एक बल को साथ रखने से वह आयेगा और वह सच के साथ चलनेवाला हमदर्दी और प्रेम का बल है।
ऐसी राष्ट्र-नीतियों को मैं परस्पर के प्रति शुभ मानूँगा। हिन्दुस्तान के लिए पाकि-स्तान स्वयं में शुभ या अशुभ क्या होगा इस प्रश्न में कुछ अर्थ नहीं है। पश्चिम

शक्ति के योग से जिस प्रकार जीतता रहा है, वैसे ही शस्त्रास्त्र-सज्जित सैन्य-शक्ति से आगे जाकर यह प्रेम और नीति-शक्ति कहीं विजयिनी सिद्ध होगी।

पाकिस्तान क्यो बना ?

पाकिस्तान क्यो बना ? उसके पीछे अवश्य जीवन का और विज्ञान का तर्क काम कर रहा होगा। हम आगे दौड़ते हैं तो कैसे ? तैरकर बढा जाता है तो क्यो ? यान धरती से ऊपर उठता और आगे भागता है तो किस कारण ? इन सभीमे फल कृति से उलटा दीखता है। यान के पख हवा को नीचे दबाते हैं और यान ऊपर उठता है, पाँव धरती को पीछे धकेलते हैं, आदमी आगे बढता है, हाथ पानी को पीछे फेंकते हैं तो ही तैराक आगे जाता है। अर्थात् धन के प्रयत्न मे ऋण का फल आप ही प्राप्त हो जाता है। काग्रेस को राज्य चाहिए था। गाधीजी के नेतृत्व में तप-त्याग से बल की सृष्टि हुई। स्वराज्य उस बल से तनिक निकट आता दीखा, तो मालूम हुआ कि काग्रेस के समकक्ष होकर इधर से लीग उठती आ रही है। काम काग्रेस ने किया था, फल लीग को भी मिलता गया। ताकत काग्रेस की बढ़ती, तो ठीक उतनी ही लीग की भी बढ जाती। काग्रेस को स्वराज्य चाहिए था। लीग भी स्वराज्य चाह निकली। दोनो को स्वराज्य कैसे मिलता ? इसलिए एक के दो राज्य बने।

क्रिया-प्रतिक्रिया

गाधीजी शुरू से सलाह देते गये थे कि मत चाहो, मत चाहो। कर्म को अकर्म बनाकर करो। लेकिन वह बात काम की थी ही कब कि काम-धाम के बीच सुनी जाती। परिणाम आज के हिन्दुस्तान-पाकिस्तान हैं। क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त काम करता है और उसका हमारे चाहने न-चाहने से कोई सम्बन्ध नही है।

सकाम अहिंसा

भारत मे समन्वय सिद्ध होता चला गया, क्योकि उसका दर्शन और वर्तन अकर्मक था। गाधी की सारी अथक कर्मण्यता अकर्म से आती थी और इसीसे अमोघ भी होती थी। काग्रेस ने अपने पास निष्काम को आने नहीं दिया। उसका कर्म सकाम रहा। अहिंसा भी सकाम रही। हिन्दू-मुस्लिम-एकता भी सकाम रही। तो सकामता के धरातल पर क्रिया के समतुल्य प्रतिक्रिया को भी होना था।

काग्रेस हिन्दू बनी

क्या कभी काग्रेस हिन्दू थी ? एक क्षण के लिए भी नही थी। लेकिन व्यवहार के

गांधी और कांग्रेस के इस सम्बन्ध का इतिहास अध्ययन की वस्तु है। एक अवसर पर आकर गांधीजी को अनुभव हुआ कि उनका व्यक्तित्व कांग्रेस के आत्मविकास पर भारी तो नहीं पड़ जाता है। इसमें उन्हें हिंसा का दोष दीखता था। इस अनुभव पर ध्यान जाते ही कांग्रेस पर से उन्होंने अपना बोझ हटा लिया उसकी सदस्यता से भी अलग हो गये।

किन्तु भारत की यह राष्ट्रीय-कांग्रेस गांधीजी के मार्ग-दर्शन में मानो समस्त राष्ट्र के सर्वस्व उद्यम और पराक्रम की प्रतिनिधि बन आयी थी। यह इस से कहीं अधिक हो गयी थी मानो स्वप्न में राष्ट्र की प्रतीक बन गयी हो। निश्चय ही राष्ट्र की राजनीतिक आशा-आकांक्षा का सेहरा कांग्रेस पर था। राजनीतिक चेतना रखने वाले सभी वर्ग उसमें घुल-मिल चले थे। इस तरह कांग्रेस पर राष्ट्र का नेतृत्व अर्थात् भारत का राजनीतिक नेतृत्व दायित्व के तौर पर अनिवार्य होकर आ टिका था।

किन्तु गांधीजी को सत्य के प्रयत्न में ही अपना था। उसमें ही जीना था उसमें ही मरना था। राजनीतिक नेता का पद इसमें बाधा ही डाल सकता था। यह काम मानो उन्होंने पूरी तौर पर कांग्रेस का मान लिया और उससे परे राष्ट्र धर्म से अपने को अलग कर लिया।

सत्य के प्रति दायित्व

मैं यह समझता हूँ कि स्वधर्म के रूप में उन्होंने मानव धर्म अर्थात् सत्य-धर्म के प्रति अपना सर्वस्व और दायित्व स्वीकार किया। सारी वफ़ादारी उसीके प्रति मानी। यह नेता से अधिक शहीद का धर्म हो जाता है। कुछ शहीद ऐसे होते हैं जो आगे नेता और राजा बनते हैं। गांधीजी की महत्ता स्वयं में एक मूल्य थी। कोई मंजिल उसमें नहीं थी। उसका अलग से कोई फल और प्रयोजन नहीं था। जीना भर उन्हें सर्वस्व था और कभी किसी अवसर अपना अन्त हो तो भी सत्ता और लोभ के स्वीकार की सम्भावना उनमें नहीं रह गयी थी।

भारत की आत्मा के प्रतिनिधि

इन दो स्तरों के अलगाव को समझना बहुत जरूरी है, अगर देश-विभाजन की दुर्घटना के रहस्य को हम समझना चाहते हैं। आगे चलकर सन्धि-वार्ता चलाने अमुक फैसला करने न-करने का दायित्व राष्ट्र की ओर से गांधीजी अपने ऊपर नहीं ले सकते थे। उनकी ओर से वह कांग्रेस का ही कर्म था और कांग्रेस की ओर से पदाधिकारियों पर वह जिम्मा आ जाता था। वे लोग सलाह के लिए जब तक चाहें और जिस मात्रा तक चाहें गांधीजी उपलब्ध थे। उससे आगे और अलग

वे सवथा मुक्त थे। उस दृष्टि मे वे राजनीतिक नेता से अधिक भारत की आत्मा के प्रतिनिधि थे। इतिहास मे क्या कभी हुआ है कि आत्मा का प्रतिनिधि देश का राजनेता या राजनीतिक भाग्यविधाता हो? नही हुआ, परन्तु केवल गाधीजी के सम्बन्ध मे यह समझने मे कठिनाई होती है। कठिनाई इसलिए होती है कि महात्मा मे पहले हम उन्हे राष्ट्रनेता और राष्ट्रपिता के रूप मे मानते और अपनाते हैं। मानो उपयोगिता के उस सम्बन्ध से और अपने रागभाव मे से हम उन्हें देखते है। अत: काग्रेस के सन्दर्भ मे गाधीजी के सर्व-समर्थ नेता रहते हुए भी जो देश-विभाजन हुआ, उसका सारा दोष उन्हींके माथे डालने से हम बच नहीं पाते हैं। नेहरू, पटेल, आजाद अगर बँटवारा मान भी गये थे, तो क्या गाधीजी का यह वश नहीं था कि उस किये को अनकिया कर दें और अपनी बात चला लें? क्या ऐसा कभी सम्भव हो सकता था कि कांग्रेस इन तीनो के कारण गाधी का साथ न देती? न देती तो भी क्या था? गाधीजी को तो अपने ईमान के साथ रहना था। क्या उन्होंने नहीं कहा था कि अगर द्विराष्ट्र का सिद्धान्त जिन्ना का है, तो एक-राष्ट्र ईमान मेरा है। फिर नेहरू, पटेल, आजाद का यह क्या मोह था कि गाधी ने अपना ईमान छोड दिया? गाधी की या तो यह कमजोरी थी, या पहला कौल उनका सच्चा न था, या फिर राजनीतिक सुविधावाद के कारण देश-विभाजन मे सहारा और स्वीकृति देना उन्होंने सही समझ लिया था। इन सब अनुमानो से बचने का साधारणतया मार्ग नही रह जाता है। पर उनमे से किसी-को अपनाने की आवश्यकता मेरे लिए नही है। कारण, उनका स्वधर्म राजनीतिक नेता के दायित्व को स्वीकार करके सध नहीं सकता था। और वह स्वधर्म था जहर पीते जाना, तिल-तिल अपने को मारते जाना, यज्ञ द्वारा ही जीना और इस जगत् का कुछ भी अपना न मानना, सत्य को ही सर्वान्त सवस्व मानना। भारत का राजनीतिक स्वराज्य राजनीति की सामयिक यथार्थता से अधिक भला क्या था? आखिर उसका बोझ अपने कन्धो लेना तो काग्रेस को था। गाधी को तो मिनिस्टर वगैरह बनना कभी था नही। इसलिए राजपद जिनको लेना है, फैसला भी उन्हींके हाथो रहने देना होगा। यह उनके आगे इतना स्पष्ट था कि सामर्थ्य रहते हुए भी काग्रेस को उस मार्ग से उन्होंने मोडा नही। बल्कि उससे आगे समर्थन तक दे दिया उस अनिष्ट को, जिसको उसके चुने हुए नेता लोग इष्ट मानने लग गये थे।

गाधी की सलाह

सब जानते हैं कि गाधीजी ने काग्रेस को सलाह दी कि वह एक ही आग्रह रखे कि अंग्रेज लोग अपनी प्रभुता को लेकर भारत से फौरन हट जायें, इसमें बिलकुल

देर न लगायें। फिर इसमें यदि यह प्रश्न पैदा होता है कि राज्यव्यवस्था आखिर किसको सौंपकर वे जायें और कांग्रेस-लीग के बीच इस बारे में कोई मत-मतान हो नहीं पाता है तो कांग्रेस को कह देना चाहिए कि सत्ता की बागडोर लीग के ही हाथों में छोड़ जायें। हर हालत में अंग्रेजी प्रभुता को यहाँ से फौरन अपनी छुट्टी कर लेनी चाहिए। पूरी मिनिस्ट्री लीग बना ले तो भी कोई हर्ज नहीं है। लीग से सुलझने-उलझने की बात फिर घर की घर में रह जायगी। विदेशी साम्राज्य को विदा हो ही जाना चाहिए। यह सलाह कांग्रेस की मूहलमयी के गले नहीं उतरी।

कांग्रेस हिम्मत न कर सकी

लेकिन इनसे उतरकर कांग्रेस के दूसरे कुछ नेता लोग भी थे। वे राष्ट्रभंग के स्वीकार से तब भी सहमत नहीं थे। गांधीजी ने उनकी नब्ज टटोलकर मालूम किया कि क्या वे अपने विश्वास पर दृढ़ हैं, क्या वे हिम्मत करेंगे और कांग्रेस के नेतृत्व को हाथ में लेकर आगे बढ़ेंगे? अगर कांग्रेस की आल इण्डिया कमेटी उनकी बात रख ले और राष्ट्रभंग अस्वीकार कर दे, तो क्या वे कमान हाथ में लेंगे? कांग्रेस के भीतर से वैसा आश्वासन गांधी को किसी ओर से नहीं प्राप्त हुआ। तब खून की घूँट पीकर उनके लिए क्या शेष बच जाता था सिवा इसके कि कांग्रेसी राजनेता जिस राह जाना चाहते हैं, गांधी उसका द्वार खोलकर कहें 'एवमस्तु' और मुँह मोड़कर आप अकेले अपनी सूनी बीहड़ राह पर पाँव-पाँव चल दें। यही उन्होंने किया। आपको याद होगा कि इसके बाद एक नया सूत्र उनके मुँह से निकला। यह था कि हुकूमतें ही दो हुई हैं, दिल तो दो नहीं हो गये। उस दिल की एकता पर वे इतने दृढ़ और अडिग थे कि उन्होंने बैरिस्टर होते हुए भी यह लिया था कि अपने मुसलमान भाइयों से मिलने जाऊँगा तो क्या मैं पासपोर्ट के लिए मरनेवाला हूँ? वे तो मेरे भारत के मा-जाए भाई हैं।

कौल नहीं टूटा

मैं मानता हूँ कि इसके प्रकाश में आप समझ सकेंगे कि कैसे गांधीजी का समर्थन विभाजन को मिला और कौल भी नहीं टूटा। समर्थन मानव-अहिंसा में से मिला, कौल ईश्वर-शरण में निभा और सच्चा रहा। इसका प्रमाण स्वयं हिन्दू के हाथों उनकी हत्या है।

कश्मीर

१४१ जिस समय कश्मीर-युद्ध आरम्भ हुआ, गांधीजी जीवित थे। क्या आपकी

राय में काग्रेसी सरकार की कश्मीरसम्बन्धी नीति को भी गांधीजी का समर्थन और आशीर्वाद प्राप्त था? गाधीजी के मत और काग्रेस की नीति मे इस विषय पर कितना अन्तर था?

गाधी ने आशीर्वाद दिया

—हर राजनीतिक समस्या पर कांग्रेस को उस समय गाधीजी की जरूरत नहीं हुआ करती थी। कश्मीर पर हमले का प्रश्न अवश्य ऐसा था, जिसमे गाधीजी के नैतिक समर्थन का बल काग्रेसी सरकार के लिए जरूरी था। गाधीजी ने भारतीय सेना को कश्मीर-कूच के समय अपना आशीर्वाद दिया, कहा कि वहाँ रक्षा मे मर जाना, लौटना नही। सेना और सैनिक को समर्थन जब कि उनके मन मे नहीं था, तब यह यहाँ स्पष्ट था कि सशस्त्र-सैन्य का स्वधर्म-रक्षा में आगे बढ़कर बलि हो जाना है। जिन्होंने शस्त्र लिया है, उनके लिए शस्त्र का उपयोग है तो यही कि वह रक्षा के काम आये। अपना स्वधर्म गाधी किसी पर लाद नहीं सकते थे। कश्मीर के सवाल को सयुक्त राष्ट्र-सघ मे भेजने के खिलाफ उन्होंने काग्रेस को सलाह दी थी।

१४२ गाधीजी शस्त्र, सेना और हिंसा को कितनी दूर तक एक राज्य के लिए अनिवार्य मानते थे? क्या वे हैदराबाद के पुलिस-एक्शन का भी समर्थन करते?

सेनारहित राज्य

—गाधीजी क्या करते, क्या न करते, इसकी चर्चा से बचना चाहिए। वे ऐसे राज्य की कल्पना कर सकते और करते थे, जहाँ सशस्त्र सेना अनावश्यक हो जाय। उस हालत पर पहुँचने तक वे स्वय काग्रेसी सरकार को यह सलाह देने को तैयार नहीं थे कि वह अपनी सशस्त्र सेना को बखेर दे। अर्थात् वे मानते थे कि यह हालत ऊपर से नही आयेगी, किसी दिमागी निर्णय मे से नही आ जायगी, बल्कि भीतर से अनुकूल सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पनपायेंगे तो उसके परिणाम-स्वरूप ही यह इष्ट फलित हो सकेगा। उसी बुनियादी काम मे वे लगे भी हुए थे।

१४३ क्या यह उचित हो नहीं हुआ कि भारतीय जीवन के उस विशिष्ट क्षण में गाधीजी हमारे बीच से उठ गये? गांधी-हत्या के विभिन्न कारणों और परि-णामो पर क्या आप प्रकाश डालने की कृपा करेंगे?

'कमजोर' गाधी की हत्या

—भगवान् की सृष्टि मे अनुचित कुछ होता नहीं है। इसीको दूसरे शब्दो मे यों

कहिये कि जो होता है, उसे अनुचित मानकर समक्ष से परे हटा देने के बजाय समझ के द्वारा उसके कारणों में जाने का धैर्य चाहिए।

गांधीजी को लोग महात्मा और इस लिहाज से कोमल-हृदय मानते थे। हिन्दुओं को शिकायत था कि मुसलमान के प्रति वे पक्षपात रखते हैं, रियायत करते हैं। उनका मन रखने के लिए ऐसी राह चल जाते हैं, जो हिन्दू और मुस्लिम के बीच सही-सही न्याय की नहीं है, बल्कि हिन्दू के प्रति अन्याय और मुस्लिम के प्रति न्यायातिरेक की होती है। ऐसा उनकी अहिंसा-नीति के कारण होता है। इसी से समय पर वे दुर्बल बनते और झुक जाते हैं। ऐसा व्यक्ति दुनिया के काम काजी मामलों में नेता हो, तो खतरा ही तो है। राष्ट्र और जाति का स्वाभिमान उसके हाथ में सुरक्षित नहीं रह सकता।

गांधीजी की हत्या हुई, तो यह जानने पर कि हत्यारा हिन्दू है लगभग सभी के मन में हुआ था कि अवश्य वह कोई पंजाब का शरणार्थी होगा। पर निकला वह नाथूराम विनायक गोडसे।

शरणार्थी गांधी को समझ गये थे

शरणार्थी लोगों ने जो कष्ट उठाये थे उस क्षोभ और रोष में से जो भी कृत्य निकलता कम माना जा सकता था। उनमें से कोई गांधी का हत्यारा होता तो बात सीधी बैठती। लेकिन ऐसा जो नहीं हुआ वह मेरे विचार में इसलिए नहीं हुआ कि दिल्ली में शरणार्थियों को गांधीजी को पास से देखने-जांचने का अवसर मिल गया था। इस जरा से अवसर में भी उन्होंने शायद पहचान लिया था कि महात्मा समझे जानेवाले अहिंसक गांधी के अन्दर क्या आग जल रही है। उसके प्रकाश में गांधीजी को निर्बल और कायर मानने की गुंजाइश जरा उनमें नहीं रह जाती थी।

शहीद (?) गोडसे

लेकिन गांधीजी को केवल दूर से और दिमाग से जाननेवालों का जो वर्ग था उसकी गलतफहमी दूर कैसे होती? वे गांधी के पास इसलिए नहीं जाते थे कि गांधी के भूत से डरे रहते थे। वह भूत उनके अपने दिमागों में ही तैयार होता था। भूत उनके लिए असली था असली गांधी नकली था। गोडसे ने उस भूत को मारा था और इसलिए वह हत्या गोडसे के मन में हत्या थी ही नहीं बल्कि पुण्य का कार्य था। मरनेवाला शायद सचमुच का गांधी निकल आया इससे उसका पुण्य कृत्य अगर हत्या का कृत्य बन गया तो इसमें गोडसे क्या करे?

गोडसे ने जो अदालत मे वक्तव्य दिया, उससे भी साफ हो सकता है कि हत्या द्वारा उसने तो पुण्य-कर्तव्य करना चाहा था। कानून हत्या समझे तो समझे और अपना काम करे। कानून ने अपने हिसाव मे गोडसे को फांसी दे दी और गोडसे अपने हिसाव से शहीद होकर मर गया।

राजनीतिक हत्या क्या पुण्य ?

गांधी-हत्या का कारण शायद इस तरह स्पष्ट हो जाता है। राजनीतिक हत्या का औचित्य जब तक जन-मानस मे रहेगा, ऐसी हत्या असम्भव न वनेगी। कारण, यह साधारण क्रोध या वदले के भाव से होनेवाला क़त्ल-खून नहीं है। यह तो वह है, जिसके वारे मे दिमाग एक पुण्य-कृति का भाव वना ले सकता है।

गाधी-हत्या का प्रभाव

उस हत्या का परिणाम तत्काल तो यह हुआ था कि हिन्दूवाद का मूल्य गिरा था। पर हिन्दू-साम्प्रदायिकता को तो अपने समर्थन का तर्क पाकिस्तान के जन्म मे मिल जाता है। इसलिए गाधी-हत्या की वात पुरानी पडने पर हिन्दूवाद का उदय रुक नही सका। काग्रेसी सरकार का काम भी कुछ उस ढग से चला, जिससे उसके अभ्युदय को अवकाश मिला। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के सम्वन्धों का प्रभाव सम्प्रदाय-भाव पर पडे विना नहीं रहता। उन सम्वन्धो के हृदय तक मीठे वनने की सम्भावना स्थिति-तर्क के कारण ही वहुत अधिक नही रह जाती है। किसी एक ओर, शायद भारत की ओर, से ही आशा हो सकती है कि यदि राजनीति पूरी तौर पर मानव-नीति तक उठ आये, तो तनाव शान्त हो सकता और पूरा सौमनस्य सम्भव वन सकता है। पर उसमे समय लगता दीखता है।

गाधी-हत्या का प्रभाव शुभ हुआ था। दुनिया भर मे, और पाकिस्तान मे, लोगो के दिल हिल गये थे और गाधी-जीवन का सन्देश जैसे उनके मनो को हठात् छू गया था। वैसी गहरी तितिक्षा फिर किसी कारण जागे, तो बात दूसरी है, अन्यथा जिस ढग से चीजें चल रही हैं, उसमे खाई को पाटनेवाली कोई सम्भावना जाहिरा दीखती नही है।

गांधी के भूत से भयभीत

१४४ ऊपर आपने गांधीजी को केवल दूर से और दिमाग से जाननेवालो के वर्ग का जिक्र किया। आपने कहा कि वे लोग गांधीजी के भूत से डरे रहते थे। कृपया

इस बिन्दु पर और स्पष्ट प्रकाश डालें और बतायें कि गोडसे ऐसे किन लोगों का प्रतिनिधित्व करता था?

—जिन्होंने गांधीजी को मुसलमानों का दोस्त और हिन्दुओं का दुश्मन माना ऐसा मानकर कुछ शंका-निवारण के लिए गांधी के पास नहीं आये और दूर से अपनी मान्यताओं को कट्टर बनाते चले गये गोडसे को उन सबके मानस का अंग ही कहना चाहिए। इससे आगे वह धर्म गौण गया था इसमें राजनीति भी रस ही। आप और मैं इससे मुक्त रह सकते हैं।

हिन्दू-राष्ट्रवाद

१५८. वीर सावरकर आदि के हिन्दू-राष्ट्रवाद के विषय में आपका क्या मत है? क्या वह राष्ट्रवाद भारत के लिए उपयोगी है?

—किसी भी प्रकार के बन्धपन का समर्थन मेरे पास नहीं है। वाद स्वयं में एक बन्द भाव है और जिस शब्द के साथ लगता है, उसके अर्थ को भी कुछ बन्द बना देता है। राष्ट्रवाद जातिवाद मतवाद में वाद के कारण राष्ट्र, जाति मत आदि सब शब्द मानो कुछ कटकर अलग और बन्द बन जाते हैं, सामान्य भाषा-प्रवाह के वे नहीं रह जाते। कभी एक प्रगतिवाद शब्द चलता था। वह प्रगति सामान्य भाषा की नहीं थी उसकी अपनी विशिष्ट परिभाषा हो गयी थी। इस तरह वादपूर्वक राष्ट्र मानो कुछ बन्धपने (एक्सक्लूसिविज्म) को अपना लेता है। हिन्दू-राष्ट्रवाद तो जैसे उसको और सँकरी घेराबन्दी दे देता है। हिन्दू-शब्द में आरम्भ में कोई विरोध भाव नहीं था। भारत-राष्ट्र या हिन्दू राष्ट्र उस समय एक अमुक लोक-जीवन का नाम था। आज राजनीति बहुत मुखर और प्रबल हो गयी है, तो उसने राष्ट्र को भौगोलिक सत्ता को प्रधानता दे दी है। वाद जोड़कर मानो उसे और भी एकांगी बना दिया जाता है। इसलिए कुछ मिलाकर हिन्दू राष्ट्रवाद वह भाव देता है, जिसके लिए मेरे मन में तनिक भी आकर्षण नहीं है।

जातीय राष्ट्रवादों की उत्पत्ति

१५९. हिन्दू-राष्ट्रवाद अथवा मुस्लिम-राष्ट्रवाद अथवा अन्य जातीय राष्ट्रवादों की उत्पत्ति और उनके विकास की जिम्मेदारी आप विदेशी शासन पर डालते हैं अथवा उसका स्रोत अपने ही धार्मिक और सांस्कृतिक जन-जीवन में पाते हैं?

—कारण सदा द्विमुखी होता है। कार्य इसी द्वन्द्व द्वारा प्रकट और सिद्ध होता है। अर्थात् आन्तरिक विकास और बाह्य परिस्थिति इन दोनों दबावों के बीच से ही घटना और क्रिया घटित हुआ करती है।

राष्ट्रवाद स्वय एक राजनीतिक भाव और शब्द है। शासन मे उसकी स्पृहा रहती है और वहींसे तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया भी जन्म लेती है। अर्थात् विदेशी शासन ने भारत मे राष्ट्रवाद के लिए कारण उपस्थित किया और उसको प्रबलता दी। भारत का स्वराज्य सामने आता दिखाई देने लगा, तो मुस्लिम-राष्ट्रवाद और हिन्दू-राष्ट्रवाद की उत्पत्ति का कारण बन गया। जब शासन का सपना दूर था, स्वराज्य के भोग की कल्पना भी न थी, केवल उसके लिए बलिदान की बात ही ध्यान में आती थी, तब वह स्वराज्य हिन्दू या मुस्लिम नही दीखता था। उस समय वे दोनो बिना भेद-भाव के उसके लिए अपनी कुरबानी देने आगे आते थे।

अपने बीच मे ही हम प्रेम पाते हैं, जिसमे स्व मे पर के लिए समर्पण का भाव होता है, साथ ही वैर भी पाते हैं, जिसमे स्व मे पर के नाश की इच्छा होती है। ये दोनो भाव हमारे भीतर से आते हैं और बाहरी दबावो के अनुसार अदलते-बदलते हैं। राष्ट्रवाद के जन्म मे इन बाहरी दबावो को राजनीतिक इतिहास मे से खोजा-परखा जाता है। लेकिन चेतना के क्षेत्र मे तो आप मान ही लीजिये कि विनम्र धर्म-भाव, जहाँ आत्म-विसर्जन की प्रेरणा काम करती है, सस्कृति की सृष्टि करता है और सदर्प कर्मभाव राजनीति की रचना रचता है।

विभाजन में अंग्रेजों का हेतु

१४७ भारत को विभाजन तक पहुँचा देने मे और उसके सामने आगे शतश विभाजन की स्थिति पैदा कर देने मे अंग्रेजों ने क्या स्वार्थ सोचा? क्या उनके मन मे मात्र प्रतिशोध की भावना ही काम कर रही थी अथवा कुछ और भी था?

—अंग्रेज जाति अंग्रेज व्यक्ति की तरह कोई एक घटक नहीं है। अर्थात् जातीय अन्त करण जैसा कुछ स्पष्ट सामने नही है। पार्लियामेण्ट को ही आप वह स्थान दे सकते हैं या पार्लियामेण्ट के भी प्रतिनिधिरूप प्राइम मिनिस्टर को। तो यह विभाजन लेबर-पार्टी के प्रधानमन्त्री एटली के काल में हुआ था। उनके मुँह के शब्दो को या किसी भी दूसरे प्रधानमन्त्री के मुँह के शब्दो को लिया जाय तो वहाँ सब भला ही भला दिखाई देगा। अर्थात् सचेत मन ऊँची भाषा और ऊँचे हेतुओ को सामने रखकर काम किया करता है। लेकिन वह मन के बहुत थोडे अश को ही व्यक्त करता है, उसके पीछे बहुत कुछ पडा रहता है, जो शब्दों की पकड मे नही आया करता और अवचेतन कहा जाता है। इसलिए अंग्रेज जाति के हेतुओ को बाँध देने का काम मुझको या किसीको करना नही चाहिए। एक भगवान् ही है, जो सब जानता है।

ीलिए यह घटना इतिहास में सिवा भारत के कहीं नहीं मिलती कि अंग्रेजी
य हारकर हटा तो भी एक अंग्रेज माउण्टबेटन को इस देश ने स्वेच्छा से अपना
ला 'राष्ट्रपति' बनाया। यह अचम्भा सम्भव हुआ गांधी के कारण। भारत
ा स्वराज्य-युद्ध गांधी की अहिंसक नीति से जो लड़ा गया उसका ही यह
ाश्चर्यजनक परिणाम आया। शासक वर्ग ने क्या अनिष्ट और कलुष काम
रता रहा था इसमें जाने की आवश्यकता नहीं है। हम सब अपनी छोटी-मोटी
म्पत्ति बनाकर स्वत्व-गर्व में रहा करते हैं। सम्पत्ति और स्वत्व छूटता और
म्पता है तो सब अनुभव कर सकते हैं कि क्या बीतता है। उस स्वत्व
म्पता को बचाने के लिए हम जाने क्या-क्या तर्क और उपाय नहीं रच
ता करते? यह सब देख शासक अंग्रेज ने देखा हो और युक्तियाँ चली हों,
ा कुछ भी अचरज और अनहोनी बात नहीं है। यह राग और मोह जाते-जाते
ो न मिटा हो स्वयं देश-विभाजन में भी वह काम कर रहा हो तो भी कुछ
ास्मय नहीं होना चाहिए। राजनीतिक तथ्य तो ऐसे भी सामने आते हैं कि
राज्य के बाद भी वह दुष्प्रवृत्ति छिपे-छिपके अपना काम करती ही रही है।
त सबके ऊपर यदि भारतीय रूप में अंग्रेज ने अपना पाँव वापस खींचा और एक
ह स्वेच्छा से भारत को स्वराज्य दिया तो इस 'प्रदान' की अहिंसक-पद्धति
अवश्य गांधी-नीति का प्रभाव रहा। यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि
स नीति के कारण शासन-हस्तान्तरण में विधि का और मन का सौन्दर्य रहा
र उस हस्त और घटना की अनिवार्यता केवल नीति में से नहीं बन आयी यह
ो सचमुच शक्ति में से ही फलित हुई। अर्थात् भारत देश में से वह शक्ति
ट हो सकी थी, जिससे उसके राजनीतिक स्वराज्य को रोकना अंग्रेज के बस
ा नहीं रहा। उस शक्ति के प्रादुर्भाव का अभिन्न सम्बन्ध राजनीति में गांधी
ीति के आविर्भाव से था इसे किसी तरह इनकार नहीं किया जा सकता।
भी इसीलिए महात्मा के अतिरिक्त समाज-शास्त्रियों और लोक-नेताओं के
ए अध्ययन और अनुभव के विषय हो जाते हैं कि नीति ही उन्होंने नहीं
। बल्कि शक्ति भी प्रकट कर दी और शक्ति ही नहीं दी बल्कि समग्र
ार्यक्रम की एक सघन श्रृंखला भी दी। केवल नीति से नहीं चलता केवल
ाक्ति से भी नहीं चलता। तदनुकूल व्यवस्थित कर्म भी चाहिए। ये तीनों
ात्मक तत्त्व गांधीजी से मिलते गये इसका यह परिणाम हुआ कि अंग्रेजों
: अवचेतन में और भारतवासियों के अवचेतन में भी जितना ही मैल चाहे
हा रहा हो स्वराज्य के आगमन की विधि अपूर्व रूप से सुन्दर
भावमय रही।

प्रतिशोध एक दुतर्फा भाव

गाधी मार्ग-द्रष्टा थे, आत्मनेता थे, राजनेता नहीं। राजक्रम के लिए उनके निकट माध्यम बनी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस। तब कांग्रेस के अवचेतन मे पटा हुआ जो कुछ था, वह रग लाये बिना कैसे रहता? उस स्वराज्य के साथ मुस्लिम-हिन्दू-राज्य की कल्पना, और उन कल्पनाओं पर नर-हत्या, हुई तो भीतर पटे हुए उस विष के कारण हुई, जिसको गाधी का अमृत काट नहीं सका था। काट इसलिए नही सका था कि आत्मिक गाधी को शायद हमने व्यर्थ किया था और राष्ट्रीय और कर्मिक गाधी तक ही अपने स्वार्थ को सीमित रखा था। उस सीमा के पार हमारे मन के जहर तक अगर अमृत-प्रभाव नहीं पहुँच पाया, तो यह हम पर है कि चाहे तो उस प्रभाव को दोष दें और चाहें तो अपने को, अपने स्वार्थ-राग को, दोष दे लें कि उसने हमारी दृष्टि को इतना ओछा और नेता के प्रति हमारे समर्पण को इतना अधूरा क्या कर दिया।

प्रतिशोध एक ऐसा भाव है जो एक ओर से ही नही टिक पाता है। अग्रेजो मे जो रहा सो रहा, भारतीय होकर हमे तो यही सोचने को रह जाता है कि गाधी के बावजूद क्या हममे भी वह भाव था? यदि अब भी उसका शेष बचा हो तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे कामनवेल्थ के द्वारा हम अपना पूरा दान नहीं दे सकेंगे, यह निश्चय मान लेना चाहिए।

पटेल द्वारा देशी-राज्यों का विलय

१४८ देशी-राज्यो की समस्या को सरदार पटेल ने जिस भाव और विधि से सुलझाया और जिस प्रकार उन्होंने विदेशी शासन के इन मोहरो को निरस्त्र किया, उससे क्या आप सहमत हैं? यदि ऐसा वे न कर पाते, तब आपकी राय मे भारत की एकता का क्या भविष्य रहता?

—सरदार पटेल की विजय राजनीतिक विजय है। उसके प्रति प्रशसा का ही भाव हो सकता है। अवश्य सम्भव था कि विदेशी कूटनीति इन देशी-राजाओं की आड लेकर देश की एकता और व्यवस्था मे विघ्न और बाधा उपस्थित कर आये। उन सब अनिष्ट सम्भावनाओ को सरदार के इस दाँव ने एक साथ छका और हरा डाला। मेरा यह भी मानना है कि सरदार की यह सफलता दुस्साध्य हो जाती, अगर कोरे शक्ति के प्रदर्शन के बल पर ही की जाती। सरदार मे साल्प का बल था, ठाट-बाट एकदम कहीं भी उनके पास नहीं था। अर्थात् आतक से ही नही, साधारण सहजता और सज्जनता के साथ चल सकने के कारण यह सफलता उनको मिली।

केवल राजनीतिक विजय

आशय को आप समझे। वह आशय यह कि राज्य की नीति में सहज मानव की नीति मिल रही तभी सरदार को सफलता भी मिलती गयी। सरदारी तो उनके पास थी ही साथ साधारणता भी उनके पास भरपूर मात्रा में थी। यह योग सफलता के लिए धन्य सिद्ध हुआ।

फिर भी कुल मिलाकर विजय वह राजनीतिक थी। क्या ही अच्छा होता कि वह इससे अधिक भी होती अर्थात् राजा लोग भी राज्यों के विलय के बाद राजा ही नहीं रह गये अपने को वंचित नहीं कृतार्थ अनुभव करते और आगे आकर देश की विधायक राजनीति में उसके प्रशासन आदि कामों में सहयोगी और सहायक बनने को आगे आते। कुछ यदि उनमें पराजित और परास्त अनुभव करते रहे मन में क्षोभ पीसते रहे तो यह भाव भारत के लिए घाटे का ही कारण बना। गांधी के लिए सम्भव हो सकता था कि काम ऐसी खूबी से हो कि राजाओं पर से सिर्फ राजत्व उतरे और आगे पर मानवत्व उन पर और चमक आये। वे इस कारण अतिरिक्त उपयोगी नागरिक बनें। लेकिन यह बात शायद आपके प्रश्न से आगे की है।

कश्मीर-समस्या

१४५. सरदार पटेल कश्मीर के मामले में मैं समझता हूँ कि बहुत दूर तक सफल रहे। यदि भारतीय फौजें बढ़ रही थीं, तब आगे बढ़ती जातीं और राष्ट्र संघ के दबाव में आकर युद्ध-विराम को स्वीकार न कर बैठतीं, तो सारे कश्मीर पर भारत का कब्जा होता और समस्या बनती न उलझती। आप इस परिस्थिति के लिए नेहरू को अधिक जिम्मेदार ठहराते हैं अथवा सरदार को?

—राजनीति में मैं नहीं जाऊँगा। वह केवल शक्ति की नीति है। केवल उस शक्ति में से जो फलित होती है वह नीति भी है इसीसे मुझे संशय है।

भारत की मजबूती

बड़े-बड़े सैन्य-बलबल से भारत पाकिस्तानियों को हराकर सारे कश्मीर पर कब्जा कर बैठता और आज तक किये रहता तो मेरे लिए यह किसी गर्व और गौरव की बात न होती। अब भी मैं मानता हूँ कि भारत के पक्ष में जो मजबूती है, वह फौजी ताकत की नहीं है। वह तो यह है कि कश्मीर में भारत वहाँ की जनता और व्यवस्था के प्रतिनिधियों की माँग पर है और तब तक के लिए है, जब तक आम मतदान से इससे अन्यथा सिद्ध नहीं हो जाता।

हमारी फौजें वहाँ पहुँची और हैं, तो उनका बल इसलिए कायम और अर्थकारी है कि पडित नेहरू का मन इस बारे मे निश्शक है कि यह क़दम जायज ही नहीं, बल्कि दायित्वपूर्णता और कर्तव्यता का था। हिन्दू-मुस्लिम-विचार वे अपने लिए सगत नही मानते और यह तर्क कि कश्मीर मे मुसलमानो की आबादी अधिक है, पडित नेहरू को उस सम्बन्ध मे उनके कर्तव्य से मुक्त नही कर देता है।

न्याय का बल

न्याय का यह बल न हो, तो फौज का बल आज के दिन दुनिया में मुश्किल से ही काम कर सकता है, यह समझने और समझाने मे कठिनाई नही होनी चाहिए। युद्ध-विराम यदि भारत को स्वीकार हुआ, तो अवश्य राजनीतिक स्थिति के सन्तुलन की दृष्टि से वह अनिवार्य रहा होगा। नेहरू-पटेल को यहाँ अलग देखना गलत है। शक्ति के भरोसे में युनाइटेड नेशन्स की बात को ठुकराना भारत या पाकिस्तान किसीके हित में नहीं हो सकता था।

३

संविधान, दलीय प्रजातन्त्र, निर्वाचन

भारतीय संविधान

१५ भारत के संविधान के विषय में आपका क्या मत है? क्या हमारा संविधान भविष्य के किन्हीं भी सम्भावित अवसरों, संघर्षों अथवा गुत्थियों को सुलझाने की सामर्थ्य रखता है और क्या इसके सहारे भारतीय शासन का प्रजातान्त्रिक एवं संसदीय स्वरूप बना रह सकता है?

संसदीय पद्धति अधूरी

—मैंने विधान पढ़ा तक नहीं है। वह मूल अंग्रेजी में बना इसीमें आ जाता है कि बहुत कुछ है उसमें जो उधार है, अनिवार्य नहीं है। उसमें आरम्भ में ही माना है कि 'हम भारत के लोग इस (संविधान) को आत्मार्पित करते हैं।' किन्तु सच यह कि वैधानिकों द्वारा संविधान राष्ट्र को दिया गया था। विधान एक संसदीय तन्त्र भारत को देता है। यह संसदीय स्वरूप गांधीजी को बहुत आश्वासन देनेवाला न था। मैं भी मानता हूँ कि यह संसदीय व्यवस्था शासक वर्ग के लिए सार्वजनिक असन्तोष को वाद-विवाद द्वारा बाहर फेंक देने का सुविधाजनक जरिया देती है, अधिक नहीं। लोकमत का दबाव उस द्वारा उतना प्रशासन पर नहीं आता जितना प्रशासक वर्ग को जनमत के प्रति निश्चिन्त बनाये रखने में मदद देता है। पार्लियामेण्टरी पद्धति आज के जमाने में साफ ही अधूरी सिद्ध हो रही है।

संविधान पेचीदा

भविष्य की दृष्टि से मालूम होता है कि कुछ सुगम पद्धति का निर्माण होगा। कम्युनिस्ट विधि में इतने उलझाव और पेंच नहीं हैं। यदि प्रगति हमारी इस ओर होगी कि शासन का तन्त्र अलग से होने की आवश्यकता धीरे-धीरे निःशेष हो जाय और व्यवस्थापक नियन्त्रण समाज-शरीर में आप ही गर्भित और सक्रिय हो तो संविधान सरल से सरलतर होता जायगा और शासन की मशीन मनुष्य की प्रतिभा को उत्तरोत्तर अवकाश दिया करेगी उसको बाधायें नहीं करेगी। भारत का संविधान भारतीय जीवन की आवश्यकताओं में से उतना नहीं निकला है, जितना कि और जगह के कई नमूनों पर से उतार कर लिया गया है।

हमारी फौजें वहां पहुँची और हैं, तो उनका बल इसलिए कायम और अर्थकारी है कि पडित नेहरू का मन इस बारे मे निश्शक है कि यह क़दम जायज ही नही, बल्कि दायित्वपूर्णता और कर्तव्यता का था। हिन्दू-मुस्लिम-विचार वे अपने लिए सगत नही मानते और यह तक कि कश्मीर मे मुसलमानो की आबादी अधिक है, पडित नेहरू को उस सम्बन्ध मे उनके कर्तव्य से मुक्त नही कर देता है।

न्याय का बल

न्याय का यह बल न हो, तो फौज का बल आज के दिन दुनिया मे मुश्किल से ही काम कर सकता है, यह समझने और समझाने मे कठिनाई नही होनी चाहिए। युद्ध-विराम यदि भारत को स्वीकार हुआ, तो अवश्य राजनीतिक स्थिति मे सन्तुलन की दृष्टि से वह अनिवार्य रहा होगा। नेहरू-पटेल को यहाँ अलग देखना गलत है। शक्ति के भरोसे मे युनाइटेड नेशन्स की बात को ठुकराना भारत या पाकिस्तान किसीके हित में नहीं हो सकता था। ●

२

संविधान, दलीय प्रजातन्त्र, निर्वाचन

भारतीय संविधान

१५ भारत के संविधान के विषय में आपका क्या मत है? क्या हमारा संविधान भविष्य के किन्हीं भी सम्भावित मतभेदों, संघर्षों अथवा मुठभेड़ों को सुलझाने की सामर्थ्य रखता है और क्या इसके सहारे भारतीय शासन का प्रजातान्त्रिक एवं संसदीय स्वरूप बना रह सकता है?

संसदीय पद्धति अधूरी

—मैंने विधान पढ़ा तक नहीं है। यह मूल अंग्रेजी में बना, इसीमें आ जाता है कि कुछ कुछ है उसमें जो उधार है, अनिवार्य नहीं है। उसमें आरम्भ में ही आया है कि "हम भारत के लोग इस (संविधान) को आत्मार्पित करते हैं।" किन्तु सच यह कि वैधानिकों द्वारा संविधान राष्ट्र को दिया गया था। विधान एक संसदीय तन्त्र भारत को देता है। यह संसदीय स्वरूप गांधीजी को बहुत आश्वासन देनेवाला न था। मैं भी मानता हूँ कि यह संसदीय व्यवस्था शासक वर्ग के लिए सार्वजनिक असन्तोष को वाद-विवाद द्वारा बाहर फेंक देने का सुविधाजनक जरिया देती है, अधिक नहीं। लोकमत का दबाव उस द्वारा उतना प्रशासन पर नहीं आता जितना प्रशासक वर्ग को जनमत के प्रति निश्चिन्त बनाये रखने में मदद देता है। पार्लियामेण्टरी पद्धति आज के जमाने में साफ ही अधूरी सिद्ध हो रही है।

संविधान पेचीदा

भविष्य की दृष्टि से मालूम होता है कि कुछ सुगम पद्धति का निर्माण होगा। वस्तु-स्थिति में इतने उलझाव और पेंच नहीं हैं। यदि प्रगति हमारी इस ओर होगी कि शासन का तन्त्र ऊपर से होने की आवश्यकता कम-कम निःशेष हो जाय, व्यवस्थापक नियन्त्रण समाज-शरीर में आप ही गर्भित और सक्रिय हो तो संविधान सरल से सरलतर होता जायगा और शासन की मर्यादा मनुष्य की प्रतिभा को उत्तरोत्तर अवकाश दिया करेगी, उसको बाधा नहीं करेगी। भारत का संविधान भारतीय जीवन की आवश्यकताओं में से उतना नहीं निकला है, जितना कि और जगह के कई नमूनों पर से तैयार कर लिया गया है।

सविधान का प्रश्न मेरी दृष्टि से वैसे भी दोयम है। अन्त मे तो वह पात्र है। मुख्य प्रश्न यह रहता है कि उस पात्र में क्या चित्तत्त्व है?

सविधान दोयम, प्रथम चित्तत्त्व

सविधान की चिन्ता मुझे होती नहीं है। नीचे से प्राणतत्त्व यदि उपजता और उगता आता है, तो फिर यह प्रश्न बहुत विवाद का नहीं रहता कि वृक्ष का आकार क्या होगा। स्वत उसको जितना आकार लेने दिया जाता है, उतना अच्छा है। महत्ता ऐसे ही उदय मे आती है। लेकिन आकार-प्रकार मे भी हमे रस हो तो उमगते आते हुए जीवन को अमुक आकार-प्रकार में भी हम सजा दे सकते और अपने मन का परिच्छद पहना दे सकते हैं। मेरा ध्यान यदि है तो इस मूल की ओर है, जिसका विचार सविधान से छूट जाता है।

चुनाव-पद्धति में सशोधन की आवश्यकता

मुद्दे की बात सविधान मे वयस्क चुनाव की है। मनो को जोडने की दृष्टि से चुनाव कोई बहुत अच्छी चीज नहीं है। फिर भी शायद अनिवार्य तो वह होता है। किन्तु वहाँ मौलिक सशोधन की आवश्यकता है। चुनाव मे से निष्पन्न यह होना चाहिए कि शिखर समाप्त हो जाय, समाज का सस्थान स्तूपाकार बमी जैसा न हो। ऊपर के वर्ग नीचे के स्तर पर जब दबाव डाले रहते हैं, तो श्रम चुसता है, धन पुजता है। इसमें मानवता की हानि है। समाज का विकास समान भूमि पर (हौरीजोण्टल) होना चाहिए। इस पर हमारा ध्यान हो, तो चुनाव-क्षेत्र का घटक छोटा हो जायगा, पाँच-एक हजार तक की आबादी से बड़ा वह न होगा। इस छोटे क्षेत्र का यह सुभीता है कि सब परस्पर परिचित होंगे, प्रचार, धन, आतक के प्रभावो को काम करने का अवकाश उतना न रहेगा और चुनाव मे चरित्र प्रधान बन सकेगा। साथ ही यह सम्भावना भी होगी कि चुना गया केन्द्रीय से केन्द्रीय पुरुष श्रम से छूटेगा नही। राजा सिर्फ राजपना करे, श्रम करे ही नही, तो धीरे-धीरे वह आदमी कम हो जाता है और मूरत ज्यादा बन जाता है। तरह-तरह के आडम्बरो से उसे ऊँचे उठाये रखना जरूरी होता है। समाज की व्यवस्था मे उस कृत्रिम बल का जो उपयोग किया जाता है, वह सत्य को पीछे डाल देता है और बनावट के महत्त्व को बढ़ा देता है। समूची राज्य-सस्था मे यह दोष समाया हुआ है और भारतीय सविधान उससे बरी नही है। प्रकट है कि समाज का नक्शा हमारे मन मे ढेर के मानिंद है, जिसमे ऊपर शीष पर बैठा राजा है। वह जो करे सो ठीक है, सब भोग उसे जायज हैं, सब खर्च उसके लिए कम हैं। ढेर मे नीचे बुनियाद पर मेहनती आदमी हैं, जिसके

कन्धे सब आरामयारों का बोझ सँभालने के कारण झुके हैं और दिन-रात कड़ी मेह्नत में पसीना बहाना जिसका काम है। राज्य को प्रधान बनाने के पीछे वैसे समाज का यही ऊँच-नीचवाला मंजिल-पर-मंजिल 'पटिकल' नक्शा हुआ करता है।

प्रशासक का महत्त्व बड़ा-चढ़ा

यों संविधान से हम प्रजातन्त्र हैं। लेकिन अर्थ-रचना ऐसी है कि जनतन्त्रता में से समानता नहीं फलित होती। प्रशासक का महत्त्व नागरिक से बढ़ा-चढ़ा रहता है। इससे पढ़ लिख जाने पर हर कोई अफसर बना चाहता है, नहीं तो अपने को वंचित मानता है।

राज्य का ऐसा संविधान भविष्य के सम्बन्ध में मेरे मन में से आशंकाओं को निर्मूल नहीं कर पाता है।

१५१ आपके उपर्युक्त उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हूँ। कई प्रश्न शेष हैं। क्या हमारा संविधान वर्तमान अथवा भावी के प्रशासकों पर नियंत्रण रखने में समर्थ है? अथवा यह प्रशासकों की कामनाओं के हाथों में एक खिलौनामात्र है?

प्रशासन राष्ट्रपति न्याय हिसाब

—प्रशासक अर्थात् एक्जिक्युटिव। कानून को पालन कराने का काम प्रशासन या सरकार का है, बनाने का काम सदन का होता है। सदन दो सभाओं का मिलकर है और प्रशासन-तन्त्र बहुमतवाले दल के मन्त्रिमण्डल के हाथ आता है। थोड़े में हमारे विधान का यह स्वरूप है। किन्तु मन्त्रिमण्डल के ऊपर राष्ट्रपति है, जिसका सीधा चुनाव होता है, दलों से उसका सम्बन्ध नहीं माना जाता। मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रपति का परस्पर क्या सम्बन्ध है इस बारे में अभी कुछ विवाद की स्थिति बनी है लेकिन सामान्यतया इंग्लैण्ड के राजा के समान राष्ट्रपति की केवल वैधानिक सत्ता है, मन्त्रिमण्डल की 'सलाह' को वह किसी स्थिति में अमान्य नहीं कर सकता है।

न्याय और हिसाब-जाँच के विभाग प्रशासन के अधीन नहीं हैं और वे सीधे राष्ट्रपति से अपना अधिकार प्राप्त करते हैं।

इस भाँति एक्जेक्युटिव की रोक-थाम के लिए सदन राष्ट्रपति न्याय और हिसाब जाँच के विभाग रह जाते हैं।

कार्यकारी और नैतिक

इतनी तो विधान की बात। किन्तु वस्तुस्थिति तथा व्यक्तियों में बननी और चलनी

है। अधिक सम्भव मन्त्रिमण्डल के लिए है कि अपने को सत्तावान् अनुभव करे। कारण, उसके पीछे राष्ट्र का और सदन का बहुमत समझा जाता है और उसके हाथ में पावर रहती है। पावर का अर्थ है धन और जन के विनियोग का अधिकार। नाना भाँति के करो से प्राप्त हुई राशि और वेतनभोगी सर्विसेज के लोग मन्त्रिमण्डल के अधीन रहते हैं। दूसरी चीजें विवेक के प्रतिनिधि के तौर पर काम करती हैं। रोक-थाम और जाँच-परख उनका काम है। शेष मे देश का जन-सचालन, अर्थ-सचालन, नीति-सचालन, सम्बन्ध-सचालन आदि का सब काम एक्जेक्युटिव के द्वारा होता है। यों कह सकते हैं कार्यकारी समस्त बल एक्जेक्युटिव के पास है, नैतिक बल राष्ट्रपति, न्याय और आडिट के पास है।

दोनो का सन्तुलन

नीति-बल और शक्ति-बल के सन्तुलन पर राज्य-व्यवस्था चलती है। असन्तुलन हो सकता है और वह किसी भी दिशा से आ सकता है। शक्ति नीति को अँगूठा दिखा सकती और उस ओर से निरकुश होने की चेष्टा कर सकती है। उधर नीति शक्ति के रग-ढग पर क्षुब्ध और रुष्ट हो सकती है। अन्त मे इन दोनो पक्षों के तारतम्य पर लोकमानस और लोकमत का प्रभाव पडता है।

मुख्य चीज समाज-मूल्य

शक्ति का स्रोत इस भाँति स्पष्ट है। मूल मे करोडो लोगो की भावनाओ के पास उसे देखा जा सकता है। इसीलिए मुख्य बात यह हो आती है कि प्रचलित समाज-मूल्य क्या हैं? समाज के अन्तस् मे कौन बैठा है, कौन समाज-मानस को रूप दे रहा है? सेवा और समर्पण-भाव द्वारा यदि एक वर्ग जनता के मनो मे पहुँचता और वहाँ अमुक मूल्यो की प्रतिष्ठा करता है, तो नयी शक्ति का उदय हो सकता है और सहज भाव से राज्य-क्रान्ति सम्पन्न हो सकती है। इस लोकनीति से स्वतन्त्र होकर यदि राजनीति के ही धरातल पर कुछ दल-विग्रह चलता है, तो उसकी मुझे यहाँ चर्चा करनी नही है। कारण, सुनते हैं कि शेर और सुअर की लडाई मे निश्चित रूप से भविष्य-वाणी करना कठिन है कि परिणाम क्या होगा और कौन जीतेगा। उस प्रकार के सब अनुमानो मे जाना अनावश्यक है। कारण, वहाँ व्यक्तियो के बलाबल की प्रतिद्वन्द्विता ही चलती है, जिसको पावर-पॉलिटिक्स, सत्ता-राजनीति कहा जाता है।

सविधान नहीं, मानव-तत्त्व निर्णायक

सविधान स्वत नियन्त्रण नही रख सकता। आज भी मन्त्रिमण्डल, यद्यपि वह प्रशा-

जन-मानस की स्वीकृति किसे ?

यह जब कि श्रद्धा की बात है, तब जो असल और सगत है वह यह कि लोक-मानस को और कर्मव्यूह मे पडे लोक-नेताओ को स्वय कैसा लग रहा है। अर्थात् यदि पण्डित नेहरू को अपना बल प्राइम मिनिस्टर के पास जो 'पावर' है, उसमे मालूम होता है, और राजेन्द्रबाबू को प्रेसिडेण्ट के पास जो सीधी 'पावर' का अभाव है, उस कारण अबलता अनुभव होती है, तो पावर की शक्ति जीतेगी। क्योंकि उस स्थिति मे दूसरी शक्ति कहीं रह नही जाती। यहाँ याद रखना चाहिए कि प्रेसिडेण्ट की शक्ति सावैधानिक है और इस तरह स्वय शक्ति-बल से पूरी तरह मुक्त नहीं है। हाँ, यदि राजेन्द्रबाबू प्रेसिडेण्ट न होते, जन-मानस मे बैठे हुए उसके मान्य नेता होते, तब अवश्य जवाहरलालजी के साथ की उनकी असहमति मे अधिक और अमित बल हो सकता। पर उन सब अनुमान और कल्पना की बातो को छोड दीजिये।

लोकनीति अकुश बनेगी

यह निश्चित मान लीजिये कि अन्त मे करोडो लोगो का विश्वास-बल और प्रेम-बल निर्णायक होगा। आखिर इसीलिए सब राजनीतिक दल और व्यक्ति जनता को रिझाने और उनकी मानस-कल्पना को पकडने की कोशिशें किया करते हैं। जनता समझती जा रही है कि राजनीतिक नेता वह है जो आगे-पीछे राज्य पर जाना चाहता है, इसीलिए शायद असल नेता वह नही हो सकता। असल नेता शायद कोई वह होगा, जिसका जीना-मरना जनता के साथ है, राज्य पर बैठना जिसके मन मे और भाग्य मे कभी है ही नहीं। नेतृत्व की यह पहचान जनता की चेतना मे हो जायगी, तब मानो राजनीति के लिए लोकनीति अकुश भी बन आयेगी, जो उसे युद्ध की भाषा मे सोचने नही देगी और युद्ध ठानने की क्षमता को उससे छीन लेगी।

१५३ बहुदलीय प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली में कितने भी दोष क्यों न हों, एक महत्त्वपूर्ण गुण उसमें है कि जब-जब आवश्यकता होती है, वैधानिक एव राजनीतिक क्रान्तियाँ सहज अहिंसक रूप मे होती चलती हैं। तथाकथित एकदलीय कम्युनिस्ट शासन-प्रणाली में मैं समझता हूँ, यह सुविधा नहीं और वहाँ लोकमानस को उतनी खुली हवा नहीं मिल पाती। इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए बताइये कि हमारा सविधान क्या वास्तव मे सरक्षणीय नहीं है ?

कश्यप या कशिपु

—मैं उस सुविधा को बहुत महत्त्व नही देता हूँ। उस सुविधा का अर्थ है कि अहि-

एक सत्याग्रही को प्रजातन्त्र में अपना सिर नहीं देना पड़ता बहुत दूर तक वह गुजर कर काम कर सकता है। यह अपनी शहीद न होने को मैं कोई बड़ी बुराई नहीं मानता हूँ। *प्रस्ताव इस आश्वासन पर बहुत नहीं होने तक आयेंगे कि इसके बिना अहिंसा* नहीं है, बल्कि कोई जरूरत है जो बन्धन है। अहिंसा को सुविधा देने के ख्याल से एकदलीय प्रजातन्त्र का समर्थक होना मुझे मान्य नहीं है। अहिंसा वह सत्याग्रही नहीं है जो अपेक्षा रखती है कि सामने की हिंसा उसका लिहाज करे और कृपा पूर्वक कुछ कम निर्दय और कम क्रूर बने।

कम्युनिस्ट तन्त्र में नेतापने का धन्धा नहीं

कुल मिलाकर मैं एक-दलीय कम्युनिस्ट तन्त्र का इसलिए प्रशंसक और समर्थक हूँ कि राजनीति की स्पर्धा और राजनीति का धन्धा उस कारण समाप्तप्राय हो जाता है। आज क्या हालत है? हर पढ़ा-लिखा आदमी मानो उस धन्धे को अपनाना चाहता है, क्योंकि वही सबसे ज्यादा फल देता मालूम होता है। पोलिटिकल कैरियर मानो हर किसी के लिए खुला है। इसी तरह म्युनिसिपैलिटी लेकिन तीन-पाँच और जोड़-तोड़ से आपको लगता है कि जिन्दगी में एक धोखा आ जाता है। यह व्यवहार है हमारे बीच में वह वातावरण पैदा कर रहा है। सोचिये कि कितनी मानव-शक्ति का इस तरह अपव्यय होता है। रचनात्मक किसी काम में कोई लग नहीं पाते। बस जोड़-तुगत में रहते हैं और सारे जन-मानस में तनाव पैदा कर देते हैं। यह भयंकर व्याधि है कि हर जवान काम की न सोचे नेतापने की सोचे उत्पादन में न लगे उत्पादकों को रास्ता और रोशनी दिखाने का काम ही अपना मानना चाहे। इसको मैं अहिंसा नहीं कहता हूँ शिथिलता कहता हूँ। व्यक्तिवाद की स्वतन्त्रता और सुविधा के नाम पर प्रजातन्त्र अगर शिथिलताकारी रहेगा तो किसी नीतिवाद और अहिंसा की ओट उसकी रक्षा नहीं कर सकेगी। कम्युनिस्ट राज्य में मैंने देखा कि सबके पास काम है हर आदमी आठ घण्टे काम करता है। राजनीतिक नेतृत्व वहाँ आराम की चीज नहीं है बड़ी मेहनत और काम की वहाँ जरूरत होती है। यहाँ दिल्ली में रहकर अनेक पार्लियामेण्ट के मेम्बरों को मैं जानता हूँ जिन्हें भत्ता भरपूर मिलता है लेकिन काम एकदम नहीं। तीन चौथाई सदस्य ऐसे होंगे जिन्हें हर घड़ी भत्ता रहता है वे एम. पी. हैं लेकिन एक घड़ी के लिए भी सुध नहीं होती कि उन्हें इस कारण करना क्या है। भत्ता बनाने और सुविधायें लेने या अपने निर्वाचन-क्षेत्र में नेतापन जमाने के काम को अवश्य जानते हैं। इससे आगे जैसे क्या रखने की उन्हें आवश्यकता नहीं रहती।

प्रजातन्त्र क्या अनाचार का ही दूसरा नाम रहे ?

प्रजातन्त्र यदि शिथिलाचार, भोगाचार, धनाचार और भ्रष्टाचार और समाज की तलहटी मे अनाचार, कुत्सित और वीभत्स दुःख-दैन्य के दृश्यो का ही नाम हो, तो मैं उसका समर्थन नही कर सकूँगा। सच यह कि राज्य-निर्भरता यदि बढ़नी हो और बढ़ानी हो, तो राजतन्त्र को एकदलीय बनाना ही सुविधा का मार्ग दीखेगा। आँखो के आगे जो एक-एक देश टपकता जाता और कम्युनिस्ट बनता जाता है, सो इसी अनिवार्यता के कारण। नैतिक अभिमान और उस प्रकार की दावेदारी से शैथिल्य को टिकने का पट्टा नही मिल जानेवाला है।

प्रजातन्त्र में प्रबल प्रचेष्टा जागे

इससे आप यह न समझें कि लोकतन्त्र से मैं अधिनायकतन्त्र को श्रेष्ठ कह रहा हूँ। जो कह रहा हूँ वह यह कि यदि राजतन्त्र का अवलम्बन व्यापक और विस्तृत होगा, तो तन्त्र को हठात् अधिनायकवाद की ओर बढ़ते ही जाना होगा। वह अहिंसा गलत है, जिसका मतलब सिर्फ सह्यवाद रह जाता है। यही कारण है कि हिंसा को हमारे बीच आना पडता और अनुशासन की कमी को प्रशासन की दृढ़ता से भरना पडता है। शासन वह चलेगा जिसमे अधिकाधिक व्यक्तियो की शक्तियो का अधिकाधिक उपयोग हो सकेगा, उनका अपव्यय न होगा। हिंसा-अहिंसा आदि शब्दो के सहारे भविष्य का निर्णय नही होनेवाला है। प्रजातन्त्र अहिंसा का नारा उठाये और कम्युनिज्म के एक-दलीय तन्त्र मे हिंसा का दर्शन करा दे, इतने मात्र से एक-दलतन्त्र पर बहु-दलतन्त्र की विजय नही हो जायगी। प्रजातन्त्र को यदि टिकना है, अपने को बेहतर और बढ़कर सिद्ध करना है, तो उसे अपने भीतर से उस अनुशासन को जगाना होगा, जो शैथिल्य को समाप्त कर दे और प्रबल प्रचेष्टा जगा आये।

मनमानापन बहुदलीय पद्धति का शत्रु

अहिंसा को निश्चेष्टता की भाषा मे देखना और समझना बहुत ही गलत है। लेकिन यही समझ चलेगी, अगर प्रजातन्त्र शिथिलाचारी दीखेंगे। पर गाधी अहिंसक थे और क्या उन्हींके जमाने मे न था कि देश का शैथिल्य एकदम उड गया था और प्रबल साहस का उसमे उदय हो आया था। सारा देश मानो एक हुंकार मे इकट्ठा हो गया था, मानो जेल-फाँसी किसीके लिए भी तैयार ! यह इसलिए कि गाधी के साथ सत्याग्रह की ज्वाला थी और उस योग से अहिंसा स्वय उज्ज्वल और ज्वलन्त बन आती थी। सत्याग्रह जिस जीवन-नीति का श्वास नहीं है, उसके पास अहिंसा केवल

है? अपने अन्दर से हम समझेंगे तो पायेंगे कि जब तक परतन्त्र हैं, तभी तक स्वतन्त्रता लेने जैसी चीज मालूम होती है, अन्यथा स्वतन्त्रता सदा देने मे है। स्व अपने पास होते ही मानो हम उसे कही अर्पण करने के अभिलाषी होते हैं। स्वतन्त्रता के विस्तार का अर्थ सिवा इसके कुछ दूसरा है ही नही। जितना अधिक हमारा शेष के प्रति स्नेह और सामजस्य का सम्बन्ध है, उतने ही हम स्वतन्त्र बनते है। जहाँ विषमता और विग्रह का बोध होता है, स्वतन्त्रता वही रुकी अनुभव होती है।

सिद्धि समर्पित होने में

कम्युनिस्ट यदि पार्टी के प्रति समर्पित होता और ऐसे अपनी सिद्धि अनुभव करता है, तो इस प्रकार उसके व्यक्तित्व की उपयोगिता अनायास खुल और बढ आती है। जो सर्वथा स्वतन्त्र है, अर्थात् जो समर्पित कही है ही नही, वह अपना उपयोग देगा तो किसे देगा? अव्वल तो इस तरह वह आलसी होगा, भटका हुआ रहेगा, यदि अपनी शक्तियो का उपयोग करता हुआ भी दिखाई देगा तो वह उपयोग शुद्ध स्वार्थ का होगा और समाज के लिए विधायक होने से उलटे विघातक होगा।

समर्पण स्वेच्छित हो

प्रश्न होता है तो यह कि क्या कम्युनिस्ट दल को कम्युनिस्ट व्यक्ति का स्वेच्छित समर्पण प्राप्त है, अथवा किस मात्रा मे वह समर्पण स्वेच्छित है। स्वेच्छा से दिया गया समर्पण उपयोग की अर्गलाओ को एक साथ खोल देता है, स्वार्थ की सीमाओ को भी उस पर से काट देता है। अस्वतन्त्र आदमी सदा सब कही बाधक है, लेकिन यह स्वतन्त्रता आत्मपरक होती है, अनुभूति की होती है, ऊपरी दृष्टि की पकड मे नहीं भी आ सकती। आज्ञाकारी बालक बहुत उपयोगी होता है, दूसरो के प्रति और स्वय अपने प्रति भी। आज्ञा के वश होने के कारण आवश्यक रूप से उसकी उपयोगिता कम नही हो जाती, यदि आज्ञा मे उसके अपने मन का योग हो। बल्कि उपयोगिता उलटे गुणानुगुणित हो जाती है।

जन और तन्त्र में विग्रह

मैं मानता हूँ कि कम्युनिस्ट तन्त्र की सफलता वहीं तक है, जहाँ तक वह अपने प्रति जन-भावना का योग भीतर से जगा पाता है। जिस जगह शासन और कानून का जोर अनुभव हो आता है, ठीक वही से उसकी विफलता आरम्भ हो

जाती है, ऐसा मैं मानता हूँ। जन और तन्त्र में अगर परस्पर विग्रह हो तो उसमें शक्ति का या तो दमन होता या व्यर्थ व्यय होता है। विग्रह के अभाव में एक ऐसी रस-हीनता हो सकती है, जिसको उपेक्षा का नाम दिया जाय। यहाँ दिल्ली में अभी हुए सदन के चुनाव में कुल चालीस फी सदी मत पड़े। यह चालीस प्रतिशत तो तब जब दल के लोग खींच-खींचकर लोगों को घरों से निकाल कर लाये होंगे। माना जा सकता है कि अपना मत स्वयं देने की इच्छा करनेवाले शायद दस पन्द्रह फी सदी मतदाता रहे होंगे। उपेक्षा और उदासीनता का यह भाव विग्रह की स्थिति से भी गया-बीता है। विग्रह होने पर हिंसक दमन आवश्यक होता हो और जनता की उपेक्षा और उदासीनता के कारण प्रजातन्त्र को भी उपेक्षाशील और उदासीन बनने की सुविधा हो जाती हो लेकिन पहली हिंसा को दूसरी 'अहिंसा' से बढ़कर या उपयोगी नहीं ठहराया जा सकता। शक्ति सामंजस्य में है, न यह मानी जानेवाली व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता पृथक सत्ता में है, न राज्य शासन की संगठित सत्ता में। राज्य के व्यक्ति और प्रजा के व्यक्ति में आपस में कितना सामंजस्य है, इस पर व्यवस्था की सफलता का माप निर्भर करता है। मैं दूसरे देश की नहीं कह सकता हूँ, कांग्रेसी शासन में आज औसत नागरिक की श्रद्धा का बल नहीं पहुँचता है, यह मैं अवश्य अनुभव करता हूँ।

१५५ *प्रजातान्त्रिक देशों में प्रचलित निर्वाचन-पद्धति को आप कितनी दूर तक लोक-हित एवं शासन-हित में युक्तियुक्त मानते हैं?*

निर्वाचन अनिवार्य

—प्रजातन्त्रवाले देश अलग-अलग स्थिति में हैं और उनके संविधानों में भी अन्तर है। निर्वाचन प्रणाली हर जगह है, यद्यपि कुछ भेद के साथ है। निर्वाचन की पद्धति अनिवार्य है और उससे बचने का उपाय नहीं है। साधारणतया यह पद्धति संगत और युक्तियुक्त है।

नागरिक भूमिका से उत्तीर्ण व्यक्ति चाहिए

लेकिन जो खतरा है और जिसे बचाना है वह यह कि निर्वाचन के द्वारा व्यक्ति वे न आ सकें जिनके प्रति जनता में ममता का भाव हो। श्रद्धा की जगह क्षोभ और आतंक का भाव यदि काम कर रहा होता है, तो ठीक उलटे ढंग के लोग चुनाव द्वारा चोटी पर आ जाते हैं। दूसरा आशय यह कि निर्वाचन-प्रणाली के फेर-फार से भी पूर्व जो आवश्यक है, वह यह कि समाज-मूल्य के बतौर धर्म मूल्य का प्रचलन और प्रतिष्ठा हो। निर्वाचन नागरिक भूमिका की वस्तु है

समाज मे ऐसे व्यक्ति भी हो, जो नागरिक भूमिका से उत्तीर्ण हो, स्वत्व-सम्पत्ति की कामना न रखते हो, प्रेम ही जिनका सम्वल हो और इस तरह कुछ विरागी-से जान पडते हो। इस वर्ग के प्रभाव के नीचे जो नागरिक निर्वाचन होगा वह सही होगा और उसमे दूसरे गुणो से पहले चरित्र को प्रधानता दी जायगी। प्रजातान्त्रिक देशो मे शायद उस ओर उतना ध्यान नही है। इसीलिए निर्वाचन-प्रणाली के रहते हुए भी ऐसा अनुभव नही होता कि जनता और सरकार एक है और शोषण मिट गया है।

पद्धति में आवश्यक सुधार

निर्वाचन द्वारा सही किस्म का आदमी शासन पर आये, इसके लिए जब कि यह सुविधाजनक होगा कि निर्वाचन मे आने की इच्छा ही न करनेवाले लोग भी उस समाज मे मौजूद हों, तब स्वय उस प्रणाली मे कुछ आवश्यक सशोधन भी किये जा सकते हैं। जैसे, निर्वाचन-क्षेत्र का सीमित होना, निर्वाचन के लिए स्वय खडे होने की पद्धति का समाप्त होना, नुमाइन्दो के नामो का नीचे से आना और सब नुमाइन्दो को एक साथ इकट्ठे होकर निर्वाचको के समक्ष उपस्थित होना। इन सशोधनो से अनिष्ट सम्भावनाओ को बहुत कुछ बचाया जा सकता है।

सामाजिक मानसिकता का निर्माण हो

लेकिन एक बार फिर कहना होगा कि महत्त्व उस वातावरण का है जिसमे निर्वाचन किया जाता है। एक इष्ट प्रकार की सामाजिक मानसिकता का निर्माण पहले होना चाहिए। वह ऐसे और उन पुरुषो द्वारा होगा जो यज्ञ को ही अपना धर्म मानते और लोकाकाक्षाओ से अधिक लोक-सेवा की आकाक्षा रखते हैं।

१५६ जिस एक सन्यस्त और उत्तीर्ण मानस के वर्ग की ओर आपने सकेत किया है, उसका निर्माण और सगठन आज की अनैतिक स्थितियों मे किस प्रकार सभव है? जब तक वैसा न हो, तब तक क्या निर्वाचन और राज-काज रुका रहे?

मत मन में से आये

—नही, वह निर्माण आज से भी सम्भव हो सकता है। लेकिन उसमे समय लगे, तो उस कारण राज-काज या कोई भी काज दुनिया का रुका नही रहेगा। इतना ही है कि वह सही-सही नही होगा।

हम यह चाहते हैं कि समाज के शीर्ष पर जो आदमी हो, वह अहकार और दर्प का न हो। स्वार्थ-वासना का न हो, बल्कि नम्र हो, सबके दु ख-दर्द को सम-

रता हो और विश्वास द्वारा मिले हुए अधिकार का अपने सुखोपभोग में उपयोग न करता हो। यह स्पष्ट ध्यान में तब आयगा जब हमारा मत मन में से आ रहा होगा और हमारा हाथ किसी दबाव में नहीं उठ रहा होगा। मन बना ही ऐसा है कि उस पर मानवीय सद्गुणों का प्रभाव पड़ता है। अगर कृत्रिम तत्व बीच में न आयें और हमारा मत मुक्त हो, तो अवश्य ही वह सही आदमी को छांट लेगा।

मत मुक्त हो

इसलिए जो किया जा सकता है, और करना चाहिए, वह यह कि मत मुक्त हो और धन-सत्ता के कृत्रिम प्रभाव मत की सुई को सही दिशा से इधर-उधर करने की शक्ति न रखें। यह तब आसान हो जायगा जब आदमी रहने-सहने की आवश्यकताओं के बारे में स्वाधीन होगा, किसी निर्भरता में नहीं रहेगा। हमारा अस्तित्व ही यदि दूसरे के हाथ में हो, तो मन मारकर भी हम अपना मत उसके पक्ष में दिये बिना न रहेंगे। इसका सम्बन्ध फिर अर्थ-व्यवस्था से आ जाता है। अपनी जगह पर व्यक्ति केवल स्वतन्त्र नहीं बल्कि स्वाधीन-चेता और स्वाश्रयी जितना होगा, उसका मत उतना ही निर्बन्ध और उचित होगा।

सुधार जन-मन से शुरू होगा

किन्तु यदि अन्दर के मन और ऊपर के मत के बीच धन सत्ता आदि के नाना प्रभाव काम करते रहेंगे तो आवश्यक है कि उन प्रभावों के अनुवर्ती ही हमको शासक और प्रशासक मिलें। देश को वही शासन मिलता है, जिसके वह योग्य होता है। यह समझना गलत है कि शासन सुधरा हुआ पहले मिलेगा और बाद में जनता का सुधार होगा। पद्धति हर प्रकार की जन-मन से शुरू होगी, संविधान से नहीं शुरू होगी। संविधान में तो समाज-मानस का प्रतिबिम्ब भर है। जीवन यदि है तो विधान में नहीं, समाज में है। इसलिए संविधान को बदलने की ओर से मैं प्रश्न को शुरू नहीं कर सकता। मन की ओर से ही समस्या शुरू होती है और समाधान का भी वहींसे आरम्भ है।

१५७. ऊपर आपने निर्वाचन-पद्धति को सुधारने के लिए जो सुझाव रखे वे अल्प जन-संख्या और अति सीमित क्षेत्र में तो सफल हो सकते हैं पर भारत जैसे बड़े देश और इतनी बड़ी आबादी पर उनको सम्यक्तः लागू नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में विशेषकर [illegible] को ध्यान में रखते हुए क्या किया जाना उचित है?

समाज मे ऐसे व्यक्ति भी हो, जो नागरिक भूमिका से उत्तीर्ण हो, स्वत्व-सम्पत्ति की कामना न रखते हो, प्रेम ही जिनका सम्बल हो और इस तरह कुछ विरागी-से जान पडते हो। इस वर्ग के प्रभाव के नीचे जो नागरिक निर्वाचन होगा वह सही होगा और उसमे दूसरे गुणो से पहले चरित्र को प्रधानता दी जायगी। प्रजातान्त्रिक देशो मे शायद उस ओर उतना ध्यान नही है। इसीलिए निर्वाचन-प्रणाली के रहते हुए भी ऐसा अनुभव नही होता कि जनता और सरकार एक है और शोषण मिट गया है।

पद्धति में आवश्यक सुधार

निर्वाचन द्वारा सही किस्म का आदमी शासन पर आये, इसके लिए जब कि यह सुविधाजनक होगा कि निर्वाचन मे आने की इच्छा ही न करनेवाले लोग भी उस समाज मे मौजूद हो, तब स्वय उस प्रणाली मे कुछ आवश्यक सशोधन भी किये जा सकते हैं। जैसे, निर्वाचन-क्षेत्र का सीमित होना, निर्वाचन के लिए स्वय खडे होने की पद्धति का समाप्त होना, नुमाइन्दो के नामो का नीचे से आना और सब नुमाइन्दो को एक साथ इकट्ठे होकर निर्वाचको के समक्ष उपस्थित होना। इन सशोधनो से अनिष्ट सम्भावनाओ को बहुत कुछ बचाया जा सकता है।

सामाजिक मानसिकता का निर्माण हो

लेकिन एक बार फिर कहना होगा कि महत्त्व उस वातावरण का है जिसमे निर्वाचन किया जाता है। एक इष्ट प्रकार की सामाजिक मानसिकता का निर्माण पहले होना चाहिए। वह ऐसे और उन पुरुषो द्वारा होगा जो यज्ञ को ही अपना धर्म मानते और लोकाकाक्षाओ से अधिक लोक-सेवा की आकाक्षा रखते हैं।

१५६ जिस एक सन्यस्त और उत्तीर्ण मानस के वर्ग की ओर आपने सकेत किया है, उसका निर्माण और सगठन आज की अनैतिक स्थितियों में किस प्रकार सभव है? जब तक वैसा न हो, तब तक क्या निर्वाचन और राज-काज रुका रहे?

मत मन में से आये

—नही, वह निर्माण आज से भी सम्भव हो सकता है। लेकिन उसमे समय लगे, तो उस कारण राज-काज या कोई भी काज दुनिया का रुका नहीं रहेगा। इतना ही है कि वह सही-सही नही होगा।

हम यह चाहते हैं कि समाज के शीर्ष पर जो आदमी हो, वह अहकार और दर्प का न हो। स्वार्थ-वासना का न हो, बल्कि नम्र हो, सबके दु ख-दर्द को सम-

सत्ता हो और विश्वास द्वारा मिले हुए अधिकार का अपने सुखोपभोग मे उपयोग न करता हो। यह इष्ट हाथ मे तब आयेगा जब हमारा मत मन मे से आ रहा होगा और हमारा हाथ किसी दबाव मे नही उठ रहा होगा। मन सदा ही ऐसा है कि उस पर मानवीय सद्गुणों का प्रभाव पड़ता है। अगर कृत्रिम तत्त्व बीच मे न आयें और हमारा मत मुक्त हो तो अवश्य ही वह सही आदमी को छाँट देगा।

मत मुक्त हो

इसलिए जो किया जा सकता है और करना चाहिए, वह यह कि मत मुक्त हो और धन-सत्ता के कृत्रिम प्रभाव मत की सुई को सही दिशा से इधर-उधर करने की शक्ति खो दें। यह तब आसान हो जायगा जब आदमी रहने-सहने की आवश्यकताओं के बारे मे स्वाधीन होगा किसी निर्भरता मे नही रहेगा। हमारा अस्तित्व ही यदि दूसरे के हाथ मे हो तो मन मारकर भी हम अपना मत उसके पक्ष मे दिये बिना न रहेंगे। इसका सम्बन्ध फिर अर्थ-व्यवस्था से आ जाता है। अपनी जगह पर व्यक्ति केवल स्वतन्त्र नही बल्कि स्वाधीन-चेता और स्वाश्रयी जितना होगा, उसका मत उतना ही निर्द्वन्द्व और उचित होगा।

सुधार जन-मन से शुरू होगा

किन्तु यदि अन्दर के मन और ऊपर के मत के बीच धन सत्ता आदि के नाना प्रभाव काम करते रहेंगे तो आवश्यक है कि उन प्रभावों के अनुवर्ती ही हमको शासक और प्रशासक मिलें। देश को वही शासन मिलता है, जिसके वह योग्य होता है। यह समझना गलत है कि शासन सुधरा हुआ पहले मिलेगा और बाद मे जनता का सुधार होगा। उन्नति हर प्रकार की जन-मन से शुरू होगी संविधान से नही शुरू होगी। संविधान मे तो समाज-मानस का प्रतिबिम्ब भर है। जीवन यदि है तो विधान मे नही समाज मे है। इसलिए संविधान को बदलने की ओर से मैं प्रश्न को शुरू नही कर सकता। मन की ओर से ही समस्या शुरू होती है और समाधान का भी वहीं से आरम्भ है।

१५७. ऊपर आपने निर्वाचन-पद्धति को सुधारने के लिए जो सुझाव रखे वे अल्प जन-संख्या और अति सीमित क्षेत्र में तो सफल हो सकते हैं पर भारत जैसे बड़े देश और इतनी बड़ी आबादी पर उनको सम्भवतः लागू नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में विशेषकर भारत को ध्यान मे रखते हुए क्या किया जाना उचित है?

निर्वाचन मानवीय हो

—क्यों लागू नहीं किया जा सकता? डाइरेक्ट इलेक्शन उन मूल इकाइयों में ही हो, तो उसके ऊपर शेष निर्माण इन-डाइरेक्ट इलेक्शन द्वारा क्यों नहीं हो सकता? प्रत्यक्ष निर्वाचन मान लीजिये, ग्राम-क्षेत्र में होता है। फिर पास-पास के क्षेत्र चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा आपस में मिल सकते हैं। पाँच हजार की जनसंख्या पर मान लीजिये, एक प्रतिनिधि प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुन लिया जाता है। तो हम यह तय कर सकते हैं कि पाँच लाख की जन-संख्या पर ऐसे चुने हुए सौ प्रतिनिधि मिलकर फिर एक को निर्वाचित कर देंगे। इस पद्धति से विस्तृत क्षेत्र कोई बाधा उपस्थित नहीं करता और अवश्य ही भारतवर्ष में यह प्रयोग हो सकता है। पाँच से आठ-दस लाख की जनसंख्यावाले निर्वाचन-क्षेत्र छोटी इकाइयों में बँटकर ऊपर परोक्ष निर्वाचन की सहायता से हमको अपना एक प्रतिनिधि दे सकते हैं। मन्शा यह है कि मानव-समुदाय के बीच मुक्त मानवता काम कर रही हो, लोभ और भय आदि के प्रभाव व्यतिक्रम डालने के लिए वहाँ उपस्थित न हों। आज तो चुनाव में वोट ऐसे पड़ते हैं कि पचहत्तर फी सदी को मालूम नहीं होता कि वे किसके लिए वोट दे रहे हैं। फिर यह भी गलत बात है कि जिसको वोट दे रहे हों, उसका मनोनयन कहीं दूर से होता हो और मनोनीत उम्मीदवार भी जाने कहाँ दूर-दराज का कोई आदमी हो। आज के निर्वाचन में यह सब सम्भव बना हुआ चल रहा है। इसलिए निर्वाचन इतना अधिक राजनैतिक हो जाता है कि मानवीय वह रहता ही नहीं। ये सब दोष अवश्य और आसानी से उस प्रणाली में से हरण किये जा सकते हैं। वह करना चाहिए।

चुनावों में भ्रष्टाचार

१९५८ में भारत की बात जानता हूँ। मनुष्य भ्रष्टाचार, दुराचार और अनाचार की जिस सीमा तक जा सकता है, उस तक निर्वाचनों में हमारे मतदाता और उम्मीदवार पहुँच जाते हैं। यह स्थिति प्रजातन्त्र की जड़ों को खोद रही है। मैं समझता हूँ, इसके लिए बहुदलीय पद्धति और एक सीट के लिए निर्बन्ध अनेक उम्मीदवारों का खड़ा होना उत्तरदायी है, इस विषय में आपका क्या मत है?

यह प्रश्न एक या बहु-दल पर मौकूफ नहीं

—मुझमें अगर दम है, पास पैसा है, तो क्या कारण है कि मैं निर्वाचन में आने के लिए न खड़ा होऊँ। यदि लोभ और अहं-भाव के लिए निमन्त्रणपूर्वक समाज मुझे अवसर देता है, तो कोई कारण नहीं रह जाता कि मैं पैसा बखेरता हुआ

और निर्वाचित होने पर कृपा का आश्वासन देता हुआ वोट मांगूं और बटोरूं नहीं। बहुदल-वाद इस प्रकार के अवसर देता ही है। दल बन जाते हैं और हमेशा किसी वाद के कारण से ही नहीं बनते व्यक्तिगत अहंकारों में से भी बन जाते होते हैं। इन दलों को हर निर्वाचन-क्षेत्र में एक-एक मोहरे की आवश्यकता होती है और पैसा और प्रभाववाला आदमी उनके पास पहुँचकर टिकट की प्रार्थना करता है।

प्रश्न यह है कि निर्वाचन के लिए सामने आनेवाला आदमी कहाँ से आये कैसे खड़ा हो, कौन उसे मनोनीत करे? राजनीतिक दल यदि एक हो सकता है तो दूसरा क्यों न हो और उसके बाद तीसरा-चौथा क्यों न हो? यदि एक को अवकाश है तो हरएक को अवकाश हो जाता है। मान लीजिये किसी युक्ति से एक दल इतना बलिष्ठ और सत्ताशाली हो जाता है कि शेष दल नास्तिवत् हो जायें और उस अवस्था में भ्रष्टाचार इत्यादि न दीखें, तो क्या उस अवस्था से आपको संतोष हो जायगा? समाधान की स्थिति तब भी नहीं आयेगी और जान पड़ेगा कि चुना गया आदमी सच में चुना नहीं गया है, वह ऊपर से आने के कारण आ भर गया है और इसलिए उसे चुनना अनिवार्य हो गया है। इसलिए इस प्रश्न को मैं बहु-दल और एक-दल पर मौकूफ नहीं मानता और उसमें गहरे जाना जरूरी समझता हूँ।

योग्य सदा अनुत्सुक होता है

चुनाव राजनीतिक हों ही क्यों वे नागरिक क्यों न हों? उनकी भूमिका ही बदल जानी चाहिए। नागरिकों की ओर से ही फिर निर्वाचनीयों के नाम भी आयें। ऐसी हवा बनेगी तो पाया यह जायगा कि निर्वाचन के लिए उत्सुक और आतुर लोग कम हैं, अनुत्सुक लोग ही ज्यादा हैं। एक जगह की मुझे याद है। वहाँ चुनाव होना था। मालूम हुआ कि चुनाव हो ही नहीं पा रहा है। कारण जिन जिनके नाम आते हैं वे अपने को पीछे करके दूसरे का समर्थन और प्रस्ताव करते हैं। मालूम हुआ कि चुनाव को मनाव बनाना होगा तब काम चलेगा। आखिर बड़े मान-मनाव के बाद वहाँ अध्यक्ष का निर्णय हो पाया। योग्य सदा अनुत्सुक होता है। उमग आगे की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति मानो इसी कारण सिद्ध करता है कि वह अयोग्य है। आज जो क्रम चल रहा है उसमें इस कसौटी से अयोग्यता ही सामने आती है। फिर यह सब अन्धेर, जिसका आपने जिक्र किया, चुनाव में चलता हो तो इसमें विस्मय ही क्या है?

१५८. तब फिर क्या किया जाय? अब मैं किस निर्वाचन-पद्धति को अपनाया

है, उस एक दलीय पद्धति को भी आप शायद हितकर नहीं मानते। मैं समझता हूँ, बात मतदाता की स्वाधीन चेतना और उसके मत की मुक्तिवत्ता पर आ टिकती है। पर आज की वैज्ञानिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में क्या वैसा होना सम्भव है? यदि नहीं, तो क्यों न चुनावों के इस आडम्बर को समाप्त करके एकराजत्व अथवा अधिनायकत्व को ही सब देश स्वीकार कर लें?

खुले डण्डे का शासन

—मैं तो इससे नहीं डरता, बल्कि अच्छा ही समझूँगा। खुली हिंसा राज्य करे तो मुझे खुशी होगी। खुशी इसलिए होगी कि राज्य को फिर उस तरह का दम्भ नहीं रहेगा कि वह कल्याण कर रहा है। वेलफेयर जैसे नाना शब्दों के सहारे राज्य को यह मानने का मौका बना रहता है कि वह कल्याणकारी संस्था है और इसलिए उसका सर्वोपरि मान होना चाहिए। खुले डण्डे के शासन में इस भ्रम में चलने या चलाने का इतना मौका नहीं रहता है।

राइट माइट के अधीन

मैं सचमुच मानता हूँ कि राज्य असल में शक्ति से चलता है। शक्ति वह जब तक हिंसा की है, तब तक आपस में युद्ध ही वह उपाय है, जिससे अन्तिम निर्णय हो। मानव-जाति इस अवस्था से पार नहीं पहुँची है। सब राष्ट्रों के पास न्याय की संस्था है। नीति-न्याय की बड़ी बारीकियाँ वहाँ सुलझायी जाती हैं। पर प्रथम सत्य है यह कि न्याय का निर्णय भी अन्त में युद्ध से होता है। माइट और राइट में राइट माइट के साथ रहता है, स्वतन्त्र नहीं होता।

माइट व्यर्थ बन जाय

क्या अवस्था हमको वह नहीं लानी है कि राइट से स्वतन्त्र होकर माइट एक व्यर्थता सिद्ध हो जाये, राइट ही स्वयं माइट बन जाय? मैं उसी स्वप्न के प्रति समर्पित रहना चाहता हूँ। आपका चुनाव का प्रश्न, एकदल बहुदल का प्रश्न इस स्वप्न की राह से कुछ हटा हुआ-सा ही मुझे दीखता है। इसीलिए सचमुच एक-दल का ही जहाँ बोलबाला है, वहाँ की चुनाव-प्रणाली को बेहतर कह दूँ, यह भी मुझसे नहीं हो पाता है।

युद्ध निर्णायक न बने

एक बात मन में आती है। मान लीजिये कि औसत जीवनमान भारतीय नागरिक

का आज सौ रुपया मासिक जितना ऊँचा है। यदि कुछ ऐसी व्यवस्था हो कि चुने गये आदमी को वेतनरूप उससे दस रुपया मासिक कम मिलेगा तो कल्पना कीजिये कि चुनाव के मैदान का तब क्या हाल होगा। सम्भव हो सकता है कि तब वहाँ घमासान की जगह सन्नाटा दिखाई दे जाये। शासन पर चुने गये आदमी में यह सामर्थ्य होनी चाहिए, यह शिक्षा अभ्यास और इतनी जितेन्द्रियता होनी चाहिए कि और आदमियों का काम अगर सौ रुपये में चले तो वह दस कम में ही सन्तुष्ट हो जाय। मुझे प्रतीत होता है कि ऐसा होने में देर है कि चुनाव की समस्या काफी आसान हुई दीखेगी। तलवार के जोर से यदि शासक बनता है तो वह अपने लिए जरूरी पाता है कि आस पास वैभव और ऐश्वर्य का परिमण्डल रखे और इस तरह जितना सम्भव हो सके जनता साधारण आदमी और अपने सिंहासन के बीच अन्तर बनाये रखे। इस व्यवधान में वह आतंक और क्षोभ आदि के प्रभाव डाले रखता और इस तरह अपना शासन सम्भव एवं निरंकुश बनाता है। माने जानेवाले प्रजातान्त्रिक राज्य भी जाने-अनजाने इन प्रभावों का अपने पक्ष में काम लिये बिना नहीं रहते। स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ये सब प्रभाव हिंसात्मक शक्ति से सम्बन्ध रखते और अन्तिम विश्लेषण में आतंककारी हुआ करते हैं। यदि इन प्रभावों के बल से राज्य चलेगा तो वह कैसे हो सकता है कि युद्ध ही अन्तिम निर्णायक तत्त्व न बना रहे और आदमी पशुओं के पैने-से-पैने नख-दन्तों से पैने हथियार बनाने में विश्वास न रखे। यह प्रवृत्ति मूल में मानवीय नहीं मानी जा सकेगी फिर इसके भीतर सांस्कृतिक कही जानेवाली कितनी भी प्रवृत्तियाँ क्यों न होती रहें।

राज्य सेवकों का हो

राज्य भला करना चाहता है सेवा करना चाहता है तो वह सेवकों का होना चाहिए। सेवक क्या अपने सेव्य और सेवित से बड़ा बनकर रहना बर्दाश्त कर सकता है? तब तो धिक्कार है उसकी सेवकाई को। सच्चा सेवक होगा तो अफसरी भावना को कभी अपने मन में ला ही नहीं सकेगा। लायेगा भी कैसे उसके पास इतना साज-सामान ही कब होगा?

मेरी निश्चित मान्यता है कि जब तक राज्य और राज्यनीति इस दिशा की ओर नहीं चलती है तब तक ऊपर के सब प्रयत्न सतही और मन बहलानेवाले हैं। असल प्रश्न तक वे नहीं पहुँचते हैं और केवल बौद्धिक उलझन और व्यसन का अवसर देकर बुद्धिवादियों को या तो चुप कर देते या अपने में रमा लेते हैं। इतना हो जाने पर फिर प्रजा से ऊपर रहनेवाली जनता की चिन्ता करने की आवश्यकता तो रहती ही नहीं।

●

है, उस एक दलीय पद्धति को भी आप शायद हितकर नहीं मानते। मैं समझता हूँ, बात मतदाता की स्वाधीन चेतना और उसके मत की मुक्तिवत्ता पर आ टिकती है। पर आज की वैज्ञानिक एव आर्थिक परिस्थितियो मे क्या वैसा होना सम्भव है? यदि नहीं, तो क्यो न चुनावो के इस आडम्बर को समाप्त करके एकराजत्व अथवा अधिनायकत्व को ही सब देश स्वीकार कर लें?

खुले डण्डे का शासन

—मैं तो इससे नही डरता, बल्कि अच्छा ही समझूँगा। खुली हिंसा राज्य करे तो मुझे खुशी होगी। खुशी इसलिए होगी कि राज्य को फिर इस तरह का दम्भ नही रहेगा कि वह कल्याण कर रहा है। वेलफेयर जैसे नाना शब्दो के सहारे राज्य को यह मानने का मौका बना रहता है कि वह कल्याणकारी सस्था है और इसलिए उसका सर्वोपरि मान होना चाहिए। खुले डण्डे के शासन मे इस भ्रम के चलने या चलाने का इतना मौका नहीं रहता है।

राइट माइट के अधीन

मैं सचमुच मानता हूँ कि राज्य अमल मे शक्ति मे चलता है। शक्ति वह जब तक हिंसा की है, तब तक आपस मे युद्ध ही वह उपाय है, जिससे अन्तिम निर्णय हो। मानव-जाति इस अवस्था से पार नही पहुँची है। सब राष्ट्रो के पास न्याय की सस्था है। नीति-न्याय की बडी बारीकियाँ वहाँ सुलझायी जाती हैं। पर प्रथम सत्य है यह कि न्याय का निर्णय भी अन्त मे युद्ध से होता है। माइट और राइट में राइट माइट के साथ रहता है, स्वतन्त्र नही होता।

माइट व्यर्थ बन जाय

क्या अवस्था हमको वह नही लानी है कि राइट से स्वतन्त्र होकर माइट एक व्यर्थता सिद्ध हो आये, राइट ही स्वय माइट बन जाय? मैं उसी स्वप्न के प्रति समर्पित रहना चाहता हूँ। आपका चुनाव का प्रश्न, एकदल बहुदल का प्रश्न इस स्वप्न की राह से कुछ हटा हुआ-सा ही मुझे दीखता है। इसीलिए सचमुच एक-दल का ही जहाँ बोलबाला है, वहाँ की चुनाव-प्रणाली को बेहतर कह दूँ, यह भी मुझसे नहीं हो पाता है।

युद्ध निर्णायक न बने

एक बात मन मे आती है। मान लीजिये कि औसत जीवनमान भारतीय नागरिक

का काम सौ रुपया मासिक जितना ऊँचा है। यदि कुछ ऐसी व्यवस्था हो कि चुने गये आदमी को वेतनरूप उससे दस रुपया मासिक कम मिलेगा तो कल्पना कीजिये कि चुनाव के मैदान का तब क्या हाल होगा। सम्भव हो सकता है कि तब वहाँ श्मशान की जगह सन्नाटा दिखाई दे जाये। शासन पर चुने गये आदमी में यह सामर्थ्य होनी चाहिए, वह शिक्षा अभ्यास और इतनी जितेन्द्रियता होनी चाहिए कि और आदमियों का काम अगर सौ रुपये से चले तो वह दस कम में ही सन्तुष्ट हो जाय। मुझे प्रतीत होता है कि ऐसा होने में देर है कि चुनाव की समस्या काफी आसान हुई दीखेगी। तलवार के जोर से यदि शासक बनता है तो वह अपने लिए जरूरी पाता है कि आस-पास वैभव और ऐश्वर्य का परिमण्डल रखे और इस तरह जितना सम्भव हो सके उतना साधारण आदमी और अपने सिंहासन के बीच अन्तर बनाये रखे। इस व्यवधान में वह आतंक और क्षोभ आदि के प्रभाव डाले रखता और इस तरह अपना शासन सम्भव एवं निरंकुश बनाता है। माने जानेवाले प्रजातान्त्रिक राज्य भी आने-अनजाने इन प्रभावों का अपने पक्ष में काम किये बिना नहीं रहते। स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ये सब प्रभाव हिंसात्मक शक्ति से सम्बन्ध रखते और अन्तिम विश्लेषण में आतंकवादी हुआ करते हैं। यदि इन प्रभावों के बल से राज्य चलेगा तो वह कैसे हो सकता है कि युद्ध ही अन्तिम निर्णायक तत्त्व न बना रहे और आदमी पशुओं के पैने-से-पैने नख-दन्तों से पैने हथियार बनाने में विश्वास न रखे। यह प्रवृत्ति मूल में मानवीय नहीं मानी जा सकेगी फिर इसके भीतर सांस्कृतिक कही जानेवाली कितनी भी प्रवृत्तियाँ क्यों न होती रहें।

राज्य सेवकों का हो

राज्य भला करना चाहता है सेवा करना चाहता है, तो वह सेवकों का होना चाहिए। सेवक क्या अपने सेव्य और सेवित से बड़ा बनकर रहना बर्दाश्त कर सकता है? तब तो धिक्कार है उसकी सेवकाई को। सच्चा सेवक होगा तो अफसरी भावना को कभी अपने मन में ला ही नहीं सकेगा। भावना भी कैसे उसके पास इतना साज-सामान ही कब होगा?

मेरी निश्चित मान्यता है कि जब तक राज्य और राज्यनीति इस दिशा की ओर नहीं चलती है, तब तक ऊपर के सब प्रयत्न सतही और मन बहलानेवाले हैं। असल प्रश्न तक वे नहीं पहुँचते हैं और केवल बौद्धिक उलझन और व्यसन का अवसर देकर बुद्धिवादियों को या तो चुप कर देते या अपने में उलझा देते हैं। इतना हो जाने पर फिर श्रद्धा से लगकर रहनेवाली जनता की चिन्ता करने की आवश्यकता तो रहती ही नहीं।

●

है, उस एक दलीय पद्धति को भी आप शायद हितकर नहीं मानते। मैं समझता हूँ, बात मतदाता की स्वाधीन चेतना और उसके मत की मुक्तिवत्ता पर आ टिकती है। पर आज की वैज्ञानिक एव आर्थिक परिस्थितियो मे क्या वैसा होना सम्भव है? यदि नहीं, तो क्यो न चुनावो के इस आडम्बर को समाप्त करके एकराजत्व अथवा अधिनायकत्व को ही सब देश स्वीकार कर लें?

खुले डण्डे का शासन

—मैं तो इससे नही डरता, बल्कि अच्छा ही समझूँगा। खुली हिंसा राज्य करे तो मुझे खुशी होगी। खुशी इसलिए होगी कि राज्य को फिर इस तरह का दम्भ नही रहेगा कि वह कल्याण कर रहा है। वेलफेयर जैसे नाना शब्दो के सहारे राज्य को यह मानने का मौका बना रहता है कि वह कल्याणकारी सस्था है और इसलिए उसका सर्वोपरि मान होना चाहिए। खुले डण्डे के शासन मे इस भ्रम के चलने या चलाने का इतना मौका नहीं रहता है।

राइट माइट के अधीन

मैं सचमुच मानता हूँ कि राज्य असल मे शक्ति से चलता है। शक्ति वह जब तक हिंसा की है, तब तक आपस मे युद्ध ही वह उपाय है, जिससे अन्तिम निर्णय हो। मानव-जाति इस अवस्था से पार नही पहुँची है। सब राष्ट्रो के पास न्याय की सस्था है। नीति-न्याय की बडी बारीकियाँ वहाँ सुलझायी जाती हैं। पर प्रथम सत्य है यह कि न्याय का निर्णय भी अन्त मे युद्ध से होता है। माइट और राइट मे राइट माइट के साथ रहता है, स्वतन्त्र नही होता।

माइट व्यर्थ बन जाय

क्या अवस्था हमको वह नही लानी है कि राइट से स्वतन्त्र होकर माइट एक व्यर्थता सिद्ध हो आये, राइट ही स्वय माइट बन जाय? मैं उसी स्वप्न के प्रति समर्पित रहना चाहता हूँ। आपका चुनाव का प्रश्न, एकदल बहुदल का प्रश्न इस स्वप्न की राह से कुछ हटा हुआ-सा ही मुझे दीखता है। इसीलिए सचमुच एक-दल का ही जहाँ बोलबाला है, वहाँ की चुनाव-प्रणाली को बेहतर कह दूँ, यह भी मुझसे नही हो पाता है।

युद्ध निर्णायक न बने

एक बात मन में आती है। मान लीजिये कि औसत जीवनमान भारतीय नागरिक

उसने कर्तव्य माना है। जिस पूँजी से कांग्रेस ने आरम्भ किया था वह नैतिक पूँजी अक्सर गांधी की कमाई की हुई होगी। लेकिन पूँजीवाद के दिन गये और उस पूँजी को कांग्रेस ने जुए के दांव पर लुटा दिया है, तो इसमें कोई क्या कह सकता है? कांग्रेस अब नेहरू की है और नेहरू किसीके नहीं अपने हैं। वे ज्ञान से आदमी हैं और आदर्श से भरे रहने का उन्हें हक है। आखिर ऊँचे उनके सपने हैं और वे शुरू से ऐसी ऊँचाइयों पर रहे हैं कि मानो उन सपनों के पीछे हवा में उड़ते रह सकते हैं। आप-हम रुपये की कमाई-पढ़ाई में रहते हैं। नेहरू की गिनती करोड़ों में चलती है। इसलिए कैसे हो सकता है कि नेहरू में कोई समाज का भाव और करोड़ों रुपया उस पर न बह जाय। शाहजहाँ ने एक ताजमहल बनवाया, अब विशाल के बनाने में एक की भी कोई गिनती है? नेहरू के निर्माण की एक-एक चीज देखिये तो ताजमहल दसियों फीके पड़ जाते हैं। योजनाएँ देखिये और उनका विस्तार, आपकी कल्पना चौंधिया जायगी। लेकिन उन करोड़ों-अरबों के अंकों और राशियों पर नेहरू की विवेचना ऐसे चलती है, जैसे मोतियों पर परियाँ चलती हैं। मेरा मानना है कि अभिजात कुलीन शालीन तत्पर, कर्मण्य और एकाकी नेहरू कांग्रेस की समस्या हैं। और कांग्रेस उनके कारण देश की समस्या है।

अगला चुनाव कांग्रेस जीत सकती है। लेकिन इस कांग्रेस को लेकर देश के आगे अँधेरा है ऐसा मुझे लगता है। उपाय सिवा इसके कुछ नहीं सूझता कि आदमी अपनी जगह प्रकाश बने और ईमानदारी से चले। सच पहुँचकर विफल बनने से डरे नहीं और जो लगता है, खुलकर कहे। शायद उसमें से शक्ति निकले जो राजनीति से बचे नहीं बल्कि उसको सँभाले।

विरोधी दल

१६१ प्रजातन्त्र में शासक दल की नियमपालिता पर विरोधी दल ही अंकुश लगाया करता है। क्या आपकी राय में वर्तमान विरोधी दलों में कोई इतना तेजस्वी और ओजस्वी है, जो लोक-मानस की आवाज को लेकर शासन के सामने खड़ा हो सके और उसे सही रास्ता अपनाने पर मजबूर कर सके?

सब राज्य चाहते हैं

—बिलकुल नहीं है। नहीं इस वजह से कि सब राज चाहते हैं। शायद कुछ ही उनमें भी सर्वोदय-विचार की तरफ से। पर सर्वोदय को याद रखना पड़ता है कि हम राज नहीं चाहते। वह इच्छापूर्वक अराजनीतिक बनना मानो उन पापन करके सिर्फ मन मसलकर रहता है। बस इसकी कोशिश करते हैं और दुविधा में रह जाते

गामिनी क्यो वन गयी ? नही, वह कुछ नही वन गयी। वह सिफ जिम्मेदार वनी है और शासन का निर्वाह उसकी पहली जिम्मेदारी है। इसके अलावा उसे इधर-उधर कही देखना नही है। नैतिक प्रश्न निठल्लो के हो सकते हैं। सिफ कार्मिक प्रश्न है, जो काग्रेस के लिए हैं। वाध वाधा, कारखाने खडे करो, दौलत वढाओ। वजट वढाना पडे तो कर भी वढ़ाओ। कुछ उठा न रखो और हिन्दुस्तान का मान और हिन्दुस्तान का सिक्का देश-देशान्तर मे विठा दो। इस काम मे काग्रेस आँख मूंदकर लगी हुई है। आंख खोलना अगर नही चाहती, तो सिर्फ इसलिए कि दूसरी वातो के लिए वह अपने को फुरसत देना नही चाहती। आपको मालूम है, हमारे प्रधानमन्त्री कव उठते और कव सोते हैं ? चौवीस मे वीस घण्टे तो अवश्य ही वे काम मे रहते हैं। शानदार यह वक्त है और शानदार काग्रेस का काम हो रहा है। भारत अव कोने-किनारे नही है, मानो दुनिया के नकशे के वीचो-वीच आ गया है। ऐसे वक्त आप कैसे पूछ सकते है कि काग्रेस विपथगामिनी और शोपक वन क्यो गयी ?

काग्रेस को जगाया नहीं जा सकता

मैं मानता हूँ, कांग्रेस को जगाया नही जा सकता। जागे वह, जो सो रहा हो। कांग्रेस सो विलकुल नही रही। असल मे उस पर नशा सवार है। और वह करने धरने का नशा है। सवसे वडा करना शासन करना होता है और वह कारोवार काग्रेस पर आया है, तो वह चूक कैसे सकती है ? यह नही कहा जा सकेगा कि कांग्रेसी जेल जाना जानते थे, शासन करना नही जानते थे। अव वजट देखिये और खुद वताइये कि किस कदर शासन का काम शान से किया जा रहा है।

नेहरू की कांग्रेस

गाधी सन् '४८ के आरम्भ मे उठ गये थे। भगवान् ने यह सोच-विचारकर ही किया होगा। भगवान् के काम मे क्या यह दखल देना न होगा कि गाधी को जीवित मान कर चला जाता ! गाधी की समाधि वनाने की जिम्मेदारी अवश्य काग्रेस पर आती थी और वह बनी है और वनायी जा रही है। लाखो लाख अभी उस पर और खर्च होगा और समाधि की शान देखने लायक होगी। उनके वुत वन गये हैं, स्तम्भ वन गये हैं, संग्रहालय वन रहे हैं और साहित्य निकाला जा रहा है। मृत के प्रति क्या यह कर्तव्य न था और क्या यह खूवी से नही पूरा किया जा रहा है ? लेकिन मृत को जीवित रखने का काम कैसे किया जा सकता था ? उस जीवन के काम-काज मे से गाधी को अगर कांग्रेस ने एकदम वाहर रखा है, तो शायद यह

उसने कर्तव्य माना है। जिस पूँजी से कांग्रेस ने आरम्भ किया था वह नैतिक पूँजी अगर गांधी की कमाई थी तो होगी। लेकिन पूँजीवाद के दिन गये और उस पूँजी को कांग्रेस ने खुले खजाने अगर लुटा दिया है, तो इसमें कोई क्या कह सकता है? कांग्रेस अब नेहरू की है और नेहरू किसीके नहीं अपने हैं। वे शान के आदमी हैं और आदर्श से भरे रहने का उन्हें हक है। आखिर ऊँचे उनके सपने हैं और वे शुरू से ऐसी ऊँचाइयों पर रहे हैं कि मानो उन सपनों के पीछे हवा में उड़ते रह सकते हैं। आप-हम रुपये की इकाई-दहाई में रहते हैं। नेहरू की गिनती करोड़ों में चलती है। इसलिए कैसे हो सकता है कि नेहरू में कोई सवाल आ जाय और करोड़ों रुपया उस पर न बह जाय। शाहजहाँ ने एक ताजमहल बनाया, अब हिसाब के जमाने में एक की भी कोई गिनती है? नेहरू के निर्माण की एक-एक चीज देखिये तो ताजमहल दसियों फीके पड़ जाते हैं। योजनाएँ देखिये और उनका विस्तार, आपकी कल्पना चौंधिया जायगी। लेकिन उन करोड़ों-अरबों के अंकों और राशियों पर नेहरू की विवेचना ऐसे चलती है, जैसे मोतियों पर परियाँ चलती हैं। मेरा मानना है कि अभिजात्य कुलीन शालीन तत्पर, कर्मण्य और एकाकी नेहरू कांग्रेस की समस्या हैं। और कांग्रेस उनके कारण देश की समस्या है।

अगला चुनाव कांग्रेस जीत सकती है। लेकिन इस कांग्रेस को लेकर देश के आगे अँधेरा है ऐसा मुझे लगता है। उपाय सिवा इसके कुछ नहीं दीखता कि आदमी अपनी जगह मजबूत बने और ईमानदारी से चले। तब रहकर विफल बनने से डरे नहीं और जो लगता है, खुलकर कहे। शायद उसमें से शक्ति निकले जो राजनीति से दबे नहीं बल्कि उसको सँभाले।

विरोधी दल

१११ प्रजातन्त्र में शासक दल की निरंकुशता पर विरोधी दल ही अंकुश लगाया करता है। क्या आपकी राय में वर्तमान विरोधी दलों में कोई इतना तेजस्वी और ओजस्वी है, जो लोक-मानस की आवाज को लेकर शासक के सामने खड़ा हो सके और उसे सही रास्ता अपनाने पर मजबूर कर सके?

सब राज्य चाहते हैं

—बिल्कुल नहीं है। नहीं इस वजह से कि सब राज चाहते हैं। आशा कुछ हो सकती थी सर्वोदय-विचार की तरफ से। पर सर्वोदय को याद रखना पड़ता है कि हम राज नहीं चाहते। यह इच्छापूर्वक अराजनीतिक बनना मानो तब शासन करके सिर्फ मन मारकर रहना है। कुछ इसकी कोशिश करते हैं और दुनिया से उठ जाते

४

हमारे दल और नेता

काग्रेस शोषक और विपथगामिनी

१६० भारत का नया चुनाव सामने है। कितना छल, प्रपच, हत्या, हिंसा आदि का प्रवाह अब बहेगा और धन-जन, सेक्स, अधिकार सभी प्रकार का बल चुनावों की विजयाकाक्षा को पूरा करने मे अपना योगदान देगा, इसका कोई अनुमान नहीं किया जा सकता। हमारे नेता इस बात मे सन्तुष्ट दीखेंगे कि उनका दल जीत गया और उन्होंने शासन पर अपना अधिकार जमा लिया। इस भीषण अपव्यय और दुराचार को रोकने के लिए हमारा शासक-दल क्यों कोई ठोस और उपयोगी मार्ग नहीं निकाल पा रहा? जिस काग्रेस ने भारत को आजादी दिलायी, वही अब शोषक और विपथगामिनी क्यो बन गयी? ऐसी स्थिति मे काग्रेस का अपना क्या भविष्य है?

—क्यो मुझे कष्ट देते हो? मैं दोष किसीको दे नहीं सकता। दोष लेने मे ही मेरा परिपूर्ण विश्वास है। मैं क्यो मर रहा हूँ, क्यो जी रहा हूँ? कष्टकर जिस स्थिति की बात करते हो, उसका उत्तर दिया नही जा सकता, वह उत्तर स्वय बना ही जा सकता है। वे, जिन्हें गाधी की याद है, स्वय इस स्थिति के लिए उत्तर बनकर उठें, यही एक उत्तर है, अन्यथा कोई उपाय नहीं है।

काग्रेस शासन में जुटी है

काग्रेस क्या करे? अपने को इनकार कैसे करे? वह क्या शुरू से राजनीतिक न थी? काग्रेस का काम गाधीवादी बनना तो कभी नहीं था। उसका काम था भारत मे स्वराज्य लाना। वह स्वराज्य आया तो काग्रेस क्या करती? गाधी ने तो सीधे कह दिया कि राज पर किसी-न-किसीको बिठाया ही जायगा, कुछ व्यवस्था देश उस सम्बन्ध मे कर ही लेगा। हम सब उसे इसमे सहायता देनेवाले होंगे। लेकिन मेरी माने तो काग्रेस इस समय राजनीतिक सस्था के रूप मे अपने को खतम कर ले और लोक-सेवक सघ के रूप मे नया जन्म ले ले। वह बात गांधी की थी। शायद उस

भारत में गहरा और उज्ज्वल भविष्य छिपा हुआ था। शायद उससे वह स्वप्न धरती के साथ आता जो स्वतन्त्रता के युद्ध के समय सभी भारतीयों के मन में घूम जाया करता था। वह राम-राज्य का स्वप्न! लेकिन वह बात कांग्रेस के मन की तो नहीं थी वह उसके बस की भी नहीं हुई। कांग्रेस के भीतर वह कहीं भी जगह नहीं पा सकी। और भारत का स्वराज्य जो आया तो कांग्रेस ने उसे अपना स्वराज्य मानकर पहले अपने कन्धों पर और फिर अपने हाथों में ले लिया। बड़ी जल्दी देश को मालूम होने लगा कि उसका स्वराज्य बस कांग्रेस राज्य है। पता होने लगी कि क्या वह स्वराज्य भी है! क्या दिल्ली से आगे बढ़कर वह देहातों और समाज तक भी पहुँचेगा? बात कितनी भी हो कांग्रेस अपने कांग्रेसी राज को लेकर व्यस्त है। राज कोई छोटी चीज तो नहीं होती जाने कितनी उसकी उलझनें होती हैं, पेचीदगियाँ होती हैं। कांग्रेस जी-जान से उसमें लगी है और अपने को फुरसत और आराम नहीं दे रही है। मानना होगा कि वह पूरी तरह जूझ रही है। बधाई ही दीजिये उन कांग्रेसी नेताओं को जो दिन को दिन रात को रात न गिनकर राज-काज से निबटने में लगे ही हुए हैं। हाय वक्त तेजी से तरक्की करता जा रहा है और अंग्रेजों का जमाना नहीं रह गया है। तब थोड़े से सेक्रेटरियों और कर्मचारियों से काम चल जा सकता था अब स्वराज्य है और काम बेहद बढ़ गया है। देखिये न कितने दफ्तर हैं। कितने कर्मचारी हैं। सेक्रेटेरियट क्या एक कस्बा है और आदमी वहाँ जाने कितने डिविजन फौज के बराबर होंगे। और पूछिये नहीं! कांग्रेसी नेता ही हैं कि जिन्होंने त्याग और तपस्या का ब्रिटिश-जेलों में अभ्यास किया है और इससे इस तूफान का सामना कर रहे और डटे हुए हैं। अगले चुनाव में इन नेताओं को देश ने फिर पुरस्कार दिया और शासन पर भेजा तो फिर वे प्राणपण से शासन करेंगे और देश की सेवा करेंगे।

सोचने की फुरसत नहीं

आप पूछते हैं शासक-दल क्यों कोई ठोस और उपयोगी मार्ग नहीं निकाल पा रहा है? लेकिन आप जानते नहीं हैं। शासक-दल शासन की जिम्मेदारी जो उठा रहा है। भला कहिये कि इसके अलावा वह कोई काम कैसे कर सकता है? आपको अनुमान नहीं शासन कितना जटिल कितना बड़ा काम है। अभी तो कर्मचारी आठ-दसगुने हुए ही भरते हैं। कौन जाने आगे और भी बढ़ें। आखिर तो स्वराज्य है। कोई हँसी-खेल नहीं है। उसमें सोचने की बात है कि सोचने की फुरसत निकाली ही कैसे जा सकती है।

शानदार यह वक्त है

आप पूछते हैं भारत की आजादी के लिए लड़नेवाली कांग्रेस शोषक और विपक्ष-

गामिनी क्यो वन गयी ? नही, वह कुछ नही वन गयी। वह सिफ जिम्मेदार वनी है और शासन का निर्वाह उसकी पहली जिम्मेदारी है। इसके अलावा उसे इधर-उधर कही देखना नही है। नैतिक प्रश्न निठल्लो के हो सकते हैं। सिर्फ कार्मिक प्रश्न है, जो काग्रेस के लिए है। वांध वावो, कारखाने खडे करो, दौलत वढाओ। वजट वढ़ाना पडे तो कर भी वढ़ाओ। कुछ उठा न रखो और हिन्दुस्तान का मान और हिन्दुस्तान का सिक्का देश-देशान्तर मे विठा दो। इस काम मे काग्रेस आंख मूंदकर लगी हुई है। आंख खोलना अगर नही चाहती, तो सिफ इसलिए कि दूसरी वातो के लिए वह अपने को फुरसत देना नही चाहती। आपको मालूम है, हमारे प्रधानमन्त्री कव उठते और कव सोते हैं ? चौवीस मे वीस घण्टे तो अवश्य ही वे काम मे रहते हैं। शानदार यह वक्त है और शानदार काग्रेस का काम हो रहा है! भारत अव कोने-किनारे नहीं है, मानो दुनिया के नकशे के वीचो-वीच आ गया है। ऐसे वक्त आप कैसे पूछ सकते हैं कि काग्रेस विपयगामिनी और शोपक वन क्यो गयी ?

कांग्रेस को जगाया नहीं जा सकता

मैं मानता हूँ, काग्रेस को जगाया नहीं जा सकता। जागे वह, जो सो रहा हो। काग्रेस सो बिलकुल नही रही। असल में उस पर नशा सवार है। और वह करने धरने का नशा है। सवसे वडा करना शासन करना होता है और वह कारोवार काग्रेस पर आया है, तो वह चूक कैसे सकती है? यह नहीं कहा जा सकेगा कि काग्रेसी जेल जाना जानते थे, शासन करना नही जानते थे। अव वजट देखिये और खुद बताइये कि किस कदर शासन का काम शान से किया जा रहा है।

नेहरू की कांग्रेस

गाधी सन् '४८ के आरम्भ मे उठ गये थे। भगवान् ने यह सोच-विचारकर ही किया होगा। भगवान् के काम मे क्या यह दखल देना न होगा कि गाधी को जीवित मान कर चला जाता! गाधी की समाधि बनाने की जिम्मेदारी अवश्य काग्रेस पर आती थी और वह बनी है और वनायी जा रही है। लाखो लाख अभी उस पर और खर्च होगा और समाधि की शान देखने लायक होगी। उनके वुत बन गये हैं, स्तम्भ बन गये हैं, सग्रहालय वन रहे हैं और साहित्य निकाला जा रहा है। मृत के प्रति क्या यह कतव्य न था और क्या यह खूबी से नही पूरा किया जा रहा है? लेकिन मृत को जीवित रखने का काम कैसे किया जा सकता था? उस जीवन के काम-धाम मे से गाधी को अगर काग्रेस ने एकदम वाहर रखा है, तो शायद यह

उसने कर्तव्य माना है। जिस पूँजी से कांग्रेस ने आरम्भ किया था वह नैतिक पूँजी अपार गांधी की कमाई की तो होगी। लेकिन पूँजीवाद के दिन गये और उस पूँजी को कांग्रेस ने खुले खजाने अपार लुटा दिया है, तो इसमें कोई क्या कह सकता है? कांग्रेस अब नेहरू की है और नेहरू किसीके नहीं, अपने हैं। वे शान के आदमी हैं और आदर्श से भरे रहने का उन्हें हक है। आखिर ऊँचे उनके सपने हैं और वे शुरू से ऐसी ऊँचाइयों पर रहे हैं कि मानो घन सपनों के पीछे हवा में उड़ते रह सकते हैं। आप-हम रुपये की कमाई-खर्चाई में रहते हैं। नेहरू की गिनती करोड़ों में चलती है। इसलिए कैसे हो सकता है कि नेहरू में कोई ख्याल आ जाय और करोड़ों रुपया उस पर न बह जाय। शाहजहाँ ने एक ताजमहल बनाया अब हिसाब के जमाने में एक की भी कोई गिनती है? नेहरू के निर्माण की एक-एक चीज देखिये तो ताजमहल रद्दियों कौड़ी पड़ जाते हैं। योजनाएँ देखिये और उनका विस्तार, आपकी कल्पना बौखला जायगी। लेकिन इन करोड़ों-अरबों के अंकों और राशियों पर नेहरू की विवेचना ऐसी चलती है, जैसे मोतियों पर परियाँ चलती हैं। मेरा मानना है कि अभिजात कुलीन शालीन उदार, धर्मज्ञ और एकाकी नेहरू कांग्रेस की समस्या हैं। और कांग्रेस उनके कारण देश की समस्या है।

अगला चुनाव कांग्रेस जीत सकती है। लेकिन इस कांग्रेस को लेकर देश के आगे अँधेरा है ऐसा मुझे लगता है। उपाय सिवा इसके कुछ नहीं दीखता कि आदमी अपनी जगह प्रभाव बने और ईमानदारी से चले। सब रहकर विफल बनने से डरे नहीं और जो लगता है खुलकर कहे। शायद उनमें से शक्ति निकले जो राजनीति से बने नहीं बल्कि उसको सँभाले।

विरोधी दल

१६१ प्रजातन्त्र में शासक दल की निरंकुशता पर विरोधी दल ही अंकुश लगाया करता है। क्या आपकी राय में वर्तमान विरोधी दलों में कोई इतना तेजस्वी और ओजस्वी है जो लोक-मानस की आवाज को लेकर शासक के सामने खड़ा हो सके और उसे सही रास्ता अपनाने पर मजबूर कर सके?

सब राज्य चाहते हैं

—बिल्कुल नहीं है। नहीं हम समझते कि सब राज चाहते हैं। आशा कुछ ही बचती थी सर्वोदय-विचार की तरफ से। पर सर्वोदय को याद रखना पड़ता है कि हम राज नहीं चाहते! यह दम्भपूर्ण अराजनीतिक बनना आगे तब शायद करके सिर्फ मन समझाना रहता है। अन्य इसकी कोशिश करते हैं और दुनिया से कट जाते

हैं, उसकी धरती पर नहीं रहते। दुनिया उन्हें श्रद्धा से देखती है और नहीं सीख पाती कि वह धरती पर विना पांव रखे कैसे चले। वे शास्त्र देते है, साहित्य देते हैं, सीख और वानी देते हैं, नेतृत्व और सचालन नहीं देते। सोचता हूँ कि क्या विनोबा तनिक भी गाधी नही हो सकेंगे ?

कम्युनिस्ट दल

हाँ, एक दल है। कम्युनिस्ट दल। मैं उसका कायल हूँ। मैदान मे गिनती के लिए शायद वह ही है। देश की राजनीतिक परिस्थिति मे जब कोई गहरा अभाव आ बनेगा, तो जगह भरने के लिए जो तत्त्व प्रस्तुत होगा, वह मानो कम्युनिस्ट है।

हिन्दू सास्कृतिक स्फूर्ति

राजनीतिक से अलग जो अपना सास्कृतिक और नैतिक झुकाव मानती हैं, ऐसी शक्ति मैदान मे जो हैं, उनमे एकाध गिनती मे ली जा सकती है। लेकिन मानस से वह और भी घोर भाव मे राजनीतिक है, यही उसकी त्रुटि है। हिन्दू के नाम पर भी सास्कृतिक स्फूर्ति काम कर सकती और फल ला सकती थीं, किन्तु वह कहीं है नही। जो है, उसमे और भी सकीर्ण राज्याकाक्षाएँ हैं।

भानमती का कुनवा

इनमे से सत्ताधारी दल की वृत्तियो और प्रवृत्तियो पर अकुश डाल सके और कुछ उसमे विवशता का भाव ला सके, ऐसा ओजस्वी दल वर्तमान राजनीति मे मुझे कोई दीखता नही है। स्वतन्त्र-दल की भूमिका मे राजाजी के जो वक्तव्य निकले, उनका प्रभाव पडा था, उन भावनाओ मे बल है। लेकिन भावना-तत्त्व से दल का मानव-तत्त्व तद्‌गत हो, तब परिणाम आ सकता है। अभी तो जान पडता है, तात्कालिक राजनीतिक प्रयोजन के अधीन भानमती का कुनवा बटोर-बटार लिया गया है।

प्रकाश राजनीति में नहीं होता

मुझे नही लगता कि प्रकाश समझे जाने वाले राजनीतिक दलो मे से आयेगा। राजनीति मे प्रकाश होता ही नही। प्रकाश उठेगा, तो यह असम्भव नही कि राजनीतिक पक्ष भी एक उसका सामने आ जाय, लेकिन दलवाद से वह अधिक होगा। कम्युनिज्म की शक्ति ही यह है कि वह दल से कुछ अधिक होता है, वह एक विचार होता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अब जो कम्युनिज्म की शक्ति बढ़ती हुई नही मालूम होती, सो इसी कारण कि वहाँ वह अपनी वैचारिक भूमिका खो बैठा है। कोरमकोर

सम्भावना नही रह जाती। नकारात्मक भाव एकवार पैदा हुए और भडके तो उनकी नकारात्मकता को इधन की भाँति उपयोग मे ले आने की कला कम्युनिज्म ने सिद्ध की है। दूसरे किसीके पास वह निपुणता सिद्ध की हुई नहीं है। दूसरे लोग नैतिक आदि विचारो के लिए खुले रहते हैं। कम्युनिज्म की तन्त्रात्मक श्रद्धा इतनी सावित और साधित होती है कि वह इन पचडो से रुकने की जरूरत में नही पडती है। यदि किसी प्रबल नैतिक शक्ति का उदय भारत मे नही हो सकता जो राजनीति पर ही निर्भर न हो, राजकारण से भी स्वतन्त्र जिसका प्रभाव हो, तो मेरे मन मे सन्देह नही है कि एक बार इस भूमि पर कम्युनिस्ट-शासन का प्रयोग हुए विना नहीं रहेगा। काग्रेस से मेरी आशाएँ इस सम्वन्ध मे टूटती जा रही हैं कि वह सस्था कर्मलिप्ति से ऊपर आकर धर्म की सम्भावनाओ को पहचान और पकड सकेगी।

नेहरू रोमेण्टिक

नेहरू भारत के पास अवश्य एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनका सानी दूसरा नहीं है। उनकी चमक दूसरे को चमकने नही देती। इसलिए उनसे कुछ सहारा मालूम होता है। यह भी लगता है कि जव तक वे हैं, सकट वचा हुआ है। लेकिन जैसा मैंने कहा कि काग्रेस के लिए वे ही बडी समस्या हैं। कारण, काग्रेस उनके व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नही हो पाती है, न राह वदल सकती है। और नेहरू रोमेण्टिक चमक के आदमी हैं। उनके रक्त मे ही यह नही है कि वे सेवक वन सकें।

१६३ आपने ऊपर नेहरूजी को काग्रेस के लिए एक समस्या और काग्रेस को भारत के लिए एक समस्या बताया है। इस उक्ति का तनिक और स्पष्टीकरण कीजिए—नेहरूजी के व्यक्तित्व, उनकी व्यवहार-नीति तथा उनके स्वभाव का विशेष ध्यान रखते हुए।

डिमोक्रेटिक नेता, एरिस्टोक्रेटिक व्यक्ति

—नेहरू डिमोक्रेटिक नेता हैं। लेकिन एरिस्टोक्रेटिक व्यक्ति हैं। इसलिए स्वय मे वे एक समस्या हैं। काग्रेस के लिए तो समस्या ही समस्या हैं।

सगठन के रूप मे काग्रेस यदि नेहरू को अपने लिए समस्या से अधिक सम्बल मानती है, तो इस कारण कि वह काग्रेस के पास एक अद्वितीय व्यक्तित्व है। उनको लेकर पैदा हुए काग्रेस के अन्तर्व्यवस्था के प्रश्न निवट जाते, या अन्त मे कही किसी करवट वैठ जाते हैं। लेकिन इस सव सुभीते के वावजूद काग्रेस के लोग यह अनुभव अवश्य ही करते होगे कि नेहरू उनके लिए सुविधा से कम समस्या नही हैं। जितनी वडी वे सुविधा हैं, उतनी वडी समस्या हैं।

गांधी और नेहरू के रास्ते

कांग्रेस वह संस्था है जिसको गांधीजी का साथ मिला था और अब भी जो जन मानस में पूरे तौर पर गांधी के नाम से उतर नहीं गयी है। नेहरू गांधी के उत्तराधिकारी हैं, यह सब मानते हैं। कांग्रेस गांधी की संस्था थी यह सबको याद है। लेकिन नेहरू के पास अपना रास्ता है जो गांधी का रास्ता नहीं है। वह रास्ता कांग्रेस के अन्तरंग में से नहीं आया है। नेहरू के कारण कांग्रेस ने स्वीकार किया है।

व्यक्तिगत बलाबल

कांग्रेस देश के लिए समस्या इसलिए है कि देश जान नहीं पाता कि उसे किस रास्ते चलना है। 'सोशलिस्ट' रास्ता कुछ ठीक तरह देश की समझ में बैठता नहीं है। कम्युनिस्ट रास्ता तो भी कुछ-कुछ उसके मन में बैठ सकता है। गांधी का राम-राज्य बौद्धिकों के लिए कितना भी अस्पष्ट हो देश के मन में सदियों से उतरा हुआ है और उसके सहारे गांधी का रास्ता उसमें दुविधा पैदा नहीं करता। इन भीतरी कारणों से कांग्रेस अपने लिए और देश के लिए समस्या बन जाती है। वैचारिक दृष्टि से यह एक बड़े संगठन के अतिरिक्त और आज क्या है? अगर सोशलिस्ट पैटर्न उसका ध्येय है तो प्रजा सोशलिस्ट और सिर्फ सोशलिस्ट आदि पार्टियां अलग क्यों हैं? व्यक्तित्वों के कारण अलग हैं तो हाल क्या वही न मानना चाहिए, जो मार्क्सिज्म के क्षेत्र में देखा जाता है। मार्क्सिज्म अलग-अलग रूपों और दलों में बंटा है तो क्या राजनीतिक और व्यक्तिगत कारणों से ही नहीं? कांग्रेस का संगठन भी जो है और जिस तरह चल रहा है व्यक्तिगत भूमिका और व्यक्तिगत बलाबल से चल रहा है। वैचारिक अथवा निष्ठा की भूमिका उसके पास नहीं है।

गांधी के नाम की पूंजी

परिस्थिति का संकट कभी घट सकता है अगर गांधीवाद और कांग्रेस का सम्बन्ध जन-मानस में स्पष्ट हो जाय। यह ही क्यों न हो जाय कि गांधी के रास्ते से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। गांधी के नाम की पूंजी का उपयोग कांग्रेस अपने व्यापार में आगे नहीं करेगी तो मैं समझता हूं कि इसमें कांग्रेस को काफी लाभ होगी। यह घट घटकर जवाहरलाल नेहरू के नाम तक आ जायगी। नेहरू में अनमिल तत्त्व आ जायेंगे और अनावश्यक स्थूलता कांग्रेस शरीर की घट जायगी। इस सबसे आशा है कि कांग्रेस का स्वास्थ्य बढ़ेगा और आरम्भ के रूप में उस पर लगा हुआ भ्रम धुल जायगा। राजाजी कृपलानी जयप्रकाश आदि अपनी-अपनी जगह आ जायेंगे और किसी की एक को गांधी के नाम के उपयोग की सिफारिश का सुविधा नहीं रह जायगी।

आज तो उस सवके अवकाश की वजह से बेहद गडवड है। सब गाधी का नाम लेते और दुहाई मे उन्हे ऊँचा उठाते है। कम्युनिस्ट और जनसघ इस सम्बन्ध मे साफ है और उनकी शक्ति इसीलिए बढ भी रही है। लेकिन शेप तीनो नाम एक देते है, फिर भी एक-दूसरे को काटते दिखाई देते है। और देश बौखलाया रह जाता है, कुछ समझ नही पाता।

यह अनुभव किया जा रहा है कि गाधी का मन देश की धमनी के साथ धडकता था। वह प्रभाव अब भी देश के अन्तरग म व्यापक भाव से बसा हुआ है। विरोधी भी यह अनुभव करते है। विरोधियो को इस ईमानदारी का लाभ मिलता है कि वे अपनी दूकान उस पूजी से नही चलाना चाहते। दूकान हम अपनी चलायेगे, पूजी दूसरे की हो, तो कानूनी न्याय से भी यह जायज नही है। उससे वस्तुस्थिति मे पेंच और उलझनें बढती हो, तो इसमे अचरज ही क्या है। यह गडबड की स्थिति यदि आज देश मे है और एक गहरी अनिश्चितता व्याप्त है, तो मुख्यता से वह काग्रेस के कारण है। और काग्रेस चाहकर भी अगर इस दोप से अपने को बरी नहीं कर सकती, तो यह उसकी असमर्थता नेहरू के कारण है।

राइट और लेफ्ट

देश मे दो विदेशी शब्द नाहक चल रहे हैं और उन्होंने बडा असमजस और सकट पैदा कर रखा है। वे है राइट और लेफ्ट। गाधी-युग मे जैसे ये शब्द अस्तित्व मे न थे। मार्क्सिज्म की ओर से ये आये और गाधी के जीवन-काल मे भी पूरी युक्ति के साथ इन्हें बोकर और सीचकर अकुराने की कोशिश की गयी। लेकिन वे उभर ही न पाये। कही जबरदस्ती उदय मे आते कि वही वे अस्त भी हो जाते थे। काग्रेस-राजनीति मे जैसे जवाहरलाल नेहरू के द्वारा ये शब्द पहले पहल भीतर आये। शायद नेहरू के दिमाग मे अब भी वे कुछ अर्थ रखते हैं और इनके सहारे वह दिमाग काम करता है। गाधी ने दूसरी भाषा और दूसरी दृष्टि देश को दी थी। तब हम सत्यता और सज्जनता से आदमियो और दलो की पहचान करते थे। आज नये बाँट और नये पैमाने चले हैं न ? तो जैसे सत्यता और सज्जनता की कसौटी पुरानी पड गयी है। अब जांच राइट-लेफ्ट से हो जाती है। परिणाम यह है कि आदमी को आदमियत की फिक्र नही है, सच रहने या सज्जन बनने की चिन्ता नहीं है। नही, उसका काम आदमी को इधर या उधर, दायें या बायें बता देनेभर से जो चल जाता है! मानव-समाज मे राइट और लेफ्ट ने आकर शुद्ध दलवाद की सृष्टि कर दी है। इसको रेजिमेण्टेशन या आम बोली मे कतारबन्दी कहिये। समाज की वह हालत बना दी है कि 'राइट-लेफ्ट, राइट लेफ्ट, क्विक मार्च!' मानो समाज

एक फ़ौज हो। हम नहीं जानते लेकिन दलवाद के इस रास्ते से सेनावाद घुस आता है। फिर वहाँ से विग्रहवाद और युद्धवाद ही परम राजनीति और मानव-नीति के प्रकार बन जाते हैं। हम चाह चाहें उस रास्ते शान्ति नहीं आ सकती। उस क्रम से युद्ध का हुनर अवश्य साधा जा सकता और सारे देश को उस स्तर पर युक्तम्य किया जा सकता है।

विचारों और सम्बन्धों की गुत्थम

भारत देश को अगर उभर नहीं चलना है तो उसे चमत्कार रहना चाहिए। चलना हो तो संकल्पपूर्वक पूरी ताक़तवरमी से चलना चाहिए। तब कोई हानि नहीं है कि देश को एक डिक्टेटरशिप में संगठित और एकत्र कर लिया जाय और फ़िरत की नोक से भ्रष्टाचार को नाबूद कर दिया जाय। लेकिन इरादे के साथ। उस राह की तरफ़ अगर देखना भी हमें खत्म कर देना है तो बिल्कुल ज़रूरी है कि हमारे विचार ढिलमिल न हो पेंचदार और पेंचमेल न हो। वे साफ़ और सीधे हों दिमागी से ज्यादा हार्दिक हों। श्रद्धा का उन्हें पुष्ट बल हो और वह निरे पेडेण्टिक न हों। गांधी कितने भी अहिंसक रहे हों पर आग्रह के लिए उनके जीवन में अवकाश था। अवकाश ही नहीं उस आग्रह का उनके जीवन में सर्वोपरि स्थान था और वहाँ किसी तरह का समझौता वे कर नहीं सकते थे। यह दृढ़ निश्चित और साफ़ मनोभाव था जिससे वे ऐसे नेता बने कि कभी समझौते में गिरकर उन्हें नीचे नहीं आना पड़ा। यह उनकी अरिस्टोक्रेसी उनको एकाकी रखे रही और उसमें किसीका गुण घात नहीं हुआ। लेकिन डिमोक्रेटिक वे रहे सम्पूर्ण राजनीति में अहिंसा को व्याप्त रखने के कारण। किसी व्यक्तित्व या किसी मत का खण्डन उनसे नहीं हुआ और राजकारण में वे अपने व्यक्तित्व को पीछे और अपदस्थ रखकर दूसरे को ऊँचाई और परखी देते चले गये। नेहरू अरिस्टोक्रेटिक समाज में हैं, डिमोक्रेटिक सिद्धान्त में। इसमें घोड़े और गाड़ी की जगह आपस में उलट-पलट चली है। नेहरू की सोशलिस्ट श्रद्धा हो तब भी कुछ बन सकता है, मानवीय श्रद्धा हो तो और भी अधिक बन सकता है। लेकिन दोनों का मुलम्मा हो तो राम जाने क्या बनेगा।

१९४ कम्युनिज़्म को हममें से बहुत एक हौवा क्यों मानते हैं? यदि हममें से कुछ भाई एक विशेष रास्ते पर देश को ले चलना चाहते हैं तो ले चलें। आज भी कम्युनिस्ट और कम्युनिज़्म एक आतंक भय और शंका का विषय बना दीखता है, उसमें वे तथाकथित दक्षिणपन्थियों की दुर्बलता देखते हैं अथवा वामपन्थियों की क्षमता? भारत की परिस्थितियों को विशेष रूप से दृष्टि में रखते हुए इस प्रश्न का उत्तर दीजिये।

दक्षिण और वाम अन्दर से एक

—जो हौवा बनाकर देखता है, उसकी श्रद्धा सत्ता में है और साथ इस नीति कम्यु निज्म की सत्ता को वह स्वीकार करता है। इस दृष्टि और वृत्ति को मैं राजनीतिक मानता हूँ और मुझे यह भी प्रतीत होता है कि कम्युनिज्म के लिए ऐसा भय अवाञ्छनीय नहीं है। वह इज्म स्वयं शक्ति के जोर से चलता है। उसकी दृष्टि और वृत्ति भी राजनीतिक है और भय-निर्माण, सैन्य-निर्माण आदि-आदि में उसकी भी श्रद्धा है। हिंसक उपायों से बचने का कोई आग्रह उसके पास नहीं है, बल्कि हिंसक शक्ति का उसके पास खूब उपयोग है। पहला उपयोग स्वयं यह भय है। भय के आगे कृत्य तक जाने की भी तैयारी रहती है, कोरी धमकी ही उसके पास नहीं है।

दक्षिण और वाम इन दो शब्दों के पीछे मानसिकताएँ दो हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। वे दल ही दो हैं। दोनों राज्य चाहते और सैन्यशक्ति में विश्वास रखते हैं। लोगों के अन्तःकरण को बाद देकर उनसे प्रयोजन साध लेने के तरीके में दोनों समान हैं। संगठन और संख्या में दोनों का भरोसा होता है। विरोध के नाश में दोनों एकमत और सहमत होते हैं। इस दक्षिण और वाम की भिन्नता सिर्फ राजनीतिक सतह तक है, उसके नीचे उन दोनों में भेद करना कठिन है और अनावश्यक है। कम्यु-निज्म अगर दक्षिणपंथियों के लिए हौवे के समान हो जाता है, तो स्वयं कम्युनिज्म विपक्ष को दानव और राक्षस के रूप में चित्रित करके अपना काम चलाता है। भय में से घृणा उपजायी जा सकती है। घृणा में से रोष, रोष में से साहस और साहस में से पराक्रम के कृत्य निकाल लिये जा सकते हैं। इस प्रकार का हिंस्र पराक्रम दक्षिण-वाम दोनों ही के लिए अनिष्ट नहीं रहता। इसलिए भय और घृणा से दोनों अपने-अपने लिए लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं।

कम्युनिस्ट दल अन्य दलों से विशिष्ट नहीं

राजनीतिक तल पर इस तरह कम्युनिस्ट-वर्ग को दूसरे और राजनीतिक दलों से मैं अलग और विशिष्ट करके नहीं देख पाता हूँ। तब कम्युनिज्म के पक्ष में यह विशेषता अवश्य है कि उसके पास एक सुनिश्चित वैचारिक लक्ष्य और दर्शन रहता है। दूसरे राजनीतिक दलों के पास उस भूमिका की सुविधा उतनी नहीं रहती। ठीक यही स्थल है, जहाँ मैं स्वयं कम्युनिज्म को महत्त्व देने को तैयार हो जाता हूँ।

कम्युनिज्म एक राज्यवाद

विचार और संस्कृति की दृष्टि से कम्युनिज्म से मैं खुद भी डरता हूँ। उस डर को

मैं अनिष्ट भी नहीं मानता हूँ। भगवान् का डर मनुष्य की सहायता करता है। पाप का डर मनुष्य को निर्बल या भक्त नहीं बनाता। इस सूक्ष्म ढंग के डर को मैं जीवन-निर्माण और मति-निर्माण में उपयोगी मान सकता हूँ। इस दृष्टि से कम्युनिज्म मुझे खुल्लमखुल्ला एक राज्यवाद मालूम होता है। विचार और दर्शन वहाँ साध्य नहीं साधन हैं। इस तरह संस्कारिता और मानवता को जैसे वहाँ राज्य विचार और राज्य-व्यवस्था में सामग्री और समिधा मान लिया जाता है। मुझे यह क्रम बिल्कुल मान्य नहीं है। राज्य को और उसके विचार को मैं किसी तरह साध्य मानने को तैयार नहीं हूँ। सारी राजनीति साधन होनी चाहिए मानवता के सांस्कृतिक विकास के साध्य में। कम्युनिज्म में यह क्रम उलट जाता है और विचार-सामग्री मानो वहाँ एक स्वतन्त्र कर्मकाण्ड में होमने के लिए तैयार की जाती है। इस तरह तत्त्व-विचार के साथ वहाँ जोर-जबरदस्ती होती है और वह सद्विचार न होकर सहेतुक विचार हो जाता है।

हिंस्र कार्यक्रम मानवीय नहीं हो सकता

मेरा मानना है कि जहाँ हम किसी भी तत्त्व विचार में से हिंस्र कार्यक्रम तक आ जाते हैं, वहाँ अपने और तत्त्व के साथ निर्मोह और निष्कपट विचार नहीं कर रहे होते बल्कि जाने अनजाने रागासक्त होते हैं। हिंसा के समर्थक किसी विचार को मैं सम्यक् विचार मान नहीं पाता हूँ। निश्चय है कि उसके पीछे कहीं कोई व्यक्तिगत क्षति कोई चोट काम कर रही होती है। सांस्कृतिक और मानवीय विचार किसी तरह प्रेम से चलकर अप्रेम और द्वेष के समर्थन तक पहुँच सकता है, ऐसा मैं सम्भव नहीं मानूँगा।
जहाँ यह हठात् फिर भी कर लिया जाता है, उस विचार से हम सबको डर जाना चाहिए।

भारत का कम्युनिज्म

१९५. भारतीय कम्युनिज्म पर भारतीयता और गांधीवाद का कितना रंग चढ़ पा सकेगा और भारतीय कम्युनिस्ट रूस और चीन के हाथों में एक खिलौनामात्र न रहकर भारत की राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक समस्या का प्रतिनिधि बन सकेगा, इसे क्या आप सम्भव मानते हैं?
—यह अन्त में शब्दों का प्रश्न है। शब्द इतिहास के हाथों पड़कर सचमुच बड़ा अजब खेल खेलते हैं। जैसे भारत में एक शब्द चलता है वाम-मार्ग। यह एक पथ है और बौद्ध-धर्म से निकला कहा जाता है। भगवान् बुद्ध से जो चिन्तन मन में

उपस्थित होता है, उसका भला वाम-मार्ग से वननेवाले चित्र से कैसे कोई वास्ता हो सकता है ? लेकिन वाम-मार्ग जिन आचार्यों से चला, उनकी परम्परा को अन्त मे वुद्ध से जुडा देखा जा मकता है। इसी तरह आज कम्युनिज्म मार्क्स से उतने घनिष्ठ भाव से जुडा नही माना जा सकता, जैसा आरम्भिक कम्युनिज्म था।

भारतीय अहिंसक साम्यवाद

नियम और तर्क जीवन का चलता है और इसमे शब्दो का काफी सशोधन हुआ करता है। असम्भव नही है कि कम्युनिज्म भारत की आवश्यकताओं के साथ अपना समन्वय करते-करते स्वय नया ही सस्करण प्राप्त कर ले। भारत की भूमि मे तो अक्सर ऐसा होता रहा है। कम्युनिज्म को भी स्वय मे इतनी सामयिक सफलता इष्ट है कि किसी सिद्धान्तवादी शुद्धता के लोभ मे वह नही पडेगा और हर तरह परिस्थितियो के साथ समझौता करता हुआ लाभ उठाना चाहेगा। यह व्यवहारिक निपुणता आज भी उसमे समायी हुई देखी जा सकती है। कम्युनिज्म मे आज व्यावहारिक राजनीति अधिक है, सैद्धान्तिक मतवाद उतना नहीं है। इन सब कारणो से एक भारतीय अहिंसक साम्यवाद जैसा कुछ निष्पन्न हो आये, तो मुझे विस्मय न होगा। गाधीजी की आदत आप जानते हैं। वे किसी शब्द का तिरस्कार नही करते थे। सोशलिस्ट शब्द आया, तो उन्होंने उसका परिहार नही किया, न स्वय साम्यवाद शब्द का वर्जन-तर्जन किया। उनको आदर से स्वीकार करके जैसे मानो उनमे अपना अर्थ डाल देने का उन्होंने प्रयास किया। ऐसे शब्द मिल जायेंगे, जहाँ उन्होंने स्वीकार किया हो कि वह सोशलिस्ट है, कम्युनिस्ट है किंतु यही प्रक्रिया है, जिससे शब्दो की आपसी अनवन दूर होती और उनमे एक स्वर-सधि बन आती है। उस सगति से साहित्य और सगीत का जन्म होता है। भारतीय आत्मा की यदि जय हुई तो मुझे लगता है कि आगे पीछे यह सामजस्य मथकर रहेगा। साम्यवाद हिंसा तजकर अहिंसा मे उठेगा और साम्य-वम हो जायगा।

कम्युनिस्ट-पार्टी में दरार

१६६ वर्तमान कम्युनिस्ट पार्टी मे ऐसा प्रतीत होता है, एक दरार पड गयी है। कुछ लोग पूरी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के समर्थक और चीन के सहयोगी बनकर चलना चाहते हैं, जब कि दूसरे कम्युनिज्म के भारतीय सस्करण के विकास पर बल देते हैं। भारत-चीन-समस्या को ध्यान मे रखते हुए क्या आप इस परिस्थिति पर कुछ प्रकाश डालेंगे ?

द्वन्द्व अनिवार्य

—यह मन्थन और द्वन्द्व बचाया नहीं जा सकता। सिद्धान्त एक वस्तु है, जीवन दूसरी वस्तु है। दोनों में जब तनाव दिखाई दे, तो किसके प्रति पक्ष रखी जाय जिसके प्रति द्रोह सहा जाय यह प्रश्न पैदा होता है। इतिहास में आप अजब दृश्य पायेंगे। जितने धर्म प्रवर्तक हुए हैं, धर्म-शिष्यों द्वारा ही उनका विरोध हुआ है। सन्त को पण्डित ने कष्ट दिया है। हमारी बुद्धि हमारा भ्रम है लेकिन कभी वह हमी पर सवार हो जाती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति मत और सिद्धान्त को नहीं छोड़ना चाहता है, चाहे जीवन से वह किनारे ही छूट जाय। भारतीय साम्यवादी दल में यह घटना घटे यह अनिवार्य है। समय भी उस अनिवार्यता के लिए आ पहुँचा है। राष्ट्रभाव एक यथार्थता है, कम्युनिस्ट के लिए अपनी आइडियोलॉजी भी उतनी ही यथार्थ है। उस आइडियालॉजी में वह चीन के साथ है, राष्ट्र भाव से उसका मन भारत के साथ है। चीन और भारत में दरार पड़े, तो साम्यवादी भारतीय-दल में दरार पड़नी ही चाहिए। अगर नहीं पड़ती है, तो प्रमाण होता है कि भारतीयत्व उस दल में रह ही नहीं गया। ऐसा हो तो भारतीय सरकार अभारतीय कहकर उस सारे ही दल को अस्वीकार कर दे, अवैध घोषित कर दे, तो इसके लिए भारतीय शासन के पास अच्छा तर्क हो जाता है। लेकिन सन्तोष है कि दरार पड़ी है और मालूम हुआ कि भारत के प्रति श्रद्धा का भाव साम्यवादी में सर्वथा अनुपस्थित नहीं है।

स्थानीय संस्करण

जैसे-जैसे साम्यवाद अपनी-अपनी जगह स्थानीय परिस्थितियों को झेले-सँभालेगा वैसे-वैसे उसके ये विविधदेशीय संस्करण आपस में कुछ भिन्न और दूर होते जा सकते हैं। आज भी रूस और चीन के साम्यवादों में फासला माना जाता है।

मुझे मालूम होता है कि समन्वय यदि है तो मन में है, वह जीवन में से आता है। इसलिए मतवाद को ऊँचे उठाकर जो चलता है, वह स्थिति-परिस्थिति के साथ आगे-पीछे विग्रह में आ जाता है अन्त में उसे टूटना-बिखरना पड़ता है। जीवन की वर्तमान गति में यदि कोई टिकेगा और ऊपर तिरता हुआ दीखेगा तो वह होगा जो शब्दों से नहीं रहता बल्कि शब्दों को अपने साथ रखता और उन्हें यथावश्यक उपयोग में लाता है। साम्यवादी जब शब्द की अधीनता में नहीं है, ऐसा जब वह प्रमाणित कर पायेगा तो मैं समझता हूँ भारत के साथ उसका अनमेल समाप्त हो जायगा। तब भारतीयता द्वारा होनेवाला प्रयोजन उसको हृदय से मान्य होता जायगा।

कम्युनिस्टो की चीन के प्रति नीति

१६७ यदि कम्युनिस्ट शासन पर आ जायें, तो चीन के साथ हो रहे सीमा-विवाद के प्रति उनका क्या रुख होगा, क्या इसकी कुछ कल्पना की जा सकती है? यदि कहीं उन्होंने वर्तमान सरकार की नीति को ही अपनाया, तब कम्युनिज्म का क्या भविष्य भारत मे होगा, इस पर भी प्रकाश डालें।

—कम्युनिस्ट हुकूमत पर आकर हिन्द-चीन-विवाद के बारे मे क्या रुख लेंगे, इस सम्बन्ध मे कल्पना को कष्ट देने की आवश्यकता नही है। सरकार एक मात्रा तक ही लोकमत से आगे-पीछे या इधर-उधर हो सकती है। मात्रा से अधिक दल-मानस और जन-मानस मे अन्तर पडा, तो उस दल की सरकार को गिरना होगा। आज तो स्वय कम्युनिस्ट दल की कान्फ्रेन्स मे जो घटित हुआ, उससे स्पष्ट है कि भारतीय-भावना के विरोध में जाना नही हो सकता। उस सम्बन्ध मे कोई सन्देह जन-मानस में रहा, तब तक यह सम्भव नही होनेवाला है कि शासन कम्युनिस्ट हो। भारतका वोट उनके पक्ष मे होगा तो तभी जब इस सम्बन्ध मे भारत उनसे आश्वस्त होगा। यह उस परिस्थिति मे, जब शासन का निर्णय वोटो से हो। कही गृहयुद्ध मे से निणय होनेवाला हुआ, तब की तो बात ही दूसरी है। तब तो कम्युनिस्ट के अलावा कोई और दल हो ही नही सकता, जो अन्तत सफलता मे उभरा हुआ दिखाई दे। आज की शासन-नीति तो कम्युनिस्ट शासन नही ही अपनायेगी, और चीजो की बात दूसरी है। सीमा-विवाद के सम्बन्ध मे उसकी चीन के प्रति नीति फौजी प्रतिरोध की नही होगी, उसमे आपसी बातचीत का आधार अधिक होगा, यही आशका शायद भारत के मत को आज के दिन उनके पक्ष मे जाने से रोके रखेगी।

कम्युनिस्ट दल की विफलता के कारण

१७ कम्युनिस्ट-पार्टी जो भारत में बडी सफलता नहीं प्राप्त कर सकी, इसके आप क्या कारण मानते हैं? सीमा-विवाद एक सामयिक कारण हो सकता है। पर मूल कारण क्या है, जो उसे और देशों की भाँति छा जाने से रोक रहे हैं?

मूल कारण गांधी

—सबसे बडा कारण है गाधी। उससे दोयम है स्वय गांधी द्वारा उत्तराधिकार-प्राप्त नेहरू। गाधी प्रतीक है राजनीति मे कम्युनिज्म से ठीक उल्टी नीति-रीति और सिद्धान्त के। एकाएक सही मालूम होता है यह कि ऊपर हुकूमत को गिरा दो, क्योकि उसके कारण अन्याय और शोषण हैं। जैसे भी बने गिरा दो, क्योकि यह तो होनेवाला नही है कि वह स्वय उतरे। गिराने के लिए चेष्टा करनी होगी। इसके

लिए सर्वहारा वर्गो जागो मिल जाओ और हमला बोल दो। यह ऐसा तीर-सा तर्क था और है जो वंचित और क्षुब्ध मन में सीधा उतरता चला जाता है। गांधी व्यक्ति हुआ जिसने दूसरा ही तर्क उपस्थित कर दिया। यह तर्क अनायास मन में उदय हो नहीं पाता। बुद्धि में से निकलता ही नहीं न बुद्धि में बैठता है। उसीको गांधी ने अपने जीवन से सही सरल और सिद्ध करके दिखा दिया। गांधी वह तर्क है, जो कम्युनिज्म के विस्तार में न सिर्फ भारत में बल्कि दुनिया भर में कभी भारी बाधा सिद्ध होनेवाला है। कहीं उस तर्क में से तदनुकूल क्रिया भी निकल आ भी तो बहाव उल्टा भी चल सकता है। यानी कि उस स्वरक्षा की भाषा में सोचना कम्युनिज्म को पर बाद ऊपर से ऐसी एक अदम्य चेष्टा और सत्यता जाग सकती है। गांधी के बाद स्थिति में एकाएक ऐसा अभाव आ सकता था कि कम्युनिज्म की बन आती। लेकिन एक तो गांधी के पुण्य से बलशाली कांग्रेस-संस्था मौजूद थी दूसरे उनके आशीर्वाद से मनोनीत उत्तराधिकारी पण्डित नेहरू मौजूद थे। इससे कम्युनिज्म के लिए उपयुक्त अवसर नहीं आ सका।

नेहरू और कम्युनिज्म

नेहरू कम्युनिज्म और भारत के बीच एक जबरदस्त हस्ती हैं। जबरदस्त इस लिए कि गांधी के नाम का बल उनके साथ है। लेकिन वे ही कम्युनिज्म के संवर्धन के लिए आज साबित हो रहे हैं क्योंकि नेहरू में और सब है गांधी-श्रद्धा नहीं है। गांधी की श्रद्धा की आग के बिना गांधी की उदारता बहुत बड़ा खतरा पैदा कर सकती है, इसका शायद नेहरू को पता नहीं है। सहिष्णुता कितनी भी मात्रा में हो वह गुण है लेकिन तभी जब पास में असहिष्णुता की शक्ति उतनी ही प्रखर और तीव्र हो। विचार और श्रद्धा के योग में ऐसा कुछ भी सम्यक नेहरू को प्राप्त नहीं है। इसलिए यह मानकर भी कि गांधी के बाद दूसरी रुकावट कम्युनिज्म के विस्तार के मार्ग में नेहरू का व्यक्तित्व है यह भी स्वीकार करना होगा कि जिस मात्रा में यह व्यक्तित्व गांधी से मुक्त है उस मात्रा में वह कम्युनिज्म के लिए अनजाने तौर पर ओट और सहारा बन रहा है। इसीसे आप देखियेगा कि तब कम्युनिस्ट कांग्रेस की निन्दा कर सकता है जब नेहरू को पहले मानो कांग्रेस से अलग करके अपना समर्थन और बल दे ले। नेहरू का व्यक्तित्व उसे अपने लिए चाहिए। जब यदि कांग्रेस के संगठन से नेहरू के नाम को एक बार ऊंचा और अलग कर दिया जाता है तो वह नाम कम्युनिज्म के लिए फिर बाधक के बजाय साधक हो चलता है। कम्यु निस्ट यह अनुभव करता है कि नेहरू अपने व्यक्तित्व में गांधी से स्वतन्त्र हैं कांग्रेस सम्भवतः उस तरह स्वतन्त्र नहीं है। कांग्रेस में कौन देश में से आते हैं और नाम

देश गाधी-प्रभाव से अब भी धडक रहा है। इसलिए काग्रेस उस प्रभाव से चाहकर भी मुक्त नही बन सकती। इसलिए नेहरू का व्यक्तित्व ही यदि इतना ऊँचा और अद्वितीय बनता है कि काग्रेस की एकता नेहरू के कारण सम्भव हो, अन्यथा काग्रेस एक अन्तर्विग्रह मे फँसी और बिखरी हुई सस्था बन जाय, तो इतने मात्र से कम्युनिस्ट-दल की सम्भावनाएँ मजबूत होती हैं। नेहरू के बिना काग्रेस बेकार हो जाती है और काग्रेस के बिना नेहरू कम्युनिज्म के हाथो बाधा की जगह सुविधा बन जाते हैं।

भारत की अन्त प्रकृति

भारत की अन्त प्रकृति, उसकी धर्म-परायणता, उसका स्वल्प सन्तोष और अपरिग्रह, उसका ग्रामवाद और कृपिवाद आदि कुछ ऐसे तत्त्व है, जो कम्युनिज्म के अनुकूल नही बैठते। गाधी मे मानो ये सब तथ्य अपनी महदाशयता मे मूत हो गये थे। काग्रेस मे वे अभी लुप्त नही हो गये हैं, और यो नेहरू भी अब तक खद्दर ही पहनते हैं, लेकिन उनका मन अब खद्दर बने रहने की मजबूरी से आजाद और ऊँचा बन गया है। कम्युनिस्ट यह पहचान गया है और स्वय चाहे भारत उसे अपने अनुकूल न जान पडता हो, लेकिन दलगत राजनीति के अलावा नेहरू अब उसे अपने लिए प्रतिकूल नही जान पडते हैं, बशर्ते कि उनके व्यक्तित्व को काग्रेस के सन्दर्भ से एक बार तोडकर अलग कर दिया जाय।

भारत का कम्युनिस्ट बनना आसान नहीं

दूसरे देशो मे धर्म-सस्थाएँ प्रबल रही हो सकती है, लेकिन तन्त्र मे बँध रहने से धर्म स्वय इतना अटूट नही रह जाता है। अत उन देशो मे कम्युनिज्म को अपनी राह मे उतनी कठिनाइयाँ नही जान पडी है। भारत मे धर्म सस्थाबद्ध केवल नहीं है, वह मनो मे घर किये बैठा है, इसलिए कुछ अधिक प्रतिकूलता का निर्माण करता है। मुझे लगता है कि एशिया के दक्षिण-पूर्व के देश यदि आसानी से गिरते गये, तो भी भारत का कम्युनिज्म की झोली मे पडना उतना आसान नही है।

काग्रेस में फूट

१६९ काग्रेस मे जो भयकर फूट और मतभेद पैदा हुए हैं, ये देश के लिए बडे सकट प्रद और घातक सिद्ध हो सकते हैं। आपकी राय मे इस फूट को मिटा देने का कोई उपाय है या नहीं? या समय की चोट ही सब कुछ बराबर करेगी?

इतनी बड़ी राष्ट्रीय संस्था में क्या कोई भी ऐसा व्यक्तित्व नहीं, जो इस मृतप्राय निष्प्राण कलेवर में नये प्राण फूँक सके ?

नेहरू का व्यक्तित्व

—जाहिर है कि एक व्यक्तित्व कांग्रेस के पास पण्डित नेहरू का बचा है जिसको लेकर आपस के झगड़े कुछ दूर तक सामयिक तौर पर शान्त हो सकते हैं। कुछ दूर तक और ऊपरी तौर पर इसलिए कि प्राइम मिनिस्टर इससे अधिक सफलता पा नहीं सकता। प्राइम मिनिस्टर दल के ऊपर बैठा है और ऐसी समस्याओं का स्थायी निपटारा हृदय-परिवर्तन से आ सकता है। दल प्रधान हो, तो उस शक्ति-संचय के लिए संघर्ष की रीति एक स्थायी नीति बन जाती है। अर्थात् उस ढंग से कांग्रेस-दल के अन्दर की खींचतान और फूटबाजी कम नहीं हो सकती। फूट इससे ही शक्ति-सम्पादन के लिए है। यदि फूट से अधिक सत्ता की कम होती है तो आवश्यक है कि फूटबन्दी की जड़ें फैलें और गहरी जायें।

बाबू राजेन्द्र प्रसाद

बाबू राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति हैं और एक तरह वे कांग्रेस से अलग हैं। कांग्रेस की आपसी उलझनों के निर्णय में वे सीधा अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। राष्ट्रपति की हैसियत से वे शासन के अग्र हैं और उनकी स्थिति इतनी वैधानिक हो जाती है कि उनके प्रभाव का उपयोग प्रधानमन्त्री की सहमति असहमति का प्रश्न बन जाता है। ऐसे अवसर आये हैं, जब राष्ट्रपति का प्रभाव उभर गया है जहाँ पर प्रधानमन्त्री की सहमति या प्रसन्नता न थी। ऐसे नाजुक मौके आये हैं और दोनों के सौजन्य के कारण वे टल गये हैं, समस्या नहीं बने हैं। सब जानते हैं कि राष्ट्रपति की मनोवृत्ति और प्रधानमन्त्री की मनोवृत्ति में अन्तर है। राष्ट्रपति पद के कारण तटस्थ बाबू राजेन्द्रप्रसाद दलातीत हैं। दल-नेता होने के कारण पण्डित नेहरू न केवल प्रधानमन्त्री हैं, बल्कि कांग्रेस-दल के भी सर्वेसर्वा हैं। इस तरह कांग्रेस के पास कोई दूसरा व्यक्तित्व नहीं रहता। राजेन्द्रबाबू यदि और अब राष्ट्रपति न रहेंगे तब क्या परिस्थिति उत्पन्न होगी यह देखने की बात है। इस सम्बन्ध में मैं अनुमान करना नहीं चाहता। हाँ यदि अपनी ओर से राजेन्द्रबाबू कांग्रेस को पुनरुज्जीवन देने में लग जायें तो भारतीय राजनीति का नक्शा बदल सकता है। पर ये आगे की बातें हैं जिन्हें विधाता ने अदृश्य बनाकर अच्छा ही किया है।

कुछ व्यक्तित्व और उनके दल

१७० इस प्रसग के अन्त मे मै चार व्यक्तित्वो एव उनके दलो के विषय मे आपके विचार जानना चाहूँगा। प्रथम श्री जयप्रकाश नारायण एव श्री कृपलानी तथा उनका प्रजा-समाजवादी दल। दूसरे श्री राममनोहर लोहिया और उनका समाजवादी दल तथा तीसरे राजाजी और उनकी स्वतत्र पार्टी।

दलीय दृष्टि अर्थशून्य

—दलो की भाषा मे सोचना अर्थकारी तभी तक है, जब तक कोई क्रियात्मक राजनीति से अपना वास्ता अनुभव करता है। मुझे अपना वास्ता उतना नही जान पडता। भारत के भविष्य की दृष्टि से उन पर ध्यान जाता है तो जाता है। अन्यथा वहाँ अटकना नहीं चाहता। दलो मे व्यक्तित्व भी कारण होते हैं। यहाँ तक हो सकता है कि बीच मे सिद्धान्त का प्रश्न हो ही नहीं, केवल अहकारो का प्रश्न हो। देखने मे जान पड सकता है कि सिद्धान्तत यह दल उस दल के बहुत निकट है, लेकिन व्यावहारिक राजनीति मे आप अक्सर देखेंगे कि विरोधी लगनेवाले दलो मे स्वार्थो की आपसी सन्धि हो गयी है और चुनाव के समय अजब-अजब गठबन्धन बन आये हैं। यह सब इसलिए होता है कि तात्कालिक सफलता दल के लिए पहली चीज हो जाती है और उसी भाषा मे उसे जोड-तोड करनी पडती है। जिन व्यक्तित्वो के आपने नाम लिये, उन पर अलग से विचार करने का कोई लाभ मुझे नही दीखता। सभी देश के मान्य लोग हैं और निश्चय ही विशिष्ट व्यक्तित्व हैं। लेकिन उससे आगे दलीय दृष्टि से उनके सम्बन्ध मे कुछ जानने-समझने को मेरे पास रह नहीं जाता है।

जनसघ विभाजन-कर्म का फल

१७१ राष्ट्रीय स्वयंसेवक सघ और उसीके राजनीतिक रूप जनसघ का भारत और उसकी राजनीति में क्या भविष्य आप देखते हैं?

—पाकिस्तान जब तक है, तब तक जनसघ के पास अपने समर्थन के लिए एक बडा तर्क बना रहता है। अगर हिन्दू-मुस्लिम आधार पर ही हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान है और पाकिस्तान नाम से देश-खण्ड से वचित बन गया है, तो क्या तर्क है कि वह हिन्दुओ की जगह न हो, हिन्दू-सस्कृति का गौरव न रखे और हिन्दू साम्प्रदायिकता का गढ न बने! सम्प्रदायवादी कहनेमात्र से जनसघ की शक्ति को कांग्रेस खतम इसलिए नही कर सकेगी कि जोर-जबरदस्ती का प्रयोग करने के कारण एक रोज मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने उससे अपने को मनवा लिया था। कर्म का

फल अनिवार्य होता है। और विभाजन में सहयोगी बनने के कांग्रेस-धर्म का फल यदि जनसंघ और उसकी शक्ति है, तो उस फल से कैसे बचना हो सकेगा?

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

मुझे यह अच्छा लगता है कि जनसंघ 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का राजनीतिक पक्ष है, अर्थात् रा. स्व. संघ स्वयं में राजनीति में समाप्त नहीं है। उससे बाहर भी उसे इष्ट और उद्दिष्ट है। इस व्यापक भाव की मैं प्रशंसा करता हूँ जिसका कांग्रेस में अभाव होता जा रहा है। कांग्रेस के पास जो है, सब राजनीति है। उससे इधर-उधर रचनात्मक कुछ भी नहीं है। जान पड़ता है, राजनीति जनसंघ को सौंपकर उससे इतर कुछ कार्य है, जिसको रा. स्व. संघ अपना मानता है और उसमें दत्तचित्त रहता है। उस इतर और अतिरिक्त कार्य का क्या मूल्य है, यह अलग बात है। लेकिन राजनीति से अलग कुछ क्षेत्र बचता है, यह स्वयं मुझे उपादेय प्रतीत होता है।

विभाजन के आस-पास ऐसा वातावरण बना था कि रा. स्व. संघ सैन्य सत्ता में विश्वास करता है और उग्र-उग्र उपायों का अवलम्बन करता है। वह वातावरण अब कुछ बदला हुआ जान पड़ता है। तो भी यह मानने का कारण नहीं है कि दस-पाँच वर्ष में उसका आधार या ईमान हट गया है। यदि ऐसा हो तो आज के जमाने में अधिक सम्भावनाएँ वहाँ मैं नहीं मान सकता हूँ। उसकी विचार पद्धति यदि शुद्धतः शक्ति को और राजनीति को महत्त्व देती हो और संस्कृति को एक मोर्चे के तौर पर ही रखकर चलना चाहती हो, तो भारतीय राजकारण में वह कोई बड़ा प्रभाव अपना निर्माण कर सकेगा इसमें शंका का कारण हो जाता है।

चरित्र पर उसका बल शुभ है। यदि चरित्र साधन के साथ साध्य की जगह भी ले लेता तो मैं उसमें अधिक सम्भावनाएँ देख सकता।

५

भाषा का प्रश्न

भाषावार पुर्नविभाजन

१७२ कांग्रेस ने प्रान्तो के भाषावार पुर्नविभाजन को अपना एक सिद्धान्त बनाया था। पर जब सरकार ने इस आधार पर यह पुर्नविभाजन किया, तो सारे देश में एक प्रान्तीय उन्माद उठ खड़ा हुआ और कितने ही प्रान्तों मे हिंसा के भीषण काण्ड जनता और सरकार दोनों ओर से हुए। प्रान्तों का विभाजन भाषा अथवा किसी ऐसे ही अन्य आधार पर न करके शुद्ध व्यवस्था के आधार पर ही किया जाना चाहिए था। व्यवस्था मे भाषा को लाकर सरकार ने देश की एकता के लिए एक बड़ा भारी सकट पैदा कर दिया है। इस विषय पर आपका क्या मत है?

पुर्नविभाजन राजदण्ड के जोर से

—व्यवस्था की सहजता और सुविधा की दृष्टि से भाषा के आधार का निर्णय हुआ था। क्या आप नही मानते कि एक प्रदेश मे यदि व्यवस्था और राज-काज एक भाषा के द्वारा चलाया जा सके तो उसमे सुविधा है? एक से अधिक भाषाएँ प्रान्त मे चलती हो, तो सम्भव था कि प्रान्त भी अग्रेजी भाषा का आश्रय लेने को मजबूर हो जाता। हिन्दी और पजाबी इतनी दूर हैं भी नही, लेकिन वहाँ भी झगडा है। इस तरह भाषावार राज्य के सिद्धान्त मे तो कोई गलती न थी, उससे व्यवस्था सुगम ही होती और होगी। फिर जो अनिष्ट घटा और भाषावार विभाजन कई जगह खून की नदियो को पार करके ही किया जा सका, उसका कारण तो यह था कि हमने राजशक्ति के भरोसे काम करना चाहा, लोक-शक्ति का भरोसा हमसे छूट गया। लोक-शक्ति के बल से यह होता तो देश का नकशा बदला हुआ दीखता। स्वराज्य आने तक काग्रेस के पास उस लोक-शक्ति का बल था। राज-पद पर चढ़ बैठने पर काग्रेस भ्रम मे पड गयी कि अब वह अधिक शक्तिमान् है। किन्तु राजशक्ति शस्त्र-दण्ड से सज्जित होने के कारण ही यह भ्रम देने लगती है कि वह प्रबल है। सच यह कि उस शक्ति के जोर से कोई काम

स्थायी नहीं होता और आसान काम भी मुश्किल बन जाता है। जिस समय कांग्रेस ने भाषावार प्रान्त का निर्णय किया वह लोकशक्ति-सम्पन्न संस्था थी। यदि कांग्रेस लोक-मानस की तैयारी में से लोकसेवा के बल पर, यदि देश का सहज पुनर्विभाजन करती तो अंग्रेजों के जमाने की देश की मनमानी खण्डितता दूर हो जाती और एक प्राकृतिक विभाजन हमारे हाथ लगता। पर कांग्रेस की आतुर दंडिता ने लोक-शक्ति से अपने को मिटा लिया और दण्ड-शक्ति के बल-बूते काम करना शुरू किया। तब कुछ लोगों ने अगर डण्डे के जोर से अपना प्रान्त और अपना राज्य बना लेने का संकल्प उठाया तो यह उनके लिए तर्कसंगत बात ही थी। कांग्रेस सरकार ने भी आखिर उस तर्क के आगे सिर झुकाया, पहले उसी डण्डे के तर्क से भाषावार-विभाजन का मुकाबला भी किया था। आप निश्चय रखिये कि डण्डे के जोर से किया जानेवाला या किये को अनकिया करनेवाला काम दण्ड-शक्ति के विश्वास को जनता में भी प्रदीप्त करता है। कांग्रेस यदि आज भी हुकूमत से काम चलाने की रीति से होनेवाली क्षति को अनुभव न करे, तो जल्दी ही उसकी आयगी। लोग प्रकृत रूप से ही यह चाहेंगे कि राज-कार्यालयों में जहाँ व्यवस्था-केन्द्र है, आम बोलचाल की भाषा लिखी-बोली जाय। भाषावार प्रान्त के निर्णय में इसी प्रकृत सिद्धान्त की स्वीकृति थी। उस आधार पर होने वाला पुनर्विभाजन यदि अप्राकृतिक बन गया और खून-खराबी हो निकली तो वह इस कारण कि हमने प्रकृत सिद्धान्त के व्यवहार के लिए अप्राकृतिक शक्ति का उपयोग किया। लोक-भावना का आदरण यदि रहता तो यह काम न केवल सहज होता बल्कि सबकी प्रसन्नता का कारण होता। लोक-शक्ति नैतिक होती है और समाज में यदि कहीं स्वार्थी और विरोधी तत्त्व हों भी तो उनको सहज आत्मसात् करने की क्षमता उसमें होती है। लोकमत एक ऐसा बल है, जो नकारात्मक तत्त्वों को अनायास निष्फल कर देता है। किन्तु सामने यदि राज-दण्ड हो तो नकारात्मक तत्त्वों को उभरने और भड़काने का अवसर मिल जाता है। यही हुआ और एक सहज परिवर्तन अमित क्लेश और कष्टवाला बन गया। इस कारण उत्तेजित हुई वासनाएँ अब तक भारतीय राजकारण को चैन नहीं लेने दे रही हैं।

भाषा राजनीति का अस्त्र बनी

भाषाएँ कोई बन्द कमरे में पनपने-फलनेवाली चीज नहीं हैं। वे तो आपसी सम्पर्क और उसके विस्तार में से फलित होती हैं। भाषाओं में परस्पर लेन-देन अनिवार्य है और कोई प्रदेश ऐसा नहीं हो सकता, जहाँ दूसरी भाषाएँ और उनके लोग

प्रवेश पाये विना रहें। देश के सभी प्रधान नगर वहुभाषी और कॉस्मोपोलिटन हैं। कलकत्ते मे अ-बगाली मारवाडी हैं। दिल्ली मे पजावी हैं, मद्रास मे तेलगू हैं। इस तरह कोई वडा शहर नहीं है, जहाँ इतर भाषाभाषी न हो। यदि हम एक बार भाषावार प्रान्त बनाने की प्रकृत बात में से यह भाषागत और प्रान्तगत अस्मिता की वासना जगने देते हैं, तो इन महानगरो का जीवन टूटने लग जाता है और विश्वास की जगह सशय घर कर लेता है। वही शायद भारत के जीवन मे घटित हुआ है। इस कारण नहीं कि भाषा का आधार लेना गलत है, बल्कि इस कारण कि जिस शक्ति के आधार पर विभाजन हुआ, वह योजक नहीं, विभाजक शक्ति थी। समर्पण की नहीं, शासन की शक्ति थी। भीतरी स्नेह और पारस्पर्य में से वह सीमाकन नहीं हुआ था, बल्कि अधिकार और भोग के क्षेत्र से आया था। इसलिए वह प्रतिस्पर्धा और द्वन्द्व को जगा गया। वैर और अनैक्य की भावना को वह गहरा कर गया। कव से वगाली-आसामी साथ रहते आये थे! एक दूसरे को पनपाने में दोनो का वडा हाथ था। पर भाषा के नाम पर आग जो भडकी, तो अब तक के पडोसी एक साथ दुश्मन बन आये! यह दुर्घटना होने से टल नहीं सकेगी, अगर भाषा को राजकारण का अस्त्र और आयुध बनाया जायगा। भाषा मिलाती है और मिलायेगी। वह स्वय भी परस्पर मिलती जायगी, अगर उस पर स्वत्व का बोझ नही डालेंगे, न उससे अपनी सत्ता की प्राचीर बाँधेंगे, बल्कि उस आविष्कार की सुविधा से परस्पर आदान-प्रदान के क्षेत्र का विस्तार साधना चाहेंगे। इस उपयोग मे आकर भाषा संस्कृति का उपकरण बनती है, जैसी कि वह है।

भाषावार प्रान्त प्रकृत

निश्चय ही सब भाषाएँ मिलकर इतिहास में से एक भारतीय बोली का निर्माण करती आयी हैं। यह मिली-जुली बोली अमुक नाम के नीचे नही बँध जाती। प्रादेशिकता उसके साथ नहीं रही है। शायद उसका आधार नागरिकता रहा है। हिन्दी का जन्म उसी प्रकार हुआ। उसका विकास भी उसी अन्त प्रान्तीय रूप मे हुआ। स्वय भारतीय विकास मे अन्तर्भूत तर्क था कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी यहाँ की राष्ट्रभाषा होती। कारण, हिन्दी कोई इस या उस जगह की भाषा न थी। यह तो व्यापक पैमाने पर अन्तर्भाषीय व्यवहार की सुगमता के लिए बन आयी थी। लेकिन जब प्रकृत तर्क को छोडकर अनेक भाषाओ की स्वकीय चेतनाओ की उलझन से बचने के लिए हमने अंग्रेजी को अपनाया, तो मानो एक असत्य को अपनाया। उसका प्रभाव सभी भाषाओ की अह-चेतनाओ को उद्दीप्त करने-

खाता हुआ और फिर भाषा की पृथक्ता मानो राजनीतिक पृथक्-भाव के हाथों पड़कर काटने और बाँटने का हथियार बन गयी। राजनीतिक चेतना और राज्य शक्ति का मद ही कारण है, जिससे दुर्घटनाएँ घटित हुईं। अन्यथा भाषा का आधार प्रदेश-सीमा के निर्णय की सुविधा के लिए प्रकृत और सहज आधार है।

प्रादेशिक आत्म निर्णय और राष्ट्रीय एकत्व

१७१ प्रदेशों को आत्म-निर्णय एवं आत्म-विकास का पूरा अधिकार होना चाहिए। पर साथ ही देश की एकता की रक्षा भी अनिवार्य है। इन दोनों विरोधी-से दीखने-वाले दृष्टिकोणों में आप कहाँ सामंजस्य पाते हैं?

कानून विभाजक

—सामंजस्य जनता में है। प्रदेशों की सीमा रेखा नक्शों में साफ मिलेगी धरती पर खिंचे खेतों में से उसे पहचाना भी नहीं जा सकेगा। इन खेतों में काम करती हुई जनता रहती है। वहाँ इस समय भी एकता है। वे रोज सीमा-रेखा के आर-पार मिल-जुलकर काम चलाते हैं। सीमा रेखा मजबूत और गहरी उन्हें चाहिए, जिनके काम का सम्बन्ध श्रम से कम है कानून से ज्यादा है। यह हो सकता है कि दो पड़ोसियों में से एक अपने किसी केस के लड़ने-झगड़ने के लिए दो सौ मील उत्तर की तरफ जाता है और दूसरा दो सौ मील दक्खिन की तरफ जाता है और इस तरह अदालती तरीके से वे दोनों आपस में दूर और विभाषी बन जाते हैं। पर जब तक बीच में अदालत और कानून नहीं हैं और जीवन के अधिक भाग में ये चीजें उपस्थित नहीं हो पाती हैं वहाँ तक दोनों पड़ोसी हैं और मिले-जुटे हैं।

सांस्कृतिक एकत्व

देश की एकता प्रदेश की अनेकता के कारण कमजोर नहीं होती है। यदि एकता सचमुच राजनीतिक कानून से और सरकार नाम की संस्था के माध्यम से बँधी और इकट्ठी की हुई होगी तब अवश्य प्रदेशों की अनेकता से वह खतरे में पड़ जायगी। पर भारत सैकड़ों नहीं हजारों वर्षों से एक और अविच्छिन्न बना चला आया है यह स्वयं इतिहास स्वीकार करता है। यह अनवरत अखण्ड एकता, इतिहास बताता है कि भारत के लिए आज नयी भी देनी नहीं जाती है। लेकिन इन सारे काल में भारत शायद ही कभी राजनीतिक दृष्टि से एक और अविभक्त रहा है। राजकीय स्तर पर निर्भर नहीं रही इसीसे वह एकता कभी

टूटी नहीं और निरन्तर कायम रही। वह एकता मन मे भीगी हुई थी, ऊपर के नियम से बनायी गयी नही थी। इसलिए ऊपरी नाना अनेकताओ को अपने में समाये रखने मे उसे कोई दिक्कत नही थी। सास्कृतिक ऐक्य का यही लक्षण है। वह एकता एकरूपता नहीं मांगती। युनिफॉर्मिटी के दावे पर जो युनिटी होती है, वह कट्टर पड जाती है, सहृदय नहीं हो पाती। उसे प्रशासन और शासन के जोर से थामे रखना पड़ता है।

एकता विश्वास की ही

यदि हम मूल में लोक-भावनामूलक शक्ति और दृष्टि अपनायें, तो देश की एकता और प्रदेश की विविधता मे कोई विरोध नही दिखाई देगा। सकट और उलझन बनेगी तो तब, जब हम उस एकता को प्रशासन मे बांधना और जुटाना चाहेंगे। तब राज्यो की स्वायत्तता केन्द्र के लिए असुविधा और भय का कारण हो सकती है। किन्तु यदि प्रशासन के नही, विश्वास के बल पर केन्द्र मजबूत हो, तो राज्यो के आत्मनिणय की क्षमता उल्टे केन्द्र के लिए सुविधा की चीज हो जाती है। केन्द्र तब बहुत-सी परेशानियो और छोटे-मोटे सवालो से बच जाता है, क्योंकि राज्य-शासन अपनी जगह पर उनसे निबट लेता है।

नैतिक केन्द्रीकरण, कार्मिक विकेन्द्रीकरण

इससे आप देखेंगे कि एक सीधा सिद्धान्त हाथ लगता है। वह यह कि केन्द्रीकरण उत्तरोत्तर नैतिक हो, कार्मिक अधिकाधिक विकेन्द्रित होता चला जाय। ऐसे जीवन बिखरेगा भी नहीं और ऊपर का दबाव भी कम होता चला जायगा। आज स्वीकार करना चाहिए कि राज्य इससे उल्टी दिशा मे बढ़ रहा है, अर्थात् उसकी सत्ता फौज की ताकत रखकर मजबूत बनती है। जितनी फौज उतनी जनता से दूरी, ऐसा तक माना जा सकता है। जनता का पूरा विश्वास यदि सत्ता के पास हो, तो क्यो न यह मान लिया जाय कि सकट के मौके पर जनता का एक-एक आदमी योद्धा बना दिखाई देगा। विकेन्द्रित राज्य-पद्धति का मैं यही अर्थ लेता हूँ और उसी दृष्टि से उसका समर्थन भी करता हूँ। विकेन्द्रीकरण का अर्थ बिखरना भर हो, केवल केन्द्रहीनता, तो वैज्ञानिक प्रगति के साथ उसका निभाव नही हो सकता। विज्ञान ने हम सबको इतना निकट ला दिया है कि मानव-जाति का जीवन सश्लिष्ट बनने की ओर बढ़ेगा ही, वह विच्छिन्न और अनियमित अब नहीं रह पायेगा। इसलिए विकेन्द्रीकरण का साराश आत्मा का बिखरना नही है, बल्कि अगो-उपागो का स्वय-समर्थ होना है। हमारे शरीर के अगोपाग क्या

यह अनुभव करते हैं कि उन पर अंकुश है? यह अनुभव होता तब है, जब व्यक्ति रुग्ण होता है। स्वस्थ व्यक्तित्व में इन्द्रियाँ और दूसरे शरीर के कार्यकारी उपकरण अनायास काम करते हैं और किसी प्रकार के केन्द्रीय नियन्त्रण का अनुभव नहीं करते हैं। इसका आशय यह नहीं कि केन्द्र में हृदय या बुद्धि और उनके भी पीछे मन वह या आत्म सुप्त या लुप्त है। बल्कि अर्थ यह कि केन्द्र स्वस्थ और प्रबुद्ध है। केन्द्र में जब कुछ भी लेने का आग्रह नहीं होता है, शुद्ध अपरिग्रह होता है तो अवयवों के साथ उसका सम्बन्ध समीचीन रहता है। हृदय कुछ भी रक्त अपने पास रोक रखना चाहे तो तत्काल शरीर-यन्त्र बिगड़ जायगा और जीवन संकट का अनुभव कर उठेगा। इसी प्रकार समाज-शरीर में भी केन्द्र जितना शुद्ध नैतिक आध्यात्मिक होता जायगा उतना जन-जन में अभिक्रम और पराक्रम जागेगा और श्रम-कर्म में हृदय और स्नेह का योग होगा। कर्म जब ऊपर के अंकुश में अर्थात् मजूरी और वेतन के लोभ से होता है, तो श्रम में वह उत्साह और सृजन भाव नहीं रहता है। तब श्रम अपने को पिसता हुआ अनुभव करने के कारण मन्द और जड़ पड़ता जाता है। अस्त्र-शस्त्र की निर्भरता जब तक बढ़ेगी राज्य नैतिक और कर्म-मुक्त होने से उल्टा चलेगा यह अपने हाथ में अधिकाधिक एकत्रीभूत सत्ता रखना चाहेगा। इस मोह में राज्य पायेगा कि उसे वेतन-भोगी कर्मचारियों की जमात बढ़ाते ही जाना पड़ रहा है। एक की पहरेदारी के लिए दूसरे और दूसरे की चौकसी के लिए तीसरे की तैनाती करना जरूरी हो रहा है। ऐसे कारकूनों की संख्या-वृद्धि के अनुपात में उनसे जिम्मेवाराना काम घटता जाता है। नौकरशाही समाज पर छाती है। अनुत्पादक चतुराई उत्पादक श्रम पर हावी बन रहती है। कम्युनिस्ट-पद्धति भी डिक्टेटरशिप तो मानी जाती है, लेकिन वहाँ एक अर्थ में इस विकेन्द्रीकरण का प्रयोग देखा जा सकता है। वहाँ राज्य काफी स्वायत्त और आत्म-निर्णयसम्पन्न हैं और केन्द्र के हाथ कुछ गिने-चुने विषय रह गये हैं। शेष में केन्द्र का काम उनके बीच सूत्र पिरोने का रहता है। नैतिक केन्द्रीकरण और कायिक विकेन्द्रीकरण को मैं सही दिशा मानता हूँ। उस ओर चलने से हमारी राजनीतिक समस्याएँ उतनी कड़ी नहीं दिखाई देंगी और राष्ट्रवाद मानव-जाति की एकता में बाधक की जगह साधक ही निकलेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

हिन्दी और अहिन्दीभाषी प्रदेश

१७४ आपका उत्तर सैद्धान्तिक हो गया। मैं इस प्रश्न को भाषा के पक्ष में समझना चाहता था। अहिन्दीवाले जो यह अनुभव करते हैं कि हिन्दी उन पर थोपी जा

रही है और केन्द्र को बार-बार यह अनुभव होता है कि भाषा का प्रश्न लेकर प्रदेश अधिक आजादी छीनते और बरतते जाते हैं, इस बारे मे आपका क्या कहना है? पजाबी सूबे का मामला भी इसी समस्या का एक अग है। उस पर भी मैं आपके विचार जानना चाहूँगा।

हिन्दी और दक्षिण

—सबसे सगत यहाँ वही पुरानी बात याद रखना है कि राजनीतिक वृत्ति और शक्ति समस्या बनाती है, सास्कृतिक दृष्टि उसको सुलझा सकती है।
यह बात सही है कि दक्षिण मे हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे अपनाने के प्रति अनमनापन है, सशय है। दक्षिण के प्रति उत्तर की प्रभुता का अभियान उसमें दीख पडता है, इसलिए प्रतिरोध भी है। यह सशय कैसे दूर हो? बल-प्रदर्शन से सशय बढ़ सकता है, कट नही सकता। इसलिए यह काम राजनीति और राजनेता के बस का नहीं है।
किन्तु जीवन का तर्क अपना काम करेगा ही। तमिल प्रान्त या किसी दूसरे दक्षिण प्रान्त को अपने मे सिमटना नही है, बल्कि फैलना और अपने गुणो का विस्तार करना है, तो आवश्यक होगा है कि वे उन माध्यमो को अपनायें, जिनसे उनकी सीमितता खुले और व्यापकता आये। आखिर उसी मद्रास में अधिकाधिक हिन्दी-फिल्मे क्यो बन रही हैं? कारण, फिल्मवाले को राजनीति से वास्ता नहीं है, व्यवसाय से काम है। व्यवसाय वस्तुस्थिति को अपनाता है, उस पर दबाव डालने की कोशिश करके नुकसान उठाने की मूर्खता नही करता।

जीवन का प्रकृत तर्क

प्रत्येक भारतीय क्यो न भारतभर का हो, यह इच्छा स्वाभाविक है। अपने यश और प्रभाव का विस्तार कौन न चाहेगा? एक बार राजनीतिक दृष्टि का खोखलापन प्रकट हुआ और लोगो को अपने-अपने सीधे स्वार्थ और हित देखने की सुविधा हुई, तो स्वय जीवन का तर्क उन्हें सही दिशा पर ले आयेगा। अभी तो राजनीति की प्रधानता होने के कारण स्थापित स्वार्थो की बन आती है। भोगप्राप्त उच्चस्तरीय सरकारी लोग बहका और बरगला पाते हैं। जब औसत आदमी अपना भला-बुरा पहचान सकेगा, तो ये कृत्रिम समस्याएँ उसके मन को फेर नहीं पायेंगी और जीवन का प्रकृत तर्क अपना काम कर सकेगा।

अंग्रेजी पर निर्भरता

सार्वजनिक जीवन में कुछ मुखर तत्त्व होते हैं। वे बोलते और राजनीति का निर्माण करते हैं। मन से उन्हें छुट्टी होती है और जब किसी निर्माण की उनमें चाह पक्की नहीं होती। राजनीति के ऊपर चढ़े रहने से ऐसे लोगों का महत्त्व बढ़ता और क्षोभ का कारण होता है। यदि जीवन पर इन कृत्रिमताओं का दबाव न आये तो भाषाओं का प्रश्न दिखाई न देगा। कारण हृदय को एक-दूसरे की ओर बढ़ने की आवश्यकता अनुभव होगी और भाषाओं का परस्पर आदान प्रदान अपने भीतरी तर्क से ही खुलेगा। इस अभीष्ट-सिद्धि में अंग्रेजी बीच में आकर व्यवधान डालती है। मानो भाषाएँ अंग्रेजी के द्वारा आपस में मिलने की बन्धन से छूट जाती हैं। नहीं मिले बिना मुक्ति नहीं है। अंग्रेजी में नहीं आपस में मिलना होगा। कारण अंग्रेजी से व्यक्ति प्रमुख मैत्री और स्तर में अपना प्रभाव बनाता है, भारत में एक नहीं हो पाता। भारतभर से यह एकता मानने की आवश्यकता अतृप्त रहनेवाली नहीं है और आगे-पीछे अंग्रेजी की वर्तमान निर्भरता अनभीष्ट और असद् सिद्ध होगी।

पंजाबी भाषा

पंजाब का प्रश्न भाषा का नहीं है। उसमें कुछ दूसरे भी पेंच हैं। पंजाबी सब बोलते हैं। कल तक वह उर्दू लिपि में लिखी जाती थी। पश्चिमी पंजाब में आज भी लिपि उर्दू है। गुरमुखी लिपि पंजाब के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। नाम ही बताता है कि वह गुरु के मुख से चली है और पवित्र है। यह धार्मिक भावना भी उसमें साथ मिल जाती है, तो प्रश्न कठिन हो जाता है। धार्मिक अल्पसंख्यकता का भाव किसी में रहे तो क्या हो? सिख बहादुर कौम है और उसे अलग अस्तित्व को उठाकर सत्ता में उभारने की आकांक्षा हो सकती है। पंजाबी सूबा बने तो सिक्खों को हर क्षेत्र में अपना जौहर दिखाने का अवसर आ सकता है। उनकी इच्छा है कि भारत को बतायें कि उनमें कितना जबरदस्त भारत प्रेम है और पश्चिम सीमान्त पर वे देश की सुरक्षा का भार अपने कन्धों ले सकते हैं। ये सब स्पृहणीय भावनाएँ हैं। लेकिन आप देखिये कि भाषा के साथ इनमें कुछ अतिरिक्त तत्त्व मिल जाते और बात को कुछ पेचीदा बना देते हैं। राजनीतिक बल से वे देख नहीं सूझेंगे। आखिर बल-पराक्रम के कैसों से ही तो सिख कौम ने अपना स्वरूप पाया है। बल-प्रदर्शन से वह फिर पीछे क्यों रहे? इसीलिए राजनीतिक तल पर, जहाँ चीजें बल से उलटती-पुलटती हैं, वह प्रश्न विकट बना दीखता है।

जीवन और संस्कृति की शक्तियाँ

भाषाएँ बनती हैं मिलन की अपरिहार्यता में से। तदनुरूप वे विकास पाती हैं। वे जीवन-विस्तार का काम देती हैं। राजनीति का काम जब उनसे लिया जाता है, तो भाषा का अपमान और नुकसान होता है। प्रकृत में वे संस्कृति का माध्यम हैं। पंजाबी में हिन्दी के प्रति बढ़ने की प्रवृत्ति न हो, यह असम्भव है। राजनीति उस सहज-प्रवृत्ति पर दबाव लाती है। कितने पंजाबी लेखक हिन्दी में लिख रहे हैं, अनेक सिख हिन्दी के विद्वान् हैं। यह प्रक्रिया हुए और बढ़े बिना रह नहीं सकती। राजकारण में हिन्दी-पंजाबी-प्रश्न कितना भी गरमाया क्यों न रहे, नीचे-नीचे हिन्दी-पंजाबी का यह हेल-मेल बढ़ रहा है। इसलिए मैं आपसे कहूँगा कि प्रश्न के राजनीतिक रूप पर आप हैरान न हों, वह बहुत ऊपरी है। उसके नीचे जीवन की और संस्कृति की जो शक्तियाँ काम कर रही हैं, उन पर भरोसा रखें। उनको बल पहुँचायें, उन्हें ऊपर उभारें। तब सम्भव हो सकेगा कि सांस्कृतिक प्रेरणा राजनीतिकों को प्राप्त हो। उस समय समस्याओं का रूप जटिल से एक-दम सरल प्रतीत होगा और आज जो फाड़ने के काम आती हैं, ठीक वे ही चीजें जोड़नेवाली बन जायेंगी। विज्ञान की तरक्की से पहाड़ और समुद्र बाँटनेवाले अब नहीं रह गये, जोड़नेवाले बन गये हैं। हिमालय क्या पता, एक दिन विश्व का प्रमोदोद्यान हो जाय और सुरक्षा की पाँत की बात ही कहीं न रह जाय ! इस जीवन की प्रगति में मन बदलने की देर है कि भाषा बाँटने से मिलानेवाली चीज बनी दीखेगी। काम वहाँ करना है, यानी मन को तनिक-सा फेर दे लेना है। फिर तो समाधान वहाँ रखा ही हुआ है।

अंग्रेजी से एक सुविधा

१७५ राजाजी जो अंग्रेजी की जोरदार वकालत करते आये हैं, क्या वह अराष्ट्रीय नहीं है? आपकी राय में अंग्रेजी का भारत की संस्कृति और राजनीति में क्या स्थान अभी बाकी है? क्या एक दिन उर्दू की तरह यह भी भारतीय भाषाओं की सूची में अपना स्थान बना लेगी?

—अंग्रेजी के जरिये भारत को सुविधा रहेगी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना महत्त्व का स्थान बनाये रखे। अंग्रेजी उसके संस्कार में दाखिल हो गयी है। यह भी प्रकट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कारोबार में अंग्रेजी ही सर्वमान्य भाषा बनने-वाली है। इस सुविधा से भारत को वंचित नहीं किया जा सकता।

अंग्रेजी लोकभाषा नहीं बन सकती

लेकिन इसके आगे उस भाषा की निर्भरता भारत के हित में नहीं है। भारत

उस पराभव के कारण कुण्ठित हुआ पड़ा है। ऊपर अंग्रेजीदाँ लोग हैं जो अंग्रेजी के रूप में अलग कटे-छँटे दीखते हैं। नीचे अपढ़ जनता है, जो इस वर्ग को विस्मय से देखती रह जाती है और आसानी से उनके आतंक में दबी रहती है। यह विशिष्ट-सामान्य का वर्ग-विभाजन भारत का अमित अहित कर रहा है। यह सच्चे अर्थों में भारत को लोकतन्त्र नहीं बनने देगा। इस कारण जन-जन वर्ग-तम बना रहता है, लोक-शक्ति भारत के राजकारण में आ नहीं पाती। भारत का आत्म-बल कर्म-बल नहीं बन पाता। परिणाम यह कि भारत पश्चिम की उन्नति की पीछी नकल-सा रह जाता है, आत्मप्रतिष्ठ नहीं बन पाता। यदि भारत के पास कुछ देने को है, तो वह उसका आत्म-दान है। अंग्रेजी के द्वारा हम सिर्फ पश्चिम का असर दुनिया को देते हैं, अपना आत्म नहीं दे पाते। दुनिया को भी इस तरह बहुत बड़ी क्षति हो रही है। एक महादेश जिसके पास हजारों वर्ष बहती चली हुई एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक परम्परा है, जिसके पास धर्मनीतिक क्षेत्र का अमित अनुभव और ज्ञानकोष है, वह देश मानो केवल अंग्रेजी की निर्भरता के कारण मानव-जाति के संचित कोष में से एक साथ लुप्त हो जाता है।

यह अपने देश की और मानव-जाति की इतनी बड़ी क्षति है कि राजनेता चाहें तो एक क्षण उसे नहीं सह पायेंगे। जितनी देर सहते हैं उतना ही उन्हें पीछे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। वे अनुभव करेंगे कि भारत की अपढ़ जनता में से प्राप्त होनेवाला बल जो वे अर्जित नहीं कर पाये लोक-शक्ति से वंचित और विहीन बने रहे, उसीके कारण उन्हें एक दिन वहाँ से गिरना पड़ा। कोई भी दल जब तक लोक-भाषा का सहारा नहीं लेगा स्थिरता के साथ भारतीय राज्य के शीर्ष पर नहीं बैठ पायेगा। और यदि किसी युक्ति-बल से वह वहाँ बैठेगा और बैठा रहेगा तो ठीक वही दल भारत की आत्मा को कुचलनेवाला होगा। भारत के पास एक नहीं अनेक समृद्ध और समर्थ लोक-भाषाएँ हैं, उनमें कोई भी एक राजभाषा का स्थान ले सकती है। सामर्थ्य की दृष्टि से अपनी लोक-भाषाओं में कमी मानना पश्चिम प्रभुता की पूजा में पड़ना और मानसिक दासता को सिर लेना है। यह कभी सत्य नहीं हो सकता कि भाषा में कमी है होती है तो कमी उन लोगों के मनों में होती है, जिनकी वह भाषा है। अंग्रेजी के द्वारा काम चलानेवाला वर्ग अपनी लोक-भाषाओं में वह सामर्थ्य अनुभव नहीं करता कि राज-काज चला सके, तो यह स्वयं अंग्रेजी भाषा की आलोचना है! अंग्रेजी यदि व्यक्ति को इतना निर्वीर्य बनाती है कि वह अंग्रेजी का मोल नहीं जानता बल्कि उसकी प्रभुता के नीचे आ जाता है तो इसीसे अंग्रेजी का दोष प्रकट हो जाता है। अंग्रेजी को यदि यह शक्ति मिली कि भारतीय उसके अभार

तीय हो जाय, अपने देशवासियो से वात करने और काम लेने लायक न रह जाय, तो यह शक्ति अग्रेजी की न थी, उन लोगो के आत्म-विश्वास की त्रुटि ने वह शक्ति दी थी। राजनेताओ की दुर्वलता कहनी चाहिए, आत्महीनता कहनी चाहिए कि वे अग्रेजी से काम नहीं लेते, जितने अग्रेजी के काम आते हैं। यह अतिरिक्त क्षमता उन्होंने अग्रेजी को दी है। अग्रेजी यो वहुत वडा सुभीता है हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियो के पास। लेकिन ये तो अग्रेज थे, जो चाहते थे कि यह भाषा हिन्दुस्तानी के लिए सुविधा न वन पाये, उन्हींके हाथ की सुविधा वनी रहे। हम पश्चिम के और उसकी सभ्यता के हाथ खेल रहे होगे, यदि अग्रेज़ी को अपनी सुविधा न वनायेंगे, वल्कि अपनी निर्भरता वना लेंगे।

राजाजी व्यामोह-ग्रस्त

राजाजी व्यक्तिश यह नही पहचानते, यह नही माना जा सकता। अग्रेजी पर उनकी इतनी प्रभुता है कि उस भाषा के प्रति वे अव तनिक भी मोह की आवश्यकता मे नहीं रह जाते। उस भाषा का तनिक भी आतंक उन पर नही है। इसीलिए लेखक वे तमिल भाषा के हैं और उनकी लेखनी मुक्त और सहज है। किन्तु राजनीतिक व्यामोह से जो वे छूट नही पाते हैं, उसी कारण उनमे सशय पैदा होता है। उत्तर वनाम दक्षिण की वात मन मे उठते ही उन्हें अग्रेजी मे सुरक्षा मालूम होती है। राजनीति की चोटो से उनका मन अस्वस्थ न वन गया होता, तो वे कभी ऐसी वात कहनेवाले न थे। वे ऋषि हैं, क्रान्तद्रष्टा हैं। केवल राजनीति ने जो उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया है, उसीके कारण वह गलत प्रलाप या विलाप उनकी ओर से आ सकता है। उस वाणी में राजाजी नहीं हैं, केवल उनका घाव है। इसलिए वैसे उद्‌गारो पर विशेष अटकने की आवश्यकता नहीं है।

अग्रेजी को भारतीय मान लिया जाय

अग्रेजी, चाहे एक वर्ग मे सही, यहाँ सदा के लिए रच-पच गयी है। इसलिए आत्माभिव्यक्ति की एक भाषा के रूप मे उसे भी भारतीय स्वीकार कर लेने में हर्ज नही। साहित्य-अकादमी मे उसे भारतीय भाषाओ की गिनती मे रख ही लिया गया है। यहाँ वहुत कुछ मौलिक है, जो अग्रेजी मे लिखा गया है। विवेकानन्द और गाधी तो नेहरू नहीं हैं, लेकिन उनका अधिकाश लेखन अग्रेजी मे हुआ। राधाकृष्णन् ने जितना लिखा, भारतीय दर्शन को लेकर लिखा, लेकिन अग्रेजी में लिखा। श्री अरविन्द भारतीय योग के अप्रतिम व्याख्याकार हैं,

लेकिन लिखते अंग्रेजी में रहे। नेहरू भारत के आविष्कार में लगे रहे हैं लेकिन इस प्रयोग की भाषा अंग्रेजी है। इस सब स्थिति को भारत भी नहीं सकता। अनुवाद द्वारा उसे अपना बनाये मूल को पराया गिने यह गलती भी उससे सम्भव नहीं है। यह सब देखकर अंग्रेजी को भी एक भारतीय भाषा मान रखने में ही सत्य का आदर है, यह स्पष्ट है।

उर्दू हिन्दुस्तान की है

लेकिन उर्दू की तरह अंग्रेजी कभी न हो पायी। पाकिस्तान तो कल बना है लेकिन उर्दू हिन्दुस्तान के बाहर कहीं आपको नहीं मिलेगी। वह एकदम हिन्दुस्तान की भाषा है। प्रदेश की नहीं है, हिन्दुस्तान की है। उस भाषा को एक अपना प्रदेश मिले यह यत्न अगर उर्दू में हुआ (हुआ तो था और शायद अब भी उसका कहीं अवशेष हो) तो वह सफल नहीं कहलायेगी। हिन्दी का क्षेत्र जाने-अनजाने उर्दू का भी क्षेत्र है और केवल पाकिस्तान बन जाने से यह तथ्य बदल नहीं जाता है। बोली में ये दो भाषाएँ नहीं हैं, केवल एक भाषा की दो शैलियाँ हैं। लिपि के कारण ये दो हैं, लेकिन लिपिवाला यह भेदन एक सीमा तक ही काम करता है। सत्य के आग्रह पर ही चलनेवाले गांधीजी ने 'हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी' का सूत्र इसीलिए दिया था। वह सूत्र पुराना पड़ गया है, लेकिन उसकी सत्यता को याद रखना भाषा के क्षेत्र में आज भी उपयोगी हो सकता और उलझन को सुलझाने में बड़े काम आ सकता है।

१७५. वस्तुस्थिति की दृष्टि से आपकी बात सोलह आने सत्य है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर क्या यह भी सत्य नहीं है कि उर्दू भी उसी प्रकार आक्रान्ताओं द्वारा हिन्दुस्तानियों पर थोपी गयी, जिस प्रकार कल ही अंग्रेजी थोपी गयी है। जो इन दोनों भाषाओं के पास अपने प्रदेश नहीं हैं, यह इस बात का सबूत है कि ये लोक-भाषाएँ नहीं हैं और इन्हें राजनीतिक विवशता का परिणाम हम मान सकते हैं। इस बारे में आपका क्या कहना है?

उर्दू का जन्म और विकास

—थोपनेवालों का इरादा चाहे उस प्रकार का रहा हो लेकिन हम इरादों में नहीं जा सकते। मेरा अपना यह भी मानना है कि मानवीय इरादे इतिहास की प्रक्रिया में किसी बड़े हेतु के हाथ काम में ही आते हैं स्वयं में नहीं चलते हैं। इसलिए उस बारे में व्यग्र होने की आवश्यकता किसीके लिए नहीं है। प्रश्न व्यावहारिक होकर घटना तक ही अपना सम्बन्ध रख सकता है। मैं नहीं

तीय हो जाय, अपने देशवासियो से वात करने और काम लेने लायक न रह जाय, तो यह शक्ति अग्रेजी की न थी, उन लोगो के आत्म-विश्वास की त्रुटि ने वह शक्ति दी थी। राजनेताओ की दुर्वलता कहनी चाहिए, आत्महीनता कहनी चाहिए कि वे अग्रेजी से काम नही लेते, जितने अग्रेजी के काम आते हैं। यह अतिरिक्त क्षमता उन्होंने अग्रेजी को दी है। अग्रेजी यो वहुत वडा सुभीता है हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियो के पास। लेकिन ये तो अग्रेज थे, जो चाहते थे कि यह भाषा हिन्दुस्तानी के लिए सुविधा न वन पाये, उन्हीके हाथ की सुविधा वनी रहे। हम पश्चिम के और उसकी सभ्यता के हाथ खेल रहे होगे, यदि अग्रेजी को अपनी सुविधा न वनायेंगे, वल्कि अपनी निर्भरता वना लेंगे।

राजाजी व्यामोह-ग्रस्त

राजाजी व्यक्तिश यह नही पहचानते, यह नही माना जा सकता। अग्रेजी पर उनकी इतनी प्रभुता है कि उस भाषा के प्रति वे अव तनिक भी मोह की आवश्यकता मे नही रह जाते। उस भाषा का तनिक भी आतंक उन पर नहीं है। इसीलिए लेखक वे तमिल भाषा के हैं और उनकी लेखनी मुक्त और सहज है। किन्तु राजनीतिक व्यामोह से जो वे छूट नही पाते हैं, उसी कारण उनम सशय पैदा होता है। उत्तर वनाम दक्षिण की वात मन मे उठते ही उन्हें अग्रेजी मे सुरक्षा मालूम होती है। राजनीति की चोटो से उनका मन अस्वस्थ न वन गया होता, तो वे कभी ऐसी वात कहनेवाले न थे। वे ऋषि हैं, क्रान्तद्रष्टा हैं। केवल राजनीति ने जो उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया है, उसीके कारण वह गलत प्रलाप या विलाप उनकी ओर से आ सकता है। उस वाणी मे राजाजी नहीं हैं, केवल उनका घाव है। इसलिए वैसे उद्‌गारो पर विशेष अटकने की आवश्यकता नहीं है।

अग्रेजी को भारतीय मान लिया जाय

अग्रेजी, चाहे एक वर्ग में सही, यहाँ सदा के लिए रच-पच गयी है। इसलिए आत्माभिव्यक्ति की एक भाषा के रूप मे उसे भी भारतीय स्वीकार कर लेने मे हर्ज नहीं। साहित्य-अकादमी मे उसे भारतीय भाषाओ की गिनती मे रख ही लिया गया है। यहाँ वहुत कुछ मौलिक है, जो अग्रेजी मे लिखा गया है। विवेकानन्द और गाधी तो नेहरू नही हैं, लेकिन उनका अधिकाश लेखन अग्रेजी मे हुआ। राधाकृष्णन् ने जितना लिखा, भारतीय दर्शन को लेकर लिखा, लेकिन अग्रेजी मे लिखा। श्री अरविन्द भारतीय योग के अप्रतिम व्याख्याकार हैं,

लेकिन लिखते अंग्रेजी में रहे। नेहरू भारत के आविष्कार में लगे रहे हैं, लेकिन इस प्रयोग की भाषा अंग्रेजी है। इस सब निधि को भारत लौटा नहीं सकता। अनुवाद द्वारा उसे अपना बनाए मूल को पराया गिने यह गलती भी उनसे सम्भव नहीं है। यह सब देखकर अंग्रेजी को भी एक भारतीय भाषा मान रखने में ही सत्य का आदर है, यह स्पष्ट है।

उर्दू हिन्दुस्तान की है

लेकिन उर्दू की तरह अंग्रेजी कभी न हो पायी। पाकिस्तान तो कब बना है लेकिन उर्दू हिन्दुस्तान के बाहर कहीं आपको नहीं मिलेगी। यह एकदम हिन्दुस्तान की भाषा है। प्रदेश की नहीं है हिन्दुस्तान की है। उस भाषा को एक अपना प्रदेश मिले यह सब्त अगर उर्दू में हुआ (हुआ तो था और शायद अब भी उसका कहीं अवशेष हो) तो वह अनकमती नहीं कहलायेगी। हिन्दी का क्षेत्र जाने-अनजाने उर्दू का भी क्षेत्र है और केवल पाकिस्तान बन जाने से यह तथ्य बदल नहीं जाता है। बोली में ये दो भाषाएँ नहीं हैं केवल एक भाषा की दो शैलियाँ हैं। लिपि के कारण ये दो हैं लेकिन लिपिवाला यह दीवार एक सीमा तक ही काम करता है। सत्य के आग्रह पर ही चलनेवाले गांधीजी ने 'हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी' का सूत्र इसीलिए दिया था। वह सूत्र पुराना पड़ गया है, लेकिन उसकी सार्थकता को याद रखना भाषा के क्षेत्र में आज भी उपयोगी हो सकता और उलझन को सुलझाने में बड़े काम आ सकता है।

१७६. वस्तुस्थिति की दृष्टि से आपकी बात सोलह आने सत्य है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर क्या यह भी सत्य नहीं है कि उर्दू भी उसी प्रकार आक्रान्ताओं द्वारा हिन्दुस्तानियों पर थोपी गयी, जिस प्रकार बाद ही अंग्रेजी थोपी गयी। जो इन दोनों भाषाओं के पास अपने प्रदेश नहीं हैं, यह इस बात का सबूत है कि ये लोक-भाषाएँ नहीं हैं और इन्हें राजनीतिक विवशता का परिणाम कह सकते हैं। इस बारे में आपका क्या कहना है?

उर्दू का जन्म और विकास

—बोलनेवालों का इरादा चाहे उस प्रकार का रहा हो, लेकिन हम इरादों पर नहीं जा सकते। मेरा अपना यह भी मानना है कि मानवीय इरादे इतिहास की प्रक्रिया में किसी बड़े हेतु के हाथ काम में ही आते हैं स्वयं में नहीं चलते हैं। इसलिए उस बारे में ज्यादा होश की आवश्यकता किसीके लिए नहीं है। प्रश्न व्यावहारिक होकर घटना तक ही अपना सम्बन्ध रख सकता है। मैं नहीं

मानता कि आक्रान्ता भाषा थोप सकते हैं। आक्रान्ता के लिए जरूरी है कि आक्रान्त से अपना सम्बन्ध बनाये, अन्यथा आक्रान्ता के निकट अपना अथ ही समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध मे से ही एक नवीनता जन्म पाती है और एक नए समन्वय का सूत्र आरम्भ होता है। उर्दू का जन्म इस प्रकार हुआ। उर्दू आक्रान्ता लोग अपने साथ नहीं लाये थे। जिस भाषा को वे साथ लाये थे और जो भाषा हिन्दुस्तान मे पहले से मौजूद थी, दोनो के सगम में से उर्दू उठी। धरती हिन्दुस्तान की थी। उर्दू जिसको कहा गया उसकी जमीन अपनी अलग नहीं है, फारसी-अरबीवाली जमीन नहीं है। यहीं से खडी बोली हिन्दी का भी जन्म हुआ। ऊपर के तबके के लोग, जो बादशाह के किसी कदर नजदीक थे, भारती की जमीन पर फारसी-अरबी के लफ्जो से काम लेते थे। सामान्य जन देशज और तद्भव शब्दो के सहारे चलते थे। यही खडी बोली यानी हिन्दुस्तानी हुई, जिसकी मजलिसी शैली पीछे जाकर उर्दू कहलायी। जनसाधारण मे वही खडी बोली हिन्दी बनी। दोनो के नीचे धरती अर्थात् व्याकरण आदि की भूमिका एक थी, शब्दो का ही हेर-फेर था। यह उर्दू थोपी हुई नही कही जा सकती, सगम की अनिवार्यता मे से उपजी ही कही जा सकती है। अग्रेज़ी की बात उससे भिन्न है। उर्दू हिन्दुस्तान के लिए किसी भी अर्थ मे विदेशी भाषा नही थी। विदेश मे बोली तो क्या जाती, कहीं समझी भी नही जा सकती थी। उससे भिन्न इग्लिश थी ही इग्लैण्ड की। किन्तु अग्रेजी को जान-बूझकर अग्रेजी सल्तनत ने यहाँ जमाना और थोपना चाहा। इसके बावजूद अब आकर इस ऐतिहासिक तथ्य को व्यवहार के नाते हमे अपनाना ही पडेगा, और इस पर रुष्ट होने की भी आवश्यकता नही है कि अग्रेजी आज यहाँ एक अमुक वर्ग मे आम चलन की भाषा है। साक्षर वर्ग के बीच अन्त प्रान्तीय सार्वजनिकता के लिए तो मानो एक यही भाषा रह जाती है। परिस्थिति के इस तथ्य को मान लेना ही उचित है। फिर चाहे अग्रेज़ी-कूटनीति का हेतु इतिहास मे इसके पीछे कोई भी क्यो न रहा हो।

उर्दू का प्रादेशिक न होना उसका बल

इन दोनो भाषाओ के पास यदि अपने प्रदेश नही हैं, तो यह तर्क क्या उनके पक्ष मे भी नही माना जा सकता? कल तक हिन्दी के विपक्ष मे ठीक यही तर्क दिया जाता था कि वह अपने सही रूप मे कहीं भी बोली नही जाती। अर्थात् हिन्दी किसी भी प्रदेश-विशेष की भाषा नहीं है। हिन्दीभाषी राज्यो मे सचमुच ही आप जनपदो तक जाइये, तो उनकी अपनी-अपनी बोलियाँ मिल जायँगी।

ब्रज अवधी भोजपुरी बुंदेली राजस्थानी मैथिली आदि-आदि कितनी ही भाषाएँ हैं जिन्हें उपभाषा कहना होता है। यह तर्क कि हिन्दी कहीं की भी भाषा नहीं है, कृत्रिम और ओढ़ी हुई है सचमुच गम्भीरता से दिया जाता था। आँकड़ों से सिद्ध किया जाता था कि हिन्दी-भाषाभाषी अपना गुजराती मराठी-भाषियों से अनुपात में बहुत ही कम और नगण्य भर हैं! किन्तु क्या यही तथ्य में हिन्दी का बल भी नहीं है कि वह स्थान में बंधित नहीं है प्रादेशिक नहीं है यह कहीं कैदी और बन्द नहीं है। वह सबको अपने में समाती और अपने द्वारा मिलाती हुई चलनेवाली भाषा है। मैं समझता हूँ उर्दू और अंग्रेजी के साथ भी यह सुविधा है कि वे किसी प्रदेश-विशेष में सीमित नहीं हैं। वे भाषाएँ यदि इसी सुविधा को अपनी असुविधा समझती तो उस समझ को क्या कहा जायगा? एंग्लो-इण्डियन लोग माइनारिटी के नाम पर अंग्रेजी भाषा पर अपना दावा रखें तो इससे अंग्रेजी की शक्ति और मान्यता बढ़ेगी या घटेगी?

कुछ पहले सचमुच मेरे पास उर्दू के कुछ आमी यह कहते हुए दस्तखत माँगने आये थे कि हिन्दुस्तान की जम्हूरियत में उर्दू को कोई अपना इलाका मिलना चाहिए। मैं शुरू से उर्दू का प्रशंसक और हिन्दुस्तानी का समर्थक रहा हूँ। लेकिन मैंने उन्हें कहा कि उर्दू के हक में मैं नहीं समझ सकता कि एक छोटा या बड़ा इलाका पाकर आप कैसे उसकी मान सकते हैं। उर्दू उस सब दूर तक जा सकती है, जहाँ तक हिन्दी जाती है। आप उर्दू के होकर उसीके पैरों क्यों कुल्हाड़ी मारते हैं? प्रदेश की माँग अगर है, तो मैं उसे भाषा के सच्चे प्रेम का लक्षण नहीं मानता हूँ।

अंग्रेजी की अनिवार्यता

१७७. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमें अंग्रेजी को लेकर ही जाना पड़ेगा, इसके सिवा और कोई चारा नहीं है, आपकी यह बात मेरे गले नहीं उतरी। रूस चीन आदि कई देश हैं, जो चाहे अपेक्षाकृत ही सही अंग्रेजी का पूर्ण तिरस्कार करके चलते हैं और अपनी-अपनी राष्ट्रीय भाषाओं को लेकर ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उतरते हैं। तब भारत के लिए ही ऐसी अनिवार्यता आप क्यों मानते हैं?

भारत में अंग्रेजी व्याप्त सहज

—यहीं अंग्रेजी के प्रति कभी उनका तिरस्कार 'पूर्ण' नहीं हो सकता। यह ठीक है कि अंग्रेजी की निर्भरता से वे मुक्त हैं और भारतवासी जब अफसर-बेअफसर आपस में भी अंग्रेजी बोलते दीखते हैं, तो उनके मन में सचमुच विस्मय और अवज्ञा का भाव होता है। इसलिए आन्तरिक तौर पर भारत को भी अंग्रेजी के आश्रित

मानता कि आक्रान्ता भाषा थोप सकते हैं। आक्रान्ता के लिए जरूरी है कि आक्रान्त से अपना सम्बन्ध बनाये, अन्यथा आक्रान्ता के निकट अपना अर्थ ही समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध मे से ही एक नवीनता जन्म पाती है और एक नए समन्वय का सूत्र आरम्भ होता है। उर्दू का जन्म इस प्रकार हुआ। उर्दू आक्रान्ता लोग अपने साथ नही लाये थे। जिस भाषा को वे साथ लाये थे और जो भाषा हिन्दुस्तान मे पहले से मौजूद थी, दोनो के सगम मे से उर्दू उठी। धरती हिन्दुस्तान की थी। उर्दू जिसको कहा गया उसकी जमीन अपनी अलग नहीं है, फारसी-अरबीवाली ज़मीन नही है। यहीं से खडी बोली हिन्दी का भी जन्म हुआ। ऊपर के तबके के लोग, जो बादशाह के किसी कदर नजदीक थे, भारती की ज़मीन पर फारसी-अरबी के लफ्जो से काम लेते थे। सामान्य जन देशज और तद्भव शब्दो के सहारे चलते थे। यही खडी बोली यानी हिन्दुस्तानी हुई, जिसकी मजलिसी शैली पीछे जाकर उर्दू कहलायी। जनसाधारण मे वही खडी बोली हिन्दी बनी। दोनो के नीचे धरती अर्थात् व्याकरण आदि की भूमिका एक थी, शब्दो का ही हेर-फेर था। यह उर्दू थोपी हुई नही कही जा सकती, सगम की अनिवार्यता मे से उपजी ही कही जा सकती है। अग्रेज़ी की बात उससे भिन्न है। उर्दू हिन्दुस्तान के लिए किसी भी अर्थ मे विदेशी भाषा नहीं थी। विदेश मे बोली तो क्या जाती, कहीं समझी भी नही जा सकती थी। उससे भिन्न इंग्लिश थी ही इग्लैण्ड की। किन्तु अग्रेजी को जान-बूझकर अग्रेजी सल्तनत ने यहाँ जमाना और थोपना चाहा। इसके बावजूद अब आकर इस ऐतिहासिक तथ्य को व्यवहार के नाते हमे अपनाना ही पडेगा, और इस पर रुष्ट होने की भी आवश्यकता नही है कि अग्रेजी आज यहाँ एक अमुक वर्ग मे आम चलन की भाषा है। साक्षर वर्ग के बीच अन्त प्रान्तीय सार्वजनिकता के लिए तो मानो एक यही भाषा रह जाती है। परिस्थिति के इस तथ्य को मान लेना ही उचित है। फिर चाहे अग्रेज़ी-कूटनीति का हेतु इतिहास मे इसके पीछे कोई भी क्यो न रहा हो।

उर्दू का प्रादेशिक न होना उसका बल

इन दोनो भाषाओ के पास यदि अपने प्रदेश नही हैं, तो यह तर्क क्या उनके पक्ष में भी नही माना जा सकता? कल तक हिन्दी के विपक्ष मे ठीक यही तर्क दिया जाता था कि वह अपने सही रूप मे कहीं भी बोली नहीं जाती। अर्थात् हिन्दी किसी भी प्रदेश-विशेष की भाषा नही है। हिन्दीभाषी राज्यो मे सचमुच ही आप जनपदो तक जाइये, तो उनकी अपनी-अपनी बोलियाँ मिल जायँगी।

उससे भारतीय-जीवन के अभ्युदय और बाहर भारतीय प्रतिष्ठा में अवश्य बाधा आयी है। अगर आजादी के साथ स्वतन्त्र भारत भारतीय भाषा को अपना सकता तो हर क्षेत्र में भारतीयता का प्रभाव आ सकता था और दूतावासों में हमारे कूटनीतिक जन कुछ असली सुगन्ध बाहर ले जा सकते थे। ऐसा आज नहीं हुआ और यह खेद की बात है।

१०९. भारतीय विचारकों में आत्मनिष्ठा की इस कमी के क्या कारण थे? किन राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों ने उन्हें अंग्रेजी को बरकरार रखने और इस प्रकार उसे भारतीय जन-जीवन में एक स्थायी स्थान देने पर विवश किया?

आत्महीनता

—सबसे बड़ी बात तो यह धर्मवाद का प्रवाह है, जो वैज्ञानिक और औद्योगिक पश्चिम के देशों से बहकर भारत और यहाँ के शासक-वर्ग को मानो अपने आधार से उखाड़ कर ले गया। उस भौतिक-सम्पन्नता के व्यामोह में जान पड़ने लगा कि भारतीय भाषाएँ असमर्थ हैं, अंग्रेजी समर्थ और सबल है। आज भी शिकायत सुनी जाती है कि राज-काज दूसरी भाषाओं में चल नहीं सकता क्योंकि उनके पास आवश्यक शब्द नहीं हैं। विश्वविद्यालय के स्तर की शिक्षा का माध्यम वे भाषाएँ नहीं बन सकती हैं, क्योंकि उतना ज्ञान उन भाषाओं के पास नहीं है और पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं, इत्यादि। यह कठिनता हमको इसलिए अनुभव हुई कि हम कुछ ऊपर के वर्ग के लोगों का मानस पहले से उस बारे में ऐसा ही बन चुका था। हममें हीनभाव आ गया था और हमने अपने को जान-बूझकर नकल करनेवालों की स्थिति में कर लिया। अब तक राज्य-स्तर पर यह प्रक्रिया चल रही है और भारतीय वर्चस्व का स्पर्श वहाँ नहीं दिखाई देता है।

हिन्दी का मोर्चा उर्दू से ठना अंग्रेजी से नहीं

परिस्थिति के और निकट आयें तो स्वराज्य के समय साम्प्रदायिक भाव ने मूल राष्ट्रीय प्रश्न को हमारे सामने से तत्काल के लिए ओझल कर दिया था। भाषा के क्षेत्र में भी उस मनोभाव ने मुसीबत पैदा की। ऐसा मालूम होने लगा था कि हिन्दी को मोर्चा उर्दू से लेना है। इस तरह अंग्रेजी के साथ का हिन्दी का मोर्चा ढीला हो गया। उर्दू को गिराकर मानो हिन्दी तुष्ट हो गयी और उस समय पता न चला कि अंग्रेजी से जो उसे हारना पड़ा वही उसकी असली हार थी और यह क्षति राष्ट्रभाषा से आगे राष्ट्रभाव को भी पहुँची थी। हिन्दी का प्रश्न तभी से मानो राष्ट्र-स्तर से खिसककर धर्मीय और साम्प्रदायिक स्तर पर आ गया

नही रखना है। लेकिन आज के दिन भारत की ओर से यह आग्रह हो कि हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति पाये और उसी शर्त पर भारत अन्तर्राष्ट्रीयता मे भाग ले, तो वह उपयुक्त न होगा। रूस और चीन यदि अपनी-अपनी भाषाओ को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे काम करते हैं और अनुवाद का भार दूसरो पर छोड देते हैं, तो यह उनके लिए तर्क-सगत है। लेकिन भारत मे, ऐतिहासिक सयोग के कारण ही चाहे हो, अग्रेजी भाषा का परिचय इतना व्याप्त और सुगम रहा है कि फिर अग्रेजी का जान-बूझकर वर्जन करना और हिन्दी मे ही बात करना अहता और हठता का सूचक हो जाता है। उस प्रकार की अस्मिता को मैं उचित और आवश्यक नही मानता हूँ। भारत का वह इतिहास न रहा होता, जो कि रहा, तब प्रकृत था कि वह अपनी देश-भाषा लेकर समक्ष आता और उसीके द्वारा उसका आविष्कार शेष विश्व को प्राप्त होता। आज उसको प्राकृतिक नही कहेंगे, हठवादिता कहेगे। कल्पना की जा सकती है उस परिस्थिति की, जब भारत की राजनीति मे लोकजीवन का बल और प्रकाश आता है, भारत का सब कामकाज भारतीय भाषा मे होने लगता है, भारत का आत्मदान सही-सही अग्रेजी के द्वारा हो नही सकता और भारतीय भाषा भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सुनी जाती और वह स्तर पा जाती है। आज वह दिन और वस्तुस्थिति नहीं है। सामान्यतया प्रतीत होता है कि वह दिन यदि खीचकर ही न लाया जाय, तो स्थिति तक से निकट भविष्य मे आनेवाला नही है।

अग्रेजी को राज्य-भाषा रखना गलत हुआ

१७८ मैं समझता हूँ, हमारी प्रथम भारतीय सरकार ने अग्रेजी को राजभाषा के रूप मे ज्यो-का-त्यो रखकर बहुत बडी गलती की। यदि तत्काल ही किसी भी एक भारतीय भाषा को केन्द्र की राजभाषा का स्थान दे दिया जाता, तो पहले-पहल कुछ कठिनाई तो अवश्य होती, पर सदा के लिए पराधीनता का यह बंधन टूटकर बिखर जाता और तब पाश्चात्य और भारतीय दोनों सस्कृतियो का उचित और यथार्थ सम्मिश्रण भारतीय जन-जीवन मे हो पाता और, जैसा कल आपने कहा था, आपको यह शिकायत न होती कि, हमारे कूटनीतिज्ञ विदेशो मे जाकर भारतीय रह ही नहीं पाते। वे एकदम अभारतीय बने दीखते हैं।

आत्म-निष्ठा की कमी

—हाँ, उस विषय मे भारतीय विधायको ने आत्मनिष्ठा की अपने मे कमी दिखायी, यह मानना होगा।

उससे भारतीय-जीवन के अभ्युदय और बाहर भारतीय प्रतिष्ठा में चार चाँद लग जाती है। अगर साहस के साथ स्वतन्त्र भारत भारतीय भाषा को अपना सकता तो हर क्षेत्र में भारतीयता का प्रकाश आ सकता था और कुलाबों में हमारे छूट मौलिक जन कुछ उसकी सुगन्ध बाहर ले जा सकते थे। वैसा आज नहीं हुआ और यह खेद की बात है।

१७९ भारतीय विचारकों में आत्मनिष्ठा की इस कमी के क्या कारण थे ? किन राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों ने उन्हें अंग्रेजी को बरकरार रखने और इस प्रकार उसे भारतीय जन-जीवन में एक स्थायी स्थान देने पर विवश किया ?

आत्महीनता

—सबसे बड़ी बात तो यह कर्मवाद का प्रवाह है, जो वैज्ञानिक और औद्योगिक पश्चिम के देशों से बढ़कर आया और यहाँ के शासक-वर्ग को मानो अपने आधार से उखाड़ कर ले गया। उस भौतिक-सम्पन्नता के व्यामोह में जान पड़ने लगा कि भारतीय भाषाएँ अपर्याप्त हैं, अंग्रेजी समर्थ और सबल है। आज भी शिकायत सुनी जाती है कि राज-काज दूसरी भाषाओं में चल नहीं सकता क्योंकि उनके पास आवश्यक शब्द नहीं हैं। विश्वविद्यालय के स्तर की शिक्षा का माध्यम वे भाषाएँ नहीं बन सकती हैं, क्योंकि उतना ज्ञान उन भाषाओं के पास नहीं है और पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं, इत्यादि। यह कमीबेशी हमको इसलिए अनुभव हुई कि हम कुछ ऊपर के वर्ग के लोगों का मानस पहले से उस बारे में ऐसा ही बन चुका था। हममें हीनभाव आ गया था और हमने अपने को जान-बूझकर नकल करनेवालों की स्थिति में कर लिया। अब तक राज्य-स्तर पर यह प्रक्रिया चल रही है और भारतीय सर्वस्व का स्पर्श कहीं नहीं दिखाई देता है।

हिन्दी का मोर्चा उर्दू से ठना अंग्रेजी से नहीं

परिस्थिति के और निकट आवें तो स्वराज्य के समय साम्प्रदायिक भाव ने मूल राष्ट्रीय प्रश्न को हमारे सामने से उठाव के लिए ओझल कर दिया था। भाषा के क्षेत्र में भी उस मनोभाव ने मुसीबत पैदा की। ऐसा मालूम होने लगा था कि हिन्दी का मोर्चा उर्दू से बना है। इस तरह अंग्रेजी के साथ का हिन्दी का मोर्चा ढीला हो गया। उर्दू को गिराकर मानो हिन्दी तुष्ट हो गयी और उस समय पता न चला कि अंग्रेजी से जो उसे हारना पड़ा वही उसकी असली हार थी और यह क्षति राष्ट्रभाषा से आगे राष्ट्रभाव को भी पहुँची थी। हिन्दी का प्रश्न तभी से मानो राष्ट्र-स्तर से खिसककर धर्मीय और साम्प्रदायिक स्तर पर आ गया

६

अव्यवस्था और अपराध

व्यवस्था के लिए गोली-काण्ड

१८१ स्वतंत्रता के बाद आन्तरिक व्यवस्था और शान्ति का प्रश्न बहुत काफी जटिल रहा है। कितने ही प्रतिक्रियावादी तत्त्व हुए हैं और सरकार को उनका नियन्त्रण करना पड़ा है। कितने ही अवसरों पर सरकार ने गोलियाँ चलायी हैं, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से लोग मरे हैं घायल हुए हैं और धन-जन की क्षति हुई है। आपकी राय में एक राष्ट्रीय सरकार कितनी दूर तक व्यवस्था के नाम पर ऐसे कठोर कदम उठाने के लिए बाध्य है?

लोकतन्त्रीय दावे पर लाञ्छन

—शासन के पास पुलिस है और वह सामान्यतया प्रशासन के काम के लिए पर्याप्त होनी चाहिए। अपराध के प्रति पुलिस के पास रहे अस्त्र का भी उपयोग कभी हो सकता है। लेकिन सार्वजनिक आवेश यदि कोई ऐसे भड़क पड़ता है जिसके दमन और प्रतिरोध के लिए प्रशासन को गोली और लाठी का सहारा लेना पड़े तो इसको प्रशासन के लोकतन्त्रीय दावे पर लाञ्छन मानना होगा। वह सरकार अपनी लोकतन्त्रता के प्रति अविश्वास उत्पन्न करती है, जो सार्वजनिक मतावेशों और प्रदर्शनों में गोली चलाने पर उतरने को मजबूर होती है। वह प्रमाण इस बात का है कि सार्वजनिकता में सरकार के समर्थक इतने प्रबल तत्त्व नहीं हैं जो असामाजिक तत्त्वों पर भारी पड़ें और इस तरह सामान्यतया 'लॉ एण्ड आर्डर' को सुरक्षित बनाये रखें। गोली और फौज का उपयोग जिसे सार्वजनिक मामलों में करना पड़ता है, वह सरकार राजतन्त्रीय अधिक है, जनतन्त्रीय कम है यह आरोप साफ है। विशुद्धतः नैतिक अपराधों के अतिरिक्त गोली चलाने की वारदात होनी नहीं चाहिए। अन्तरंग शान्ति और सुरक्षा में फौज के उपयोग की नौबत आती है, तो बड़ी भारी त्रुटि है, यह मानना चाहिए। जनतन्त्र जनता के विश्वास पर चलनेवाला तन्त्र है यह यदि सच हो, तो जनता में स्वयं वे तत्त्व होने चाहिए, जो 'लॉ एण्ड आर्डर' को रक्षित बनाये रखें। अपराध वैयक्तिक होता है छिट-पुट युद्ध भी यदि होते हैं तो सार्वजनिक समर्थन उनको

और राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी जा पहुँची। इसमें बड़ा दोष मैं हिन्दी-नेतृत्व का मानता हूँ, जिसके पास समय पर कल्पना का अभाव देखा गया और निरा एक भाषा-मोह। गांधीजी ने हिन्दी को जो व्यापक परिभाषा दी थी और जिसकी बुनियाद मानकर वर्षों हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपना काम करता रहा था, साम्प्रदायिक प्रभाव के प्रवाह में वह वहाँ से डिग गया। जब राष्ट्र के लिए जो एक भाषा हो सकती थी, वह उसके पास से छिन गयी और खाली हाथों में अनायास अंग्रेजी आ बैठी, तो मानना चाहिए कि बाहर से आया यह पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव, और अपने भीतर से उठा खण्डित साम्प्रदायिक भाव, स्वदेश में विदेशी भाषा अंग्रेजी के राज्यभाषा के तौर पर ऊपर आ जमने के अनिष्ट के कारण हुआ।

१८० क्या कभी आपके मन में यह आशंका पैदा होती है कि भाषा के प्रश्न को लेकर देश का कोई भी भाग टूटकर अलग हो सकता है अथवा हो जायगा?

—राज्य और राज्य-नीति अगर हमारे बीच प्रधान बनी रही, तो भारत खण्ड-खण्ड हो, इसमें मुझे अचरज न होगा। भाषा जरूर इस काम आ सकती है, क्योंकि उसे पृथक् संस्कृति, पृथक् अस्तित्व आदि का प्रतीक और प्रमाण और आयुध बना लिया जा सकता है।

६

अव्यवस्था और अपराध

व्यवस्था के लिए गोली-काण्ड

१८१ स्वतंत्रता के बाद आन्तरिक व्यवस्था और शान्ति का प्रश्न बहुत काफी जटिल रहा है। कितने ही प्रतिक्रियावादी तत्त्व हुए हैं और सरकार को उनका नियमन करना पड़ा है। कितने ही अवसरों पर सरकार ने गोलियाँ चलायी हैं जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से लोग मरे हैं, घायल हुए हैं और धन-जन की क्षति हुई है। क्या किसी राज्य में एक राष्ट्रीय सरकार कितनी दूर तक व्यवस्था के नाम पर ऐसे कठोर कदम उठाने के लिए बाध्य है?

लोकतन्त्रीय दावे पर लाञ्छन

—शासन के पास पुलिस है और यह सामान्यतया प्रशासन के काम के लिए पर्याप्त होनी चाहिए। अपराध के प्रति पुलिस के पास रहे शस्त्र का भी उपयोग कभी ही पड़ता है। लेकिन सार्वजनिक आन्दोलन यदि कोई ऐसे भड़क पड़ता है, जिसके दमन और प्रतिरोध के लिए प्रशासन को गोली और लाठी का सहारा लेना पड़े तो इसको प्रशासन के लोकतन्त्रीय दावे पर लाञ्छन मानना होगा। वह सरकार अपनी लोकतन्त्रता के प्रति अविश्वास उत्पन्न करती है जो सार्वजनिक मतावेशों और प्रदर्शनों मे गोली चलाने पर उतरने को मजबूर होती है। यह प्रमाण इस बात का है कि सार्वजनिकता मे सरकार के समर्थक इतने प्रबल तत्त्व नहीं हैं जो असामाजिक तत्त्वों पर भारी पड़ें और इस तरह सामान्यतया 'लॉ एण्ड आर्डर' को सुरक्षित बनाये रखें। गोली और फौज का उपयोग जिसे सार्वजनिक मामलों मे करना पड़ता है, वह सरकार राजतन्त्रीय अधिक है, जन तन्त्रीय कम है, यह आरोप साफ है। सिद्धान्ततः नैतिक अपराधों के अतिरिक्त गोली चलाने की वारदात होनी नहीं चाहिए। अन्दरूनी शान्ति और सुरक्षा में फौज के उपयोग की नौबत आती है तो वहीं कहीं चूक है यह मानना चाहिए। जनतन्त्र जनता के विश्वास पर चलनेवाला तन्त्र है, यह यदि सच हो, तो जनता में स्वयं वे तत्त्व होने चाहिए जो 'लॉ एण्ड आर्डर' को रक्षित बनाये रखें। अपराध नैमित्तिक होता है छिट-पुट पुट भी यदि होते हैं तो सार्वजनिक समर्थन उनके

पीछे नही होता और इसलिए वे चोरी-छिपके काम करते हैं। खुला द्रोह यदि सामने दीखे और उसके शमन के लिए सरकारी लाठी-गोली के सिवा कोई उपाय न रह जाय, तो इसमें शासन की हार है, क्योंकि कोरे प्रशासन की जीत है। भारत मे स्वराज्य आने के वाद काग्रेसी सरकार को अनेकानेक वार गोली का सहारा लेना पडा है और इससे काग्रेसी सरकार निर्बल बनी है। स्वय गोली पर उतरकर उसने जनतन्त्रीय भाषा मे अपनी निर्बलता प्रकट की है। इतना ही नहीं, निर्बलता की राह को भी स्वीकार किया है। यदि जनतन्त्रीय रहने का उसका सकल्प हो, तो इस असमर्थता को लेकर उसे शासन से उतर आना चाहिए और समाज में अहिंसक तत्त्वो का वल वढाने में लगना चाहिए। ऐसा नहीं, तो लोकतन्त्र जाने-अनजाने राजतन्त्र की ओर वढ़ रहा होगा, इसमे सन्देह की गुजाइश नहीं है। दण्ड से होनेवाला शासन राजतन्त्रीय है। लोक-विश्वास के वल से चल सकनेवाला शासन ही लोकतन्त्रीय कहला सकता है। सच्चा लोकतन्त्रीय शासन हिंसा के व्यापक उपकरणों के उपयोग में नहीं गिरेगा, यह मान लेना चाहिए।

विरोधी दलो की जिम्मेदारी

१८२ वहुधा ऐसा हुआ है कि विरोधी राजनीतिक दलो ने गैरजिम्मेदार रूप में काम किया है और अपने राजनैतिक हितों को वढ़ावा देने के लिए जनता के इस या उस वर्ग को अनुचित रूप से उत्तेजित किया अथवा किसी भी एक समस्या का दुरुपयोग सरकार के विरुद्ध क्षोभ पैदा करके किया है। ऐसी स्थिति मे काग्रेसी सरकार क्या, कोई भी सरकार होती तो उसे गोलियों का आश्रय लेना पडता—काग्रेस-नेताओं के इस तर्क से आप कितनी दूर तक सहमत हैं?

गोली-काण्ड विरोधी दलों की जीत

—सकट की स्थिति थी, इसीलिए गोली चली, यह सौ फी सदी सच है। शौक के लिए गोली चलानेवाला पागल हुआ करता है, शासक नही हो सकता। इसलिए यह प्रश्न ही नहीं है कि सरकार सफाई दे कि परिस्थिति की किस मजबूरी में गोली चलानी पडी। सफाई तो हो सकती है और होती है। इन हालतो मे सरकार के पास अवश्य अपना केस होता है और उसमें एक तर्क-सगति भी होती है। किन्तु प्रश्न दूसरा है और वह यह कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न क्यो हो आती है? विरोधी दलो मे यह शक्ति हो कि हिंसा करवा लें, तो जीत विरोध की होती है। शासन जनतन्त्रीय है, तो इसका मतलब यह है कि हिंसा की वैधानिक शक्ति समाज ने अपनी ओर से अमुक वहुमतवाले दल को सौंप दी है और समाज स्वेच्छा

से उससे विमुक्त हो गया है। अगर वह विमुक्त नहीं है, अवैध हिंसा समाज में इतनी मौजूद है कि शासन की वैध हिंसा से ही उसका मुकाबला किया जा सकता है, तो जनतन्त्रता और लोकतन्त्रता जैसे शब्द गिर जाते हैं। इन शब्दों में ही गर्भित है कि केवल वह हिंसा समाज में शेष बची है, जो वैयक्तिक और छिटपुट अपराधों के रूप में प्रकट होती है। शेष उस हिंसा की आवश्यकता को सरकार को सौंप दिया गया है। लोकतन्त्रीय शासन का इसके सिवा दूसरा अर्थ नहीं है। इसलिए कांग्रेसी शासन विरोधी राजनीतिक पार्टियों को दोष दे सकता है वे दोष सही भी हो सकते हैं लेकिन ऐसा वह करे, इतने में ही सिद्ध हो जाता है कि वह पूरा लोकतन्त्रीय नहीं है।

शासन हिंसा का उपकरण

अन्त में यह स्वीकार करना चाहिए कि शासन स्वयं कुल मिलाकर, अहिंसा का नहीं हिंसा का उपकरण है। इसलिए सच्चा और सही आदमी शासक कभी बनेगा ही नहीं। वह जनता में ही रहेगा उसके सिर पर नहीं बैठेगा। शासन को इस तरह जान-बूझकर अमुक परिस्थितियों में हिंसा को अपनाने की छूट रहती है। वैसा न होता तो फौज और अस्त्र-शस्त्र का अर्थ ही न था। उस हिंसा को वैध और उचित भी मान लिया जाता है। लेकिन शासन-सत्ता का विकास हिंसा से अहिंसा की ओर है। और सरकार वह सफल है, जिसे सरकारपन की कम-से-कम जरूरत होती है। मत-शासन उत्तरोत्तर दण्ड-शासन से दूर और उन्नत होता जाय इसीमें शासन की सार्थकता है। कांग्रेसी शासन को तो और भी इस प्रवृत्ति की दिशा का ध्यान रखना है, क्योंकि वह गांधी-परम्परा और आशीर्वाद में से हुकूमत तक पहुँचा है।

असहयोग और आज्ञा-भंग

१८३ गांधीजी ने असहयोग और आज्ञा-भंग को सत्याग्रह के विशेष अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया था और विद्यार्थियों को अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध वैसा करने के लिए आकृष्ट किया था। पर आज्ञा-भंग की यही प्रवृत्ति आज राष्ट्रीय सरकार के सामने एक भीषण समस्या बन उठी है। जिसको जरा भी असन्तोष अथवा क्षोभ हुआ है और जो कुछ लोगों को अपने चारों ओर इकट्ठा कर सकता है वह सरकार के साथ मोर्चाबन्दी करने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसी परिस्थिति को शुभ नहीं माना जा सकता। आज्ञा-भंग की इस प्रवृत्ति के उन्मूलन के लिए आप क्या सुझाव पेश करते हैं?

राजनीतिक कांग्रेस के पास आकर मानो अपना आध्यात्मिक और वैचारिक महत्त्व खो बैठा। कांग्रेस ने अवज्ञा को लिया सविनय को छोड़ दिया। भय को लिया भद्र को छोड़ दिया। कांग्रेसको तात्कालिक फल की आवश्यकता थी और विद्यार्थियों, श्रमिकों, ग्रामीणों को कर्तव्य में नहीं केवल आवेश मे उभारकर वह फल पाया जा सकता था। गांधीजी उत्तेजना से एकदम काम नहीं लेना चाहते थे। उसे लम्बी प्रेरणा बना लेना चाहते थे जो उफन और उबलकर बैठ नहीं जाती जिन्दगी को अन्त तक चलाये जाती है। गांधीजी का बल सविनय और भद्र इन विशेषणों पर इतना था कि अवज्ञा और भय का इनके अभाव मे वे विचार नहीं कर सकते थे। विनम्रता और भद्रता वह हर हालत मे अपनाये रखने के स्थायी गुण थे। उनके बिना जैसे मनुष्य को अपना प्राथमिक अधिकार भी नहीं प्राप्त होता था। कांग्रेस के लिए ये विशेषण मानो केवल गांधीजी के नाते स्वीकार्य थे अन्यथा वे उसके मन के नहीं थे। वे मानो राजनीतिक तेज को पीसने-वाले थे प्रकट करनेवाले नहीं थे। कांग्रेस का यह अधैर्य फलाशा मे यह उसका नैतिक मूल्यो को उपेक्षा देना अब प्रतिपक्ष मे उसी पर लौट कर आ रहा है, तो कांग्रेसी शासन को बड़ा अजब मालूम होता है। स्वराज्य की लड़ाई में जो राजनीतिक प्रशिक्षण दिया और जिसके नैतिक अंश को अनावश्यक मानकर हमने छोड़ दिया वही आज के राजनीतिक परिपाक मे फलता आ रहा है। इनकलाब अगर प्रिय मे मूल्य है तो लीजिये युनिवर्सिटी के ये सारे जवान इस मूल्य को ऊँचा उठाकर इनकलाब करते बढ़े चले आ रहे हैं। आप उस इनकलाब को लाठी-गोली से क्यो खतम करना चाहते हैं? आपको शिकायत शायद यह है कि ये जवान जैसे उच्छृंखल हैं, अशिष्ट हैं, असभ्य हैं, वे उत्पात और उपद्रव करते हैं आदि। तो आपने विनय और भद्रता को इतना अनिवार्य कब माना था?

सत्याग्रह धर्म-युद्ध

मैं मानता हूँ या तो हमको लौटकर मूलभूत विचार की व्याख्या मे पहुँचकर शासन की वैध हिंसा की शरण लेनी और विद्यार्थियो की अनुशासन-हीनता को ऊपर से दबाने मे लगना होगा अन्यथा गांधीजी ने अजस्र शान्ति के मन्त्र के रूप मे महाशक्तिशाली और विस्फोटक सत्याग्रह का जो तत्त्व दिया उसको अपने पूरे फलितार्थ मे स्वीकार करना होगा। वह यह कि सत्याग्रह धर्म है हक है कर्तव्य है लेकिन शर्त के साथ कि पूरी तरह वह सविनय और भद्र हो। यह विनय और भद्रता की शर्त मानो सारी राजनीतिक शक्ति को वास्तविक धर्म दे देती है। उसकी ध्वंसात्मकता को नष्टकर रचनात्मकता प्रदान करती है।

अवज्ञा दल नहीं, व्यक्ति करे

—सही कहते हो। फल वह मिलता है, जो हम वोते हैं। अवज्ञा, आज्ञा-भग, इन्कलाव जिन्दावाद आदि की शिक्षा देते समय हमे प्रिय लगा था। भोगते समय जान पडता है कि वह शिक्षा सही नही थी।

यह वात भी सही है कि कानून की अवज्ञा और कानून का भग व्यक्ति के हक मे दाखिल हुआ, तो यह गावीजी के कारण था। कानून का मुकावला तो सदा ही होता आया है। लेकिन उस मुकावले को अपराध माना जाता था, द्रोह माना जाता था। गाधीजी ने अधिकार और कर्तव्य के रूप मे समाज-जीवन मे इसका प्रवेश किया। यह बहुत ही विस्फोटक तत्त्व था। गाधीजी ने उसके सहारे एक अभूतपूर्व जागरण भारत देश मे पैदा कर दिया और मैं समझता हूँ कि तत्त्व-चिन्तन के लिए नयी सामग्री भी प्रस्तुत की। समाजवादी विचार के सामने यह वडा प्रश्न गाधीजी ने रख दिया। मैं मानता हूँ कि ठीक यही खतरनाक चीज है, जो गाधीजी का सवसे वडा कीमती दान है। समाजवादी विचार न्याय और अधिकार को वहुमत के हाथ मे दे देता है। मानो इस तरह सत्य ही स्वय वहुमत के पास पहुँच जाता, वन्द हो जाता है। गाधीजी ने यह विस्फोटक सिद्धान्त दिया कि एक अकेला आदमी भी सारी दुनिया के सगठन के खिलाफ खडा हो सकता है। सगठित कानून की अवज्ञा कर सकता, उसका भग तक कर सकता है। सकता नहीं, वल्कि चाहिए। और जब तक एक व्यक्ति और नागरिक इस प्रकार वर्तन करता है, तो प्रगति का मन्त्र और तन्त्र सगठित सत्ता के पास न रहकर व्यक्ति के और व्यक्तियो से वने समाज के पास आ जाता है।

क्रान्तिकारी विचार

यह विचार क्रान्तिकारी विचार है और समाजवादी-साम्यवादी आदि सव सामाजिक विचारणाओ के लिए चेतावनी वन जाता है। मानो तमाम भौतिक विचारधाराओ के सम्मुख यह अध्यात्म को प्रतिष्ठित कर देता है। अर्थात् यह विचार इस मूलतत्त्व को स्थापित करता है कि ऊपर से आनेवाला सचालन, इसीलिए कि ऊपर से और वाहर से आता है, सत्य नही है। सचालन भीतर से आता है और वही सत्य है। अन्त करण मे वह प्रक्रिया है, जिससे इतिहास वनता है और काज चलता है। उसीसे जगत्-व्यवस्था चलेगी तो समाधान होगा, अन्यथा वहुसख्यकता का सत्य असत्य हो जा सकता है।

अवज्ञा, पर सविनय

लेकिन गाधी का यह नवाविष्कृत क्रान्तिकारी विचार भारत की राष्ट्रीय और

और उसे अधिक रचनात्मक एवं कल्पनाशील बनाते ? शिक्षा के इस अपरिवर्तित पुराने ढर्रे-ढांचे को और उसके माध्यम से शिक्षार्थियों को आप कितनी दूर तक वर्तमान 'लॉ एण्ड आर्डर' की समस्या का कारण मानते हैं ?
—जी नहीं। नेहरू और आजाद इसलिए नहीं हैं कि मेरी और आपकी इच्छाओं से चलें। क्या वे अपने में व्यक्ति न रहें ? क्या इतना भी अधिकार न रखें कि अपने को अपनी समझ से चलायें ?
यह हमारी नासमझी के सिवा क्या है कि अपनी समझ को हम दूसरों के कन्धों बिठाकर चलता हुआ देखना चाहते हैं। यह बुद्धि का विकार है, जो प्रश्न को इस रूप में रखता है।

क्लर्कों का उत्पादन

नेहरू-आजाद को इच्छा हम आराम रहने दें। उसके बाद हाँ यह सच है कि आज की शिक्षा का ढांचा औंधा है। मूलतः यह ढांचा वही है, जो क्लर्कों की जरूरत के लिए अंग्रेज हाकिमों को सूझा था और उनके द्वारा चलाया गया था। विडम्बना तो यह है कि क्लर्कों की आज भी सरकार को जरूरत रहती है। बेतहाशा बढ़ गये हैं, फिर भी उनसे अनेक गुने दरख्वास्तें देते रहते हैं और कुछ उनमें से क्लर्की की जगह पाते भी रहते हैं। मुझे बताइये कि जो क्लर्क बनने के लिहाज से पढ़ते और क्लर्क बन पाते नहीं हैं, वे दूसरा काम करें तो करें क्या ? इसलिए जब तक वे क्लर्क नहीं बनते हैं तब तक रोजगार से खाली अपने दिमाग में फितूर भरने से कैसे बच सकते हैं ? मेहनत के और मेहनत के काम अगर कुछ पड़े भी हुए हों तो वे उन्हें करें भी कैसे क्योंकि आखिर अपनी पढ़ाई को व्यर्थ कैसे करें ? इतनी मेहनत-मुसीबत और पैसे के खर्च से स्कूल-कालेज से सर्टिफिकेट उन्होंने पायी है वे अपनी शिक्षा के प्रति क्या झूठे न बनेंगे अगर उस सर्टिफिकेट के सिवा कुछ भी और करने लायक हो सकेंगे ? जरूरी है उनके लिए कि साफ, बढ़िया और फैशनेबिल कपड़े पहनें, सधी हुई महंगी जिन्दगी रखें और अगर क्लर्की से गुजर-बसर से माँ-बाप से इस सब बड़े बड़े लिबास और तौर-तरीके के लिए पैसा नहीं आता है, तो कहीं-न-कहीं से छल-छिद्र से, चोर-जुर्म से पैसा बनायें।

राजनीतिक दलों के लिए कच्चा माल

मैं नहीं मानता कि इसमें बेरोजगार युवकों की गलती है क्योंकि आखिर पढ़ाई लिखाई ने उन्हें बनाया और सँवारा है। वे मामूली देहाती या किसान-तरीके नहीं रह सकते। पसीना बहाने का काम नहीं कर सकते। इसलिए खाली का जो

विद्यार्थी राजनीति के चक्कर में

युवक-शक्ति देश की सबसे बडी देन और थाती हुआ करती है। वह साक्षर हो, तब तो उस शक्ति का कहना ही क्या ? वही यदि नकारात्मक बन आये तो दोष उन मूल्यो का है, जिनसे समाज और राज्य चलते हैं। उपाय यह नही है कि युवको का दमन और दलन हो। उपाय यह है कि उनमे रचनात्मक स्वप्न जागें और उनकी सामर्थ्य-सम्भावनाओ को अवकाश और मार्ग प्राप्त हो। नैतिक वर्जनाओ से काम नहीं चलनेवाला है। उनसे शक्ति दबती और बुझती हो, तो यह जीवन-तर्क के प्रतिकूल हो जायगा। उनमें जो अपने प्राणो को प्रयोग में डालने की आतुरता है, खतरा उठाने का हौसला है, तो ये तत्त्व कीमती हैं। निषेध और विरोध मे इसलिए लगे हैं कि विधायक और रचनात्मक उनके पास कुछ नहीं है। यदि आबहवा राजनीतिक रही और वही रीति-नीति समाज मे ऊपर उठने और सफल होने की बनी रही, तो विद्यार्थियो को उस ओर से किसी तरह विमुख नहीं किया जा सकेगा। दलवाद अगर हमारे राज्य को चलानेवाला है, तो गुटवाद हमारे विद्यार्थियो को क्यो न चलायेगा ? जीवन एक और समग्र है। हम अपने लिए एक नीति रखें और विद्यार्थियो मे उससे कोई दूसरी नीति चले, तो यह नहीं होनेवाला है। विश्वविद्यालय मे वही चलेगा, जो बाहर समाज मे चल रहा होगा। केवल इस सुविधा से कि हमारी उम्र कुछ बढ गयी है और हम विद्यार्थी नहीं रह गये हैं, ऐसा नहीं हो सकता कि हम दलबाजी और जगबाजी से चलें और नीति-पालन और अनुशासन आदि को विद्यार्थियों के लिए छोड दें। वे बालक अन्त मे हमारे हैं और हमसे भिन्न नहीं हो सकते। बालको के लिए माता-पिताओ को और विद्यार्थियो के लिए नेता-प्रणेताओ को स्वय अपने से आरम्भ करना होगा। ऊपर राजनीति मे जो चलता है, विद्यार्थी आखिर पढ-लिखकर क्या उसे देखने-समझने के लिए आँख ही नही पा जाता है? वह मूर्ख और अपढ समझा जायगा, अगर अपने बडो से इतना भी नही सीखेगा कि अगर उनसे आगे बढ़कर नही दिखा सकता है, तो उनका अनुकरण तो करे। इसीसे राजनीति का बोलबाला विद्यार्थियो के बीच खूब दिखाई देता है, उसका अभ्यास भी कराया जाता है। यूनियनवाद मानो उनके प्रशिक्षण का अग है। तब फल कुछ दूसरा कैसे आ सकता है ?

शिक्षा का ढचर ढांचा जिम्मेदार

१८४ स्वतन्त्रता के एकदम बाद क्या नेहरू और मौलाना आजाद को नहीं चाहिए था कि पुरानी नौकरशाही के ढांचे पर चलनेवाली शिक्षा में अनिवार्य परिवर्तन करते

इन्सान का सवाल अहम

इस तरह व्यक्ति में दोष नहीं है, दोष दृष्टि में है। दृष्टि यह भ्रमपूर्ण है कि राज्य के सवाल अहम सवाल हैं, इन्सान के सवाल दोयम हैं। आदमी का दुःख पहली और मूल वास्तविकता है, बाकी चीजें धारणाएँ हैं, जो बनाने से हमारी और बड़ी बनी हुई हैं। धारणाओं के पीछे लपकने से माया को जन्म मिलता और आडम्बर पैदा होता है। यह दृष्टि मरीचिका के पीछे पड़े राजकारण को उपजाती है। जो एक-एक के दुःख को ओझल नहीं करती बल्कि उसको गिनती में लेती है, वह मानवीय और यथार्थ दृष्टि है। इस दृष्टि से चीजें चलेंगी और चलती जाएँगी तब समाधान की कुंजी काम में आती ऐसा लग सकता है।

१८५. नैतिक, चारित्रिक एवं धार्मिक शिक्षा के तिरस्कार, प्राचीन मर्यादाओं के भंग तथा नवीन मर्यादाओं के निर्माण में पूर्ण असफलता को आप कितनी दूर तक भारत के जन-जीवन के हर क्षेत्र में बढ़ती जानेवाली अपराध-वृत्ति का जिम्मेदार ठहराते हैं?

शिक्षा-क्षेत्र में पैसे का गजब

—मैं एक शब्द कहूँगा कि शिक्षा के क्षेत्र में पैसे के प्रवेश से बड़ा गजब आया है। उससे गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बिगड़ गया है, शिक्षण-संस्थाओं का वातावरण फिर गया है और शिक्षा का क्रम वर्गों में उलट-पलट गया है। शिक्षण-संस्थाओं में स्तर बन गये हैं और बड़े आदमियों के लड़के एक तरह के स्कूलों में, मध्यम के दूसरों में और साधारण के किन्हीं तीसरों में ही जाते हैं। पुराने गुरुओं के आश्रमों और गुरुकुलों में यह भेद-बरताव नहीं सुना जाता था। पैसे की यह प्रधानता भारतीय संस्कृति के मूल्यों को ही उलट देती है। उन मूल्यों की पहचान चातुर्वर्ण्य के क्रम से समझी जा सकती है। सबसे ऊपर और सर्वोत्तीर्ण संन्यासी होता था। वह अनिकेतन और अकिंचन हुआ करता था। स्वत्व के नाम पर उसके पास कुछ न था, भिक्षा उसकी वृत्ति थी और परिव्रजन उसका काम था। सबके सुख-दुःख में मिलकर रहता था और इसी तरह निजी सुख-दुःख से उत्तीर्ण भी बना रहता था। समाज के लिए सर्वोच्च मूल्य का वह व्यक्ति था। पैसा उसके लिए निषिद्ध था और तन की तात्कालिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त न कुछ वह रखता था न लेता था। पैसा प्रधान समाज में ठीक वही आदमी है, जिसका नितान्त अवमूल्यन हो जाता है। उसका उपयोग शून्य तक ही नहीं पहुँचता, बल्कि इस अर्थ में ऋणात्मक बन जाता है कि समझा जाता है वह खाता तो है, उपजाता नहीं है। पहले वही व्यक्ति समाज का शिक्षक और दीक्षक होता था।

शुगल रह जाता है, वह यह कि राजनीतिक पार्टियों के अलमबरदार बनें, शान्ति में कम कोई बात न करें। यह तबका है, जो राजनीतिक दलों के लिए कच्चा माल मोहय्या करता है। शिक्षा सीधे उस कच्ची सामग्री को तैयार करने में लगी हुई है, यह स्वीकार करना चाहिए। आजाद गये, नेहरू हैं। उनकी शिक्षा, एक रोज उन्हें पता चलेगा कि, उनके राज की जड़ों को खोद रही थी। सीधे खोदती और जतलाकर खोदती, अगर तो एक बात भी थी। वह शिक्षण की शोभा भी हो सकती थी, जैसे खुद नेहरू पर ईटन और कैम्ब्रिज की शिक्षा सुशोभित बन गयी। इंग्लैण्ड से पायी और इंग्लैण्ड को दूर करने के काम आयी, तो नेहरू से ऐसे उस शिक्षा को एक गौरव ही प्राप्त हुआ है। लेकिन शिक्षित युवकों में वैसा कुछ जानदार यहां नहीं हो रहा है। जो हो रहा है, वह यह कि जाने-अनजाने समाज और राज्य की सीवन उघेड़ी जा रही है और सरकारी शिक्षा में सरकारी दुश्मन पैदा हो रहे हैं। शायद नेहरू यह अनुभव करते भी हैं, लेकिन समस्याएँ इतनी राजनीतिक उनके पास रहती हैं, राजनीतिक हों, तभी उनमें उन्हें रस भी विशेष होता है। इस तरह की ठण्डी समस्याओं के लिए ठण्डा दिमाग उनके पास नहीं बचता है, न कोई ठण्डी फुरसत मिल पाती है।

शिक्षण राज्य से स्वतन्त्र हो

उधर एक विनोबा हैं जो कहते हैं 'शिक्षण राज्य से स्वतन्त्र हो।' राज्य की जिम्मेदारियों को वे जानते और तब कहते तो एक बात थी। उन जिम्मेदारियों में घिरे और परेशान तो नेहरू हैं। वे इसलिए कह दें कि हटाओ इस शिक्षण को और लो, तुम दूसरे लोग इसे सँभालो, तो कुछ अर्थ भी हो। लेकिन उन सब परेशानियों के बावजूद, वक्त की और ठण्डक की कमी रहते भी, राज्य की जिम्मेदारी को वे महसूस करते हैं और उसे उठाये रखना चाहते हैं। वक्त न दे पायें, तो भी वे देखते हैं कि वेलफेयर स्टेट का काम है कि देश के बालकों को शिक्षा दे और कामिल इन्सान बनाये। शिक्षा के मिनिस्टर और संस्कृति-विज्ञान के लिए दूसरे मिनिस्टर, दोनों मिनिस्ट्रियों के बजट कोई हल्के नहीं हैं। यह सारी जिम्मेदारी शिक्षा की राज्य पर आती है और राज्य उसको पहचानता है। दोष हो सकते हैं, कमियाँ हो सकती हैं और सबका मशविरा और सहयोग इसके लिए चाहिए। त्रुटियाँ हैं तो वे हमारी हैं और हम बड़े-बड़े सवालों के बीच हैं। आप आलोचना करते हैं और ठीक करते हैं। लेकिन अगर इरादा हो, तो आइये और काम में हमारी मदद कीजिये।

इस प्रकार कुण्ठित होती है और हमारे पास बौने व्यक्तित्व रह जाते हैं। राज्य की आवश्यकताएँ आज हो सकती हैं कि सिपाही मिलें कल हो सकती हैं कि क्लर्क प्राप्त हों तीसरे दिन इंजीनियर आदि-आदि। उस समय सारे शिक्षण की मशीन को इन नमूनों के लोगों को ढालने में लग जाना पड़ता है और काम कुछ ऐसे होता है, जैसे कारखाना में हुआ करता है। आदमी को उत्पादन अथवा उपयोजन के यन्त्र तक सीमित कर देना उसको आध्यात्मिक सम्भावनाओं से वंचित कर देना है। मनुष्य यदि मशीन है तो ईश्वरीय और चेतन मशीन है और उसे चैतन्य एवं ईश्वरत्व से तोड़कर केवल दैहिक अथवा भौतिक यन्त्र बना देने से मनुष्य की सम्भावनाओं के साथ न्याय नहीं हो पाता। याद रखिये कि स्वयं भौतिक क्षेत्र में जो उपलब्धि हुई है, वह आत्मवान् पुरुषों द्वारा मिली है। जाँच देखिये अधिकांश वैज्ञानिक क्षेत्र में नया दान देनेवाली प्रतिभाएँ कॉलेज और विश्वविद्यालयों से निकली हुई न मिलेंगी। मानो आत्मरता और स्वाधीन चिन्तना में से उनकी मेधा का विकास और निर्माण हुआ था। शिक्षण से बाहर रह जानेवाले व्यक्तित्व के इस चिन्मय मर्म-तत्त्व को जो शिक्षण-विधि जितना ध्यान में रख सकेगी उसको अवकाश और विकास दे सकेगी मानव-क्षेत्र में वह उतनी ही सफल हो सकेगी। पाठ्य और परीक्षा पर अधिक जोर देने से उस चिन्मय तत्त्व का सत्कार और संस्कार नहीं होता बल्कि तिरस्कार हो जाता है। पाठ्य-पुस्तक और परीक्षा-प्रणाली सहायक होनेभर के लिए हैं। आज तो उनका आतंक है। मालूम होता है कि ज्ञान का माप उनमें बन्द है। ऐसा हुए बिना नहीं रहेगा अगर हम शिक्षण के द्वारा लोक माल पैदा करना चाहेंगे। राज्य की आवश्यकता से बढ़कर विषय मानो कारखानों और मिलों की तरह ही विश्व विद्यालयों में मास-प्रोडक्शन की नीति पर चलने लगता है और माँग-पूर्ति के भीतर से उसका नियमन भी होने लगता है। एक कमरे में बैठकर विधायक तय करते हैं कि पास परसेंटेज अब बढ़ना चाहिए या घटना चाहिए। विद्यार्थियों से और उनकी क्षमता से उस निर्णय का कोई सम्बन्ध नहीं रहता किन्हीं और दृष्टियों से नीतियों का निश्चय हो जाता है। क्या अब मैट्रिक क्लास का परसेंटेज पचास प्रतिशत काफी होगा क्योंकि अधिक विद्यार्थियों की संख्या विश्वविद्यालय की व्यवस्था अब नहीं ले सकती—चेतन प्राणियों और बालकों के साथ यह काठ-पत्थर जैसा नाप-तौल का बर्ताव क्या वैज्ञानिक कहा जायगा? सही निगाह से देखें, तो यह एक अमानुषिक अनीति ठहरता है। लेकिन जब एक बार हम मानव-व्यक्ति को अन्तःसम्भावनाओं की ओर से देखने से इनकार कर देते हैं और बाहरी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर से निर्णय करते हैं, तो ऐसी हृदय

उसकी आजीविका या वृत्ति का प्रश्न हो रहा था। अब डिग्री उसको कुर्सी पर बैठे राज्य-पदाधिकारी बना के पास ले जा सकती है और फिर तनख्वाहदार कुर्सी से मिल जाती है। यह सुविधा इतनी कम लुभावनी होती है कि उसका ध्यान ऊपर से एक क्षण के लिए नहीं हटता और समाज में यह आकांक्षा ईर्ष्या फैलाती है। डिग्री कमाने और पैसा कमाने के ध्यान का मेल इस तरह आसानी से बैठ जाता है। इस बालक को शिक्षण देने के बजाय उसकी शिक्षा पाने की इच्छा इस कदर गलत मालूम होती है। पैसे से शिक्षा और डिग्री आसानी से मिलती, जीवन की शिक्षा नहीं होती, जीविका की शिक्षा होती है। ज्ञान तब डिग्री से दरिद्री पाता है। डिग्री पाने के बाद सीखा हुआ सब भुला भी दिया जाय, तो हानि नहीं। और नतीजा यह सब भूल जाने से ही आगे बढ़ा जाता है। अपवाद यह है दमित विकृत होना था। कलाकृतियाँ अब माँग और आदान नहीं पाती हैं, तो तारतार दिया जगाती हैं। पैसे से उन्नेशाल्य समाज इस प्रकार के नाना दबावों की सृष्टि करता और फलस्वरूप अपकर्मों को उत्तेजन देता है। सीधा आदान-प्रदान रुक जाता है, पैसे के अर्थात् राज्य के माध्यम से ही वह सम्भव बनता है। इस प्रकार मानव-सम्बन्धों के बीच एक कृत्रिम प्रभाव का प्रवेश हो जाता है। मालूम होता है कि मानवीय गुण सीधे समाज-जीवन को नहीं सम्भाल और चला पाते, बल्कि दूसरी कृत्रिमताओं के बीच में आ जाने के कारण से सब मन्द और आड़े-टेढ़े हो जाते हैं। अर्थ-प्रधान और राज्य-प्रधान समाज में अनायास श्रमनिष्ठा कम होती है और नाटुकारों का एक वर्ग खड़ा होता है। श्रम के अभाव में भी यह वर्ग ऊँचा चढ़ता जाता है और इस तरह सारे समाज की श्रद्धा को, समाज-मूल्य को ही, बिगाड़ देता है। मानना होगा कि यह समय अर्थ-प्रधानता का है और इसीलिए मानवीय गुणों की अपेक्षा से सकट का भी है।

शिक्षा का प्रश्न माँग-पूर्ति से नियन्त्रित न हो

शिक्षण का प्रश्न जीवन का प्रश्न है। उसको सीधा राज्य-व्यवस्था से जोड़ना सही नही है। राज्य की तात्कालिक आवश्यकता को जब सारे शिक्षण-विधि का इष्ट बना दिया जाता ह, तो जीवन के आशय से उसका विच्छेद हो जाता है। परिणामत हमको व्यक्तित्व-सम्पन्न मानव नही प्राप्त होते हैं, केवल तत्काल की आवश्यकता की दृष्टि से उपयोगी जन मिलते हैं और कुल मिलाकर समाज घाटे मे रह जाता है। व्यक्तियो की समूची अन्त सम्भावनाएँ प्रकट और विकसित नही होती हैं, बल्कि केवल गढ-गढ़ाकर उनको अमुक आवश्यकताओ की पूर्ति के लायक बनाकर सन्तोष मान लेना पडता है। अभिक्रमशीलता और सृजनशीलता

सम्बन्ध में सावधान होकर चलना होगा। बल्कि सच्ची भाषा में स्वयं धार्मिक होकर उस पर विचार करना होगा।

मर्यादाओं का प्रश्न

मर्यादाओं का प्रश्न भी विचारणीय है। मर्यादाएँ बाहरी नियम में परिलक्षित होती हैं, तब तक मानो वे स्थिति का स्वरूप और प्रतिबिम्बित नहीं करती हैं व्यवस्था की ओर से नियुक्त नीति की ही घोषणा करती हैं। मर्यादा काम की वे हैं, जो वस्तुस्थिति में समा रहती हैं, आदेश के तौर पर ऊपर से नहीं आती। अर्थात् मर्यादाओं का संस्था के भीतर से विकास होना चाहिए और स्वयं छोर पर वे मर्यादाएँ लागू होनी चाहिए। आज की विडम्बना यह है कि मर्यादाएँ बाहर से चलकर आती हैं, वे स्वयं प्रायः स्वतन्त्र हैं। राज्याधिकारी नियमों को बनाता और बनाता है वह स्वयं उनसे मुक्त होता है। ऐसी मर्यादाएँ स्वस्थ विकास में सहायक नहीं होतीं। उलटे वे ही मर्यादा भंग को उत्तेजन देती रह सकती हैं। अनुशासन आत्मानुशासन के रूप में विकसित हो तो उससे स्वस्थ परम्परा और मर्यादाओं का निर्माण होगा। ऐसा तब होगा जब शिक्षण-संस्था में एक आपसी और आत्मीय वातावरण व्याप्त होगा। मर्यादाएँ सब पारस्परिकता में से निकली होंगी और एकपक्षीय न होंगी। मैं समझता हूँ कि सच्चे जनतन्त्र का प्रयोग एक शिक्षण-संस्था में से करके दिखाया जा सकता है और स्वयं राज्य के लिए वह वस्तु पाठ बन सकता है।

पश्चिम में भी तो भयमूलक तत्त्व हैं

१८४. जिस अर्थमूल्यता को शिक्षण में आपने सब बुराइयों की जड़ बताया है उसीका तो पश्चिम के दोनों शिविरों में भी प्रमुख और सर्वोपरि स्थान है। तब पश्चिम में ऐसा क्या योग साधा है कि वहाँ चरित्र और आचरणसम्बन्धी कुछ ऐसी मर्यादाएँ बन गयी हैं कि वहाँ के लोग उनका पालन करते हैं और वहाँ के जन-जीवन में काफी बड़ी दूर तक सचाई और ईमानदारी का प्रवेश पाया जाता है और परिणामतः उनमें भ्रष्टाचार और अपराध-वृत्ति कम ही दीख पड़ती है। भारत के पक्ष में यही शिक्षा-प्रणाली विपरीत फल क्यों दे रही है?

वहाँ आर्थिक विषमता कम

—पश्चिम में अर्थ की इतनी विषमता नहीं है। अर्थात् वहाँ वह निमित्त और माध्यम अधिक है, स्वयं में लक्ष्य कम है। इससे जीवन चैतन्य की वहाँ उससे उतनी

हीन आर्थिक नीति मे पडे बिना नही रह सकते हैं। यह विषय बड़े ही दुख का है। लेकिन राज्यवाद के बोलबाले के जमाने मे विषम-चक्र को कहाँ किस जगह से छेड़ा और उधेडा जाय, यह समझ मे नही आता है। सचमुच शिक्षण वह क्षेत्र होना चाहिए, जहाँ से ऋषि-जन अपने कार्य का आरम्भ कर सकें।

धर्म-शिक्षा का खोखलापन

नैतिक और धार्मिक शिक्षा से कुछ ऐसा लगने लगता है कि हम विषयो के तौर पर इन शिक्षाओ की भी बात करते हैं। धर्म क्लास मे और अमुक पीरियड मे पढाया जाय, इसका अर्थ ही मैं नहीं समझ पाता हूँ। यह एक धार्मिक समझे जानेवाली सस्था मे मुझे कहना हुआ। वे विचार मे पडे थे कि धार्मिक व्यक्तित्व-वाले विद्यार्थी यहाँ से कैसे निकले। साफ है कि उनको शिकायत थी कि वह तेज उनमे नही होता है। मैंने कहा कि धर्म पढाने का आग्रह रखेंगे, तो विद्यार्थी धार्मिक नही बनेंगे, यह सीधी बात है। बात का सीधापन उन्हें नही दीखा, वह उन्हे टेढी मालूम हुई। तब गणित से समझाना पडा कि आप पैंतालीस मिनट का एक पीरियड धर्म का रखेंगे, चलिये डेढ घण्टे के दो पीरियड रख दीजिये। लेकिन दिन मे तो चौबीस घण्टे होते हैं। धर्म डेढ़ घण्टे होता है, तो शेष साढे बाईस घण्टे जो हैं, वह तो अधर्म के रह गये न? अब साढ़े बाईस घण्टेवाला अधर्म जीतेगा या डेढ़ घण्टेवाला धर्म? अर्थात् धर्म विषय के तौर पर पढ़ानेवाली चीज नही जान पडती, वह तो वातावरण मे से प्राप्त होता रहना चाहिए। अर्थात् पहले गुरु-शिष्यसम्बन्ध से, फिर विद्यार्थियो के आपसी सम्बन्ध से, फिर सस्था की नीति और सस्था की व्यवस्था के पारस्परिक सम्बन्ध से उस चीज का नाता है। कोई बाहरी व्यवस्थापक यदि प्रधान है और उपाध्याय एव आचार्य गौण है, तो उस वातावरण मे नैतिकता नही पनपेगी, भौतिकता ही हठात् उभरी हुई दिखाई देगी। इसलिए जब कि धार्मिक एव नैतिक शिक्षा की बात को मैं बहुत महत्त्व देता हूँ, तब विषय बना देने मे उनके व्यसन बन जाने का भी खतरा देखता हूँ। सब धर्म अपने-अप देने धार्मिक शिक्षण की सस्थाएँ रखते हैं। उनमें से क्या महा-मानव बने हैं? अधिकाश वे कट्टर और अमुक सम्प्रदाय के साँचे मे ढले हुए नमूने हुआ करते हैं। मैं स्वय एक जैन-गुरुकुल मे पढा हूँ। आठ बरस की उमर में मुझे मालूम हो गया था कि जो जैन नही होगा, वह नरक मे ही जायगा। और धर्मो की शिक्षा मे भी लगभग इसी तरह की चीज मनो मे डाली जाती है। इसलिए धार्मिक शिक्षण के महत्त्व को मानते हुए भी उस

सम्बन्ध में सावधान होकर चलना होगा। बल्कि सच्ची भाषा में स्वयं धार्मिक होकर उस पर विचार करना होगा।

मर्यादाओं का प्रश्न

मर्यादाओं का प्रश्न भी विचारणीय है। मर्यादाएँ बाहरी नियम में उल्लिखित होती हैं तब तक मानो वे स्थिति को व्यक्त और प्रतिबिम्बित नहीं करती हैं व्यवस्था की ओर से नियुक्त नीति की ही घोषणा करती हैं। मर्यादा काम की वे हैं जो वस्तुस्थिति मे समा रहती हैं, आदेश के तौर पर ऊपर से नहीं आतीं। अर्थात् मर्यादाओं का संस्था के भीतर से विकास होना चाहिए और स्वयं लोक पर वे मर्यादाएँ लागू होनी चाहिए। आज की विडम्बना यह है कि मर्यादाएँ जहाँ से चलकर आती हैं, वे स्वयं उनसे स्वतन्त्र हैं। राज्याधिकारी नियमों को बताता और बनाता है, वह स्वयं उनसे मुक्त होता है। ऐसी मर्यादाएँ स्वस्थ विकास मे सहायक नहीं होती। उल्टे वे ही मर्यादा भय को उत्तेजन देती रह सकती हैं। अनुशासन आत्मानुशासन के रूप मे विकसित हो, तो उससे स्वस्थ परम्परा और मर्यादाओं का निर्माण होगा। ऐसा तब होगा जब शिक्षण-संस्था मे एक आपसी और आत्मीय वातावरण व्याप्त होगा। मर्यादाएँ तब पारस्परिकता मे से निकली होंगी और एकपक्षीय न होंगी। *मैं समझता हूँ कि सच्चे जनतन्त्र का प्रयोग एक शिक्षण-संस्था मे से करके दिखाया जा सकता है और स्वयं राज्य के लिए वह वस्तु-पाठ बन सकता है।*

पश्चिम में भी तो अर्थमूलक तत्त्व हैं

१८९. जिस अर्थमूलकता को शिक्षण में आपने सब बुराइयों की जड़ बताया है, वस्तुतः तो पश्चिम के दोनों शिविरों मे भी प्रमुख और उपयोजन है। तब पश्चिम के ऐसा क्या योग लाता है कि वहाँ चरित्र और आचरणसम्बन्धी कुछ ऐसी मर्यादाएँ बन गयी हैं कि वहाँ के लोग उनका पालन करते हैं और वहाँ के जन-जीवन मे काफी बड़ी दूर तक सचाई और ईमानदारी का अंदाज पाया जाता है और परिणामतः उनमे भ्रष्टाचार और अपराध-वृत्ति कम ही दीख पड़ती है। भारत के पक्ष मे वही शिक्षा-प्रणाली विपरीत फल क्यों दे रही है ?

वहाँ आर्थिक विषमता कम

—पश्चिम मे अर्थ की इतनी विषमता नहीं है। अर्थात् वहाँ यह निमित्त और माध्यम अधिक है, स्वत्व मे परम कम है। इससे जीवन-मैत्री की वहाँ उतनी

हानि नही हो पाती है। राज्य-कर्मचारी और औसत नागरिक मे स्तर का अन्तर नही है। राजनीतिक नेता, कौन्सिलर, पार्लियामेण्ट-सदस्य हो जाने से व्यक्ति का जीवन-मान एकदम विशिष्ट नहीं बन जाता। इस कारण अयमूलक होने से जो अनर्थ यहाँ दिखाई देता है, वैसा वहाँ नही दिखाई देता। किन्तु सभ्यता वहाँ की अर्थमूलक है और उसका अलाभ अवश्य उस सभ्यतावादी लोगो को हो रहा है। यह इसीसे सिद्ध है कि हर दस-बीस बरस बाद उन्हें लडाई मे पडना पडता है।

क्लासेज और मासेज का भेद

वहाँ का समूचा जीवन जैसे एकीभाव से अथ-सम्पन्नता की ओर चल रहा है। इस तरह क्लासेज और मासेज का भेद वहाँ उतना नहीं है। भारत मे यह विषमता हद तक पहुँची हुई है। भारत गाँवो मे बसता है और ग्रामीण जनता धर्म-प्राण है। साक्षर वर्ग शहरो मे है और वहाँ की सभ्यता पश्चिम के रग में रँगी है। इस तरह जनता और विधाता मे फाँक पडी हुई है। यह व्यवधान भाषा और पैसे के सहारे बनाये रखा जाता है। बल्कि उसको फैलाव भी मिलता जा रहा है। शिक्षण से आप देखेंगे कि आज देहात का व्यक्ति उठकर शहरी स्तर तक आने की आकाक्षा पा लेता है और वह गाँव की रीति-नीति से छुटकारा बना लेता है। आज के समाज-सकट का यह बडा पहलू है। पढ-लिखकर आदमी गाँव रहना ही नही चाहता। वहाँ के काम-धाम से उसमे अरुचि बस जाती है और वह शहरी सफेदपोशी, वहाँ की नोच-खसोट और जोड-जुगत मे पहुँच जाना चाहता है। यह सब तनाव पश्चिम के देशो मे नहीं है। वहाँ राज्य की भाषा दूसरी नहीं है और परस्पर स्तरों में उतना शोषण नही है। वे औद्योगिक देश हैं, पिछडे वे नही हैं और कुल मिलाकर पिछडे माने जानेवाले एशिया और अफ्रीका के देशो के प्रति उनका सम्बन्ध शोषण का है। भारत मे अभी वह स्थिति नहीं है। यहाँ पिछडापन और उद्योगवाद दोनो हैं और स्तरो मे बँटे हुए हैं। घोर मानसिक शोषण की प्रक्रिया उसके अन्तरग मे ही काम करती देखी जा सकती है। पश्चिम के देशो मे स्तरो के बीच किंचित् अथ-विषमता देखी जा सकती है, किन्तु इतना तीव्र मानसिक व्यवधान और शोषण वहाँ नहीं मिलेगा। यहाँ की साक्षरता की हालत देखिये। तदनुरूप यहाँ नेता और जनता मे अन्तर है। समाज मे व्याप्त यह वस्तुस्थिति शिक्षण मे प्रतिबिम्बित होती है और वहाँ से बल पाकर फिर विषमता को और भी घोर बनाती है। मैं समझता हूँ कि पश्चिम की उद्योगवादी उन्नति यदि अपने-आप मे गलत न भी

हो, तो भी ज्यों-की-त्यों भारत में नहीं अपनायी जा सकती। अवश्य तो यह सम्पत्ति प्राप्त है लेकिन पश्चिम को जो फल दे रही है, वह भी उससे यहाँ सहसा नहीं मिलेगा क्योंकि परिस्थितियाँ इतनी भिन्न हैं। इसलिए नकल में दोहरा खतरा है और शिक्षण-पद्धति अंग्रेजी नकल से अब तक छूटी हुई नहीं है। यह अवश्य हो सकता है कि अंग्रेजी अथवा स्वयं भारतीय नकल से कहीं आगे बढ़ गयी हो।

डाकू-समस्या

१८७ देश में स्वतन्त्रता के बाद डाकू-समस्या ने काफी गम्भीर रूप ग्रहण कर लिया था विशेषकर राजस्थान और मध्यप्रदेश आदि प्रान्तों में। विनोबाजी ने इन डाकुओं से आत्म-समर्पण कराने का प्रयास किया था और कुछ दूर तक उन्हें आपको सफलता भी मिली थी। समस्या के कानूनी और इस नैतिक निदान के बीच आप क्या सामंजस्य देखते हैं?

—सामंजस्य नीति और कानून में सीधा नहीं होता। हो सकता है तो व्यक्तियों द्वारा। कानून को चलानेवाले सर्विसेज के लोग हैं। जैसे मजिस्ट्रेट और पुलिस इन्स्पेक्टर। इन सर्विसेज के लोगों के ऊपर जनता से चुने हुए लोग पहुँचते हैं, जो इनसे काम लेने के लिए हैं। इन्स्पेक्टर जनरल कानून से इधर-उधर बिलकुल नहीं देख सकता लेकिन मन्त्री का न यह कर्तव्य है, न अधिकार कि वह उतनी सीमित दृष्टि से अपराध की समस्याओं को देखे। वह यदि जनता में से चुनकर आता है और मन्त्री का स्थान पाता है तो इतने में ही यह गर्भित है कि उसकी दृष्टि मानवीय होनी चाहिए उसकी व्यवस्था-दृष्टि पर भी आदर्शोन्मुख कल्पना का प्रभाव और स्पर्श होना चाहिए। इस दिशा से नैतिक और व्यवस्थात्मक दृष्टियों का बहुत हद तक सामंजस्य हो सकता है।

डाकू-समस्या के सम्बन्ध में जो कुछ घटित हुआ उससे मुझे यह देखकर खेद होता है कि मन्त्री और मुख्यमन्त्री पुलिस के इन्स्पेक्टर-जनरल के अधिक निकट पाये गये और विनोबा से इतने दूर कि मानो उल्टे ही हों। इसका मतलब यही हो सकता है कि वे राज्य पर अधिक हैं जनता में कम हैं। जनप्रिय सन्त भावना से अलग विनोबा की दूसरी क्या स्थिति है? कानूनी तर्कबन्दी के पीछे यदि मिनिस्टर शरण लेता है और मानवीय दृष्टिकोण से अपनी छुट्टी कर लेता है, तो सिवा इसके क्या कहा जाय कि जनता के आश्वासन से वह अपने को और अपने दल को वंचित करता है और जनवादी दृष्टिकोण को गौण मानने के कारण वह अपने चुनाव के लिए अपने को अयोग्य सिद्ध करता है।

मामूली पुलिस-सिपाही डण्डा अपने साथ रखता है। मिनिस्टर के लिए कभी यह शोभा की बात नहीं समझी जायगी कि वह डण्डा साथ लेकर चले। अर्थात् स्वय कानून के दो सिरे हैं। इस सिरे पर वह जैसे धर्म-नीति की सीमा से जा मिलता है। उस छोर से धर्म-नीति का प्रभाव कानून पर अवश्य हो सकता और होना चाहिए। जितना वह कम होता है, कानून उतना ही आटोक्रेटिक बनता है। डिमोक्रेटिक शब्द मे यही अर्थ है कि धर्म-नीति और जन-नीति आईन-कानून से केवल दबने के लिए न रहे, बल्कि आईन मे वह अधिकाधिक प्रत्यक्ष और व्यक्त भी हो।

अपराधी रोगी अधिक

ज़माना वह आ रहा है जब अपराधी दण्डनीय से अधिक रोगी समझा जायगा। जेलो की जगह उनके लिए अस्पतालो मे व्यवस्था होगी। आप जानते हैं कि अस्पताल मे रोगी सेव्य होता है, डाक्टर सेवक होता है। रोगी के लिए हर सम्भव सुविधा की व्यवस्था आवश्यक मानी जाती है। रोगी के पास अधिकार होता है, उपचारक के पास केवल कर्तव्य होता है। धीरे-धीरे प्रकट होता जायगा कि अपराधी अधिकार-भावना की प्यास मे से बनता है। उसका अह घुट गया होता है और खुलने के लिए आस-पास की परिस्थिति को और व्यक्तियो को तोडता हुआ निकल पडना चाहता है। यही वह असामाजिक होता और अपराधी बन जाता है। अपराधी व्यक्ति को समाप्त या बेकार कर देने की कल्पना पुरानी हुई। अब हाथ-पैर नही काटे जाते हैं, बल्कि कोशिश की जाने लगी है कि धीरे-धीरे वह अपराधी से उपयोगी बन जाय। उपयोग की सम्भावनाएँ उस आदमी मे पडी ही हैं और कानून को कभी यह भूलना नही चाहिए। कानून जितना कल्पनाशील होगा, उतना ही यह ध्यान और विश्वास उसमे गहरा होता जायगा और परिणामस्वरूप वह स्वय अधिक मानवीय बनता जायगा। डाकू कहे जानेवाले हर आदमी की परिस्थितियो मे हम जायँ, तो काफी अध्ययन की सामग्री मिल सकती है। उस विवरण से हम देख सकेंगे कि उस प्रकार के लोगों मे कुछ गुण भी होते हैं। वे ही अवगुण बनने को बाध्य यदि होते हैं, तो अमुक प्रकार की परिस्थितियो के कारण। अवगुणता से मुक्त कर उन्हें फिर गुण बना लेने की क्षमता जिस व्यवस्था मे होगी, वह व्यवस्था सही समाज-व्यवस्था मानी जायगी। वही कानून सच्चा भी होगा।

डाकू हृदय का आदमी

अपनी निजी बात कहूँ, तो मैं मानता हूँ कि डाकू हृदय का आदमी होता है।

हृदय के आदमी को दुर्जन से सज्जन बनने में बहुत देर नहीं लगती। एक चोट या एक मोड़ उसे बदल दे सकता है। कानून और उसके भय का स्पर्श जब कि उसके कच्चे और छूटे मन को और कसकर कट्टर और मठोला बना देता है तब हृदय का एक स्पर्श उसे बदल भी दे सकता है। विनोबा की ओर से यह स्पर्श आया होगा और उससे कुछ की मानवता जाग पड़ी होगी। मानवता से भी आगे देवत्व जगा होगा जो उन्हें समर्पण तक ले आया होगा। कानून की यह बात कि अवसर का लाभ उठाने के लिए समर्पण था अन्यथा समर्पण तो हर हालत में देर-सवेर उन्हें करना ही था इसलिए वे गिर गये थे—अदूरदर्शिता भी है। कानून का यह गर्व समर्पण के बाद भी उनमें एक कटुता ला सकता है। कानून अगर इतना नहीं समझता तो अच्छा है। बन्दूक लेकर बीहड़ में और शहर में रहने-बसनेवाला डाकू भीख मांग सकता है, पर कानून के इस गर्व को ही झेलना उसे मुश्किल होता है। वह अपने को बागी मानता है। और बागी मानने का यह गर्व सीधे कानून के गर्व की प्रतिक्रिया में से उत्पन्न होता है। अपराधी में भी एक नेकी और सहृदयता देखी जाती है वह मानो शासन की नेकी और सहृदयता का जवाब बनने के लिए आती है।

कानून अपराध की सृष्टि करता है, यह यदि सच है, तो इसीलिए कि उस कानून में अहं-गर्व इतना होता है कि आत्मालोचन की झलक बिलकुल नहीं होती। विक्टर ह्यूगो का उपन्यास 'ला मिजरेबिल' इसी विरोध को मानो मूर्त करने के लिए लिखा है। जाक जेल से निकलकर एक धार्मिक बिशप की सहृदयता का स्पर्श पाता और एक चोर आत्मिक भाव में से निकलकर एकदम बदल जाता है, वह महान् उपयोगी नागरिक बनता है। लेकिन कानून पुराने चोर-डाकू के रिकार्ड को लेकर ही चल रहा है। कानून का पहरा-प्रहरी पुलिस-इन्स्पेक्टर उसके पीछे ही पड़ा रहता है। देखता है कि यह आदमी चोर नहीं है, बेहद उदार और उपयोगी है लेकिन इन्स्पेक्टर अपने इल्जाम को बना देता है, इन्स्पेक्टरी को चला लेता है। सामने के वर्तमान और प्रत्यक्ष उदाराशय सज्जन को ओझल कर देता और अतीत में गड़े चोर को ही प्रत्यक्ष लिये रहता है। इस तरह पुस्तक के अन्त तक जड़ कानून चेतन प्राणी का पीछा ही किये जाता है, कभी उसको चेतनता में उभरने नहीं देता। कांग्रेसी मिनिस्टर के हाथ से आशा हो सकती थी कि कानून की यह जड़ता कम होगी और चेतनता उसमें उदय होगी। लेकिन मध्यप्रदेश में इसका प्रमाण नहीं मिला और इससे मेरे मन में बड़ी ही निराशा का भाव पैदा हुआ। कोई डाकू अन्त तक जीनेवाला न था आगे-पीछे हरएक को मरना था जैसे कि हममें से हर एक को मरना है।

लेकिन कांग्रेस मिनिस्ट्री अवसर पर कानून के हाथों जड़ बनी रह गय
आत्म-समर्पण तक स्वेच्छा से आ जाता है गांधी इन्सानों के प्रति सिव
कुछ न कर सकी कि जेल-कोठरी दे दे, यह इतिहास मे जानेवाली विफ
और इसका जिक्र मरेगा नहीं, अमर बना रहेगा। यह सिर्फ श्रेय ज्ति
विनोबा को दे, अश्रेय सब सरकारी कानून को देगा। अफसोस सिर्फ इस
है कि कांग्रेस यह है, जिसको राज पर लाने मे गांधी ने सहारा दिया थ
जिसे काम चलाने के लिए दावे के तौर पर स्वयं गांधी-दर्शन का सहार
नीति मे से कानून बनता है, लेकिन बनने के बाद कानून नीति से छूट जात
केवल वह कर्म रह जाता है। पर कर्म मे भाव का ह्रास न हो, यह कभी
स्पष्ट नहीं है और भाव सदा अपना इलहाम नैतिकता में से लेता है।

परिस्थिति और अहभाव

१८८ ऐसा बहुधा देखा गया है कि अपराधी किसी सामाजिक अथवा आ
विवशता के कारण अपराधी नहीं बने, बल्कि अपने अन्दर की किसी अतिसार
वृत्ति के कारण ही उस ओर झुक गये और जब जब उन्होंने महसूस किया कि उ
बुरा किया है तो समाज, धर्म और कानून के जुल्मों का हवाला
अपनी अपराध वृत्ति को सगत साबित कर लिया और तुष्टि अनुभव की।
अपराधियों के विषय मे आपका क्या कहना है? उनको ठीक करने के
आप क्या मार्ग अपनायेंगे?

—अकेली परिस्थिति से कभी कुछ नही बनता। अपराध भी नहीं बन सब
परिस्थिति और अहभाव के बीच बराबर ही एक कशमकश रहती है।
तनाव मे से अपराध निकलता है। यह दीखने में ही है कि परिस्थिति का दबा
या नही है, अह-चेतना से असम्बद्ध होकर उस दबाव का निर्णय किया ही
जा सकता। अपराध शब्द समाज, अर्थात् इतर, की अपेक्षा से ही बन पात
अन्तरग की ओर से जो शब्द सगत है, वह पाप है। प्रत्येक पाप अपराध
गणना मे नही आता, न प्रत्येक अपराध पाप हुआ करता है। जेल अपरा
कारण ही मिलती है, गाधी बार-बार अपराधी सिद्ध हुए, इसीलिए जेल
गये। लेकिन उस अपराध मे पाप की छाया भी न थी, उलटे कुछ वह था, जि
लोग उन्हें और महात्मा मानते गये। कारावास ने उनको महिमान्वित किया
गिराने के बजाय उठाया। यहाँ अपराध और पाप का अन्तर स्पष्ट हो जाता
आपका प्रश्न अपराध की सीमा पारकर पाप की गवेषणा मे पहुँच जाता
यहाँ उसमें उतरना इष्ट नहीं होगा। यदि यह बात सच है कि अहभाव

दीनता और उद्धतता में से अपराध का जन्म होता है, तो पाप का भी जन्म वहीं से है। किन्तु दीनता दूर क्यों होती है? मैं मानता हूँ कि इसके कारण में परिस्थिति को सबब माना जा सकता है। परिस्थिति कोई ठोस चीज नहीं है। अहंभाव की परिधि जहाँ आती वहीं से परिस्थिति आरम्भ हो जाती है। दबाव ठीक उस परिधि पर अनुभव होता और केन्द्रस्थ मर्म उसे प्राप्त करता है। उसीके प्रत्युत्तर में जिसको आप अतिसाहसिकता कहते हैं, उपजती है। उस साहस के अतिपन में आप सूक्ष्म दंश देख पाइयेगा। दंश न होता तो उस साहस में सहजता होती क्षति न होती।
यह साहस यदि मर्यादा को लाँघता हुआ जाता है, तो इसीमें गर्भित है कि वह अपने अन्दर की किसी बाधा को लाँघ रहा होता है। वह आन्तरिक विवेक की बाधा होती है, बाहरी बाधा उपलक्ष्य बनती है। वह विवेक की मर्यादा टूट जाती है इसीसे ऐसा व्यक्ति आत्म-समर्थन में नाना तर्क और कारण बना लिया करता है। इस बुद्धि-समर्थन के सहारे के बिना अहं-गर्व टिक नहीं सकता न साहसिकता काम कर सकती है। लेकिन ये मनोलोक की बातें हैं जिनमें जाना शायद आपके प्रश्न का उद्दिष्ट नहीं है।

अपराधी समाज से बहिष्कृत

अपराधी को हम समाज में स्थान नहीं देते हैं। समाज की अपेक्षा में वह अप्रतिष्ठ बनता है। अतः वह प्रतिष्ठ होने की आवश्यकता उसके लिए और उत्कट हो जाती है। वह वृत्ति जब कृति में व्यक्त होती है तो समाज उसकी ओर भर्त्सना करता है। इस तरह उलझन बढ़ती और पैदा हुई गाँठ कसती जाती है।
समाज की ओर से यदि तिरस्कार ही उसे न मिले किसी पद्धति से उसकी अन्तरव्यथा को स्वीकार भी मिल सके, तो सम्भव है कि शुरू में तो उस व्यक्ति का अहंभाव इससे तुष्टि पाये और चाहे कि उस अहंभाव को ऐसे अवसर मिलें कि वह माने कि उसका आतंक जम गया है। लेकिन यदि स्वीकार में उपचार या शिष्टाचारपन न होगा बल्कि वह स्निग्ध और निष्कपट होगा तो धीरे धीरे उससे अहंभाव की कसावट खुलेगी और वहीं विपर्यय शुरू होगा।

प्रेम की चिकित्सा

आजकल मानसिक चिकित्सा का प्रचलन हो रहा है। स्वयं मानसिक चिकित्सा का शास्त्र उत्तरोत्तर प्रेम की महिमा पहचानता जा रहा है। मनोविज्ञान अपनी शास्त्रीयता से भिन्न हो चला है और प्रेम के आगे ज्ञान को हीन अनुभव करने

—

लगा है। प्रेम के पुरुषो ने, जैसे ईसा ने, अनेक पापियो को दर्शन-स्पर्शमात्र से बदलकर सहसा स्वस्थ कर दिया, तो ये चमत्कारपूर्ण बातें अब मन शास्त्र को अविश्वसनीय नही लगतीं, जैसे उनका तर्क उसे समझ आता जा रहा है। इस नये विज्ञान और नयी समझ के प्रकाश मे कानून अन्तकाल या अनन्तकाल तक अन्धा नहीं बना रहेगा। और जब उसकी आँखें खुल रहेंगी, तो जान पडेगा कि दण्ड का उपाय उपाय ही न था, केवल अपने बचाव का उपाय था। वह आत्म-रति मे से निकला था और इसीलिए इतना विपरीत बना हुआ था।

सन्त-भाव

अपराध के प्रति सन्त मे जो यह भावना जागती है कि अपराधी वह स्वय है, जगत्‌भर मे अधम-पामर वही है, नये प्रकाश मे वह केवल भावुक भक्ति की नहीं रह जाती, बल्कि वैज्ञानिक बुद्धि की भी बन जाती है। प्रेम उसीका नाम है, जो बाहर दृश्य मे से सब दोषो को हर लेता है और वहाँ सौन्दर्य और दिव्यत्व की सृष्टि कर देता है। ऐसी आस्तिक श्रद्धा कानून की बुद्धि को कुण्ठित करने के बजाय और चमका भी सकती है। यदि न्याय की व्यवस्था मे इस तत्त्व का प्रवेश हो, तो जो हृदयहीन है वह सहृदय बन जाय, और यद्यपि बाह्य व्यवहार में शायद एकाएक कुछ अन्तर न आये, फिर भी वह मानों अन्तरग की ओर से एक भाव-रस से भर जाय। मैं मानता हूँ कि यह आस्तिक भक्ति हमारा और समाज का इस अर्थ मे काफी भला कर सकती है कि वह अपराध के उत्पात से हमें रक्षा दे और स्वय अपराध के लिए भी उत्तेजन का अभाव उत्पन्न कर दे।

१८९ तब आप अपराधियो के सामाजिक अवरोध अथवा उनकी घेराबन्दी मे विश्वास नहीं करते और उनकी उपेक्षा भी आपको सह्य नहीं है। ऐसी स्थिति में एकमात्र अध्यात्म का सहारा लेकर अपराधियों का उचित निदान करनेवाले कितने व्यक्ति हमारे बीच से निकल पायेंगे? मुझे तो सन्देह है कि समाज-मर्यादा और कानून को बिलकुल निरस्त्र कर देने पर अपराध-वृत्ति बढ़ेगी ही। इस विषय पर अपना मत दीजिये।

मकान और खिडकी-दरवाज़े

—नही, नहीं, समाज मे से इस प्रकार रेखाओ और मर्यादाओ को नष्ट नहीं किया जा सकता। किसी सदभिलाषा मे से यह किया भी गया, तो उसका वही अन्त आये बिना न रहेगा, जिसका आपने सकेत किया है।

रेखाओं को समाप्त कर देने के मैं पक्ष में नही हूँ। दुष्ट और साधु एक हो

सकते हैं पर दुष्टता और साधुता का अन्तर मिटेगा तो प्रलय आ जायगा। इस समय जिस मकान मे हम बैठे हैं, उसकी सीमा है इसीलिए वह मकान है हम उसमे बैठ सकते और काम कर सकते हैं। जिसमे सीमा नहीं है, ऐसे खुलेपन में भला हमारा यह बातचीत तक का काम कैसे चल सकता है? सीमा रेखा के बिना हर सम्भवता नष्ट हो जाती है। लेकिन जो ध्यान मे रखने की बात है, वह यह कि मकान की सीमा अगर हवा पर भी आ जाय तो मकान मकान नहीं रहता और और नरक बन जाता है। हवा के लिए खिड़की-दरवाजे रखने पड़ते हैं नगरपालिका के कानून से इतनी खुली जगह रखनी ही पड़ती है कि हवा बहे और घुटे नहीं। क्रास-वेन्टिलेशन का जो आजकल ख्याल रखा जाता है, सो इसीलिए कि कुछ रहे, तो बहता हुआ आये और मकान से बहता हुआ आर पार चला जाय। जो बात ऊपर कही वह उस मानसिक भाव की आवश्यकता की दृष्टि से थी जो आबोहवा बनकर सारे समाज को अपना श्वास देता रहे। वह मूल्य के तौर पर व्याप्त रहे और हर मानस को स्पर्श करे। वह मानो रक्त का अंग बन जाय समाज की सहज संस्कृति हो जाय। ऐसा होने पर हम देखेंगे कि वह भाव हमारे काम काज मे आड़े नहीं आता है, बल्कि उसको सँभालनेवाला बन जाता है। हवा कब कहती है कि मकान न बनाओ वह तो बस मकान बनाने में यह सूझ और चेतावनी भर देती है कि हवा को बाँध न लेना उसके बहते रहने देने के लिए अपने मानस मे अवश्य अवकाश रखना।

साहित्य का कार्य यही

और यह काम आज भी समाज मे होता रहता है। साहित्य का सिवा इसके काम क्या है? साहित्य के जिम्मे तो कुछ भी करना-धरना नहीं है। न साधु की स्तुति है न दुष्ट की दण्ड है। वह तो जैसे दर्शन को स्वच्छ और भाव को स्निग्ध रखनेभर के लिए है। मानो उसमे जीवन का यथापूर्ण प्रतिबिम्ब है। जीवन के ऊपरी यथार्थ से लेकर उसके अन्तरतम गर्भ मे स्थित भूतार्थ को स्तरो तक वह बिम्बित करता है। जिस स्तर का जीवनार्थ-बिम्ब उसमे है, उतना ही उसका महत्त्व है। महत्तम साहित्य में अनन्त वैविध्य का निदर्शन है, लेकिन उसीमे अन्तर्भूत निपट ऐक्य का दर्शन है।

उस साहित्य से क्या समाज को कुछ भी प्रयोजन नहीं है? हम जानते हैं कि साहित्य बिना समाज की स्थिति ही नहीं हो पाती है। किन्तु क्या साहित्य दण्ड देने जाता है? विक्टर ह्यूगो के जिस ग्रन्थ का जिक्र आया क्या कानून के प्रतिनिधियो द्वारा वह जब्त नहीं किया गया? कानून के काम-काज मे उससे कुछ

बाधा उत्पन्न नहीं हुई है। लेकिन उसका [illegible] कानून या
[illegible]-मेन्ट यदि अधिक [illegible] और [illegible] सख्त हो जाता है, तो कानून का
काम उससे कुछ कम ही होता होगा, [illegible] नहीं होगा।

आदर्श व्यवहार में बाधक नहीं

कुछ लोगों की ऐसी गलत धारणा है कि आदर्श व्यवहार में [illegible] बाधक होता है। उस अध्यात्म से दुनिया का काम अच्छा और [illegible] चलता है, जो आदर्श का आग्रह रखता है। अध्यात्म का वह ज्ञान जिससे दुनिया का काम सँवरता नहीं है, कुछ गति या नहीं प्राप्त करता है, [illegible] और व्यसन में पड़ गया हो सकता है। ऐसे आदर्श-अध्यात्म की व्याख्या में कहीं [illegible] उपासना [illegible] मिल जाती है, जिससे वह व्यवहार से विमुख और विगलित हो जाता है। अन्यथा ये दोनों एक और परस्पर आश्रित हैं। धर्म वह नहीं माना, जो कर्म के क्षेत्र का न रह जाय। और वह अधर्म नहीं, वह है, जो परस्परता को सम्पन्न नहीं, विपन्न करता है।

बेकारी और अपराध

१९० बेकारी और अन्य आर्थिक दबावों की परिस्थिति कितनी दूर तक अपराध-वृत्ति को बढ़ावा देती है और समाज में अव्यवस्था एवं विद्रोह को जन्म देती है? बेकारी को दूर करने के लिए जो उपाय सरकार काम में ला रही है, क्या उनसे आप सहमत हैं?

सांप और पत्थर

—बेकारी अपराध-वृत्ति का कितनी दूर तक जगाने और बढ़ाने में कारण बनती है, इसमें मात्रा के निर्णय का प्रश्न ही नहीं है। अन्दर की शक्तियों के उपयोग के लिए विधायक मार्ग खुला हो, तो अपराध में जाने की बात ही नहीं उठनी चाहिए। दुष्टता के पीछे आखिर कुछ दम है, इतना तो निश्चित ही है। पत्थर पड़ा ही रह सकता है, काट नहीं सकता। सांप जरा दबने पर काट आता है। सांप दुष्ट इसीलिए हो सकता है कि वह पत्थर नहीं है, अर्थात् उसमें जान है। हम सांप से तंग आकर अगर यह कहते हैं कि पत्थर उससे अच्छा है, तो यह वक्तव्य तथ्यात्मक नहीं, सिर्फ स्वरक्षात्मक होता है। इसलिए वह प्रक्रिया, जो दुष्टता को ऊपर के दबाव से जड़ता में परिणत कर देना चाहती है, केवल सुरक्षात्मक होती है, उससे अधिक जीवन-तथ्य उसमें नहीं है। अपराधों में जो फूट रही है,

उस व्यक्ति की रचना में उसकी ऐसी विधायक कल्पना का प्रमाण कहा जायगा। समाज-नेता को इसके लिए स्नेहशील और कल्पनाशील होने की आवश्यकता है कि वह समाज में समाये प्रत्येक तत्त्व की सम्भावनाओं को उदय में ला सके। ऐसा व्यक्ति राजपद पर जाकर नहीं बैठेगा क्योंकि पद के अधीन होने के कारण व्यक्तित्व की सम्भावनाएँ कुण्ठित होती हैं, प्रस्फुटित नहीं होतीं। राज्य के अधिकार से राजन्य-वर्ग गर्वस्फीत होता और अपने को शासक मानकर फिर क्षुब्ध बनता है। दूसरी ओर जन-वर्ग शासित होकर उन सम्भावनाओं से वंचित होता और दीन मलीन होने के लिए रह जाता है।

बेकारी का इलाज नौकरी नहीं

बेकारी दूर करने का उपाय नौकरियाँ बढ़ाना नहीं है। सरकार के पास मुख्य उपाय यही होता है। नौकरियाँ काम की सृष्टि नहीं करतीं हैं वे सिर्फ आदमी को घेरती हैं। उनसे धन पैदा नहीं होता है, सिर्फ खर्च होता है। मुझे तो यह प्रतीत होता है कि अगर बेरोजगारी को एकदम दूर करना है, तो राजपने के काम को पहले कम-से-कम करना जरूरी है। सबसे बड़ा काम जब शासन और प्रशासन हो जाता है तब बेरोजगारी किसी अर्थ में फैशनेबिल भी हो जाती है क्योंकि उस अवस्था में मानो खाली दिमाग चोर के व्यक्ति-दर्शन को अपने भीतर घरजाने लगता है। मुझे प्रतीत होता है कि राजनीति काम काम की बढ़वारी के साथ बेरोजगारी भी बढ़नेवाली ही है। उत्पादन बढ़े और व्यक्ति व्यर्थ कल्पनाओं में रस लेना छोड़ दे, इसके लिए जरूरी है कि राजनीति का स्वतन्त्र व्यवसाय ही न रह जाय। लोग आवश्यकताएँ, कम-से-कम प्राथमिक आवश्यकताएँ, अपने आस-पास के सहयोग से पूरी करना सीखें। खाने, पहनने और रहने की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में ग्राम-समाज स्वावलम्बी बनें इन बातों में मशीन का मोह कम हो और लोग अपना और अपने हाथों का सहारा लें। मशीन से श्रम कम कराने और इस तरह स्वयं विश्राम अधिक पाने का तर्क लोगों के दिमागों में दूर हो जाना चाहिए। काम विश्राम का विरोधी तब होता है जब उसको कैद में लिया जाता है। मजबूरी की शर्त जितनी कम होगी बेरोजगारी भी उतनी कम होगी। काम आदमी को अगर पैसा कमाने के लिए करना होता है, खुद जीने के लिए नहीं तो जाहिर है कि पैसे के बल पर कमाया गया निकम्मा-पन फैशनेबिल हो जाता है। आज उसीकी कोशिश की जाती है। हर बड़े शहर में ऐसा वर्ग कम नहीं है, जो बेहद तकलीफदेह होता है, खर्च भी खूब करता दीखता है, ऊँचे स्तरों पर घूमता और मौज करता है। पूछिये कि काम वह क्या

करता है, तो उसका रहस्य कभी हाथ नही आयेगा। काम जब पैसे के लिए किया जाता है, तो परिणाम यही आता है। काम का सम्बन्ध अगर सीधा हमारी आवश्यकताओ से जुड़ता है, तो उसमे रग पटता और वह सृजनात्मक हो जाता है। बेरोजगारी को दूर करने के सिलसिले मे पहली जरूरत तो यह मालूम होती है कि काम का सम्बन्ध पैसे से हटकर जीवन से जुड़े। सिक्का श्रम की और जन की खरीद-बेच उतनी न कर सके, वह सिर्फ वस्तुओ के क्रय-विक्रय मे काम आये। आदमियो को और उनके समय को खरीदने की शक्ति उसमे से खीच ली जाय।

ग्रामोद्योग और कुटीरोद्योग

यह मूल परिवतन हो सकेगा, तो हम देखेंगे कि तरह-तरह के ग्रामोद्योग और कुटीर-उद्योग जन्म लेते हैं और रोजगार की तलाश मे देहात से चलकर आदमी शहर मे बौखलाया हुआ नही फिरता है। बेरोजगारी बहुत है, लेकिन अधिकाश वह शिक्षित बेरोजगारी है। पढा-लिखा आदमी आस-पास मे से काम निकालने की ताकत खो बैठता है। वह पडोसी से टूट जाता है और उपयोगी होने का हुनर खो देता है। उसके पास इसके सिवा कोई उपाय नही रहता कि वह नौकरी की तलाश मे भटके और आवारो की श्रेणी मे शामिल हो जाय। ऐसे अनेक युवको को मैं जानता हूँ, जिनके घर पर जमीन है, खेती है, लेकिन शहर मे वे दर-दर महीनो से ठोकरें खा रहे हैं। खेती मे वे क्यो हाथ नही बँटाते हैं? यह तो है ही कि उनका मन उसमे रस नहीं पाता है, लेकिन तर्क यह भी देते हैं कि खेती मे से कुछ निकलता नही है, अर्थात् पैसा नही निकलता। खेती आदि काम जब पैसे से जुड जाते हैं, तब अधिकाश देखा गया है कि वे समस्या पैदा करते हैं और बहुत हद तक अनुत्पादक भी हो जाते हैं। आपसी आवश्यकताएँ अगर आपसीपन से पूरा करने की प्रथा हमारे बीच फिर से आ जाय, तो हम देखेंगे कि बेरोजगारी का सवाल काफी हद तक कट जाता है।

सरकारी उपायो की त्रुटियाँ

सरकारी उपाय सरकारी स्तर पर तो ठीक ही हैं, लेकिन यह भी स्पष्ट है कि उनसे कुछ राहत पहुँचती है, सवाल दूर नही होता। सरकार उपकारी सस्था बने, इसीमे मैं कही त्रुटि देखता हूँ। सब धन जगह-जगह से बहकर सरकार के पास पहुँचता है। वहाँ से लौटकर वह फिर लोगो मे वृत्ति और आजीविका के रूप मे बँटे, तो धन अपनी इस गति मे अपना सत्त्व बहुत कुछ खो रहता है।

इस प्रकार से अनेकानेक व्यवस्थापक दल बीच में स्वयं फूलने और मोटे होने का अवसर पा जाते हैं। अर्थ की भाषा में हम देखते हैं कि रुपया यदि केन्द्र से चलता है, तो आवश्यकता की जगह पर पहुँचते-पहुँचते वह मुश्किल से चवन्नी भर रह जाता है बारह आना उसका बीच में ही छीज जाता है। इससे रोजगार देने की कोशिश में बारह आने लगता है, सचमुच रोजगार में चार आना लग पाता है। सरकार की ओर से चलनेवाली योजनाओं की यह त्रुटि दूर की जाय तो कैसे की जाय यह समझ में नहीं आता। सरकारी आदमी महँगे होने का हक रखते हैं। उन्हीं के हाथ से पैसे को सरकारी सागर से उठकर अभाव ग्राम के गड्ढे में जाकर पड़ना है। इसका हमें अक्सर पता नहीं रहता है कि उस सागर को भरने की राह में ही वे अभाव के गड्ढे बने हुए होते हैं। लेकिन वहाँ से हटकर यह भी मान लें कि धन को सरकारी खजाने से चीजों तक पहुँचना है, तो भी सरकार के पास इस काम के लिए जो वर्ग है, वे रुपये का बारह आना स्वयं खाये बिना काम नहीं दे पाती हैं। सरकारी योजनाएँ सरकार की दृष्टि से ठीक हैं किन्तु इस सम्बन्ध में सावधानी रखने की आवश्यकता है कि माध्यम कुछ ऐसा पैदा किया जाय जो जरूरतमन्दों पर भारी न पड़े और उनके हक को काटे नहीं।

१९१ जिन देशों में व्यक्ति के रहन-सहन खान-पान और काम-धन्धे की सारी जिम्मेदारी सरकार ने अपने ऊपर ले ली है और रोग वृद्धावस्था आदि प्राकृतिक व्याधियों से भी उसे मुक्त कर दिया है, वहाँ क्या अपराध-वृत्ति में कमी नहीं पड़ी है और व्यक्ति अधिक सुख-चैन एवं उपयोगी नहीं बन गया है? यदि हाँ, तब आप राज्य की जिम्मेदारी छोड़ने की प्रवृत्ति को क्यों हानिप्रद मानते हैं और क्या आज की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में किसी भी देश का काम सरकार द्वारा पूरी जिम्मेदारी लिये बिना चल सकता है?

राज्यवाद निःशस्त्रीकरण का प्रयोग

—आज की अन्तर्राष्ट्रीयता सचमुच ऐसी बनी हुई है कि उसमें समर्थ और सार्थक सिद्ध होने के लिए अधिकाधिक केन्द्रित राज्य की आवश्यकता है। लेकिन उस अन्तर्राष्ट्रीयता में बेहद तनाव (पोलराइजेशन) भी देखा जाता है। हाल की घटनाएँ इसका प्रमाण हैं। हर छोटी चीज अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की सम्भावना पैदा करती-सी लगती है। यह गम्भीर तनाव यदि दूर होना है तो यह तभी सम्भव है, जब कोई राज्य हिम्मत करे कि उसकी शक्ति सेना की नहीं होगी जनता की होगी। तान्त्रिक और शास्त्रिक नहीं होगी, नैतिक और आत्मिक

होगी। ऐसा राज्य एक नये ढग का होगा और ऊपर से उसका ताजमा बहुत बढ़ा-चढ़ा नहीं दीखेगा। किन्तु उस देशवासियो मे एक सकल्प होगा, उनमे समता, सहयोग, स्नेह का भाव होगा और जनता के स्तर पर वह देश मानो एकाग्र और एकजुट होगा। यह जनशक्ति राज्यशक्ति के समान परस्पर प्रति-स्पर्धा मे पडने से बची रह सकेगी और वह किसीके लिए भय और आशका का कारण नहीं होगी। ऐसा सैन्य-मुक्त राज्य यदि आज सम्भव हो सके, तो मैं समझता हूँ कि वह राह खुल आती है, जिससे नि शस्त्रीकरण स्वप्नमात्र न रह जाय, बल्कि व्यावहारिक सुविधा बन आये। जिस दुर्भाव मे विश्व की राजनीति और हमारी अन्तर्राष्ट्रीयता बढ़ी जा रही है, उसमे बहना ही एकमात्र मार्ग नहीं है। बहने से इन्कार करके एक नया प्रयोग किया जा सकता है और करने का समय आ गया है। विज्ञान इतना बढ़ गया है और शस्त्रास्त्र की साघातिकता इतनी आगे आ गयी है कि मानो उससे उनकी व्यर्थता ही सिद्ध बनती है। अथ अब शस्त्रास्त्र-श्रद्धा का एक ही है और वह यह कि हम प्रलय मे पडें। मानव-जाति के भाग्य को महाविनाश मे झुकना और फुकना नही है, तो इस तमाम उन्नति से एक ही सबक हमे लेना चाहिए और वह यह कि शस्त्र के सहारे चलने मे खैर नही है। शस्त्र मानव-जाति के लिए उपयोगी नही रह गया है, क्योंकि इतना खतरनाक हो गया है। बडे देश इस नि शस्त्र-प्रयोग का आरम्भ नही कर सकते, लेकिन कोई छोटा देश साहस को हाथ मे लेकर क्यो इस दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता है? उसके पास खोने को कुछ नहीं है। उसकी सुरक्षा आज भी शस्त्र-निभर नही है। लाख कोशिश पर भी शस्त्र के सम्बन्ध मे वह बडे देशो के समकक्ष नही हो सकता है। इस अनिवार्य अक्षमता को वह अपना बल क्यो न बना ले और सकल्प और विवेकपूवक नि शस्त्रता के अनुकूल अपने राजतन्त्र और अर्थ-तन्त्र का निर्माण करने मे क्यो न लग जाय? ०

विकेन्द्रीकरण केन्द्र का बल

जिन देशो मे राज्य ने रहन-सहन, असन-वसन और काम-धन्धे की सारी जिम्मे-दारी उठा ली है, उनकी रचना के अध्ययन मे जाने की आवश्यकता है। वहाँ एक ऐसा दल काम कर रहा होता है, जिसके पास समान-शक्तिवाले दो पक्ष या पख हैं राज-पक्ष और लोक-पक्ष। उसमे भी लोक-पक्ष पर राज-पक्ष से अधिक बल है। कम्युनिस्ट-पार्टी के सेक्रेटरी जनरल का राज्य के प्रधानमन्त्री से अधिक महत्त्व होता है। इन दो पक्षो के सहारे वह व्यवस्था केवल ऊपर नही रहती, बल्कि भीतर भी पहुँच जाती है और इस तरह व्यापक भाव को थाम सकती

है। एक बार यह व्यापकता आयी कि फिर वह व्यवस्था आवश्यकता के अनुरोध पर अपने-आप केन्द्रित हो जाती है। मैं आपको सुझाऊँ कि यह विकेन्द्रितता है जो अन्त में उस केन्द्रित सत्ता वालेवाले राज्य का बल सिद्ध होती है।
कम्युनिस्ट-पार्टी में यदि वह लोक-पक्ष कमजोर पड़ जाय और राज-पक्ष प्रबलित हो जाय तो वह केन्द्र-व्यवस्था आज ही संकट में पड़ सकती है। और इसमें है कि वह यदि केन्द्रित है तो उतनी ही मात्रा में विकेन्द्रित भी है। विकेन्द्रित इस ढंग से है कि उसका केन्द्रीकरण सहसा ध्यान में नहीं आता है। इसलिए वह चुभता नहीं है और विकेन्द्रीकरण के सहारे प्रत्येक ग्राम-केन्द्र मानो अपने को काफ़ी दूर तक स्वाधीन अनुभव कर पाता है।

शासक प्रथम नहीं

शासन की जिम्मेवारी उठानेवाले को मैं प्रथमता नहीं दे पाता हूँ और इसको अव्यावहारिक भी नहीं मानता हूँ। हमारी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में क्षत्रिय का स्थान दूसरा है। यह बात पुरानी मालूम हो सकती थी लेकिन देश का फ़र्स्ट सेक्रेटरी राज्य के फ़र्स्ट मिनिस्टर से ऊपर अधिक प्रधान बनता है, तो उस पुरानी बात में नये सार को देखा जा सकता है। इस तरह एक व्यापक राज्य के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि जब वह खाने-पहनने और काम-धन्धे की सारी जिम्मे-दारी अपने ऊपर लेता है, तो दूसरे शब्दों में मानो वह जिम्मेवारी समाज के अपने ही ऊपर आती है।
राज्य उत्तरोत्तर नैतिक बनेगा और धार्मिक बनने का आग्रह कम करता जायगा तो उसकी व्यापकता बढ़ेगी। स्थूलता कम होगी और शस्त्रास्त्रपूर्वक नियन्त्रण रखने की विवशता उसके लिए उतनी अनिवार्य नहीं होगी। कारण वह राज्य लोक-मानस में प्रतिष्ठित होगा अंकुश के रूप में ऊपर से भय और आतंक उपजा कर काम नहीं साधना चाहेगा।

एक सेवाभावी प्रबुद्ध-वर्ग की सृष्टि

इससे आप देख सकेंगे कि यद्यपि कम्युनिस्ट राज्य-पद्धति केन्द्रित और अधिनायकीय है, तो भी अपनी पार्टी के लोक-पक्ष के द्वारा वह विकेन्द्रित और प्रजाकीय भी उतनी ही बन सकी है। वह यह प्रजापन और समाजपन के कारण है, राजपन के कारण उतना नहीं है। आप देख सकेंगे कि जो मैंने ऊपर कहा उसका आशय इसीमें घटित और फलित हो जाता है। यह धार और भी अधिक सिद्ध और सम्पन्न हो जायेगा अगर हम समाज में एक ऐसे वर्ग का निर्माण कर पायेंगे

होगी। ऐसा राज्य एक नये ढग का होगा और ऊपर से उसका लवाजमा बहुत बढ़ा-चढा नही दीखेगा। किन्तु उस देशवासियो मे एक सकल्प होगा, उनमे समता, सहयोग, स्नेह का भाव होगा और जनता के स्तर पर वह देश मानो एकाग्र और एकजुट होगा। यह जनशक्ति राज्यशक्ति के समान परस्पर प्रतिस्पर्धा मे पडने से बची रह सकेगी और वह किसीके लिए भय और आशका का कारण नही होगी। ऐसा सैन्य-मुक्त राज्य यदि आज सम्भव हो सके, तो मैं समझता हूँ कि वह राह खुल जाती है, जिससे नि शस्त्रीकरण स्वप्नमात्र न रह जाय, बल्कि व्यावहारिक सुविधा बन आये। जिस दुर्भाव मे विश्व की राजनीति और हमारी अन्तर्राष्ट्रीयता बढ़ी जा रही है, उसमे बहना ही एकमात्र माग नही है। बहने से इन्कार करके एक नया प्रयोग किया जा सकता है और करने का समय आ गया है। विज्ञान इतना बढ़ गया है और शस्त्रास्त्र की साघातिकता इतनी आगे आ गयी है कि मानो उससे उनकी व्यर्थता ही सिद्ध बनती है। अब अब शस्त्रास्त्र-श्रद्धा का एक ही है और वह यह कि हम प्रलय मे पडें। मानव-जाति के भाग्य को महाविनाश मे झुकना और फुकना नही है, तो इस तमाम उन्नति से एक ही सबक हमे लेना चाहिए और वह यह कि शस्त्र के सहारे चलने मे खैर नही है। शस्त्र मानव-जाति के लिए उपयोगी नही रह गया है, क्योंकि इतना खतरनाक हो गया है। बडे देश इस नि शस्त्र-प्रयोग का आरम्भ नही कर सकते, लेकिन कोई छोटा देश साहस को हाथ मे लेकर क्यो इस दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता है? उसके पास खोने को कुछ नही है। उसकी सुरक्षा आज भी शस्त्र-निर्भर नही है। लाख कोशिश पर भी शस्त्र के सम्बन्ध मे वह बडे देशो के समकक्ष नही हो सकता है। इस अनिवार्य अक्षमता को वह अपना बल क्यो न बना ले और सकल्प और विवेकपूर्वक नि शस्त्रता के अनुकूल अपने राजतन्त्र और अर्थतन्त्र का निर्माण करने मे क्यो न लग जाय?

विकेन्द्रीकरण केन्द्र का बल

जिन देशो मे राज्य ने रहन-सहन, असन-वसन और काम-धन्धे की सारी जिम्मेदारी उठा ली है, उनकी रचना के अध्ययन मे जाने की आवश्यकता है। वहाँ एक ऐसा दल काम कर रहा होता है, जिसके पास समान-शक्तिवाले दो पक्ष या पख हैं राज-पक्ष और लोक-पक्ष। उसमे भी लोक-पक्ष पर राज-पक्ष से अधिक बल है। कम्युनिस्ट-पार्टी के सेक्रेटरी जनरल का राज्य के प्रधानमन्त्री से अधिक महत्त्व होता है। इन दो पक्षो के सहारे वह व्यवस्था केवल ऊपर नहीं रहती, बल्कि भीतर भी पहुँच जाती है और इस तरह व्यापक भाव को थाम सकती

है। एक बार यह व्यापकता आयी कि फिर यह व्यवस्था आवश्यकता के अनुरोध पर अपने-आप केन्द्रित हो जाती है। मैं आपको सुझाऊँ कि यह विकेन्द्रितता है जो अन्त में उस केन्द्रित ढंगसे चलनेवाले राज्य का बल सिद्ध होती है।
कम्युनिस्ट-पार्टी में यदि यह लोक-पक्ष कमजोर पड़ जाय और राज-पक्ष गर्वोन्नत हो जाय तो यह केन्द्र-व्यवस्था आज ही संकट में पड़ सकती है। और इसमें है कि यह यदि केन्द्रित है तो अपनी ही भाषा में विकेन्द्रित भी है। विकेन्द्रित इस ढंग से है कि उसका केन्द्रीकरण सहसा ध्यान में नहीं आता है। इसलिए वह चुभता नहीं है और विकेन्द्रीकरण के सहारे प्रत्येक ग्राम-केन्द्र मानो अपने को काफी दूर तक स्वाधीन अनुभव कर पाता है।

शासक प्रथम नहीं

शासन की जिम्मेदारी उठानेवाले को मैं प्रथमता नहीं दे पाता हूँ और इसको अव्यावहारिक भी नहीं मानता हूँ। हमारी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में क्षत्रिय का स्थान दूसरा है। यह बात पुरानी मालूम हो सकती थी लेकिन दल का फर्स्ट सेक्रेटरी राज्य के फर्स्ट मिनिस्टर से ऊपर अधिक प्रभाव रखता है, तो उस पुरानी बात में नये सार को देखा जा सकता है। इस तरह एक व्यापक राज्य के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि जब वह खाने-पहनने और काम-धन्धे की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है तो दूसरे शब्दों में मानो वह जिम्मेदारी समाज के अपने ही ऊपर आती है।
राज्य उत्तरोत्तर नैतिक बनेगा और धार्मिक बनने का आग्रह कम करता जायगा तो उसकी व्यापकता बढ़ेगी। स्थूलता कम होगी और पराक्रमपूर्वक नियन्त्रण रखने की विवशता उसके लिए उतनी अनिवार्य नहीं होगी। कारण वह राज्य लोक-मानस में अधिष्ठित होगा मनुष्य के रूप में ऊपर से भय और आतंक उपजा कर काम नहीं साधना चाहेगा।

एक सेवाभावी प्रबुद्ध-वर्ग की सृष्टि

इससे आप देख सकेंगे कि यद्यपि कम्युनिस्ट राज्य-पद्धति केन्द्रित और अधिनायकीय है तो भी अपनी पार्टी के लोक-पक्ष के द्वारा वह विकेन्द्रित और प्रजाकीय भी चलती ही बन सकी है। बल यह प्रजापन और समाजपन के कारण है, राजपन के कारण चलता नहीं है। आप देख सकेंगे कि जो मैंने ऊपर कहा उसका आशय इसीमें घटित और गर्भित हो जाता है। वह सार और भी अधिक सिद्ध और सम्पन्न हो जायेगा अगर हम समाज में एक ऐसे वर्ग का निर्माण कर पायेंगे

होगी। ऐसा राज्य एक नये ढग का होगा और उसमे उतना खतरा भी यहाँ बढ़ा-चढ़ा नहीं दीखेगा। किन्तु इस व्यवस्था में एक सन्तुलन होगा, जो समता, सहयोग, स्नेह का भाव जगायेगा और आशा है उसके बल पर देश मानो एकाग्र और एकजुट होगा। वह आन्तरिक शक्ति के सहारे परस्पर प्रति-स्पर्धा में पड़ने से बची रह सकेगी और वह किसी के लिए भय और आतंक का कारण नहीं होगी। ऐसा मिश्र-मुक्त राज्य यदि आज सम्भव हो सके, तो मै समझता हूँ कि वह राह खुल जाती है, जिससे निःशस्त्रीकरण स्वप्नमात्र न रह जाय, बल्कि व्यावहारिक सुविधा बन आये। जिस दुर्भाव में विश्व की राजनीति और हमारी अन्तर्राष्ट्रीयता बढ़ी जा रही है, उसमे अब [illegible] मार्ग नहीं है। कहने में इन्कार नहीं कि इस ढंग का प्रयोग किया जा सकता है और करने का समय आ गया है। विज्ञान इतना बढ़ गया है और शस्त्रास्त्र की नाशकारिता इतनी आगे आ गयी है कि मानो उससे उनकी व्यर्थता ही सिद्ध होती है। अब अब शस्त्रास्त्र-श्रद्धा का एक ही है और वह यह कि हम भरम में पड़ें। मानव-जाति के भाग्य को महाविनाश में झुकाना और फूँकना नहीं है, तो इस तमाम उन्नति से एक ही सबक हम लेना चाहिए और वह यह कि शस्त्र के सहारे चलने में खैर नहीं है। शस्त्र मानव-जाति के लिए उपयोगी नहीं रह गया है, क्योंकि इतना खतरनाक हो गया है। बड़े देश इस नि शस्त्र-प्रयोग का आरम्भ नहीं कर सकते, लेकिन कोई छोटा देश साहस को हाथ मे लेकर क्यों इस दिशा मे आगे नहीं बढ़ सकता है? उसके पास खोने को कुछ नहीं है। उसकी सुरक्षा आज भी शस्त्र-निर्भर नहीं है। लाख कोशिश पर भी शस्त्र के सम्बन्ध मे वह बड़े देशो से समता नही हो सकता है। इस अनिवार्य असमता को वह अपना बल क्यों न बना ले और सकल्प और विवेकपूर्वक नि शस्त्रता के अनुकूल अपने राजतन्त्र और अर्थ-तन्त्र का निर्माण करने मे क्यो न लग जाय?

विकेन्द्रीकरण केन्द्र का बल

जिन देशो मे राज्य ने रहन-सहन, असन-वसन और काम-धन्धे की सारी जिम्मे-दारी उठा ली है, उनकी रचना के अध्ययन मे जाने की आवश्यकता है। वहाँ एक ऐसा दल काम कर रहा होता है, जिसके पास समान-शक्तिवाले दो पक्ष या पख हैं राज-पक्ष और लोक-पक्ष। उसमे भी लोक-पक्ष पर राज-पक्ष से अधिक बल है। कम्युनिस्ट-पार्टी के सेक्रेटरी जनरल का राज्य के प्रधानमन्त्री से अधिक महत्त्व होता है। इन दो पक्षो के सहारे वह व्यवस्था केवल ऊपर नही रहती, बल्कि भीतर भी पहुँच जाती है और इस तरह व्यापक भाव को थाम सकती

है। एक बार यह व्यवस्था आयी कि फिर यह व्यवस्था आवश्यकता के अनुरोध पर अपने-आप केन्द्रित हो जाती है। मैं आपको सुझाऊँ कि यह विकेन्द्रितता है जो अन्त में उस केन्द्रित समझी जानेवाले राज्य का बल सिद्ध होती है।
कम्युनिस्ट-पार्टी में यदि यह लोक-पक्ष कमजोर पड़ जाय और राज-पक्ष सर्वोपरि हो जाय तो यह केन्द्र-व्यवस्था आज ही संकट में पड़ सकती है। और इसमें है कि वह यदि केन्द्रित है, तो उतनी ही मात्रा में विकेन्द्रित भी है। विकेन्द्रित इस ढंग से है कि उसका केन्द्रीकरण सहसा ध्यान में नहीं आता है। इसलिए वह चुभता नहीं है और विकेन्द्रीकरण के सहारे प्रत्येक ग्राम-केन्द्र मानो अपने को काफी दूर तक स्वाधीन अनुभव कर पाता है।

शासक प्रथम नहीं

शासन की जिम्मेदारी उठानेवाले को मैं प्रथमता नहीं दे पाता हूँ और इसको अव्यावहारिक भी नहीं मानता हूँ। हमारी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में क्षत्रिय का स्थान दूसरा है। यह बात पुरानी मालूम हो सकती थी लेकिन दल का फर्स्ट सेक्रेटरी राज्य के फर्स्ट मिनिस्टर से अगर अधिक प्रधान बनता है तो उस पुरानी बात में मर्म सार को देखा जा सकता है। इस तरह एक व्यापक शब्द के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि जब वह खाने-पहनने और काम धन्धे की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है, तो दूसरे शब्दों में मानो वह जिम्मेदारी समाज के अपने ही ऊपर आती है।
राज्य उत्तरोत्तर नैतिक बनेगा और धार्मिक बनने का आग्रह कम करता जायगा तो उसकी व्यापकता बढ़ेगी। स्थूलता कम होगी और बलप्रयोगपूर्वक नियमन रखने की विवशता उसके लिए उतनी अनिवार्य नहीं होगी। कारण वह राज्य लोक-मानस में प्रतिष्ठित होगा अङ्कुश के रूप में ऊपर से भय और आतंक उपजा कर काम नहीं चलाना चाहेगा।

एक सेवाभावी प्रबुद्ध वर्ग की सृष्टि

इससे आप देख सकेंगे कि यद्यपि कम्युनिस्ट राज्य-पद्धति केन्द्रित और अधिनायकीय है, तो भी अपनी पार्टी के लोक-पक्ष के द्वारा वह विकेन्द्रित और प्रजातंत्रीय भी उतनी ही बन सकी है। वह यह त्यागपक्ष और समाजपक्ष के कारण है राजपक्ष के कारण उतना नहीं है। आप देख सकेंगे कि जो मैंने ऊपर कहा उसका तात्पर्य इसीसे कठिन और गम्भीर हो जाता है। यह सार और भी अधिक सिद्ध और सम्पन्न हो जायेगा अगर हम समाज में एक ऐसे वर्ग का निर्माण कर पायेंगे

जो स्वभाव और आदत से हमेशा से निज अन्तस में अपना स्थान रखना चाहेगा और किसी राजपद पर जाना स्वीकार नहीं करेगा। ऐसा इसलिए कि जिस देश और समाज में पाप यह [illegible] से अधिष्ठित प्रवृद्ध-मान हो, वह जितना ही जल्दी [illegible] हो जायगा। कम्युनिज्म जिस दिशा में बढ़ रहा है, यह बात उससे आगे की है, पीछे की नहीं है। आखिर क्या कम्युनिज्म स्वयं नहीं मानता कि राज्य को एक दिन समाज में विलीन होकर स्वयं में अनावश्यक हो जाना है। कम्युनिस्ट-प्रणाली [illegible] में अधिनायक-तन्त्र को सब पहली मंजिल के तौर पर आवश्यक माना है। डर यह है कि पहली मंजिल अंतिम ही न बन जाय और अधिनायकवादी यह राजतन्त्र की केन्द्रिकता अपने को विसर्जन को बिल्कुल तैयार न हो, बल्कि अन्दर ही अन्दर अपने को मजबूत बनाते जाने को ही मजबूर हो। जो बात मैंने कही, उस प्रयोग में मानो आरम्भ में यह खतरा बचा दिया जाता है। राजतन्त्र की [illegible] से वहाँ शुरू से ही स्वतन्त्र होकर चला जाता है और लोक-शक्ति पर ही आधार रखा जाता है।

समाज में राहें खुलें

अपराध में पड़ने की सम्भावना कम होगी कि जब समाज में से चारों ओर राहें खुलेंगी कि व्यक्ति अपनी शक्तियों का उत्कर्ष और उपयोग वहाँ कर सके। उन राहों के दरवाजों की चाबी जब ऊपर कहीं राज्य के पास रहती है तो व्यक्ति की मूल-वृत्त बँधी और बन्द रह जाती है। तब उसमें रोष और क्षोभ जन्म पाता है और वह विहित सीमाओं के उल्लंघन पर उतारू हो आता है। उसमें असामाजिकता का उदय होता है और व्यक्तिमत्ता के अहंकार के बल से चलना ही उसके पास रह जाता है। अपराध इसके सिवा भला और क्या है?

भार व्यक्ति पर और परस्परता पर पड़े

मनमानेपन को अवसर देकर अपराध कम किया जायगा, यह आशय आप न ले। नही, समाज एकदम बिखरा हुआ न होगा, वह जंगल जैसी अवस्था मे न होगा कि जहाँ हर जानवर भिट और माँद मे रक्षा पाता है और बाहर आता तो सिफ एक-दूसरे के शिकार के लिए आता है। नहीं, उस समाज मे धीरे-धीरे एक अन्त करण का जन्म होगा। व्याप्त भाव से वह समाज लोगो को अवसर भी देगा और सहज भाव से यथावश्यक मर्यादाओ मे भी रखेगा। रहन-सहन-सम्बन्धी प्राथमिक आवश्यकताएँ उसे यदि चिन्तित नहीं रखेंगी, तो सहज भाव से सास्कृतिक आवश्यकताएँ उसके मन मे जन्म लेने लगेंगी। यहींसे अपराध

जो स्वभाव और साहस से हमेशा के लिए जन-मन मे अपना स्थान रखना चाहेगा और कभी राजपद पर अपना अधिकार नहीं करेगा। आप देखें कि जिस देश और समाज के पास यह सदाचारी शासन मे अधिष्ठित प्रबुद्ध-वर्ग हो, वह कितना न बलशाली हो जायगा। कम्युनिज्म जिस दिशा मे बढ़ रहा है, यह बात उससे आगे की हो है, पीछे की नहीं है। आखिर क्या कम्युनिज्म स्वयं नहीं मानता कि राज्य को एक दिन समाज से निर्लीन होकर स्वयं मे अनावश्यक हो जाना है। कम्युनिस्ट-प्रक्रिया बीच मे अधिनायक-तन्त्र को बस पहली मजिल के तौर पर आवश्यक मानती है। डर यह है कि पहली मजिल अन्तिम ही न बन जाय और अधिनायकाधीन वह राजतन्त्र की केन्द्रितता अपने को बिखराने को बिलकुल तैयार न हो, बल्कि अन्दर ही अन्दर अपने को मजबूत बनाती जाने को ही मजबूर हो। जो बात मैंने कही, उस प्रयोग मे मानो आरम्भ से वह खतरा बचा दिया जाता है। राजतन्त्र की निर्भरता से वहाँ शुरू से ही स्वतन्त्र होकर चला जाता है और लोक-शक्ति पर ही आधार रखा जाता है।

समाज में राहें खुलें

अपराध मे कटने की सम्भावना कम होगी कि जब समाज मे से चारो ओर राहें खुलेंगी कि व्यक्ति अपनी शक्तियो का उत्सर्ग और उपयोग वहाँ कर सके। उन राहो के दरवाजो की चाबी जब ऊपर कही राज्य के पास रहती है, तो व्यक्ति की सूझ-बूझ बँधी और बन्द रह जाती है। तब उसमे रोष और क्षोभ जन्म पाता है और वह विहित सीमाओ के उल्लघन पर उतारू हो आता है। उसमे असामाजिकता का उदय होता है और व्यक्तिमत्ता के अहकार के बल से चलना ही उसके पास रह जाता है। अपराध इसके सिवा भला और क्या है ?

भार व्यक्ति पर और परस्परता पर पडे

मनमानेपन को अवसर देकर अपराध कम किया जायगा, यह आशय आप न ले लें। नहीं, समाज एकदम बिखरा हुआ न होगा, वह जगल जैसी अवस्था मे न होगा कि जहाँ हर जानवर भिट और माँद मे रक्षा पाता है और बाहर आता तो सिफ एक-दूसरे के शिकार के लिए आता है। नहीं, उस समाज मे धीरे-धीरे एक अन्त करण का जन्म होगा। व्याप्त भाव से वह समाज लोगो को अवसर भी देगा और सहज भाव से यथावश्यक मर्यादाओ मे भी रखेगा। रहन-सहन-सम्बन्धी प्राथमिक आवश्यकताएँ उसे यदि चिन्तित नहीं रखेंगी, तो सहज भाव से सास्कृतिक आवश्यकताएँ उसके मन मे जन्म लेने लगेंगी। यहींसे अपराध

७

सेक्स, वेश्या, शराब, जेल, प्रशासनिक ढील

सरकार की जिम्मेदारी

१९१ हमारे देश में सेक्स-सम्बन्धी अपराध दिन पर दिन बहुत बढ़ते जा रहे हैं। इसका आप क्या कारण मानते हैं और समाज एवं सरकार को कितनी दूर तक ऐसे अपराधों के लिए जिम्मेदार समझते हैं?

—वैसे अपराध और देशों में भी बढ़ रहे मालूम होते हैं। दूसरे देशों में सुविधा यह भी है कि बहुत दूर तक इस दिशा का अवैध आचरण वहाँ अपराध नहीं माना जाता। लेकिन इसको विधि का नहीं व्यवहार का दोष मानना चाहिए। यह दोष शिथिलाचार का है। कानून में कठोरता है, यह नहीं मानना चाहिए।

सरकार से सेक्स के प्रश्न को छोड़ना चाहते हुए चले जाना है। समाज तक ही उसकी सम्पत्ति को रखना चाहिए। यह ठीक है कि समाज-व्यवस्था के नियम अन्त में जाकर कानून में मूर्त होते हैं। तो भी जब 'लॉ एण्ड आर्डर' पर ही आ जाती है, तब कानून स्थिति को हाथ में लेता है और सेक्स का प्रश्न बहुत दूर तक इस तरह कानून से बचा रह जाता है।

काम की अवमानना

सेक्स के प्रति सहानुभूति से विचार होना चाहिए। निवृत्ति और मोक्ष की भाषा के आग्रह में जब हमने सोचा तो मानो सेक्स के प्रति कुछ अवमानना का भाव उचित जान पड़ने लगा। इन्द्रियों का अविश्वास पैदा हुआ और सबसे अधिक कामेन्द्रिय का। इस तरह धर्म और कर्म में विभेद ही नहीं विरोध पैदा हो गया और जीवन में इस तरह एक खिंचाव और तनाव बन रहा।

जो पुरुषार्थ चार गिनाये गये हैं और काम भी पुरुषार्थ में गिनता है। अर्थात् यह हेय नहीं है, उपादेय भी है। उस ओर से उदासीनता और उपेक्षा नहीं बल्कि स्वीकार और समावेश की वृत्ति होनी चाहिए।

हैरान-परेशान न हो। कम्युनिज्म की सफलता मे यह तथ्य मेरे विचार मे बडा सहायक हो रहा है। और तो और, सैनिक-तन्त्रशाही के नीचे भी लोगो ने राहत की सांस ली है। राजनीति के व्यवसायी जन मानो समाज-जीवन को इतना चचल और गँदला कर देते हैं कि व्यवस्था की दृढ़ता लोगो को भली लग आती है, अव्यवस्था की स्वतन्त्रता बुरी लगने लगती है। कम्युनिज्म ने यह यदि इष्ट साधा है, तो उसकी प्रशसा करनी होगी। लेकिन प्रशसा वह हिंसा-परायणता की है, ऐसा आप न मान लें। सच यह कि जहाँ से हिंसा आती है, ठीक वही उनकी सफलता भी रुक जाती है। उस हिंसा के पीछे जो लोक-बल का समर्थन उन्हे प्राप्त रहता है, वही उनकी शक्ति है। सम्पूर्ण लोक-बल और उसका सम्पूर्ण समर्थन हो, तो हिंसा की जरूरत ही क्यो रह जाय?

हिंसा जिसमे दीखे, उसमे गुण हमे दीख ही न सकें, तो यह अन्धापन है। मैं मानता हूँ कि उन गुणो के स्वीकार और सत्कार के आधार पर ही यदि कभी उसमे से हिंसा का परिहार आयेगा, तो आ सकेगा। निन्दा मे से कभी कुछ नहीं हुआ है, क्योंकि निन्दा स्वय निर्वीय हिंसा है।

वैध हिंसा से अपराधोन्मूलन नहीं होगा

अपराध मूल मे हिंस्र-वृत्ति का ही नाम है। यदि वह हिंस्र-वृत्ति पडी हुई है लोगो के मनो मे, तो यह उन्नति और सस्कृति का लक्षण है कि हम उसे व्यवस्थापूर्वक विहित और वैध राज्य के रूप मे विठाकर उपयोगी बनाते हैं। इस वैधानिक हिंसा से अपराधरूप हिंसा का सामना लेना और उसे दलित-पराजित करना गलत नही है। समाज की ओर से ही यह इष्ट है। लेकिन इसके नीचे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि अधिक से कम को दबाया जा सकेगा, विहित से अविहित को दला जा सकेगा, लेकिन अपराधी हिंसा का उन्मूलन इस वैध हिंसा से सर्वथा हो जायगा, यह सम्भव नही है। अन्त मे हर हिंसा को अहिंसा से ही कटना है। बन्दूक से लाठी दब जायगी, लेकिन लाठी आप ही आप हाथ से गिर जाय, यह घटना तब तक नही हो सकेगी, जब तक सामनेवाले के हाथ मे बन्दूक रहेगी। वह इष्ट घटित होगा तो तब जब सामनेवाले के हाथ मे कुछ भी न होगा, सिर्फ मन मे स्नेह और बाँहो मे आमन्त्रण होगा। इसकी पहचान और श्रद्धा यदि कम्युनिज्म मे नहीं है तो इसके लिए उसकी प्रशसा कैसे कर सकता हूँ? ●

७

सेक्स, वेश्या, शराब, जेल, प्रशासनिक ढील

सरकार की जिम्मेदारी

१९१ हमारे देश में सेक्स-सम्बन्धी अपराध दिन पर दिन बहुत बढ़ते जा रहे हैं। इसका आप क्या कारण मानते हैं और समाज एवं सरकार को कितनी दूर तक ऐसे अपराधों के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं?

—वैसे अपराध और देशों में भी बढ़ रहे मालूम होते हैं। दूसरे देशों में सुविधा यह भी है कि बहुत दूर तक इस दिशा का अवैध आचरण वहाँ अपराध नहीं माना जाता। लेकिन इसको विधि का नहीं व्यवहार का दोष मानना चाहिए। यह दोष शिष्टाचार का है। कानून में कठोरता है, यह नहीं मानना चाहिए।

सरकार से सेक्स के प्रश्न को जोड़ना बड़ा दूर चले जाना है। समाज तक ही उसकी गति को रखना चाहिए। यह ठीक है कि समाज-व्यवस्था के नियम अन्त में जाकर कानून में मूर्त होते हैं। तो भी जब 'लॉ एण्ड आर्डर' पर ही आ बनती है, तब कानून स्थिति को हाथ में लेता है और सेक्स का प्रश्न बहुत दूर तक इस तरह कानून से बचा रह जाता है।

काम की अवमानना

सेक्स के प्रति सहानुभूति से विचार होना चाहिए। निवृत्ति और मोक्ष की भाषा के आग्रह में जब हमने सोचा तो मानो सेक्स के प्रति कुछ अवमानना का भाव उचित जान पड़ने लगा। इन्द्रियों का अविश्वास पैदा हुआ और सबसे अधिक कामेन्द्रिय का। इस तरह धर्म और कर्म में विभेद ही नहीं विरोध पैदा हो गया और जीवन में इस तरह एक खिंचाव और तनाव बन रहा।

यों पुरुषार्थ चार गिनाये गये हैं और काम की पुरुषार्थ में गणना है। अर्थात् वह हेय नहीं है, उपादेय भी है। उस ओर से उदासीनता और उपेक्षा नहीं बल्कि स्वीकार और समावेश की वृत्ति होनी चाहिए।

काम अविजेय

यह बात साफ है कि पुरुष और स्त्री अलग-अलग में अपूर्ण हैं। जीवन का सातत्य, जो सन्तति द्वारा सिद्ध होता है, किसी एक से बन सकता नहीं है। दोनों के परस्पर मिलन से ही जीवन अग्रसर होता है। सृष्टि की यही प्रक्रिया और युगों की परम्परा [illegible] रही है। पुरुष का अपने में अकेलापन और स्त्री का अपने में अधूरापन यदि न होता, तो दोनों के मिलन से ही सृष्टि का क्रम चलायमान हुआ न दिखाई देता। इसलिए कहा जाता है कि काम का निरोध होता नहीं है, [illegible] किया जाता है, तो भी [illegible], विजय काम की होती है। यह काम क्या इस प्रकार से अविजेय होता है?

एकपिता असत्य

स्पष्ट ही इस कुत्सित [illegible] की धारणा यह है कि एकपिता असत्य है। परम्परा ही सत्य का आरम्भ है। परम्परा में कुछ मान कर जब-जब व्यक्ति ने, चाहे आत्म के नाम पर, चाहे भगवान के नाम पर या चाहे किसी और नाम पर अपनी सत्ता चाहनी है, तो अन्त में [illegible] ही उसके हाथ से रह गया है, सिद्धि तनिक भी नहीं आ पाती है। स्व तो पर के बिना स्थिति ही नहीं है। जीवन का सनातन आरम्भ स्व-परता के बोध से होता है। आरम्भ ही स्व-परता से है, लेकिन गति परस्परता में न होती है। पर में स्व-भाव जाते और स्व में पर का स्वीकार करते हैं, तब जीवन का चलना और निखरना शुरू होता है। भूख और भाव ये दोनों इस तरह जीवनारम्भ में ही हमको प्राप्त हो जाते हैं। पर के प्रति सम्बन्ध का आरम्भ इन दोनों वासनाओं में रूप पाता है। भूख अपने को नहीं खा सकती, भोगने के लिए भी अन्यत्व की जरूरत होती है। जीवित प्राणी में इस तरह ये दोनों वासनाएँ आप मूल तक पायेंगे।

काम का इनकार : अहं का स्वीकार

काम का इनकार मानो नितान्त अहं का स्वीकार बन जाता है। अहं टिकने के लिए है नहीं। वह टिकता इसी शर्त पर है कि वहाँ से सम्बन्धों का विस्तार हो और सम्बन्धानुभूति के लिए वह चित्-केन्द्र में अधिक न रहे। यदि सम्बन्धों के ही सूत्र आकर वहाँ मिलते नहीं हैं, तो अहं मानो घुट जाता और सूखता जाता है। आदमी जो पागल हो जाता है, कभी अकेलेपन के त्रास में मर तक जाता है, सो इसी कारण।

परस्परता और प्रेम

परस्परता मे जब क्षति आती है, अवरोध आता है, तो समस्या बनी खड़ी दिखाई देती है। परस्परता का फैलाव और विस्तार होता जाता है, तो मानो समस्या की जगह सुख और स्वास्थ्य का अनुभव होता है और व्यक्ति तुच्छ और स्वल्प से ऊँचा और महान् बनता है। इस परस्परता के विस्तार को प्रेम और उसका विस्तार कहना चाहिए। इस तरह काम का प्रकाश प्रेम है। काम काम इसलिए है कि वह सीमित है। प्रेम प्रेम इसलिए है कि वह सीमा मे नही है। वैयक्तिक सम्पर्क जहाँ तक है, वही तक काम है प्रेम मानो इस व्यक्तिमत्ता के विसर्जन से शुरू होता है।

अहं रक्षण और अहं-विसर्जन

सेक्स मिश्रण है अहं रक्षण और अहं विसर्जन की दो अनिवार्य और विरोधी प्राण प्रेरणाओं का। इस तरह उसमे एक विस्फोटक तत्त्व विद्यमान रहता है। लोग इसीसे उसमे असामाजिकता के बीज देखते है। वे बीज है भी। लेकिन अहं को इनकार करें, तो मानो समस्त अस्तित्व का अर्थ ध्वस्त हो जाता है। सृष्टि के अर्थ को धारण करनेवाला अन्त मे 'मैं' ही तो है। 'मैं' को हटा दीजिये तो अर्थ अपने-आप हट जाता है और सब कुछ अर्थहीन बन जाता है। मैं को सर्वथा हटाने की चेष्टा मे से ऐसे अर्थहीन व्यर्थ और निरर्थक व्यक्तित्व बहुत से पैदा होते रहे है। सामाजिक मनुष्य ऐसे प्राणी को अनोखा मानकर चाहे उसके प्रति श्रद्धा भी लाया हो पर मानो वे व्यर्थता के ही प्रतीक बन रहे है। उनसे अर्थ और परमार्थ की हानि ही हुई है। इसलिए काम की विस्फोटक शक्ति से हम काम कैसे लें और अपना काम बिगड़ने न दें, इसीमे ज्ञान की और कला की कुशलता है। ज्ञान विज्ञान अथवा कला इस कुशलता से हटते है और इस प्रकार व्युत्पन्नता नही दिखा पाते तो वे भ्रष्ट और विकृत होते है।

परस्परता की क्षति में से अपराध

अपराध का निर्माण इसी क्षति मे से होता है। आग हमारे चूल्हे मे नही जलती है तो वह खाना नही पकाती घर जला देती है। आग के आगपन का इसमे दोष नही है। उस आगपने के कारण ही तो खाना हमारा बन पाता है। दोष कहीं हमारी असावधानी मे ही रहता है। आग का काम यदि जलाना है, तो वह काम कभी बदल नही सकेगा। वह उसका स्वभाव है, धर्म है। वस्तु-स्वभाव और वस्तु-धर्म को समझना उसके प्रति किसी हठ मे नहीं रहना ही सम्यक् ज्ञान और

सम्यक् चारित्र्य है। जब हम अपने से पर के स्वभाव और स्वधर्म पर रुष्ट होते हैं, दोष वहाँ डालते हैं, तो अधर्म करते हैं। अधर्म इसलिए करते हैं कि दोष अपने प्रति नहीं लेते। प्रत्येक अन्य को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके ही हम अपना व्यवहार चला सकते और उसको उत्तरोत्तर निष्पन्न करते जा सकते हैं। काम और कामना के आवेग में अधिकाश यही हो जाया करता है। प्रत्येक के भीतर यह आवेश पडा हुआ है और परस्पर के प्रति प्रतिक्षण काम किया करता है। जहाँ हम स्वत्व-परत्व की मर्यादाओ का इसमें उल्लघन कर जाया करते हैं, वहीं उलझन और गाँठ पड जाती है। कसने पर वहींसे अपराध बनने लग जाते हैं।

विवाह, गिरिस्ती

हमने अपने बीच एक सस्था को जन्म दिया है, जिसे विवाह कहते हैं। पिछडी या बढी हुई, बर्बर या सभ्य, सभी जातियो मे विवाह का प्रचलन है। विधि और प्रकार का अन्तर हो सकता है, लेकिन समाज के रूप मे आते ही मानो व्यवस्था के लिए इस प्रकार की आवश्यकता सहज अनुभव मे आ जाती है और तदनुकूल प्रयोग हो निकलता है। आदमी ने आग से भुनकर या हाँडी मे पकाकर भोजन का आविष्कार कब किया, इसका इतिहास मे पता नहीं मिलेगा। उपयोग मे लाने की आवश्यकता और साथ अनुपयोग से बचने की आवश्यकता का जिस क्षण आदमी को भान हुआ, उसी क्षण मानो उसने अग्नि के समान कामाग्नि पर भी कुछ व्यवस्था का नियमन डाल दिया। यो तो स्त्री के प्रश्न को लेकर लडाइयाँ आदिकाल से अब तक होती आयी हैं, लेकिन ठीक उसी आदिकाल से स्त्री को लेकर हमने गिरिस्ती जैसी चीज का भी अपने बीच आरम्भ कर लिया है।

एक आग, दो रोटियाँ

विवाह वह प्रयोग है, जो स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध में मर्यादा लाता है। उस मर्यादा की रेखा पर मानो बराबर एक रगड और झगड-सी चलती रहती है। ऐसा कभी नहीं हो पाता कि चूल्हे की आग पतीली को ही लगे, आस-पास गर्मी न दे। चूल्हे पर तवा चढा होता है, लेकिन एक रोटी नीचे सिर्फ गरमी से भी सिकती चली जाती है। आग एक ही साथ दो रोटियों को अलग-अलग पकाती है, लेकिन स्तर-भेद से उन दोनो का अलग-अलग स्थान होता है। यह समझना कि विवाह के अनन्तर पति-पत्नी के अतिरिक्त शेष सब सम्बन्धो में कामोष्मा समाप्त रहती है, भूल में चलना है। यह सम्भव नहीं है। पुरुष में किसी रूप को देखकर चमक आ जाय, या स्त्री की आँखों में वह चमक दिखाई दे और इतने से पति-पत्नी एक-दूसरे पर

उभर पड़े और सतह निकलें तो क्या होगा? कामोष्मा इस प्रकार के डर से क्या अपने को मिटा सकेगी? होगा केवल यह कि उसकी अभिव्यक्ति सहज और प्रकृत न रहेगी। वह छिपे ढके अप्राकृतिक अवसरों में प्रगट होगी।

व्यवस्था सम्पत्तिमूलक

व्यवस्था हमारी सम्पत्तिमूलक रही है, कुछ दूसरी हो भी नहीं सकती। कितनी भी समाजवादी साम्यवादी, सर्वोदयवादी वह क्यों न हो स्वत्व और सम्पत्ति का भाव व्यवस्था के आधार में रहने ही वाला है। निरपेक्षता से हटकर सापेक्षता के स्तर पर हम इस भाव को भले ले जायें लेकिन व्यवस्था का अर्थ ही अनेक स्वत्वों के बीच एक मर्यादा का निर्माण करना है। अर्थात् स्वत्व और सम्पत्ति के भाव से मुक्ति अन्त तक नहीं है। विवाह भी समाज-भावना के उसी स्तर तक उठ सकता है, जिस तक हमारा दूसरा व्यवहार उठा हुआ हो।

पूँजीवाद

एक शब्द चलता था और चलता है पूँजीवाद। दूसरा शब्द आप चाहें तो चला सकते हैं समूहवाद या राज्यवाद। विवाह को इस सारे प्रकार के सहारे से हम टिकाये रखते हैं और ऐसे अपने बीच मर्यादाएँ बनाये रखते हैं। लेकिन जीवन विकासशील है और इसलिए उन तत्त्वों से वह शून्य नहीं हो सकता जो मर्यादाओं के आर पार प्रवाहित होते और इस विधि स्वयं मर्यादाओं की मर्यादितता को स्पष्ट करते रहते हैं। उन तत्त्वों के सहारे परिवर्तन और विकास होता है और क्रम हमारी सामाजिक संस्थाएँ संकोच से उदात्त होने की ओर बढ़ती जाती हैं।

सेक्स की उलझनें

मन के साथ के अधीन देह क्रम से बनी सीमितता और हृदय में से उठती हुई व्याप्तता के बीच संघर्ष अनिवार्य होता है। इस तरह समस्याएँ भी बने बिना नहीं रहतीं। अर्थ के क्षेत्र में उन समस्याओं का निपटारा अपेक्षाकृत आसान दीखता है। कारण, राग भाव रहने पर भी बुद्धि और गणित का उपयोग वहाँ सम्भव बन जाता है। सेक्स के क्षेत्र में मानो वे ही समस्याएँ बेहद उलझ आती और बड़ी विकट और उत्कट दीखती हैं। कारण, बुद्धि इतनी रागाक्रान्त हो जाती है कि काम नहीं दे पाती। स्व और स्वकीय की बेहद आसक्तता वहाँ नजर आती है, पर और परकीय के प्रति बाधा मानो बिलकुल नहीं बच रहता। इसलिए उन प्रसंगों में अलग-अलग दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। हत्याएँ हो सकती हैं, आत्म-हत्याएँ

हो सकती हैं या और क्रूरताएँ प्रकट हो जाती है। जिनमे कभी गाढा स
उन्हीके बीच इतनी घृणा फूट आती है कि उस मनोदशा की सम्भावनाआ व
नही रह जाती है। मुझे लगता है कि इन प्रश्नो का निदान और समाधान
दूर तक सामाजिक विचार के पास है। अधिक तो इन प्रश्नो का सम्बन्ध
विज्ञान की दिशा मे होता है और वही गवेषणा की आवश्यकता है।

किराये के सम्बन्ध अशुभ

१९४ वेश्या-वृत्ति को व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आप
दूर तक शुभ अथवा अशुभ मानते हैं? क्या कानून के जोर से वेश्यावृत्ति का
अथवा उन्मूलन सम्भव है? सरकार ने वेश्या-वृत्ति को कानूनन बन्द कर
सचमुच जन-जीवन से उसे समाप्त कर दिया है?

—वेश्यावृत्ति को मैं शुभ कैसे मान सकता हूँ?
अशुभ जो उसमे है, वह और रूपो मे भी समाज मे व्याप्त है। इसलिए इ
को दूसरे प्रश्नो से अलग मैं नही ले पाता हूँ।
व्यक्तिगत और सामाजिक स्वास्थ्य का प्रश्न कुछ आत्मगत नही रहता है। इ
इस सम्बन्ध मे सहसा फतवा नहीं दिया जा सकता। साधारणतया स्त्री-पु
बीच किराये का सम्बन्ध अशुभ है ही। लेकिन उपयोगिता की ओर से विचार
पर मालूम होता है कि प्रश्न मे और पहलू निकलते हैं और फैसला सीधा
हो पाता।

कानून से सही रोक-थाम असम्भव

कानून के जोर से पोषण तो अवश्य सम्भव है। आखिर जहाँ उस प्रथा का
है, तो पोषण उसे कानून की ओर से ही तो आता है। उन्मूलन अवश्य उस
असम्भव है। बहुत जोर लगाइये, तो इतना अवश्य कर लीजियेगा कि
बाजार खाली हो जाय, कानून की ओर से लाइसेन्स पट्टा किसीको न मिले, इत्या
लेकिन वह व्याधि अविहित और अनिर्दिष्ट रूप से वापस समाज-शरीर की शि
मे प्रवेश पाये, तो उसकी रोक-थाम कैसे कर पाइयेगा? इसलिए यद्यपि कानून
चाहिए कि वह अपनी ओर से भरसक करता रहे, लेकिन सन्तोष मान ले
अपने को शाबाशी देने लग जाय, इसका अवसर कानून को भी कभी
आना चाहिए।

१९५ आपके उत्तर बहुत नाकाफी रह गये। अच्छा हो, यदि आप ऊपर के
एक प्वाइंट को लेकर उस पर थोड़ा विस्तृत विचार कर लें।

—जो उन मुद्दों में अस्पष्ट रह जाता हो उसको तुम्हीं न सामने लाकर रखो। तब तो मालूम हो कि कहाँ क्या और कहने की आवश्यकता रह जाती है।

वेश्यावृत्ति और सामाजिक स्वास्थ्य

१९६. सृष्टि के आरम्भ से चली आनेवाली इस वेश्या-वृत्ति को आप अशुभ क्यों मानते हैं? सामाजिक स्वास्थ्य के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता उसे आप क्यों नहीं समझते हैं?

—सृष्टि के आरम्भ से नारी है यह तो सही है पर वेश्या है, यह कैसे माना जा सकता है? वेश्या पैसे के आरम्भ से पहले हो नहीं सकती। मानव-जाति के इतिहास में अवश्य वह एक ऐसा समय है, जिसका पता लगाया जा सकता है। आखिर एवजाना और कीमत देकर जब भोग के लिए नारी को प्राप्त करते हैं, तभी तो उसे वेश्या कहते हैं। कीमत पैसे के रूप से चुकाने की विधि ही न हो तो वेश्या की स्थिति नहीं बन पाती।

कृत्रिमता ही अस्वास्थ्य

सामाजिक स्वास्थ्य हार्दिक भी हो यह अनिवार्य है। हार्दिक से अधिक जितना वह कृत्रिम होता है, उतना ही उसमें अस्वास्थ्य मिल जाता है, यह देखना और पहचानना कठिन नहीं होना चाहिए।

तुम्हारा प्रश्न इस जगह आकर पड़ रह जाता है कि अस्वस्थ समाज को अस्वास्थ्य की सुविधा देते रहने में आपको क्या आपत्ति है?

इस प्रश्न के उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकेगा कि अस्वस्थता का निमाव ही करता है और वह इस दृष्टि से कि अन्त में स्वास्थ्य बन जाय हो। टाँगों में यदि चलने की शक्ति नहीं आती है तो टिकने को बैसाखी दे दें इसमें हर्ज नहीं है लेकिन स्वस्थ वह तब कहलायेगा जब बैसाखी का सहारा उसे न होगा और टाँगें चल सकेंगी।

प्रश्न को सिरे से नहीं बीच से लेना है यह कहना कि यदि इन वेश्याओं से वेश्या-वृत्ति छिन जायगी तो फिर क्या होगा? मैं स्वयं उस जगह से विचार करने को तैयार हूँ, पर वह केवल नागरिक विचार होगा। अर्थात् उपयोगी विचार, वैज्ञानिक या सत्य विचार वह नहीं हो सकेगा।

वेश्या-वृत्ति की जड़ क्या है?

१९७. मैं यह जानना चाहूँगा कि वेश्या-वृत्ति की जड़ में आर्थिक-विवशता प्रधान

है या काम की उद्दीप्तता या एक रोमानी कल्पना या अपने अहंकार के विस्तार की कामना ? इस प्रश्न के उत्तर के आधार पर ही हम विचार कर सकते हैं कि यह वेश्या-वृत्ति शुभ है या अशुभ अथवा इसका उन्मूलन किस प्रकार किया जाय।

इस सस्था का पूरा चित्र

—वेश्या नाम की सस्था के कई कोने हैं। दो तो साफ हैं (१) वह पुरुष, जो ग्राहक बनता और पैसा देता है। (२) वह स्त्री, जो कुछ बेचती और पैसा पाती है। लेकिन यह बाजार सीधे इन गाहक और बेचक से नही बन जाता। ये दो मात्र व्यक्ति हैं, वेश्या-सस्था सामाजिक है। अर्थात् दूसरे और सहयोगी हो, तब यह बाजार चलता है। यह कोई छिपी बात नही है कि यह बाजार भी पूंजी के नियमो से चलाया जाता है और उस बल-बूते पर भी चलाया जाता है। मैंने शायद कहीं पहले जर्मनी मे मिले व्यक्तियो मे से किसीकी बात कही थी, जो इसके आसपास का ही व्यापार करता था। लेकिन बहुत पाबन्द और परहेजवाला आदमी था। उसको स्त्री मे रस नही रह गया था, न उसमे कुछ नव्यता जान पडती थी। भोग्यवृत्ति मानो उसमे थी, तो वह किसी उत्तीर्ण बौद्धिक स्तर पर थी। शायद वह अपने नाइट-क्लब मे कभी जाता भी न हो, वही-खाते उसके पास दफ्तर मे ही पहुंच जाते हो। तो वेश्या के बाजार के लिए यह आदमी कुछ कम प्रधान नहीं होता है। यह बाजार को चलाता है पर उसकी रगीनी मे रस नही लेता है, सिर्फ आमदनी मे रस लेता है। उसका रस ऊपरी नही है, भीतरी है और जब हम वेश्या की बात करते हैं, तो अक्सर इस आदमी को नजर से ओझल रहने देते हैं। दस-पन्द्रह-बीस वेश्याएँ अपनी वृत्ति छोड दें, तो बाजार मे फर्क नहीं आता है। लेकिन यह एक अकेला आदमी जो यो बाजार मे खुला दीखता भी नही है, कही वहाँ से बेहद हटा हुआ और दूर मालूम होता है, उस सारे बाजार मे उलट-पलट ला सकता है। इस आदमी को स्वय वेश्याओ से कम काम पडता है, अपने एजेण्टो से ही बात करना उसे जरूरी और काफ़ी रहता है। सक्षेप मे इस सारे बाजार का चित्र हमारे सामने तब उपस्थित होगा, जब हम आनेवाले पैसे का पीछा करेंगे और मालूम करेंगे कि उसके लाभ का बँटवारा कैसे होता है। सम्भव है कि ग्राहक के पास से बीस रुपये खर्च हुए और अपना भोग बेचनेवाली के हाथ उसमे से दो ही रुपये पडे। बाकी अठारह रुपयो का क्या हुआ, इसके अध्ययन मे से वेश्यावृत्ति का पूरा चित्र सामने आ सकता है। बहुत थोडा भाग है, जो सतह के ऊपर दिखाई देता और इसलिए पकड मे आ जाता है, अधिक भाग तो उसका सतह के नीचे पानी मे तैर रहा है और उसका लेखा-जोखा मामूली तौर पर हमारे हिसाब से बचा रहता है। मत मानिये

कि अगर खरीदनेवाले भाग को आप कानून के फरसे से काट देते हैं, तो मामला कट जाता है। वेश्या-वृत्ति के लिए समस्त सेक्स-वृत्ति को आपको समझना चाहिए। मैं नहीं जानता कि ये दो पक्ष यदि व्यक्ति में इतने पास हैं तो उनका निकास भी क्या एक जाल से है। लेकिन अर्थ-व्यापार के विचार से अलग वेश्या के प्रश्न का विचार पक्षग्राही ही होगा मूलग्राही नहीं होगा यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

ग्राहक और दुकानदार की प्रेरणाएँ

अब मैं सब प्रकार के व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रेरणाओं से चल रहे हैं, इसके बारे में निर्णय एक नहीं हो सकता। जो पैसा जेब में लेकर ग्राहक बनकर जाता है, उसकी प्रेरणा वैयक्तिक काम-क्षुधा से सम्बन्ध रखती है, यह तो कहा ही जा सकता है। क्षुधा अतृप्त है, या अधिक तीव्र है, या मन-विकृत है, या प्रतिक्रिया में से उत्पन्न हुई है, इत्यादि जो भी निदान हो यह काम-सापेक्ष अवश्य है। नारी जो दाम लेती और फीस पाती है, वह देह-दान में से भोग-तृप्ति पा रही होगी यह मानने में कठिनाई होती है। यह उसके लिए इतना अधिक धन्धा है कि अगर बेज़ार और मुसीबत जैसा ही भाव उस नारी में रहता हो, तो मुझे अचरज न होगा। अब कैसे वह इस बाज़ार के किनारे तक आकर लगी इसमें नाना परिस्थितियों और नाना परिणतियों का योग हो सकता है। कितनी खिंचकर आयीं कितनी छिनकर आयीं, कितनी आप आयीं कितनी आदमी के घाव और क्षोभ में आयीं, कितनी स्वप्नाकांक्षाओं को रखती हुई आयीं कितनी खीज और विक्षोभ में घर से टूटकर बाहर आयीं इत्यादि असंख्य सम्भावनाएँ हैं। कल तक पैतृक व्यवसाय के रूप में भी यह चीज़ चलती थी और नन्ही बच्चियों को इस पेशे के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। यह सब गवेषणा का विषय है और कुछ परिशोधक इस काम में लगे भी हुए हैं।

प्रश्न का समग्र रूप

लेकिन मैं यह मानता हूँ कि प्रश्न को समग्र रूप में लें तो समस्त सौदे में खरीदनेवाले दो व्यक्ति प्रधान नहीं रह जाते हैं, बल्कि वे तो बीच तक बन जाते हैं। मैं जिस साबुन से नहाता हूँ वहाँ तक कैसे पहुँचता है वह क्यों तैयार होता है इत्यादि प्रश्नों में उतरें, तो बहुत से रहस्य निकल आ सकते हैं। मामूली तौर पर तो यही होता है कि घर से कोई जाता और दुकान से साबुन ले आता है। ऊपरी खरीद-बिक्री इतनी ही है। लेकिन ऐसी अदृश्य व्यक्तिगत बिक्रियों के द्वारा एक बड़ा व्यापार

चलता है। उसका रूप समझने के लिए जिस्म को कहीं तक सीमित नहीं करना होगा। आदमी में भूख है, इसीलिए रोटी से कीमत पड़ती है। इस नियम का लाभ उठा कर बंगाल का अकाल पड़ा और अगर उसमें लाखों को मार गया, तो सैकड़ों को माला-माल कर गया। लाखों की मृत्यु और सैकड़ों की खुशहाली देखने में उलटी बातें हैं, पर दोनों से काफी वे जुड़ी हुई हैं।

वेश्यावृत्ति, धर्म, अर्थ

मैं यह मानता हूँ कि वेश्या का प्रश्न काम से ही नहीं, धर्म और अर्थ से भी जुड़ा हुआ है। धर्म मैं जान-बूझकर कहता हूँ, क्योंकि धर्म की जो धारणा हमारे अर्थ-व्यवहार और काम-व्यवहार को बनाती है प्रश्न से किसी तरह मुक्त नहीं मानी जा सकती है। क्या आप असम्भव समझते हैं कि इस व्यापार में पूंजी लगाकर लाभ उठाने-वाला व्यक्ति धार्मिक हो सकता है? जी, नहीं, वह बड़ी आसानी से और बड़ी वाहवाही के साथ धार्मिकता से ऊँचा उठा हुआ हो सकता है। इसलिए इस प्रश्न में काम के साथ धर्म और अर्थ का सम्बन्ध आ जाता है। और इनसे हटा हुआ सीमित वेश्या-वृत्ति का विचार किसी गहरे निदान तक नहीं पहुँच सकता। कोरी ऊपरी रचना चाहे उस पर कितनी भी खड़ी कर ली जाय।

स्त्री-पुरुष की समान अधिकारिता रोग का निदान नहीं

१९८ आपके ऊपर के विश्लेषण से यह बात प्रकट है कि वेश्या-वृत्ति मुनाफाखोरी और सिक्के के प्यासे समाज-द्रोहियों की ही देन है। उन्होंने ही स्त्री को मात्र व्यापारिक पदार्थ बनाकर उसका धंधा चलाया और फैलाया है। यही कम्युनिस्ट भी मानते हैं और वे भी इस वृत्ति को बुर्जुआ और पूंजीपति समाज-व्यवस्थाओं की देन कहते हैं। क्या कम्युनिस्ट-समाज की तरह स्त्री को पुरुष के समान पूर्ण अधिकार दे देने पर इस वृत्ति को समाप्त किया जा सकता है, स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप में?

—स्त्री और पुरुष के परस्पर अधिकारों की तौल पर यह प्रश्न स्थगित नहीं है। पैसे में कितनी शक्ति है और मुनाफाखोरी के लिए कितना अवकाश है, वेश्या का प्रश्न अधिकांश इस पर निर्भर करता है।

क्रय-विक्रय का मूल्य समाज में कितना ?

स्त्री और पुरुष के बीच ऐसा कुछ अवश्य रहेगा, जो आत्मा और हृदय से अतिरिक्त भी कहा जा सके। अर्थात् ऊपरी लोभ और लालच का अवकाश उन सम्बन्धों में रहने ही वाला है। दो व्यक्तियों में अन्तर न रहे, यह सम्भव नहीं है और कुछ-

न-कुछ आर्थिक स्तर का भी अन्तर रह सकता है। यह कहना कि कम-अधिक आर्थिक सम्पन्नता के कारण स्त्री-मानस में पुरुष के प्रति कुछ अन्तर ही नहीं आयेगा व्यर्थ है। इसलिए वह सामग्री तो मौजूद है ही और रहने ही वाली है, जिसका उपयोग किया जा सके और लेन-देन में जिसके नाम पर निबाह रखा जा सके। प्रश्न केवल यह रहता है कि इस लेन-देन क्रय-विक्रय का मूल्य समाज में कितना है? अगर हमारा सामाजिक और आपसी व्यवहार पैसे के द्वारा होनेवाले लेन-देन पर निर्भर करने लग जाता है तो ऐसे समाज में से वेश्या-वृत्ति छूट नहीं सकेगी। कम्युनिस्ट देशों में स्त्री-पुरुष एकदम बदल गये हैं या बहुत ऊँचे हो गये हैं, सो बात नहीं है। अर्थ-विनिमय और अर्थ-विनियोग की प्रणालियाँ ही वहाँ बदल गयी हैं। वस्तुगत भौतिक आकर्षण कोई वहाँ समाप्त नहीं हो गया है और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों में इसके दृश्य वहाँ भी खुले देखे जा सकेंगे। जो सचमुच बन्द हो गया है, वह बाजार है और मैं मानता हूँ असली समस्या भी वैयक्तिक, या दो व्यक्तियों की पारस्परिक, नहीं थी बल्कि सामाजिक थी। इस तरह शायद उसका सम्बन्ध उस पैसा-व्यापार से था जिसका बाजार बन गया हुआ है और जहाँ नारी की देह पैसा फेंक-कर पण्य पदार्थ के रूप में मोली-बिकेरी जाती है। उसका सम्बन्ध सीधे अर्थ-विनिमय और उसकी प्रणालियों से है ऐसा मैं मानता हूँ। स्त्री-पुरुषों के परस्पर अधिकारों के विभाजन से वह अलग है।

१९९ स्त्री ने पुरुष पर जो यह आरोप हमेशा लगाया है कि वही उसके पतन उसकी कुत्सा और उसकी दुर्दशा का मूल कारण है, वही राक्षस है! उस आरोप से कितनी दूर तक आप सहानुभूति अनुभव करते हैं?

न पुरुष राक्षस न स्त्री कुत्सा

—नहीं यह आरोप सदा क्या बहुधा भी स्वयं स्त्री से नहीं आया है बल्कि स्त्री की ओर से स्वयं पुरुष के मुँह से सुना गया है। यह पुरुष-नियमित और पुरुषोचित शिक्षा है, जिससे यह आरोप स्त्री के मन में और मुँह में आता है। स्त्रियों के प्रति दया और सहानुभूति के उद्वेग में पुरुष लोग ही इस प्रकार की आवाज उठाया करते हैं, जिसका कुछ आशय नहीं है। आप समझ लें कि यदि कोई किसीको दुःख देता है, तो वह अपने दुःख के पाप और मोह में से ही दे सकता है। क्योंकि जो दुःख देता दीखता है, वह दुःख पा रहा होता है। अपने-अपने दुःखों को लेकर आखिर स्त्री-पुरुष कहाँ जायें? सिवा इसके कि वे उन दुःखों को एक-दूसरे पर डालें और वे कर क्या सकते हैं? पति बाहर सारी दुनिया से अगर तिरस्कार सहता हुआ घर आता है और वहाँ उसको मरहम नहीं मिलता तो वह और क्या करे सिवा इसके

कि अपना सारा क्षोभ पत्नी पर उतार निकले ? प्यार करते हैं, उसी पर अत्याचार भी करते हैं। प्यार की ही यह बेबसी है। स्त्री वह कल्पनाहीन है और पुरुष भी वह कल्पनाशून्य है, जो इसको पहचान नहीं पाता। यह काल के अन्त तक भी कभी न हो पायेगा कि पुरुष अपना क्षोभ स्त्री पर न उतारे और स्त्री अपनी दमित भावनाओं को अपने प्रिय पर ही न उँडेल फेंके। प्रेम जो एक पुरुषार्थ है, परीक्षा है, सो इसी कारण कि इस सबके प्रति उसमें से सहना प्राप्त होती है। हमारे पुराणों की सतियों ने क्या कष्ट नहीं झेला ? शिकायत का सवाल हो, तो उनमें से हरएक के पास से एक बड़ा पोथा तैयार हो सकता है और अदालत में लाया जाय, तो निश्चय ही पति के लिए भारी दण्ड का फैसला हो सकता है। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सती की ओर से विश्वास और अर्पण ही आता रहा। इसीलिए तो सती की महिमा हुई। निश्चय रखिये कि सतीत्व कोई जड़ भाव नहीं है। उसमें गहन तितिक्षा की आवश्यकता होती है।

आज का वातावरण परस्पर दोषारोपण से भरा हो सकता है। लेकिन इसका कारण तो यह है कि हमारी सह्यता कम हो गयी है। पुरुष राक्षस नहीं बन गया है, न स्त्री ही कुल्टा हो गयी है। कुल मिलाकर देखें, तो जीवन आगे आया और सभ्यता का विकास हुआ है। लेकिन इस विकास में बुद्धि धार पा गयी है और उसने परस्पर सह्यता को झीना और जर्जर बना दिया है। बुद्धि बारीकियों में पहुँच गयी है और ऐसी हल्की और व्यर्थ बातों पर तलाक होने लगे हैं कि हँसी आती है। पहले वैसी बातें ध्यान तक में न आ सकती थीं, आज पहचान में आती हैं, इसको तो बुद्धि की तीक्ष्णता का ही लक्षण कहना होगा। कमी जो आयी है, वह धीरज और समाई में आयी है। समय के क्षण का मूल्य बढ़ गया है, और ये गुण क्षणिकता से उलटे नित्यता के परिचायक हैं। इसीलिए शायद उनका अभाव उन्नति को सहसा खलता नहीं है। लेकिन जब हम समझ पायेंगे कि समय वही नहीं है, जो भागता है, समय का वह भी रूप है, जो टिकता है, काल का महारूप अकाल है, तब चचलता के बीच अचलता का मूल्य भी हम लगाने लग जायेंगे। मैं मानता हूँ कि उस परिपेक्ष में शिकायत का अवकाश नहीं है। और आखिर स्त्रियाँ यदि ऐसी हैं भी, जो सारे दोष की दुष्टता पुरुष में देखना चाहती हैं, तो वे मुट्ठीभर होंगी। फिर शायद कहीं गहरे में उनमें चोट भी हो। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। पहले की कथाएँ हैं, अब भी कहानियाँ लिखी जा रही हैं कि पुरुषमात्र के प्रति तीव्र विद्वेष है, लेकिन इसीलिए है कि कब उपयुक्त पुरुष और उपयुक्त घड़ी आये और देखते-देखते विद्वेष एकाएक समर्पण में सार्थक हो आये। अत वैसे आरोप-प्रत्यारोपों को ज्यादा गिनने और अटकने की ज़रूरत नहीं है।

वेश्यावृत्ति का काम-पक्ष

प्र॰ इस प्रकार पारस्परिक सुख-लाभ अथवा दान और पारस्परिक सहमता की दृष्टि से वेश्या-वृत्ति का निरीक्षण करें तो प्रतीत होता है कि वेश्या-वृत्ति का काम-पक्ष शाश्वत है। समाज-नीति और कानून उसके अर्थ-पक्ष के साथ अपनी मनमानी करने में समर्थ है। क्या मैंने इस स्थिति को ठीक रूप में रखा है?

—आपका प्रश्न सत्य की सीमाओं की रक्षा नहीं करता है। वेश्या वह नहीं है, जो अनेक को प्रेम करती है। वेश्या वह है जो पैसे के एवज में अपने को देती है। काम एक के प्रति केन्द्रित हो सकता है या क्या यह प्रश्न दूसरा हो जाता है।

प्र॰ १ तब वेश्या-वृत्ति को समाप्त करने के लिए आपके सुझाव क्या हैं?

वेश्या-वृत्ति की जड़ में शुद्ध अर्थासक्ति

—पैसे की व्यवस्था जब तक ऐसी बनी रहेगी कि प्रतिष्ठा और बड़प्पन उससे खरीदा जा सके या उस माप से समझा जाय तब तक हर सम्भव उपाय से पैसा बनाने की नीयत खतम नहीं हो सकेगी। पुरुष में स्त्री के प्रति होनेवाला लोभ इतना स्पष्ट निमन्त्रण है कि कोई सूझ-बूझवाला व्यक्ति उसमें से पैसे बनाने की बात अनायास सोच जा सकता है। यह कामासक्ति नहीं है, शुद्ध अर्थासक्ति है। व्यक्ति धन और उसके द्वारा प्रतिष्ठा चाहता है। यह सहज सामाजिक वृत्ति है। जिस अवसर में से इसका काम हो उसे उठाने से वह बच नहीं सकता है।

कानून से आप बाजार को गैरकानूनी कर सकते हैं। लेकिन पैसे की भूख और पैसे बनाने के अवसर की सूझ-बूझ से वंचित किसीको कैसे कर सकते हैं? इसलिए सिर्फ कानून नहीं अर्थ-विनियोग की प्रणालियों को ही बदलना-बदलना होगा। अर्थ की व्यवस्था में से उस अनिष्ट सामर्थ्य को ही किसी तरह समाप्त कर देना होगा। कम्युनिज्म ने अपने यहाँ यह उपाय किया है। लेकिन वह भी कुछ अधूरा बन जायगा अगर समाज-चेतना में से ही पैसे का अवमूल्यन आरम्भ न हो पायेगा।

यह वही मूल्य-परिवर्तन और मूल्य-क्रान्ति की बात आ जाती है। अगर मनुष्य पुरुष या स्त्री बिकने की जरूरत में पड़ सकते हैं और खरीदनेवाला पैसा हो सकता है, तो न बेगारी मजूर और न व्यभिचारी वेश्या समाप्त हो सकती है। हालत यह लानी होगी कि वहाँ कोई बिकना न चाहे और कोई खरीद न सके। लेकिन शायद यह बड़ा प्रश्न हो जाता है। कहने का आशय यही है कि वेश्या-वृत्ति के सच्चे उन्मूलन के लिए, उस बड़े प्रश्न तक पहुँचना होगा और वहीं का उपाय करना होगा।

कानूनन शराब-बन्दी

२०२ सरकार ने शराब-बन्दी के लिए जो कानून बनाये हैं, क्या आप उन्हें प्रभावी एवं लाभदायक मानते हैं ? शराबबन्दी क्या जरूरी है और क्या उसे भी कानून के द्वारा समाप्त किया जा सकता है ?

कानून लगडा उपाय

—कानून सदा लँगडा उपाय है। कानून एक टाँग है, बल्कि उसकी भी आधी है। दोनो टाँगो से कानून तब चलता है, जब वह व्याप्त लोकमत का सूचक-उपजक होता है। इधर लोकमत उसका सहारा ले, उधर राजतन्त्र लोकमत का सहयोग पाये, तब कानून अर्थकारी होता है। यह जो पार्लियामेण्ट मे जाकर सात सौ, आठ सौ आदमी पूरे बरस मोटी तनख्वाहें पाते और कानून पर कानून बनाते जाने का काम करते रहते हैं, क्या एक भी ऐसा उनमे है, जिसे उन सब कानूनो का पता है? बडे-से-बडे वकील को उतनी ही बडी लाइब्रेरी अपने पास रखनी पडती है। अर्थात् कानून का पार ही आपको नही मिल सकता। जैसे सब वहाँ मँझधार ही है। कानून एक तरफ काम करता रहता है, जनता दूसरी तरफ काम करती रहती है, और जब कानून का स्पर्श जनता पर जरा आता है तो वह बेचारी घबरा जाती है। मानो कानून मुसीबत के सिवा उसे कुछ और हो ही नही। अदालत का एक पुरजा अच्छे-अच्छो के पित्ते दहला देता है। कानून वह है, जो मानो सारे सरकार के आतक का प्रतीक है। यह उसके प्रति सामान्य जन का मनोभाव है।

उस कानून की दुहाई मे मुझे बहुत सार मालूम नही होता है। सभ्य देशो मे कानून इस तरह हौआ बना नहीं रहता। वह लोगो को अपना सहयोगी जान पडता है। वहाँ की बात मै नहीं कहता हूँ। यहाँ हिन्दुस्तान मे कानून का सहारा थामने के लालच को मैं बहुत बढावा देना नही चाहता।

शराब के दोषो को मैं अनुभव से नही बता सकता हूँ। मित्र लोग अनेक हैं जो शराब से बरी नहीं हैं, लेकिन बहुत अच्छे मित्र और बहुत अच्छे मनुष्य हैं। आखिर ठण्डे देशो मे वह आम पेय है और शराब-बन्दी का प्रश्न ही वहाँ किसीकी समझ मे नही आ सकता। लेकिन शराबबन्दी मे उस शराब की बात नहीं है, जो सामाजिकता के स्तर पर कुछ उल्लास लाती है और जीवन को तोडती-फोडती नही है। इसीलिए सम्पूर्ण शराबबन्दी की बात उठती है, तो सुनी-अनसुनी कर दी जाती है।

जहाँ शराब जहर है

लेकिन एक स्तर है, जहाँ शराब ने गजब ढा रखा है। जीवन को एकदम विघटित

कर दिया है। वहाँ शराब मानो जहर के काम में ली जाती है। गम गलत करने अपने को दुःख से अन्दर की कुरेद से जीवन के सामने से बचाने के लिए वहाँ शराब की शरण ली जाती है। दलित और श्रमिक-वर्ग के जीवन में जाकर देखिये। शराब ने वहाँ त्राहि-त्राहि मचा रखी है। मानिये कि मर्द के हाथ एक रुपया आता है, तो उसका बारह आना शराब में उठ जाता है। शराब की लत के रास्ते सारा वर्ग का वर्ग महाजन की मुट्ठी में आ रहता है और मानो जनम-जनम के लिए वहाँ फँस जाता है, किसी तरह निकल नहीं सकता है। कोई और उपाय नहीं है, सिवा इसके कि शराब के जरिये अपने आस-पास को अपने फर्ज को, अपने दुःख-दर्द को, सारी दीन-दुनिया को, अपने को ही घड़ी-दो-घड़ी के लिए मानो नाबूद कर देने भूल जाने का रास्ता सहारा उनके पास से हटा लिया जाय। ऊपर से यह जोर-जब मालूम हो सकता है। लेकिन क्या हम प्यार में कुछ जोर-जब करते नहीं हैं या कर नहीं सकते हैं? वहीं तो यह फर्ज बन जाना चाहिए। इसके लिए शराब-बन्दी के कानून की आवाज उठायी जाती है। शायद यह कानून इष्ट है। लेकिन कानून कागज पर रह जायगा बल्कि अपने उद्देश्य से उल्टा परिणाम ला दिखायेगा अगर पचास-साठ रुपये पानेवाला कान्स्टेबिल और ऐसे ही दूसरे तनख्वाहदार उसकी अमल-दारी के लिए रह जायेंगे। तब ठीक इन्हीं अमलदारों के बीच से गैरकानूनी भट्टियाँ बनेंगी और शराब के नाम पर सचमुच का जहर जैसे स्पिरिट वगैरह काम में लाया जाने लगेगा। जरूरत उनके बीच में जाकर काम करने की है। ऊपर से शराब-बन्दी लादने से यह काम होता नहीं है। अगर ऐसा जान पड़े कि समाज-सुधारक अपना काम नहीं कर पाता है, कानून इसमें बाधक होता है, तब अवश्य उसके सहारे के लिए सरकार की ओर से कानून भी दिया जा सकता है। लेकिन काम तब होगा जब ऐसे कार्यकर्ता होंगे और समाज चेतना में से उसकी माँग होगी। इससे पहले वह उल्टा फल भी ला सकता है।

असल शराब

मैं स्वयं शराब का शायक हो सकता हूँ। भगवान् की ओर से चारों ओर इतना सौन्दर्य इतना ऐश्वर्य फैला पड़ा है कि उसमें से आवश्यक विस्मरण किसी समय भी खींचा जा सकता है। यह शराब सूखी है और मुफ्त है। यह है, जिसे स्पिरिट कहना चाहिए। नकली शराबों से इधर का ध्यान जो हट जाता है, उसको मैं घाटे का सौदा मानता हूँ। लेकिन पैसे की सभ्यता में चीज वही दाम की और कीमती हो जाती है, जो ज्यादा पैसा डालने से आती है। इसलिए एक लम्बा-चौड़ा व्यवसाय शराब का बन गया है। उसने खुले आसमान को, चमन की हरियाली को, पहाड़ी

कानूनन शराब-बन्दी

२०२ सरकार ने शराब-बन्दो के लिए जो कानून वनाये हैं, क्या आप उन्हें
एव लाभदायक मानते हैं? शरावबन्दी क्या जरूरी है और क्या उसे भी का
द्वारा समाप्त किया जा सकता है?

कानून लगडा उपाय

—कानून सदा लँगडा उपाय है। कानून एक टाँग है, वल्कि उसकी भी आ
दोनो टाँगो से कानून तव चलता है, जव वह व्याप्त लोकमत का सूचक-व्यजक
है। इधर लोकमत उसका सहारा ले, उधर राजतन्त्र लोकमत का सहयोग
तव कानून अर्थकारी होता है। यह जो पार्लियामेण्ट मे जाकर सात सौ, अ
आदमी पूरे वरस मोटी तनख्वाहें पाते और कानून पर कानून वनाते जाने का
करते रहते हैं, क्या एक भी ऐसा उनमे है, जिसे उन सव कानूनो का पता है?
से-वडे वकील को उतनी ही वडी लाइब्रेरी अपने पास रखनी पडती है।
कानून का पार ही आपको नही मिल सकता। जैसे सव वहाँ मँझधार ही है।
एक तरफ काम करता रहता है, जनता दूसरी तरफ काम करती रहती है, औ
कानून का स्पर्श जनता पर जरा आता है तो वह वेचारी घवरा जाती है।
कानून मुसीवत के सिवा उसे कुछ और हो ही नहीं। अदालत का एक पुरजा
अच्छो के पित्ते दहला देता है। कानून वह है, जो मानो सारे सरकार के आत
प्रतीक है। यह उसके प्रति सामान्य जन का मनोभाव है।

उस कानून की दुहाई मे मुझे वहुत सार मालूम नहीं होता है। सभ्य देशो मे
इस तरह हौवा बना नही रहता। वह लोगो को अपना सहयोगी जान पडत
वहाँ की वात मैं नही कहता हूँ। यहाँ हिन्दुस्तान मे कानून का सहारा थाम
लालच को मैं वहुत वढावा देना नही चाहता।

शराब के दोषो को मैं अनुभव से नही वता सकता हूँ। मित्र लोग अनेक हैं जो
से वरी नही हैं, लेकिन बहुत अच्छे मित्र और वहुत अच्छे मनुष्य हैं। आखिर
देशो मे वह आम पेय है और शराब-वन्दी का प्रश्न ही वहाँ किसीकी समझ मे नह
सकता। लेकिन शराववन्दी मे उस शराव की वात नहीं है, जो सामाजिक
स्तर पर कुछ उल्लास लाती है और जीवन को तोडती-फोडती नही है।
इसीलिए सम्पूर्ण शराववन्दी की बात उठती है, तो सुनी-अनसुनी कर दी जात

जहाँ शराब जहर है

कर दिया है। वहाँ शराब मानो ज़हर के काम में ली जाती है। कम मजदूरी करने वालों को दुःख से अन्दर की कुरेद से जीवन के सामने से बचाने के लिए वहाँ शराब की शरण ली जाती है। दलित और श्रमिक-वर्ग के जीवन में जाकर देखिये। शराब ने वहाँ त्राहि त्राहि मचा रखी है। मानिये कि मर्द के हाथ एक रुपया आता है, तो उसका बारह आना शराब में उठ जाता है। शराब की लत के रास्ते सारा वर्ग का वर्ग महाजन की मुट्ठी में आ पड़ता है और मानो जनम-जनम के लिए वहाँ फँस जाता है, किसी तरह निकल नहीं सकता है। कोई और उपाय नहीं है सिवा इसके कि शराब के जरिये अपने आस-पास को अपने फर्ज को, अपने दुख-दर्द को, सारी दीन-दुनिया को, अपने को ही घड़ी-दो-घड़ी के लिए मानो काफूर कर देने भूल जाने का सस्ता सहारा उनके पास से हटा लिया जाय। ऊपर से यह जोर-जब मुमकिन हो सकता है। लेकिन क्या हम प्यार से कुछ जोर-जब करते नहीं हैं या कर नहीं सकते हैं? नहीं तो यह फर्ज बन जाना चाहिए। इसके लिए शराब-बन्दी के कानून की आवाज उठायी जाती है। शायद यह कानून इष्ट है। लेकिन कानून समाज पर यह थामना बल्कि अपने उद्देश्य से उल्टा परिणाम ला दिखायेगा अगर दफ्तर-भर के सारे पानेवाला कान्स्टेबिल और ऐसे ही दूसरे तनख्वाहदार उसकी अमल-दारी के लिए रह जायेंगे। तब ठीक इन्हीं अमलदारों के बल से गैरकानूनी भट्टियाँ चलेंगी और शराब के नाम पर सचमुच का जहर जैसे स्पिरिट वगैरह काम में लाया जाने लगेगा। अक्सर उनके बीच में जाकर काम करने की है। ऊपर से शराब-बन्दी लादने से यह काम होता नहीं है। अगर ऐसा जान पड़े कि समाज-सुधारक अपना काम नहीं कर पाता है, कानून इसमें बाधक होता है, तब अवश्य उसके सहारे के लिए सरकार की ओर से कानून भी दिया जा सकता है। लेकिन काम तब होगा जब ऐसे कार्यकर्ता हों और समाज-चेतना में से उसकी माँग होगी। उससे पहले यह उल्टा काम भी आ सकता है।

मादक शराब

मैं स्वयं शराब का भावक हो सकता हूँ। भगवान् की ओर से चारों ओर इतना सौन्दर्य, इतना ऐश्वर्य फैला पड़ा है कि उसमें से आत्मसात विस्मरण किसी समय भी मिल जा सकता है। यह शराब मुफ्त है और मुक्त है। यह है, जिसे स्पिरिट ब्रह्म चाहिए। गरजी मजलों से इधर का ध्यान भी हट जाता है, इसको मैं चाहे या जीता मानता हूँ। लेकिन पैसे की सभ्यता में बीच नहीं काम की और कीमती ही मानी है, जो सारा पैसा डालने से आती है। इसलिए एक सस्ता-सीधा व्यवसाय शराब का बन गया है। उनने खुले आसमान को, धरती की हरियाली को, पहाड़ों

के बर्फ को, समुद्र की हिलोरों को और फूलों की रंगीनियों को देखने की फुरसत मानो छीन ली है। पैसे की माँग, और होने पर उसके खर्च, की जरूरत हमको इतना भर लेती है कि सब कुछ जो भगवान् ने अपनी अमित वदान्यता मे हमारे आनन्द और उपभोग के लिए बिखेर दिया है, उससे हम दीन-हीन बने रह जाते हैं। मैं शराब का कायल हो सकता हूँ, पर वह कि जिसका नशा उतरे नहीं।

जेलों में सुधार

२०३ सरकार ने जेलों मे जो सुधार किये हैं, उनसे जेलें एक अपराधी के लिए इतने आराम और सुख की जगह बन गयी हैं, जितना कि उसे बाहर रहकर कभी भी नसीब नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति मे क्या यह सुधार अपराधों को बढ़ानेवाले ही सिद्ध नहीं हो रहे हैं? कानून भी कुछ इतना ढीला पड़ चुका है कि अपराधियों को आवश्यक सजा मिल नहीं पाती और उनके मन मे से ब्रिटिश जमाने का-सा डर बिलकुल निकल गया है। इस स्थिति पर अपना मत प्रकट करें।

शिथिलता और उत्तीर्णता में अन्तर

—शिथिलता कभी लाभ नहीं देती। शिथिलता और उत्तीर्णता मे बहुत अन्तर है। कानून की दृढ़ता मे से एक रोज कानून की उत्तीर्णता आ भी सकती है, शिथिलता मे से वह परिणाम कभी नही आ सकता। कानून को शिथिल होने का अधिकार नहीं है। ऐसा हो तो सरकार को आसन से उतर आना चाहिए और नयी सरकार को वहाँ पहुँचना चाहिए, जो दावा करे और जनता को आश्वासन दे कि शिथिलता नही होने पायेगी। लोकतन्त्र जो कई जगह टूट गये हैं और उनकी जगह सैन्य-तन्त्र ने ले ली है, सो इसी शिथिलता के कारण। इसलिए जब कि शिथिलता से भयकर कोई चीज नहीं, तब यह अच्छी तरह समझ लेना होगा कि वह उदारता का नाम नहीं है। और कानून को अपने प्रति ईमानदार रहते हुए उठना अवश्य उदात्तता की ओर है।

सुधार अभिनन्दनीय

जेल मे कुछ सुधार किये गये हैं। सुनने मे वे प्रिय भी मालूम होते हैं। मैं अपनी ओर से कह सकता हूँ कि बीमार को यदि अपने घर से अधिक सुविधा अस्पताल मे दी जाती है, तो यह अनुचित नहीं है। सिर्फ यह बात कि अस्पताल अस्पताल है, घर वह नहीं है, बीमार को अस्पताल का आदी नही बनने दे सकती। आराम जो बीमारी में मिलता है, तन्दुरुस्ती मे नहीं मिलनेवाला है, फिर भी आदमी

उपयुक्त होना चाहता है। ठीक यही बात कैदी के बारे में कही जा सकती है। यह क्या कम है कि वह कैद में है। कितनी भी सुख-सुविधा उस स्वतन्त्रता के अभाव को भर नहीं सकती। इसलिए यह डर कि उस प्रकार की सुविधाएँ अपराधी की अपराध-वृत्ति को उत्तेजन देंगी मानस के संशय का द्योतक है और उसकी आवश्यकता नहीं है। कुछ अच्छे प्रयोग सुनता हूँ उस दिशा में हो रहे हैं और कैदियों को अवसर दिया जा रहा है कि वे अनुभव करें कि वे इन्सान हैं और लौटकर नागरिकता में स्थान पा सकते हैं। एक बार कैद आ जाने पर आदमी हमेशा के लिए दागी बन जाता है, यह धारणा समाज-मन में से या स्वयं अपराधी के मन में से जल्दी निकले उतना अच्छा है। यदि इस आधार पर जेलों में कुछ किया जा रहा है, तो वह अभिनन्दनीय बात है।

सुधार भावुक न हों

पर जो कहना रह जाता है वह यह कि जेलों में होनेवाला यह सुधार समग्र दृष्टि का अंग हो और सन्दर्भ से टूटा हुआ न हो। आज की राष्ट्रीय सरकार के पास वैसी कुछ समग्र दृष्टि है, इसकी अपेक्षा मुझे नहीं होती। किसी राज्य में कोई मन्त्री अपने किसी विभाग में उदारतापरता का प्रवेश कर सकता और वैसे प्रयोग आरम्भ कर सकता है। यदि यह प्रयोग विच्छिन्न रह जाता है तो न सिर्फ यह कि उसका अर्थ और लाभ सीमित हो जाता बल्कि सचमुच उसका परिणाम उल्टा तक हो जा सकता है। प्रेम का एक समग्र जीवन-दर्शन है और उसके व्याप्त प्रयोग की आवश्यकता है। लेकिन माताएँ जो घर में अपने बच्चों से वैसा बरताव करती हैं उसे प्रेम मानकर भी बहुत उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। उदारतावाली दृष्टि से व्याप्त होनी चाहिए और भावुकता (इन्डल्जेन्स) नहीं आनी चाहिए। अक्सर भावुकता एक प्रकार की विचिकित्सा ही होती है और उससे बचना बहुत जरूरी है।

प्रेम और घृणा दोनों का उपयोग

मेरे मन में अपराध के लिए क्षमा का बिल्कुल समर्थन नहीं है। क्षमा अपराधी को मिल सकती है लेकिन ऐसे कि अपराध को तो दण्ड ही मिले। वह भूमि क्या है जो अपराधी को क्षमा करने में अपराध को नजरन्दाज करने में कुशल दीखती है। यह अहिंसा एकदम नहीं है। मेरे मन में यह भी होता है कि पाप को सम्पूर्णता से घृणा कर सकें तभी यह सम्भव होगा कि पापी को हम प्यार कर सकें। इन दोनों चीजों में मैं विरोध नहीं देखता हूँ बल्कि मेल देखता हूँ। घृणा और प्रेम

दोनों हमारे भीतर पड़े हैं और जो भी है, नष्ट वह कभी नहीं हो जाता है। दोनों को ही रह चले जाना है—घृणा को भी, प्रेम को भी। यह उपाय अनिष्ट है, निष्फल है, जहाँ प्रेम की बढ़वारी के लिए घृणा को कुचल कर नष्ट करना ही जरूरी समझा जाता है। अगर है, तो नाश कैसे हो सकता है? इसलिए व्यक्ति के लिए जब कि बेशर्त प्रेम का मैं कायल हूँ, तब पाप और पुण्य के भेद के प्रति असावधान होने को खतरनाक समझता हूँ। समान दृष्टि का मतलब गुण-दुर्गुण में समदर्शी होना कभी नहीं है। समदर्शिता ऐसे कभी, कभी, कभी न आ सकेगी। घृणा आदि भावों के परिपूर्ण उपयोग के लिए जीवन में स्थान है। वह इस रूप में कि पाप, असत्, अनीश्वर के प्रति जितनी घृणा हो, कम है। घृणा को फेंकना नहीं है, सही जगह पर उसे लगाना है। ऐसा होगा, तो प्रेम भी फिर सही जगह के लिए शेष और मुक्त हो जायगा। तब हम बच्चे के प्यार के लिए उसकी बुरी आदतों पर प्यार खर्च करने के लिए मजबूर न होंगे।

समाज में अपराधी के प्रति वात्सल्य जागना चाहिए। लेकिन अपराध के प्रति तनिक भी प्रमाद, तनिक भी शिथिलता या उपेक्षा नहीं हो सकेगी। उसके प्रति पूरी तरह प्रबुद्ध और कटिबद्ध रहना होगा। तब प्रेम भावुक नहीं, दुर्द्धर्ष बन आयेगा और जब कि वह अपराधी को परिपूर्ण मिलेगा, तब अपराध को रंचमात्र प्रश्रय उससे प्राप्त नहीं होगा। इतना ही नहीं, बल्कि उस अपराध की जड़ें उससे गलेंगी और अपराध-भाव ही सबका के लिए निर्मूल हो सकेगा।

प्रशासन में शिथिलता

२०४ आज के प्रशासन में जो शिथिलता आप देखते हैं, क्या उसका कारण कांग्रेस-दल के नेताओं एवं कार्यकर्ताओं का प्रशासन के कार्यों में रात-दिन होनेवाला अनुचित हस्तक्षेप नहीं है? एक कांग्रेसी कार्यकर्ता ने ही मुझे बताया है कि उसके लिए किसी भी मजिस्ट्रेट, जज अथवा पुलिस इन्सपेक्टर को बदलवा देना, यहाँ तक कि मुअत्तिल तक करा देना कोई बहुत बड़ा काम नहीं है। आपकी राय में प्रशासन और जन-कार्यकर्ता के मध्य किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित रहना चाहिए, जिससे प्रशासन व कानून ढीला भी न पड़े और दुर्द्धर्ष एवं नृशंस भी न बने?

कांग्रेस से शिकायत

—कांग्रेस की बात क्यों करते हो? वह तो राज से भर गयी है। बाकी उसके पास बचा क्या है? कोई दर्शन (Vision) उसके पास नहीं रह गया है। राज से बाहर प्रजा में घुला-मिला उसका कितना भाग है? जो है, वह भी तैरता

हुआ अक्स दीखता है। मानो राज का ही यह रूप हो और उसके महरी के रूप में ही प्रजा के मैदान में सिर्फ अपना पड़ाव डालकर पड़ रहा हो। ऐसी अवस्था में यदि कुछ आपकी आशाएँ भग्न होती हैं, तो विस्मय की बात नहीं है।

लेकिन एक बात याद रखिये। राज्य के स्तर पर यह सदा होना आया है। कांग्रेस-राज्य लोक-राज्य है। कांग्रेसी आपके बीच में से उठकर राजपद पर गये हैं। इसीलिए वे चीजें शायद आपकी निगाह में ज्यादा चुभती और आपको परेशान करती हैं। लेकिन राज्य स्वयं में शासन और दमन का उपकरण है यह आपको निर्विवाद स्वीकार कर लेना चाहिए। इस निर्ममता के साथ आप चल सकेंगे तो कांग्रेस के प्रति सदैव सहानुभूतिपूर्ण भी हो सकेंगे।

मेरे पास कांग्रेस के लिए यह बहुत जबरदस्त शिकायत और अभियोग है कि वह राज-पद और राज विचार के लिए ही रह गयी है और सब सद्-विचार और जन-विचार के लिए समाप्त हो गयी है। ऐसा हो सका तो क्यों? यह छोटी दुर्घटना नहीं है। भारत के भाग्य में इसका आगे जब तक फल-भोग लिखा है, राम ही जाने।

गांधी का आदर्श

इस मूलभूत अभियोग से हटकर मैं नहीं मानता कि किसी सरकार के पास जवाहरलाल नेहरू जैसा खरा दुर्लभ धीर और पराक्रमी व्यक्ति हो सकता है। कोई दूसरी सरकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ऐसे व्यूह और भँवर में इतना अडिग भाव से टिकी न रह सकती। किसी भी और देश में देखिये सरकारें सभय हैं। मगर इस जैसी स्थिर और दृढ़ सरकार शायद ही कहीं दूसरी जगह आज आपको मिल सके। कितनी कठिनाइयों में उसको काम करना पड़ रहा है, आप समझ सकते हैं। गांधी को एकदम वह फेंक नहीं सकती और जानती है कि देश के लोग ही नहीं दुनिया के लोग उसे गांधी के पैमाने से नापेंगे और माप-जोख करेंगे। एक ओर यह अनिवार्यता और दूसरी ओर यथार्थ की अनिवार्यता। गांधी की अहिंसा और राज्य के लिए अनिवार्य हिंसा। मानो इन दोनों सींगों पर संकट को उठाकर कांग्रेसी सरकार को चलना पड़ रहा है। अहिंसा का नाम तो था ही जिससे चिढ़ और भड़ककर गोडसे ने गांधी को मारना अपना कर्तव्य समझा। इतना बड़ा कर्तव्य कि उसने कहा कि गांधी के खून की प्यास मुझमें इतनी थी कि कोई ताकत जान को मुझसे बचा नहीं सकता था। गांधी ने अपने को नहीं बचाया लेकिन सरकार होकर नेहरू किसी गोडसे या अनेक गोडसों को यह मौका फिर नहीं दे सकते। गांधी की अहिंसा ने निर्णय कर दिया कि प्रार्थना-सभा में पुलिस पास

तक नहीं फटक सकेगी। लेकिन सरकार का निर्णय पुलिस को इस तरह अमान्य कभी नहीं कर सकेगा।

लोकशाही की विजय

इस तरह कांग्रेस-सरकार चल रही है। अहिंसा और लोकतन्त्रता का उसके सिर सेहरा है और कन्धों बोझ है। उसी सरकार को नेहरू के नेतृत्व में जल्दी-से-जल्दी भारत देश को रूस-अमरीका के समादृत बना देना है। उद्योगों से छा देना है और देश को मालामाल कर देना है। अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में हिन्दुस्तान का सिक्का जमा देना है। इस प्रण-पूर्ति में आप और हम कांग्रेस के विधायक पक्ष को शायद भूल जाते हैं। सचमुच उसने कम काम नहीं किया है। और इसीलिए मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ इस बात पर कि न्याय करने के लिए ही राज्य नहीं होता है, सचमुच शासन करने के लिए उसका निर्माण होता है। कांग्रेस का होकर अगर कोई स्थानीय नेता स्थानीय इन्स्पेक्टर या मजिस्ट्रेट पर अपना आतंक रख पाता हो, तो कांग्रेस की दृष्टि से इसमें कुछ हित भी दिखाई दे सकता है। एक्जेक्युटिव के अवयवरूप किसी अमुक अधिकारी को यदि यह समझने का मौका नहीं आता कि वह सर्वेसर्वा है, तो क्या यह भी लोकशाही की विजय का ही एक चिन्ह नहीं माना जा सकता ?

कांग्रेस-प्रशासन का लेखा-जोखा

आपको देखना होगा, किन विषमताओं के बीच से कांग्रेस को काम करना पड रहा है। स्वतन्त्रता के इन चौदह वर्षों मे एक सातत्य कायम रखना, कहीं उसमें भंग नहीं आने देना, कोई छोटी सफलता नही है। आशा की जा सकती है कि नेहरू की कांग्रेस अगला चुनाव भी जीतेगी। दुनिया के प्रति भारत की ओर से यह इस बात का अनोखा प्रमाण होगा कि देश सयुक्त है और उसके पास कुछ सकल्प है। प्रशासन की त्रुटियो की ओर से यदि आप न देखेंगे और कुल मिलाकर कांग्रेसी-शासन का लेखा-जोखा लेना चाहेंगे, तो प्रशसा के भाव आपमे हो सकते हैं। एक तरह से वह होने भी चाहिए।

कांग्रेस की गफलत

लेकिन मैंने खुलकर कहा है और कहता हूँ कि मेरे मन मे अप्रशसा ऊपर है। वह इसलिए नहीं कि उसका शासन अमुक विवरण मे घटकर है या बढकर है, बल्कि इसलिए कि ठीक यह जमात थी कांग्रेस, जिससे आशा हो सकती थी कि

राज्य-दर्शन उसे मैं देता नहीं। आशा थी कि उसके द्वारा भारत का राज्य मानवता की दिशा में उठेगा और मानव-स्वप्नों के लिए मार्ग खोलेगा। विश्व को अपेक्षा थी ऐसे उदाहरण की राष्ट्र के और राष्ट्र राज्य के ऐसे नमूने की जो विश्व के लिए स्वयं गाँठ के मानिन्द न रह जायगा जो एक अलग राष्ट्र-स्वार्थ न होगा, बल्कि जो दुनिया की गाँठ खोलने का उपाय दिया जायेगा। समष्टिगत मानव स्वार्थ या परमार्थ की कल्पना को जो तागोपाय कर सकेगा। इस काम में कांग्रेस अगर गाफिल हुई है, उस विचार की गरिमा और अनिवार्यता तक से बेखबर हो गयी है, तो जिसे वह राष्ट्रपिता कहती है उस गांधी के प्रति यह सरासर बेवफाई है। इस कांग्रेस से गांधी की आत्मा को स्वर्ग में तनिक भी आश्वासन नहीं पहुँचता होगा यह निस्संदेह कहा जा सकता है। लेकिन इसको शासन की त्रुटि नहीं कल्पना की ही त्रुटि मैं मानता हूँ। यह बड़ी चीज है, लेकिन अलग चीज है।

पंचायत में स्वर्ग या नरक ?

२९. व्यवस्था की त्रुटि का एक और नमूना मुझे पंचायतों के चुनाव में दीख पड़ता है। पंचायत-प्रणाली कितनी शुभ है कितनी अशुभ इसका प्रश्न यहाँ नहीं है। लेकिन पंचायतों के चुनावों से भारतीय ग्रामों में जो विद्वेष, पारस्परिक घृणा और हिंसा तथा मुकदमेबाजी फैलायी, उसका स्वरूप बड़ा ही भीषण और बीभत्स दीख पड़ता है। इस परिस्थिति को ठीक करने के लिए आपका क्या सुझाव है?

—मैं उलटा विशेषणों से बचने की सलाह दूँगा। पंचायत-पद्धति वह आधार-शिला है, जहाँ विकेन्द्रीकरण का विचार आकर टिकता है। इसीसे प्रकट हो जाना चाहिए कि समाज-व्यवस्था का विचार अपने-आप में कितना एकांगी और अधूरा हुआ करता है। पंचायत में से स्वर्ग निकलेगा विकेन्द्रीकरण का वाद यह परिपूर्ण नीरन्ध्र संगति से सिद्ध करके दिखला सकता है। लेकिन आप कहते हैं कि उसमें से कहीं-कहीं प्रत्यक्ष नरक निकल आया है। आपकी बात को अनुसन्धान के लिए यों टाला भी जा सकता है और राजनीतिक यही किया करता है। वह आँकड़ों का सहारा लेता है और आपके आँकड़ों को चुनौती देता है। उससे चीज बटाई में पड़ती है। लेकिन आपकी बात को मैं जान-बूझकर अमान्य नहीं करना चाहता। जानता हूँ कि वह किसी स्वार्थ में से नहीं आ रही है। फिर अगर तहकीकात और आँकड़ों से उसे गलत बताने का दावा भी सामने हो, तो मुझे चिन्ता नहीं है। मैं कह सकता हूँ कि ऐसा नरक भी अगर उसमें से कहीं निकला हो, तो मुझे बिलकुल अचरज न होगा। मुझे यह भी निश्चय है कि स्वर्ग उसमें से नहीं आयेगा।

पचायत-भाव

कारण, प्रश्न पचायतो का अधिकार को वोट देने का नहीं है। या अगर है, तो वह बाद का प्रश्न है। पहला यह है कि पचायती भाव स्वय हम-आपमे कितना है। नेता बनने की इच्छा पचायती भावना मे उलटी जानेवाली चीज है। पचा-यती-राज से यदि आप समूचे देश की राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं, तो वह राज-तन्त्र दल-तन्त्र नहीं हो सकता। उसका सबका दूसरे प्रकार का होना होगा। दल से राज की इच्छा, दल-सगठन और दलीय चुनाव के द्वारा उस राज्य का वहन और पोषण मूलत पचायती भावना के विरोधी हैं। यदि हममें श्रद्धा है कि पचायत के पास सत्य और न्याय होता है, वहाँ से सहज भाव से उनसे जो वस्तु आयेगी वही निस्नमनीय होगी, तो हमको सब प्रकार के राजनैतिक मतवादो से छुट्टी मिल जाती है। काग्रेस मे पचायत की सही श्रद्धा नहीं हो, तो सोशलिस्ट पैटर्न वगैरह-वगैरह की सब बातो से काग्रेस को आज ही छुटकारा मिल जाता है। लेकिन इस प्रकार की राजनीतिक शब्दावली के परिग्रह की अगर काग्रेस को आवश्यकता बनी रहती है, तो भय होगा कि वह जनता से, पचो और पचायत से ज्यादा जानती है और शुरू होने से पहले पचो को हुकूमत की तरफ से बतला देना चाहती है कि क्या काम उन्हे करना है। इस प्रकार की स्वरत और प्रच्छन्न लोक-कल्याण-ज्ञान की डिक्टेटरी मे से बनी हुई पचायते स्वर्ग कैसे ला सकेगी? क्या वे स्वाधीन होगी? क्या चाहा जाता है कि वे स्वाधीन हो? क्या प्रच्छन्न दलीय पोषण की प्रत्याशा उनमे नहीं है? इन सब कारणो से मुझे तनिक विस्मय नहीं होगा, यदि पचायते बनें और उनमें से स्वर्ग की जगह नरक निकलता दीखे।

पचायत-राज पचायती नहीं

राम-राज्य गाधी का शब्द था। पचायत-राज मे से वह तात्पर्य सिद्ध नहीं होता है, तो मान लीजिये कि पचायत-राज सही अर्थ मे पचायती नहीं है। उन तनावो को, जो राजनीतिक और अर्थनीतिक स्पर्धा मे से हमने अपने बीच उपजा लिये हैं, पहले यदि हम हवा मे से दूर नहीं करते हैं और अपने मन मे से दूर नहीं कर लेते हैं, तो पचायतो के हाथ हम सर्मापत नहीं बनते हैं, बल्कि पचायतो को अपने हाथ का आयुध बना लिया चाहते हैं। रोग मुख्य यही है कि राजनीतिक चेतना से मानव-चेतना आक्रान्त है। आवश्यक यह है कि राजनीतिक कर्म मानव-चेतना से उद्भूत और परिचालित हो। तब राजनीतिक कही जानेवाली चेतना और उस तल पर चलने और जमनेवाले वाद-प्रतिवाद एकदम अनावश्यक हो जायेंगे और रचनात्मक काम ही राजकर्मी के पास शेष बच जायगा। तब काम से

समय चुराने और काम में दम लगाने की आवश्यकता भी निःशेष हो जायगी। सदन और सभा के नाम पर बनी हुई भ्रष्टाचारी चौपालें (टॉकिंग हाउसेस) तब सदा कम से बँधी और कर्मियों से अधिक वहाँ काम हुआ करेगा। केवल मत की आवश्यकताएँ लोगों को वहाँ न ले जायेंगी बल्कि कर्मव्यस्तता ही उन्हें वहाँ पहुँचा सकेगी। पंचायत को सच्चे और सही भाव से हम स्वीकार करते होंगे तो मानो यह सब फल क्रमशः से निष्पन्न होगा और तब यह परम राम राज्य की दिशा का मानक बन सकेगा। ●

पचायत-भाव

कारण, प्रश्न पचायतो तक अधिकार का वोट देने का नही है। या अगर है, तो वह बाद का प्रश्न है। पहला यह है कि पचायती भाव स्वय हम-आपमे कितना है। नेता बनने की इच्छा पचायती भावना से उलटी जानेवाली चीज है। पचायती-राज से यदि आप समूचे देश की राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं, तो वह राज-तन्त्र दल तन्त्र नहीं हो सकता। उसको सर्वथा दूसरे प्रकार का होना होगा। दल के राज की इच्छा, दल-सगठन और दलीय चुनाव के द्वारा उस राज्य का वहन और पोषण मूल्य पचायती भावना के विरोधी हैं। यदि हममे श्रद्धा है कि पचायत के पास सत्य और न्याय होता है, वहाँ से सहज भाव से छनकर जो वस्तु आयेगी वही विश्वसनीय होगी, तो हमको सब प्रकार के राजनैतिक मतवादो से छुट्टी मिल जाती है। काग्रेस मे पचायत की सही श्रद्धा रही हो, तो सोशलिस्ट पैटन वगैरह-वगैरह की सब बातो से काग्रेस को आज ही छुटकारा मिल जाता है। लेकिन इस प्रकार की राजनीतिक शब्दावली के परिग्रह की अगर काग्रेस को आवश्यकता बनी रहती है, तो अर्थ होगा कि वह जनतारूपी पचो और पचायत से ज्यादा जानती है और शुरू होने से पहले पचो को हुकूमत की तरफ से बतला देना चाहती है कि क्या काम उन्हे करना है। इस प्रकार की स्वरत और प्रच्छन्न लोक-कल्याण-ज्ञान की डिक्टेटरी मे से बनी हुई पचायतें स्वर्ग कैसे ला सकेगी? क्या वे स्वाधीन होगी? क्या चाहा जाता है कि वे स्वाधीन हो? क्या प्रच्छन्न दलीय पोषण की प्रत्याशा उनसे नही है? इन सब कारणो से मुझे तनिक विस्मय नहीं होगा, यदि पचायतें बनें और उनमे से स्वर्ग की जगह नरक निकलना दीखे।

पचायत-राज पचायती नहीं

राम-राज्य गाधी का शब्द था। पचायत-राज मे से वह तात्पर्य सिद्ध नहीं होता है, तो मान लीजिये कि पचायत-राज सही अर्थ मे पचायती नहीं है। उन तनावो को, जो राजनीतिक और अर्थनीतिक स्पर्धा मे से हमने अपने बीच उपजा लिये हैं, पहले यदि हम हवा मे से दूर नहीं करते हैं और अपने मन मे से दूर नही कर लेते हैं, तो पचायतो के हाथ हम समर्पित नही बनते हैं, बल्कि पचायतो को अपने हाथ का आयुध बना लिया चाहते हैं। रोग मुख्य यही है कि राजनीतिक चेतना से मानव-चेतना आक्रान्त है। आवश्यक यह है कि राजनीतिक कर्म मानव-चेतना से उद्भूत और परिचालित हो। तब राजनीतिक कही जानेवाली चेतना और उस तल पर चलने और जमनेवाले वाद-प्रतिवाद एकदम अनावश्यक हो जायँगे और रचनात्मक काम ही राजकर्मी के पास शेष बच जायगा। तब काम से

समय गुजारने और बाद में उसे कमाने की आवश्यकता भी निःशेष हो जायगी।
धरम और सभा के नाम पर बनी हुई भ्रष्टाचार की दीवारें (ट्राफिक हाउसेज) तब
नया रूप ले लेंगी और नर्तकियों से अधिक वहाँ काम हुआ करेगा। केवल मन
की वासनाएँ लोगों को वहाँ न ले जायेंगी बल्कि कर्तव्यपरायणता ही उन्हें वहाँ
पहुँचा सकेगी। पंचायत को सच्चे और सही भाव से हम स्वीकार करते होंगे
तो मानो यह सब फल उसमें से निष्पन्न होगा और तब यह चरम राम-राज्य की
दिशा का माना जा सकेगा।

पचायत-भाव

कारण, प्रश्न पचायतो तक अधिकार का बाँट देने का नहीं है। या अगर है, तो वह बाद का प्रश्न है। पहला यह है कि पचायती भाव स्वय हम-आपमे कितना है। नेता बनने की इच्छा पचायती भावना से उलटी जानेवाली चीज है। पचा-यती-राज से यदि आप समूचे देश की राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं, तो वह राज-तन्त्र दल तन्त्र नही हो सकता। उसको सर्वथा दूसरे प्रकार का होना होगा। दल के राज की इच्छा, दल-सगठन और दलीय चुनाव मे द्वारा उस राज्य का वहन और पोषण मूलत पचायती भावना के विरोधी हैं। यदि हममे श्रद्धा है कि पचायत के पास सत्य और न्याय होता है, वहाँ से सहज भाव से छनकर जो वस्तु आयेगी वही विश्वसनीय होगी, तो हमको सब प्रकार के राजनैतिक मतवादो से छुट्टी मिल जाती है। काग्रेस मे पचायत की सही श्रद्धा रही हो, तो सोशलिस्ट पैटर्न वगैरह-वगैरह की सब बातो से काग्रेस को आज ही छुटकारा मिल जाता है। लेकिन इस प्रकार की राजनीतिक शब्दावली के परिग्रह की अगर काग्रेस को आवश्यकता बनी रहती है, तो अर्थ होगा कि वह जनतारूपी पचो और पचायत से ज्यादा जानती है और शुरू होने से पहले पचो का हुकूमत की तरफ से बतला देना चाहती है कि क्या काम उन्हे करना है। इस प्रकार की स्वरत और प्रच्छन्न लोक-कल्याण-ज्ञान की डिक्टेटरी मे स बनी हुई पचायतें स्वर्ग कैसे ला सकेगी? क्या वे स्वाधीन होगी? क्या चाहा जाता है कि वे स्वाधीन हो? क्या प्रच्छन्न दलीय पोषण की प्रत्याशा उनसे नही है? इन सब कारणो से मुझे तनिक विस्मय नही होगा, यदि पचायतें बनें और उनमे से स्वर्ग की जगह नरक निकलता दीखे।

पचायत-राज पचायती नहीं

राम-राज्य गाधी का शब्द था। पचायत-राज मे से वह तात्पर्य सिद्ध नहीं होता है, तो मान लीजिये कि पचायत-राज सही अर्थ मे पचायती नही है। उन तनावो को, जो राजनीतिक और अर्थनीतिक स्पर्धा मे से हमने अपने बीच उपजा लिये हैं, पहले यदि हम हवा मे से दूर नहीं करते हैं और अपने मन मे से दूर नही कर लेते हैं, तो पचायतो के हाथ हम समर्पित नहीं बनते हैं, बल्कि पचायतो को अपने हाथ का आयुध बना लिया चाहते है। रोग मुख्य यही है कि राजनीतिक चेतना से मानव-चेतना आक्रान्त है। आवश्यक यह है कि राजनीतिक कर्म मानव-चेतना से उद्भूत और परिचालित हो। तब राजनीतिक कही जानेवाली चेतना और उस तल पर चलने और जमनेवाले वाद-प्रतिवाद एकदम अनावश्यक हो जायेंगे और रचनात्मक काम ही राजकर्मी के पास शेष बच जायगा। तब काम से

बारे में सावधान रही है। आपको शायद मालूम न हो कि नागाओं की भाषा की लिपि रोमन है। उनमें इंग्लिस्तान के प्रति भारत की अपेक्षा अधिक स्वदेश-भाव है। इस तरह समस्या सीधी स्वायत्तता की नहीं रहती, कुछ अधिक पेचदार हो जाती है।

हिंसा का प्रयोग अनुचित

यह कहने में मेरे मन में तनिक संशय नहीं है कि भारत की सरकार इस प्रश्न के सुलझाने में जो कुछ सैन्यशक्ति का उपयोग कर रही है, उससे नागा-मन जीता नहीं जा सकता है। हिंसा का प्रयोग वह काम नहीं कर सकता है, जो सिर्फ अहिंसा से सम्भव है। इसीसे स्वायत्त-भाव से वंचित करने की बात भी नहीं बन सकती, जब भारत सरकार कर नहीं सकेगी। फिर उस स्वायत्तता को कूटनीतिक तरीकों पर हम खींचने-खेलने का प्रयत्न करें, तो उससे स्थिति अस्पष्ट बन जाती है। व्यावहार होता नहीं है। किन्तु यदि वातावरण में विश्वास हो, तो अन्त में अपनी स्वायत्तता पाकर भी कोई करेगा क्या? आगे-पीछे उसे जान पड़ेगा कि मेल और समर्पण में ही श्रेय है। यह समर्पण-भाव कूटनीति के द्वारा किसी स्वायत्तता को नपा-तुला बनाने की कोशिश से तो कभी आ नहीं सकता। लेकिन भारत सरकार को सीमान्त पर अपनी सुरक्षा का भी ध्यान रखना होता है। बीच में एक स्वतन्त्र और स्वायत्त खण्ड को रखने से दूसरी दिक्कतें पैदा हो सकती हैं। ये सब सम्भावनाएँ भारत सरकार को पूरे विश्वास से काम लेने में असमर्थ बना देती हैं।
लेकिन विनोबा अब वहाँ पहुँच तो रहे हैं। वे सरकारी आदमी नहीं हैं और देखना है कि क्या होता है।

१०८. सुरक्षा की दृष्टि से नागा-प्रान्त को मजबूत और कसा रखने की आवश्यकता इसी प्रकार है कि वहाँ अहिंसात्मक तरीकों के प्रयोग के लिए बहुत अधिक अवकाश नहीं है। चीनी और पाकिस्तानी एजेण्ट भावनाओं को बराबर भड़काते रहते हैं। ऐसी स्थिति में कौन-से अहिंसात्मक साधन ऐसे हो सकते हैं, जिनसे नागा-जाति को पूरी तरह अपने साथ चलाया जा सके और वे देश की रक्षा में एक ढाल बनकर काम कर सकें?

भारत के प्रति उनमें स्वदेश-भाव हो

—कसा और मजबूत आप किसे मानेंगे? मैं समझता हूँ कि सेनाएँ वहाँ बड़ी तादाद में बिठा देने से वही मजबूती नहीं आ जाती। मजबूती जो भीतर से आती है, वह पक्की होती है। अगर विदेशी शक्तियों के एजेण्ट वहाँ काम कर रहे हैं,

तो निश्चित है कि खुला सैन्य-प्रहार वह नहीं है। यह काम यदि रुक सकता है, निष्फल हो सकता है तो तभी, जब वहाँ के लोगो के मन इस बारे मे स्पष्ट सचेत हो और अनुकूल सकल्प से भरे हो। अगर नागाओ में भारत नाम के प्रति अभी कोई भावना नही जगी है, वे नाग-शब्द के साथ उठते और उसीके साथ जीने-मरने को तैयार है, तो उन्हे यह दीख आना चाहिए कि भारत का पक्ष इससे दूसरा नही है। उन्हें अनुभव होना चाहिए कि नागा-शब्द का गौरव और गर्व सुरक्षित ही नही, बल्कि उन्नत होता है, जब कि भारत साथ देता और साथ लेता है। या तो यह हो कि भारत के प्रति उनमे स्वदेश-भावना और समर्पण-भावना पैदा हो। यह भावना किसी राजनीतिक या सामरिक प्रयत्न से नही हो सकती, सेवा द्वारा ही कभी जागेगी, तो जागेगी।

इस मजबूती के बिना फिर सेना-फौज से बनायी हुई बाकी मजबूती अन्त मे कच्ची जमीन पर खडी साबित हो, तो विस्मय नही मानना होगा।

मैंने आपको पहले कहा कि भारत एक उदार भावना और उदात्त जीवन-नीति का नाम था। राजनीतिक सत्ता और एकता पर वह भाव निर्भर नहीं था। जो अश उसमे थे, मानो स्वत थे, किसी विधान या कानून के जोर से नही थे। यह भारत हजारो बरसो से जीता आया है। यह भारत कोई निराकार और अनिर्दिष्ट अमूर्त नही था, इतिहास और भूगोल मे वह साकार और समर्थ बना दीखता था। आज राजनीतिक हो जाने के कारण दृष्टि हमारी कुछ ऐसी बन गयी है कि जब तक सीमा-रेखा पर पक्की हथियारदार और काँटेदार बाड की पाँत न हो, तब तक देश का अस्तित्व, देश की आत्मा ही खतरे मे लगती है। जब अहिंसा से राजनीति चलेगी, तो जान पडेगा कि इन सीमान्त-प्रदेशो मे बसे हुए लोगो के मनोभावो के अर्पण से देश अधिक स्थायीभाव से सुरक्षित बनता है, दूर-दराज की राजधानी से भेजे गये सैनिको के दस्तों से सुरक्षित नही बनता। जन-मन का विश्वास जीतना आना चाहिए, यदि राजनीति को सफल होना है। यह तब हो सकता है कि राजनीति नीति मे प्रधान हो और राज मे गौण हो। नागाओ मे वह भारतीय भाव नही पैदा हो सकता है, यह मानना गलत है। यदि धर्म की और सेवा की भूमिका से हम उनके पास पहुँचेंगे, तो वह भाव सहज उनमे उगता भी जा सकता है। आखिर भारतीय धर्म या हिन्दू-धर्म अमुक मतवाद तो है नही, जो किसीको टक्कर दे या टक्कर मे आये। वह नागाओ के देवी-देवताओ और जातीय विश्वासो को ज्यो-का-त्यो समा ले सकता और उन्हे आदर दे सकता है। सच्ची मजबूती वही होगी, जो उस भाँति प्राप्त की जायगी और तब नागाओ का शूर-वीरता स्वय भारत के आश्वासन का कारण होगी। जिसमे अब सकट दीखता है, उसी

में पुरसा बीच पड़ेगी। मुझे सचमुच मालूम होता है कि राजपद पर यदि कांग्रेस न आ बैठती तो इस तरह का असली काम करने का अवसर वह पा सकती थी। अब भी कोई समझ ऐसी बनी हो, तो समस्या कुछ सुगम बन सकती है।

केरल में कम्युनिस्ट-मताग्रह

१०८. केरल में पहली कम्युनिस्ट-सरकार बनी थी। क्या आपकी राय में उसने सचमुच कुछ ऐसे काम किये, जिनको लेकर कांग्रेस को उसके विरुद्ध एक मोर्चा संग-ठित करना पड़ा और जिस-तिस तरह उसे राज्य से हटाना पड़ा?

—कम्युनिस्ट मताग्रही न हो तो कम्युनिस्ट किस बात का? केरल की सरकार न तो सर्वसम्मति से सरकार थी न भारत के शेष प्रान्तों के अनुकूल थी। एक अकेले राज्य में तनिक बहुमत से बनी हुई वह केरलीय कम्युनिस्ट-सरकार थी। अतः ऐसा सम्भव ही न था कि वह अपने दल या मत को मजबूत बनाने का अवसर थोड़ी या बेस काम किये बिना रह जाती। वह तो नागरिकता के आधार पर बनी सरकार ही हो सकती है जो मानव-हित से अतिरिक्त किसी मत-पक्ष की ओर मुड़ी न हो।

मेरा मानना है कि यदि लोक-चेतना प्रबुद्ध हो तो ऐसी सरकारें स्वयं अपने को हटाती हैं। फिर जो कांग्रेस का दूसरे दलों के साथ संयुक्त मोर्चा बना और नये चुनावों में नयी सरकार आयी तो वह राजनीतिक दांवपेंच का प्रश्न था। इसमें तात्कालिक दिलचस्पी से अधिक की सामग्री नहीं थी।

१०९. केरल में कम्युनिस्ट-सरकार को उखाड़ने के लिए कांग्रेस ने जो मुस्लिम-लीग से गठबन्धन किया, क्या उसे आप कांग्रेस की अपनी असाम्प्रदायिक नीति के प्रति-कूल और इस प्रकार एक खतरनाक उदाहरण नहीं मानते हैं?

—मैं किसीको प्रेम और सहकार के अयोग्य नहीं मानता। लेकिन राजनीतिक गठबन्धन स्वार्थ तक परिमित रहते हैं। उनका समर्थन मेरे मन में इसलिए नहीं है कि वे बेहद अधूरे होते हैं। ऐसे गठबन्धन की क्षमता को अपने-आप में मैं जीवन के लिए आवश्यक एक लोच और लचक का प्रमाण मानता हूँ और राजनीति के खेल के लिए यह विशेषता बड़े काम की सिद्ध होती है।

सिद्धान्त आदमी के द्वारा चलता है, और सिद्धान्त की तरह आदमी कोई कठोर और अचल नहीं हो सकता। इस व्यवहार की दुनिया में यह सुविधा का कारण है कि समय पर हम दुश्मन से भी भला के बनें। लीग अपने नाम से ही मुस्लिम है, कांग्रेस का दावा असाम्प्रदायिकता का है। मुझे स्वयं भी प्रिय नहीं है कि असाम्प्रदायिकता को साम्प्रदायिक के साथ समय पर समझौता करते देखा जाना

तो निश्चित है कि खुला सैन्य-प्रहार वह नही है। यह काम यदि रुक सकता है, निष्फल हो सकता है तो तभी, जब वहाँ के लोगो के मन इस बारे मे स्पष्ट सचेत हो और अनुकूल सकल्प से भरे हो। अगर नागाओ मे भारत नाम के प्रति अभी कोई भावना नहीं जगी है, वे नाग-शब्द के साथ उठते और उसीके साथ जीने-मरने को तैयार हैं, तो उन्हे यह दीख आना चाहिए कि भारत का पक्ष इससे दूसरा नही है। उन्हे अनुभव होना चाहिए कि नागा-शब्द का गौरव और गर्व सुरक्षित ही नही, बल्कि उन्नत होता है, जब कि भारत साथ देता और साथ लेता है। या तो यह हो कि भारत के प्रति उनमे स्वदेश-भावना और समर्पण-भावना पैदा हो। यह भावना किसी राजनीतिक या सामरिक प्रयत्न से नही हो सकती, सेवा द्वारा ही कभी जागेगी, तो जागेगी।

इस मजबूती के बिना फिर सेना-फौज से बनायी हुई बाकी मजबूती अन्त मे कच्ची जमीन पर खडी साबित हो, तो विस्मय नही मानना होगा।

मैंने आपको पहले कहा कि भारत एक उदार भावना और उदात्त जीवन-नीति का नाम था। राजनीतिक सत्ता और एकता पर वह भाव निर्भर नही था। जो अश उसमे थे, मानो स्वत थे, किसी विधान या कानून के जोर से नही थे। यह भारत हजारो बरसो से जीता आया है। यह भारत कोई निराकार और अनिर्दिष्ट अमूर्त नही था, इतिहास और भूगोल मे वह साकार और समर्थ बना दीखता था। आज राजनीतिक हो जाने के कारण दृष्टि हमारी कुछ ऐसी बन गयी है कि जब तक सीमा-रेखा पर पक्की हथियारदार और काँटेदार बाड की पाँत न हो, तब तक देश का अस्तित्व, देश की आत्मा ही खतरे में लगती है। जब अहिंसा से राजनीति चलेगी, तो जान पडेगा कि इन सीमान्त-प्रदेशो में बसे हुए लोगो के मनोभावो के अर्पण से देश अधिक स्थायीभाव से सुरक्षित बनता है, दूर-दराज की राजधानी से भेजे गये सैनिको के दस्तो से सुरक्षित नही बनता। जन-मन का विश्वास जीतना आना चाहिए, यदि राजनीति को सफल होना है। यह तब हो सकता है कि राजनीति नीति मे प्रधान हो और राज मे गौण हो। नागाओ मे वह भारतीय भाव नहीं पैदा हो सकता है, यह मानना गलत है। यदि धर्म की और सेवा की भूमिका से हम उनके पास पहुँचेगे, तो वह भाव सहज उनमे उगता भी जा सकता है। आखिर भारतीय धर्म या हिन्दू-धर्म अमुक मतवाद तो है नही, जो किसीको टक्कर दे या टक्कर मे आये। वह नागाओ के देवी-देवताओ और जातीय विश्वासो को ज्यो-का-त्यो समा ले सकता और उन्हे आदर दे सकता है। सच्ची मजबूती वही होगी, जो उस भाँति प्राप्त की जायगी और तब नागाओ की शूर-वीरता स्वय भारत के आश्वासन का कारण होगी। जिसमें अब सकट दीखता है, उसी

—स्वदेश, स्वराष्ट्र, स्वजाति, स्वराज्य आदि शब्दों में जब स्व पर ज्यादा जोर पड़ने लग जाता है, तो देश, राष्ट्र, जाति, राज्य आदि शब्द भी झूठे और बाधक बन जाते हैं। मानव-चेतना के उत्थान में वे सहायक नहीं रहते। स्व का परमअर्थ अर्पण में है, यह भाव जिस क्षण हुआ मैं से मुक्त हुआ, उसी क्षण से मालूम हुआ कि हमारे पास जो कुछ अपने नाम पर था वह सब उलटा और झूठा ही गया। स्व पर ज्यादा जोर रहे तो स्वराष्ट्र भी मानवता की राह में रोड़ा बन जानेवाला है। भारत की राष्ट्रीयता अगर स्वोत्सर्गी नहीं, स्वार्थी होती है तो अनिवार्य है कि नीचे अन्य सार्वजनिक स्तरों पर भी वही संकुचनशील भावना काम कर निकले। स्वाग्रही राष्ट्रीयता वह दिखाव नहीं है, जिससे स्वाग्रही प्रान्तीयता या साम्प्रदायिकता दुष्कर असह्य हो जायें। यह तो समधर्मी भावना है, जो हर स्तर और हर सत्ता को अपनी जगह उचित और परमार्थ में तन्मय बना देती है। छोटी सामूहिकता किसी बड़ी सामूहिकता के सामने से झुक ही सकती, सिर्फ वह अपनी शक्ति को बढ़ाने की चुनौती ही वहां से प्राप्त कर सकती है।

राजनीति शक्ति पर नहीं नीति पर टिके

इसलिए अन्तःप्रान्तीय, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े-झमेले यदि दूर होंगे तो तब, जब कि अन्तस्तरीय राजनीति को भी हम शक्ति-तत्त्व के अखाड़े से हटाकर नैतिक भावना-सम्पन्न बना सकेंगे। यदि राष्ट्र पर गर्व उचित है, तो फिर गर्व ही औचित्य बन जाता है और किसी भी सहारे को लेकर वह खड़ा हो सकता है। एक सत्ता से दूसरी सत्ता को काटने का रास्ता एकदम गलत है। ऐसे दुराग्रहों की जगह नये अहंकारों को जन्म मिलता है, जिनको फिर काटने और मिटाने की आवश्यकता हुआ करती है। नाना सत्ताओं और अस्मिताओं को परस्पर पूरक बनाकर चलने की नीति यदि हम अपना सकें तो मालूम होगा कि भाषाओं की विविधता या प्रदेशों प्रान्तों की अपनी-अपनी विशेषता परस्पर को सम्पन्न करती है, विषमता का कारण नहीं बनती। पर नीति जब साथ नहीं होती तो वैविध्य हमको खलने लगता है और एकता की जगह एकरूपता का मोह हममें होने लग जाता है। यह एकरूपता अहंकार का ही आग्रह है और इसमें से आतंक और हिंसा का अवलम्बन उचित और आवश्यक हो जाता है।

फूट के तत्त्व समूची राष्ट्रनीति में

मैं मानता हूँ कि देश में यदि फूट के तत्त्व हैं, तो वह समूची राष्ट्रनीति में ही पड़े हुए हैं और वहीं से अपना सिंचन प्राप्त करते हैं। यह निश्चित जान लेना चाहिए

पटे। लेकिन कुल मिलाकर यह परिणाम कि कम्युनिस्ट दूसरी बार चुनकर नहीं आ सके, कांग्रेस को अपने लिए जीत की बात ही मालूम होगी। व्यावहारिक राजनीति के सम्बन्ध मे यह मानना कि वह सिद्धान्त की रेखा पर चलती या चल सकती है, भ्रम मे रहना है। मेरे मन मे तो यह बात कि कांग्रेस मे वैसी राजनीतिक व्यवहार-कुशलता है, विशेष अभिनन्दन और प्रशंसा की नहीं बन पाती है। इसमे सिद्धान्त की श्रद्धा कुछ अधिक होती, तो यह मुझे प्रिय होता।

कांग्रेस-मुस्लिम-लीग गठबन्धन

२१०. केरल मे मुस्लिम-लीग के साथ गठबन्धन करके क्या कांग्रेस ने यह सैद्धान्तिक रूप मे स्वीकार नहीं कर लिया है कि साम्प्रदायिक दलो को राजनीति मे भाग लेने का अधिकार है और यदि भाग्य साथ दे, तो चुनाव लड़कर वे भी शासन पर पहुँच सकते हैं? ऐसी स्थिति मे जब केन्द्रीय सरकार साम्प्रदायिक सस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगाने अथवा उन्हें कानूनी रूप मे निरुत्साहित करने के लिए कदम उठाने की सोचती है, तो क्या वह एक विडम्बनाजनक स्थिति पैदा नहीं करती?

—लेकिन इन दोनो निर्णयो के बीच समय का अन्तराल जो है। क्या राजनीति अपने आज को किसी कल से बँधा रख सकती है? जब लीग से गठजोड हुआ था, तब वह उचित रहा होगा, ऐसा कहकर कांग्रेस यदि उससे आज अपनी छुट्टी माने और साम्प्रदायिक दलो को चुनाव में न आने देने का निश्चय करे, तो उसे कौन रोक सकता है? निस्सन्देह उससे स्थिति मे बुद्धि-भेद पडता है और सस्था की साख बढ़ती नहीं है। कांग्रेस यदि लोगो के मनो में से कमजोर बनती जा रही है, तो यह बहुत कुछ इस कारण है कि किसी श्रद्धा की रीढ उसमे नहीं दिखाई देती है। लोगो को यह नही लगता कि साम्प्रदायिकता को गिराने और साम्प्रदायिक दलो को चुनाव में अनुपयुक्त ठहराने की बात सिद्धान्त में से ही आयी है, ऐसा भी लगता है कि आत्म-रक्षा के लिए सूझी एक युक्ति है। जो हो, राजनीतिक दल को उसके अतीत से बाँधा नही जा सकता है। और कांग्रेस को इस सम्बन्ध मे आगे के लिए यदि स्वतन्त्र माना जाय, तो अनुचित न होगा।

प्रान्तों के आपसी झगड़े

२११ प्रान्तों में परस्पर काफी मनमुटाव चले आते हैं। बिहार-बंगाल, बंगाल-आसाम, गुजरात-महाराष्ट्र आदि के पारस्परिक झगडों के बारे मे सभी जानते हैं। आपकी दृष्टि से इस प्रकार के झगडे राष्ट्रीय चेतना के परिचायक हैं अथवा भावी राष्ट्रीय विघटन के?

—स्वदेश, स्वराष्ट्र, स्वजाति, स्वराज्य आदि शब्दों में जब स्व पर ज्यादा ज़ोर पड़ने लग जाता है, तो देश, राष्ट्र, जाति, राज्य आदि शब्द भी झूठे और बाधक बन जाते हैं, मानव-चेतना के उत्थान में वे सहायक नहीं रहते। स्व का परमार्थ उत्सर्ग में है, यह भाव जिस क्षण हुआ मेरे से लुप्त हुआ, उसी क्षण से मालूम हुआ कि हमारे पास जो कुछ अपने नाम पर था, वह सब बन्धन और झूठ ही गया। स्व पर ज्यादा ज़ोर रहे, तो स्वराष्ट्र भी मानवता की राह में रोड़ा बन जानेवाला है। भारत की राष्ट्रीयता अगर स्वोत्सर्गी नहीं, स्वार्थी होती है तो अनिवार्य है कि नीचे अन्य सार्वजनिक स्तरों पर भी वही संकुचनशील भावना काम कर निकले। स्वाग्रही राष्ट्रीयता वह ढलान नहीं है, जिससे स्वाग्रही प्रान्तीयता या साम्प्रदायिकता खुलकर सवार हो जायें। वह तो समन्वयी भावना है जो हर स्तर और हर सत्ता को अपनी जगह उचित और परमार्थ में सफल बना देती है। छोटी सामूहिकता केवल बड़ी सामूहिकता के सामने से झुक ही सकती, सिर्फ वह अपनी शक्ति को महान की चुनौती ही वहाँ से प्राप्त कर सकती है।

राजनीति शक्ति पर नहीं नीति पर टिके

इसलिए अन्तःप्रान्तीय, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े-बखेड़े यदि दूर होंगे तो तब, जब कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भी हम शक्ति-तत्त्व के नगाड़े से हटाकर नैतिक भावना-सम्पन्न बना सकेंगे। यदि राष्ट्र पर गर्व उचित है, तो फिर गर्व ही औचित्य पा जाता है और किसी भी सहारे को लेकर वह खड़ा हो सकता है। एक सत्ता से दूसरी सत्ता को काटने का रास्ता एकदम गलत है। ऐसे पुरानों की जगह नये अहंकारों को जन्म मिलता है, जिनको फिर काटने और मिटाने की ज़रूरत हुआ करती है। नाना सत्ताओं और अस्मिताओं को परस्पर पूरक बनाकर चलने की नीति यदि हम अपना सकें, तो मालूम होगा कि भाषाओं की विविधता या प्रदेशों-प्रान्तों की अपनी-अपनी विशेषता परस्पर को सम्पन्न करती है, विग्रहता का कारण नहीं बनती। यह नीति जब पास नहीं होती, तो वैविध्य हमको खटकने लगता है और एकता की जगह एकरूपता का मोह हममें होने लग जाता है। यह एकरूपता अहंकार का ही आग्रह है और इसमें से आतंक और हिंसा का अवलम्बन उचित और आवश्यक हो जाता है।

फूट के तत्त्व समूची राष्ट्रनीति में

मैं मानता हूँ कि देश में यदि फूट के तत्त्व हैं, तो वह समूची राष्ट्रनीति में ही पड़े हुए हैं और वहीं से अपना सिंचन प्राप्त करते हैं। यह निश्चित मान लेना चाहिए

प्रतिभा और पराक्रम की शक्ति से काम नहीं चल सकता है, उसमें सेवा-भक्ति का भी समावेश आवश्यक है। उद्भट शूर-वीर आज की परिस्थिति के लिए अधूरा और नाकाफी है। आज अधिक सहयोगी, विनम्र और निरहंकारी वीरता की आवश्यकता है। वैसी कुछ स्निग्धता शासक-मानस में स्थान नहीं पाती, तो सरकार में लोग ही सरकार को उलटा देनेवाले बनें, तो विस्मय नहीं है।

सरकारी नौकरों की निरन्तर बढ़ती संख्या

२१४　सरकारी कर्मचारियों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या को क्या रोका नहीं जाना चाहिए? सरकार जितना सरकारी उद्योगों का विस्तार करती जाती है, मुझे लगता है कि वह सरकारी कर्मचारियों की मुट्ठी में स्वयं को बन्द करती जाती है। यह स्पष्ट दीखता है कि सरकारी कर्मचारियों की कार्यक्षमता में तेजी से गिरावट आयी है। क्या इसका भी कारण उनकी संख्या-वृद्धि ही नहीं है? इतनी बड़ी कर्मचारी-संख्या के उचित राष्ट्रीय सदुपयोग के लिए आप क्या सुझाव प्रस्तुत करते हैं?

—शासन बढ़ता है, तो उतना ही स्वावलम्बन घटता है, यह निरपवाद मान रखना चाहिए। शासन अपने कर्मचारियों की संख्या बढ़ाते जाने में अपना विस्तार मान सकता है। लेकिन यह शरीर की स्थूलता ही उसकी कर्म-शक्ति के लिए बाधा होगी और यह सारा बढ़ता हुआ बोझ एक दिन उसे ले डूब सकता है।

मजूर-हजूर के द्वैत का विस्तार घातक

सोशलिज्म के नाम पर जो सरकार अपने हाथ-पाँव सब क्षेत्रों में फैला लेना आवश्यक और उचित समझती है, उसको जानने की आवश्यकता है कि इस तरह सरकार से सीधे तनख्वाह या लाभ न पानेवाला आदमी सरकार के समर्थन से छुट्टी पा जाता है। तब उसके बल का योग सरकार के पास नहीं रहता। शासन इस तरह सिर्फ तनख्वाहदारों के बल चलता है, प्रजाजन का बल उससे छूट जाता है। यदि सारी जनता शासन की अंगोपांग बनकर काम करे, तो इसमें शासन को कितना न लाभ होगा! यह तब ही सकता है, जब शासन आत्मानुशासन का रूप लेता जाय। तब वेतनभोगियों की फौज बढ़ाने की आवश्यकता भी न होगी और प्राइवेट सेक्टर भी पब्लिक सेक्टर जैसा और जितना काम कर निकलेगा। सोशलिज्म के सूत्र से चिपटकर जब हम हर आदमी को मुनाफाखोर मानकर उससे किनारा लेते और व्यापार-व्यवसाय को अपने हाथ में लेते हैं, तो इस बारे में असावधान हो जाते हैं कि मुनाफाखोरी कहीं स्वयं सरकार के अन्तरंग में तो नहीं उतरती जा रही है! सबसे भयंकर मुनाफाखोरी वह है, जो कानूनन है और सरकारी

है। मुनाफाखोर को इस तरह से रोका जा सकता है। लेकिन राज्य उस पर तुल जाये तो मुनाफाखोरी मानो सारे समाज के लिए धर्म ही बन जाती है। ऐसी अवस्था में पैसे का मूल्य उचित से आगे बढ़ जाता है और मानवीय सद्गुण की कीमत पर पैसे की प्रतिष्ठा होने लगती है। आज यही हो रहा है और ऐसा मालूम होता है कि बेरोजगारी को दूर करने का उपाय अधिक नौकरियाँ निकालना और नौकरियाँ बाँटना है। सरकार स्वयं एम्प्लायर और मालिक होती है तो फिर लोगों का सम्बन्ध उसके साथ वही हो जाता है, जो मजूर-मालिक का है। मजूर-हुजूर में हित-विरोध देखा जाता है और उसी हित-विरोध में शासन के कर्मचारी स्वयं शासन की जड़ काटने लग सकते हैं। व्याधि के मूल में यह भ्रममयी धारणा है कि शासक वह उत्तम है, जो सब जगह शासन करता है। इसके विरोध में सच यह कि उत्तम शासन वह है, जिसको लगभग शासन करना ही नहीं पड़ता है। शासन का सनातन आदर्श यही था।

शासन की सर्व-व्यापकता

इधर नये द्वन्द्वात्मक विचार ने मानो इस आदर्श को उलट डाला है। यही आसानी विचार है, जिससे सरकार का फैलाव बढ़ता ही जाता है। यदि हम यह कल्पना कर सकते कि ईश्वर की तरह राज्य एक दिन सर्वव्यापक हो जायगा तो वह शुभ होगा। लेकिन यह सर्वव्यापकता यदि शासन को मिल सकती है तो तभी, जब कि उत्तरोत्तर वह आत्मानुशासन के रूप में सबके अपने-अपने पास पहुँच जाय। शासन की सूक्ष्मता उस प्रकार की व्यापकता को सिद्ध कर सकती है। लेकिन आज जो उसे स्थूल और दृढ़ बनाने वाले का रवैया है, उससे वह व्यापक तो क्या बनता उलटे ससीम बल्कि पुलिसीय बनता जा रहा है। बहुत आवश्यक है कि कुछ दर्शन हमारा बदले और शासन अनुशासन में परिणत होना सीखे। अनु-शासन का रूप यदि शासन लेगा, तो हर आदमी काम सरकारी करता जान पड़ेगा यद्यपि वेतन न लेकर वह कुछ अपनी ओर से राज्य को दे ही देगा। उपयोगी नागरिकों की संख्या जितनी बढ़ेगी शासन का अनुत्पादक काम उतना ही घटेगा और इस कमी पर अव्यवस्था नहीं दिखाई देगी, बल्कि कुछ चैन बढ़ा दिखाई देगा।

स्वावलम्बन और श्रम-निष्ठा का अभाव

वैसे नागरिक का अविश्वास और नौकर वैतनिक का विश्वास कुछ बढ़िया प्रति-फल नहीं दिखा सका है। यदि औसत आदमी को हम विश्वास दे दें, उसको

कि नीचे के गुटवाद पर हम प्रहार करें और ऊपर राजनीति में उस द्वन्द्ववाद का आधार रखें, तो यह चल नहीं सकता है।

बेरूबारी

२१२ बेरूबारी के विषय में केन्द्रीय सरकार ने जो निर्णय लिया, उसकी आप प्रशंसा करते हैं अथवा उसे राष्ट्रीय हित एवं प्रशासन-सम्बन्धी सहज नीति के विपरीत मानते हैं? क्या सचमुच नेहरूजी को अधिकार था कि वे देश के एक टुकड़े को विदेशको दे देने-सम्बन्धी समझौता देश की पूर्व-सम्मति के बिना कर सकें?

—मैंने इस प्रश्न का अध्ययन नहीं किया है। अधिकार यदि प्रधानमन्त्री का नहीं, तो किसका माना जा सकता है? यदि पाकिस्तान के अधिनायक से आमने-सामने बात हो और नेहरू मुकाबले में भारत की ओर से आत्म-निर्णय (डिलीवर गुड्स) नहीं कर सकते हों, तो क्या यह देश के आत्मगौरव को बढ़ानेवाली बात होगी? एक बात मैं अवश्य मानता हूँ। वह यह कि अहिंसा को समग्र में अपनाना एक बात है, खण्ड में इन-उन अवसरों के लिए उस नीति के अधीन भावुक और उदार होना बिलकुल दूसरी बात है। नेहरू अंश में अहिंसा अपनायेंगे और उसीको समग्र में अपनाने से बचेंगे, तो मुझे लगता है, सता खायेंगे। राजनेता को व्यक्तिगत भावुकता से बचकर चलना चाहिए। ●

९

सरकारी कर्मचारियों का प्रश्न

सरकारी नौकर

१११ भारतीय प्रशासन के सामने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, वह है सरकारी नौकरों का। उनकी संख्या सीमा से बाहर बढ़ चुकी है और किसी भी समय वे किसी विशेष दल अथवा शक्ति का आश्रय पाकर सरकार की मुट्ठी से छूट सकते और इस प्रकार बात की बात में सामयिक सरकार को पलट सकते हैं। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए अभी पीछे हुई सरकारी कर्मचारियों की हड़ताल के बारे में अपना अभिमत प्रस्तुत करें।

—अभिमत इसमें क्या होना है? हड़ताल वह फेल हो गयी। लेकिन हाँ, इससे अवश्य एक चेतावनी मिल जानी चाहिए। आज ही के अखबार में पण्डित नेहरू का वक्तव्य है कि कांग्रेस दिल्ली का पार्लियामेण्टरी चुनाव अगर हारी है, तो इस कारण कि इस क्षेत्र में सरकारी नौकरों की संख्या अधिक थी और उन्होंने जन-संघ का साथ दिया था।

वफादारी पैसे और सत्ता के जोर से नहीं मिलेगी

सरकार को यह समझना छोड़ देना चाहिए कि पैसे के जोर पर वफादारी मोल ली जा सकती है। जितना उसका दारोमदार पैसे पर और सत्ता पर रहेगा कांग्रेसी सरकार सब कुछ कर-धरकर भी लोगों के मनों से उतरती जायगी। यहीं से गम्भीर चेतावनी प्राप्त हो जानी चाहिए। कांग्रेसी नेताओं को और सब राजनैतिक दलों के नेताओं को इस चेतावनी में से यह सबक सीख लेना चाहिए कि असली शक्ति जन-मन में बसती है। और जन-मन में पैठे बिना राजकीय प्रभुत्व से यदि कोई दल बलिष्ठ बनता है, तो उसका गर्व टिकनेवाला नहीं है, बल्कि गिरकर चूर चूर हो जानेवाला है। निश्चय ही नेहरू से दिव्य और पराक्रमी पुरुष भारत के पास आज शायद दूसरा नहीं है। लेकिन उनके रहते भी कांग्रेस के नीचे की धरती पोली हुई जा रही है, इसमें यही कारण है कि

प्रतिभा और पराक्रम की शक्ति से काम नहीं चल सकता है, उसमे सेवा-भक्ति का भी समावेश आवश्यक है। उद्भट शूर-वीर आज की परिस्थिति के लिए अधूरा और नाकाफी है। आज अधिक सहयोगी, विनम्र और निरहंकारी वीरता की आवश्यकता है। वैसी कुछ स्निग्धता शासन-मानस मे स्थान नहीं पाती, तो सरकार के लोग ही सरकार को उलटा देनेवाले बनें, तो विस्मय नहीं है।

सरकारी नौकरो की निरन्तर बढ़ती सख्या

२१४ सरकारी कर्मचारियो की निरन्तर बढ़ती हुई सख्या को क्या रोका नहीं जाना चाहिए? सरकार जितना सरकारी उद्योगो का विस्तार करती जाती है, मुझे लगता है कि वह सरकारी कर्मचारियो की मुट्ठी मे स्वयं को बन्द करती जाती है। यह स्पष्ट दीखता है कि सरकारी कर्मचारियो की कार्यक्षमता मे तेजी से गिरा-वट आयी है। क्या इसका भी कारण उनकी सख्या-वृद्धि ही नहीं है? इतनी बड़ी कर्मचारी-सख्या के उचित राष्ट्रीय सदुपयोग के लिए आप क्या सुझाव प्रस्तुत करते हैं?

—शासन बढ़ता है, तो उतना ही स्वावलम्बन घटता है, यह निरपवाद मान रखना चाहिए। शासन अपने कर्मचारियो की संख्या बढ़ाते जाने मे अपना विस्तार मान सकता है। लेकिन यह शरीर की स्थूलता ही उसकी कर्म-शक्ति के लिए बाधा होगी और यह सारा बढ़ता हुआ बोझ एक दिन उसे ले डूब सकता है।

मजूर-हजूर के द्वैत का विस्तार घातक

सोशलिज्म के नाम पर जो सरकार अपने हाथ-पांव सब क्षेत्रों मे फैला लेना आव-श्यक और उचित समझती है, उसको जानने की आवश्यकता है कि इस तरह सरकार से सीधे तनख्वाह या लाभ न पानेवाला आदमी सरकार के समर्थन से छुट्टी पा जाता है। तब उसके बल का योग सरकार के पास नहीं रहता। शासन इस तरह सिर्फ तनख्वाहदारो के बल चलता है, प्रजाजन का बल उससे छूट जाता है। यदि सारी जनता शासन की अगोपाग बनकर काम करे, तो इसमे शासन का कितना न लाभ होगा! यह तब हो सकता है, जब शासन आत्मानुशासन का रूप लेता जाय। तब वेतनभोगियो की फौज बढ़ाने की आवश्यकता भी न होगी और प्राइवेट सेक्टर भी पब्लिक सेक्टर जैसा और जितना काम कर निकलेगा। सोशलिज्म के सूत्र से चिपटकर जब हम हर आदमी को मुनाफाखोर मानकर उससे किनारा लेते और व्यापार-व्यवसाय को अपने हाथ मे लेते हैं, तो इस बारे मे असाव-धान हो जाते हैं कि मुनाफाखोरी कहीं स्वय सरकार के अन्तरग मे तो नहीं उतरती जा रही है! सबसे भयकर मुनाफाखोरी वह है, जो कानूनन है और सरकारी

है। मुनाफाखोर को इस तरह से रोका जा सकता है। लेकिन राज्य उस पर तुल जाये तो मुनाफाखोरी मानो सारे समाज के लिए धर्म ही बन जाती है। ऐसी अवस्था में पैसे का मूल्य उचित से आगे बढ़ जाता है और मानवीय सद्गुण की कीमत पर पैसे की प्रतिष्ठा होने लगती है। आज यही हो रहा है और ऐसा मालूम होता है कि बेरोजगारी को दूर करने का उपाय अधिक नौकरियाँ निकालना और नौकरियाँ बाँटना है। सरकार स्वयं एम्प्लायर और मालिक होती है तो फिर कोई भी सम्बन्ध उसके साथ नहीं हो सकता है, जो मजूर-मालिक का है। मजूर-हजूर में हित-विरोध देखा जाता है और इसी हित-विरोध में शासन के कर्मचारी स्वयं शासन की जड़ काटने लग सकते हैं। व्याधि के मूल में यह भ्रमभरी धारणा है कि शासन वह उत्तम है, जो सब जगह शासन करता है। इसके विरोध में सच यह कि उत्तम शासन वह है, जिसको अमूमन शासन करना ही नहीं पड़ता है। शासन का सनातन आदर्श यही था।

शासन की सर्व-व्यापकता

इधर नये द्वन्द्वात्मक विचार ने मानो इस आदर्श की गरदन दाब दी है। यही मार्क्सी विचार है जिससे सरकार का कामकाज बढ़ता ही जाता है। यदि हम यह कल्पना कर सकते कि ईश्वर की तरह राज्य एक दिन सर्वव्यापक हो जायगा तो यह शुभ होता। लेकिन यह सर्वव्यापकता यदि शासन को मिल सकती है तो तभी जब कि उत्तरोत्तर वह आत्मानुशासन के रूप में सबके अपने-अपने पास पहुँच जाय। शासन की सूक्ष्मता इस प्रकार की व्यापकता को सिद्ध कर सकती है। लेकिन आज तो उसे स्थूल और दृढ़ बनाते जाने का रवैया है, जिससे वह व्यापक तो क्या बनता उलटे दबीच बल्कि पुलिसीय बनता जा रहा है। बहुत आवश्यक है कि मूल दर्शन हमारा बदले और शासन अनुशासन में परिणत होना सीखे। अनु-शासन का रूप यदि शासन ले सका तो हर आदमी काम उसका ही करता जायगा, यद्यपि वेतन न लेकर वह कुछ अपनी ओर से राज्य को कर ही देगा। सहयोगी नागरिकों की संख्या जितनी बढ़ेगी शासन का अनुशासक नाम उतना ही चमकेगा और इस धरती पर अव्यवस्था नहीं दिखाई देगी बल्कि सुख चैन सदा दिखाई देगा।

स्वावलम्बन और श्रम-निष्ठा का अभाव

वैसे नागरिक का अविश्वास और नौकर वैतनिक का विश्वास कुछ बढ़िया प्रति-फल नहीं दिया करता है। यदि औसत आदमी को हम विश्वास दे कि उसकी

सूझ-बूझ को अवसर दें और केवल समाज मे अपरिग्रह आदि मूल्यो की प्रतिष्ठा कर दें, तो हम देखेंगे कि देश का कारोबार बढ रहा है, लेकिन उसके कारण सरकार का भार और दवाव बिलकुल नही बढ़ रहा है। इस तरह सरकार के लिए अवसर हो आता है कि वह सास्कृतिक आवश्यकताओ की ओर अधिक ध्यान दे सके और प्रशासन की झल्लत उसके सिर कम रह जाय। सूझ-बूझ का उपयोग यदि हो सकेगा, तो नाना प्रकार की कुण्ठाएँ उत्पन्न न होगी जो फिर अपराध की शकल मे फूटा करती हैं। दफ्तरवाजी कम हो जायगी और लाल-फीता लम्बा न होगा। यह सचमुच वडी अस्वस्थ प्रवृत्ति है कि जिससे सरकारी दफ्तर, सरकारी खर्च, सरकारी स्कीमें और फाइलें वढती ही जाती हैं। और हर आदमी सरकारी शरण की तलाश मे सेक्रेटरियट के आस-पास मँडराने मे कुशल-क्षेम देखता है। अफसरी यदि लोक-जीवन के केन्द्र मे हो जाय, तो अनुमान किया जा सकता है कि उसका कितना अस्वास्थ्यकर प्रभाव चारो ओर पडता होगा। भ्रष्टाचार ठीक यही से पनपता है। स्वावलम्वन और श्रमनिष्ठा आदमी की छूट जाती है। असहाय होने पर ही आदमी श्रमोत्पादन करता है, अन्यथा जव तक बस हो, वह जोड-जुगत मे ही लगा रहता है।

मैं नही समझ सकता कि स्थिति का कोई कारगर उपाय है, सिंवा इसके कि राज्य-सस्था के विषय मे, उसकी आवश्यकता और उसके कर्तव्य के बारे में, हम सही दर्शन प्राप्त करें और जीवन के सम्पूर्ण वृत्त में राजनीति को ही फैलने और छाने न दें। उसके महत्त्व को यथावश्यक सीमा में ही सीमित मानें।

२१५ रूस में जन-जीवन के प्रत्येक अग की जिम्मेवारी सरकार ने अपने ऊपर ले ली है और वहाँ सरकार का लवाजमा निश्चित रूप से ही बहुत अधिक बढ़ा हुआ है। फिर भी भारतीय सरकारी कर्मचारियों का-सा गैर-जिम्मेवाराना आचरण शायद उनमे नहीं होता और वे बराबर अपनी सरकार और राष्ट्र के प्रति पूर्ण समर्पित रहते हैं। यदि सरकार के फैलते जाने को ही दोषी आप मानते हैं, तो रूस को इस परिस्थिति के पीछे कौन-सा कारण काम कर रहा है ?

राजा का प्रजा में फैलना

—शासन का शासित पर, राजा का प्रजा पर फैलना एक चीज है। उसी शासन का शासित मे, राजा का प्रजा मे फैलना उससे बिलकुल अलग चीज है। रूस आदि देशो मे जो फैलाव हो रहा है, वह दूसरी प्रकृति का है। वे सीधी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हैं और इसलिए अनिवार्य पाते हैं कि लोक-जीवन से अभिन्न बनें। इसी चर्चा मे शायद मैंने आपको पहले कहा भी था कि केन्द्रित होने पर भी

शासन-व्यवस्था वहाँ बहुत अन्तर्विकेन्द्रित होती जा रही है। दूसरे शब्दों में केन्द्रीकरण उत्तरोत्तर कायिक से नैतिक बनता जा रहा है। भारत में वहाँ से अन्तर यह है कि डिमोक्रेसी के नाम पर पूरी जिम्मेदारी सीधे अपने कन्धों पर ले उठाने का अवसर मिल जाता है और यह भी समझ लिया जाता है कि चुनाव पाँच-छह वर्ष के लिए जिम्मेदारी आता है आगे फिर देखा जायगा। इस तरह राज्य का बढ़ा हुआ व्यापकता प्रजा पर फैलता है प्रजा में नहीं। इसलिए यह समाधान नहीं संकट का अनुभव देता है। दस-बीस देश में ऐसे लोग बहुत कम हैं, जिनको यह मालूम नहीं है कि उन्हें क्या करना है। उनके पास सात-आठ घण्टे का काम है और पोलिटिकल कैरीयर कोई वहाँ आसान चीज नहीं है शायद और सब कामों से मुश्किल काम है।

दबाव अन्तरंग हो

सरकार फैले और इतनी फैले कि समाज से भिन्न न रह जाय तो यह इष्ट तभी सधेगा जब शासन अधिकाधिक अनुशासन बनता जायगा। आज भी सर्वव्याप्त सत्ता के रूप में ईश्वर को माना जाता है। लेकिन उस श्रद्धा और अनुभूति के कारण क्या कोई अपने को अ-स्वतन्त्र अनुभव करता है? ऐसी व्यापकता प्राण और विधान को एक प्रकार की सूक्ष्मता भी देती जाती है। इस अर्थ में तो सरकार को व्यापक होते ही जाना चाहिए। इसीलिए कहा जाता है कि सरकार का काम उत्तरोत्तर कायिक कम होते जाना चाहिए नैतिक ही रहते जाना चाहिए। तब सरकार बोझ के मानिन्द नहीं रहेगी जो ऊपर से दबाता है, हवा के मानिन्द रहेगी कि जिसका दबाव है अवश्य पर हम तनिक भी अनुभव नहीं करते हैं। ऐसा अन्तःकरण की ओर से पड़नेवाला दबाव लोगों को स्वकीय मालूम होगा परकीय अनुभव नहीं होगा। बल्कि उस अन्तरंग दबाव के परिणामस्वरूप वे अपने को सच्चे अर्थ में स्वतन्त्र अनुभव कर सकेंगे परतन्त्रता का भाव उनमें एकदम दूर हो जायगा। जो मनमाना आचरण करते हैं विश्लेषण द्वारा आप पायेंगे कि वे अपने को स्वस्थ और स्वतन्त्र अनुभव नहीं कर पाते। भार-हीनता की स्थिति मनुष्य के लिए स्वाभाविक स्थिति नहीं है, उसको बर्दाश्त करने के लिए बड़े अभ्यास की आवश्यकता होती है। भार जब सब अपने भीतर अन्तःकरण के रूप में अवस्थित हो जाता है, तो वही पवित्र और शक्तिशाली होता है। उससे आदमी में वजन बढ़ता है आदमी पर वजन नहीं आता। सरकार वह इतनी ही समर्थ और स्थायी होगी जो इस सूक्ष्म व्यापक भाव की दिशा में बढ़ेगी और अपने कर्म-तन्त्र को भार से भारी बनाते जाने के मोह से छूटेगी। जब सरकार

स्वय मे तन्त्र वनकर, मानो समाज से अलग, उसीके दिल-दिमाग का काम करने की सोचती है, तो उसके परिणाम मे लोक-जीवन दिल-दिमाग से हीन होकर निश्चेतन और जड वन जाता है। जनता की सूझ-वूझ सूखती है और वह राज्य-निभर होने के सिवा और कुछ भी सोच नही पाती। जनता से छीनकर सोचने और करने का काम जब राज्य अपने हाथ मे लेता है, तब जनता अपने को वेकार अनुभव करती है और काम मे उसे अगर लगना पडता है, तो उसे वेगार का काम मानती है। वहुत कुछ करने-धरनेवाली भारत सरकार से जाने-अनजाने कुछ उसी तरह की स्थिति बनती जा रही है। जनता नीचे बौखलायी रह जाती है और जो करती, पैसे के नाते करती है। अन्यथा उसमे काम की सूझ-वूझ नहीं है।

कम्युनिस्ट शासन में लोक-पक्ष प्रधान

कम्युनिस्ट शासन शायद जन-योग की आवश्यकता और अनिवार्यता को अधिक अनुभव करता है। इसीलिए वहाँ स्वय दल मे लोक-पक्ष शासन-पक्ष से प्रधान वना दीखता है। नेहरू वाली काग्रेस मे वह स्थिति नहीं है। काग्रेस दल का लोक-पक्ष मूर्च्छित और अविद्यमान जैसा माना जाता है।

२१६ **क्या कर्मचारियों की हडताल को आप सत्याग्रह मानते हैं? क्या आप कर्मचारियों को हडताल करने का अधिकार देते हैं और सरकार को भी यह अधिकार देते हैं कि यदि वह नापसन्द करे, तो हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगा दे?**

यह हडताल सत्याग्रह नहीं थी

—नही, सत्याग्रह वह हो नहीं सकता, जो टूट जाय। वेतन को लेकर मान लीजिये कि हडताल हुई। तो सत्याग्रही हडताल वह तब मानी जायगी, जब वेतन का मान जीवन-निर्वाह की दृष्टि से निश्चित रूप से इतना कम हो कि वह काम के प्रति न्याय ही न करने देता हो। सत्याग्रही वेतन लेकर भरपूर काम करना चाहता है, पर चिन्ताग्रस्तता के कारण कर नहीं पाता। इन कारणो से किया गया असहयोग, यानी हडताल, फिर बीच मे कैसे टूट सकती है? इसमें धन के निमित्त से अपने कर्तव्य-पालन की ही आकांक्षा है। सत्याग्रही मे यह प्रेरणा यदि होगी, तो वह कभी झूठी नहीं पड सकती, क्योकि इसमे स्वय मालिक या सरकार का हित समाया हुआ है। जहाँ हित-विग्रह हो, उस भूमिका पर हठ या मोह में की जानेवाली हडताल सामने का बल अधिक और अपना बल कम अनुभव करते ही बिखर कर बैठ जायगी। सत्याग्रही हडताल के साथ यह दुर्घटना नहीं घट सकती। और नहीं तो जहाँ से हडताल की मूल प्रेरणा आयी होगी,

वह व्यक्ति अकेला मैदान में डटा रहेगा। अधिक सम्भव यह है कि उसका सत्याग्रह विनम्र और सविनय होने के कारण अन्त में मालिकों को दिखा जाये कि यह व्यक्ति स्वयं उनके हितों को ध्यान में लेता है और व्यर्थ उनको क्षति पहुँचाने की कोई स्पर्धा उसमें नहीं है। लेकिन मालिकों के मन में ऐसा अन्तर जागे कि न जागे सत्याग्रही अपनी भावनाओं के सम्बन्ध में निश्चल होता है। मालिकों के प्रति स्नेह और विनय का भाव समर्थ देता है कि वह अडिग रहे, बीच में टूटे नहीं। कर्मचारियों की हड़ताल में स्पष्ट ही यह तत्त्व विद्यमान न था। होता तो उसका अन्त उतना निराशाजनक न होता।

अधिकार का प्रश्न

अधिकार का बँटवारा नहीं हो सकता। पालक अगर माने कि सब अधिकार उसका है, तो उसको कौन रोक सकता है? अधिकार के क्षेत्र में यदि कुछ व्यवस्था आती है तो वह कर्तव्य-भावना की ओर से आती है। अधिकारों के बीच निपटारे के लिए सीधा उपाय शक्ति है। अधिकार की दृष्टि ही है कि जिसके अन्तिम परिणाम में सर्व-निर्णायक बनकर युद्ध को आना पड़ता है। उसमें जीते सो सही हारे वह गलत। इस तरह अधिकार की चर्चा कभी विवाद से आगे नहीं होती और ताकत की तराजू पर उसका अन्त होता है।

सर्वोपरि मूल्य गुणात्मक

जिससे स्थिति में आश्वासन आता है, व्यवस्था को सहारा मिलता है, वह मर्यादा और कर्तव्य का प्रश्न है। माना जाता है कि जिसके अधिकार पर सीमा नहीं है, वह राजा है। इसकी चर्चा राजनीति-शास्त्र में बहुत मिल जायगी। न्यायतन्त्र के ऊपर कोई बैठा न हो, तो उसका सञ्चालन कैसे हो? अगर वह ऊपर बैठनेवाला ही न्याय के नीचे हो तो मानो न्याय का मन्त्र छिनने लग जाता है। इसीलिए मानव-जाति हमेशा एकच्छत्र व्यक्ति को नहीं तो देवता को पैदा करके अपना काम चला पाती है जिसको निर्भ्रम और निर्भ्रान्त मानना पड़ता है। उसी परम्परा में सब अधिकार आज सरकार में अधिकृत मान लिये गये हैं और शेष के लिए बस कर्तव्य रह जाता है। इसलिए सरकारी के पास तोप बन्दूक बम, एटम बम वगैरह कुछ भी क्यों न हो हम उसकी छाया के नीचे श्रद्धा से सुख पाते हैं। मान लेते हैं कि वह सब वैध और उचित है। मैं यही कहता आ रहा हूँ कि सरकार को इस प्रकार सर्वोपरि मूल्य ठहरा देने से बड़ा खतरा कोई नहीं है। सर्वोपरि मूल्य सदा गुणात्मक होंगे, तब वह व्यक्ति सर्व-प्रधान और अधिकाधिक अधिकार-

स्वय मे तन्त्र वनकर, मानो समाज से अलग, उसीके दिल-दिमाग का काम करने की सोचती है, तो उसके परिणाम मे लोक-जीवन दिल-दिमाग से हीन होकर निश्चेतन और जड वन जाता है। जनता की सूझ-बूझ सूखती है और वह राज्य-निर्भर होने के सिवा और कुछ भी सोच नही पाती। जनता से छीनकर सोचने और करने का काम जव राज्य अपने हाथ मे लेता है, तव जनता अपने को बेकार अनुभव करती है और काम में उसे अगर लगना पडता है, तो उसे वेगार का काम मानती है। वहुत कुछ करने-घरनेवाली भारत सरकार से जाने-अनजाने कुछ उसी तरह की स्थिति वनती जा रही है। जनता नीचे वौखलायी रह जाती है और जो करती, पैसे के नाते करती है। अन्यथा उसमे काम की सूझ-वूझ नही है।

कम्युनिस्ट शासन में लोक-पक्ष प्रधान

कम्युनिस्ट शासन शायद जन-योग की आवश्यकता और अनिवार्यता को अधिक अनुभव करता है। इसीलिए वहाँ स्वय दल में लोक-पक्ष शासन-पक्ष से प्रवान वना दीखता है। नेहरू वाली काग्रेस मे वह स्थिति नहीं है। काग्रेस दल का लोक-पक्ष मूर्च्छित और अविद्यमान जैसा माना जाता है।

२१६ **क्या कर्मचारियों की हड़ताल को आप सत्याग्रह मानते हैं? क्या आप कर्मचारियों को हडताल करने का अधिकार देते हैं और सरकार को भी यह अधिकार देते हैं कि यदि वह नापसन्द करे, तो हडतालों पर प्रतिबन्ध लगा दे?**

यह हडताल सत्याग्रह नहीं थी

—नहीं, सत्याग्रह वह हो नहीं सकता, जो टूट जाय। वेतन को लेकर मान लीजिये कि हडताल हुई। तो सत्याग्रही हडताल वह तव मानी जायगी, जव वेतन का मान जीवन-निर्वाह की दृष्टि से निश्चित रूप से इतना कम हो कि वह काम के प्रति न्याय ही न करने देता हो। सत्याग्रही वेतन लेकर भरपूर काम करना चाहता है, पर चिन्ताग्रस्तता के कारण कर नहीं पाता। इन कारणो से किया गया असहयोग, यानी हडताल, फिर वीच मे कैसे टूट सकती है? इसमें धन के निमित्त से अपने कर्तव्य-पालन की ही आकाक्षा है। सत्याग्रही मे यह प्रेरणा यदि होगी, तो वह कभी झूठी नहीं पड सकती, क्योकि इसमें स्वय मालिक या सरकार का हित समाया हुआ है। जहाँ हित-विग्रह हो, उस भूमिका पर हठ या मोह मे की जानेवाली हडताल सामने का बल अधिक और अपना वल कम अनुभव करते ही विखर कर बैठ जायगी। सत्याग्रही हडताल के साथ यह दुर्घटना नहीं घट सकती। और नहीं तो जहाँ से हडताल की मूल प्रेरणा आयी होगी,

वह व्यक्ति अकेला मैदान में डटा रहेगा। अधिक सम्भव यह है कि उसका सत्याग्रह विनम्र और सविनय होने के कारण अन्त में मालिकों को दिखा जाये कि वह व्यक्ति स्वयं उनके हितों को ध्यान में रखता है और व्यर्थ उनको क्षति पहुँचाने की कोई स्पर्धा उसमें नहीं है। लेकिन मालिकों के मन में ऐसा अन्तर आये कि न आये सत्याग्रही अपनी भावनाओं के सम्बन्ध में निश्चल होता है। मालिकों के प्रति स्नेह और विनय का भाव अंकित रहता है कि वह अक्षय रहे, बीच में टूटे नहीं। कर्मचारियों की हड़ताल में स्पष्ट ही यह तत्त्व विद्यमान न था। होता तो उसका अन्त उतना निराशाजनक न होता।

अधिकार का प्रश्न

अधिकार का बँटवारा नहीं हो सकता। पालक अगर माने कि सब अधिकार उसका है, तो उसको कौन रोक सकता है? अधिकार के क्षेत्र में यदि कुछ व्यवस्था आती है तो वह कर्तव्य-भावना की ओर से आती है। अधिकारों के बीच निपटारे के लिए सीधा उपाय ताकत है। अधिकार की वृत्ति ही है कि जिसके अन्तिम परिणाम में सर्व-निर्णायक बनकर युद्ध को आना पड़ता है। उसमें जीते सो सही, हारे वह गलत। इस तरह अधिकार की चर्चा कभी विवाद से खाली नहीं होती और ताकत की तराजू पर उसका अन्त होता है।

सर्वोपरि मूल्य गुणात्मक

जिससे स्थिति में आश्वासन आता है, व्यवस्था को सहारा मिलता है, वह मर्यादा और कर्तव्य का प्रश्न है। माना जाता है कि जिसके अधिकार पर सीमा नहीं है, वह राजा है। इसकी चर्चा राजनीति-शास्त्र में बहुत मिल जायगी। न्यायासन के ऊपर कोई बैठा न हो, तो उसका संचालन कैसे हो? अगर वह ऊपर बैठनेवाला ही न्याय के नीचे हो तो मानो न्याय का अन्त दिखने लग जाता है। इसीलिए मानव-जाति हमेशा एकमात्र व्यक्ति को नहीं तो देवता को पैदा करके अपना काम चला पाती है, जिसको निर्भ्रम और निर्भ्रान्त मानना पड़ता है। उसी परम्परा में सब अधिकार आज सरकार में अधिष्ठित मान लिये गये हैं और शेष के लिए बस कर्तव्य रह जाता है। इसलिए सरकारों के पास तोप, बन्दूक, बम, एटम बम वगैरह कुछ भी क्यों न हो, हम उसकी सत्ता के नीचे श्रद्धा से झुक सकते हैं। मान लेते हैं कि वह सब वैध और उचित है। मैं यही कहना चाह रहा हूँ कि सरकार को इस प्रकार सर्वोपरि मूल्य ठहरा देने से बड़ा संकट कोई नहीं है। सर्वोपरि मूल्य स्वयं गुणात्मक होंगे तब वह व्यक्ति सर्व प्रमाण और अधिकाधिक अधिकार

समाप्त होगा, जो उन आश्रित गुणों का द्योतक होगा। क्या माउण्ट और गुलमर्ग के आलीशान प्रासाद की पूजा में ही उनके अधिकारी सामन्त नहीं मारे गये? इस इतिहास से और [illegible] [illegible] प्राप्त करना [illegible] [illegible] कठिन नहीं होना चाहिए कि आज [illegible] [illegible] [illegible] की प्रार्थना है। और [illegible] [illegible] [illegible] राजनीति के [illegible] [illegible] लुप्त हो जायगी तो यह [illegible] राजनीति [illegible] [illegible] [illegible] पर होगी।

माने हुए अधिकार खतरनाक

अधिकार का प्रश्न जब भी उठाया, आदमी कुछ प्राप्त अधिकार भी खोता है। जीने का अधिकार नहीं मौलिक अधिकार है। आदमी बीमारी या निर्ममता से अपने को मार लेता है, तो वह उसका अपना काम है। मरना तो और काम करना चाहता था, फिर भी उस जीने के कारण हम, तो यह अधिकार किसी समाज या सरकार का नहीं माना जा सकता। लेकिन समाज पर से चली हुई सरकार सदा यह अधिकार अपना मानती है। इस तरह से नाना दबावों से आदमी पहले अपराधी बनता है और फिर सरकार की आज्ञा से जेल और फंदे से आगे जाकर फाँसी की सजा तक पा जाता है। माने हुए अधिकार की शृंखला ने यह सब गजब पैदा किया है। मूल में इसके है हिंसा का अधिकार। शेर पंजे से पकड़कर खरगोश को समूचा मुँह में रख लेता है, तो उसको मालूम होता है कि यह उसका प्राकृतिक अधिकार है। प्रकृति की इसी जंगली जानवरों में से हमने मानवीय अधिकारों की सृष्टि कर दी है, जिससे हमारे बीच अभी तक जंगल कायम चला जा रहा है। इस नंगे तथ्य को जितनी जल्दी हम पहचान लें, उतना अच्छा है। तथ्य के रूप में हम उसे सहें, यह तो चल जाता है, लेकिन बड़े-बड़े कानूनी शब्दों के सहारे हम उसे सत्य मानकर सिर झुकायें और राजा को परमेश्वर मानें, यह अब नहीं चलना चाहिए।

कर्मचारियों द्वारा हिस्सा-माँग

२१७ क्या कर्मचारी को आप केवल जीने का हक ही देना चाहते हैं? पूंजीपति अथवा सरकार की वृहदाकार आय में से कर्मचारियों को अपने हिस्से की माँग को आप न्यायसंगत नहीं मानेंगे? आज की मजदूर-मालिकसम्बन्धों की स्थिति प्राचीन काल के गुलाम-मालिकों की-सी नहीं है? आज का मजदूर कर्तव्य और अधिकार दोनों में बराबर का हिस्सेदार स्वयं को मानता है। उसके इस दावे को

आप कितनी दूर तक स्वीकार करते हैं और कहाँ तक आप मालिकों को विशेष और ऊपर का स्थान देने के पक्ष में हैं?

—हिस्सा-भाग का विचार मेरी दृष्टि में मूढ़ विचार है। मैं उस स्थिति को सही समझता हूँ जहाँ मैं दावा नहीं सब अपना मानता हूँ और इसी तरह दावा नहीं सब दूसरे का मानने की इच्छा रखता हूँ। भाग-बाँट दुनिया में तभी सफल हो पाती है जब कोई एक है जो कहता है कि अच्छा जिस तरह से हिस्से तुमने बाँटे हैं, मुझे मान्य है। ऐसा नहीं होता तो उस बाँट-बँटवारे में से झगड़े-फिसाद शुरू होते हैं और खून-कत्ल हो जाते हैं।

आदमी के पास जीने से आगे कुछ भी और हक नहीं पहुँचता। पूरी तरह जीने में ही सब हक आ जाता है। जीना होने से ज्यादा है। मिट्टी है लेकिन वह जीती नहीं है। जीना वहाँ से शुरू होता है जहाँ आदमी देने की सोचने लगता है। लेने की वासना जीने की कमी का प्रमाण है। वह होने के तल तक गिर जाए जीवन का प्रमाण है। हिस्सा-बाँट की धारणा भी अस्तित्व-संघर्ष के तल की है। अर्थात् जीवन के प्रारम्भ से पहले की। स्ट्रगल फॉर एग्जिस्टेन्स जैविक है। मानवीय का आरम्भ आत्मदान और प्रेमदान से होता है।

चाह की तीक्ष्णता जीवन की न्यूनता

मजूर मालिक से क्यों कम चाहे? लेकिन मालिक के लिए यह सम्भव हो सकता है कि वह बाप होकर अपने लिए बेटे से कम चाहे। चाह की यह तीक्ष्णता जीवन की न्यूनता का प्रमाण है। जीवन-सामर्थ्य का लक्षण ठीक इससे उल्टा होता है। वह व्यक्ति जो भिक्षा से काम चलाता है क्या मजदूर से गया-बीता नहीं है? फिर उसके चरणों में चक्रवर्ति माथा झुकाता है तो क्यों? केवल इसलिए कि वह लेना नहीं चाहता है। इतिहास में क्या कारण है कि एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो महापुरुष समझा जाता हो और इसमें कारण उसकी त्यागमयता रही हो। हम जब समान बँटवारे और समान अधिकार की बात उठाते हैं,/तो जाने-अनजाने आर्थिक और स्वार्थिक विचार से चकरा रहे होते हैं। एक सुन्दर शिशु के पास क्या नहीं है? माँ-बाप के प्यार में से सभी कुछ उसे मिल जाता है। पर उसे लेने और पाने का पता भी नहीं होता।

मालिक-गुलाम मिल-मालिक-मजूर

मालिक-गुलाम के बीच वही रिश्ता है जो मिल-ओनर और मिल-मजूर के बीच है, मुझे यह स्वीकार नहीं है। पहले रिश्ते में भावना की गुंजाइश है, दूसरे में हिसाब से इतर का अवकाश नहीं है। मैं दूसरे रिश्ते को ज्यादा खतरनाक मानता

सम्भव होगा, जो इन आस्तिक गुणों का [illegible] होगा। क्या [illegible] और मुहम्मद से आखिर [illegible] की पूजा में भी [illegible] सम्भव नहीं बड़े हो गये? इस इतिहास-क्रम में [illegible] कठिन नहीं होना चाहिए कि [illegible] प्रतिनिधि हैं। और [illegible] लुप्त हो जायगा तो यह [illegible] में [illegible] कुछ नहीं रह सकेगी।

माने हुए अधिकार खतरनाक

अधिकार का प्रश्न जो भी हो जाय, आदमी कुछ सहज अधिकार भी पाता है। जीने का अधिकार यही मौलिक अधिकार है। आदमी बीमारी या निराशवश से अपने को मार लेता है, तो यह उसका अपना काम है। मनुष्य तो और काम करना चाहता हो, फिर भी उसे जीने से मार दें, तो यह अधिकार किसी समाज या सरकार का नहीं माना जा सकता। लेकिन समाज पर से बनी हुई सरकार सदा यह अधिकार अपना मानती है। इस तरह से नाना दबावों से आदमी पहले अपराधी बनता है और फिर सरकार की ओर से जेल और दंड से आगे जाकर फाँसी की सजा तक पा जाता है। माने हुए अधिकार की शृंखला ने यह सब गजब पैदा किया है। मूल में इसके है हिंसा का अधिकार। शेर पंजे में पकड़कर खरगोश को समूचा मुँह में रख लेता है, तो शायद मालूम होता है कि यह उसका प्राकृतिक अधिकार है। प्रकृति की इसी जंगली जानकारी में से हमने मानवीय अधिकारों की सृष्टि कर दी है, जिससे हमारे बीच अभी तक जंगल कायम चला जा रहा है। इस नंगे तथ्य को जितनी जल्दी हम पहचान लें, उतना अच्छा है। तथ्य के रूप में हम उसे सहें, यह तो चल सकता है, लेकिन बड़े बड़े कानूनी कब्दा के सहारे हम उसे सत्य मानकर सिर झुकायें और राजा को परमेश्वर मानें, यह अब नहीं चलना चाहिए।

कर्मचारियों द्वारा हिस्सा-माँग

२१७ क्या कर्मचारी को आप केवल जीने का हक ही देना चाहते हैं? पूंजीपति अथवा सरकार की वृहदाकार आय में से कर्मचारियों को अपने हिस्से की माँग को आप न्यायसंगत नहीं मानेंगे? आज की मजदूर-मालिकसम्बन्धों की स्थिति प्राचीन काल के गुलाम-मालिकों की-सी नहीं है? आज का मजदूर कर्तव्य और अधिकार दोनों में बराबर का हिस्सेदार स्वयं को मानता है। उसके इस दावे को

केवल यह कि सारे समाज की भावना में यह भर जाय कि पैसा परिग्रह है। तब पैसेवाला उसके प्रति अपने को सिर्फ थातीदार (ट्रस्टी) ही मानेगा उसके प्रति भोगी और मालिक बनकर नहीं चल सकेगा। समाज के मूल्य और समाज की प्रभुता ही यह घटित न होने देगी। इसलिए जब कि आज के जमाने में काम की राशि के वितरण के बारे में न्याय और समानुपात के विचार को मैं शुभ मानता हूँ तब यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि बँटने के लिए कोई काम की राशि रहती है तो यही अपने-आपमें एक भूल का परिणाम है। सब सहयोग करनेवाले जीवें और अधिकाधिक पूरे तौर पर जीयें इससे अधिक और आगे काम का प्रश्न कहीं रह ही नहीं जाना चाहिए। जीने से अधिक और अतिरिक्त कोई काम दुनिया में है, इस मिथ्यावाद का अन्त ही जाना चाहिए। यह लाख रुपया करोड़ रुपया आखिर किस काम का जो स्वयं जीवन को खिलाता नहीं है, बल्कि संकुचित और संकीर्ण करता है। लाख से करोड़ और करोड़ से अरब बनाने की भूख बनी है तो इसलिए कि हमने उसकी उपलब्धि मान रखा है। लेकिन अगर इससे लोकमत का सहारा छूट जाता है, तो जिन्दगी पर यह सब बोझ और परेशानी लेना किसीके लिए रस का विषय नहीं रह जायगा। यह धनार्जन का इन्सेंटिव अधूरा और हल्का इन्सेंटिव है। जीवन की भाषा का जब सही इन्सेंटिव प्राप्त होगा तो यह उससे कहीं बढ़कर साबित होगा और अरबों-खरबों की सम्पत्ति पैदा कर दिखाकर भी वह प्रेरणा से चलनेवाला कर्मवीर अपरिग्रही और कर्मशील बना रहेगा। वह कभी न अपने ऊपर भारी पड़ेगा न दूसरे पर ही भारी पड़ सकेगा। वह सहयोगी सज्जन और साधारण ही बना रहेगा। उसकी सम्भावनाएँ कभी चुकने और समाप्त होने की आवश्यकता में न पड़ेंगी। असामाजिकता का प्रवेश उसके व्यक्तित्व में न आवेगा और न लोभाचार, न दम्भाचार उसमें देखा जायगा। हिसाब के जोर से जिस मान-मर्यादा को हम आग्रहपूर्वक अपने बीच में निश्चित करेंगे और कानून के जोर से जिसकी सुरक्षा और पहरेदारी रखने का आडम्बर होगा उसमें से मानवता का वह प्रस्फुटन कभी-कभी सिद्ध न होगा। इसलिए व्यवस्था और हिसाब की ओर से जाने के बजाय उसे ट्रस्टीशिप-भावना की दिशा में ले जाना चाहिए। तब उसमें से सम्पूर्ण सुफल निकल सकेगा।

कल्पना का भी मूल्य

२१८. मैं तो यह बात मोटी और असम्भव कल्पना ही मानता हूँ कि एक हिसाबी पूँजीपति कुछ थातीदार बन सकेगा और अपने कर्मचारियों के साथ एक बाप बेटे-सा हार्दिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा और कभी उनके जीवन के लिए अपने हाथ

हैं। इसका शोषण इतना सूक्ष्म है कि वहाँ अत्याचार है, इसका भी भान नहीं हो पाता। मोहम्मद साहब ने [illegible] का सहन किया, लेकिन सूद-ब्याज को हराम ठहराया। इसमें मैं गहरी आत्मा-भावना देखता हूँ। मालिक मुलाजिम के रिश्ते की हिंसा ऊपर सतह पर दिखाई दे जाती है। मिलोंयोग वगैरह में यह वर्गीय हिंसा इतनी व्याप्त हो जाती है कि सबकी अन्तःकरण की पकड़ में नहीं आती। उसको देखने और दिखाने के लिए सामाजिक चिन्तकों और दार्श-निकों की जरूरत पड़ती है। किसी आवेश में उन दोनों को समान पद देने से नहीं चलेगा। आधुनिक अर्थ-चक्र के द्वारा बने हुए रिश्तों में भावना है नहीं, इसलिए केवल भावना के द्वारा उस हिंसा का उन्मूलन भी नहीं हो सकेगा। शोषक जैसे अरुचिकर और उससे भी घृणास्पद शब्द हमको आगे नहीं ले जायँगे। यह तो वर्ग-विद्वेष की बारूद होगी, जो फटाव पैदा कर सकती है, बनाव और विकास जिसमें से नहीं निकलेगा। भावना को भीतर रखकर उसके गहरे विश्लेषण और अवगाहन में जाना पड़ेगा, तब सही अर्थ के मूल में हम जन और श्रम की प्रतिष्ठा कर सकेंगे। सिर्फ वर्गों के उठाने-गिराने और अदलने-बदलने से मूल्यों की मौलिक क्रान्ति नहीं हो सकती।

हिसावीपन नहीं, ट्रस्टीशिप-भावना

लाभ के न्यायपूर्ण समान वितरण का काम तो करना ही होगा। बल्कि यदि पूँजी से श्रम को लाभ का अधिक भाग मिले, तो इस तक को उचित और सम्भव बनाना होगा। ऐसे प्रयोग हो निकले हैं, जहाँ श्रम के प्रतिनिधि को डाइरेक्टर के तौर पर रखा जाता और व्यवस्था के विचार मे उसके समानुपातिक सन्तुलन का ध्यान भी किया जाता है। आर्थिक स्तर पर समानता और न्याय के प्रयोग हर जगह किये जा रहे हैं और यह शुभ है। लेकिन हिसाव पर बहुत अधिक आधार डाल देने से नहीं चलेगा। एक महाजन गाँव में बैठता है और देखते-देखते आस-पास सब उसके मकान हो जाते और वह मालामाल हो जाता है, तो किस मन्त्र के जोर से ? वह मन्त्र यही हिसाव है। समाज मे सुख-चैन यदि बढ़ेगा, तो आपस मे हिसावी भावना को दृढ और मजबूत करने से नहीं बढ़ेगा, बल्कि विश्वास की भावना को दृढ और मजबूत करने से बनेगा। हिसाव के काम मे वैश्य जितना दक्ष और सिद्ध है, वह दक्षता श्रमिक अथवा नैतिक मे भी डाली जाय, यह जरूरी नहीं है। अगर संशय का वातावरण होगा, तो इस हिसावी वृत्ति को बहुत ऊँचा स्थान मिल जायगा और सब शक्ति उसके हाथ आ रहेगी। हिसावी नैपुण्य सच मे तो वैश्य-वृत्ति के ही अनुकूल है और उसीके पास रहे, तो कोई हर्ज की बात नहीं है। चाहिए

हृदय में से बैर जाना कोरी भावना से ही शायद कैसे न आ पाता। मैं जब अपनी श्रद्धा की बात कहता हूँ तो कोरी भावना पर निर्भर नहीं कर रहा हूँ। लोक-मानस के मूल्य और समाज की व्यवस्था बदलने की देर है कि सम्पत्ति की इज्जत बदल जाना होगा। कुछ पहले हीरा-मानिक के बड़े-बड़े कण्ठे पहने जाते थे उनमें गर्व माना जाता था। आज उन्हें कोई पहनेगा तो मूर्ख समझे जाने का ही खतरा उठा-येगा। आप लोकसम्मति के महत्त्व को कम समझते हैं, जब यह कहते हैं कि ऐसा कभी नहीं हो सकेगा। जीवन-मान में श्रम को आप उसके उपयुक्त स्थान पर ले आइये और देखिये कि अर्थ का आतंक कैसे दूर हो जाता है। पूँजीवाद और राज्यवाद जो आप रखें और व्यवहार में धन के महत्त्व को हिसाब के जोर से यहाँ-वहाँ से काटकर कम करना चाहें तो वह बात होनेवाली नहीं है।

कानून और हिसाब की समानता असिद्ध

आय में जमीन-आसमान का फर्क होना अन्याय को ही जन्म दे सकता है। उससे ये कभी कोई शुभ नहीं निकल सकता। आय पर हम व्यक्ति का पूरा हक मानते हैं और उससे बाहर उस हक की व्याप्ति नहीं देखते। जिसको चालीस रुपये तन-ख्वाह मिलती है वह इकतालीसवाँ रुपया खर्च करे, तो पाप लगता है। इस चालीस रुपये में अगर बच्चे के लिए दूध और पत्नी के लिए साबित साड़ी भी मोहय्या न हो सके, तो कोई परवाह नहीं है। लेकिन हक उसका आय की सीमा से आगे नहीं जाता है। इसी तरह आज एक लाख रुपये रोज से अधिक भी कमाना एक आदमी की जेब में पड़ना सम्भव है। वह इतना ही अपार खर्च करे, तो उसका यह हक माना जाता है। आय के प्रति जो यह सम्बन्ध हमने बना लिया है, उससे भयंकर अनिष्ट हो रहा है। जिसको जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त मात्रा आय उससे कम आय किसीकी होनी ही नहीं चाहिए। यदि बच्चों का शिक्षण निःशुल्क कर दिया जाय और वेतन जिन्स के रूप में मिलने लगे तो इससे व्यवस्था में सुविधा हो सकती है। विनोबा ने एक दिन यह आवाज दी थी कि सरकारी कर्मचारियों के वेतन का मुख्य भाग जिन्स में मिले और फिर थोड़ा भाग जो नकद में मिलेगा उसमें अन्तर होगा तो उतना चुभेगा नहीं। आय का अन्धाधुन्ध होना आज के कानून में अवश्य सम्भव है, क्योंकि तरह-तरह के उपाय कानून ने अवश्य रख रखे हैं। कानून की हद में रहते हुए भी पद्धतियाँ निकली हैं कि आदमी अपने परिवार पर दस-बीस-पचास हजार या अधिक भी खर्च कर सकता और शरीर पर लाखों का जेवर पहन सकता है। यानी आय को सीमित करने के सारे कानूनों के बावजूद उस सीमा को बाँधा नहीं जा सकता। तब यह मानते हुए भी कि आय की एक

पर नहीं फैलायेगा। आदर्श की दृष्टि से हम ऐसा सोच सकते हैं, पर व्यवहार मे ऐसा नहीं देखा जा सकता। प्रश्न को यदि इस दृष्टि से रखें कि नागरिकों की आय मे सौ और लाख रुपया महीना जितना फर्क क्यों हो और क्यों न कानूनन इस फर्क को घटाकर सौ और हजार तक निर्दिष्ट कर दिया जाय, तब आप क्या कहना चाहेंगे ? जहाँ तक भावना का सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ जितना ध्यान पूंजीपति की भावना का रखा जाना चाहिए उससे कम कर्मचारी की भावना का यदि रखा जायगा, तो क्या यह अन्याय नहीं होगा ?

—मैं कल्पना मे भी मूल्य को गौण नहीं चाहूँगा। श्रद्धा के बिना गति नहीं है, विकास नहीं है।

सेठ और मुनीम

हिसाब मे से अवश्य यह थाती की भावना नही निकलेगी। लेकिन समाज का मूल्य यदि और जब अपरिग्रह हो सकेगा, तो अनिवार्य होकर यह भावना पूंजीपति मे पास पहुँचेगी, इसमे मुझे सन्देह नही है। दो-एक करोड़पति मेरे भी मित्र हैं। मैंने कभी उनके हाथ मे पैसा नही देखा है, उनके कर्मचारियो मे दूसरी-तीसरी श्रेणीवाले के पास पैसा रहा करता है। पूंजीपति इतना अधिक पति होता है कि मुनीम नही होता। तिजोरी की चाबी और वही-खाते मुनीम के पास रहते है और वह सब बोझ मुनीम का सिर-दर्द माना जाता है, पूंजीपति उससे उत्तीर्ण रहता है। मेरी समझ मे नहीं आता कि समाज अगर स्वस्थ हो, तो वैश्य का भी स्थान ऐसे मुनीम का क्यो नही बन सकता ? मुनीम थातीदार के सिवा क्या है ? सेठ के बारे मे यह थातीदारी मुश्किल इसलिए मालूम होती है कि लगता है, वह मनचाहा खर्च कर सकता है। अगर मनचाहा खर्च करने का आकर्षण और उसकी सुविधा समाज के वातावरण मे से खिच रहती है, तो क्या सेठ की स्थिति मुनीम जैसी नहीं हो जाती ?

उदाहरण लीजिये। मकान आप अपने लिए बढ़िया-से-बढिया बना सकते हैं। चाहे तो आली से आलीशान महल खडे कर लीजिये। लेकिन मान लीजिये कि नौकर आपको नही मिलता। तब वह महल ही आपके लिए भूत का डेरा हो जायगा। मान लीजिये, हवा ऐसी बनती है कि महल लोगो की निगाह मे चुभने लग जाते हैं। तब आप सिर्फ इसलिए कि समाज मे अपना मान रख सकें, महल छोडकर छोटा मकान अपने लिए पसन्द करेंगे। बिडला ने कलकत्ते का बिडला-हाउस छोड़-कर अपने लिए मामूली मकान बनवाकर रहना शुरू कर दिया, तो इससे समाज मे उनका मान बना ही नहीं रह गया, बल्कि बढ गया। यह परिवर्तन समाज की

है। सरकार तो इस सम्बन्ध में इसके सिवा कुछ भी और नहीं कर सकती थी। लेकिन सरकार से ऊपर होकर चलनेवाला कोई नैतिक और सांस्कृतिक तत्त्व ऐसा क्यों न हो सका जो उसको उस रूप में स्वीकार न करता और मानो चुनौती-पूर्वक पूछता रहता कि वह क्या कारण है, जिससे हिन्दू पाकिस्तान में और मुसलमान हिन्दुस्तान में सुरक्षापूर्वक नहीं रह सका या नहीं रह सकता? इसको क्यों गृहीत मान लिया गया कि जिन लोगों को अपने धाम-धरती से उखाड़कर लाया गया है, वे फिर वहाँ वापस जा ही नहीं पायेंगे? यदि कभी दुनिया में न्याय जैसी चीज को जागना और बढ़ना है, तो इस तरह की धारणाओं को राजनीतिक हाथों में छोड़कर रह जाना मानव-जाति के लिए कापुरुषता का लक्षण होगा। धार्मिक, जातीय अथवा प्रादेशिक आवेशों को लेकर अगर बड़े पैमाने पर राजनेता जब इसी तरह लोगों के दुःख-दुविधा का कारण बने रहे जा सकते हैं, तो विश्व के लिए युद्ध से त्राण पाने का मार्ग नहीं निकलनेवाला है। उपाय है कि हर देश में मानव जाति के अन्तःकरण को प्रदीप्त किया जाय और सरकारें मानव-मूल्यों का बाधन और उल्लंघन न कर सकें।

एक अप्राकृतिक अवस्था

यह समस्या अब भी कष्ट दे रही है। इसका कारण यह है कि विभाजन के समय हमने एक अप्राकृतिक अवस्था को अपने बीच स्वीकार कर लिया था। यह अप्राकृतिक स्थिति पेट में पड़े अपच खाद्य के समान रह-रहकर हमें कष्ट देती ही जायगी।

मुझे सचमुच विस्मय है कि गांधी के देश इस भारत में उनका उत्तराधिकारी ऐसा कोई क्यों न हुआ जो मानव-जाति की ओर से इस कष्ट और इस चुनौती को अपनाता, अहिंसा की श्रद्धा से उठकर इस अप्राकृतिक समस्या को ललकार देता और हिन्दुस्तान-पाकिस्तान दोनों सरकारों को न्याय के सामने आने की बात कहता। यह देश सत्य या अन्तःकरण जब तक नहीं जागता है, राष्ट्रीय सरकारों की ओर से होनेवाली इन कारवाइयों को सहते और देखते जाने के सिवा मानवता के पास कोई उपाय नहीं है। लेकिन निश्चय मानना चाहिए कि यदि विश्व की समस्त मानवता एक बिरादरी और एक परिवार है, तो उसके अन्तःकरण में ऐसी सब घटनाएँ नासूर छोड़ जाती हैं, जो मानवता के स्वास्थ्य को बाधा पहुँचाता है। मुझे लगता है कि विज्ञान की प्रगति के साथ इतिहास में वह समय आया है कि समस्याएँ समस्त जगत् के दृष्टिकोण से देखी जायें और जब राष्ट्रीय स्वार्थों को जो सर्वोपरि सत्ता मिल गयी है, उसके ऊपर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की

सीलिंग होनी चाहिए, क्या वह सीलिंग कानून से लायी जा सकी है, या लायी जा सकती है? आप इधर निचाई में उसके मान को अवश्य तय कर सकते हैं, लेकिन ऊँचाई में उस निर्णय को अमल में लाना सम्भव नहीं है। दो-ढाई सौ रुपये पानेवाला सब-इन्स्पेक्टर अगर दो-ढाई सौ अपने अस्तबल पर खर्च करता दिखाई देता है, तो इसका इलाज किसके पास है? अर्थात् यह व्याधि कानून में रुकनेवाली नहीं है। समानुपातिक वितरण, वेतन-मानों के पुनर्निर्णय इत्यादि में कागज पर समाधान हुआ जान पड़ेगा, प्रत्यक्ष जीवन में वह कभी न आयेगा। इसका उपाय सिद्धान्तवादी हिसाब-निणय नहीं है, बल्कि अर्थ का अवमूल्यन और श्रम का उन्मूल्यन है। समाज की हवा बदलने की जरूरत है और यह कहकर कि वह भावात्मक बात हो जाती है, उसकी सम्भावनाओं को कम मानना अपने को बहकाना और अन्त मे उस अस्त्र की प्रतिष्ठा बढ़ा देना होगा, जिसकी प्रतिष्ठा कम करने की आवश्यकता है। समाज मे से उस इष्ट का आविर्भाव हम नहीं कर सकते हैं, तो राज्य द्वारा ही उसको लाने का उपाय बच जाता है। यह उपाय स्वय खतरे से खाली नही है। इसलिए कानून की जबदस्ती से काम लेने का सपना जबर्दस्ती को अपने बीच हमेशा के लिए मजबूत बना लेने के समान है। लगभग समानता अर्थ-क्षेत्र में होनी चाहिए, लेकिन हिसाब पर उसकी सुरक्षा का काम सौंप रखेंगे, तो खता खायेंगे। उस समानता को मनों मे दृढ़ करना आवश्यक होगा। राज्य के कानून और हिसाब से बनायी गयी समानता हमारे बीच से किसी क्षण भी लुप्त हो जा सकती है और राजकीय स्तर पर आय की अतिशयता आत्म-समर्थित वस्तु बन सकती है। यह जोखम उठाने की सलाह मैं आपको कभी न दूंगा।

शरणार्थी-समस्या

२१९ भारत-सरकार ने जिस रूप मे शरणार्थी-समस्या को सुलझाया, वह बहुत श्लाघ्य है। पर क्या आप मानते हैं कि शरणार्थी-समस्या सुलझ चुकी है, क्योंकि अब भी पूर्वी पाकिस्तान से बराबर हिन्दू-शरणार्थियो का प्रवाह भारत की ओर बहा चला आ रहा है। आप इस समस्या को सुलझाने के लिए क्या सुझाव पेश करते हैं?

एक चुनौती

—शरणार्थियो के लिए जिस तत्परता से यहाँ व्यवस्था की गयी है, उसकी प्रशसा सब लोग करेंगे। लेकिन उस समस्या को स्वीकार किया गया, मुझे इसीमे आपत्ति

१०

सुरक्षा, गृह-नीति, विदेश-नीति

देश की सुरक्षा

११ क्या आप भारत की सुरक्षा के लिए, सुरक्षा-विभाग जो भी कदम उठा रहा है, उससे सन्तुष्ट हैं? क्या आपका विचार है कि किसी भी ओर से सशस्त्र आक्रमण होने पर भारत अपनी सुरक्षा स्वयं करने में समर्थ होगा?

यह प्रश्न सामरिक नहीं मानसिक

—कोई देश असली अर्थ में अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकता। असली अर्थ से मतलब कि सब जगह सब देशवासी जानते रहते हैं कि इस काम के लिए सरकार के पास एक काफी बड़ी फौज रहा करती है। अर्थात् देश की सुरक्षा सब जगह फौजों के बलबूते होती है, और होनी यह माना जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि फौज की संख्या स्वयं पर्याप्त बल नहीं है। बड़ी-से-बड़ी संख्या उससे अधिक बड़ी के आगे छोटी हो जाती है। फिर आजकल इतना यन्त्रीकरण हो गया है कि सैनिकों की संख्या से अधिक महत्त्व की चीज बड़े बड़े अस्त्रास्त्रों की संख्या हुआ करती है। इस दृष्टि से भारत को आज की बड़ी शक्तियों के समतुल्य नहीं गिना जा सकता। चीन के पास निश्चय ही जनशक्ति और अस्त्रास्त्र-शक्ति अधिक है। इस दृष्टि से भारत का सुरक्षा-मन्त्रालय जितना जो करे, स्थिति की मांग के लिहाज से कम ही समझा जायगा। मुझे इन ब्योरों में बिलकुल दिलचस्पी नहीं है। असल में अस्त्रास्त्र उतना ही काम करता है, जितना उसके पीछे संकल्प का बल रहता है। आज की भारत-सरकार भारत के लोक-मन से तद्गत नहीं है उसकी बड़ी भाषा और बड़ी-बड़ी धारणाएं लोक-मन के कुछ ऊपर-ऊपर से बह जाती हैं, उसके अन्तरंग मन तक उतर नहीं पाती हैं। पंचवर्षीय योजनाओं को लेकर यह स्पष्ट हो जाता है। इन योजनाओं को भारत के प्रति ही परिचित बनाने के लिए करोड़ों रुपयों की राशि स्वीकृत की गयी है। इसीसे प्रकट है कि योजनाएं कहीं ऊंचाई से आती हैं

जाय। राजनीति स्वच्छद और स्वय निरकुश रहकर सब पर अकुश लानेवाली न रहे, बल्कि वह स्वय किन्ही मूल्यो के अधीन हो और उन मूल्यो का अकुश राजनीति को निरकुश न होने दे। यूनो आदि सस्थाएँ इस आवश्यकता की पूर्ति नही करती हैं। कारण, वे स्वय इतनी राजनीतिक और तन्त्रावद्ध हैं कि मानवता की ओर से हार्दिक अकुश का काम नहीं दे सकतीं।

मूल में भारी दोष

शरणार्थी-समस्या एक वडे पैमाने पर अगर सामने आती है, तो मान लेना चाहिए कि स्थिति मे कोई भारी दोष है। यद्यपि तात्कालिक रूप से उन शरणार्थियों के भरण-पोषण का प्रश्न व्यवस्था पर आता है, लेकिन विचार के लिए जो प्रश्न रह जाता है, वह भरण-पोषण का नहीं है, बल्कि उससे गहरा है। वह यह है कि क्यो किसीको अपनी उस जगह से उखडना पडता है, जहाँ वह पीढी-दर-पीढ़ी से जमा चला आ रहा है? जव हम केवल शरणार्थियो के रहने-वसने की वात पर ही सोचते हैं, तो प्रश्न का वह मूल हमसे ओझल रह जाता है। सरकार शायद इससे आगे सोच नहीं सकती है। उसका दायित्व इतना तात्कालिक और सीमित है। लेकिन विचारक के लिए ठीक वही प्रश्न है और उसकी चुनौती का सामना उन सब लोगो के लिए जरूरी है, जो राजनीति को अपना घेरा नहीं वना लेना चाहते हैं।

इसको भी पैदा नहीं कर सकता है। समाज की आबहवा से फौजी क्षेत्र एकदम अलग और बचा रहेगा यह मानने का कोई कारण नहीं है। इससे अन्यथा मानना भी बहकाना और धोखा खाना हो सकता है। अंग्रेजों के जमाने में फौज को एकदम दूसरे ही मनोभावों में रखा जाता था। बहुत हद तक अंग्रेज इसमें कामयाब भी हुए थे। लेकिन जिस समय एक विशेष प्रकार का मनोभाव देश में यहाँ से वहाँ तक व्याप्त हो गया था, उस समय अंग्रेज शासकों को स्वयं उस सेना पर संशय होने लग गया था। बुद्धि भेद जितना देश में व्याप्त होगा उतना ही फौजों की वफादारी में भी दरार पैदा की जा सकेगी। सेना के मनोबल के बीच पड़ी ये दरारें बड़ी भयानक हो सकती हैं, इसका प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

एक महद्भाव की आवश्यकता

राजनीतिक कानूनी और सरकारी रोक-थाम इस व्याधि का उपचार नहीं है। जब सेना के दो मन हो जायें तो उसका क्या कीजियेगा? बुद्धि-भेद की ओर ले जानेवाली दरारों को बाहरी चूने-सीमेन्ट से भरा नहीं जा सकता है। आज स्वराज्य के पन्द्रह वर्ष के बाद कांग्रेसी शासन में मानो देश के पास से जकड़न की वह एकता खो गयी है। कोई एक स्वप्न, एक आकांक्षा, एक प्रण देश को थामे हुए नहीं है। पंचवर्षीय योजनाएँ स्थूल कार्यक्रम से आगे और ऊपर कोई स्फूर्ति या भाव नहीं दे सकी हैं। उन्होंने किसी महा-संकल्प का निर्माण नहीं किया है। यह परिस्थिति अपने सैनिक-क्षेत्र में भी बिम्बित और प्रतिबिम्बित होवे तो मुझे तनिक भी विस्मय नहीं होगा। कांग्रेस के पास और ऊँची तो क्या होगी राजनीतिक तक की भी कोई श्रद्धा नहीं रह गयी है। एक कर्णधार ही उसको चला रहा है। कर्णधार संगठनवाद का ही एक नाम है और उसमें आत्मिक बल नहीं होता। इस संगठन के सम्बन्ध में कांग्रेस की जितनी शक्ति व्यय होती है, उसको देखकर ही पता लग जाता है कि वहाँ श्रद्धा की क्या हालत है। मुझे तो बेहद तत्काल आवश्यकता मालूम होती है किसी उस महद्भाव की जिसमें देश का फूट और दलीय चेतना की जगह राष्ट्रीय चेतना काम करती दिखाई दे। यदि सेना में, सेना के मनोबल और मनोभावों में यही तरेड़ पड़ रही है और इधर उधर कुछ विघटन आ रहा है, तो इसका उपाय मैं अनुशासन के पास नहीं देखता हूँ। न मन्त्री के अदल-बदल से उस स्थिति में कोई बड़ा अन्तर आ सकता है। उपाय है तो यही कि कोई महद्भाव जागे और देश उसमें एक बना दिखाई दे। तब छोटे-मोटे बुद्धि भेद उस उभार में ऐसे छिप जायेंगे कि जैसे कभी थे ही नहीं।

और फिर उन्हें नीचे उतारा जाता है। इसीलिए यह तो सम्भव बना चला आ रहा है कि बुद्धि-भेद की स्थिति का लाभ उठाकर एक ऐसा वर्ग और दल भी भारत में विद्यमान है, उससे आगे सक्रिय तक है, जिसकी सहानुभूति इस मामले में भारत से अधिक चीन के साथ कही जाती है। किन्तु राजनीतिक तल में इस बुद्धि-भेद और लक्ष्य-भेद की बात को छोड़ दें, तो आज भी भारत देश के पास वह गौरव और स्वाभिमान है, जिसके रहते यह आसान नहीं मालूम होता कि देश की सुरक्षा खतरे में पड़े। जब भी देश पर सचमुच संकट आयेगा, तो वह भीतर फूट और बुद्धि-भेद को पैदा करता आयेगा। आज के जमाने में यह बिल्कुल संभव नहीं है कि सिर्फ बाहरी आक्रमण किसी देश को पस्त और पराजित कर दे। आक्रमण अन्दर से ही होने लगे हैं और असली संकट वहीं से पैदा होता है। मैं मानता हूँ कि सीमान्त पर बनी रहनेवाली सुरक्षा की आवश्यकता और वहाँ सुरक्षा-पंक्ति के रूप में तैनात सुसज्जित सेनाएँ इतनी महत्त्व की चीजें नहीं हैं, जितने महत्त्व का कि अपने घर का आँगन है। घर में फूट हो और कोई भेदिया बन जाय, तो मामूली एक खिड़की में से भी संकट आ सकता और घर को चौपट कर सकता है। उस मोर्चे पर सुरक्षा की बात मुझे अधिक महत्त्व की लगती है। अगर और नहीं तो इसी कारण कि वह मोर्चा सामरिक नहीं है, मानसिक है।

सेनाओं में राजनीति

२२१ क्या सचमुच भारतीय सेनाओं में अब पहले जैसा संगठन और ऐक्य नहीं रहा है? उनमें दलबन्दी, वर्गवाद तथा भ्रष्टाचार काफी बढ़ गया है। पक्षपात के कारण अयोग्य और गैरजिम्मेदार अफसरों को ऊँचे पद दे दिये गये हैं और धीरे-धीरे सेनाओं में राजनीति का प्रवेश होता जा रहा है। इस प्रकार हमारी रक्षा-पंक्ति का मनोभाव बहुत क्षीण हो गया है। क्या आप भी सचमुच मानते हैं कि भारतीय सेनाओं में उपर्युक्त हीनताओं ने स्थान बना लिया है?

—मेरा उधर ध्यान नहीं है। कायदे-कानून के अनुसार ही जिम्मेदारियों के पद पर लोग पहुँचा करें इसमें मैं कोई अर्थ और सार नहीं देखता हूँ। प्रतिभा में मुझे विश्वास करना पड़ता है और वह स्थिति, जहाँ प्रतिभा जिम्मेदारी पा और उठा ही न सके, मुझे जड़ जान पड़ेगी। वैसी जड़ता की आवश्यकता यदि बाहर नहीं है, तो सुरक्षा और सेना के कामों में भी नहीं होनी चाहिए।

मानसिक हवा

यह बात साफ है कि हवा सब जगह बहती हुई जाती है। उसी तरह मानसिक

हवा को भी रोका नहीं जा सकता है। समाज की जागरूकता से फौजी जैसे एकदम अलग और बचा रहेगा यह मानने का कोई कारण नहीं है। इससे अन्यथा मानना भी बहकावा और धोखा खाना ही सकता है। अंग्रेजों के जमाने में फौज को एकदम दूसरे ही मनोभावों में रखा जाता था। बहुत हद तक अंग्रेज इसमें कामयाब भी हुए थे। लेकिन जिस समय एक विशेष प्रकार का मनोभाव देश में यहाँ से वहाँ तक व्याप्त हो गया था, उस समय अंग्रेज शासकों को स्वयं उस सेना पर संशय होने लग गया था। बुद्धि-भेद जितना देश में व्याप्त होगा उतना ही फौजी की वफादारी में भी दरार पैदा की जा सकेगी। सेना के मनोबल के बीच पड़ी ये दरारें बड़ी भयानक हो सकती हैं इसका प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

एक महद्भाव की आवश्यकता

राजनीतिक, कानूनी और सरकारी रोक-थाम इस व्याधि का उपचार नहीं है। पूरे सेना में भी मन हो चलें तो उसका क्या कीजियेगा? बुद्धि-भेद की ओर से आनेवाली दरारों को बाहरी चूने-सीमेन्ट से भरा नहीं जा सकता है। आज स्वराज्य के पन्द्रह वर्ष के बाद कांग्रेसी शासन में मानो देश के पास से संकल्प की यह एकता भी चली गई है। कोई एक स्वप्न, एक आकांक्षा, एक मन देश को थामे हुए नहीं है। पंचवर्षीय योजनाएँ स्थूल कार्यक्रम से आगे और ऊपर कोई स्फूर्ति या भाव नहीं दे सकी हैं। उन्होंने किसी श्रद्धा-संकल्प का निर्माण नहीं किया है। यह परिस्थिति अगले सैनिक-क्षेत्र में भी विस्मित और अप्रतिबिम्बित रीति से हो मुझे तनिक भी विस्मय नहीं होगा। कांग्रेस के पास और औरों की तो क्या होगी, राजनीतिक तक की भी कोई श्रद्धा नहीं रह गयी है। एक कर्मचार ही उसको चला रहा है। कर्मचार संगठनचार का ही एक भाग है और उसमें आत्मिक बल नहीं होता। इस संगठन के सम्बन्ध में कांग्रेस की जितनी चिन्ता व्यक्त होती है, उसको देखकर ही पता लग जाता है कि यहाँ श्रद्धा की क्या हालत है। मुझे तो बेहद तत्काल आवश्यकता मालूम होती है किसी ऐसे महद्भाव की जिसमें देश का पूरे और स्वकीय चेतना की जगह राष्ट्रीय चेतना काम करती दिखाई दे। यदि सेना में सेना के मनोबल और मनोभावों में, यहाँ दरार पड़ रही है और इधर उधर कुछ विघटन आ रहा है तो इसका उपाय मैं मन्त्रालय के पास नहीं देखता हूँ। न मन्त्री के अदल-बदल से इस स्थिति में कोई बड़ा अन्तर आ सकता है। उपाय है तो यही कि कोई महद्भाव जागे और देश उसमें एक अखंड दिखाई दे। तब छोटे-मोटे बुद्धि भेद इस प्रकार से ऐसे छिप जायेंगे कि जैसे कभी थे ही नहीं।

और फिर उन्हे नीचे उतारा जाता है। इसीलिए यह तक सम्भव बना चला आ रहा है कि बुद्धि-भेद की स्थिति का लाभ उठाकर एक ऐसा वर्ग और दल भी भारत मे विद्यमान है, उसमे आगे सक्रिय तक है, जिसकी सहानुभूति इस मामले मे भारत से अधिक चीन के साथ रही जाती है। किन्तु राजनीतिक तल के इस बुद्धि-भेद और लक्ष्य-भेद की बात को छोड दें, तो आज भी भारत देश के पास यह गौरव और स्वाभिमान है, जिसके रहते यह आसान नही मालूम होता कि देश की सुरक्षा खतरे मे पडे। जब भी देश पर सचमुच सकट आयेगा, तो वह भीतर फूट और बुद्धि-भेद को पैदा करता आयेगा। आज के जमाने मे यह बिलकुल सभव नही है कि सिर्फ बाहरी आक्रमण किसी देश को पस्त और पराजित कर दे। आक्रमण अन्दर से ही होने लगे हैं और असली सकट वहींसे पैदा होता है। मैं मानता हूँ कि सीमान्त पर बनी रहनेवाली सुरक्षा की आवश्यकता और वहाँ सुरक्षा-पक्ति के रूप मे तैनात सुसज्जित सेनाएँ इतनी महत्त्व की चीजें नहीं हैं, जितने महत्त्व का कि अपने घर का आँगन है। घर मे फूट हो और कोई भेदिया बन जाय, तो मामूली एक खिडकी मे से भी सकट आ सकता और घर को चौपट कर सकता है। उस मोर्चे पर सुरक्षा की बात मुझे अधिक महत्त्व की लगती है। अगर और नहीं तो इसी कारण कि वह मोर्चा सामरिक नहीं है, मानसिक है।

सेनाओ में राजनीति

२२१ क्या सचमुच भारतीय सेनाओ मे अब पहले जैसा सगठन और ऐक्य नहीं रहा है? उनमे दलबन्दी, वर्गवाद तथा भ्रष्टाचार काफी बढ़ गया है। पक्षपात के कारण अयोग्य और गैरजिम्मेदार अफसरो को ऊँचे पद दे दिये गये हैं और धीरे-धीरे सेनाओं में राजनीति का प्रवेश होता जा रहा है। इस प्रकार हमारी रक्षा-पक्ति का मनोभाव बहुत क्षीण हो गया है। क्या आप भी सचमुच मानते हैं कि भारतीय सेनाओं मे उपर्युक्त हीनताओं ने स्थान बना लिया है?

—मेरा उधर ध्यान नहीं है। कायदे-कानून के अनुसार ही जिम्मेदारियो के पद पर लोग पहुँचा करें इसमे मैं कोई अर्थ और सार नहीं देखता हूँ। प्रतिभा मे मुझे विश्वास करना पडता है और वह स्थिति, जहाँ प्रतिभा जिम्मेदारी पा और उठा ही न सके, मुझे जड जान पडेगी। वैसी जडता की आवश्यकता यदि बाहर नही है, तो सुरक्षा और सेना के कामो मे भी नही होनी चाहिए।

मानसिक हवा

यह बात साफ है कि हवा सब जगह बहती हुई जाती है। उसी तरह मानसिक

हवा को भी रोका नहीं जा सकता है। समाज की भावना से फौजी क्षेत्र एकदम मुक्त और बचा रहेगा यह मानने का कोई कारण नहीं है। इससे अन्यथा मानना भी गलतफहमी और धोखा खाना हो सकता है। अंग्रेजों के जमाने में फौज को एकदम दूसरे ही मनोभावों में रखा जाता था। बहुत हद तक अंग्रेज इसमें कामयाब भी हुए थे। लेकिन जिस समय एक विशेष प्रकार का मनोभाव देश में यहाँ से वहाँ तक व्याप्त हो गया था उस समय अंग्रेज शासकों को स्वयं उस सेना पर संशय होने लग गया था। बुद्धि भेद जितना देश में व्याप्त होगा उतना ही फौजों की वफादारी में भी दरार पैदा की जा सकेगी। सेना के मनोबल के बीच पड़ी ये दरारें कभी भयानक हो सकती हैं, इसका प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

एक महत्प्राण की आवश्यकता

राजनीतिक, कानूनी और सरकारी रोक-थाम इस व्याधि का उपचार नहीं है। यदि सेना में दो मत हो जायें तो उसका क्या कीजियेगा? बुद्धि-भेद की ओर से आनेवाली दरारों को बाहरी चूने-सीमेन्ट से भरा नहीं जा सकता है। आज स्वराज्य के पन्द्रह वर्ष के बाद कांग्रेसी शासन में सारे देश के पास से संकल्प की यह एकता चली गयी है। कोई एक स्वप्न, एक आकांक्षा, एक प्रण देश को बांधे हुए नहीं है। पंचवर्षीय योजनाएँ स्थूल कार्यक्रम से आगे और ऊपर कोई स्फूर्ति या भाव नहीं दे सकी हैं। उन्होंने किसी श्रद्धा-संकल्प का निर्माण नहीं किया है। यह परिस्थिति अपने सैनिक-क्षेत्र में भी बिम्बित और प्रतिबिम्बित होवे तो मुझे तनिक भी विस्मय नहीं होगा। कांग्रेस के पास और ऊँची तो क्या होगी राजनीतिक तक की भी कोई श्रद्धा नहीं रह गयी है। एक कर्मवाद ही उसको बचा रहा है। कर्मवाद अवसरवाद का ही एक नाम है और उसमें आत्मिक बल नहीं होता। इस तमन्ना के सम्बन्ध में कांग्रेस की जितनी शक्ति व्यय होती है, उसको देखकर ही पता लग जाता है कि वहाँ श्रद्धा की क्या हालत है। मुझे तो केवल तत्काल आवश्यकता मालूम होती है किसी उस महत्प्राण की जिसमें देश का छुटे और दलीय चेतना की जगह राष्ट्रीय चेतना काम करती दिखाई दे। यदि सेना में, सेना के मनोबल और मनोभावों में यही दरेड़ पड़ रही है और इधर-उधर कुछ विलक्षण आ रही है, तो इसका उपाय मैं मन्त्रालय के पास नहीं देखता हूँ। न मन्त्री के बदल-बदल से उस स्थिति में कोई बड़ा अन्तर आ सकता है। उपाय है तो यही कि कोई महत्प्राण आये और देश उसमें एक आशा दिखाई दे। तब छोटे-मोटे बुद्धि भेद उस प्रकाश में ऐसे छिप जायेंगे कि जैसे कभी थे ही नहीं।

भारतीय आत्मा में विश्वास

वह महद्भाव कैसे कहाँ से आये, यही एक बडा प्रश्न है। सृष्टि यज्ञ मे से होती है और किसी महान् उत्सर्ग में से ही वह महद्भाव जागेगा। हम जीने के छोटे-मोटे साधनो से चिपटे हैं, यश, पद और मान चाहते हैं। इसने लोगो और दलो को क्षीण और जर्जर कर दिया है। कुछ ऐसा यदि घटित हो, जिसमे से दीख पडे कि स्वेच्छा से अपनाये गये कष्ट और मरण के मुकाबले सुख-भोग तुच्छ है, आराम-चैन का जीना ही जैसे उस महा-जीवन के प्रकाश के आगे मन्द और मिथ्या है, तो उस उदाहरण से फिर एक नया भाव पैदा हो सकता है। कभी शहादत की माँग हममे जागी थी। उसकी जगह आज पद-पदवी की माँग ने ले ली है। असम्भव और अशक्य नही है कि फिर हमे पहचान हो कि यह सब मिथ्या है, जीवन के अभ्युदय का लक्षण तो जीवन को हथेली पर रखकर किसी सकल्प में मृत्यु को भेटने चल पडना है। भारतीय आत्मा में मेरा विश्वास है और मैं मानता हूँ कि ऐन वक्त पर अवश्य उसमें से कुछ ऐसी ज्वाला निकलेगी, जो सकट के वादलो को काट देगी और गृहयुद्ध को असम्भव बना देगी।

असत् का मोह

मानना चाहिए कि काग्रेस की यह दुरवस्था कि वह राजनीतिक दलमात्र रह गयी है, निमन्त्रण है उस परिस्थिति के लिए, जहाँ बुद्धि-भेद वढ़ता जाय और अन्त मे नकार-निषेध के हाथ शक्ति आ जाय। असत्य स्वय प्रवल नहीं हो सकता। सत् की ही निर्वलता है, जो वल को हठात् असत् की ओर भेज देती है। इस दर्शन को आत्मसात् कर सकें, तो जान पडेगा कि असत्य से मोर्चा लेने की सोचना समय गँवाना है। सत् की शक्ति पर विश्वास करके उसको अपने भीतर जगाना असत् को परास्त और पराभूत करने का सीधा-सा उपाय है। राज्य के लवा-जमे का मोह, वहाँ की सगठित सत्ता और सैन्य का भरोसा, स्वय में सत् नही है। उस आधार पर किसी असत् को जीता जा सकेगा, यह थोथे मोह से बना विभ्रम-मात्र है।

भारत में सेनाशाही नहीं

२२२ क्या आपको इस बात का भय नहीं है कि कहीं सेनाओं मे ऐसी स्थिति पैदा न हो जाय कि वे और देशों की तरह राजनीतिज्ञों का उच्छेद कर अपना शासन स्थापित करने की सोचें और भारत में प्रजातन्त्र के स्थान पर सेनाशाही का आधिपत्य हो?

—नहीं भारत में मैं यह स्थिति नहीं मानता हूँ। मुझमें अभी तक उस भय ने तनिक भी स्थान नहीं पाया है। अभी पण्डित नेहरू अपने में अर्थात् कांग्रेस संगठन से स्वतन्त्र लोक-कल्पना में एक स्थान रखते हैं। कल्पना के नीचे भावना में अवश्य यह स्थान मन्द और फीका पड़ता जा रहा है। ऐसा हो सकता है कि भावना नीचे सूख जाय और ऊपर कल्पना में ही कोई नाम कुछ देर टिका रह जाय। तब जल्दी ही वह नाम गिर भी जाता है। नेहरू कांग्रेस-नेता के रूप में और प्रधानमन्त्री के रूप में देश में क्षीणता के साथ जैसे भावना की भूमिका पर से अपना स्थान खोते जा रहे हैं। उस अभावात्मक स्थिति में क्या होगा कहना मुश्किल है। पर देश में से नेतृत्व और विद्रोह आने की बात का डर मुझे नहीं है।

गृह-नीति और विदेश-नीति

२११ भारत की गृह-नीति और विदेश-नीति में आप कितनी दूर तक एक सामंजस्य अथवा एक स्पष्ट विरोध देखते हैं? क्या सचमुच ये दोनों नीतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं, जैसा कि इन्हें होना चाहिए?

दोनों में विमुखता है

—हाँ मुझे कुछ उनमें विमुखता दीख पड़ती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र हमारे लिए अभी आकांक्षा का क्षेत्र अधिक है जिम्मेदारी का उतना नहीं है। इसलिए उस क्षेत्र में सुविधा है कि हम अपने सिद्धान्तवाद को लेकर पहुँचें हम जो हैं, घर में रहें और बाहर कुछ अधिक दीखें। मामूली तौर पर ऐसा हम सबके साथ हुआ करता है। साधारणता को घर में रोकते हैं विशिष्टता की छाप बाहर डालना चाहते हैं। जवाहरलालजी आखिर दुनिया के आदमी हैं। सामान्य जीवन की इस नीति से उत्तीर्ण नहीं हैं, तो भिन्नमत कैसे भी हो सकती है? लेकिन भारतीय जीवन की आदर्श-नीति और व्यवहार-नीति इससे उल्टी रही है। किसी-का प्रभाव और दबाव जो भी हो भारतीय भीतर और बाहर अकिंचन बनना सीखना चाहता है।

अपने घर में शासन के पराक्रम का उपयोग करने के बारे में हम उतने सावधान नहीं हैं कि जिस सावधानी को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आवश्यक बतलाते पाते हैं। बल का भरोसा यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ठीक नहीं है तो अन्तर्विभागीय या देशीय क्षेत्र में भी वह गलत ही हो सकता है। विदेश-नीति और गृह-नीति की जब चलना एक ही सिद्धान्त से है, तब शायद गृह-नीति में उस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विदेश नीति की अपेक्षा अधिक ही दृढ़ बनना चाहिए।

भारतीय आत्मा में विश्वास

वह महद्‌भाव कैसे कहाँ से आये, यही एक बडा प्रश्न है। सृष्टि यज्ञ में से होती है और किसी महान् उत्सर्ग में से ही वह महद्‌भाव जागेगा। हम जीने के छोटे-मोटे साधनो से चिपटे हैं, यश, पद और मान चाहते हैं। इसने लोगो और दलो को क्षीण और जर्जर कर दिया है। कुछ ऐसा यदि घटित हो, जिसमे से दीख पड़े कि स्वेच्छा से अपनाये गये कष्ट और मरण के मुकावले सुख-भोग तुच्छ है, आराम-चैन का जीना ही जैसे उस महा-जीवन के प्रकाश के आगे मन्द और मिथ्या है, तो उस उदाहरण से फिर एक नया भाव पैदा हो सकता है। कभी शहादत की माँग हममे जागी थी। उसकी जगह आज पद-पदवी की माँग ने ले ली है। असम्भव और अशक्य नहीं है कि फिर हमे पहचान हो कि यह सब मिथ्या है, जीवन के अभ्युदय का लक्षण तो जीवन को हथेली पर रखकर किसी सकल्प में मृत्यु को भेटने चल पडना है। भारतीय आत्मा में मेरा विश्वास है और मैं मानता हूँ कि ऐन वक्त पर अवश्य उसमे से कुछ ऐसी ज्वाला निकलेगी, जो सकट के वादलो को काट देगी और गृहयुद्ध को असम्भव वना देगी।

असत् का मोह

मानना चाहिए कि काग्रेस की यह दुरवस्था कि वह राजनीतिक दलमात्र रह गयी है, निमन्त्रण है उस परिस्थिति के लिए, जहाँ वुद्धि-भेद वढ़ता जाय और अन्त मे नकार-निषेध के हाथ शक्ति आ जाय। असत्य स्वय प्रवल नहीं हो सकता। सत् की ही निर्वलता है, जो वल को हठात् असत् की ओर भेज देती है। इस दर्शन को आत्मसात् कर सकें, तो जान पडेगा कि असत्य से मोर्चा लेने की सोचना समय गँवाना है। सत् की शक्ति पर विश्वास करके उसको अपने भीतर जगाना असत् को परास्त और पराभूत करने का सीधा-सा उपाय है। राज्य के लवा-जमे का मोह, वहाँ की सगठित सत्ता और सैन्य का भरोसा, स्वय में सत् नहीं है। उस आधार पर किसी असत् को जीता जा सकेगा, यह थोथे मोह से वना विभ्रम-मात्र है।

भारत में सेनाशाही नहीं

२२२ क्या आपको इस बात का भय नहीं है कि कहीं सेनाओ में ऐसी स्थिति पैदा न हो जाय कि वे और देशों की तरह राजनीतिज्ञों का उच्छेद कर अपना शासन स्थापित करने की सोचें और भारत में प्रजातन्त्र के स्थान पर सेनाशाही का आधिपत्य हो?

न हों और कहने की हिम्मत न करे। गांधी गये और उनके साथ उनका दर्शन और उनका रचनात्मक कार्य भी गया। अब नये युग मे नया आरम्भ होगा और गांधी के साथ चलनेवाली पुरानी चीजों को बिलकुल न बख्शा जायगा। यह यदि हो सकता तो गांधी के साथ और नेहरू के साथ न्याय ही होता। लेकिन नेहरू के जीते-जी शायद ही यह हो सके और शायद ही देश में एक समग्रता आ सके। यह भी निश्चय है कि वैसी समग्रता आये बिना चारा नहीं है। उसके अभाव में जो हो सकता है, वह यही कि नकारात्मक शक्तियों को प्रबलता मिले और सज्जनता का मूल्य धूमिल हो जाय। नीति-भेद और बुद्धि भेद मे से यह फल सामने आता जा रहा है इस बारे में दो मत नहीं हैं।

विदेश-नीति की प्रेरणा

२९४ भारत की विदेश-नीति का आधार आप किस भाव को मानते हैं? एक महत्त्वाकांक्षा को अथवा विदेशों से अपने स्वराष्ट्रीय हितों की पूर्ति को अथवा मानव-हित को? देश की विदेश-नीति को निश्चित करते हुए हमारे प्रधानमन्त्री के मन में उपर्युक्त भावों में कौन-सा भाव प्रधान है?

—नेहरू एक हीरो हैं। उन्हें स्वयं इसका पता है। वे इतिहास की भूमिका पर चलते हैं और यह अपने को भूलने देना नहीं चाहते। मानो उनके सामने एक बहुत बड़ा दर्शक समुदाय है, जिसकी आंखें उन पर लगी हैं। उन सब आंखों के मध्य-बिन्दु होकर वे अपने पार्ट को खूबी और शान के साथ अदा करना चाहते हैं। यह प्रेरणा मुझे नेहरू के व्यक्तित्व की मूल पूंजी मालूम होती है। दूसरे नायक को अवसर है कि नाटक से छुट्टी पाकर साधारण बन जाय। लेकिन नेहरू को जिस नाटक मे रहना और चलना पड़ रहा है, वह साधारण नहीं है काल से सीमित नहीं है। मानो वहां तो अनन्त इतिहास का पट खुला है। मानव-जाति के तमाम नायक नेहरू की निगाह मे प्रत्यक्ष रहते हैं और नेहरू स्पर्धा में किसीसे उन्नीस नहीं हो सकते। इसलिए उनके पास अवसर नहीं बचता है कि वे असामान्य नेहरू से एक क्षण के लिए भी सामान्य नेहरू बन सकें। उनकी विदेश-नीति पर भी इस महत्ता की छाप है। इस छाप को नेहरू के व्यक्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता है। कारण नेहरू ने अपने स्वत्व को इस ऐतिहासिक कर्तव्य के समक्ष सर्वथा स्थगित रखना स्वीकार कर लिया है।

नाटक की भाषा में मैं नहीं कह सकता कि यह सब ट्रेजिक है या कॉमिक। लेकिन है ऐसा मुझे अवश्य लगता है।

इसका मूल नेहरू में

नीति से अलग व्यवहार मे भी उसका प्रभाव पडता है। भारत के राज-दूतावास जीवन-मान की दृष्टि से भारतीय गिरस्ती से कही ऊँचे स्तर पर रखे जाते हैं! यह अन्तर महत्वपूर्ण न भी होता, यदि वह दृष्टि के ही अन्तर का सूचक न होता। असल मे पण्डित नेहरू का सद्भाग्य ही इस सम्वन्ध में दुर्भाग्य वना माना जा सकता हैं। गरीवी नाम की चीज को वे जानते ही नही। हमेशा उन्हें उस वस्तु को विचारपूर्वक जानना होता है। इसलिए गरीवी का सम्वन्ध उनके साथ हमेशा दूरी का और रोमान्स का वना रहता है। वे इतने अधिक कुलीन और सम्पन्न वनकर रहे हैं कि अनुभव से कभी जान नहीं पाये कि गरीव क्या होता है और गरीवी क्या होती है। शायद ही कोई विश्व मे ऐसा नेता हो, जिसके साथ विघाता ने इतनी दया या अदया वरती हो। हरएक को गरीवी के कुछ अनुभवों का प्रसाद मिलने ही दिया जाता है। नेहरू इससे इतने वचित रह गये हैं कि उसका प्रभाव उनके राजनेतृत्व मे भी दिखाई दे, तो कुछ भी अचरज की वात नही है। किसान और मेहनती उनकी निगाह में वहुत गौरव प्राप्त कर सकता है, इतना कि वह सेव्य और पूजनीय का स्थान पा जाय। पर जव वही उनके ड्राइग-रूम की कुर्सी पर वैठा दीखे, तो उनके कुलीन रक्त को, उसमे वसी सौन्दर्य-भावना को ठेस लगे विना रहती नहीं है। अर्थात् उनमें और शेष में एक दूरी रहती है, जिसको रोमाण्टिक और वौद्धिक सम्वन्ध से पूरा किया जाता है। नेहरू की यह अन्तर्गत विच्छिन्नता और विभक्तता भारत के राजनीतिक इतिहास पर अपनी छाया डालती देखी जा सकती है। यदि विदेश-नीति और गृह-नीति मे सम्पूर्ण एकता नहीं है, तो वह एकता स्वय नेहरू के व्यक्तित्व मे कहाँ है? मुझे आवश्यक लगता है कि वह एकता हो और भारत का राजा ही नहीं, वल्कि प्रजा भी, दोनो समग्र श्रद्धा में एकसूत्र वने चलें, वाहर वही कहें जो भीतर करने की सामर्थ्य रखें। गाघी वही थे और भारतीय जीवन और राजकारण मे भी वही घटित कर दिखाना चाहते थे। लेकिन नेहरू गाघी के कितने भी वशवर्ती रहे हो, वे सर्मपित और अनुगत व्यक्ति न थे। यह कि उनको अपने स्वय के आधार पर राजनेतृत्व वनाने का अवसर नहीं आया, गाघी के हाथो जल्दी नेता हो गये, इसमे नेहरू का दोष नही है। लेकिन परिस्थिति की इस त्रुटि का प्रभाव तो वस्तुस्थिति से दूर नहीं किया जा सकता है। नेहरू शायद स्वय चाहेंगे कि किसी प्रतिविम्वित प्रकाश मे से उन्हें न देखा जाय, स्वय अपने आन्तरिक मूल्य की अपेक्षा मे ही उनका वजन माना जाय। लेकिन साधारणतया यह सम्भव कैसे हो मकता है, जव तक कि स्वय नेहरू ही इस सम्वन्ध मे आग्रही

एशिया का रूप बदला

भारत के नेतृत्व का स्वप्न पण्डित नेहरू के मन में से स्पष्ट हो गया कि यदि चीन चाहे पर स्वप्न वहीं से लुप्त नहीं हो सकता। उसका रूप अवश्य बदल सकता है। एशिया आज के दिन एक बड़ सत्ता है जिसमें राजनीतिक यथार्थता मानो रह नहीं गयी है। चीन और रूस के सम्बन्ध इतने घनिष्ठ हैं कि एशिया के नाम पर पेकिंग अपने को मास्को से दूर और भिन्न मानने की मजबूरी में नहीं है। न एशिया के नाम पर उसका सुदूरपूर्व के देशों पर कोई एकता का दावा माना जा सकता है। एशिया के निकटपूर्व और मध्यपूर्व के देश इस्लाम को मानते हैं और अफ्रीका के कतिपय देशों को आत्मीय अनुभव करते हैं। अरब गणराज्य में मिस्र प्रधान है जो एशिया नहीं अफ्रीका में है। इस तरह एशिया और अफ्रीका जैसी संज्ञाएँ अब इतिहास की द्योतक भले हों, साम्प्रतिक राजनीति को समझने में उन संज्ञाओं से कोई मदद नहीं मिलती है। ऐसी अवस्था में बांडुंग का नाम मन पर या मुँह पर लाने में आज कुछ सार नहीं है। नेहरू राजनीतिक जागृति का प्रमाण देते हैं, जब बांडुंग को दोहराते नहीं हैं या उसकी दुहाई नहीं देते हैं।

तिब्बत नक्शों से गायब

२२६. अगर आपने कहा कि बांडुंग-सम्मेलन का वास्तविक लाभ चाऊ-एन-लाई को मिला। चाऊ-एन-लाई को क्या मिला?

—बांडुंग से पंचशील प्राप्त हुआ था। भारत के मन में न स्थिति में कभी फैलाव की आवश्यकता रही थी चीन की बात दूसरी थी। पंचशील के बाद चीन-भारत में तिब्बत के सम्बन्ध में एक सन्धि हुई और उसका सन् ५९ में आकर परिणाम यह हुआ कि तिब्बत दुनिया के नक्शे पर से गायब हो गया! सुजरेण्टी शब्द के सहारे यह सब इसलिए हो सका कि पंचशील में भारत धार्मिक था और चीन के प्रति वह विश्वासी हो सकता था बोल नहीं सकता था। चीन की स्थिति स्पष्ट ही भारत से इस सम्बन्ध में भिन्न है। आकांक्षा और स्थिति दोनों दृष्टियों से चीन को फैलाव चाहिए और अहिंसा के उपाय में उसे विश्वास नहीं है। बांडुंग में सम्मिलित ये दोनों शक्तियाँ परस्पर में यदि भिड़ ही नहीं जाती हैं, बल्कि अलगाव में आ जाती हैं तो बांडुंग को अब बीते इतिहास की ही चीज कहा जा सकता है।

२२७. दो बड़ी ताकतों के बीच एक बफर स्टेट का रहना ऐतिहासिक, भूराजनीतिक एवं सैन्य-दृष्टियों से सदा बुद्धिमत्तापूर्ण माना गया है। फिर भारत ने तिब्बत पर चीन की सुजरेण्टी को स्वीकार करके और अपनी सेनाएँ वहाँ से हटाकर क्या बहुत बड़ी कूटनीतिक भूल नहीं की? यदि भारतीय सेनाएँ ल्हासा में रहतीं, तब भी उसके

एशियन कान्फ्रेन्स और बाडुग

२२५ क्या कारण है कि प्रथम एशियन कान्फ्रेन्स और बाडुंग कान्फ्रेन्स के बाद हमारे प्रधानमन्त्री ने बर्मा, मिस्र, इण्डोनेशिया आदि देशो की ओर से बार-बार कहे जाने पर भी तृतीय एशियन कान्फ्रेन्स को बुलाना समयोचित नहीं माना, जब कि कितनी ही महत्त्वपूर्ण समस्याएँ पूर्ण एशिया के सामने आयीं और हैं? क्या उनके मन मे भारत एशिया का नेतृत्व करे, यह एक जो भाव पहले काम करता था, वह अब लुप्त हो गया है अथवा असम्भव दीख पड गया है?

—मैं राजनीतिक इतिहास का विद्यार्थी नहीं हूँ। न अपने प्रधानमन्त्री के मन के रहस्यो का सरक्षक हूँ।

गाधीजी और कान्फ्रेन्स

पहली एशियन कान्फ्रेन्स हुई, तब भारत स्वाधीन न था। शासन पर मिली-जुली सरकार थी और ऊपर वाइसराय थे। अर्थात् वह यथार्थ राजनीतिक तल पर बुलायी गयी कान्फ्रेन्स न थी। भूमिका उसकी भावनात्मक थी। आपको याद होगा कि बडे आयासपूर्वक गाधीजी को वहाँ प्राप्त किया जा सका था और बहुत थोडी देर बोलकर और रहकर वे कान्फ्रेन्स से और दिल्ली से चले गये थे। जो बात उन्होंने वहाँ कही, देखने मे वह कान्फ्रेन्स की प्रकृति और महत्त्व से सगत तक नहीं थी। उन्होंने बस इतना कहा कि जो आप देख रहे हैं, उसे भारत न मान लीजियेगा। भारत देखने के लिए आपको यहाँ के देहातो मे जाना है। इस बात के अलावा जैसे उन्होंने कुछ कहा ही नही। इसका आशय है कि राजनीतिक यथार्थ के तल पर उस कान्फ्रेन्स को फलोत्पादक उन्होंने नही माना था, उसकी भूमिका को भावनात्मक स्वीकार किया था।

बाडुग का असल लाभ

बाडुग राजनीतिक ही नही, कूटनीतिक यथार्थता पर हुआ सम्मेलन था। उसका फल अमुक अन्तर्राष्ट्रीय गठबन्धन मे फलित दिखाई दिया, तो उसका भावनात्मक श्रेय नेहरू को और वास्तविक लाभ चाऊ-एन-लाई को मिला कहा जाता है। बाडुग की यथार्थता आगे परिस्थिति मे से लुप्त हो गयी। तब उसी सम्मेलन की दूसरी बैठक बुलाना खानापूरी का काम हो सकता था। उसमे से कुछ सार्थक नही निकल सकता था। परिस्थितियाँ बदल गयी थी और शक्तियो के तत्कालीन सन्तुलन मे अन्तर आ गया था।

और सचमुच अणु-युद्ध के महा-संहार की सम्भावनाएँ थीं। यह डर यदि अन्याय को पोषण देता है, तो सोचने की बात हो जाती है।

बफर स्टेट का सुभीता

बीच में बफर रहने से सुभीता हुआ करता है, मैं यह मानता हूँ। इस भाँति जब तीन छोटे-मोटे राज्य जितने भी हो सकें, अच्छा है। मतलब यही है कि बड़ी ऐसे बफर दोनों ओर के पक्षपातों के अड्डे न बन जाया करें। यूरोप में युद्ध की आकांक्षाओं के बीच ही स्विट्जरलैण्ड स्वतन्त्र और निष्पक्ष बना जा रहा है। मैं मानता हूँ कि स्विट्जरलैण्ड की इस स्थिति की उपयोगिता शान्ति के अतिरिक्त स्वयं युद्ध के लिए भी हो सकती है। यह तो आम रिवाज है कि जहाँ टक्कर लगती है, वहाँ हानि बचाने के लिए बीच में रबर बिठा देते हैं। रबर से रगड़ और नुकसान बच जाता है। राजनीति में बफर का उपयोग है और उसका काम बराबर बैठे रहना चाहिए।

१२८. तब भारत की पंचशील और मेल-मिलाप की नीति क्या बिल्कुल ही असफल नहीं रही? क्या आप भारत की विदेश-नीति की इस असफलता के कुछ कारणों पर प्रकाश डाल सकते हैं?

अहिंसा की शर्त

—भारतीय शासन जिन हाथों में है, उनके मन में किसी निश्चित और एकाग्र श्रद्धा की स्पष्टता नहीं है। मुख्य कारण मुझे यही मालूम होता है। अहिंसा स्वयं एक बड़ा आयुध हो सकती है। लेकिन इस शर्त के साथ कि वह निरपवाद हो और समग्र हो। इस शर्त के बिना अहिंसा व्यवहार में आपको पुष्ट नहीं करेगी बल्कि नष्ट होने के निकट ला सकेगी। सज्जनता अपने आपमें काफी नहीं होती, उसको आगे बढ़कर और ऊँचे उठकर प्रचण्डता और प्रहार तक जाना होता है, तब उसमें शक्ति आती है। नेहरू गांधी से छूटे नहीं रहे, गांधी के एकदम साथ भी नहीं रहे। इसीसे स्थिति में विषमता रहती है और नेक इरादों से किये गये काम अन्त में घाटे के बने देखे जाते हैं। यदि राजनीति में हमको अपना बल रखना है तो या तो हम अहिंसा में से एक नये बल की सृष्टि करें और उससे समर्थ बनें नहीं तो अहिंसा के बन्धन को पूरे मन से एकदम छोड़ दें। साफ हम देखते हैं कि बल से चीजें चलती हैं। या तो हममें श्रद्धा हो कि इस राजनीति को ही नया मोड़ दें और उसका कायापलट करके रख दें। भारत के पास यह श्रद्धा हो सकती थी और हो सकती है। लेकिन नेहरू के दिमाग में उसकी गुंजाइश नहीं है, तो ताकत

मत से क्या सीमा-विवाद पैदा हो सकता? या चीन इतना बड़ा कूटनीतिक दुस्साहस कर सकता?

नगी शक्ति-नीति अशुभ

—राज की नीति को अन्तिम स्वीकार करना कूटनीतिक दृष्टि से भी कच्चा और गलत सावित हुआ न? राजनीतिक तल पर क्या होना और क्या नहीं होना चाहिए था, उसके व्यौरे मे मैं नही जाऊँगा। लेकिन यह कि कल तक तिब्वत था और आज वह कही है ही नहीं, एकदम उसका सफाया हो गया, यह वात मुझसे किसी तरह नही निगली जाती। वडे हर्ष और गौरव का विषय हो सकता था, अगर तिब्वत स्वेच्छा से अपना विसर्जन करता और किसी महादेश मे विलीन हो जाता। तव विश्व के लिए एक महान् उदाहरण उपस्थित हो सकता था और उसका लाभ समूची मानव-जाति को होता। लेकिन हुआ जो है, वह ठीक इससे उलटा है। आत्म-विसर्जन मे से तिब्वत ने निर्वाण नहीं पाया है, वल्कि एक जवदस्त ताकत के जोरदार हमले ने उसको एकदम मिटा दिया है। यह विश्व के और मानव-जाति के लिए एक प्रथम श्रेणी के नैतिक सकट का प्रश्न वन जाना चाहिए था। लेकिन यदि नही वना, तो मैं मानता हूँ कि आज राजनीति का, और उस राजनीति मे नगी शक्ति-नीति का, ही वोलवाला है और यह शुभ-लक्षण नहीं है।

पचशील का खतरा

पचशील इस तरह एक खतरनाक सिद्धान्त हो सकता है। सीमा की आवश्यकता अधिकार के लिए होती है, लेकिन कर्तव्य पर ही जव सीमा आ जाती है, तो पचशील का मानो दुरुपयोग होता है। मानव-जाति का मन एक है, यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है। यह अधिक काल सम्भव नही रह पायेगा कि इस भूभाग में हिंसा और अत्याचार हो और सारी मानव-जाति की काया न थर्रा जाय।

अणु-युद्ध का भय अन्याय का पोषक

अभी श्री राजगोपालाचारी का एक वक्तव्य पढा था। उन्होंने पते की वात कही है कि अणु-वम वन जाने से युद्ध की वात एक विभीषिका वन उठी है और सब उससे घवराते हैं। उस भय का लाभ उठाकर अन्तरग रूप से हिंसक वृत्ति ने वल पा लिया है। कोई कुछ कर वैठता है और फिर कहीं युद्ध ही न फूट पड़े, इस डर से दूसरे लोगो को उसे चुपचाप सह लेना होता है। तिब्वत के मामले मे मानव-जाति का अन्त करण यदि क्षुब्ध होकर भी चुप रह गया है, तो रोकनेवाली

पक्षोत्तीर्णता समग्र नहीं

—गुट और तटस्थ जैसे शब्दों में मैं विशेष अर्थ नहीं देख पाता हूँ। भारत किसी पक्ष के साथ नहीं है, यह समझ में आता है। लेकिन यह निष्पक्षता इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वही एक पक्ष बन जाय। मैं समझता हूँ जब राजनीतिक स्थिति में किसी ओर से यह तीसरा पक्ष खुल सकेगा तो स्थिति की विकटता बहुत-कुछ घटी दिखायी देगी। भारत में से यह निष्पक्षता आयेगी तो राजनीतिक सुविधावाद के रूप में वह नहीं प्रकट होगी तब वह अधिक और पूरी हो सकती है। जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व में यह निर्भीकता है और वही परिस्थिति के अंधेरे में एक प्रकाश की किरण बन जाती है। लेकिन नेहरू भारत के प्राइम मिनिस्टर होने की हैसियत से केवल निर्भीक ही नहीं हो सकते उन्हें स्थिति को साधना भी पड़ता है। ठीक इसी जगह उनकी तटस्थता मानो निष्पक्षता से नीची पड़ जाती है और उसमें लोगों के लिए अवसर रहता है कि सुविधावाद की गन्ध पा सकें। मैं मानता हूँ कि हिंसक बल में से अपनी सुरक्षा और अपना भाग देखने से हम उत्तीर्ण हो सकेंगे तो सच्ची पक्षातीतता प्रकट कर सकेंगे और तब आज की अन्तर्राष्ट्रीय विश्व में एक नया आयाम खोल सकेंगे। तब सचमुच भान पड़ेगा कि छावनियों में बँटी हुई दो सन्तुलित शक्तियों के बीच एक यह नयी चीज पैदा हुई है, जो किसी की कृपा पर निर्भर नहीं है और इसलिए निपटारा कर सकती है।

गुटों में छोटे-छोटे स्वतन्त्र राष्ट्र मिलकर एकाध बार अपना निर्णय चला सके हैं और बड़ी शक्तियाँ देखती रह गयी हैं। यह अपवाद आगे चलकर नियम बन सकता है। अगर कोई एक देश, मसलन भारत देश, हिंसा के भरोसे को एक बार और बार दे देता है और अपना आन्तरिक संगठन फिर अहिंसक बल के अनुकूल बनाये चल सकता है, तब छावनियाँ एक दूसरे के मुकाबले के लिए तुली ही रह जायेंगी उनके शक्ति-प्रयत्नों को उपयोग में लाने का कोई अवसर ही न आयेगा। आज तो शस्त्र-युद्ध (हॉट-वार) के अभाव में शीत-युद्ध (कोल्ड-वार) मजे में चलता रह सकता है और स्थिति के तनाव को बराबर उलझाता और बढ़ाये चला जा सकता है। न्यूट्रलिटी और तटस्थता के पास उसको रोकने का कोई उपाय नहीं है। गुटों से मानो वे देश राजनीतिक सुविधाओं और विवशताओं के कारण छूट कर नहीं चल पाते हैं। लेकिन यदि समग्र पक्षोत्तीर्णता से कोई चल सके, तो स्थिति सँभल जाती है और शीत-युद्ध की ओट में अनिष्ट कार्यवाहियों को रोकने का उपाय कुछ बन जाता है। अन्यथा तटस्थता शीत-युद्ध की स्थिति में मानो कुछ लाभ उठाने के लोभ में पड़ी रह सकती है और इस तरह स्वयं शान्ति के बजाय युद्ध की सहयोगिनी हो सकती है। 'सचमुच तटस्थ' वही

का खुला तक उन्हें अपनाना चाहिए और देश को उस भाषा में पहले नम्बर की ताकत बनाने की कोशिश करनी चाहिए। देश का समूचा उद्यम और उद्योग उसी दृष्टि से चले और डिमोक्रेसी आदि शब्दों की रोक-थाम मे अपनी गति को देश मन्द न करे। आज भी जनसघ नाम का दल खुले तौर पर शक्ति मे विश्वास रखता है। शक्ति से आशय सख्या, शस्त्र आदि की शक्ति। किसी नयी नैतिक शक्ति का तो शायद उसे अनुमान नही है। वह अनुमान सही तौर पर स्वय पण्डित नेहरू को भी नहीं है। ऐसी अवस्था मे सही मार्ग यही होगा कि गाधी को पीछे छोड़ दिया जाय और विश्व की राजनीति जिस बहाव मे है, उसके तर्क को खुले तौर पर अपना लिया जाय। विधान को तदनुकूल बनाया जाय और सारा राज्य और राष्ट्र एक सन्नद्ध छावनी के तौर पर सगठित कर डाला जाय।

अधूरे मन की अहिंसा खतरनाक

अब तक की विदेश-नीति उस लक्ष्य को स्पष्ट सामने नही रखती है। या दूसरा क्या लक्ष्य रखती है, यह भी साफ नहीं है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को हिंसक श्रद्धा से एक नया मोड देना उसका लक्ष्य हो, जैसा कि पचशील आदि से प्रकट होता है, तब तो गाधी का मार्ग ही अपनाने के लिए रह जाता है। लेकिन अधूरे मन से उस राह पर एक कदम भी रखना खतरनाक है। व्यवहार्य यह है कि गाधी को महात्मा कहकर हम आदर्श-लोक के लिए छोड दें और राजनीति मे भूले-भटके भी न उस नाम की दुहाई दें, न उसकी ओट लें। मैंने पहले भी कहा है कि यह जो मिश्र या ढुलमुल स्थिति है, यही संदिग्ध स्थिति है और इसीके कारण भारत कोई नवीन और प्रबल शक्ति के रूप में सामने नही आ रहा है। नैतिकता की बातें मुंह से करने और क्रिया मे झुठलानेवाले की-सी उसकी स्थिति बन आयी है। आदर होता है उन बातो के लिए, जो सचमुच ऊँची हैं। लेकिन वही आदर शून्य रह जाता है वहाँ, जहाँ मान्यता नीति की नहीं, शक्ति की दीखती है। नीति ही स्वय एक स्वतन्त्र शक्ति हो, इस निष्ठा को प्रकट करनेवाला भारत नेहरू से अलग भारत हो सकता है। किन्तु उन सम्भावनाओ मे जाने की यहाँ आवश्यकता नही है।

२२९ क्या आपकी राय में भारत सचमुच एक तटस्थ देश है? मिस्र और हगरी मे जो कुछ गुजरा, उसके प्रति भारत की दृष्टि और नीति में काफी अन्तर दीख पडता है और उसका तटस्थता की नीति का रोल खोखला नजर आ जाता है। इस स्थिति पर आपको क्या कहना है?

आज सुविधाजनक स्थिति में है, तो मेरे लिए यह कष्ट की सूचना होगी कि वह विनाशक और रचनात्मक से अलग भी उस शक्ति का कुछ उपयोग देखता और चाहता है। मैं उस सम्भावना पर विचार नहीं करना चाहता हूँ।

आणविक अस्त्रों के प्रयोग का विरोध नैतिक और धर्मीय तल पर चल रहा है। राष्ट्रीय और राजनीतिक तल पर लगभग वह नहीं है। रूस-राज्य अणु-बम बनाने में चाहे अब भी लगा हो, लेकिन उससे सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे कार्यकर्ता अथक भाव से इस प्रचार में लगे रहते हैं कि इन अस्त्रों का निर्माण और प्रयोग बन्द होना चाहिए। ये दोनों बातें आप देखते हैं, एक साथ चल सकती और चलायी जाती हैं। अगर भारत सरकार इस सम्बन्ध में आज इतनी मुखर नहीं है तो उस मौन को साम्यवादी मौखर्य से हम कम उपयोगी नहीं मान सकते। अर्थात् उसमें से कुछ विशेष अर्थ निकालना नहीं चाहिए और भारत अणु-शक्ति को बम के रूप में सामने लायेगा ऐसी आशंका नहीं रखनी चाहिए।

विश्व-कूटनीति में भारत का स्थान

२१२ क्या आपका सचमुच विश्वास है कि भारत ने विश्व की कूटनीति में एक विशेष स्थान बना लिया है और वह विश्व की ऐसी समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो रहा है जो किसी भी समय भीषण अणु-युद्ध के भड़क उठने में जिम्मेदारी का काम दे सकती हैं?

—हाँ अवश्य भारत सहायक हो रहा है। पण्डित नेहरू के नेतृत्व में उसने बाकी अनेक देशों के लिए यह सम्भव बना दिया है कि वे तटस्थता की नीति बरतें और आपस में मिलकर अमुक पक्ष के दबाव में आने से बच जायें। एक-एक होकर अगर वे नहीं टिक सकते तो सब एक जुट होकर गुटों में अपनी आवाज ऊँची अवश्य कर सकते और शायद युद्धोन्मुख शक्तियों पर कुछ अंकुश डाल सकते हैं। नेहरू की यह निर्णायक स्थिति लोगों के लिए बहुत बड़े आश्वासन का कारण है और सचमुच कूटनीति में नेहरू की एक जगह बन जाती है। लेकिन यह स्थान सहज ही ऐसा बन सकता था कि जिसे टिकाये रखने के लिए अपनी ओर से किसी कूटनीति की आवश्यकता न होती और वह तनिक भी राजनीतिक कौशल पर निर्भर न होता। नेहरू का या भारत का वैसा असंदिग्ध और आत्मनिर्भर स्थान बन सका है, यह कहना मुश्किल है। बन अवश्य सकता है, लेकिन तब जब नेहरू के मुँह से शब्द ही ऊँचे गूँजते हुए न बोलें, बल्कि उनकी आन्तरिक और वैदेशिक सब नीतियों और क्रियाओं में वे अनूठी विश्व-राजनीति के समक्ष यह ध्वनि निकलती सुनाई दे। इसके लिए स्वयं नेहरू में एक गहरी नीति-निष्ठा की

देश हो सकता है, जिसे युद्धोद्यत देशों से किसी सहायता की अपेक्षा नहीं है, प्राथमिक आवश्यकताओं की दृष्टि से जो स्वावलम्बी है और इस तरह असुरक्षित नहीं है। भारत की आज वह स्थिति नहीं है और उसकी तटस्थता इस तरह न चाहने पर भी अधूरी रह जाती है।

कोरिया और कांगो

२३० जिस भारत ने कोरिया में अपनी सेनाएँ भेजने से इनकार कर दिया था और केवल एक रेड-क्रास का दस्ता ही भेजा था, उसीने अब कांगो में हठपूर्वक अपनी बटालियनें रवाना की हैं और कांगो के नेताओं के तीव्र विरोध के बावजूद भारतीय सेनाएँ वहाँ टिकी हैं। इस स्थिति का आप भारत की नीति में एक विशेष परिवर्तन क्या नहीं मानते हैं?

—नहीं, परिवर्तन मैं इसमें नहीं देखता हूँ। पण्डित नेहरू विश्व-शान्ति में अपना पूरा हिस्सा बँटाना चाहते हैं। इसलिए ऐसे स्थलों पर जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के भंग होने की आशा हो, वे आगे बढ़कर अपना और भारत के योगदान का हक मानते हैं। खुले युद्ध के बीच सेनाओं को भेजने का प्रश्न जहाँ नहीं है, वहीं वे सेनाएँ भेज सकते हैं। कांगो की स्थिति युद्ध की नहीं है। कोरिया से वह भिन्न है। कुल मिलाकर इस सम्बन्ध में नेहरू की नीति में मैं कोई विषमता नहीं देखता हूँ। विषमता जहाँ है, वह गहरा तल है। लेकिन वहाँ का संकेत मैं दे ही चुका हूँ। यदि हम हमेशा हर हालत में बातचीत के द्वारा निपटारा करने में विश्वास करते हैं, तो सशस्त्र सैन्य भेजने को आतुर हम कैसे दीख सकते हैं? इस जगह की विषमता राजनीतिक से कुछ गहरी हो जाती है और उसका सम्बन्ध श्रद्धा के तल से होता है।

अण्वस्त्रों का विरोध

२३१ भारत ने सन् '५४-'५५ में अणु-अस्त्रों के परीक्षण का घोर विरोध किया था। इस कारण तत्कालीन अमरीकी नेता नेहरूजी से कुछ नाराज भी दीख पड़े थे। पर अब भारत ने अणु-अस्त्रों के विरुद्ध अपनी आवाज को मध्यम ही नहीं, समाप्त-सा कर दिया है। ऐसा क्यों? क्या इसलिए कि वह भी अणु-शक्ति रखने-वाले छह-सात देशों में एक हो गया है और अणु-शस्त्र बनाने की उसकी सम्भावनाएँ अब स्पष्ट ही दीख पड़ रही हैं?

—इस बारे में मुझे कुछ नहीं मालूम है। शक्ति की राजनीति के व्यावहारिक कदमों पर मुझे कुछ भी नहीं कहना चाहिए। अणु-शक्ति के सम्बन्ध में भारत यदि

मानव-नीति और मानव-जाति का मोर्चा होगा। मुझे लगता है कि तब उन दोनों युद्ध रत शक्तियों के लिए यही प्रश्न नहीं रह जायगा कि कौन विजय पाता और कौन पराजित होता है, बल्कि इस तीसरे मोर्चे से निबटने की चुनौती भी दोनों के समक्ष होगी। उस समय युद्ध सचमुच एक बहुमुखी और मानवीय युद्ध का रूप ले लेगा। अर्थात् तब युद्ध राजनीति और संस्कृति का होगा, राजा और प्रजा का होगा और उसमें से इतिहास का एक बिलकुल ही नया परिच्छेद खुल सकेगा।

वैसी पक्षोत्तीर्ण संकल्प-सिद्ध तटस्थता के लिए भारत को निःशस्त्रीकरण की हिम्मत बतानी होगी।

एक निर्दलीय गुट

११४. भारत ने सैद्धान्तिक रूप से एक निर्दलीय गुट को संगठित किया है, पर वही आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सैनिक-गुटों में परस्पर पूँज देने का कोई प्रयास उसकी ओर से नहीं चल सका है। इस असमर्थता का आप क्या कारण मानते हैं?

भारत के गुट में समन्वय अधिक, संगठन कम

—व्यावहारिक राजनीति के लिए आवश्यक है कि पड़ोसवाली अपनी शक्तियों का ही न हो बल्कि अधिक घनिष्ठ और दैहिक हो। कम्युनिस्ट-शक्ति में आप देखें कि उसके प्रभावाधीन सारा भू-खण्ड एक इकाई है। पूर्वी जर्मनी से उत्तरी वियतनाम तक आप चलते चले जाइये कम्युनिस्ट-प्रदेश ही मिलेगा। अर्थात् राजनीतिक शक्ति के लिए पड़ोसपन का उपयोग बहुत ठोस होता है। भारत की सीमाओं पर विग्रह और विरोध हो, तो भारत राष्ट्रीय से ऊपर एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप में विकास नहीं पा सकता। नैटो सीटो आदि सन्धियों द्वारा बने हुए गुटों का बल उतना सुगठित नहीं हो सकता जितना एकजुट कम्युनिज्म का हो सकता है। पश्चिम की शक्तियों का बिखराव हुआ रहना उनके हक में कारगर हो सकता था, अगर प्रश्न राजनीति से ऊपर नीति के तल का होता। पर राजनीतिक और कार्मिक तल पर एक और इकट्ठे होने का बड़ा काम है। आज जिस प्रश्न को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूँ वह यह है कि क्या सोवेरेन्टी (सत्ता-सम्पन्नपन) एक निर्बलता ही है और उसको कीमत में देकर बनी हुई यूनिटी ही क्या एक बल है? मत, धर्म, वाद, राष्ट्र आदि की केन्द्रित एकता प्रस्तुत करने को एक नया महाबल प्रकट हुआ है, क्या इसके प्रतिरोध में दूसरा इसी प्रकार का अत्यन्त केन्द्रित नियन्त्रित संगठित बल ही काम दे सकेगा? या

आवश्यकता है। यह निष्ठा राजनीतिक आबोहवा को बनाने और बदलनेवाली हो जायगी, उस हवा को देख-भालकर चलने की आवश्यकता में न रहेगी।

तटस्थता सक्रिय हो

२३३ क्या आप सोचते हैं कि गुट-बन्दी और सैनिक-सन्धियों का तीव्र विरोधी होते हुए भी भारत युद्ध की स्थिति में निष्पक्ष एवं युद्ध से विलग रह सकेगा? यदि नहीं, तो वह अभी भी समय के साथी चुनने और बनाने का प्रयत्न क्यों नहीं करता? ऐसा न करने पर क्या उसे बाद में पछताना नहीं पड़ेगा?

—मैं कहता आ रहा हूँ कि तटस्थता को उठकर सत्पक्षता तक आना चाहिए। तब यह स्थिति विश्वास से पुष्ट और स्पष्ट होगी। यही स्थिति है, जो शीत-युद्ध मे कुछ कारगर हो सकेगी और रक्त-युद्ध फूट पड़ने पर भी एक उत्तीर्णता पर रहेगी, उलझन मे नहीं पड़ेगी। भारत के लिए असम्भव है कि वह अलग-थलग रह जाय, उस वक्त जब सारी दुनिया मे आग लगी हो। आग लगने पर वह निष्क्रिय न रह जाय, इसके लिए आज ही जरूरी है कि उसकी तटस्थता सक्रिय हो। आग लगने पर दर्शक के लिए दुनिया मे कोई जगह नहीं रह जाती। तब कर्मारुढ़ होना पड़ेगा। जो केवल तटस्थ है, वह किस क्रिया को लेकर कर्मण्य होगा? लेकिन अगर भारतीय शासन के पास अहिंसक श्रद्धा हो, तो सचमुच अहिंसा को लेकर वह पूरे तौर पर युद्ध की ज्वालाओं के बीच भी सक्रिय और कर्मरत दिखायी देगा।

श्रद्धा सकर्मक

सचमुच आरोप लगाया गया है कि भारत मित्रहीन और एकाकी बनता जा रहा है। केवल निष्क्रिय तटस्थता शायद शीत-युद्ध के दिनो मे लाभकारी भी दिखायी दे, लेकिन आग भड़कते ही तटस्थ देशो की दोनो ओर से सन्दिग्ध स्थिति बन जायगी और उनका हाल बेहाल होगा। यदि उसके पास सचमुच कोई सकर्मक श्रद्धा हो, तो अच्छा यही होगा कि वह समय रहते अपने साथी को चुन ले और फिर—वह साथ निबाहे।

हलकी तटस्थता नकारात्मक

केवल तटस्थता नकारात्मक हो जायगी और आगे कोई उसका लिहाज न करेगा। निश्चित विश्वास के आधार पर वही युद्ध को मानो तिकोना बना देगी। दोनों सशस्त्र राजनीतिक शक्तियो के समक्ष उससे एक तीसरा मोर्चा खुलेगा, जो कि

मानव-नीति और मानव-जाति का मोर्चा होगा। मुझे लगता है कि तब उन दोनों युद्ध-रत शक्तियों के लिए यही प्रश्न नहीं रह जायगा कि कौन विजय पाता और कौन पराजित होता है बल्कि इस तीसरे मोर्चे से निबटने की चुनौती भी दोनों के समक्ष होगी। उस समय युद्ध सचमुच एक असली और मानवीय युद्ध का रूप ले लेगा। अर्थात् तब युद्ध राजनीति और संस्कृति का होगा राजा और प्रजा का होगा और उसमें से इतिहास का एक बिलकुल ही नया परिच्छेद शुरू सकेगा।
वैसी पक्षोत्तीर्ण सत्कर्म-सिद्ध तटस्थता के लिए भारत को निःशस्त्रीकरण की हिम्मत बतानी होगी।

एक निर्दलीय गुट

२१४. भारत ने सैद्धान्तिक रूप से एक निर्दलीय गुट को समर्थित किया है, पर उसे आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सैनिक-गुटों में परस्पर गूंथ देने का कोई प्रयास उसकी ओर से नहीं बन सका है। इस असमर्थता का आप क्या कारण मानते हैं?

भारत के गुट में समन्वय अधिक, संगठन कम

—व्यावहारिक राजनीति के लिए आवश्यक है कि गठबन्धन ऊपरी शक्तियों का ही न हो बल्कि अधिक घनिष्ठ और दैहिक हो। कम्युनिस्ट-शक्ति में आप देखेंगे कि उसके प्रभावाधीन सारा भू-खण्ड एक इकाई है। पूर्वी जर्मनी से उत्तरी वियतनाम तक आप चलते चले जाइये कम्युनिस्ट-प्रदेश ही मिलेगा। अर्थात् राजनीतिक शक्ति के लिए पड़ोसपन का उपयोग बहुत ठोस होता है। भारत की सीमाओं पर विग्रह और विरोध हो, तो भारत राष्ट्रीय से ऊपर एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप में विकास नहीं पा सकता। नेटो, सीटो आदि शक्तियों द्वारा बने हुए गुटों का बल उतना सुगठित नहीं हो सकता जितना एकजुट कम्युनिज्म का हो सकता है। पश्चिम की शक्तियों का बिखरा हुआ रहना उनके हक में जानकर हो सकता था अगर प्रश्न राजनीति के ऊपर नीति के तल का होता। पर राजनीतिक और कार्मिक तल पर एक और इकट्ठे होने का बड़ा लाभ है। आज जिस प्रश्न को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूँ वह यह है कि क्या डेमोक्रेसी (जनता-जनशासन) एक निर्बलता ही है और उसको कौंसिल में देकर बनी हुई यूनिटी ही क्या एक बल है? मत तन्त्र भाव, राज्य आदि की केन्द्रित एकता प्रस्तुत करके जो एक नया महाबल प्रकट हुआ है, क्या इसके प्रतिरोध में दूसरा इसी प्रकार का अत्यन्त केन्द्रित नियन्त्रित संगठित बल ही काम दे सकेगा? या

वल का कोई दूसरा प्रकार भी हो सकता है, जो प्रवलतर सिद्ध हो? भारतवर्ष सहस्रो वर्षों से काल के सब आघातो को झेलता हुआ यदि समर्थ-भाव से जीता चला आया है, तो इसमे कुछ दूसरे वल का प्रभाव ही देखा जा सकता है। कभी भारत एक नही था, न एकमत, न एक तन्त्र, न एक विधान या छत्रपति। हर प्रकार की अनेकता यहाँ रहती ही नही आयी है, वल्कि समादर, सरक्षण और सवर्धन पाती चली गयी है। तनिक भी किसी अनेकता को खण्डित, परास्त या अधीन करने की वृत्ति नही रही है। फिर भी भारत एक वना रहा चला आया है। समूचे मानव-जाति के इतिहास मे एक अकेला यह भारतीय उदाहरण है, जिसकी सास्कृतिक परम्परा अविच्छिन्न, अजस्र और अखण्ड रही है। इस उदाहरण मे से यह श्रद्धा रखी जा सकती है कि अलग-अलगपन (सेवेरेलिटी) को परस्पर आदर मे मिलाये रखनेवाली ऐसी भी एक प्रेम की एकता (युनिटी) हो सकती है, शायद है, जो दल-वलशाली प्रवल-से-प्रवल अहकार से वडी सिद्ध हो आये। किन्तु यह वल प्रकार और कोटि मे सर्वथा भिन्न है और इसमे उत्पादक नागरिक को ध्वसक सैनिक बनाने की आवश्यकता नही होती है।

मेरा मानना है कि जव दो विशाल सगठन आमने-सामने मुठभेड़ मे जीते हों, तब यदि यह तीसरा नितान्त न्याय, सत्य और प्रेम का वल केवल दृढ-प्रण होकर खडा हो आये तो स्थिति मे एकदम अन्तर ला सकता है। आर्थिक, राजनीतिक एव सैनिक-सूत्रो से सबको गूँथ लेने का प्रयास इस जगह मानो अपने आपमे अनावश्यक हो जाता है और एक ऐसा तत्त्व प्रकट हो सकता है, जो सामरिक एकसूत्रता से दृढ़तर साबित हो। बल्कि न सिर्फ यह कि वाहरी चोटो से वह स्वय न विखरे, वरन् अपनी अडिगता, धीरता और कष्टसहन से प्रतिपक्षी के मनो मे दरार पैदा कर दे। आप जानते हैं कि ऐसे योद्धा हुए हैं, जिन्हे वडी-से-वडी शक्ति नहीं तोड सकी, लेकिन मामूली-से-मामूली वीमारी असहाय कर गयी है। वही आन्तरिक दरार पड जाने पर व्यक्ति ही नही विखर जाता, सगठन भी बिखर जाते हैं। अधिकाश देखा गया है कि इधर का सकल्प जीता है, उधर का सगठन हार गया है।

जिस असमथता का कारण आप पूछते हैं, वह भारत के रक्त मे है। अर्थात् यह कि उसके रक्त-ससार मे समन्वय अधिक है, सगठन उतना नही है।

२३५ भारत की विदेश-नीति आपकी राय मे क्या आज ही की तरह निष्पक्ष और निर्दलीय होने का व्याज रखती हुई चलती रहेगी अथवा आगे परिस्थितियों के वशीभूत होकर उसमे किसी प्रकार का कोई मोड आयेगा? विश्व का वायु-मण्डल

दिन-पर-दिन बिगड़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में वर्तमान विदेश-नीति को आप कितनी दूर तक ठीक मानते हैं ?

गहरी समग्र उदारता

—अपनी विदेश-नीति में मैं कोई दोष नहीं मानता हूँ। बाहर और भीतर के व्यवहारों में यदि अन्तर है, तो इसको दोष कहना अवश्य होगा। अन्तर युग-युग अभिलाषा और यथार्थता में सदा रहता ही है। जो मुझे कहना है वह केवल यह कि उदारता का व्यवहार अगर पूरे प्राणों में से निकलना और पूरे जीवन में समाया रहेगा तब तो चल सकेगा, अन्यथा एक जगह अनुभव हो सकता है कि आप ठगा गये हैं। इसका आशय यह कि उदारता एक जगह पक्व नहीं है, बल्कि सब जगह यानी हमारी सम्पूर्णता में वह इतनी समा जानी चाहिए कि आत्म-विसर्जन की आतुरता तक पहुँच जाय। तब एक नयी नीति का प्रकाश मिल सकता है। उसमें से ऐसी उदारता भी आ सकती है, जो दीखने में मृदु न हो, बल्कि वज्र की तरह कठोर हो।

विधायक पक्षोत्तीर्णता

निष्पक्ष और निर्दलीय बनने की आवश्यकता नहीं है। उस भाषा में सोचना ही बनावटी हो जायगा यदि हमारा अपना कोई सत्य का पक्ष होगा। तब हमारी अपेक्षा पक्षों और दलों को सोचना पड़ सकता है। इसीको मैं विधायक और मर्यादायुक्त पक्षोत्तीर्णता कहता हूँ। आज की न्यूट्रेलिटी की स्थिति लगभग उससे उल्टी है। वह परिस्थिति पैदा नहीं करती, केवल परिस्थिति को भोगती है।

सत्याग्रही वृत्ति

वह रुख जिसके हाथ में अभिक्रम की पहल नहीं है, कुछ नकारात्मक और निष्क्रिय रुख होता है। सत्याग्रही वृत्ति में उसके लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। सच तो यह है कि सत्याग्रही वृत्तिवाला विश्व को, समूची मानव-जाति को, आत्मीय भाव से देखने के कारण लगभग सब समस्याओं को अपनी मानकर उनमें दखल देने का कर्तव्य और अधिकार पा जाता है। इस तरह यह वृत्ति निश्चेष्टता की न होकर प्रखर और प्रबल कर्मण्यता की हो जाती है।

हाथ में शस्त्र नहीं सत्य हो

हाँ मैं यह मानता हूँ कि परिस्थिति एकदम बम फटने के निकट आ जायगी,

तो आज की न्यूट्रेलिटी चल नहीं सकेगी। तब यदि भारत किसी पक्ष की तरफ झुका तो मुझे विस्मय तो न होगा, पर प्रसन्नता भी न होगी। भारतीयता में इतनी जान होनी चाहिए कि उसमें से दो सन्नद्ध फौजी मोर्चों के बीच एक तीसरा मानवता का पक्ष खड़ा हो जाय, जिसके हाथ में शस्त्र न हो, किन्तु सत्य हो। वैसे किसी नेतृत्व या प्रकाश के चिह्न मैं भारतीय क्षितिज में कहीं देख नहीं पाता हूँ। उसके अभाव में वर्तमान की अनिश्चयता को मैं हितकर नहीं कह सकता हूँ।

युद्ध के समय

२३६. क्या आप अनुमानतः बता सकते हैं कि युद्ध की स्थिति में भारत किस पक्ष में सम्मिलित होगा—रूस के पक्ष में अथवा अमरीका के पक्ष में? अर्थात् उसकी विदेश-नीति का झुकाव उन दोनों में से किसकी ओर अधिक है?

—नहीं, भविष्य को अज्ञात रहने देने में ही मुझे कुशलता और बुद्धिमत्ता दीखती है।

●

११

औद्योगीकरण द्वारा आर्थिक समृद्धि

अर्थ-नीति का आधार

११७. भारत की अर्थ-नीति का आधार है औद्योगिकीकरण; भारत को अन्य समस्त देशों की तरह एक औद्योगिक एवं आत्म-निर्भर देश बना देना। क्या आप इस आधार को ठीक मानते हैं?

एक मोह

—नहीं, मोहाक्रान्त मानता हूँ। श्रेयस्कर यह नहीं हो सकती। पश्चिम में उन्नति दीखती है, लेकिन यह भी दीखता है कि वह अब सिरे पर आ गयी है। उस सभ्यता का दिवाला निकला ही समझिये। हम यहाँ से उसको देख और पहचान नहीं पा रहे हैं, इसीको मैं मोह कहता हूँ।
बहुत देशों के साथ उद्योग-सम्पन्न बन जाने से भारत आखिर उन अनेक देशों में एक ही तो होगा जो मण्डी के लिए प्रतिस्पर्धा में पड़े हैं। हाल का अपने देश में चीनी का संकट क्या दरसाता है? अर्थात् आमदनी बढ़ाने को सबसे प्रधान ध्येय मानकर जो हम उत्पादन करते और फॉरिन एक्सचेंज के पीछे बने रहते हैं, उससे जाहिरा ही मालूम होता है कि हम स्वावलम्बी जल्दी बन जायेंगे, बल्कि उससे आगे दौलतमन्द भी बन जायेंगे। लेकिन जल्दी मालूम हो जायगा कि यह भ्रम ही था।

उत्पादन आवश्यकता से जुड़े

मैं मानता हूँ फॉरिन एक्सचेंज की कमाई को सामने रखकर नहीं, बल्कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की स्वावलम्बिता को सामने रखकर हमारी अर्थ-नीति का विकास होना चाहिए। हमारे उत्पादन को सीधे हमारी आवश्यकता से जुड़ना चाहिए। विदेशी मुद्रा के अधीन हमारी स्थिति और परिस्थिति हो, इसको मैं उपादेय नहीं मानता हूँ।
११८. तब आप क्या नहीं चाहते कि भारत भी विज्ञान की इस उपलब्धि का लाभ उठाये, जिसका लाभ अन्य देश उठा रहे हैं और यह लाभ स्पष्ट ही औद्योगीकरण

के विना उठाया नहीं जा सकता। देश की इस सुरक्षा की दृष्टि से भी आज औद्योगीकरण अनिवार्य है। ऐसी स्थिति मे औद्योगीकरण का विरोध करना क्या नितान्त अव्यवहार्य नहीं है ?

जीवन-स्तर बढ़ाने का उन्माद

—मैं यदि आपके सामने पास-पडोस मे वुनी खद्दर का कुर्ता पहने वैठा हूँ, टरिलीन की शर्ट नही है, तो इस कारण क्या विज्ञान के फल से मैं अपने को वचित वनाता हूँ ? रहन-सहन के स्तर को वढ़ाते जाने का उन्माद जिन पर सवार है, ठीक वे ही लोग हैं जिन्हें फुरसत नहीं है कि विज्ञान को समझें, उसकी सम्भावनाओ पर ध्यान दें और उसका लाभ उठायें। ये लोग विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप मिलनेवाला अलाभ सारा-का-सारा अपनाते हैं और लाभ से ही केवल अपने को वचाते हैं।

व्यवसाय-वाद से विज्ञान को अलाभ

विज्ञान के लाभ को मैं पूरा-का-पूरा ले लेना चाहता हूँ, सिर्फ उसका अलाभ वचा जाना चाहता हूँ, जव कहता हूँ कि उद्योगो की होड में भारत को नहीं पडना चाहिए। यह स्वय वैज्ञानिको का अनुभव है कि व्यवसाय-वाद का वोझ ज्यादा लद जाने से वैज्ञानिक शोघ की तीव्रता कम हो जाती है। विज्ञान की उन्नति उन लोगो के द्वारा होती है, जिनकी चेतना को व्यवसाय-वाद की हवा विशेप छू नहीं पाती। यह पुरानी वात आज के लिए भी सच है कि उच्च चिन्तन सादे जीवन के साथ चलता है। उद्योगवाद से जीवन की सादगी को हम नष्ट कर डालते हैं। तव उच्च चिन्तन भी भ्रष्ट हो जाता हो तो कोई अचरज की वात नहीं। विज्ञान की उन्नति इस निराविष्ट उत्कृष्ट चिन्तन से हुआ करती है। वह वृत्ति जो केवल अर्थोपार्जन की या वहिमुखी है, विज्ञान पर अपना वोझ ही लादती है, विज्ञान को सहारा नहीं देती।

आत्म-विज्ञान का सहारा

अव वस्तु-विज्ञान ऐसी जगह पर आ गया है, जहाँ अनिवार्य है कि उसे आत्म-विज्ञान का सहारा मिले। विना उस सहारे और सयोग के विज्ञान जीवन को छिन्न-भिन्न क्या, एकदम नष्ट-विनष्ट तक कर सकता है। यदि मानव-सम्वन्धो में प्रतिस्पर्धा और विग्रह के मूल्यो का ही वोलवाला रहा, तो विज्ञान सिवा इसके कि सहार और विनाश के काम की अधिकाधिक सुविधाएँ हमे प्रस्तुत करता रहे,

दूसरा विनाशक काम न कर पायेगा। विज्ञान विनाशक उस समय होगा जब आत्म-विज्ञान में से हम यह अनुभव करने लग जायेंगे कि दूसरा प्रतिपक्ष या प्रतिपक्षी नहीं है। हम और वह एक ही समग्रता के अंग हैं और इस तरह आत्मीय हैं। यह भाव जब हमारे बीच काम कर निकलेगा तब भिन्नता आदरणीय बन जायगी और विमत को परास्त करने का नहीं बल्कि सत्कार करने का भाव हममें जागेगा। स्वयं वस्तु-विज्ञान ने यह आवश्यकता पैदा कर दी है और परता और वैरता की सामाजिक भूमिका अधिक काल मानव-जाति के हित की दृष्टि से सम्भव नहीं बनी रह सकती। आत्मता और परस्परता का आधार हमारी सार्वजनिक और अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को मिले तभी मानवता के टिकने की सम्भावना है। आधुनिक उद्योगवाद उस दिशा में चलनेवाला प्रयत्न नहीं है। उससे मानव-सम्बन्धों में स्पर्धा और विग्रह ही ज्यादा घर करते जाते हैं। यह फल इतना प्रत्यक्ष है कि यदि हम मोहग्रस्त न हों, तो उसके देखने से बच नहीं सकते हैं। भारतीय अर्थ-नीति का नेतृत्व उस मोह से मुक्त है ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। उस मुक्ति को आज के दिन मैं बेहद जरूरी मानता हूँ अन्यथा भारत का कोई विशिष्ट भविष्य मुझे नहीं दीखता है।

औद्योगीकरण समय की माँग

२१९. जिसे आप मोह कहते हैं, मैं समझता हूँ यह समय की माँग है। भारत के सामने दो बड़ी समस्याएँ हैं। पहली यह कि उसके हाथ में भी शीघ्रातिशीघ्र और देशों जैसे वैज्ञानिक और औद्योगिक साधन हों और वह पिछड़ी स्थिति से निकलकर औद्योगिक अवस्था में प्रवेश करे। और इस बात के लिए क्रमिक विकास के राग को वह बर्दाश्त नहीं कर सकता, न आर्थिक कारणों से न ही राजनैतिक कारणों से। दूसरे, भारत का प्रत्येक नागरिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का भोग करता दीखे यह भी समय की माँग है और स्वयं भारत के नागरिकों की कामना है। यदि हमारी वर्तमान सरकार इन दोनों कारणों से औद्योगीकरण को अपना रही है और उसे बड़ी तेजी से विकसित किये जा रही है तो इसमें आपको कहाँ और क्या दोष नजर आता है?

—समय की माँग युद्ध क्यों नहीं है? मैं नहीं मानता कि समय यह कहता है कि आदमी का काम समय में बहना है। समय ने जब जब मोड़ लिया है, उस दर्शन और चरित्र के कारण मोड़ लिया है, जो समय का अर्थ उसके पीछे चलने के रूप में नहीं लेते थे। कुछ दायित्व है जिसका वहन करने के लिए स्वयं समय बना है। समय की अधीनता के आगे कुछ न देख पाना मानव

स्वभाव और मानव-प्रतिभा के प्रति अविश्वास प्रकट करना और उससे मुंह मोड़ना है।

उद्योग, यन्त्र, विज्ञान वश से बाहर न हो

उद्योग, यन्त्र, विज्ञान ये सब चीजें गलत नही हैं। इनके उपयोग की गुंजाइश ही नही, उपादेयता भी है। लेकिन जिसको औद्योगीकरण कहते हैं, वह कुछ अपने मे अलग चीज है। वह है उत्पादन का मुनाफे के खातिर होने लगना और जीवनोपयोग की सीधी आवश्यकता के सन्दर्भ से उसका टूट जाना। जब यह फल आने लगता है, तो मशीन और मनुष्य का सम्बन्ध उलट जाता है। मानो मशीन मनुष्य पर सवार हो जाती है। मनुष्य का काबू फिर उस पर नही चलता। मनुष्य, खुद उसके काबू मे आ जाता है। मुनाफावाद उद्योगवाद का प्रतिफल होता है और उससे सामाजिक सम्बन्ध जर्जर होने लग जाते हैं। व्यक्तिगत रूप से कैपिटलिज्म के नाम से उसकी अनिष्टता से हम बहुत अच्छी तरह परि-चित हो चुके हैं। लेकिन इस मोह मे पड गये हैं कि उससे आगे राष्ट्रीय पैमाने पर आकर वही चीज सही बन जायगी। जो पिण्ड के लिए अनिष्ट ठहर चुकी है, वह नीति ब्रह्माण्ड के लिए भी अनिष्ट ही होगी, इसमे सन्देह नही है।

खेतिहर अप्रधान न बने

मैं नही मानता कि जब तक खाने के लिए हमे अन्न की आवश्यकता बनी हुई है, तब तक खेती को गौण किया जा सकता है। खेतिहर को अप्रधान और शहर के मजदूर को प्रधान मानकर रूस ने अपने बीच कम्युनिस्ट-क्रान्ति की। उस समय यह मानो सिद्धान्त बन गया था कि मजदूर प्रगतिवादी और किसान प्रतिक्रिया-वादी होता है। तब से चक्र आगे बढ गया है और वहाँ भी पहचान लिया गया है कि किसान अप्रधान नहीं है और खेती के आस-पास ग्राम-रचना का निर्माण हुआ है। चीन मे जो क्रान्ति हुई और आगे बढ रही है, उसमे खेती और खेतिहर गौण नही मान लिये गये हैं। मैं उस अधीरता को नहीं समझ सकता, जो भारत को खेतिहर के स्तर से तोडकर एकदम ऊँचे उठा ले जाना चाहती है। ऐसा ऊँचा उठा हुआ भारत-राष्ट्र तन्त्र-प्रधान बन जायगा, मानव-केन्द्रित वह नही रहेगा। क्या हम इस सम्बन्ध मे असावधान हो जाना चाहते हैं कि हम क्या खाते हैं? ऐसे लोग हैं, जो खाने के बारे मे उदासीन हैं और पहनने की साज-सज्जा के बारे मे खूब सावधान हैं। खाया हुआ अपने भीतर जो पहुँचा, सो उसे कौन देखता है, पहना हुआ सबकी आँखो के लिए होता है—इस मनोवृत्ति

ये वे जो सम्पदा बन चढ़ी होती हैं वही अन्तिम परिणति में उपयोगवादी कही जाती है।

मन और समय की झूठी माँग

भारत के शहरी नागरिकों की कामनाओं में से इसीसे एक बड़ी व्याकिकर प्रतिस्पर्धा और भ्रष्टाचार की परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। लेकिन शायद अपने अभ्यन्तर में वही नागरिक एकान्त की घड़ी में सोचने लगता है कि क्या उसकी ये सब कामनाएँ असली हैं? उसीको संशय होता है कि कहीं ये नकली तो नहीं है। मैं मानता हूँ कि जिसमें सुख-चैन सब छिन जाता है, सन्तोष का धन लुट जाता है, अर्थ के पीछे दूर तक एक हाय-हाय-सी लगी रहती है वह मनुष्य केवल इस कारण कि अपने अन्तस्तल की कामनाओं की सुन नहीं पाता मानो जीने का आरम्भ ही नहीं कर पाता है। सिर्फ दम रखने में ही जूझता हुआ वह अपने को बिताता रहता है।

मन की और समय की यह झूठी माँग है जो आदमी को अपने से दूर हटा ले जाती है, जो आदमी को धन से मालामाल इस शर्त पर करती है कि वह मन से खोखला बनता चला जाय।

मैं सचमुच मानता हूँ कि जिसमें बड़ी औद्योगिक होड़ाहोड़ी से भारत को संयमपूर्वक एकदम बाहर आ जाना चाहिए। उसको जरा काल देकर अपने अन्तःकरण की आवाज को सुनना चाहिए। वे ऋषि महर्षि जो भारत के पास ऐतिहासिक काल से आज तक बराबर होते आये हैं और जिनके लिए सम्पद् भारत का गौरव कहा जाता है, संभव है कि देश उनकी वाणी को सुने उसके मर्म को बूझे और अपने वर्तमान और अपने भावी को तदनुरूप निर्माण दे। आत्मा की तो है ही सचमुच समय की माँग को भी मैं इसी रूप में देखता हूँ। दूसरे दर्शन को मैं सम्यक् नहीं मानता हूँ।

आत्म-रक्षा के लिए औद्योगीकरण

९४ जो इतिहास की गुरुता को अनुभव कर सकते हैं, वे जानते हैं कि शक्ति-शाली ने कभी किसी भी अवस्था में हीन-दीन को बख्शा नहीं है। यदि भारत धन-विज्ञान और उद्योग इन सबकी दृष्टि से कमजोर ही रहता चला जायगा तो मैं नहीं समझ पाता कि वह दूसरे बड़े देशों से अपनी रक्षा किस प्रकार कर सकेगा। केवल आत्म-रक्षा की दृष्टि से भी यान्त्रिक एवं औद्योगिक होड़ में पड़ना भारत के लिए अनिवार्य बन गया है। इस बात की दृष्टि से

रखते हुए भारतीय जन-जीवन मे यन्त्र और उद्योगो का आप क्या स्थान निश्चित कर पाते हैं ?

शक्ति और वीर्य जन में, यन्त्र में नहीं

—अमरीका और रूस तो उस दृष्टि से पिछडे हुए देश नही हैं। दोनों मे ठन जाय, तो क्या उनमे से किसीकी भी रक्षा निश्चित मानी जा सकती है ?

ठीक आज के दिन यह भ्रम सिद्ध हो गया है कि सुरक्षा वाहरी साधनो मे है। उससे अधिक वाहरी सावन सुरक्षा के सकट के लिए आमन्त्रण हो सकते हैं, सुरक्षा के प्रयोजन को ही परास्त कर दे सकते हैं।

इसीलिए आज की तलाश है कुछ उस शक्ति की, जो टूटे नही, हारे नही। यह शक्ति सकल्प-शक्ति के सिवा दूसरी हो नही सकती।

शक्तिशाली और हीन-वीर्य इन शब्दो में अर्थ हम डालते हैं। शक्ति और वीर्य हमारे पास नहीं हैं, यन्त्रो के पास हैं, यह भ्रम हमारा अपना ही पैदा किया हुआ है। सख्या और गणना के हिसाव से हिटलर ने अपनी शक्ति को क्या तोला-जाँचा न होगा ? लेकिन अन्त में क्या हुआ ? गणना काम नहीं आयी और हिटलर जो अपने को सकल्प का धनी मानता था, अन्त मे आत्मघात के सहारे मुँह छिपाकर मर निकला। समय है कि हम पहचानें कि शक्ति और वीर्य का अधिष्ठान स्वय जन मे है, जनता में है। यदि वहाँ शक्ति नहीं है, तो ऊपर से मिला धन और यन्त्र और शस्त्र सहायता नहीं कर पायेंगे। इस प्रकार की सहायता क्या कोयुमिनताग को वाहर से कम मिली थी ? लेकिन वही सहायता शत्रु के काम आयी। कारण, मन में सकल्प का वल जो न था, सो ऊपरी वल बेकार हो गया।

विकास का तर्क

विकास के तर्क को हम समझकर देखें। पशु से मनुष्य हर तरह हीन है। शरीर मे वह अक्षम है। इस दीखनेवाली दुर्बलता मे से ही मनुष्य में नयी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। दाँत-पजे और शरीर-वेग इन सब शक्तियो से एक वडी शक्ति मनुष्य मे सृष्ट हुई, जिसे वुद्धि कहा गया।

मैं मानता हूँ कि कालक्रम से अब मनुष्य-जाति का विकास उस सन्धि तक आ गया है, जहाँ साधनो की दुर्दान्त शक्ति अशक्ति वनी दिखायी दे आये। ऐसा अनुमान होता है कि ठीक यही समय है, जव शक्ति के नये प्रकार का प्रादुर्भाव होगा। भारत इच्छापूवक उस ऊपरी निर्वलता को अपना ले, जैसा कि उसके

स्वभाव और इतिहास में है, तो बिलकुल सम्भव है कि भावी के निर्माण में काम आनेवाली अहिंसक शक्ति का प्रादुर्भाव यहाँ से ही निकले।

माल और प्रीति

हमारी भाषा में दौलतमन्द भारत अन्दरूनी तौर पर सन्तुष्ट स्वावलम्बी भारत से बढ़कर निकलेगा यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि हम अपनी अर्थ रचना को ऐसा बनायें कि जिससे माल चाहे कम पैदा हो, लेकिन आपसी प्रीति अधिक उत्पन्न हो तो मेरा मानना है कि उससे हमें बलिष्ठतर भारत प्राप्त होगा।

यन्त्र उपयोगी, यन्त्रवाद घातक

यन्त्र एक तरह हमारे इन्द्रियों के उपकरण का अगला परिमाण ही है। अर्थात् मनुष्य की पहुँच उससे विस्तार पाती है, उसकी क्षमता बढ़ जाती है। एक हार्स पावर दस मनुष्यों की शक्ति के बराबर होता है, तो कहना चाहिए कि एक हार्स-पावर की मशीन से एक आदमी ग्यारह जितना हो जाता है। यन्त्र का मानव-जीवन में ठीक यही शक्ति-संवर्धन का काम और स्थान होना चाहिए। इससे अधिक जब होने लगता है, तो यन्त्र काम का नहीं रहता भार का हो जाता है। अर्थात् यन्त्रवाद उत्पन्न होता है। आदमी की उपयोगिता बढ़ती नहीं है, जैसा कि यन्त्र से होना चाहिए। बल्कि आदमी अनुपयोगी बेकार और बेरोजगार होने लगता है। यन्त्र में जब यह अनर्थ और अनिष्ट पड़ने लग जाता है, तब यन्त्र के साथ सोच विचारपूर्वक चलना चाहिए। ध्यान में इतना रखना है कि जैसे मनुष्य के पास जन्मरूप में यह शरीर है अंगोपांग है बुद्धि-विज्ञान से प्राप्त हुए अन्य यन्त्र भी इसी तरह मनुष्य के अवयव होकर उसे विस्तार देनेवाले हैं। उसे काटने और कम करनेवाले वे न बनें।

प्र० १ गांधीजी ने यन्त्र-विज्ञान के प्रति जो तिरस्कार और अवज्ञा का भाव अपनाया था, उसे नेहरूजी स्वीकार नहीं कर सके। आप भी यद्यपि यन्त्र और विज्ञान को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखते पर उनकी अत्यन्त सीमित उपयोगिता को ही स्वीकार करते हैं। तब क्या गांधीजी और आपकी दृष्टि में नेहरूजी देश को एक गलत और खतरनाक रास्ते पर ले जा रहे हैं कि वे देश को एक आधुनिक शक्तिशाली, औद्योगीकृत देश बना देने के लिए कटिबद्ध हैं?

यन्त्र को देवता न मानें

—गांधीजी में यन्त्र के प्रति अवज्ञा थी ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। लेकिन देवता की जगह यन्त्र को देने का समर्थन अवश्य और उचित उनमें नहीं था।

कौन जानता है, भविष्य में क्या रखा हुआ है। नेहरू आधुनिक हैं और इसमें वे गर्व भी मान सकते हैं। आधुनिकता का प्रवाह जिस ओर जा रहा है, हम देखते हैं, पण्डित नेहरू अपने ढंग से उस प्रवाह के बारे में मानते और निर्णय लेते हैं। नेहरू के लिए यह गलत और असम्भव होगा कि वे अपने ही जीवन में उलटे चलें। उनको पूरा अधिकार है, बल्कि उनका कर्तव्य है कि नेहरू जन्मे हैं तो नेहरू होकर ही वे चलें। इसीमें उनकी मुक्ति और कृतार्थता है। यही नेहरू के व्यक्तित्व की विशेषता है, जिसमें गांधी ने उन्हें अपनाया। इन दोनों भिन्नताओं को पहचानने में भूल नहीं हो सकती है। नेहरू उस सभ्यता के अंग हैं, अंश हैं, उनकी समूची मानसिकता का निर्माण वहां से हुआ है, जिसे हम पाश्चात्य कहते हैं। गांधीजी के प्रेरणा-स्रोत वे सिद्धान्त थे, जो सनातन और शाश्वत कहे जा सकते हैं और जिनकी सत्यता आधुनिकता पर निर्भर नहीं है। वे मूलतः धार्मिक थे।

भारत अपना मार्ग चुने

मैं मानता आया हूं कि भारत को अवसर मिलना चाहिए कि वह अपने मार्ग का चुनाव कर ले। वही विभ्रम है, जो परिस्थिति को संकटापन्न बनाये हुए है। नेहरू से आशा करना कि गांधी के मार्ग पर वे भारत को चलायेंगे, नेहरू के प्रति अविश्वास प्रकट करना है। भारत को अपना नेता नेहरू को यह समझ-बूझकर बनाना है कि वे गांधी की नहीं, अपनी राह भारत को ले जायेंगे। वह राह क्या होगी, यह अत्यन्त स्पष्ट है। आज की परिस्थिति में इन दोनों के बीच चुनाव का अवसर आज नहीं दिया जा रहा है, यह बड़े खतरे की बात है। यह विभ्रम अगर चलता रहा, तो दोनों से अलग एक वह चीज भारत में आयगी, जो अन्यत्र बड़े वेग से छाती जा रही है। अहिंसा जैसी भावना के लिए उसके तर्क में कोई जगह नहीं है। सारी नैतिकता मानो वहां एक उपार्जित वस्तु है, मनुष्य में मौलिक नहीं है। लेकिन उसकी बात यहां नहीं करनी है।

विदेशी सहायता

२४२ औद्योगिक विकास के लिए भारत-सरकार ने विदेशी सहायता प्राप्त करने की नीति को अपनाया है। विदेशी सहायता के रूप में केवल रुपया और तकनीक ही नहीं आती, कुछ मानसिक बन्धन भी आते हैं। आपकी अपनी विचारणा से मुक्त यदि यह मान लिया जाय कि औद्योगिक विकास करना है, तो उसके लिए विदेशी सहायता के अतिरिक्त और कौन-से साधन हो सकते थे, जिनका उपयोग लक्ष्यसिद्धि के लिए किया जा सकता था?

हम स्वावलम्बी अर्थ-विधि अपनायें

—वर्तमान परिस्थिति में औद्योगीकरण यदि करना ही हो तो स्वयं स्वावलम्बन की दृष्टि से भारी मशीनें हम यहाँ बिठानी होंगी। भारी से मतलब है मशीनें जो खुद मशीन तैयार करती हैं। सिवा दूसरे देशों के वे प्राप्त कैसे हो सकती हैं? इसलिए विदेशी सहायता से औद्योगिक कार्यक्रम को अपनाने के बाद फिर उसके कर्ज से छुट्टी का अवसर नहीं रह जाता है।
विकास भी हम सम्भव मानें किन्तु अपनी कर्ज और निर्भरता के होते हुए दूसरी ओर से मानसिक बन्धन भी कुछ नहीं आयेंगे यह मैं सम्भव नहीं मानता हूँ। आगे तो स्थिति यह आनी ही है, जब सहायता देनी विदेशी न रह जाय तब आपसी बन जाय। लेकिन यह स्थिति राष्ट्रीय अर्थ-रचना के आधार पर नहीं आयेगी, बल्कि मानवीय उत्पादन एवं अर्थ-विधि के आधार पर आ सकेगी।
यदि देश को लम्बे और पूरे अर्थों में निष्पन्न होना है तो उसे स्वावलम्बी अर्थ-विधि का आधार लेना चाहिए। अन्यथा उसकी स्थिति उत्तरोत्तर उलझन की बनती जायगी और उसकी पराधीनता कुछ विशेष अर्थकारी न होगी केवल यथार्थ संकट के समय भारत को नगण्य बना देने में ही काम आयेगी।

मानवीय साधन : जन-बल

मशीन के अतिरिक्त दूसरे साधन मानवीय हुआ करते हैं। उन साधनों का कम महत्त्व नहीं होता। यदि दलीय भाव यहाँ के वातावरण में कम होता और राष्ट्रीय भाव अधिक होता तो मानवीय साधनों की ओर से सुविधाजनक स्थिति हो सकती थी। प्राइवेट और पब्लिक सेक्टर जैसे शब्द तब अधिक चिन्ता के न होते और दोनों तरफ एक राष्ट्र भाव काम कर रहा होता। राजा और प्रजा का भेद मन्द होने पर भारी जन-शक्ति का पूरा सहयोग हमारी योजनाओं को प्राप्त होता। मैं मानता हूँ कि यदि यह जन-बल तैयार हो तो विदेशों से भारी मशीन हमें सहायता में न मिल सकें या हम खरीद न सकें तो भी उनकी हानि नहीं। विदेशी सहायता की अपेक्षा उतनी ही बढ़ जाती है जितनी हम अपनी सहायता करने की स्थिति प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अपनी सहायता माने अपने विशाल जन-बल की सहायता।

भारतीय मानस की हीनता

मशीन के साथ तकनीकी विशेषज्ञ भी आते हैं और एक बार मशीन को बिठाकर ही उनकी आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि आगे भी बराबर बनी रहती

है। इस सबका मानसिकता पर प्रभाव पड़ता है और प्रच्छन्न रूप से भारतीय मानस मे एक हीनता या न्यूनता का भाव घर करता रहता है। यह तथ्य कि इस दिशा ऐसी भी है, जहाँ उलटे भारत को कुछ देने को हो सकता है, मन से दूर हो जाता है। इस तरह भारत का एक बड़ा सम्भावित बल किनारे पड़ा रह जाता है और भारतीय गौरव की स्थापना मे कुछ भी भाग नहीं ले पाता। यह बड़े ही खेद का विषय है कि हमारे धर्मी, सन्यासी, ऋषि और पारमार्थिक जन इस विदेशी मशीनी सहायता के दौर मे मानो अछूते और अबूझे रह जाते हैं और राष्ट्र-निर्माण मे अपना कोई दान नहीं कर पाते। मान लीजिये कि रामतीर्थ और विवेकानन्द पचवर्षीय योजनाओ के कोलाहल के बीच अपनी बात सुनाने चलें, तो कितनी सुनी जायगी, सेक्युलरिज्म मे तो यह बहुत सगत होगी नहीं। इस तरह भारत की जनता का एक बहुत बड़ा और उत्कृष्ट भाग एक तरफ बचा रह जाता है, भारत के जीवन-निर्माण मे उनका अपेक्षित अनुदान नहीं पहुँच पाता।

घर की पूंजी

२४३ क्या यह सम्भव नहीं था कि जितना धन और स्वर्ण भारत ने अपनी प्रथम पचवर्षीय योजना के लिए बाहर से लिया, वह घर मे से ही अधिक समर्थ लोगो के पास से स्वर्ण के रूप मे और निर्धनो के पास से श्रम के रूप मे प्राप्त किया जा सकता? उस अवस्था मे केवल तकनीकी सहायता ही हमें बाहर से लेनी पड़ती और इस घर की पूंजी के लाभ से अगली पचवर्षीय योजना को भी आगे बढ़ाया जा सकता। रूस ने ऐसा किया है। यदि रूस के इस उदाहरण को हम ग्रहण न कर सके, तो आपकी राय मे इसके क्या कारण रहे? क्या अहिंसा का अदूरदर्शी और कल्पना-शून्य स्वरूप ही इस भूल के पीछे नहीं रहा?

कानूनन लेना घातक होता

—धन को या तो मन के साथ लेते, या कानून के जोर से मन के बावजूद लेते हैं। मन के साथ ले नही पाये और रूस की तरह राज्य के कानून से लेने का उपाय अपने वश का और विवेक का नही दिखाई दिया।

रूस ने क्रान्ति के बाद जो भोगा है, वह कुछ कम कटु अनुभव नही है। मैं यह मानता हूँ कि इस अनुभव-प्राप्त शिक्षा के बाद अब यदि दूसरी क्रान्ति का अवसर आये, तो उसका प्रकार वहाँ दूसरा होगा। अक्तूबर-क्रान्ति के तत्काल बाद राज-शक्ति और राज-दण्ड के जोर से काम कराने और करने की मजबूरी मे से अनेक

संकट क्रान्ति के मार्ग मे पैदा हुए और प्रभूत मानव रक्त बहाते हुए शान्ति को आगे बढ़ना पड़ा। भारत यदि इस राह नही चला है, तो यह अफसोस की बात ही नही बल्कि बधाई की बात हो सकती है।

अहिंसक उपाय अदूरदर्शी नहीं

हुई, गांधी की अहिंसा ही इसमे कारण हुई। लेकिन गांधी की अहिंसा इसलिए कारण बन सकी कि भारतीय रक्त और मानस मे से उसको सीधी स्वीकृति और आत्मध्वनि प्राप्त होती गयी। अवश्य यह अहिंसा की नीति अदूरदर्शी और कल्पना-शून्य सिद्ध होगी अगर हमको हिंसा मे लाभ दिखाई देने लगेगा। दुनिया के बढ़े हुए देशो के उदाहरण से तो यह लगता है कि हिंसा मे से श्रद्धा उठ जानेवाली है और उसमे से किसी सुरक्षा या लाभ के पाने की कल्पना एकदम मिथ्या कल्पना सिद्ध होनेवाली है। किन्तु भारत का उतना अभी आगे बढ़ा हुआ नही है, शायद समय से कुछ पीछे चल सकता और अब भी यह मान रख सकता है कि हिंसक उपायों का अवलम्बन और उसमे सहायक होनेवाली अर्थ-रचना ही उसके लिए उपयोगी होगी। लेकिन मुझसे पूछिये तो मैं इसको अदूरदर्शी और कल्पनाशून्य मनोदशा मानता हूँ।

महत्-श्रद्धा का उदय

यदि हम अपने दृष्टिकोण को वही रख सकें जो स्वराज्य से पूर्व का था जो भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण है, तो अपनी परम्परा पर हमे खेद नही होगा बल्कि गौरव ही लगेगा। और हम उस निश्चित श्रद्धा के आधार पर वह मनोभाव भी पैदा कर सकेंगे जिससे जनता का पूरा मन और पूरा बल राष्ट्र-निर्माण के लिए लग सके। राज्य के बल से यह काम कभी हुआ नही है और हुआ है तो अधूरा ही हो पाया है। इसके अलावा यह भी आवश्यक होता रहा है कि रुकावटो को हम तलवार से काटकर दूर करें और इस तरह अपने ही बीच एक गृह-युद्ध की परिस्थिति उत्पन्न किये रहें। जनता मे राज्य के लिए विसर्जन भाव यदि हो सके तो कठिनाई दूर हो जाती है लेकिन यह विसर्जन-भाव तब तक नही आ सकता जब तक राज्य के स्तर पर भी विसर्जन के मूल्य की ही प्रतिष्ठा न हो। स्वराज्य से पहले एक महत्-भाव ने देश का कायापलट कर दिया था। तब मौत के साथ खेलने मे जीवन सार्थक होता जान पड़ता था। आज वह सब यदि भूली कहानी बन गयी है, तो इसलिए कि स्वराज्य के बाद समाज का और जीवन का मूल्य बदल गया है। विसर्जन और समर्पण मूल्य नहीं रह गया

है। इस सबका मानसिकता पर प्रभाव पड़ता है और प्रत्यक्ष रूप से भारतीय मानस में एक हीनता या न्यूनता का भाव घर करता जाता है। यह तथ्य कि एक दिशा ऐसी भी है, जहाँ उन्हें [illegible] का कुछ [illegible] हो सकता है, या वे दूर हो जाता है। इस तरह भारत का एक बड़ा सम्मानित वर्ग किनारे पड़ा रह जाता है और भारतीय गौरव की स्थापना में कुछ भी भाग नहीं ले पाता। यह बड़े ही खेद का विषय है कि हमारे साधु, सन्यासी, ऋषि और महात्मा जन इस विदेशी सरकारी सहायता के दौर में मानो [illegible] और [illegible] हो जाते हैं और राष्ट्र-निर्माण में अपना कोई योग नहीं कर पाते। मान लीजिये कि राम-तीर्थ और विवेकानन्द [illegible] में [illegible] अपनी बात सुनाने चलें, तो कितनी सुनी जायगी, [illegible] में तो यह बहुत [illegible] होगी नहीं। इस तरह भारत की जनता का एक बहुत बड़ा और उत्कृष्ट भाग एक तरफ बचा रह जाता है, भारत के जीवन-निर्माण में उनका अधिकृत अनुदान नहीं पहुँच पाता।

घर की पूंजी

२४३ क्या यह सम्भव नहीं था कि जितना धन और स्वर्ण भारत ने अपनी प्रथम पचवर्षीय योजना के लिए बाहर से लिया, वह घर में से ही अधिक समर्थ लोगों के पास से स्वर्ण के रूप में और निर्धनों के पास से श्रम के रूप में प्राप्त किया जा सकता? उस अवस्था में केवल तकनीकी सहायता ही हमें बाहर से लेनी पड़ती और इस घर की पूंजी के लाभ से अगली पचवर्षीय योजना को भी आगे बढ़ाया जा सकता। रूस ने ऐसा किया है। यदि रूस के इस उदाहरण को हम ग्रहण न कर सके, तो आपकी राय में इसके क्या कारण रहे? क्या अहिंसा का अदूरदर्शी और कल्पना-शून्य स्वरूप ही इस भूल के पीछे नहीं रहा?

कानूनन लेना घातक होता

—धन को या तो मन के साथ लेते, या कानून के जोर से मन के बावजूद लेते हैं। मन के साथ ले नहीं पाये और रूस की तरह राज्य के कानून से लेने का उपाय अपने वश का और विवेक का नहीं दिखाई दिया।

रूस ने क्रान्ति के बाद जो भोगा है, वह कुछ कम कटु अनुभव नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि इस अनुभव-प्राप्त शिक्षा के बाद अब यदि दूसरी क्रान्ति का अवसर आये, तो उसका प्रकार वहाँ दूसरा होगा। अक्तूबर-क्रान्ति के तत्काल बाद राज-शक्ति और राज-दण्ड के जोर से काम कराने और करने की मजबूरी में से अनेक

एक बन्धक बन सकता है। दोनों ही स्थितियाँ उचित नहीं होंगी। भारत इस समय सुविधाजनक स्थिति में है, क्योंकि वह तटस्थ है और दोनों ही पक्ष उसे अपनी ओर झुका देखना चाहते हैं। इस स्थिति की सुविधा को सुविधा मानना ठीक नहीं है क्योंकि कभी भी यह स्थिति ऐसी हो सकती है कि साथी कोई न रह जाय।

खाद्य-समस्या

२८५. भारत-सरकार ने खेती की उन्नति के लिए दो बड़े काम किये। प्रथम तो जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन और दूसरे खेती का सीमित यन्त्रीकरण। साथ ही सरकार ने बड़े-बड़े बाँध बनाये जिससे अब तक उजाड़ पड़ी धरती को सींचा जा सके और उपज को बढ़ावा दिया जा सके। बहुत-कुछ किया जाने पर भी हमारी खाद्य-समस्या अभी तक सुलझ नहीं पायी है और हमें अमरीका आदि से बड़ी मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ता है। खाद्य-समस्या की इस विकट स्थिति के आप क्या कारण मानते हैं?

अनुसन्धान का विषय

—यह अध्ययन और अनुसन्धान का विषय होना चाहिए। सचमुच विचित्र मालूम होता है कि प्रयत्न ये सब किये गये जिससे खाद्य का उत्पादन बढ़ता। लेकिन खाद्य-समस्या ही बढ़ती चली गयी तो चूक कहाँ रही, यह देखने की बात है।

स्वार्थ और संग्रह की वृत्ति

मैं मानता हूँ कि उद्योगवाद के अधीन अन्न का उत्पादन गौण पड़ गया और कृषि खाद्य की आवश्यकता से अधिक विदेशी मुद्रा के अर्जन के हेतु से जुड़ गयी। दूसरे, सरकारी मशीन पर हमने भरोसा रखा और वितरण के लिए जो वर्ग माध्यमिक था अर्थात् वैश्य-वर्ग उसकी सहानुभूति देश से कट गयी और स्वार्थ से जुड़ गयी। कृत्रिम अभाव का अनुभव हमें हुआ है और यह आज सिद्ध बात है कि बंगाल का अकाल कृत्रिम और निर्मित था। नियन्त्रण के सहारे जब हम अपना काम-काज चलाते हैं तो औसत नागरिक सरकार के प्रति दावेदार बन जाता है, समस्या में सहयोगी अपने को नहीं अनुभव करता। तब संग्रह की भूख बढ़ जाती है क्योंकि भविष्य के बारे में संशय आदमी के मन में घर कर जाता है। मैं ऐसे परिवारों को जानता हूँ जिन्होंने जीवनभर कभी एक बोरा भी गेहूँ

है, बल्कि पद-प्रतिष्ठा मूल्य बन गया है। तब जीवन मे उभार आया था, उसकी जगह ह्रास दिखाई दे और राष्ट्रीय-चेतना को कुचलती हुई दलीय चेतना सिर उठाती दिखाई दे, तो क्या विस्मय है।

योजनाएँ लोक-मानस से प्रेरित हो

सचमुच निश्चय हो जाने की आवश्यकता है कि कहाँ हमे पहुँचना है और मार्ग की दिशा क्या है। दूर दर्शन की ही मैं बात करता हूँ और मैं समझता हूँ कि उस ध्येय को सामने रखकर यदि हम निर्णय करेंगे, तो तात्कालिकताओ से विचलित होने की जरूरत नही पडेगी। भारत के स्वराज्य और भारत के भविष्य के सम्बन्ध मे गाधी की दृष्टि तात्कालिक ही नहीं थी, वह दूरदृष्टि थी। उस दूरदर्शिता को श्रद्धा के आधार पर ही थामे रखा जा सकता है। वह अदूर-दृष्टि कहलायेगी, जो भारतीय आत्मा और भारतीय परम्परा का विचार नहीं करेगी। यो भी मेरा मानना है कि अन्त प्रेरणा मे से जितना फल प्राप्त हो सकता है, बाहरी अकुश मे से वह नही प्राप्त किया जा सकता। अर्थात् राजनेता से अधिक प्रजा के प्राणो मे घुला-मिला जन-नेता जो सम्भावनाएँ लोक-जीवन में से प्रस्फुटित कर सकता है, वह अन्यथा सम्भव नहीं हैं। और इस परिपूर्ति के लिए आवश्यक और उचित मुझे यह जान पडता है कि हमारी योजनाएँ राज्याश्रित और राज्य-केन्द्रित न हो, बल्कि वे लोक-सामर्थ्य मे से जन्म लें और लोक-सामर्थ्य को जगायें।

कर्ज और उसको चुकाना

२४४ भारत ने अरबों रुपया कर्ज लिया है। क्या आप सोचते हैं कि उस रुपये का ऐसा सदुपयोग किया जा रहा है जिससे निश्चित समय पर वह रुपया ब्याज-समेत चुका ही न दिया जायगा, बल्कि देश मे ऐसी स्थिर संपत्ति भी बच रहेगी, जिसके आधार पर आगे देश का अर्थ-चक्र सुगमतापूर्वक प्रगति करता चलेगा?

—कर्ज लेना खतरनाक हुआ करता है। उसको चुकाने का ध्यान रखना और तदनुकूल हिसाब से काम करना उस मनोभाव के लिए सम्भव हुआ करता है, जिसको अपेक्षाकृत नतिक कहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति मितव्ययी होता है और पैसे के प्रति उसका सम्बन्ध दायित्वपूर्ण होता है। वर्तमान वस्तुस्थिति में खर्च करने और खर्चीली जिन्दगी बनाने का रुख दिखाई देता है। इसलिए आगे झमेला पड, तो कुछ अचरज की बात नहीं होगी। या तो ऐसा हो सकता है कि ऋण चुकाने के बारे मे हमारा आग्रह मन्द हो जाय, या नही तो हमारा देश बहुत हद

तक बाधक बन सकता है। दोनों ही स्थितियाँ उचित नहीं होंगी। भारत इस समय सुविधाजनक स्थिति में है, क्योंकि वह तटस्थ है और दोनों ही पक्ष उसे अपनी ओर झुका देखना चाहते हैं। इस स्थिति की सुविधा को सुविधा मानना ठीक नहीं है क्योंकि कभी भी यह स्थिति ऐसी हो सकती है कि साथी कोई न रह जाय।

खाद्य-समस्या

१९५. भारत-सरकार ने खेती की उन्नति के लिए दो बड़े काम किये। प्रथम तो जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन और दूसरे खेती का सीमित यन्त्रीकरण। साथ ही सरकार ने बड़े-बड़े बाँध बनाये जिनसे अब तक बेकार पड़ी धरती को सींचा जा सके और उपज को बढ़ाया दिया जा सके। बहुत-कुछ किया जाने पर भी हमारी खाद्य-समस्या अभी तक सुलझ नहीं पायी है और हमें अमरीका आदि से बड़ी मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ता है। खाद्य-समस्या की इस विकट स्थिति के आप क्या कारण मानते हैं?

अनुसन्धान का विषय

—यह अध्ययन और अनुसन्धान का विषय होना चाहिए। सचमुच विचित्र मालूम होता है कि प्रयत्न ये सब किये गये जिनसे खाद्य का उत्पादन बढ़ता। लेकिन खाद्य-समस्या ही बढ़ती चली गयी तो चूक कहाँ रही यह देखने की बात है।

स्वार्थ और संग्रह की वृत्ति

मैं मानता हूँ कि उद्योगधन्धा के अधीन अन्न का उत्पादन गौण पड़ गया और कृषि खाद्य की आवश्यकता से अधिक विदेशी मुद्रा के अर्जन के हेतु से जुड़ गयी। दूसरे, सरकारी मशीन पर हमने भरोसा रखा और वितरण के लिए जो वर्ग माध्यमिक था अर्थात् वैश्य-वर्ग उसकी सहानुभूति देश से कट गयी और स्वार्थ से जुड़ गयी। कृत्रिम अभाव का अनुभव हमें हुआ है और यह आज सिद्ध बात है कि बंगाल का अकाल कृत्रिम और निर्मित था। नियन्त्रण के सहारे जब हम अपना राज-काज चलाते हैं, तो औसत नागरिक सरकार के प्रति सावधान बन जाता है, समस्या में सहयोगी अपने को नहीं अनुभव करता। तब संग्रह की भूख बढ़ जाती है, क्योंकि भविष्य के बारे में संशय आदमी के मन में घर कर जाता है। मैं ऐसे परिवारों को जानता हूँ जिन्होंने जीवनभर कभी एक बोरा भी गेहूँ

है, वल्कि पद-प्रतिष्ठा मूल्य वन गया है। तव जीवन मे उभार आया था, उसकी जगह ह्रास दिखाई दे और राष्ट्रीय-चेतना को कुचलती हुई दलीय चेतना सिर उठाती दिखाई दे, तो क्या विस्मय है।

योजनाएँ लोक-मानस से प्रेरित हो

सचमुच निश्चय हो जाने की आवश्यकता है कि कहाँ हमे पहुँचना है और मार्ग की दिशा क्या है। दूर दर्शन की ही मैं वात करता हूँ और मैं समझता हूँ कि उस ध्येय को सामने रखकर यदि हम निर्णय करेंगे, तो तात्कालिकताओ से विचलित होने की जरूरत नही पडेगी। भारत के स्वराज्य और भारत के भविष्य के सम्वन्ध मे गाधी की दृष्टि तात्कालिक ही नही थी, वह दूरदृष्टि थी। उस दूरदर्शिता को श्रद्धा के आधार पर ही थामे रखा जा सकता है। वह अदूर-दृष्टि कहलायेगी, जो भारतीय आत्मा और भारतीय परम्परा का विचार नहीं करेगी। यो भी मेरा मानना है कि अ त प्रेरणा मे से जितना फल प्राप्त हो सकता है, वाहरी अकुश मे से वह नही प्राप्त किया जा सकता। अर्थात् राजनेता से अधिक प्रजा के प्राणो मे घुला-मिला जन-नेता जो सम्भावनाएँ लोक-जीवन में से प्रस्फुटित कर सकता है, वह अन्यथा सम्भव नही हैं। और इस परिपूर्ति के लिए आवश्यक और उचित मुझे यह जान पडता है कि हमारी योजनाएँ राज्याश्रित और राज्य-केन्द्रित न हो, वल्कि वे लोक-सामर्थ्य में से जन्म लें और लोक-सामर्थ्य को जगायें।

कर्ज और उसको चुकाना

२४४ भारत ने अरबों रुपया कर्ज लिया है। क्या आप सोचते हैं कि उस रुपये का ऐसा सदुपयोग किया जा रहा है जिससे निश्चित समय पर वह रुपया ब्याज-समेत चुका ही न दिया जायगा, बल्कि देश मे ऐसी स्थिर सपत्ति भी बच रहेगी, जिसके आधार पर आगे देश का अर्थ-चक्र सुगमतापूर्वक प्रगति करता चलेगा?

—कर्ज लेना खतरनाक हुआ करता है। उसको चुकाने का ध्यान रखना और तदनुकूल हिसाब से काम करना उस मनोभाव के लिए सम्भव हुआ करता है, जिसको अपेक्षाकृत नतिक कहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति मितव्ययी होता है और पैसे के प्रति उसका सम्वन्ध दायित्वपूर्ण होता है। वर्तमान वस्तुस्थिति मे खर्च करने और खर्चीली जिन्दगी बनाने का रुख दिखाई देता है। इसलिए आगे झमेला पड, तो कुछ अचरज की बात नहीं होगी। या तो ऐसा हो सकता है कि ऋण चुकाने के बारे मे हमारा आग्रह मन्द हो जाय, या नहीं तो हमारा देश बहुत हद

एक समझ बन सकता है। दोनों ही स्थितियाँ उचित नहीं होंगी। भारत इस समय सुविधाजनक स्थिति में है, क्योंकि वह तटस्थ है और दोनों ही पक्ष उसे अपनी ओर झुका देखना चाहते हैं। इस स्थिति की सुविधा को सुविधा मानना ठीक नहीं है क्योंकि कभी भी वह स्थिति ऐसी हो सकती है कि साथी कोई न रह जाय।

खाद्य-समस्या

२४५ भारत-सरकार ने खेती की उन्नति के लिए कई बड़े काम किये। प्रथम तो जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन और दूसरे खेती का सीमित यन्त्रीकरण। साथ ही सरकार ने बड़े-बड़े बाँध बनाये जिससे अब तक उजाड़ पड़ी धरती को सींचा जा सके और उपज को बढ़ाया दिया जा सके। बहुत-कुछ किया जाने पर भी हमारी खाद्य-समस्या अभी तक सुलझ नहीं पायी है और हमें अमरीका आदि से बड़ी मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ता है। खाद्य-समस्या की इस विकट स्थिति के आप क्या कारण मानते हैं?

अनुसन्धान का विषय

—यह अध्ययन और अनुसन्धान का विषय होना चाहिए। सचमुच विचित्र मालूम होता है कि प्रयत्न वे सब किये गये जिनसे खाद्य का उत्पादन बढ़ना। लेकिन खाद्य-समस्या ही अड़ी चली गयी तो चूक कहाँ रही यह देखने की बात है।

स्वार्थ और संग्रह की वृत्ति

मैं मानता हूँ कि उद्योगवाद के अधीन अन्न का उत्पादन गौण पड़ गया और कृषि आप भी आवश्यकता से अधिक विदेशी मुद्रा के अर्जन के हेतु से मुड़ गयी। दूसरे, सरकारी मशीन पर हमने अपेक्षा रखा और वितरण के लिए जो वर्ग व्यापारिक था अर्थात् वैश्य-वर्ग उसकी सहानुभूति देय न रह गयी और स्वार्थ में मुड़ गयी। कृत्रिम अभाव का अनुभव हमें हुआ है और यह बात सिद्ध बात है कि बंगाल का अकाल कृत्रिम और निर्मित था। नियन्त्रण के सहारे जब हम नाना काम-काज चलाते हैं तो औसत नागरिक सरकार के प्रति दावेदार बन जाता है समस्या में सहयोगी अपने को नहीं अनुभव करता। तब संग्रह की भूख बढ़ जाती है क्योंकि भविष्य के बारे में सभय आदमी के मन में डर घर जाता है। मैं ऐसे परिवारों को जानता हूँ जिन्होंने जीवनभर कभी एक बोरा भी गेहूँ

है, बल्कि पद-प्रतिष्ठा मूल्य बन गया है। तब जीवन मे उभार आया था, उसकी जगह ह्रास दिखाई दे और राष्ट्रीय-चेतना को कुचलती हुई दलीय चेतना सिर उठाती दिखाई दे, तो क्या विस्मय है।

योजनाएँ लोक-मानस से प्रेरित हो

सचमुच निश्चय हो जाने की आवश्यकता है कि कहाँ हमे पहुँचना है और मार्ग की दिशा क्या है। दूर दर्शन की ही मैं बात करता हूँ और मैं समझता हूँ कि उस ध्येय को सामने रखकर यदि हम निणय करेंगे, तो तात्कालिकताओ से विचलित होने की जरूरत नही पडेगी। भारत के स्वराज्य और भारत के भविष्य के सम्बन्ध मे गाधी की दृष्टि तात्कालिक ही नही थी, वह दूरदृष्टि थी। उस दूरदर्शिता को श्रद्धा के आधार पर ही थामे रखा जा सकता है। वह अदूर-दृष्टि कहलायेगी, जो भारतीय आत्मा और भारतीय परम्परा का विचार नहीं करेगी। यो भी मेरा मानना है कि अ त प्रेरणा मे से जितना फल प्राप्त हो सकता है, बाहरी अंकुश मे से वह नही प्राप्त किया जा सकता। अर्थात् राजनेता से अधिक प्रजा के प्राणो मे घुला-मिला जन-नेता जो सम्भावनाएँ लोक-जीवन में से प्रस्फुटित कर सकता है, वह अन्यथा सम्भव नही हैं। और इस परिपूर्ति के लिए आवश्यक और उचित मुझे यह जान पडता है कि हमारी योजनाएँ राज्याश्रित और राज्य-केन्द्रित न हो, बल्कि वे लोक-सामर्थ्य में से जन्म लें और लोक-सामर्थ्य को जगायें।

कर्ज और उसको चुकाना

२४४ भारत ने अरबो रुपया कर्ज लिया है। क्या आप सोचते हैं कि उस रुपये का ऐसा सदुपयोग किया जा रहा है जिससे निश्चित समय पर वह रुपया ब्याज-समेत चुका ही न दिया जायगा, बल्कि देश मे ऐसी स्थिर सपत्ति भी बच रहेगी, जिसके आधार पर आगे देश का अर्थ-चक्र सुगमतापूर्वक प्रगति करता चलेगा?

—कर्ज लेना खतरनाक हुआ करता है। उसको चुकाने का ध्यान रखना और तदनुकूल हिसाब से काम करना उस मनोभाव के लिए सम्भव हुआ करता है, जिसको अपेक्षाकृत नतिक कहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति मितव्ययी होता है और पैसे के प्रति उसका सम्बन्ध दायित्वपूर्ण होता है। वर्तमान वस्तुस्थिति मे खर्च करने और खर्चीली जिन्दगी बनाने का रुख दिखाई देता है। इसलिए आगे झमेला पड, तो कुछ अचरज की बात नहीं होगी। या तो ऐसा हो सकता है कि ऋण चुकाने के बारे मे हमारा आग्रह मन्द हो जाय, या नही तो हमारा देश बहुत हद

स्वास्थ्य मानसिक दशा है

—स्वास्थ्य असल में मानसिक दशा है। आजकल तो लोग शारीरिक व्याधियों के मूल में भी मानसिकता को देखने लगे हैं। इसलिए आर्थिक स्वास्थ्य का आशय यही हो सकता है कि क्या इस प्रकार की पैसे की बढ़वारी से आदमी का सुख सन्तोष भी बढ़ा है? पैसा लेने-देने का माध्यम है और इसलिए पैसे के अभाव में आदमी घुटा-घुटा अनुभव करता है। पैसे की सुविधा से वह खुल जाता और खुशहाल दीखता है। अर्थात् पैसा होने से दूसरों के साथ उसके सम्बन्धों की प्रणालियाँ हरी-भरी हो उठती हैं और वह अपने को बढ़ा हुआ अनुभव करता है। किन्तु यदि पैसा उन सम्बन्ध-सूत्रों में तनाव और अविश्वास डाल जाये तो वही सुख के बजाय दुःख और संकट का कारण बन जायगा।

स्पर्धा और विग्रह

औद्योगिक विकास की प्रणालियाँ कुछ ऐसी बन गयी हैं कि उनसे विषमता अनिवार्यतया बढ़ती है। परस्पर हितों में स्पर्धा विरोध और विग्रह बढ़ जाता है। वर्ग खड़े होते हैं और उनकी मुख्य चिन्ता स्वरक्षा की हो जाती है। वर्ग रचना में वे मिस्टी के मानिन्द स्थापित स्वार्थों की पुष्टि करते हैं। एक ओर होनेवाली यह पैसे की एकतान मजबूत महँगाई ले आती है इसमें सामाजिक स्वास्थ्य का संवर्धन कैसे हो सकता है? हिंसा जो रोकती है, उसे प्यार की हिंसा मानना चाहिए, उसके पीछे सहानुभूति की स्फूर्ति नहीं होती है। वह वस्तु नहीं होती जिससे समाज में सामंजस्य और सुगठन आता है। बल्कि उस सम्पत्ति के मूल में स्वार्थ की प्रेरणा काम कर रही होती है जिससे समाज के स्वास्थ्य का ह्रास होता और अपराध की वृत्ति बढ़ती है।

आवश्यक है कि स्वास्थ्य को हम व्यापक सामाजिक अर्थ में समझें और उसको वस्तु-निर्भर न मानें। आँकड़े इस जगह धोखा दे सकते हैं। वे औसत आय और औसत जीवन-मान को बढ़ता दिखा सकते हैं, उत्पन्न धन और विविध माल-सामान की राशि गुणानुगुणित हुई बता सकते हैं। फिर भी सम्भव हो सकता है कि अपराधों की संख्या बढ़ रही हो और विक्षिप्तता और आत्म हत्या की घटनाएँ भी बढ़ती पर हों। अतः स्पष्ट होना चाहिए कि स्वास्थ्य परिमाण और राशि पर निर्भर नहीं है। उसका सम्बन्ध सामाजिकता और परस्परता की स्निग्धता और स्वच्छता से है।

आय और सिक्के की क्रय-क्षमता

१२०. आर्थिक स्वास्थ्य से मेरा मतलब था औसत आय और आय के बढ़ते रहने

नहीं खरीदा था, अर्थात् एक बार में अधिक-से-अधिक एक मन गेहूँ खरीदते थे, लेकिन उस जमाने में तीन बोरे खरीदकर उन्होंने ऐसे दान किया था कि उसे छूने तक न थे। अर्थात् सार्वजनिक संकट के प्रति औसत नागरिक का भाव उसको बँटाने और उसमें शामिल होने का नहीं होता, बल्कि उससे बचने और लाभ उठाने का हो जाता है। इस प्रकार राजा और उसकी नौकरशाही तथा प्रजा और उसकी जनता में विरोध पैदा हो जाता है।

भावना की कमी

खेती में चकबन्दी होनी नहीं चाहिए, या यन्त्रों का उपयोग नहीं होना चाहिए, या बड़े-बड़े बाँधों की योजनाओं को स्थगित रखना चाहिए, ऐसी बात नहीं है। मैं समझता हूँ, सबका अपनी-अपनी जगह स्थान है और जमीन का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाना आज के दिन उत्पादन-वृद्धि के लिए बाधक ही बनता है। लेकिन जमीन का इकट्ठा होना, प्राथमिक यन्त्रों का उपयोग होना, बाँधों की सहायता से सिंचाई की सुविधा होना, यह सब हितकर हो सकते हैं, इस शर्त के साथ कि उसकी जानकारी और उपयोग की भावना नीचे से आये। जिनके उपकार के लिए यह सब होता है, वे स्वयं अनुभव करें कि वे अपनी सहायता में यह सब कर रहे हैं। योजनाओं का जन्म जनता में से हो, औसत आदमी को ऐसा न मालूम हो कि कोई बड़ी जबरदस्त उपकारी संस्था उनके लिए सब कर रही है, इसलिए अब हम लोगों के लिए उसके प्रति दावेदार बनना और अधिक-से-अधिक लाभ उठाने में लगना ही शेष रह जाता है। कारण, वह मनोभाव होने पर फिर वितरण की समस्या ऐसी विकट बन जाती है कि उसके लिए सरकारी कर्मचारियों की फौज रखनी पड़ती है। अन्त में परिणाम यह आता है कि लोक-कल्याण के कार्य के लिए निकाले गये रुपये में से मुश्किल से तीन-चार आने कल्याण के कार्य के लिए शेष रहते हैं, बाकी बारह-तेरह आने व्यवस्था में ही खर्च हो जाते हैं। ऊपर जो पहेली की-सी स्थिति आपने बतायी, उसका कारण मैं यही राजा और प्रजा के बीच का बढ़ता हुआ अन्तर मानता हूँ।

आय बढ़ी, महँगाई बढ़ी

२४६ औद्योगिक और वैज्ञानिक विकास का जो क्रम चल रहा है, उससे औसत भारतीय के पास पैसा तो बढ़ा है, पर महँगाई भी उसी अनुपात से बढ़ती चली गयी है। इस स्थिति को नागरिक के आर्थिक स्वास्थ्य के लिए कितनी दूर तक शुभ माना जाय?

बुद्धि के अनुपातहीन और विषम मूल्यों में सही सन्तुलन लाने का काम उस विचार या उस क्रान्ति ने नहीं किया। मैं मानता हूँ कि सही सन्तुलन लाने का काम पैसे के ज़रिये नहीं बन सकता। मूल्यता किसी तरह सीधे श्रम में पैदा की जा सकती हो तो शायद उपाय हो। अर्थात् सत्ता पैसे के पास से हटकर श्रम के पास आ जाय और श्रम अपनी जगह स्वस्थ और स्वावलम्बी बनकर पैसे को अपनी टर्म्स दे सके या नहीं तो अपनी इच्छानुसार पैसे को खरीद सके। अभी तो श्रम बिकता और पैसा खरीदता है। तब पैसा बिके और श्रम खरीदार बन जाय। यह उस अवस्था में हो सकेगा जब श्रमिक बुद्धिशाली हो और अर्थशास्त्र के गणित को अपने हाथ में ले सके। ऐसा होगा तब उद्योगवाद का रूप बदला हुआ दिखाई देगा और समाज का रूप भी बदल जायगा। तब राजनीतिक समस्याएँ भी नया आकार प्रकार लेंगी और शायद राजनीतिक एवं संघर्षात्मक से अधिक गुणात्मक और तात्त्विक हो चलेंगी।
लेकिन शायद मैं प्रश्न से दूर निकल गया।

राजनीतिक यथार्थता से न बँधिए

२४८. ऊपर आपने जिस स्थिति का वर्णन किया है वह क्या आज के विश्व के किसी भी देश में उपलब्ध है? क्या ऐसी स्थिति विश्व में वर्तमान रही है अथवा आगे कभी रहेगी?

—नहीं आज किसी देश में यह स्थिति उपलब्ध नहीं है। कारण देश स्वयं एक राजनीतिक धारणा है। यह स्थिति जब और जहाँ होगी तो वहाँ देश की धारणा सीमित नहीं रह पायेगी। लेकिन यह स्थिति कल्पनातीत नहीं है। ईसामसीह उठे इस्लाम उठा तब देशों विदेशों का क्या हुआ था? क्या उस समय ऐसा नहीं मालूम हो आया था कि देश-विदेश अयथार्थताएँ हैं, सत्यता वह है जो भावनात्मक और धार्मिक है? हम मान लिया करते हैं कि राजनीति में वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है, शेष इधर-उधर सब अवास्तविकता और भावुकता है। लेकिन ध्यान रहे कि अन्दर से उठती हुई चेतना की परिणति परिस्थिति में विप्लव उत्पन्न कर सकती है। राजनीति देश को पहचानती है, व्यक्ति को वह जानना चाहती ही नहीं। नये विज्ञान ने अणु की सत्यता को परम सत्य के रूप में प्रकट कर दिया है। इसी तरह व्यक्ति घटक में से वह तेज और तपस्या का बल प्रस्फुटित हो सकता है, जो राजनीतिक परिस्थितियों में क्रान्ति जितना परिवर्तन ले आये। इसलिए राजनीतिक यथार्थताओं में ही दृष्टि को बाँध रखने की आवश्यकता नहीं है। ईसामसीह और इस्लाम के प्राथमिक उन्मेष के समय की घटनाओं से

की क्रय-क्षमता। स्वतन्त्रता के बाद हमारी औसत आय तो बढ़ी है, पर रुपये की क्रय-क्षमता घटी है। इस विकटता के लिए आप किसको जिम्मेवार ठहराते हैं?

श्रम सिक्के को टर्म्स दे

—साधारणतया श्रम और वस्तु का सम्बन्ध स्थिर रहता है, पैसे का मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। एक सेर अन्न पाने के लिए आज जितना पैसा देना पड़ता है और दस वर्ष पहले जो पैसा दिया जाता था, उसके अनुपात में ही पैसे के सूचक मूल्य (इण्डेक्स वेल्यू) का निर्णय होता है। यानी जितना अधिक सिक्का चलन मे आता है, उतना ही पैसा सस्ता होता और चीज महँगी होती है। उद्योगवाद को बढ़ाने के लिए अक्सर इस मुद्रास्फीति का अवलम्बन लिया जाता है। इससे क्रय-विक्रय, व्यापार-व्यवसाय मे वेग आ जाता है और जीवन जाग्रत और त्वरित जान पड़ता है। लेकिन इस तरह श्रम मूल्य मे घट जाता है और चातुर्य बेहिसाब बढ़-चढ़ जाता है। मैं मानता हूँ कि मूल मे बुद्धि का मद और प्रमाद था कि जिसमें से मुद्रास्फीति, डेफीसिट बजट, आदि की कल्पना निकली और उद्योग-वाद को बढ़ाने के लिए मानो चाबुकमार-नीति की सृष्टि हुई। इसमे मानो मानव-व्यक्तित्व का सन्तुलन बिगड़ गया। श्रम का सम्बन्ध शरीर से है, चतुराई का बुद्धि से। अर्थात् श्रमिक और बौद्धिक इस तरह के दो वर्ग ही समाज में बन गये। जोड़-तोड़ की सूझ देनेवाली बुद्धि का स्वामी अत्यधिक सुविधा में हो गया और उसने शहर बसाया। श्रम से लगकर रहनेवाला आदमी ईमानदार, धार्मिक और नैतिक मान्यताओ से चिपटा-सिमटा पिछड़े हुए देहात मे बना रहा और शोषित होता रहा। इस असन्तुलन में से वह विचार निकला, जिसे साम्य-वादी विचार कहा जाता है। लेकिन वैज्ञानिक और आर्थिक बनने की धुन में इसने असामजस्य के मूल को नहीं पकड़ा, बल्कि व्यवस्था और तन्त्र को बदलने और स्वत्व-स्वामित्व को राज्यतन्त्राधीन करने के उपाय से सन्तोष मान लिया। मूल व्याधि थी यह कि सिक्का श्रम से स्वतन्त्र होकर स्वय में मूल्य बन गया था और इस तरह मनुष्य असहाय और राज्य सर्व-सहाय बनने की ओर जा रहा था। साम्यवादी क्रान्ति ने अपनी ध्वजा पर श्रम के प्रतीकरूप हँसिये-हथौड़े को रखा अवश्य, लेकिन धुर मूल तक उस विश्वास के अनुवाद-अनुकरण का आग्रह नहीं रखा। परिणाम इसलिए यह नही आया कि सिक्के की या पूँजी की ताकत कम हुई हो, बल्कि राज्यगत होने से वह ताकत कहीं बढ़-चढ़ गयी। राज्य-कर्मी के लिए साथ-साथ श्रमी बनना बिलकुल आवश्यक नहीं रह गया। बल्कि श्रमहीन रहने की शर्त पर उसको सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती गयीं। शरीर और

बुद्धि के अनुपातहीन और विषम मूल्यों में सही सन्तुलन लाने का काम उस विचार या उस क्रान्ति ने नहीं किया। मैं समझता हूँ कि सही सन्तुलन लाने का काम पैसे के जरिये नहीं बन सकता। मूल्यों का किसी तरह सीधे श्रम में पैदा हो सकती हो तो शायद उपाय हो। अर्थात् सत्ता पैसे के पास से हटकर श्रम के पास आ जाय और श्रम अपनी जगह स्वस्थ और स्वावलम्बी बनकर पैसे को अपनी टर्म्स दे सके या नहीं तो अपनी इच्छानुसार पैसे को खरीद सके। अभी तो श्रम बिकता और पैसा खरीदता है। तब पैसा बिके और श्रम खरीदार बन जाए। यह उस अवस्था में हो सकेगा जब श्रमिक बुद्धिशाली हो और अर्थशास्त्र के गणित को अपने हाथ में ले सके। ऐसा होगा तब उद्योगवाद का रूप बदला हुआ दिखाई देगा और समाज का रूप भी बदल जायगा। तब राजनीतिक समस्याएँ भी नया आकार प्रकार लेंगी और शायद राजनीतिक एवं संगठनात्मक से अधिक गुणात्मक और सांस्कृतिक हो चलेंगी।

लेकिन शायद मैं प्रश्न से दूर निकल गया।

राजनीतिक यथार्थता से न बँधिए

१४८. ऊपर आपने जिस स्थिति का वर्णन किया है, वह क्या आज के विश्व के किसी भी देश में उपलब्ध है? क्या ऐसी स्थिति विश्व में वर्तमान रही है अथवा आगे कभी रहेगी?

—नहीं आज किसी देश में वह स्थिति उपलब्ध नहीं है। कारण देश स्वयं एक राजनीतिक धारणा है। वह स्थिति जब और जहाँ होगी तो वहाँ देश की धारणा सीमित नहीं रह पायेगी। लेकिन वह स्थिति कल्पनातीत नहीं है। ईसाइयत उठी इस्लाम उठा तब देशों-विदेशों का क्या हुआ था? क्या उस समय ऐसा नहीं मालूम हो आया था कि देश-विदेश अयथार्थताएँ हैं, सत्यता वह है जो भावनात्मक और धार्मिक है? हम मान लिया करते हैं कि राजनीति में वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है, शेष इधर-उधर सब अवास्तविकता और भावुकता है। लेकिन ध्यान रहे कि जड़ से उठती हुई चेतना की परिणति परिस्थिति में विप्लव उत्पन्न कर सकती है। राजनीति देश को पहचानती है, व्यक्ति को वह जानना चाहती ही नहीं। नये विज्ञान ने अणु की सत्यता को परम सत्य के रूप में प्रकट कर दिया है। इसी तरह व्यक्ति घटक में से वह तेज और तपस्या का बल प्रस्फुटित हो सकता है, जो राजनीतिक परिस्थितियों में क्रान्ति जितना परिवर्तन ले आये। इसलिए राजनीतिक यथार्थताओं में ही दृष्टि को बाँध रखने की आवश्यकता नहीं है। ईसाइयत और इस्लाम के प्राथमिक उन्मेष के समय की घटनाओं से

की क्रय-क्षमता। स्वतन्त्रता के बाद हमारी औसत आय तो बढ़ी है, पर रुपये की क्रय-क्षमता घटी है। इस विकटता के लिए आप किसको जिम्मेदार ठहराते हैं?

श्रम सिक्के को टर्म्स दे

—साधारणतया श्रम और वस्तु का सम्बन्ध स्थिर रहता है, पैसे का मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। एक सेर अन्न पाने के लिए आज जितना पैसा देना पडता है और दस वर्ष पहले जो पैसा दिया जाता था, उसके अनुपात से ही पैसे के सूचक मूल्य (इण्डेक्स वेल्यू) का निर्णय होता है। यानी जितना अधिक सिक्का चलन मे आता है, उतना ही पैसा सस्ता होता और चीज महँगी होती है। उद्योगवाद को बढ़ाने के लिए अक्सर इस मुद्रास्फीति का अवलम्बन लिया जाता है। इससे क्रय-विक्रय, व्यापार-व्यवसाय मे वेग आ जाता है और जीवन जाग्रत और त्वरित जान पडता है। लेकिन इस तरह श्रम मूल्य में घट जाता है और चातुर्य बेहिसाब बढ़-चढ जाता है। मैं मानता हूँ कि मूल मे बुद्धि का मद और प्रमाद था कि जिसमे से मुद्रास्फीति, डेफीसिट बजट, आदि की कल्पना निकली और उद्योगवाद को बढ़ाने के लिए मानो चाबुकमार-नीति की सृष्टि हुई। इसमें मानो मानव-व्यक्तित्व का सन्तुलन बिगड गया। श्रम का सम्बन्ध शरीर से है, चतुराई का बुद्धि से। अर्थात् श्रमिक और बौद्धिक इस तरह के दो वर्ग ही समाज में बन गये। जोड-तोड की सूझ देनेवाली बुद्धि का स्वामी अत्यधिक सुविधा में हो गया और उसने शहर बसाया। श्रम से लगकर रहनेवाला आदमी ईमानदार, धार्मिक और नैतिक मान्यताओं से चिपटा-सिमटा पिछडे हुए देहात में बना रहा और शोषित होता रहा। इस असन्तुलन में से वह विचार निकला, जिसे साम्यवादी विचार कहा जाता है। लेकिन वैज्ञानिक और आर्थिक बननें की धुन में इसने असामजस्य के मूल को नहीं पकडा, बल्कि व्यवस्था और तन्त्र को बदलने और स्वत्व-स्वामित्व को राज्यतन्त्राधीन करने के उपाय से सन्तोष मान लिया। मूल व्याधि थी यह कि सिक्का श्रम से स्वतन्त्र होकर स्वय मे मूल्य बन गया था और इस तरह मनुष्य असहाय और राज्य सर्व-सहाय बनने की ओर जा रहा था। साम्यवादी क्रान्ति ने अपनी ध्वजा पर श्रम के प्रतीकरूप हँसिये-हथौडे को रखा अवश्य, लेकिन धुर मूल तक उस विश्वास के अनुवाद-अनुकरण का आग्रह नहीं रखा। परिणाम इसलिए यह नहीं आया कि सिक्के की या पूँजी की ताकत कम हुई हो, बल्कि राज्यगत होने से वह ताकत कही बढ़-चढ़ गयी। राज्य-कर्मी के लिए साथ-साथ श्रमी बनना बिलकुल आवश्यक नहीं रह गया। बल्कि श्रमहीन रहने की शर्त पर उसको सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती गयी। शरीर और

वृद्धि के अनुपातहीन और विषम मूल्यों में सही सन्तुलन लाने का काम सब विचार या उस व्यक्ति ने नहीं किया। मैं मानता हूँ कि सही सन्तुलन लाने का काम पैसे के जरिये नहीं बन सकता। मूल्यता किसी तरह सीधे श्रम में पैदा की जा सकती हो, तो शायद उपाय हो। अर्थात् सत्ता पैसे के पास से हटकर श्रम के पास आ जाय और श्रम अपनी जगह स्वस्थ और स्वावलम्बी बनकर पैसे को अपनी शर्तें दे सके या नहीं तो अपनी इच्छानुसार पैसे को खरीद सके। अभी तो श्रम बिकता और पैसा खरीदता है। तब पैसा बिके और श्रम खरीदार बन जाय। वह उस अवस्था में ही सकेगा जब श्रमिक बुद्धिशाली हो और अर्थशास्त्र के गणित को अपने हाथ में ले सके। ऐसा होगा तब उद्योगव्यापार का रूप बदला हुआ दिखाई देगा और समाज का रूप भी बदल जायगा। तब राजनीतिक समस्याएँ भी नया आकार प्रकार लेंगी और शायद राजनीतिक एवं संघटनात्मक से अधिक गुणात्मक और सांस्कृतिक हो चलेंगी।
लेकिन शायद मैं प्रश्न से दूर निकल गया।

राजनीतिक यथार्थता से न बँधिए

२४८. ऊपर आपने जिस स्थिति का वर्णन किया है, वह क्या आज के विश्व के किसी भी देश में उपलब्ध है? क्या ऐसी स्थिति विश्व में वर्तमान रही है अथवा आगे कभी रहेगी?
—नहीं आज किसी देश में वह स्थिति उपलब्ध नहीं है। कारण देश स्वयं एक राजनीतिक धारणा है। वह स्थिति जब और जहाँ होगी, तो वहाँ देश की धारणा सीमित नहीं रह पायेगी। लेकिन वह स्थिति कल्पनातीत नहीं है। ईसाइयत उठी इसलाम उठा तब देशों-विदेशों का क्या हुआ था? क्या उस समय ऐसा नहीं मालूम हो जाता था कि देश-विदेश अयथार्थताएँ हैं, सत्यता वह है जो भावनात्मक और धार्मिक है? हम मान लिया करते हैं कि राजनीति में वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है, शेष इधर-उधर सब अवास्तविकता और भावुकता है। लेकिन ध्यान रहे कि अन्दर से उठती हुई चेतना की परिणति परिस्थिति में विप्लव उत्पन्न कर सकती है। राजनीति देश को पहचानती है, व्यक्ति को वह जानना चाहती ही नहीं। नये विज्ञान ने अणु की सत्ता को परम सत्य के रूप में प्रकट कर दिया है। इसी तरह व्यक्ति घटक में से वह तेज और तपस्या का बल प्रस्फुटित हो सकता है, जो राजनीतिक परिस्थितियों में क्रान्ति जितना परिवर्तन ले आये। इसलिए राजनीतिक यथार्थताओं में ही दृष्टि को बाँध रखने की आवश्यकता नहीं है। ईसाइयत और इसलाम के प्राथमिक उन्मेष के समय की घटनाओं से

की क्रय-क्षमता। स्वतन्त्रता के बाद हमारी औसत आय तो बढ़ी है, पर रुपये की क्रय-क्षमता घटी है। इस विकटता के लिए आप किसको जिम्मेवार ठहराते हैं?

श्रम सिक्के को टर्म्स दे

—साधारणतया श्रम और वस्तु का सम्बन्ध स्थिर रहता है, पैसे का मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। एक सेर अन्न पाने के लिए आज जितना पैसा देना पड़ता है और दस वर्ष पहले जो पैसा दिया जाता था, उसके अनुपात से ही पैसे के सूचक मूल्य (इण्डेक्स वेल्यू) का निर्णय होता है। यानी जितना अधिक सिक्का चलन मे आता है, उतना ही पैसा सस्ता होता और चीज महँगी होती है। उद्योगवाद को बढाने के लिए अक्सर इस मुद्रास्फीति का अवलम्बन लिया जाता है। इससे क्रय-विक्रय, व्यापार-व्यवसाय मे वेग आ जाता है और जीवन जाग्रत और त्वरित जान पड़ता है। लेकिन इस तरह श्रम मूल्य मे घट जाता है और चातुर्य बेहिसाब बढ़-चढ जाता है। मैं मानता हूँ कि मूल में बुद्धि का मद और प्रमाद था कि जिसमे से मुद्रास्फीति, डेफीसिट बजट, आदि की कल्पना निकली और उद्योग-वाद को बढ़ाने के लिए मानो चाबुकमार-नीति की सृष्टि हुई। इसमें मानो मानव-व्यक्तित्व का सन्तुलन बिगड़ गया। श्रम का सम्बन्ध शरीर से है, चतुराई का बुद्धि से। अर्थात् श्रमिक और बौद्धिक इस तरह के दो वर्ग ही समाज में बन गये। जोड-तोड की सूझ देनेवाली बुद्धि का स्वामी अत्यधिक सुविधा में हो गया और उसने शहर बसाया। श्रम से लगकर रहनेवाला आदमी ईमानदार, धार्मिक और नैतिक मान्यताओं से चिपटा-सिमटा पिछड़े हुए देहात में बना रहा और शोषित होता रहा। इस असन्तुलन मे से वह विचार निकला, जिसे साम्य-वादी विचार कहा जाता है। लेकिन वैज्ञानिक और आर्थिक बननें की धुन में इसने असामजस्य के मूल को नही पकडा, बल्कि व्यवस्था और तन्त्र को बदलने और स्वत्व-स्वामित्व को राज्यतन्त्राधीन करने के उपाय से सन्तोष मान लिया। मूल व्याधि थी यह कि सिक्का श्रम से स्वतन्त्र होकर स्वय मे मूल्य बन गया था और इस तरह मनुष्य असहाय और राज्य सर्व-सहाय बनने की ओर जा रहा था। साम्यवादी क्रान्ति ने अपनी ध्वजा पर श्रम के प्रतीकरूप हँसिये-हथौड़े को रखा अवश्य, लेकिन धुर मूल तक उस विश्वास के अनुवाद-अनुकरण का आग्रह नहीं रखा। परिणाम इसलिए यह नहीं आया कि सिक्के की या पूँजी की ताकत कम हुई हो, बल्कि राज्यगत होने से वह ताकत कहीं बढ़-चढ़ गयी। राज्य-कर्मी के लिए साथ-साथ श्रमी बनना बिलकुल आवश्यक नही रह गया। बल्कि श्रमहीन रहने की शर्त पर उसको सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती गयीं। शरीर और

दोनों का संयुक्त उपयोग हो

सम्पदा को देखने की दृष्टि अपने से दूर और बाहर जायगी। अपने में देखने को मानो विपदा और व्यर्थता मानेगी तो उसमें से प्राप्त हुई उन्नति मायामय होगी और उसमें स्थायित्व न होगा, न मनुष्य की सार्थकता हो सकेगी। प्राकृतिक और खनिज का यह आविष्कार और उपयोग शुभ और सफल होगा जो मनुष्य का ध्यान रखकर किया जायगा और उसकी पारस्परिकता को विच्छिन्न और विभक्त करनेवाला नहीं बल्कि संयुक्त और सघन करनेवाला होगा। आज जिस प्रणाली से हम बाह्य सम्पदा के पीछे पड़े हुए हैं उसमें प्रमाद के लक्षण देखे जा सकते हैं। उसमें तर्कवादी की प्रेरणा है, उससे उत्कृष्ट और उन्नत कोई धारणा नहीं है। समष्टिभाव और हितभाव से उच्छिन्न यह स्वार्थ लिप्सा की प्रेरणा अधिक काल तक स्थापनीय नहीं मानी जायगी। उसकी प्रशंसा की भावना में देखना बहुत जल्द असम्भव हो जायगा। आज भी सर्वोच्च राजनीतिक नेता-विजेता लोग मानवता के मन को उस तरह नहीं रम और बींध पाते हैं। जल्दी वह समय आ जाना चाहिए, जब कोरमकोर अहंवादी महत्वाकांक्षाओं में ऊपर उठकर चलनेवाला आदमी सहानुभूति और चिकित्सा का पात्र दीख जाता है, सराहना आदि कोई और भाव वह हमारे मन में पैदा नहीं करता।

निजी और सरकारी उद्योग

२५ मौलिक प्रश्न तो यह है कि आप औद्योगीकरण की निजी पद्धति को राष्ट्र और मानव के लिए श्रेयस्कर मानते हैं या सरकारी पद्धति को? निजी पद्धति में शक्ति और संगठन कम होता है। सरकारी पद्धति में पेच इतना अधिक हो जाता है कि व्यक्ति शून्य बन रहता है। क्या वैज्ञानिक औद्योगीकरण की कोई मध्यममार्गी नीति आपकी दृष्टि में है?

सरकार वणिक न बने

—सरकार उत्तरोत्तर निर्लाभ होती जाय तो सही दिशा में उसका विकास हो रहा है ऐसा मैं मान लूंगा। उद्योग-व्यवसाय सरकार को नहीं करना चाहिए। सरकार को वणिक नहीं बनना चाहिए। वणिक वह जो आर्थिक लाभ की प्रेरणा से काम करता है। सरकार की प्रेरणा भी आर्थिक लाभ हो तो इसमें बहुत अनर्थ होगा। समाज में वे लोग अवश्य हैं जिनकी वृत्ति अर्थी और स्वार्थी है, लेकिन ऐसे लोग भी हर स्वस्थ समाज में अवश्य होते हैं जिनकी वृत्ति अर्थमूलक न होकर भावमूलक और नीतिमूलक है। जब व्यापार-व्यवसाय की

वडी उल्लेखनीय घटनाएँ शायद इतिहास मे हैं ही नहीं। उनके मूल मे कोई राजनीतिक यथार्थता ढूंढे भी नही मिलेगी। वहाँ चिन्मय स्फुलिंग था, जिसकी दीप्ति मे मे सदियो का इतिहास उखडता और वनता चला गया। इसलिए मेरी सलाह है कि आप परिस्थितियो की ओर से सत्य को न देखें, वल्कि अन्तर्भूत सत्य का विचार करें। उस सत्य की श्रद्धा मे से अपरिमेय वल निकल आ सकता है।

प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग हो

२४९ इस वारे में अव दो मत नहीं रहे हैं कि भारत की अगाध प्राकृतिक एव खनिज-सम्पदा का पूरा लाभ उठाने के लिए भारत का औद्योगीकरण किया जाय। अस्तित्व-रक्षा को दृष्टि से भी यह अनिवार्य वन गया है। तव उद्योगो के निजी स्तर पर विकास को आप श्रेष्ठ मानते हैं या सरकारी स्तर पर?

मानव-सम्पदा की वेकदरी क्यो हो?

—प्राकृतिक और खनिज-सम्पदा तो कुछ दूर और भीतर भी हो सकती है, लेकिन जो एकदम प्रत्यक्ष और प्रस्तुत है, उस अतुलित मानव-सम्पदा का क्या आप विचार नही करना चाहते? यन्त्र-विचार और उद्यम-विचार जो इस मानव-विचार से किनारा ले रहता है, तो क्या आप यह चाहेंगे कि मानव-सम्पदा की वेकदरी हो, क्योकि धरती में गडे हुए कोष की ही हमे कद्र करनी है? यह अन्धा और औंधा विचार होगा, जो मानव को मिट्टी और धातु को ही सोना समझना चाहता है। हमने वहुत शक्ति पैदा की है, इतनी कि एक वम लाखो लाख को भस्म कर दे। यह शक्ति अनिवार्य पाती है कि एक-दूसरे को काटने में ही अपने को खर्च करें। जवरदस्त हथियार वन रहे हैं—इधर पश्चिम की छावनी मे, उधर पूरव की छावनी मे। इतना ज्ञान-विज्ञान, श्रम-धन उस पर लग रहा है कि आँकडे मिलें, तो हम अचरज मे वौखलाये रह जायें। उनका सिवा इसके क्या उपयोग हो सकता है कि वे एक-दूसरे को काटें और व्यर्थ करें। मैं कहता हूँ कि यह इसलिए हो रहा है कि मानव की जो मूल सम्पदा मानवता है, उसकी तरफ से ध्यान ओझल हो गया है और जाने फिर दूसरी किन-किन सम्पदाओ के फेर मे पड गया है। भारत मे इस मानव और मानवता के विचार को आत्म-ज्ञान, व्रह्मज्ञान कहा गया है। इसमें सचमुच झूठ नहीं है कि आत्मज्ञान के विना वस्तु-विज्ञान हमे चक्कर और टक्कर के सिवा और कहीं नहीं ले जा सकता है।

कारण राष्ट्रीय स्वार्थ तब हमारी विश्व-व्यवस्था की बुनियाद में होंगे और अन्त-राष्ट्रीय व्यापार अलग-अलग सिक्कों और मुद्राओं के चलन से पैदा और फूटा हुआ रहेगा मुक्त और मानवीय नहीं बन सकेगा। विज्ञान की उन्नति के साथ समय आया है कि आवागमन यातायात और लेन-देन आपस में अधिक खुला और भरपूर हो। राष्ट्र-राज्यों के हाथ में यह काम रहा तो शस्त्रास्त्र-निर्माण से छुट्टी कभी नहीं हो पायेगी और एक युद्धोद्योग ही सब तरह के उद्योगों से मिलकर बड़ा बड़ा ही नहीं रहेगा बल्कि उन पर सवार भी रहेगा। आवश्यकता है कि राजकीय अर्थ प्रणाली (पोलिटिकल इकोनामी) की जगह अब एक मानवीय अर्थ-प्रणाली (ह्यूमन इकोनामी) का आरम्भ हो। राजकीय समाजवाद का सहारा लेकर मानो हम इस सम्भावना के मुँह को ही रोक देते हैं और इस तरह मनुष्य-जाति के परस्पर निकट आकर एक होने की अनिवार्यता को आरम्भ में ही नष्ट कर डालते हैं। राजकीय अर्थवाद पूँजीवाद को समाप्त नहीं करता बल्कि केन्द्रीय पूँजी से होनेवाले रोग को स्थायी बनाने का उपाय करता है। कारण उस प्रकार पूँजी समाज के चित्-केन्द्र में अर्थात् राज्य के अन्तःकरण में पहुँच जाती है और युद्ध उत्पात को जन्म मिलता है। तब सत्ता ही वह मानव-विभूति बनती है, जिसके बिना सबके लिए सब कुछ फीका हो जाता है। आज कुछ दुनिया की यही हालत बनी हुई है। इसीसे कहना पड़ता है कि वह सभ्यता रोग के अन्तिम चरण पर आ पहुँची है। मानवता इसका बोझ अधिक काल तक नहीं उठा सकेगी। उसको अब नया जन्म लेना होगा और इस जर्जर आडम्बर को उतार फेंकना होगा।

पूँजी और सत्ता

२५१ पूँजी पर बैठे आदमी में आप विश्वास प्रकट करते हैं, पर सत्ता पर बैठे आदमी को आप शंका और भय की दृष्टि से देखते हैं। हैं तो दोनों जगह आदमी ही, यदि आपके अनुसार पूँजीपति समाज का विरोधी नहीं बन सकता, तो सत्ताधीश ही कैसे मानव-द्रोही बन सकता है? दूसरे, निजी उद्योगों की वकालत करने पर वस्तुस्थिति से पलायन का इल्जाम आप पर लगाया जा सकता है। क्या मेरी इस शंका के प्रकाश में आप अपने उपर्युक्त मन्तव्य को अधिक स्पष्ट करेंगे?

एक ही हाथ में तराजू और डंडा

—पूँजी में बहुर तब पैदा होता है, जब उसमें सत्ता का रस मिलने लगता है। अर्थात् व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध से सत्ता और अधिकार-लिप्सा जागती है, तब मानो अमनुष्यता मनुष्यता के ऊपर आ जाती है। जैसा पहले अर्थवाद

वृत्ति राज्य मे पहुँच जाती है, तो ब्राह्म और क्षात्र-वृत्ति रखनेवालो से वैश्य को प्रधानता या उच्चता मिल जाती है। ऐसे समाज-मूल्य उलट जाते हैं और मानव-गुणो की अवगणना होने लगती है।

काम-काज सव आदमी द्वारा होना चाहिए। अर्थात् अर्थलाभ की प्रेरणा को निजीय से उठाकर सार्वजनिक स्तर पर कभी भी नही लाना चाहिए। शासन को उत्तरोत्तर स्वच्छ शासन और अनुशासन वनना है। अर्थलाभ को शासन-तन्त्र की प्रेरणा वनने देने से फल उलटा होगा। अर्थात् नैतिकता का ह्रास होगा और कोरी कार्मिकता का मूल्य वढेगा।

शासन वह अच्छा, जिसे शासन करना न पडे। अर्थात् शासन का उत्कर्ष कार्मिक से उत्तरोत्तर नैतिक वनने की दिशा मे है।

वे सव काम, जो निजी प्रेरणा से आपसीपन के सगठन द्वारा हो सकें, उन्हे सरकार को अपने हाथ मे नही लेना चाहिए। जो और किसी तरह सम्भव न हो सकते हो, उन्ही कामो को सरकार को अपने हाथ मे लेने का हक है।

समाज-मूल्य अर्थ नहीं, नीति हो

निजी उद्योगों से पूंजीवादी प्रवृत्ति वढ़ेगी, उस प्रकार के मनोभाव और जनवग पैदा होगे, यह आपत्ति की जा सकती है। पर समाज-मूल्य ही यदि अर्थ न रह जाय, मूल्य मानवीय और नैतिक हो, तो इस प्रकार कितना भी पैसा कमाने पर भी वणिक् व्यक्ति समाज के शीर्ष पर पहुँचा नही दिखाई देगा, अर्थात् पूंजीवाद का विष और सकट तनिक भी समाज मे घर नहीं कर पायेगा। जव हमारा विचार ही आर्थिक वन जाता है, समूची सामाजिकता और सभ्यता को आथिक मान लिया जाता है, तभी धन प्रश्न उपस्थित करता है और शोषण का साधन वनता है। राज्य स्वय उत्पादन-साधनो का स्वामी हो और वडे-छोटे सव उद्योग सीधे उसके हाथ में हो, यह समाधान पूंजीवादी सकट से समाज का उद्धार नही करता है, वल्कि शायद उस सकट को और विकट बना देता है। कारण पूंजीवाद तव राज्य की अनुमति ही नही पाता, बल्कि स्वय अपनी सघटना मे ही राजकीय वन जाता है। कैपिटलिज्म अगर शोषक प्रणाली है, तो स्टेट-कैपिटलिज्म से वह वुराई और घनी होती है, कट नही सकती।

राजकीय पूंजीवाद से रोग बढ़ेगा

राज्य के हाथ मे ही उद्योग हो, तो अन्तर्राष्ट्रीयता प्रतिस्पर्धात्मक और विग्रहात्मक ही वनी रहेगी। युद्ध की आशका तव एक क्षण के लिए भी दूर नही हो पायेगी।

कारण राष्ट्रीय स्वार्थ तब हमारी विश्व-व्यवस्था की बुनियाद मे होंगे और अन्त-राष्ट्रीय व्यापार अलग-अलग सिक्कों और मुद्राओं के चलन से पैदा और फूटा हुआ रहेगा मुक्त और मानवीय नहीं बन सकेगा। विज्ञान की प्रगति के साथ समय आया है कि आवागमन यातायात और लेन-देन आपस में अधिक खुला और भरपूर हो। राष्ट्र राज्यों के हाथ मे यह काम रहा तो शस्त्रास्त्र-निर्माण से छुट्टी कभी नहीं हो पायेगी और एक युद्धोद्योग ही सब तरह के उद्योगों से मिलकर बढ़ा-चढ़ा ही नहीं रहेगा बल्कि उन पर सवार भी रहेगा। आवश्यकता है कि राजकीय अर्थ प्रणाली (पोलिटिकल इकोनामी) की जगह अब एक मानवीय अर्थ-प्रणाली (ह्यूमन इकोनामी) का आरम्भ हो। राजकीय उद्योगवाद का सहारा लेकर मानो हम इस सम्भावना के मुँह को ही रोक देते हैं और इस तरह मनुष्य-जाति के परस्पर निकट आकर एक होने की व्यवहार्यता को आरम्भ में ही नष्ट कर डालते हैं। राजकीय अर्थवाद पूँजीवाद को समाप्त नहीं करता बल्कि केन्द्रीय पूँजी से होनेवाले रोग को स्थायी बनाने का उपाय करता है। कारण उस प्रकार पूँजी समाज के चित्-केन्द्र में अर्थात् राज्य के अन्तःकरण में पहुँच जाती है और युद्धवाद को जन्म मिलता है। तब सत्ता ही वह मानव-विभूति बनती है, जिसके लिए सबके लिए सब कुछ फीका हो जाता है। आज कुछ दुनिया की यही हालत बनी हुई है। इसीसे कहना पड़ता है कि वह सम्यता रोग के अन्तिम चरण पर आ पहुँची है। मानवता इसका बोझ अधिक काल तक नहीं उठा सकेगी। उसको अब नया जन्म लेना होगा और इस बर्बर आडम्बर को उतार फेंकना होगा।

पूँजी और सत्ता

२५१ पूँजी पर बैठे आदमी में आप विश्वास प्रकट करते हैं, पर सत्ता पर बैठे आदमी को आप शंका और भय की दृष्टि से देखते हैं। हैं तो दोनों जगह आदमी ही, यदि आपके अनुसार पूँजीपति समाज का विरोधी नहीं बन सकता, तो सत्ताधीश ही कैसे मानव-द्रोही बन सकता है? दूसरे, निजी उद्योगों की वकालत करने पर वस्तुस्थिति से पलायन का इल्जाम आप पर लगाया जा सकता है। क्या मेरी इस शंका के प्रकाश में आप अपने उपर्युक्त वक्तव्य को अधिक स्पष्ट करेंगे?

एक ही हाथ में तराजू और डंडा

—पूँजी मे बाहर जब पैदा होता है, तब उसमे सत्ता का रस मिलने लगता है। अर्थात् व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध से सत्ता और अधिकार-लिप्सा जागती है, तब मानो अमनुष्यता मनुष्यता के ऊपर आ जाती है। जैसे पहले अर्थलाभ

वृत्ति राज्य में पहुँच जाती है, तो ब्राह्म और क्षात्र-वृत्ति रखनेवालो से वैश्य को प्रधानता या उच्चता मिल जाती है। ऐसे समाज-मूल्य उलट जाते हैं और मानव-गुणो की अवगणना होने लगती है।

काम-काज सब आदमी द्वारा होना चाहिए। अर्थात् अर्थलाभ की प्रेरणा को निजीय से उठाकर सार्वजनिक स्तर पर कभी भी नही लाना चाहिए। शासन को उत्तरोत्तर स्वच्छ शासन और अनुशासन बनना है। अर्थलाभ को शासन-तन्त्र की प्रेरणा बनने देने से फल उलटा होगा। अर्थात् नैतिकता का ह्रास होगा और कोरी कार्मिकता का मूल्य बढेगा।

शासन वह अच्छा, जिसे शासन करना न पडे। अर्थात् शासन का उत्कर्ष कार्मिक से उत्तरोत्तर नैतिक बनने की दिशा मे है।

वे सब काम, जो निजी प्रेरणा से आपसीपन के सगठन द्वारा हो सकें, उन्हें सरकार को अपने हाथ मे नहीं लेना चाहिए। जो और किसी तरह सम्भव न हो सकते हो, उन्ही कामो को सरकार को अपने हाथ मे लेने का हक है।

समाज-मूल्य अर्थ नहीं, नीति हो

निजी उद्योगो से पूंजीवादी प्रवृत्ति बढ़ेगी, उस प्रकार के मनोभाव और जनवर्ग पैदा होगे, यह आपत्ति की जा सकती है। पर समाज-मूल्य ही यदि अर्थ न रह जाय, मूल्य मानवीय और नैतिक हो, तो इस प्रकार कितना भी पैसा कमाने पर भी वणिक् व्यक्ति समाज के शीर्ष पर पहुँचा नही दिखाई देगा, अर्थात् पूंजीवाद का विष और सकट तनिक भी समाज मे घर नही कर पायेगा। जब हमारा विचार ही आर्थिक बन जाता है, समूची सामाजिकता और सभ्यता को आर्थिक मान लिया जाता है, तभी धन प्रश्न उपस्थित करता है और शोषण का साधन बनता है। राज्य स्वय उत्पादन-साधनो का स्वामी हो और बडे-छोटे सब उद्योग सीधे उसके हाथ मे हो, यह समाधान पूंजीवादी सकट से समाज का उद्धार नही करता है, बल्कि शायद उस सकट को और विकट बना देता है। कारण पूंजीवाद तब राज्य की अनुमति ही नही पाता, बल्कि स्वय अपनी सघटना मे ही राजकीय बन जाता है। कैपिटलिज्म अगर शोषक प्रणाली है, तो स्टेट-कैपिटलिज्म से वह बुराई और घनी होती है, कट नही सकती।

राजकीय पूंजीवाद से रोग बढ़ेगा

राज्य के हाथ मे ही उद्योग हो, तो अन्तर्राष्ट्रीयता प्रतिस्पर्धात्मक और विग्रहात्मक ही बनी रहेगी। युद्ध की आशका तब एक क्षण के लिए भी दूर नहीं हो पायेगी।

कारण राष्ट्रीय स्वार्थ तब हमारी विश्व-व्यवस्था की बुनियाद में होंगे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अलग-अलग सिक्कों और मुद्राओं के चलन से रुंधा और कटा हुआ रहेगा मुक्त और मानवीय नहीं बन सकेगा। विज्ञान की उन्नति के साथ समय आया है कि आवागमन यातायात और लेन-देन आपस में अधिक सरल और भरपूर हो। राष्ट्र राज्यों के हाथ में यह काम रहा तो शस्त्रास्त्र-निर्माण से छुट्टी कभी नहीं हो सकेगी और एक युद्धोद्योग ही सब तरह के उद्योगों से मिलकर बड़ा बना ही नहीं रहेगा बल्कि उन पर सवार भी रहेगा। आवश्यकता है कि राजकीय अर्थ प्रणाली (पोलिटिकल इकोनामी) की जगह अब एक मानवीय अर्थ-प्रणाली (ह्यूमन इकोनामी) का आरम्भ हो। राजकीय उद्योगवाद का सहारा लेकर मानो हम इस सम्भावना के मुँह को ही रोक देते हैं और इस तरह मनुष्य-जाति के परस्पर निकट आकर एक होने की व्यवहार्यता को आरम्भ में ही नष्ट कर डालते हैं। राजकीय अर्थवाद पूँजीवाद को समाप्त नहीं करता बल्कि केन्द्रीय पूँजी से होनेवाले रोग को स्थायी बनाने का उपाय करता है। कारण, उस प्रकार पूँजी समाज के चित्-केन्द्र में अर्थात् राज्य के अन्तःकरण में पहुँच जाती है और युद्ध उद्योगवाद को जन्म मिलता है। तब सत्ता ही वह मानव-विभूति बनती है, जिसके बिना सबके लिए सब कुछ फीका हो जाता है। आज कुछ दुनिया की यही हालत बनी हुई है। इसीसे कहना पड़ता है कि यह सभ्यता रोग के अन्तिम चरण पर आ पहुँची है। मानवता इसका बोझ अधिक काल तक नहीं उठा सकेगी। उसको अब नया जन्म लेना होगा और इस बर्बर आडम्बर को उतार फेंकना होगा।

पूँजी और सत्ता

२९१ पूँजी पर बैठे आदमी में आप विश्वास प्रकट करते हैं पर सत्ता पर बैठे आदमी को आप शंका और भय की दृष्टि से देखते हैं। हैं तो दोनों वस्तुतः आदमी ही। यदि आपके अनुसार पूँजीपति समाज का विरोधी नहीं बन सकता, तो सत्ताधीश ही कैसे मानव-द्रोही बन सकता है? दूसरे निजी उद्योगों की वकालत करने पर वस्तुस्थिति से पलायन का इल्जाम आप पर लगाया जा सकता है। क्या मेरी इस शंका के प्रकाश में आप अपने उपर्युक्त वक्तव्य को अधिक स्पष्ट करेंगे?

एक ही हाथ में तराजू और डंडा

—पूँजी में जहर तब पैदा होता है जब उसमें सत्ता का रस मिलने लगता है। अर्थात् व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध से सत्ता और अधिकार-लिप्सा जागती है, तब मानो अमनुष्यता मनुष्यता के ऊपर आ जाती है। जैसे पश्चिमी अर्थवाद

के रस से अपने त्याग की प्रेरणा पाता था। जिसको पूंजीवाद कहते हैं, उसमें अर्थ में से सत्ता-भाग भी प्राप्त होने लगता है। वहीं से संकट बन आता है। अर्थ अन्त में वस्तु का प्रतीक है। वस्तु की व्यर्थता जानना इतना दुस्साध्य नहीं है, किन्तु सत्ता का चस्का गहरा और सूक्ष्म होता है। उसकी व्यर्थता का पता सहसा नहीं चलता। वह रस वस्तुपरक से भावपरक ज्यादा है। उसमें आदमी ज्यादा दूर तक भूला और डूबा रह सकता है। इसलिए कोरे वैश्य में मैं उतनी हानि नहीं देखता, जितनी राज-वैश्य से देखता हूँ। वणिक् समाज में घुले-मिले बिना नहीं रह सकता। इसलिए वह सदा समाज-मूल्य के अधीन रहता है। लेकिन जो साथ ही राजा भी है, वह तो अपने को समाज-मूल्य का निर्माता मानने लगता है। वह तो सिर पर आता है और समाज-मूल्य को अँगूठा दिखा सकता है। समाज का वह प्रभु और स्वामी होता है। केवल वैश्य में वह कल्पना भी नहीं हो सकती। उसके पास फौजी ताकत तो होती नहीं, इसलिए बनिया सदा विनम्र और विनयी होता है। समाज का वह सेवक ही हो सकता है। पर अगर जिसके हाथ में डण्डा है, उसीके हाथ में तराजू भी है, तो समझ लीजिये, क्या कुछ अनर्थ नहीं हो सकता! इसलिए सत्ता के हाथ पूंजी-लाभ की बात रहे, तो इसमें मैं कुशल नहीं देखता।

२५२ इसका अर्थ यह हुआ कि आप भारत-सरकार की अर्थनीति से रंचमात्र भी सहमत नहीं हैं और देश के साधनों को संगठित और उपयोग में लाने की जो योजनाएँ सरकार बना और चला रही है, उनमें आप कहीं गम्भीर त्रुटि पाते हैं। पहले यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आप पिछड़े हुए भारत के आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण को आवश्यक मानते हैं या नहीं? और यदि मानते हैं तो सरकार ने जिस नीति से यह काम हाथ में लिया है, उसमें कहाँ-कहाँ क्या-क्या गलतियाँ उसने कीं?

हिसाब और अंकों का फेर

—हाँ, आज की सरकार से इस विषय में मेरा मौलिक मतभेद है। वह अंकों के और वस्तु के हिसाब के फेर में पड़ गयी है। यही कारण है कि देश के 'भावनात्मक ऐक्य' पर इतना मुखर और इतना अधिक और इतना बार-बार जोर देने पर भी देश में भावनात्मक अनैक्य बढ़ता जा रहा है।

उत्पादन के मोह में आदमी की उपेक्षा

निश्चय ही वह दृष्टि सम्यक् नहीं, जिसमें आदमी साधन और उत्पादन साध्य हो। वह दृष्टि भ्रान्त है, जो भौतिक की भाषा में देखती है। कम भौतिक ही हो सकता

है, पर दर्शन को तनिक ऊँचे रहना होता है। पाँव चलते धरती पर हैं, आँख उस तरह धरती पर गड़ी नहीं रह सकती आगे देखती है। सोचना वह सच्चा सोचना है, जिसमें मनुष्य साम्य होता है। उस दृष्टि और उस विचार को नैतिक कहते हैं। लौकिक के मोह में नैतिक को जो भुलाया जाता है, सो भूल होती है और उसका दण्ड भोगना पड़ता है। आज की सरकार पर यही कर्म-ज्वर सवार है। उससे स्वभाव मानस्फूर्ति जनता को नहीं प्राप्त होती। उसे पैसे का सहारा पैसे का विश्वास है। आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान की प्रेरणा पैसे को ताकत और साम्य माननेवाली जमात से नहीं मिला करती। औद्योगीकरण की जगह मैं उद्यमीकरण को प्राथमिकता दूँगा। उद्यम का सम्बन्ध मनुष्य से है, उद्योग का यन्त्र से। उद्यम जगाने पर हमारा ध्यान हो तो भारत की चालीस करोड़ आबादी बोझ की जगह बल हो जाती है। कितनी अमित मानव-शक्ति भारत के पास है! बल की जगह क्यों वह व्यय बनी हुई है? केवल दूरदर्शिता और मर्मदर्शिता के अभाव से। आखिर बेरोजगारी की समस्या है तो क्यों है? सब ही बेरोजगार भार होता है। आदमी क्या धरती पर भार होने के लिए जनमा है? क्या वह उसका भूषण होने के लिए नहीं आया? फिर वह क्या है? उपायों से क्या हम सबको काम दे पाये और बेरोजगारी मिटा पाये हैं? असल में जब तक काम और रोजगार यह है, जो किसीके दिये लोगों को मिलेगा तब तक समस्या कभी हल नहीं होगी। आबादी की संख्या के बराबर नौकरियों की संख्या पैदा करने की भाषा में हल को सोचना हिमाकत है। सोचना यह होगा कि क्यों कोई खाली हो? बेकार और खाली रहना कोई नहीं चाहता। फिर भी है तो क्यों है? इसी सवाल की जड़ में जायें तो क्या यही नहीं प्रकट होगा कि आस-पास के लिए उपयोगी बनने का कोई उपाय उसके पास नहीं छूटा है? पैसे की सभ्यता ने उसे हीन और बेकार बना डाला है। मिट्टी के खिलौने नहीं बन सकते, हाथ का कपड़ा नहीं बन सकता, आस-पास के साधनों से बननेवाली कोई चीज तैयार नहीं की जा सकती क्योंकि पैसे के बाजार में यही बल्कि बढ़िया चीज सस्ती मिल जाती है! यन्त्र से बनी सस्ती-से-सस्ती चीजों से बाजार को पाट देने में उन्नति की पराकाष्ठा हमने देखी है। इसमें सब तरह का सामान घरों में भर जाता है और पेट अधभूखा रहता है। यह नीति जो आदमी के लिए यही उपाय देखती है कि वह कारखाने में पगार मजूरी पाये मनुष्य का उद्धार नहीं कर सकती। अरे, मनुष्य में सृजनशक्ति पड़ी है। वह नीति निकम्मी है जो उस शक्ति को जगाती नहीं है, उलटे घुला-घुलाकर मारती है और अन्त में पैसे के लालच से गाँव से उखाड़कर उसे शहर में ला पटकती है।

आधा तीतर, आधा बटेर

मूल मतभेद यही है कि दृष्टि मानवीय मे हमने आर्थिक होने दी है और प्राथमिकताओ को भूलकर अप्रधान को हम प्रधानता दे बैठे हैं। गाधी ने जो किया, उसको मानो गलत बना देने पर आज की सरकार तुल गयी है। पहनती खद्दर है और उसे अनुदान भी देती है, पर चलती उससे उलटी है। वह यान्त्रिकता समझ मे आ सकती है, जो कम्युनिज्म को प्रिय है। उससे असहमत होते समय भी लगता है कि कुछ है, जिससे असहमत होना भी सार्थक है। आज की बात का तो यही पता नही कि वह तीतर है या बटेर। उसमे श्रद्धा का और रीढ का अभाव है। उसमे कोई दर्शन नही है। उसका दिमाग पश्चिम मे है, तो दिल पूरब मे। वह सब होने की कोशिश मे है, इससे कुछ भी नहीं रह जाती और सिर्फ पैसे की फुलझडी-सी जलती मालूम होती है।

उत्पादन फॉरेन एक्सचेंज के लिए

देश के पास जो साधन सबसे प्रस्तुत और प्रचुर है, वह उसका जनबल है। लेकिन हमको दिखाई यह देता है कि बल यन्त्रबल है और उससे हम हीन हैं। इस तरह उस दृष्टिमात्र से एक क्षण मे हम दीन और दरिद्र बन जाते हैं। उसी क्षण मालूम होता है कि फॉरेन-एक्सचेंज कमाकर और बचाकर यन्त्र प्राप्त करना हमारे लिए पहला काम है। बस, अब हमे उधार चाहिए और दान चाहिए। हम ऊँची बातें करेंगे, क्योकि हमारा देश राम-कृष्ण और बुद्ध का है और गाधी के ढग से हमने स्वराज्य लिया है। इसलिए कृपया हमारी सहायता कीजिये। देश अवश्य शस्य-श्यामल है, लेकिन अन्न से मदद कीजिये, इत्यादि-इत्यादि। हम अपना सारा ग्रामोद्यम इस आधार पर चलाना चाहते हैं कि कुछ कच्चा माल भेजें और पक्का यन्त्र प्राप्त करें, जिससे कि आगे कभी कच्चा बाहर भेजने की जरूरत से छुट्टी मिले। यह कि अपने यहाँ के कच्चे माल को अपने हाथो स्वय उपभोग्य बनाकर कुछ हद तक स्वाश्रयी हो सकते हैं, यह हमे सूझता ही नही। सत्यता और शक्ति हमे मनुष्य के बजाय मशीन मे दीखने लगी है। सो हमारा सारा उत्पादन फॉरेन-एक्सचेंज की माँग से जकड गया है। उसका सीधा सम्बन्ध हमारी आवश्यकता से न रहकर विदेशी मुद्रार्जन से हो गया है। मैं इस पद्धति का कायल नही हो पाता हूँ।

राष्ट्र-चेतना खण्डित

सबसे बडा अनिष्ट जो फलित होता है, वह यह कि जनता नाना प्रकार के राजनीतिक मतावेशो के लिए खाली रहने के कारण सहज आखेट बन जाती है। जितनी तेजी

से एक पर एक आनेवाली पंचवर्षीय योजनाएँ बढ़ती हैं, उतनी तेजी से राष्ट्र चेतना के नीचे से अखण्डता की जमीन खिसकती देखी जाती है। योजनाओं का उत्साह मनों के स्खलन को रोक नहीं पाता। उस घर का-सा हाल कहिये जहाँ गृहस्वामी कातर है अपने भाग्य और भविष्य के बारे में सशंकित है और लोक लाज से मिष्टान्न और पकवान की तैयारी हो रही है। मन बढ़ता है तो हो, मिठाइयों का थाल तो देखिये किस प्रकार सजा है।

मैं मानता हूँ कि देश की दुखती और धड़कती रग पर सरकारी वैद्य का हाथ नहीं है यह वैद्यक के बारे में इतना क्षीण और खिन्न है!

२५३ *हमारी सामाजिक समस्याओं में जाति-विद्वेष और धर्म-विद्वेष की समस्याएँ* सबसे भयंकर हैं। समय-समय पर ये सिर उठाती और देश की एकता को खतरे में डालती हैं। क्या आपको विश्वास है, देश की आर्थिक समृद्धि से यह जाति-धर्म-विद्वेष समाप्त हो सकेगा और एकता की नींव पक्की हो सकेगी?

समृद्धि-वाद और राष्ट्र-वाद से वर्ग-वाद नहीं मिटेगा

—आर्थिक समृद्धि में मैं देखता हूँ कि जातिवाद और धर्मवाद मदद पहुँचाते हैं। मेरे कई बन्धु हैं जो धनाढ्य हैं। स्पष्ट देख सकता हूँ कि धनाढ्यता में उनका धर्म-वैमुख्य और सम्प्रदाय-वैमुख्य बड़ा सहायक हुआ है। इस प्रकार की सम्पन्नता श्रेणियाँ, समूहों और गुटों को आवश्यक बनाती और उनकी नींव पर फलती-फूलती है। इसलिए मुझे प्रतीत होता है कि सम्प्रदायवाद अथवा जातिवाद की व्याधि का उपाय किसी राष्ट्रवाद या राष्ट्र-सम्पन्नता-वाद के पास नहीं है। कारण, जाति या धर्म के समान राष्ट्र भी एक बड़े समुदाय का नाम ही है। अर्थात् वैयक्तिक परिमाण और संख्या में बड़े होने के तर्क से एक समूहवाद दूसरे समूहवाद की जड़ों को नहीं काट सकता। कोशिश आजकल इसी की देखी जाती है। समूचे राष्ट्र की सम्पन्नता की दुहाई पर हम आशा करते हैं कि छोटे समुदाय स्वार्थ-त्याग सीखेंगे। स्वार्थ का त्याग तभी होगा, जब वह त्याग ऊपर से नीचे तक सारे समाज जीवन के लिए अभ्यर्थनीय मूल्य होगा। राष्ट्र की समृद्धि को यदि हम मूल्य मानेंगे तो हर व्यक्ति और हर समूह जाने-अनजाने उसके नीचे अपनी निजी समृद्धि की ओर बढ़ता दीखेगा। गांधीजी ने इसीलिए राष्ट्र की समृद्धि का आदर्श नहीं दिया था, बल्कि विश्व के हित में बलिदान हो जाने का आदर्श दिया था। अर्थात् उन्होंने और सब को एक स्वर प्रतिष्ठित मूल्य का स्थान दिया था। मेरा मानना है कि जिस समाज में अहिंसा और अपरिग्रह का मूल्य प्रतिष्ठित हो जायेगा, उसी समाज में समूह और समुदाय होकर भी वे परस्पर पूरक बनना चाहेंगे। ऐसा समाज तो असम्भव है जहाँ वसु

दाय या समूह हो ही नहीं। हम जातीय या साम्प्रदायिक समुदायों को आर्थिक श्रेणियो या वर्गों मे परिणत कर दे, तो इसमे विशेष अन्तर नही आनेवाला है। विभाजन खडी की जगह पडी लकीरो से हो, तो इसमे अपने आप मे कोई उन्नति नहीं मान लेनी चाहिए। अन्तकाल तक भी ऐसा समय नही आनेवाला है कि जब समूची मानव-जाति अपने को एक घटक अनुभव करे और व्यक्ति अथवा परिवार या सस्था के लिए स्वत्वभाव का अवकाश ही न रह जाय। यदि एकता को हम इस अनेकता के विनाश के रूप मे चाहते हैं, तो भूल करते हैं। वह स्वप्न बुद्धि के प्रमाद मे ही बनता है। इसलिए मुझे जाति और वर्ग आदि को समाप्त करने के दावे मे कोई सार दिखायी नही देता। बडी मछली छोटी को खा सकती है, लेकिन इस तरह मछलियो मे छोटा-बडापन समाप्त नही हो सकता। राष्ट्र के द्वारा सम्प्रदाय को खतम करना वैसा ही है, जैसा बन्दूक से तलवार को खतम करना हो सकता है। अर्थात् एक सगठन से दूसरे सगठन को मिटाने की चेष्टा अन्त मे सगठनवाद को दृढ ही करती है। राष्ट्र की दुहाई पर और उस दायित्व तथा दावे को ऊँचा उठाये रखने के आधार पर कांग्रेस-सगठन की आज क्या हालत बन गयी है। हर जगह जो उसमे गुटबन्दी और धडेबन्दी दिखाई देती है, तो क्यो? कारण यही कि चरित्र और गुण पर सख्या और सगठन को महत्त्व मिलने दिया गया है। सेना मे सेना को काटने की नीति से सेनावाद को प्रोत्साहन ही मिलता गया है। राष्ट्र सम्प्रदाय की सफलतापूर्वक हिंसा कर सकता है, लेकिन इस शर्त पर कि वह हिंसा को अपनी राह बनाये। एक मतवाद को पकडे, एक नेता को रखे और एक-तन्त्र अधिनायकवाद का सकल्प उठाये। उस रास्ते नही चलना है, तो बडी अहन्ता से छोटी अहन्ता को मिटाने की बात नहीं करना है।

जो व्याधि आज के दिन भारत देश को बरबाद कर रही है, उसे सम्प्रदायवाद, जातिवाद और भाषावाद नाम देकर राष्ट्रवाद की सुई से दूर नहीं किया जा सकता है। वह व्याधि मूल की है और मूल्य की क्रान्ति से ही दूर हो सकती है। इसके लिए सख्या, समूह, समुदाय और सगठन से हटाकर निष्ठा को व्यक्ति-चरित्र मे, गुण मे, उसकी दायित्व भावना मे प्रतिष्ठित करना होगा। अधिकार के ऊपर कर्तव्य को लाना होगा। हाकिम से अधिक सेवक को मानना पडेगा और हमारा बडे-से-बडा आदमी वह होगा, जो अपने लिए कम-से-कम रखे और चाहेगा।

स्पष्ट है कि राष्ट्र के उत्कर्ष दर्शन का वह आदर्श कोरी समृद्धि के आदर्श से भिन्न है।

२५४ क्या कारण है कि समृद्धि का लक्ष्य जो बुराइयाँ और कठिनाइयाँ भारत में पैदा कर रहा है, उन्हीं को उसने रूस, जर्मनी या अमरीका में नहीं पैदा किया? वे

देश बड़ी तेजी से भौतिक प्रगति करते जाते हैं और संगठित हैं। उनमें एक राष्ट्रीय चरित्र है, जिसका अभाव यहाँ कदम-कदम पर अनुभव होता है। जो चीज एक के लिए अमृत बनी है, वही दूसरे के लिए विष बन गयी क्यों प्रतीत होती है?

समृद्धि पश्चिम के लिए अमृत नहीं बनी

—उनके लिए राष्ट्र-समृद्धि का आदर्श अमृत बना है ऐसा मानने की भूल या जल्दी बाज न करें। उन समृद्ध देशों को एक-पर-एक होनेवाले दो विश्व-युद्धों में क्यों झोंकना पड़ा? मूल में उनके क्या यह राष्ट्रवादी हुंकार न थी? वे देश हमसे दूर हैं। न अखबारों के जरिये और न विज्ञप्तियों के जरिये हम उन्हें देखने के आदी हैं। स्वर्ग सदा अपने से दूर रहता है। इसलिए आसान है कि हम अपने सपनों को वहाँ सिद्ध दें। लेकिन सच मानिये कि वहाँ चैन नहीं है। अगर है, यहाँ से अपेक्षाकृत कुछ वहाँ की अच्छी स्थिति तो इसलिए नहीं कि समृद्धि वहाँ का आदर्श है। बल्कि इसलिए कि समृद्धि वहाँ कुछ इतनी घटित घटना है कि आदर्श होने की उसके लिए उतनी आवश्यकता नहीं है। ज्ञान-विज्ञान वहाँ तेजी से बढ़ रहा है। वहाँ का विद्वान् या नेता धन की प्रतिस्पर्धा में लिप्त नहीं दीखता है। अर्थात् वहाँ ऐसे चिन्तक और कार्यकर्ता अधिक हैं जिनके दिमाग में समृद्धि से कुछ ऊँचा और उन्नत आदर्श है। इसी मात्रा और सीमा तक वे देश हमसे बेहतर हैं, जिनने आर्थिक समृद्धि के पार और ऊँचे भी वे देख सकते हैं। भारत को आध्यात्मिक और इन देशों को भौतिक कहकर यह न मान लिया जाय कि राष्ट्र-नीति के तौर पर भारत में कम अर्थ-दास्य है। असल में बात यह है कि उन देशों में अर्थ-विपुलता के आधार पर अधिक अर्थ-मुक्तता दिखाई देती है, जब कि हमारे यहाँ घोर अर्थ-दासता है। व्यवहार में अर्थ-सम्पन्नता की रचना एक बात है दर्शन और नीति के क्षेत्र में उसको रख लेना दूसरी बात है। भारत की राजनीतिक दृष्टि आर्थिक सम्पन्नता के लक्ष्य से एकदम भर और ढँक गयी दीखती है। यह हालत शायद उन देशों की नहीं है। इसीसे यह सम्भव बना है कि समूह और वर्ग वहाँ अपनी-अपनी अस्मिता को लेकर इतने आग्रही और उन्मत्त नहीं बनते हैं। ●

१२

विभेद, विग्रह, अनुशासन-हीनता

सम्प्रदायवाद का विष

२५५ समाज की जो भी स्थिति आज है, उसमे कैसे कहाँ से आरम्भ किया जाय कि वर्गों और सम्प्रदायो का विष बुझे और देश मे एक ओज और तत्परता दीख पड़े, देश और अधिक रक्तपात और खण्डन से बच जाय? आवश्यक नैतिकता के विकास के लिए क्या किया जाना जरूरी है?

वस्तु-स्थिति की सादर स्वीकृति

—पहली बात यह आवश्यक है कि वस्तु-स्थिति को आदर भाव से स्वीकार करें। मुसलमान अपने को मुसलमान कहता है, हिन्दू हिन्दू, ब्राह्मण ब्राह्मण, सिख सिख, नेहरू-काटज-किचलू काश्मीरी इत्यादि। जो जो हैं, उसको हम अनमने मन से न मानें, आदर के साथ स्वीकार कर लें, तब हमारी व्यवहार-नीति और राजनीति यथार्थवादी बनेगी, हठवादी नहीं रह जायगी। हम अपनी चाहों के वश होकर जब जीवन मे चलते हैं, तो यथार्थताओ को सँभाल या मोड नही पाते हैं, रोष पैदा करके उनके प्रति टकरा जाया करते हैं। ऐसे एक गरमा-गरमी पैदा होती है और बेकार विग्रह का वातावरण बनता है। इसलिए राष्ट्र-नेता और राजनेता को कम-से-कम हठ और मतवादिता और अधिक-से-अधिक नम्रता और उदारता अपने पास रखनी चाहिए। राष्ट्र-नेता आखिर किसी प्रान्त, नगर, कुल, खानदान और शिक्षा-दीक्षा मे से तो आता ही है। उसकी कुशलता अब इसमे है कि उस अमुक प्रान्त, नगर, कुल-खानदान और शिक्षा-दीक्षा आदि से इतना मुक्त हो जाय कि शेष के प्रति उतना ही आत्मीय जान पडे। उसका निजत्व और स्वत्व अपनी जगह घिरा और बँधा न हो और वह केवल सर्व का प्रतिनिधि हो जाय। स्पष्ट ही यह तब हो सकता है कि जब वह अपनी सम्पन्नता और विशिष्टता का लोभ जान-बूझकर तज देगा और साधारणों मे साधारण हो चलेगा। ऐसी ही हालत मे सम्भव है कि इतर जन उसे अपना

आत्मीय मानें और अपने हित भी उसके पास सुरक्षित समझें। दूसरे शब्दों में यही अपरिग्रह का आदर्श है, वस्तु के अपरिग्रह के साथ मत-स्वत्व का अपरिग्रह।

सम्पन्नता धर्मभाव की हो

आज की राजनीति और राष्ट्रनीति असम्पन्न और एकाकी व्यक्ति को पहचानती ही नहीं। भारतीय संस्कृति इसी स्वेच्छापूर्वक धनहीन और अपपदस्वरूप व्यक्ति को महत्त्व देती थी। सम्पन्नता वहाँ भाव की आवश्यक थी जो फिर दूसरे प्रकार की सम्पन्नता को आस-पास जुटाने के सम्बन्ध में उदासीन हो जाती थी। कहना चाहिए कि आजकी राजनीति भारतीय आत्मनीति की दिशा से उल्टी चल पड़ी है। कामपची कहता है कि कांग्रेस-नीति में सम्पन्न वणिक और अफसर-वर्ग के हित-स्वार्थ का अधिक ध्यान है। यद्यपि कहीं भी हम वस्तुस्थिति को और साथ रखना को आदर देने से अलग हुए कि वहीं ही यह दुष्परिणाम फिर निकलेगा। वहाँ अपने-अपने को मिलना शुरू होगा वहाँ पद और महत्त्व अपनों को ही दिया जाने लगेगा। इसमें से दुरभिसन्धि पैदा होगी और अविश्वास जन्म लेगा। मुझे प्रतीत होता है कि आज जो भारतीय राजकारण में फटाव नजर आ रहा है, सबको जो अपना-अपना हित सता रहा है और दूसरे का हित भूल रहा है, सो इसी भूल वृत्ति के कारण। यह वृत्ति इतना बड़ा संकट न पैदा करती यदि यह देश भारत न हुआ होता और इसमें यहाँ गांधी न पैदा हो गये होते। भारतीय परम्परा और गांधी-युग के कारण यह देश अपने नेता से महिमा की उतनी नहीं जितनी माहात्म्य की आशा रखता है। बुद्धि के चमत्कार और वाग्मिता से अधिक निष्कलंकिता अकिंचनता और उदारता का आग्रह रखना चाहता है। धर्म से अधिक धर्म में उसकी आस्था है और धार्मिक प्रखरता से अधिक अपने नेता में धार्मिक सहिष्णुता की प्रत्याशा रखता है।

मूल्य-प्रतिष्ठा ऊपर से हो

मैं मानता हूँ कि यहाँ मूल्य का प्रश्न है, आरम्भ शीर्ष से ही हो सकता है। आरम्भ नेता से हो। नेता को पद और ऐश्वर्य से उपरता और साधारणता पर आना चाहिए। उससे परिस्थिति में एकदम सम्पन्नता का भाव पैदा होगा। अपने-अपने लिए चाहने की वृत्ति पर जबरदस्त रोक-थाम आयेगी। न चाहना गुण समझा जाने लगेगा और पद प्रतिष्ठा के लिए यदि प्रतिस्पर्धा होगी तो उसकी चमक जो जायगी। तब एकाएक लगने लगेगा कि इस प्रतिस्पर्धा में पड़े लोग असली नहीं हल्के दर्जे के हैं। राजसमस्या में पड़े लोगों का मूल्य घटेगा और मालूम होने

लगेगा कि अव्वल किस्म के लोग ये हैं। एक वह समय था, जब दिल्ली राजधानी थी, लेकिन भारत का हृदय-तीर्थ सेवाग्राम था। दिल्ली के सेक्रेटरिएट से ज्यादा रौनक सेवागाम की कुटिया पर दीखा करती थी। तब भारत मे जीवन के प्रकर्ष और उत्कर्ष का अनुभव होता था। प्रतीत होता था कि मूल्य सही धुरी पर टिके है। तब जनता राजा से ही नही थी, बल्कि आत्म-विश्वास से थी। अब सब पलट गया है और दिल्ली से बाहर ग्रामीण भारत मे सूना सन्नाटा अनुभव होता है। कुटी मिट रही है और मजिल-दर-मजिल मकान दिल्लियों में खडे होते जा रहे हैं। मन्त्री खद्दर अब भी पहनता है, लेकिन दिल उसका रेशमी-मखमली से आगे आसमानी है। पहला प्रश्न मूल्य का है और सही मूल्य की प्रतिष्ठा के लिए निश्चय ही ऊपर से शुरू करना होगा।

ग्राम-प्रधान सस्कृति

इसके बाद प्रश्न कर्म और निर्माण का आयेगा। इसका आरम्भ धरती से होगा, अर्थात् ग्रामोद्योग और ग्राम-स्वावलम्बन के कायक्रम से। वस्त्र-स्वावलम्बन और सहयोगी वृत्ति के आधार पर टिके इतर स्वावलम्बन से, ऊपर से देखने पर, जातिवाद, भाषा एव प्रान्तवाद आदि रोगो का सम्बन्ध नही दीखता होगा। लेकिन इससे सारे जीवन को एक नागरिकता की भूमिका प्राप्त होगी और जो गुटबन्दियाँ शोषण से जुडी सम्पन्नता के आधार पर खडी होती हैं, गिरने और बिखरने लग जायंगी। केन्द्रित राजधानी जहाँ प्रमुख है, वहाँ सीमा पर समस्या खडी मिलती है। वहाँ सदा टक्कर दीखती है, जो भाषा आदि के नाम पर यदि कभी-कभी फूट पडती है तो निरन्तर अनबन का वातावरण तो बनाये ही रखती है। ग्राम-प्रधान पद्धति से सीमा का महत्त्व मिट जायगा और वहाँ कोई विकट प्रश्न खडा न दीखेगा। परम्पराएँ तब एक दूसरे मे बहेंगी और बढ़ेंगी और इसी प्रकार जाति या समूह स्वय सुरक्षा की चिन्ता छोडकर इतरोन्मुख होने मे लाभ देखेंगे और नागरिकता की भूमिका को स्वीकार करेंगे। अल्पमत-बहुमत की चेतना उत्कट नही होगी और प्रश्न मिले-जुले दिखाई देंगे।

नेता की ओर से मूल्य-प्रतिष्ठा, और जनता की ओर से उद्यम-प्रतिष्ठा, इससे हटकर अन्य राजनीतिक और सगठनात्मक उपाय अपनाने से रोग की जड पर प्रहार न होगा, बल्कि तब उलटे रोग का सिंचन होगा, ऐसा मुझे लगता है।

अल्पसंख्यकों की समस्या

२५६ अल्पसंख्यक जिन्हें सदा अल्पसख्यक ही रहना है, जो अपनी अल्पसंख्यकता

को और अपने वर्ग के तिरस्कार करने में होने की बुराई देकर अल्पसंख्यकों को आश्वस्ति देने में ही अपना राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक हित देखते हैं, उन्हें एक स्थायी आश्वासन कैसे दिया जा सकता है? मेरी राय में यह बात की हमारी सबसे गम्भीर सामाजिक समस्या है। क्या आपके पास इसका कोई साफ सीधा हल है?

तुष्टीकरण-दमनवाद का प्रश्न

—अल्पसंख्यकों का प्रश्न सहसा मन में असमंजस और उलझन पैदा कर सकता है। शक्ति की राजनीति इस समस्या से कभी छुटकारा नहीं पा सकती। उसके पास दमन और निर्वासन का ही उपाय रह जाता है, या अपीजमेंट, खुशामद आदि का। तुष्टीकरण और दमनवाद के मार्ग से जैसे डिमोक्रेसी में यह सन्तोष भी मिल जाता है कि यह बहुजन-हित की सिद्धि ही है, जिसके अर्थ अल्पसंख्यकों का दमन होता है। यह दमन और हिंसा की पद्धति इतिहास में इस समस्या से निबटने के काम आती रही है। लेकिन इतिहास उस राह उलझन से निबटा नहीं है। अब उसको क्रमशः हिंसा के सहारे से उबरना और अहिंसक विधियों का अपने बीच विकास करना है।

व्यक्ति सर्वाधिक अल्पसंख्यक

थोड़ी देर के लिए समूह का विचार छोड़िये व्यक्ति को लीजिये। वह तो अकेला और अल्पसंख्यक है। वह कैसे जीता और अपने लिए सुविधा और विस्तार जुटाता है? हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति बढ़ते और फैलते चले हैं। दूसरे अनेक कुण्ठित और अकृतार्थ दीखते हैं। व्यक्ति के प्रति देश का क्या कर्तव्य है, इसीपर सब कुछ निर्भर नहीं रहता बहुत कुछ स्वयं उस व्यक्ति पर भी निर्भर रहता है। अर्थात् यह प्रश्न परस्परता का है। किसी सिद्धान्त का नहीं है।

यही अल्पसंख्यक समूहों के बारे में सच मानना चाहिए। आज भी अमुक अल्पसंख्यक वर्ग सन्तुष्ट है और उन्नति कर रहा है। दूसरा उसी प्रकार का वर्ग अपने को दबा हुआ पाता है। ये परिणाम उस सम्बन्ध में से फलित होते हैं, जो एक का देश के साथ बनता है।

नागरिक-भूमि पर सब समान हों

राजनीति तल पर उत्तर यह है कि सबकी नागरिक भूमिका हो और सब वहाँ समान हों। सबके एक-एक मत हों और बीच में समुदायों के अलग विचार करने की आवश्यकता न हो। उस देश की परिस्थिति में जहाँ धार्मिक श्रेणियाँ विषम नहीं

हैं, रहन-सहन का स्तर सवका समान है, नागरिकता का सूत्र आसानी से व्यवहार्य वन जाता है। अल्पसख्यको का प्रश्न उठता वहाँ है, जहाँ समाज मे स्तरो की विपमता हैं और इसलिए किसी वर्ग के लिए विशेप विचार उचित जान पडता है।

विशेषाधिकार की नीति गलत

भारत मे एक वर्ग है अनुसूचित वर्ग और दूसरा है पिछडी जातियो का वर्ग। इन दोनो वर्गों का विशेप ध्यान इसलिए आवश्यक होता रहा है कि वे अपेक्षाकृत हीन और दलित हैं। वहुसख्यक लोगो की मानवीय भावना का भी यह सूचक है कि अपने पिछडे भाइयो को अतिरिक्त सहारा दिया गया। इनके अतिरिक्त दूसरे वर्ग हैं, जिनका आधार धर्म है। मुस्लिम और पारसी उस प्रकार भिन्न और हीन स्तर के वर्ग नही हैं। पारसी तो अधिक सम्पन्न हैं। अन्तर धर्म का है। पूजा-विधि और धर्म-विधि को हर प्रकार की स्वतन्त्रता और सुविधा देने के वाद राज्य के लिए यदि यह आवश्यक होता है कि उनको ससद्, धारा-सभा या सेवाओं में अलग प्रतिनिधित्व भी दे, तो उस अवस्था को अस्वस्थ, अनुन्नत और गठीली मानना चाहिए। समुदाय दूसरे आधारो पर भी वन सकते हैं। जातिवाद तो नात्सी-दर्शन की वुनियाद ही वन गया था। लेकिन इन सव आधारो पर विशेषाधिकार का दावा हो, तो नागरिकता खण्डित हो जाती है। पारस्परिक व्यवहार का क्रम सहज नहीं रहता और वैधानिक दखल समाज मे एक दुराव और तनाव पैदा किये रहता है। अर्थात् अल्प-वहुमत का प्रश्न अस्वस्थ और कृत्रिम हुआ करता है।

वहुसंख्यक अल्प-संख्यको का ध्यान रखें

स्वस्थ समाज मे वहुसख्यक वर्ग अनायास ही अल्पसख्यको का ध्यान रखेगा। अर्थात् अल्पसख्यक वन्धुओ की ओर से विशेपाधिकार माँगने के वजाय त्यागने का प्रयत्न होते रहना चाहिए। अगर इस माँग मे आग्रह-विग्रह की ध्वनि आती है, तो वहु-सख्यक मे उसके प्रति अविश्वास और परायापन पैदा होने लगता है। इसमे उसीके स्वार्थ-हित की हानि है। आखिर तो वहुसख्यको के साथ रहना है। हिल-मिलकर जितना रहा जायगा, उतनी ही अल्पसख्यको की वेहतरी और स्वार्थरक्षा है। एक व्यक्ति असख्य के वीच में जिस नीति से जीता और वढ़ता है, वही नीति अल्प-सख्यक समुदाय के लिए समीचीन है। व्यक्ति के विशेषाधिकार कोई नहीं सोचता। सोचने की आवश्यकता भी नही। स्पष्ट है कि अस्वस्थ को, अपग को, रुग्ण को विशेप सेवा प्राप्त होती है। इसको किसी विशेपाधिकार से नियुक्त करने की आव-

व्यवस्था नहीं होगी। समाज का अन्तरंग स्वास्थ्य अपने आप उपयुक्त व्यवस्था कर लेता है। ऐसे ही किसी अल्पसंख्यक वर्ग के हितों की कानून द्वारा सुरक्षा की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। सामान्य कानून नागरिक को जो सुरक्षा देता है वह पर्याप्त होनी चाहिए। ऐसा जब और यदि हो सकेगा तो अल्पसंख्यक का प्रश्न उसी भांति नहीं रहेगा जैसे समुद्र में बूंद का प्रश्न नहीं रहता है।

सामाजिक सम्बन्ध स्पर्धात्मक न रहें

राजनीति जब तक स्वार्थों के द्वारा चलती है, तब तक भावी अल्पमत के प्रश्न को पैदा करने में निहित स्वार्थ बना रहता है। आज यह स्वीकार करना चाहिए कि राजनीति में राज का जोर है, नीति का बिलकुल भी भार नहीं है। राज का जोर उत्तरोत्तर कम होगा। कारण जीवन के विकास के साथ प्रकट होता जा रहा है कि राज्य अधिकार कम और कर्तव्य अधिक है। अब ठाटबाट का परिमण्डल शासक के आस-पास से घट रहा है और दायित्व का आतंक बढ़ता जा रहा है। इस तरह राजनीति क्रमशः राजनीय कम होती जायगी और उसे अधिकाधिक नैतिक बनते जाना होगा। यदि नैतिक मूल्य समाज और राज्य के काम-काज में चलन में आ निकलेंगे तो उसीके साथ अल्पसंख्यक का प्रश्न विलीन होता जायगा। अन्तर हर दो आदमियों में है। लेकिन उस अन्तर के कारण हमेशा परस्पर डर में कानून की शरण ही नहीं खोजनी पड़ती बल्कि वह अन्तर मैत्री को सरस और सार्थक करता है। सामाजिक सम्बन्ध जितने स्पर्धात्मक होंगे उतना ही मनुष्य मनुष्य का आखेट बनेगा और पारस्परिक क्षेत्र अविश्वास और संकट से छाया रहेगा। लेकिन जब स्वार्थों की जगह सहयोग और सहजीवन का भाव प्रधान होगा तो भिन्नता और विभिन्नता आनन्द और विनोद की वस्तु होगी और एक व्यक्ति जैसे दूसरे व्यक्ति के लिए, उसी तरह एक समुदाय दूसरे समुदाय के लिए, पूरक होगा। उसमें खतरे का नहीं बल्कि सहायता और सान्त्वना का कारण दीखेगा। मानना होगा कि आज भारत की परिस्थिति अनेक दुश्चिन्ताओं से घिरी और घुटी है। इसलिए नैतिक भाव अपने दिखाई नहीं देते। भय है, खतरा और तनाव है। इसका उत्तर राजनीति के पास इसलिए नहीं है कि वहाँ राज्य की प्रधानता है। उसका उत्तर मानव-नीति के पास है, क्योंकि वहाँ प्रधान मानव है। मानव को लक्ष्य में रखें और दूसरे विशेषणों को उतनी प्रधानता न दें तो हम अनायास नागरिक भूमिका प्राप्त हो जाती है और वर्गीय और जातीय या साम्प्रदायिक अहंकार बिखरे हुए नजर आने लगते हैं। मूल हम वहीं खोजना है।

:स समस्या की जड

:५७ अल्पसख्यकों की समस्या का कोई भी हल धर्म निरपेक्षता और समाजवाद ो नीति क्यों प्रस्तुत नहीं कर सकी, इस समस्या की जड ऐतिहासिक दृष्टि से आप हां देखते हैं ? गाधीजी और काग्रेस की अपीजमेण्ट की नीति मे या ब्रिटिश-ारकार की 'डिवाइड एण्ड रूल' की कूटनीति में या उससे भी परे मुस्लिम-युग मे ?

विभेद सह-अस्तित्व में लुप्त

—भारतीय परम्परा मे अनेकानेक विभेद सह-अस्तित्व मे समाते और मिटते रहे हैं। ारत राजनीतिक दृष्टि से कभी एक और सगठित नहीं रहा। अनेकानेक राजा ौर नवाव एक ही साथ यहाँ राज करते और आपस मे लडते-झगडते रहे, लेकिन उससे गहरे तल पर सामाजिक जीवन कभी बहुत अधिक उद्विग्न नहीं हुआ। उस ल पर सास्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया निरन्तर क्रियाशील रही।

राष्ट्र-राज्य की नयी कल्पना का उदय

उस इतिहास और परम्परा पर अग्रेजी कम्पनी का राज्य आया। यह एक नयी वीज थी। राज्य के केन्द्र मे राजा का व्यक्तित्व यहाँ उतना नहीं था, जितना कि न्त्र था। राज्य उस पश्चिम से आयी व्यवस्था मे एक बडा सगठन था। कहना वाहिए कि अग्रेज के आगमन से भारत को एक पृथक् राजनीतिक राष्ट्रवाद की वेतना मिली। अब तक भारत एक सास्कृतिक भाव-खण्ड था। भौगोलिक सीमाओ के सैकडो योजन इधर-उधर हटने से उस भारतीय अखण्डता पर कोई क्षति नहीं आती थी। किसी राजनीतिक सविधान या शासन मे उस अखण्डता को स्वरूप पाने की आवश्यकता न थी। भारतीयत्व लोक-निर्भर था, राज्य-निर्भर था ही नहीं। अग्रेज के आने के साथ राष्ट्र और राज्य की एक नयी कल्पना भारत को प्राप्त हुई। नयी राजनीति का उदय हुआ। उस राजनीति मे 'बाँटो और राज्य करो' की नीति फलित हुई। यह यो राजाओ की भी नीति रही होगी, लेकिन समाज-नीति के तौर पर उसका व्यापक प्रयोग और उपयोग न था। वहाँ धाराएँ और वर्ग अनजाने आपस मे घुल-मिल जाते रहे थे। राजकारण में भले ही पहले वे मुठभेड मे आमने-सामने आये हो, लेकिन शनै-शनै उनमे हेल-मेल बढ़ता और एक सामाजिकता पनपती जाती थी। अग्रेज के द्वारा जो राजनीति का नया स्वरूप आया, उसने इस एकीकरण मे बाधा डाली। तब राज्य मे व्यक्तियो या परिवारो का नहीं, बल्कि जातियो या सम्प्रदायो का उपयोग होने लगा। पृथक् प्रतिनिधित्व और चुनाव की धारणा पैदा हुई। मूल हिन्दुत्व मे सब प्रकार के मतवादों को समाने

ो समस्या थी। कारण हिन्दू एक संस्कृति थी मतवाद न था। आगे न जाता ो हिन्दुत्व और इस्लाम का क्या सम्बन्ध घटित होता कहना मुश्किल है। लेकिन तना निश्चित है कि 'टू-नेशन' वाली बात न पैदा हुई होती। वहाँ से हमने इस त्मसमस्यावाले प्रश्न को विरासत में पाया है।

धार्मिकता और सेक्यूलरिज्म

ांग्रेस और गांधी को जिस परिस्थिति से मोर्चा लेना पड़ा, उसमें यह प्रश्न मौजूद ा। नजर-अन्दाज उसे नहीं किया जा सकता था। लेकिन इस प्रश्न की ओर गांधी ा रुख यह कि धार्मिक और मानवीय था तब कांग्रेस का राजनीतिक और ाासनिक था। कांग्रेस गांधी के साथ थी पर थोड़ी दूर तक। राजनीतिक काम जहाँ तक गांधीजी की नीति और शक्ति से मिलता था, कांग्रेस को मान्य था। आगे बढ़ने की वृत्ति कांग्रेस के पास न थी। साम्प्रदायिकता का इलाज गांधी के ास धार्मिकता था। गांधी का आग्रह था कि हिन्दू सच्चा हिन्दू बने मुसलमान सच्चा मुसलमान बने। स्पष्ट था कि अपनी-अपनी जगह सच्चा बनने की कोशिश में हिन्दू और मुसलमान सच्चा इन्सान बन निकलेगा और फिर समस्या आसान हो जायगी। लेकिन स्वराज्य से पहले भी नेहरू और कांग्रेस के मन में धार्मिकता के लिए जगह न थी और उन्हें धर्म-निरपेक्षता (सेक्युलरिज्म) में से साम्प्रदायिकता (कम्युनलिज्म) का नाश आता मालूम होता था। खैर, बँटवारा हुआ। कांग्रेस ने बँटवारे को और भारत के राज्य को स्वीकार किया। गांधीजी ने दोनों ओर से मुँह फेरकर नोआखाली की तरफ रुख किया जहाँ साम्प्रदायिकता की ज्वाला जमकर नर-बलि ले चुकी थी। यह सब इतिहास की और जानी-बूझी बात है। लेकिन यह सेक्युलरिज्म अब भी शस्त्र के तौर पर हाथ में है और आशा की जाती है कि वह कम्युनलिज्म को नेस्त-नाबूद कर देगा। कांग्रेस की मुहिम का पहला नारा है 'सम्प्रदायवाद का नाश हो'। शायद उसमें कानून की भी मदद की राह खोजी जा रही है। स्वीकार करना चाहिए कि मुझे उसमें से साम्प्रदायिकता के शमन की कोई सम्भावना नहीं दीखती है। धर्म-निरपेक्षता नागरिक-भूमि पर अच्छी ही चीज है, जहाँ सब धर्म समान हो जाते हैं। लेकिन हृदय की भूमि पर समान आदर और समान उपेक्षा में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है। धार्मिक वृत्ति में सर्व-धर्म-समादर है। लौकिक वृत्ति में उसे सर्व-धर्म-अनादर कहिए। यह सर्व-धर्म-अनादरवाली लौकिक वृत्ति सम्प्रदाय-वाद की भूख नहीं बुझेगी बल्कि उसे तीखा और तेज कर डालेगी। सम्प्रदाय और धर्म के अनादर से सम्प्रदाय और धर्म से होनेवाले अनिष्ट को टाला जा सकता है यह मेरी आशा और कल्पना

है। यह थोथा अहंकार है। उस प्रकार के नारे या घोष को हाथ में लेकर चलने से होगा केवल यह कि, भारत की धर्मप्राणता से वह से काग्रेस विहीन बनेगी। भारत की काया में सबसे प्रबल प्रेरणा-शक्ति जो सनातन काल से पड़ी हुई है, वह है यही धर्म-भावना। इससे अलग और विच्छिन्न होकर जो राजनीति चलेगी, उसका कोई भविष्य यहां नहीं है। राज्य-शक्ति उसके हाथ में आ भी सकती है, लेकिन लोक-शक्ति का अन्तरंग बल उसे न होगा और एक दिन उसे गिरना होगा। कारण, वह नीति से हीन राजनीति होगी और उस वोट-संगठन के आधार पर वह अपनी विजय चाहेगी जिसे नैतिकता का समर्थन नहीं है। उस प्रकार की दुहाई और वैसे प्रयत्न से सम्प्रदाय उलटे पनपेंगे। इधर मुस्लिम लीग उपजेगी और पनपेगी, उधर जनसंघ और अकाली-दल ताकत पायेंगे। अवज्ञा और उपेक्षा से कोई अस्मिता कभी टूटी नहीं है, बल्कि उसे समर्थन मिला है। अहंकार में कभी नम्रता और ऋजुता आयेगी, तो सामने के आदर-सत्कार की निरहंकारिता में से आयेगी, कभी किसी दर्पोक्ति में से नहीं आ सकती। जो यह कहने की इच्छा रखता है कि वह हिन्दू है न मुसलमान, और यह कहकर मानो गर्विष्ठ बनता है, वह हिन्दू और मुसलमान दोनों से दूर पड़ता है, दोनों को निकट लाने में असमर्थ बनता है। गहरे आदरभाव में से ही हम दूसरे के मन को पा और जीत सकते हैं।

धर्मभाव अपने अन्तिम अर्थ में सृष्टिमात्र के प्रति निश्छल आदरभाव है। यहां गांधी-नीति और गांधी-प्रवृत्ति की याद आती है। हमारा राजकारण उस पद्धति से चला होता तो सम्भव था कि कायदे-आजम जिन्ना से मुफ्ती किफायतुल्ला का अधिक महत्त्व बन जाता और लीग के बजाय कांग्रेस को जमीयतुल-उलमा से अपनी सन्धि-चर्चा चलाने का अवसर आता। तब प्रश्न का धरातल बदला हुआ होता और आज इतनी विकट स्थिति न होती। नियमित नमाज अगर सही मुसलमान की कसौटी होती, जो कि होनी चाहिए थी, तो कायदे-आजम उस पर बहुत सही नहीं उतर सकते थे। धर्म के स्तर तक पहुँचते तो शक्ति और संख्या के बल पर चलनेवाली नीति आप ही गिर जाती। श्री नेहरू के पास वह गहरा दर्शन नहीं है, इसलिए संकीर्णता को काटने और विशालता लाने का उपाय भी उनके पास नहीं रह जाता। सेक्युलरिज्म के नाम पर इसीसे कोई धर्मोत्तीर्णता प्राप्त होती नहीं दीखती, बल्कि संकीर्ण-स्वार्थता का ही बोलबाला दिखाई देता है। हार्दिक धर्म-भाव से भी विमुख होकर चलने से मुझे नहीं लगता, साम्प्रदायिकता के शमन की दिशा में कोई इष्ट-लाभ प्राप्त किया जा सकता है। धर्म आज संगठित संस्था-सम्प्रदाय का रव बन उठा है। अतः धर्म से यदि शाब्दिक भ्रम पैदा होता हो तो हम 'अध्यात्म' कह सकते हैं। अध्यात्म अर्थात् दूसरों में और सबमें वही आत्मा देखना।

इस तरह अध्यात्म द्वारा सबके प्रति एक गहरा आदर और ममत्व का भाव पैदा होता है। यह अध्यात्म भौतिक प्रयोजनवाद पर नहीं टिकता है और उसमें से स्वार्थ-साधन की जगह स्वार्थ-त्याग निकलता है। इस अध्यात्म के स्पर्श से राजपद का महत्व क्षीण हो जाता है और लोक-सामान्य के प्रति आस्था बढ़ती है। सेक्युलरिज्म की राजनीति इस स्पर्श से कोरी रहती है। वही रहा तो इससे सम्प्रदाय को ही नहीं बल्कि गुटवाद और व्यक्तिवाद को भी बल पहुँचेगा जो प्रत्यक्ष दीख भी रहा है।

९५८. जंगली और सभ्य भीड़ और समाज में क्या नीति, नियम, परम्परा और संस्कृति का ही अन्तर नहीं है? हमारे आज के समाज में जो एक अनुशासन-हीनता, विशृंखलता और परम्पराओं को भंग करने की बेचैनी-सी दीख पड़ती है, उसका क्या मूल कारण आप मानते हैं?

भेद धारणात्मक

—सब भेद धारणात्मक हैं। हम अपने को सभ्य मानते हैं। जंगल में रहनेवाली आदिम जातियों को मानकर असभ्य। पर अनेक आधुनिक चिन्तक हैं, जो सभ्यता को कृत्रिम और हीन कहते हैं और वन्य जीवन-पद्धति को अकृत्रिम अतः उत्तम बतलाते हैं। इसलिए फैसला भेद भाव से चलना जोखिम का काम है। अहंकार का तकाजा होता है कि आदमी अपने को बढ़कर समझे दूसरे को घटिया माने। हमारे निर्णयों में यह अहंकार का दोष हो तो किसको पता। अतः व्यक्तियों या जातियों के तुलनात्मक निर्णय दे मैं सकूँगा। किसी परीक्षा के क्रम से प्राप्त अंकों के निर्धारण में नहीं उलझूँगा।

सम्बद्धता और मर्यादा

लेकिन यह ठीक है कि भीड़ और समाज में फर्क होता है। भीड़ में हर-एक हर दूसरे से मानो रगड़ खाता हुआ चलता है। यह असल है पर अलग है और दोनों के बीच सम्बन्ध का कोई सूत्र या मर्यादा नहीं है। समाज में यह सम्बद्धता और मर्यादा हुआ करती है समाज की प्राथमिक इकाई नागरिक है। पहले का सदस्य है। भीड़ में आदमी कोई नाता ([illegible]) नहीं अनुभव करता। वहाँ एक तरह अकेला होता है, सब कर्तव्य से और सब अधिकार से मुक्त मानो वह अपनी न हो, बस हो, बस हो और कुछ भी न हो।

व्यक्तिवाद और समाजवाद की उत्पत्ति

यह सम्बद्धता और मर्यादा का कर्तव्य और दायित्व का आरम्भ नागरिकता

का निर्माण करता है। यह समाज का कोई वाद नही हो जाता, मनुष्य की अन्तर्भूत प्रकृति मे से यह सामाजिकता प्रतिफलित होती जाती है। यदि मनुष्य का प्रकृत और समीचीन विकास हो, तो व्यक्ति पारिवारिक और सामाजिक के अतिरिक्त कुछ हो नही सकेगा। असामाजिक तत्त्व उसमे पुष्ट न होगे। लेकिन हुआ यह कि मनुष्य मे बुद्धि का विकास पिछले दो-ढाई सदियो मे तीव्रता से उछला। विज्ञान उभरा और उसके परिणाम मे मशीनी उद्योग आरम्भ हुए। इस औद्योगिक क्रान्ति मे से घनी आवादियाँ और श्रेणीभाव पैदा हुए। ठीक उसी समय एक नयी आवश्यकता और नयी कोशिश हुई, जिसका नाम हुआ समाजवाद। समाज और उसके सामूहिक हित की एक अलग धारणा वन आयी और मालूम हुआ कि व्यक्ति और समाज दो हैं। आप अचरज मे न पडे, जव मैं यह कहता हूँ कि समाजवाद के साथ ही व्यक्तिवाद उत्पन्न हुआ। मछली इतने अनिवाय भाव से पानी में रहती है कि अपने से अलग पानी के हित का विचार वह नही कर सकती। उसी तरह मानव व्यक्ति साँस लेने तक के लिए समाज पर निर्भर करता है। सम्वद्धता के विना वह हो नही सकता, रह नही सकता। वह पशु नहीं है, मनुष्य है, इसीमे यह समाया है। लेकिन जव समाज एक स्वतन्त्र धारणा और स्वतन्त्र अस्तित्व वन गया, तो मनुष्य को अपने पृथक् व्यक्तित्व का भान हो चला। पहले एक नैतिकता काम करती थी, जिसका एक सिरा स्वय व्यक्ति अपने मे अनुभव करता था। नैतिकता की जगह अव एक समाजवादिता का मूल्य चला, जिसका सत्य मानो व्यक्ति से स्वतन्त्र था, उसमे अन्तर्भूत न था। इस तरह व्यक्ति और समाज का सम्वन्ध उतना सम्पूर्ण न रह गया, वह मानसिक वन गया। मानो वह जीवन-सस्कारिता का विषय न हो, नियम और नियन्त्रण का विपय हो। मैं मानता हूँ कि व्याधि की जड यहाँ है। धर्म-नीति का स्थान समाजवाद ने लिया। अर्थात् समाज-धर्म घटकर समाजवाद तक उतर आया। व्यक्तिवाद का आरम्भ इस तरह समाजवादी विचार के उदय के साथ ही हुआ। पश्चिम में आर्ट और आर्टिस्टिक के नाम से जो पन्थ चलता है, वह समाजवादी विचार की प्रतिक्रिया से अतिरिक्त क्या है?

सामाजिक और स्वगत कर्तव्य

'अनुशासन-हीनता', 'विश्रृंखलन' और 'परम्परा-भग' आदि निपेधक शब्द हैं और दोष-जैसे जान पडते हैं। लेकिन जहाँ से ऐसी प्रवृत्ति आती है, वहाँ दोप का भाव होता ही नहीं, वल्कि वहाँ एक औचित्य और आत्म-समर्थन का भाव दिखाई देता है। अनुशासन-भग को ये लोग आत्म-निर्णय कह सकते हैं। विश्रृखलन को

स्वाधीनता और परम्परा-भंग को नवनिर्माण की प्रगति मान सकते हैं। अर्थात् आप प्रश्न को सामाजिक हित की ओर से देखते हैं, तो वे स्वाधिकार की ओर से। स्पष्ट है कि इस तरह कर्तव्यों की दुहरी धारणा उत्पन्न हो जाती है। एक सामाजिक कर्तव्य दूसरा स्वगत कर्तव्य। सामाजिक कर्तव्य का निर्णय व्यक्ति में से नहीं आ सकता क्योंकि उस पर अधिकार वेलफेयर स्टेट या समाज-शासक का है। वहीं से नियन्त्रण और नियमन चलता है, वहीं ठेका है कि समाज-कल्याण का फैसला करे और इस पर पहरा रखे। अर्थात् सामाजिक हित एक बाह्य तत्त्व बन जाता है, जो व्यक्ति-मानस से स्वतन्त्र है या उस पर दबाव लाता है। इस तरह व्यक्ति की अस्मिता को उससे चोट मिलती खुराक मिलती है और शासन अथवा समाज के प्रति समर्पित होने के बजाय वह अनायास शासन-मुक्त और समाज-मुक्त होना चाहने लगता है। जिसको वामपक्षीय या समाजवादी विचार कहें, उसकी यही समस्या है। उससे अभेद का नाश हो जाता है, व्यक्ति और समाज में भेद की सृष्टि होती है। यह द्वैत बढ़ते-बढ़ते तनाव और फिर विग्रह में फटने और फूटने लगता है। विडम्बना की स्थिति यह बनती है कि शासन की ओर से जो नियन्त्रणीय है श्रमिक या विद्यार्थी या प्रजाजन की ओर से वही अनियन्त्रणीय बन जाता है। समाज और व्यक्ति जो एक ही सत्यता के अंग हैं, समाजवादी विचार और प्रचार से मानो उसके बीच का सूत्र छिन्न भिन्न हो जाता है और वे दो अलग-अलग तत्त्व जैसे आप मानने लगते हैं। तब दृष्टियों और कर्तव्यों में ही द्वैत पड़ जाता है और विग्रह मानो स्वामीभाव तथा सदाचारी-भाव जैसा ही हो जाता है।

नीति के क्षेत्र में अद्वैत हो

उपाय यह है कि दर्शन और कर्तव्य की एक धारणा का निर्माण हो और नीति के क्षेत्र में द्वैत न रह जाय अद्वैत प्रतिष्ठित हो जाय। समाज में राजनीति और मानव-नीति जैसी दो नीतियाँ न रह जायें और राजनीतिक व्यवहार सर्वमान्य रूप से नैतिक बन जाय। आज तो चुनाव-संघर्ष पारस्परिक बदनामी और भ्रष्टाचारी हो मानो विनोद और गौरव की चीजें बन गयी हैं। इस पद्धति से ऊँचे उठे आदमी को हम राजनीतिक ही नहीं सामाजिक और सार्वजनिक सम्मान भी देते हैं। परिणामतः मूल्यों के सम्बन्ध में भारी भ्रान्ति समाज में आ जाती है। नैतिक का अवमूल्यन होता है और राजनैतिक चुटकलों में महत्त्व पड़ जाता है। आप समाज में जिस संकट की ओर ध्यान दिला रहे हैं उसके मूल में मैं यह कारण देखता हूँ। मानो चराचर सृष्टि से तोड़कर समाज की सत्ता को हमने स्वतन्त्र बना दे दी है और उसकी वेदी पर राज्य को देवता के रूप में बिठाकर मानो ईश्वर का

वहिष्कार कर दिया है। ईश्वर घटघट-व्यापी होने से व्यक्ति के भी अन्दर सत्यता प्राप्त कर सकता और नैतिक भाव जगा सकता था, जब कि राज्य सेक्रेटरिएट से वाहर नहीं जा सकता और व्यक्ति को प्रेरित करने के स्थान पर उसे नियन्त्रण ही दे सकता है।

इसीका दूरगामी परिणाम है कि सत्ता सुघटित हो रही है और मानवता विघटित होती जाती है।

व्यक्ति में शैतान

२५९ नियम और कानून का व्यक्ति के जीवन मे आप क्या स्थान निश्चित करते हैं? नियमो, कानूनो की शाश्वता क्या यह नहीं सिद्ध करती कि व्यक्ति-मानस में कुछ है, जो शैतान की सज्ञा रखता है? जब आप व्यक्ति को समाज से बढ़कर महत्त्व देना चाहते हैं, तब क्या इस शैतान का ध्यान आप रखते हैं? व्यक्ति के हृदय मे छिपा यही शैतान क्या समाज के सभी उत्पातो के लिए जिम्मेदार नहीं है? और आज हमारे समाज मे इसीको खुली छुट्टी मिल गयी है। क्या आप इस स्थिति से सहमत हैं?

व्यक्ति में ईश्वर

—नही, मैं शैतान को नही मानता, केवल ईश्वर को मानता हूँ। ईश्वर के किसी विभाव को ही आप शैतान का नाम देना चाहें, तो शायद मैं सहमत हो जाऊँ। लेकिन अगर ईश्वर है तो मूल मे शैतान कहाँ से हो सकता है? इसलिए शैतान का शुद्ध नाम असत् है।

व्यवस्था-विचार, नैतिक-विचार

लेकिन व्यवहार मे यही मानकर चलिये कि शैतान है। भाषा मे यह कहना सहसा निरर्थक नही है। जान पडता है कि असत् की भी सत्ता है। व्यक्ति मे शैतान विद्यमान रहता है। वैसा न होता, तो उद्यम की आवश्यकता न थी। न पुरुषार्थ मे ही तब कुछ अर्थ रह जाता। लेकिन समाज सत् का प्रतीक है, व्यक्ति असत् का, यह मानना एकदम भूलभरा है। समाज पर व्यक्ति की प्रधानता मैं चाहता हूँ, यह कल्पना आपने कहाँ से ली? नहीं, प्रधानता और गौणता का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यक्ति प्रत्यक्ष है, समाज परोक्ष। उनमे तुलना और तरतमता का प्रश्न नही है। समाज सम्बद्धता का नाम है। जिनमे परस्पर सम्बन्ध होने से समाज वनता है, वे घटक व्यक्ति कहलाते हैं। अर्थात् समाज प्रतिविम्ब है, उस तथ्यता

रूप भी उन सम्बन्ध-सूत्रों में प्रवाहित है। समाज घटकों से स्वतन्त्र और भिन्न हो ही नहीं सकता। समाज की ओर से व्यक्ति पर जो नियम और नियन्त्रण आते हैं, वे इस कोड या उस संहिता में अंकित हो सकते हैं लेकिन अमल में वे दोनों तरफ से व्यक्तियों द्वारा आते हैं। अर्थात् कराता है वह भी व्यक्ति है, करता है वह भी व्यक्ति होता है। जब हम समाज और व्यक्ति को दो मानकर विचार करने लग जाते हैं, तो जज और अपराधी दो अलग खानों में पड़ जाते हैं। अपराधी व्यक्ति रह जाता है और जज मानो समाज हो जाता है। जज को हम ऊँची कुरसी और मोटी तनख्वाह देते हैं अपराधी ठहराकर दूसरे को जेल की कोठरी दे डालते हैं। अपराधी व्यक्ति को जज की तनख्वाह के पैसे मिलते तो वह अपराधी होता नहीं और जज को अपराधी की लाचार परिस्थिति मिलती तो वह उसी तरह ऊँचा और शाइस्ता बना रहता कि नहीं यह विचार सहसा मन में नहीं उठता है। इसलिए कहते हैं कि धर्मराज के न्याय में स्थिति नहीं देखी जाती, मन देखा जाता है। मैं भी मानता हूँ कि व्यवस्था-विचार के आगे एक नैतिक विचार की आवश्यकता रहा करती है। व्यवस्था-विचार में से राजनीति जन्म लेती है और वहाँ कुछ दण्ड आदि उचित बने रहते हैं। लेकिन यदि समाज को संस्कार मिलना हो, मानव-संस्कृति का विकास होना हो तो उसके लिए मूलगामी विचार आवश्यक और अधिक उपयोगी होता है।

नियमन पर का नहीं, स्व का हो

नियमन और नियन्त्रण समाप्त नहीं हो सकता और नहीं होना चाहिए। कारण वह समाज और व्यक्ति में अन्तर्भूत है। किन्तु शैतान को नियन्त्रित और पराभूत करने का आशय उलट जायगा अकारथ हो जायगा अगर हम शैतानों और भग-वानों की श्रेणियाँ समाज में पैदा कर दें और मान लें कि दुर्जनता और सज्जनता श्रेणीबद्ध हुआ करती है। असल में भगवान् और शैतान दोनों ही हरएक के अन्दर हैं। इसलिए वह नियमन और नियन्त्रण काम देगा जो उत्तरोत्तर आत्म-नियन्त्रण का रूप लेते जाना चाहता है। राज-तन्त्र गिर रहे और प्रजा-तन्त्र उनका स्थान लेते जा रहे हैं, इसीमें गर्भित है कि अन्ततः न्याय और नियन्त्रण वह काम देगा, जो राजा का नहीं, प्रजा का है। आशय किसी पर का नहीं अपने स्व का है।

मतवादी अहंकार

व्यक्ति के भीतर का भिन्न-भिन्न स्तर एक प्रकार का अंकुश रखता है। विवेक के अंकुश से कोई व्यक्ति मुक्त नहीं। इसलिए वह निश्चित मान लेना चाहिए, और

मनोविज्ञान इसे प्रमाणित करता है, कि शैतान बनने मे इन्सान को अपने से काफी झगड़ना और कष्ट उठाना पड़ता है। यदि हम इस श्रद्धा के आधार पर शासन को अनुशासन का रूप देने की कोशिश करें, तो फल अधिक हो सकता है। इसका अर्थ है कि अनुशासन का आरम्भ स्वय-शासन से हो। शासन निरकुश होगा तो निश्चय मानिये, नियन्त्रण कितने भी दृढ हो, कितनी भी गहरी चौकसी का बन्दोबस्त हो, अनीति और अपराध बढ़ेगे। आवश्यकता इस बात की है कि अपने को भगवान् और दूसरे को शैतान मानने की भूल से पहले छुटकारा हो। मतवादी अहकार मे ऐसा अक्सर हो जाया करता है कि सत्यता और सज्जनता का हम अपना ठेका मान लेते हैं और बुराई और दुर्जनता के आरोप को सब दूसरो पर थोपा करते हैं।

समाज केवल एक ओट

नियन्त्रण आवश्यक है। शैतान को शैतानियत का मौका नहीं मिलना चाहिए। पर कौन तय करे कि शैतान कौन है, कौन नही। सच है यह कि शैतान फैला है और सबके भीतर भी है। इसलिए व्यवस्था और राज्य की यह नीति, जो शक्ति के जोर से काम करती है, अक्सर बहुमत मे सत् और अल्पमत मे असत् मान लिया करती है। अमुक व्यवस्था मे भोगप्राप्त सम्पन्न-वर्ग को सज्जन और विपन्न-वर्ग को दुर्जन मान लिया जाता है। इस तरह निर्वाचित सम्पन्न-वर्ग की ओर से सामान्य विपन्न-वर्ग के लिए नियन्त्रणो की सृष्टि की जाती है। इस पद्धति से कभी भी शैतान हारेगा और भगवान् की जय होगी, ऐसी दुराशा नही रखनी चाहिए। हमारे सोचने की पद्धति मे अक्सर यह दोष रह जाता है। अपराधी के सम्बन्ध मे विचार करते समय जैसे हम अपने को समाज का प्रतिनिधि मान लिया करते हैं। ऐसे हम दोनो के बीच स्वरक्षा और प्रतिरक्षा का सम्बन्ध बन जाता है, सहानुभूति का सम्बन्ध नही रहता। सच यह कि हम सबको अपने से पूछने की आवश्यकता है कि वह समाज क्या है, जिसके इतनी आसानी से हम मनमाने प्रतिनिधि बन जाया करते और दूसरे के दोषो का विचार किया करते हैं। तनिक विश्लेषण मे जायें तो जान पड़ेगा कि उस समाज का अस्तित्व कही नही है। वह एक ओट है, जिसकी सृष्टि हम नियन्त्रक वर्ग के लोग स्वय अपने बचाव के लिए कर लिया करते हैं।

आत्म-नियन्त्रण ही इष्ट

यह नही कि मैं व्यवस्था-भग चाहता हूँ और व्यवस्थापक-विचार के लिए कोई

अवकाश रहने देना नहीं चाहता। यद्यपि इसमें शक नहीं कि वह दिन शुभ होगा जब राज्य और राजनेता अपना काम करके समाप्त हो जायेंगे और मानव समाज सीधे मानव-नीति से अपने को चलाने में समर्थ होगा। वैसा शासन और सेनामुक्त समाज जब भी हमारे भाग्य में आनेवाला हो लेकिन उससे पहले जब तक मनों में शैतान और कामों में शैतानियत है, तब तक हर तर्क से असम्भव है कि ऊपर से आनेवाला राज और समाज का नियन्त्रण समाप्त हो सके। बाहर से समाप्त करने का उपाय इतिहास में बराबर होता और किया जाता रहा है। क्रान्तियाँ जिन्हें कहा जाता है, उसी प्रकार के प्रयत्नों का नाम है। लेकिन हर क्रान्ति के बाद अधिनायक आया है और नियन्त्रण सख्त से और सख्त हुए हैं। अर्थात् बाहर से नियन्त्रणों की समाप्ति न इष्ट है न सम्भव है। उसकी समाप्ति उतनी ही मात्रा में सम्भव होती जायगी जिस मात्रा में उसकी आवश्यकता मिटती जायगी। दूसरे शब्दों में जिस अंश में आत्म नियन्त्रण बढ़ेगा उसी अनुपात में राज्य-नियन्त्रण अल्पतर और कम होगा।

शैतान विवेक से सिमटेगा

शैतान में संगठन की शक्ति होती है। वह दुनियाओं और अधोलोकों को संचित और सुरक्षित कर लेता है। इसमें यह भाव है कि संगठन के जोर से कभी शैतान को समाप्त नहीं किया जा सकेगा। भगवान् का प्रतिनिधि अन्तःकरण में बैठा विवेक है। उससे शैतान डरता और हमेशा मुँह की खाने को तैयार रहता है। उस गुण के द्वारा ही मैं मानता हूँ शैतान के असर से निबटा जा सकता है। दूसरे तथा सैन्य सत्ता की ओर से नियन्त्रण को बढ़ाने की चेष्टाएँ शैतान का काम तमाम नहीं कर सकतीं। बल्कि कहना चाहिए कि उस तरह से चेष्टाएँ स्वयं को ही परास्त और समाप्त कर निबटती हैं।

क्रान्ति का मूल मन में

११ तब क्या सामाजिक उथल-पुथल और क्रान्तियों का मूल आप मन और मनोविज्ञान में तलाशने जायेंगे? यदि यही आपकी मान्यता है तो आर्थिक और सामाजिक विषमताओं को जो लोग सामाजिक क्रान्तियों का मूल मानते हैं, वे क्या एकदम गलत कहते हैं?

जलधारा और तट

—हाँ मैं मानता हूँ कि मूल में जीवन-प्राण का वेग है, जो क्रान्तियों को सार्थकता देता है। नदी उस जल से सार्थक है जो उसमें बहता है। लेकिन किनारे हम निगाह से लिया करते हैं और जो तीर्थ बनते हैं वे उस जल में नहीं तट पर बनते

है। इस तरह तटो का महत्त्व हो जाया करता है। व्यवस्था की ओर से जीवन-प्रश्नो को देखनेवाली विचारधारा तटो पर बहती और तटो का विचार करती है। मैं कहना चाहता हूँ कि यदि जलधारा न हो, तो तट का या तीर्थ का प्रश्न ही उपस्थित न हो।

इसीलिए जो मर्मी और अनुभवी जन हो गये हैं, वे विद्या को अविद्या और ज्ञान को अज्ञान तक कह देते हैं। उनका वह वक्तव्य निस्सार नहीं है, उसमे गहरा सार है। इसीलिए आप देखियेगा कि जो लोग क्रान्ति के सम्बन्ध मे बहुत जानते है, वे क्रान्तिकारी नही हुआ करते हैं। भाव-सम्पन्न व्यक्ति कोई होता है, जहाँ से क्रान्ति का आविर्भाव होता है। मैं इस मनुष्य की भाव-सम्पदा को सबसे मूल्यवान् ऐश्वय मानता हूँ। इसके बिना बोधात्मक सारी जानकारी छूछी और थोथी हो जाती है। उसमे से कोई सृष्टि नहीं होती, केवल विवाद पैदा होता है।

मानवीय चैतन्य मुख्य पूजी

आर्थिक और सामाजिक विषमताएँ क्रान्ति के मूल मे इस कारण रही कही जा सकती हैं कि वे मनुष्य के मन मे भाव और विचार की हिलोर पैदा करती हैं। आखिर चेतना मे स्फूर्ति बाधाओ के कारण आती है और सामाजिक एव आर्थिक विषमताएँ जब चेतना के वेग को रोकती और घोटती हैं, तो वही चेतना उत्स्फूर्त होती है और उन विघ्न-बाधाओ को तोड-फोड डालने के लिए मचल उठती है। मानवीय चैतन्य (ह्यूमन-स्पिरिट) हमारी मुख्य पूजी है और किसी आर्थिक एव सामाजिक विचार मे उस मूल पूंजी की बात को ओझल कर जाने मे खतरा ही खतरा है। यह वह तत्त्व है, जो हिसाब की गणना मे नही आता और जिसे 'इन-डिटरमिनेबिल फैक्टर' कहते हैं। क्रान्तियाँ आखिर इसीलिए होती हैं न, कि राजनेताओ के हिसाब मे कही कुछ छूटा रह जाता है। हर सरकार अपनी व्यवस्था भरसक चौकस रखती है। फिर भी क्रान्तियो को यदि होना पडता है, तो इसीलिए कि जीवन-तत्त्व आकिक हिसाब मे घिर नही पाता। इसलिए उस आकिक हिसाब पर प्राथमिक श्रद्धा रखने की मैं आपको कभी सलाह नही दे सकूगा।

युद्ध या शान्ति मानव-मन में

हिसाब उपयोगी होता है जब प्रश्न उस चित्-धारा को तट देने का आता है। तट का मार्ग और तट पर निर्माण क्या कैसा हो, इसका निर्धारण बहुत सगत हो जाता है। किन्तु निश्चय मानिये कि आदमी का काम उस मूल धन के बिना चल नही सकता, जिसका निर्माण स्वय आदमी के हाथ मे नही है, बल्कि जो

कालक्रम से उसे प्राप्त होता है। यही वस्तु जीवन में श्रेय है। इसीलिए कहना होता है कि मनुष्य का बहुश्रुत सोच-विचार जीवन-निर्माण की दृष्टि से पर्याप्त साधन-सामग्री नहीं है वैसा उससे आगे श्रद्धा और समर्पण की भी आवश्यकता होती है। श्रद्धार्पण उसी परम तत्त्व के प्रति जिसमें काल का समस्त इतिहास और वस्तु का समस्त तथ्य समाया हुआ है। जो मनुष्य को और उसके मन को नहीं जानता है, केवल पुस्तकों को जानता है, वह शान्ति नहीं ला सकता। आज बीसवीं सदी की अत्याधुनिक संस्था यूनेस्को भी इस घोषणा से अपना काम आरम्भ करती है कि युद्ध का जन्म मानव-मस्तिष्क में से होता है। और वही है जहाँ से शान्ति-निर्माण को आरम्भ करना होगा। इसका आशय यह नहीं कि समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र की रचना में काम आनेवाली मनुष्य की मेधा-बुद्धि व्यर्थ गयी है। लेकिन यह अर्थ अवश्य है कि वे शास्त्र निर्जीव और निकम्मे रहेंगे जब तक मानव-मन के साथ वे अपना योग नहीं साध सकेंगे।

मनों को जोड़ना ही सबसे बड़ी साधना

मानव-मन की बात करते समय एकाएक जैसे हमारे सामने निरा एकाकी व्यक्ति आ रहता है। हमको लगता है कि मानव-मन की बात कहकर अर्थतन्त्र के और विश्व के प्रश्न को एक झटके पर टाल दिया गया है और समष्टि की गुरुता और गौरव का ध्यान नहीं रखा गया है। समूचे प्रश्न को जैसे भावुकता के तरीके खींच दिया गया है। लेकिन विश्व को और अर्थतन्त्र को आप अगर छू सकते, पकड़ सकते हैं तो इस प्रत्यक्ष मानव-व्यक्ति के द्वारा ही पकड़ सकते हैं। अन्यथा और सब पकड़ झूठी और अयथार्थ सिद्ध होती है। जो दर्शन अपने को और अपने पड़ोसी को भूल जाता है और आत्मा-परमात्मा की सत्ता को लेकर चराचर जगत् के सम्बन्ध में निर्णय कर डालता है, व्यर्थ और आडम्बरमात्र होता है। नाना रचनाओं से हम मानो विश्व को चीन्हित कर लेते हैं और तरह-तरह के बुद्धि प्रयोग और विश्लेषण-व्यवच्छेद द्वारा उसका उपचार और सुधार कर डालना चाहते हैं। लेकिन इस प्रकार के बुद्धि-व्यापार से कोरा अपना मन बहलाव होता है, विश्व का उद्धार आदि नहीं हो पाता। मानव-व्यक्ति और मानव-मन ही वह पूँजी है, जिससे संसार छूने से सचमुच छुआ हुआ मालूम हो सकता है, अन्यथा संसार के सम्बन्ध की धारणाओं से हम खेलते और बहलते ही रहते हैं न हम अपने लिए सुलझते हैं, न संसार हमारे लिए सुलझता है। यह इतिहास के इस तथ्य से सिद्ध हो जाता है कि जो लोग मानव-व्यक्ति की बात में बराबर लगे चले जाते हैं, वे नहीं हैं, जिन्होंने संसार के साथ खेल-मौज का काम किया जिन्होंने

प्रचण्ड और अन्धाधुन्ध युद्ध किया। वल्कि वे ये हैं, जिन्होंने अपने मन को साधा, अपने को जीता और इस राह सब दूसरो को और उनके मनो को अनायास जीत डाला। प्रेम को ज्ञान से वडा ज्ञान इसीलिए वताया गया है। ज्ञान दूसरे पर जाता है, प्रेम दूसरे मे जाता है। मानो स्व-पर मे वह एकता ला देता है, जब कि ज्ञान द्वैत को आवश्यक रखता है। इसलिए अन्तिम द्वन्द्व का समाधान उसके पास नहीं है, युद्ध को वह निवटा नही सकता है। प्रेम है, जो अद्वैत तक जा सकता और उस अद्वैत-भाव को ला सकता है। इसीसे मानव-मन को शास्त्र-ज्ञान से पीछे नही, पहले ही मानने का आग्रह मैं रखता हूँ।

समाज कहाँ है ?

२६१ मन में से किस प्रकार सामाजिक रीति-रिवाज और परम्पराएँ, व्यवहार, सभ्यता, सस्कृति और इतिहास निकल चलते हैं? अर्थात् मन किस प्रकार सामाजिक सस्थाओं का नियमन और अनुप्राणन करता है? इस प्रक्रिया पर तनिक प्रकाश डालें।

—समाज कहाँ है? मेरी अवतक उससे कभी भेट और बातचीत नहीं हुई है। आप देखने चलिये, मुझे सन्देह है कि वह सचमुच आपको कही दीख पायेगा। असल में वह धारणात्मक सज्ञा है, वस्तुवाचक या व्यक्तिवाचक नहीं है। समाज के नाम पर हरएक अपनी धारणा को देखता है। इसीलिए है कि आपस मे विरोधी मत, कार्य-क्रम और विश्वास रखनेवाले सभी लोग समाज के नाम पर सामने आते और विग्रह उठाते हैं। अनेक वाद हैं, सभी जैसे समाज के कल्याण के लिए वनते हैं, फिर भी अलग और विरुद्ध होते हैं। इसलिए कार्यकारी विचार के लिए दुहाई देकर समाज-सज्ञा को अपने बीच में लायें तो सहायता नहीं होती है। हम जिन लोगो के बीच रहते हैं, वही हमारे लिए समाज हो जाता है। आर्य-समाज, जैन-समाज, दिल्ली-समाज, महिला-समाज, विद्यार्थी-समाज आदि-आदि समाज ही हमारे लिए समाज होते हैं। बहुत वढ़े, तो भारतीय समाज कह लिया। अर्थात् बिना विशेषण के वह विशेष्य टिकता नही है और निर्विशेष्य भाव से उसके साथ व्यवहार करने मे खतरा है।

स्व-परता ही प्रत्यक्ष सत्य

जो चीज एकदम प्रत्यक्ष है, वह है स्व-पर भाव। मैं अपने को मानता हूँ यह स्व-भाव, दूसरे को गैर मानता हूँ यह पर-भाव। इस स्व-परता मे मनुष्य धीरे-धीरे परस्परता पैदा करता है। समाज का आरम्भ मानो इस परस्परता का आरम्भ

है। परस्परता में यह अभिप्राय है कि किसीके लिए मैं भी दूसरा हूँ, इसलिए दूसरा भी मेरे समान है। इसीमें से आपसीपन पैदा होता है और आत्मीय भाव का फैलाव होता है। अतः समाज यदि प्राप्त बनता है, तो इस परस्परता में प्राप्त बनता है। समाज मानो वह क्षेत्र है, जहाँ परस्परता के सहारे हमारा आत्मीय भाव विस्तार पाता जा सकता है।

इसीमें समाज-संस्कृति की सृष्टि

असंख्य वर्षों में पशु से उठकर मनुष्य ने गैर को अपनी तरह पहचानना शुरू किया और समाज का बीज पड़ गया। यह गैर को पहचानने और फिर उसमें अपनेपन को उतारने और झाँकने की क्षमता मन के सिवा और कहाँ से आयी मानी जा सकती है? हम न करें दूसरे के प्रति वह, जो अपने लिए नहीं चाहते हैं, यह सूत्र कहाँ से हाथ आया हो सकता है? स्व-परता और परस्परता के बीच से ही सारे सामाजिक व्यवहार की सृष्टि हुई है। रीति-रिवाज पद्धति निकले हैं, परम्पराओं का निर्माण हुआ है। संस्कृति इसी प्रकार उपार्जित हुई है और सभ्यता ने उससे प्रकाश पाया है। इतिहास बना है, जो केवल कार्य-कलाप का नाम नहीं है, बल्कि विकास क्रम का लेखा-जोखा है।

प्रभाव आन्तरिक सत्त्व से जुड़ा

प्रभाव कैसे बनते और फैलते हैं? हमारे पास का एक व्यक्ति कैसे क्रमशः सार्वजनीन और सार्वभौम हो जाता है और हम स्थानिकताओं में ही परिमित रह जाते हैं? उधर क्यों विस्तार पा जाता और इधर क्यों सीमित रह जाता है? इसी तरह और भी नाम-धाम मण्डित हो रहा है, उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा करें और उत्तर पाना चाहें, तो मालूम होगा कि वह सब सत्ता कहीं-न-कहीं मानव के आन्तरिक सत्त्व से जुड़ी है। जो होता है, सर्वथा मनमाना और अटपटा ही नहीं होता है। बल्कि मानव-मन से उसकी वृत्तियों और हेतुओं से वह जुड़ा होता है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मन का संस्कार बाहर से असंगत और उसके प्रति प्रभावहीन हो जाय? इसी प्रकार पारस्परिक मानवीय प्रभावों से मानव-समाज का काम-काज चलता है और उन्हीका समन्वित परिणाम है, जिसे राजनीति कहा जाता है। राजनीतिक तल पर जो हो रहा है, वह मानव-तल से इस तरह विच्छिन्न हुआ नहीं है और न इसलिए उसके परिष्कार का प्रश्न मानव-मन के प्रश्न से दूर जा सकता है। परन्तु यह सम्भव हो सकता है कि मन को बाद देने से हमारा किया हुआ सब कुछ सही अर्थ में कोई संस्कार या

परिष्कार समाज को न दे पाता हो और बहुत-कुछ व्यर्थ का ही कार्य सिद्ध होता हो।

मन, सेक्स, अर्थ और संस्था

२६२ मन, सेक्स और अर्थ इन तीन का सामाजिक संस्थाओं से आप क्या स और तारतम्य देखते हैं?

—संस्था शब्द स्थूल और सूक्ष्म दोनो अर्थों मे काम आता है। स्थूल के केन्द्र मे आप हमेशा एक व्यक्ति को पायेंगे। जब तक केन्द्र इस तरह ि है, तबतक संस्था सजीव रहती है। जब केन्द्र टूटता है, तो संस्था ही । जाती है। उसके विधान की पोथी से न कोई संस्था चली है, न सकती है।

सूक्ष्म अर्थ में उन परम्पराओ और मूल्यो का बोध होता है, जो समा प्रचलित है।

इनके सूक्ष्म अर्थ भूख और भोग

मन, सेक्स और अर्थ इनमे अर्थ यह स्थूल तत्त्व है, जिसको शेष दोनो से आसा अलग किया जा सकता है। वह अपनी स्थूलता मे इधर राज्य-संस्था से जु और उसका रूप सिक्का है। लेकिन अर्थशास्त्र के द्वारा उसके सूक्ष्म मूल मे तो वह व्यक्ति की कामना और आवश्यकता से जुड़ा है। सेक्स को भी कुछ और मूर्तभाव मे लिया जा सकता है। वह शरीर में व्यक्त है और शारीरि में आबद्ध उसे देखा जा सकता है। पर जानकारो ने बताया कि वह इस सीमित नहीं है। जिन्होंने विज्ञान द्वारा मन के मर्म को पा लेने का प्रयत्न अभ्यास किया, उन्होंने खोजकर बताया कि सेक्स उसके भीतर तक गया हुआ यहाँ मुझे फ्रायड आदि की चर्चा नहीं करनी चाहिए, जिन्होंने मूल तत्त्व 'लिबिडो' का नाम दिया, जिसे सेक्स का ही सूक्ष्म स्वरूप कहा जाता है। इस स्थूलता से छूटकर ये तीनो चीजें बहुत आस-पास आ जाती हैं। मुझे कहना चा कि मन के आवेग भूख और भोग के रूप मे प्रकट होते हैं। स्थूल मे उसे शिश्न की समस्या कह दिया जाता है। शिश्न सेक्स, उदर अर्थ। उदर की समस्या आर्थिक और सामाजिक मान लिया जाता है, जब कि शिश्न की समस्या वैयक्तिक। हम देख सकते हैं कि मन से भूख और भोग दोनो जुड़े हैं और अ व्यक्ति के नाते वे दूसरो के साथ जुड़ जाते हैं। अपनी तृप्ति की राह मे वे पारस्प और सामाजिक बन जाते हैं। कामना बाहर की ओर, उपकरण और सा

सामग्री की ओर चलती है, तो उसका आर्थिक रूप हो जाता है। उसका सम्बन्ध वस्तु और देह से अधिक होता है। काम की अभिव्यक्ति दैहिक हो, लेकिन उसे मानसिक कहते हैं। उसका एक नाम 'मन्मथ' है। मन में 'मन्थन' चलता है, तब मानो तल में से काम की सृष्टि होती है। काम द्वन्द्वज है और इसीलिए वस्तुत्व अथवा व्यक्तित्व की माँग उसे कम और पुरुष से पुरुषत्व एवं स्त्री से स्त्रीत्व की माँग उसे अधिक हो जाती है। मानव यहाँ पुरुष और स्त्री में बँट जाता है और आत्मा की एकता यहाँ खण्डित हो जाती है। आत्मा की ओर से सब स्त्री-पुरुषों में एक व्यक्तिमत्ता है और वहाँ स्त्रीत्व और पुरुषत्व की कोई समस्या नहीं रह जाती है। किन्तु काम मन से और तन से उत्पन्न होता है और इसलिए मिथुन और मैथुन में ही उसकी सिद्धि है।

मन की कामना मैथुन और अर्जन में व्यक्त

इससे आगे मैं नहीं समझता कि यहाँ आप और हम जा सकते हैं। मन को इतर सूक्ष्मता की ओर ले जायें तो आखिर आत्मा में पहुँचना पड़े। लेकिन यह अनावश्यक है, यहाँ की चर्चा अनिर्वचनीय क्षेत्र में पहुँच जाती है, जहाँ मौन ही उत्तम है और प्रतिपादन कुछ हो नहीं सकता है। समाज के सन्दर्भ से यह चर्चा छूट जाती है और यह बिलकुल उसे उपयोगी नहीं रहने देती। यह स्पष्ट हो ही गया है कि मन के द्वार में से कामना बाहर की ओर जाती है, तो उपभोग का रूप ले लेती है, जिसकी निष्पत्ति एक ओर मैथुन में दूसरी ओर अर्जन में होती है। मैथुन में पर-व्यक्ति को मानो भिन्न व्यक्ति को, लेते और उसमें भोगासक्त होते हैं। अर्जन में हम व्यक्ति की जगह वस्तु को लेते हैं और भोग की तरह उपभोग का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। परस्पर यह अन्तर दोनों में देखा जा सकता है और भोग के कारण एक को वैयक्तिक और उपभोग के कारण दूसरे को सामाजिक कहा जा सकता है। लेकिन सच यह कि कामनामात्र स्व को पर के प्रति उन्मुख करती है और इस तरह दोनों में उन्मुखता पैदा करने के कारण परस्परता को सिद्ध और सम्पन्न करती है। आदमी का मन यह है, जो सम्बन्ध चाहता और उस सम्बन्ध का विस्तार चाहता है। कहना चाहिए कि आदमी के अन्दर यह सामाजिकता का केन्द्र है। मन के मर्म में ही यदि पहुँच सकें तो सम्भव है कि पता चले कि वहाँ तो समाज का ही नहीं बल्कि समष्टि का केन्द्र विद्यमान है। परमेश्वर अन्तर्यामी है और मैं सचमुच मानता हूँ कि अन्तर्मन या अन्तःकरण मन में परमेश्वर का ही वास है। लिबिडो या कामना आदि ऊपरी स्तर की बातें हैं, मूल तल तक पहुँचें तो आखिर ईश्वरत्व के सिवा दूसरा कुछ हाथ नहीं आयेगा।

राजनीतिक नियन्त्रण

२६३ समाज का बाहरी राजनीतिक नियन्त्रण आपको स्वीकार नहीं है। और व्यक्ति-मन मे शैतान की सत्ता को भी आप स्वीकार कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में वर्तमान युग की वैज्ञानिक परिस्थितियों और विभीषिकाओं के बीच व्यक्ति-मन को नियन्त्रित और ईश-सयुक्त रखने का क्या उपाय आप प्रस्तावित करते हैं? आज जब मनुष्य पूरी तरह अपने मूल से उखड़ चुका है और पूरे वेग से विनाश की ओर वढ़ रहा है, तब क्या एक राजनीतिक नियन्त्रण ही हमारे पास नहीं रह जाता है, जिस पर हम भरोसा रख सकें? क्या व्यक्ति-मनों को स्वतन्त्र छोड़ देने का खतरा भारतीय या कोई भी समाज ले सकता है?

—नियन्त्रण यदि अन्दर नहीं है, तो वाहर होगा ही और फिर उसको अस्वीकार करने का कोई अर्थ नही होता है। मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जो विद्रोह के द्वारा वाह्य नियन्त्रण से लडना चाहते हैं। आत्म-नियन्त्रण के द्वारा जो वाह्य-नियन्त्रण से लडाई होती है, उसका प्रकार दूसरा हो जाता है। उसमें दोनो ओर स्वीकार और परस्पर आदर हो सकता है।

शैतान की सार्थकता

व्यक्ति-मन में शैतान को मैं शर्त के साथ स्वीकार करता हूँ। शर्त यह कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। भगवान् को सिद्ध से सिद्धतर करने के लिए मानो शैतान मनुष्य के मन मे उपजता है। अर्थात् शैतान की भी सार्थकता है और वह भगवान् को भीतर जगाकर अपना अवसान और निर्माण प्राप्त कर लेता है।

भरोसा भगवान् में

भरोसा राजनीतिक नियन्त्रण का ही किया जा सके, तो शैतान के लिए काम बाकी रहे चला जायगा। दमन का विद्रोह के साथ अविनाभाव-सम्वन्ध है। दमन तब तक ही हो सकता है, जव तक विद्रोह है। अर्थात् विद्रोही वृत्ति को अपने बीच रख-कर दमन को सार्थक ही किया जा सकता है। कानून और अपराध अन्त तक साथ चलेंगे। कानून और कानून के प्रहरी पुलिस वगैरह का भरोसा रखना मानो तय करना है कि पुलिस को हम काम जुटाते रहेंगे। पुलिस आदि को वेतन हम तभी तक देते जा सकते हैं, जव तक उसके लिए काफी काम भी पैदा होता रहता है। अर्थात् पुलिस के औचित्य और समर्थन के वास्ते समाज के लिए आवश्यक रहेगा कि वह अपरावो की सृष्टि करता चला जाय। राजनीतिक तन्त्र और नियन्त्रण का भरोसा अन्त में यह जतलाता है कि मनुष्य का भरोसा हमें कम है, मनुष्य के भीतर

के शैतान का भरोसा ही ज्यादा है। लेकिन मेरा भरोसा भगवान् में है, शैतान में नहीं है। इसलिए मैं मानता हूँ कि यदि शैतानियत भी आदमी में से आ रही है, तो इसका अभिप्राय केवल यह है कि ज्यादा और पाप की कुरेद में से उसे अपनी ही भगवत्ता की झाँकी मिल जाये और इस तरह शैतान का काम पूरा हो।

आत्म-नियन्त्रण से सम्यक्-दर्शन

सच पूछिये तो मैं यह चाहूँगा कि हम इस द्वन्द्व की प्रकृति को अच्छी तरह समझने लग जायें। अपराध को दण्ड और दण्ड को घृणा जब हम देते हैं, तो मानो इच्छा-पूर्वक एक विरोधाभास में फँस जाते हैं। दण्ड को जब तक घृणा के लायक समझिये, तब तक आवश्यक है कि दण्ड के लायक जिसे समझा जा सके, ऐसा तत्त्व पैदा होता रहे, जिससे सन्तुलन बना रहे। पहली आवश्यकता यह है कि उस घृणा के भाव को हम छोड़ें, तब धीरे-धीरे दण्ड के भाव से भी हमको मुक्ति मिलेगी। और मैं मानता हूँ कि यह दर्शन, जिसे सम्यक्-दर्शन या सापेक्ष-दर्शन भी कहा जा सकता है, हमें यथावश्यक आत्म-नियन्त्रण देगा। यह विग्रह-युद्ध की स्थितियों से निकाल कर हमें सीधा सच्चा इन्सान बनाने में मदद करेगा।

स्व-रति और पर-घृणा

मैं मानता हूँ आज के संकट में घोरता इसीलिए आयी हुई है कि हम अपने को, अपने मत को और देश को और विरोध को इतना प्यार करते हैं कि दूसरे के लिए द्वेष ही शेष बच रहता है। स्व-रति पर-दर्शन को प्रोत्साहन और समर्थन देती है। इसी वृत्ति में से शस्त्रास्त्र का निर्माण उचित समझा चला जाता है। शैतान से अपने को हम बरी मानते हैं और शैतान दूसरे को मानते हैं। इसलिए उस डर में से शैतान को खतम करने के लिए खूब शस्त्रास्त्र की तैयारी करने लग जाते हैं। इस तैयारी में दोनों तरफ कोई यह नहीं समझ पाता कि डर में से हम अपने भीतर की शैतानियत को ही जगा रहे होते हैं। इस तरह दोनों जगह शैतान काम करने लगता है और दूसरे को दिखाकर वैसे अपनी और औचित्य और समर्थन का निर्माण करने लग जाता है। हिंसा से हिंसा को, शैतान से शैतान को काटने का भ्रम इस विषम चक्र को बढ़ाता ही चला जाता है। अगर हम दूसरे में शैतान को देखना यत्नपूर्वक बन्द कर सकें, तो सम्भव है कि हिंसा को अहिंसा से काटने का उपाय हमें नजर आ जाय। मैं मानता हूँ कि इस दर्शन का उदय जब होगा, तो सारी समस्या दूसरे ही रूप में दीखने लग जायगी। युद्ध यदि रहेगा तो एक पक्ष अहिंसा के उपकरणों से उसमें अनिवार्यतया निकल आयेगा। तब विश्वसंकट की

आप वात कहते हैं, उससे पार निकलने का उपाय भी दीखने लग जायगा। उपाय यह नही है कि दूसरे मे शैतान को देखकर हम अपने शैतान से उसका मुकावला करें। उपाय यह है कि शैतान को देखकर और भी भगवान् मे हमारी गहरी श्रद्धा हो और शैतानियत के मुकावले के लिए हम भागवत उपायो का अवलम्वन करें। मैं मानता हूँ कि नियन्त्रण और शस्त्रास्त्र का भरोसा उस उपाय की तरफ से हमारी आँखों को अन्धा वनाये रखेगा और कभी वह प्रकाश हमारे समक्ष प्रकट होगा, उसकी श्रद्धा जागेगी तो तभी, जब हमारी आँखो पर से इस मोह की पट्टी दूर होगी। जब वस्तु-बल, अस्त्र-शस्त्र-सैन्यवल के विरोध मे मनोबल, तपोवल और आत्मवल की प्रतिष्ठा होगी और उस वल से जीना, लडना और जीतना हम जानेंगे।

अनुत्तर-दायित्व, अनुशासन-हीनता

२६४ ये कुछ प्रश्न मैंने इसलिए किये कि प्रस्तुत प्रश्न के लिए भूमिका तैयार हो सके। मैं भारतीय समाज की आज की दूसरी सबसे बडी समस्या यह मानता हूँ कि हमारे समाज में सेक्स, अर्थोपार्जन और पद-लाभ इन तीन क्षेत्रों मे भीषण अनुत्तर-दायित्व, अनुशासन-हीनता और भ्रष्टाचार फैल चुका है। क्या यह स्थिति, चाहे हम वैज्ञानिक और औद्योगिक दृष्टि से कितने भी उन्नत क्यों न बन जायँ, हमारी सुरक्षा और आगे के निर्माण के लिए भयदायक नहीं हो सकती है? हर युग मे ऐसा रहा हो और मनुष्य की चेतना इन तीनों आकर्षणों की तरफ सदा ही लोलुप रही हो, पर क्या आज यह लोलुपता सीमा को लांघ नहीं गयी? यदि आप मेरी बात से सहमत हैं, तो इसे कम करने के लिए और परिस्थिति में सँभाल और अनुशासन लाने के लिए आप क्या ठोस उपाय पेश करते हैं?

अस्तित्व-रक्षा का स्तर

—जीवन के दो स्तर हैं। एक अस्तित्व का स्तर, जहाँ प्राणी रहनेभर के लिए यत्न और छीन-झपट करता है। इसको प्राणि-जीवन कहना चाहिए। इसके बाद वह स्तर है, जहाँ अस्तित्व की रक्षा के लिए नही, बल्कि मानो अस्तित्व के उत्सग के लिए जिया जाता है। सेक्स, अर्थ और पद के लिए जो चेष्टाएँ दीखती है, ये अस्तित्व-रक्षा की होती हैं। यहाँ कुछ वर्जनीय नहीं रहता। 'एव्री थिंग इज फेयर इन लव एण्ड वार।' इस स्तर पर किसी प्रकार की घोरता के दर्शन के लिए हमे तैयार रहना चाहिए और उससे भयभीत नही होना चाहिए। न उस कारण अपने मे अनास्था लानी चाहिए। कारण, शरीर-धर्म अस्तित्व की भाषा मे चलता है और सदेह प्राणी कोई ऐसा नहीं, जो स्वार्थ से सर्वथा मुक्त हो और यज्ञ में सर्वथा युक्त हो।

दानव मानव का विकृत रूप

हम अस्तित्व के तल पर होनेवाली नाना चेष्टा-प्रचेष्टाओं को देखते हैं, तो जैसे मानव से हमें ग्लानि और निराशा होने लगती है। लेकिन अपनी ओर देख सकें तो मालूम हो कि उस प्रकार की जघन्य से जघन्य चेष्टा के बीज शायद हम में भी पड़े हुए हैं। इसलिए मैं मानता हूँ कि निन्दा भर्त्सना आदि अपने बचाव में ही हम दूसरों पर डालते हैं जैसे उस ढंग से अपने को दायित्व से बचा लेना चाहते हैं। पहली बात तो यह कि दानव और राक्षस का रूप सामने पाकर भी हम साहस करें कि मूल मानवता में आस्था न खोवें। कभी न भूलें कि दानव मानव का मूल रूप नहीं है, विकृत रूप है और उन विकारों और उनके कारणों तक पहुँचने के प्रयत्न में रहें। तब सम्भव हो सकता है कि भर्त्सना हमारे पास से न जाय बल्कि करुणा जाय और दोष को स्वयं अपने में खोजने की इच्छा जाग जाय। इसमें से जिस दिशा का प्रयत्न निकलेगा वह दिशा हिंसा से उल्टी होगी। हिंसा वह, जिसमें से हम दूसरे को कष्ट पहुँचाना और उसका नाश देखना चाहते हैं। इससे उल्टी अहिंसा की दिशा वह जहाँ हम कष्ट स्वयं लेते और अपने को मिटाने तक को तत्पर हो जाते हैं। मैं यह मानता हूँ कि इस दिशा के प्रयत्न में से विधायक शक्ति का उदय होता है। उसमें से अन्त में जाकर वैमनस्य घटता और सौमनस्य फलित होने लगता है। यह शक्ति किसी तरह कम अमोघ नहीं है यद्यपि दीखने में ठण्डी और अकिंचित-सी मालूम होती है। शुरू में इसका परिणाम उल्टा भी आ सकता है, या नहीं भी आता दीख सकता है। लेकिन इसका कार्य मानसिकता के क्षेत्र में होने के कारण गहरा यद्यपि देर से होता है और उसका फल स्थायी रहता है। प्रतिक्रिया का भी उसमें डर नहीं रहता।

आर्थिक-सम्पन्नता की मृग-तृष्णा

काम, अर्थ और पद-लिप्सा से ठीक उल्टी दिशा में भी हम लोगों को चलता हुआ देखते हैं। जिनको सन्त आदि कहा जाता है और जिनकी बाद में पूजा-प्रतिष्ठा होती है, वे काम की जगह प्रेम, अर्थ की जगह अपरिग्रह और पद की जगह अकिंचनता को अपनाते चले गये। ऐसा क्यों हुआ इसकी खोज में मनोविज्ञान को ही नहीं स्वयं समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र को भी जाना चाहिए। ये शास्त्र इस मूल मान्यता पर जम चले हुए हैं कि मनुष्य का प्रयत्न अस्तित्व के लिए चलता है, शेष सब बाद में है। ऐसा मानकर अध्यात्मपरक साधना को भी सेक्स और स्वार्थ की भाषा में समझाने की चेष्टा की गयी है। अधिकांश उनको धुनी या सनकी आदि कहकर बुद्धि विचार से अलग कर दिया गया है। जैसे साधारण तर्क से यह असम्

हटी हुई चीज हो, सर्वथा अपसाधारण और अपवादरूप ही हो। मानव-विज्ञान के मूल मे यह अनास्था काम करती रही है और हम मानते रहे हैं कि युद्ध-विग्रह जब कि जीवन का सामान्य नियम है, तब तप-त्याग अनियम और अपवादरूप है। पहली कठिनाई मनुष्य ने अपनी राह मे यही पैदा कर रखी है। यह कठिनाई बाहर की ओर से नहीं आयी है, हमारी मानसिकता और शिक्षण-परम्परा मे से आयी है। पिछली दो सदियो से जिस बुद्धिवाद और तर्कवाद ने सिर उठाया है, उसने मानो कर्म को धर्म से एक साथ तोडकर स्वतन्त्र कर दिया है और सबको जान पडने लगा है कि आर्थिक-सम्पन्नता के स्तर को उठाते जाने मे ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। उस स्तर के उठने से सार्थकता की अनभूति किसीको हो पाती है या नहीं, इसकी छानबीन की चेष्टा नहीं की जाती है। मान यह लिया जाता है कि स्तर यदि बढ़ा भी है, तो भी वह पर्याप्त नहीं बढ़ा है, अमुक की अपेक्षा कम है, और यह मानकर फिर उसीमे लग जाना पडा है। इस मृगतृष्णा में संसार भागा जा रहा है। क्षत-विक्षत होता, लहु-लहान होता है, आपस की छीन-झपट और रगड-झगड से परेशान रहता है। लेकिन मुंह मोडने की सोचने का अवकाश उसे नहीं मिलता और एक-पर-एक होनेवाले युद्ध मे झुकता चला जाता है।

अस्तित्व-चिन्ता में जीवन की मन्दता

यह अनुभव मे आयी बात है कि अस्तित्व से जब हम चिपटते हैं, तब जीवन की मन्दता अनुभव कर रहे होते हैं। और जब जीवन का प्रकर्ष होता है, तब अस्तित्व को निछावर करने का उल्लास हममें जाग उठता है। लेकिन मृत्यु का आह्लादपूर्वक आवाहन करने की मनोदशा इतनी दुर्लभ है कि मानव-जाति के अवतार-पुरुष ही उस वैभव का दान कर पाते हैं। मानो समूची मानव-जाति तब अद्भुत चैतन्य-स्फूर्ति से भर जाती है। शेष में जगत् मानो अपने चित्-स्वभाव और चिन्मय-सम्भावनाओं को भूला रहता और पदार्थ से घिर जाता है। तब जान पडता है कि एक-दूसरे को अकृतार्थ करने और एक-दूसरे की घात और काट में रहने से ही व्यक्ति की उन्नति होती है। ऐसे समय प्रेम से अधिक द्वेष मे शक्ति जान पडने लगती है, आदमी जीवनोत्कर्ष से गिरकर अस्तित्व-रक्षा के प्राणिस्तर पर उतर आता और अवसाद और अनास्था के कारण प्रस्तुत करने लगता है।

प्रेम नहीं, तो काम

निश्चय है कि प्रेम नहीं होगा, तो काम होगा। त्याग का रस नहीं मिला होगा, तो अर्जन की ही ओर मनुष्य उन्मुख होगा। उसी तरह सामान्य बनने मे जो कृता-

गया है, उसका स्वाद नहीं पा सकेगा तब तक पद-मान की ओर वह उन्मुख ही रहेगा। न माना जाय कि यही मनुष्य का स्वभाव है। सच यह कि यह केवल विभाव है और हम यदि चल रहा है, तो इसीलिए कि विभाव को पीछे छोड़ते हुए हम स्वभाव की ओर चलने के प्रयासी हैं। मैं निश्चय मानता हूँ कि धीरे-धीरे हमारा ज्ञान-विज्ञान इस अध्यात्म सत्य की ओर बढ़ेगा। यह पलायनवादी अयथार्थता है, जिससे ज्ञान-विज्ञान प्रभावित नहीं होता और नहीं हो सकता। जब समय जिज्ञासु और शक्तिशाली अध्यात्म का उदाहरण प्रकट होगा तो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान स्वयं में एक संस्कार पायेगा। हाल में गांधी का व्यक्तित्व उसका उदाहरण उपस्थित कर गया है। महात्मा कहकर गांधी को वस्तु-विचार, समाज-विचार और राज्य-विचार से टाला नहीं जा सकता है। पदार्थात्मक यथार्थ में गांधी का प्रभाव इतना गहरा व्यापक और प्रचण्ड होकर प्रकटा है कि उसके मूल अध्यात्म-सत्य को समझे और समाये बिना मानव-विज्ञान आगे नहीं बढ़ सकेगा।

लोलुपता में गौरव की अनुभूति

भोग सुख और अधिकार के क्षेत्र में कोई अनुत्तर-दायिता अनुशासन-हीनता, कोई विलासिता और भ्रष्टाचार वर्जित घोषित नहीं किया जा सकता। अर्थात् उस क्षेत्र में आप बीभत्सतर और बीभत्सतम के लिए अपने को तैयार रखियेगा। जब सम्पत्ति को हम उन्हीं तीन की धाराओं में समझेंगे तब तक बीभत्सता उत्तरोत्तर बीभत्सता की ओर बढ़ती जायगी। निश्चय ही यह स्थिति सुरक्षा के लिए खतरनाक है। अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के खतरे इसमें से पैदा होनेवाले हैं। अन्दर से हम फटते और जर्जर होते जायेंगे और बाहर से मानो आक्रमक महत्त्वाकांक्षाओं के लिए सहज आखेट बनते जायेंगे। इन तीनों आकर्षणों की तरफ लोलुपता बढ़ रही है और बढ़ सकती है। खतरा उपस्थित तब होता है, जब इस लोलुपता में गर्व और गौरव का भाव पैदा हो जाता है। अर्थात् जब हमारे जीवन-मूल्य इतने ओछे और उल्टे हो जाते हैं कि मानव को छूट कर धन की ओर सत्य को हटाकर मिथ्या को प्रतिष्ठा देने लगते हैं। आज यही सोचने की बात है, वह यह कि हम सम्पत्ति किसको बनायें, किस धारा में और भाव से उसे देखें और अनुभव करें? सामान्य प्रवाह यह बन गया है, मानो सामाजिक समर्थन भी उसे मिल गया है कि जो धन और पद पर पहुँचता है, वही जीवन-साफल्य का अनुभव करता है। इस दृष्टि में परिवर्तन आने की पहली आवश्यकता है।

हटी हुई चीज हो, सर्वथा अपसाधारण और अपवादरूप ही हो। मानव-विज्ञान के मूल मे यह अनास्था काम करती रही है और हम मानते रहे हैं कि युद्ध-विग्रह जब कि जीवन का सामान्य नियम है, तब तप-त्याग अनियम और अपवादरूप है। पहली कठिनाई मनुष्य ने अपनी राह मे यही पैदा कर रखी है। यह कठिनाई बाहर की ओर से नही आयी है, हमारी मानसिकता और शिक्षण-परम्परा मे से आयी है। पिछली दो सदियो से जिस बुद्धिवाद और तर्कवाद ने सिर उठाया है, उसने मानो कर्म को धर्म से एक साथ तोडकर स्वतन्त्र कर दिया है और सबको जान पडने लगा है कि आर्थिक-सम्पन्नता के स्तर को उठाते जाने मे ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। उस स्तर के उठने से सार्थकता की अनभूति किसीको हो पाती है या नहीं, इसकी छानबीन की चेष्टा नहीं की जाती है। मान यह लिया जाता है कि स्तर यदि बढ़ा भी है, तो भी वह पर्याप्त नहीं बढ़ा है, अमुक की अपेक्षा कम है, और यह मानकर फिर उसीमे लग जाना पडा है। इस मृगतृष्णा में ससार भागा जा रहा है। क्षत-विक्षत होता, लहु-लहान होता है, आपस की छीन-झपट और रगड-झगड से परेशान रहता है। लेकिन मुंह मोडने की सोचने का अवकाश उसे नहीं मिलता और एक-पर-एक होनेवाले युद्ध मे झुकता चला जाता है।

अस्तित्व-चिन्ता में जीवन की मन्दता

यह अनुभव में आयी बात है कि अस्तित्व से जब हम चिपटते हैं, तब जीवन की मन्दता अनुभव कर रहे होते हैं। और जब जीवन का प्रकर्ष होता है, तब अस्तित्व को निछावर करने का उल्लास हममें जाग उठता है। लेकिन मृत्यु का आह्लादपूर्वक आवाहन करने की मनोदशा इतनी दुर्लभ है कि मानव-जाति के अवतार-पुरुष ही उस वैभव का दान कर पाते हैं। मानो समूची मानव-जाति तब अद्‌भुत चैतन्य-स्फूर्ति से भर जाती है। शेष मे जगत् मानो अपने चित्-स्वभाव और चिन्मय-सम्भावनाओ को भूला रहता और पदार्थ से घिर जाता है। तब जान पडता है कि एक-दूसरे को अकृतार्थ करने और एक-दूसरे की घात और काट में रहने से ही व्यक्ति की उन्नति होती है। ऐसे समय प्रेम से अधिक द्वेष में शक्ति जान पडने लगती है, आदमी जीवनोत्कर्ष से गिरकर अस्तित्व-रक्षा के प्राणिस्तर पर उतर आता और अवसाद और अनास्था के कारण प्रस्तुत करने लगता है।

प्रेम नहीं, तो काम

निश्चय है कि प्रेम नहीं होगा, तो काम होगा। त्याग का रस नहीं मिला होगा, तो अर्जन की ही ओर मनुष्य उन्मुख होगा। उसी तरह सामान्य बनने मे जो कृता-

१३

शिक्षा भाषा, अनुसन्धान

शिक्षा रोग की सहायक

२१५. क्या हमारी आज की शिक्षा इस विषय में आवश्यक सहायता करने की स्थिति में है?

—सहायता करती है, पर रोग की अधिक, स्वास्थ्य की कम।

२१६. रोग की सहायता कैसे वह कर पाती है, मैं समझा नहीं।

अर्थकरी शिक्षा

—रोग क्या है? प्रतिस्पर्धा से युक्त वातावरण है, और हरएक दूसरे-दूसरे की परवाह न करता हुआ अपने लिए अधिक-से-अधिक छीन-झपट लेना चाहता है—क्या यही सब बेचैनी और परेशानी के मूल में नहीं है? रोग की जड़ यहीं है। अब शिक्षा क्या करती है? शिक्षा आज वह है, जो अर्थकरी है। पहले विद्या वह थी जो विनय देती थी। अब विनय नहीं दे सकती, अर्थ के पीछे भागने की वृत्ति अवश्य दे सकती है। आगे पढ़ा केवल इसलिए जाता है और पढ़ाया भी केवल इसलिए जाता है कि व्यक्ति उपार्जन और अधिक उपार्जन करे। उपयोगी और उपकारी हो तो नहीं पर अधिक-से-अधिक ऊँची पूर्णाकांक्षा हो सके। अधिक कमाई कर सके, अधिक स्वार्थी हो सके, तब समझा जायगा कि उसने अपनी विद्या-बुद्धि को सफल किया है। शिक्षा की सफलता यदि यही है, तो वह क्या सीधी रोग की ही सहायता नहीं करती?

शिक्षा-क्षेत्र में आपाधापी

ऐसी अवस्था में स्वास्थ्य यह कहलायेगा कि व्यक्ति अपनी योग्यताओं को दूसरों के हित में लगावे और इसीमें से अधिकाधिक सन्तोष पावे। क्या शिक्षालयों और विद्यालयों में इस स्वास्थ्यकारक वृत्ति और प्रवृत्ति का प्रभाव दीखता है? क्या वहाँ ऊँचे-से-ऊँचे पाने पर पद-वृद्धि वेतन-वृद्धि और आय-वृद्धि के प्रयत्नों का

ही बोलवाला नही दीखता है ? दूकानदार, वेतनदार और उजरतदार मे भी वैसी घोर आपाधापी नही दिखाई देती, जितनी इन क्षेत्रो मे देखी जा सकती है। इसलिए मैं मानता हूँ कि शिक्षा की वर्तमान पद्धति के साथ रोग के कीटाणु ही व्यक्ति मे अधिक पहुँचते हैं, मानस मे स्वास्थ्य का प्रवेश उतना नही होता।

२६७ क्या इस स्थिति के लिए अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली को ही आप दोषी ठहराते हैं ? हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति मे रोग के ये तत्त्व विद्यमान नहीं थे ?

—अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली मे अंग्रेजी शब्द पर ज्यादा दोष डालने से लाभ नहीं है। वह तो सूचक है उस सभ्यता का, जो चाहे पश्चिम से उठी हो, आज दुनिया पर छा रही है।

शिक्षा राज्य का यन्त्र न बने

प्राचीन मे दोष न था, यह मानना गलत होगा। निर्दोष ही प्राचीन शिक्षा-प्रणाली होती तो वह टूटती और बिखरती क्यो ? कहीं वह अवश्य कमजोर और गतानुगतिक रही होगी, जिससे नये युग, नये जमाने का सामना वह नहीं झेल सकी। पर पुरातन मे भी हम उस सनातन को खोज और पा सकते हैं, जो आज के लिए भी नूतन हो सकता है। अवश्य कुछ वह है, जो समय के साथ नया-पुराना नहीं होता। सत्य के दर्शन उसीमे होते हैं। क्या यह बात बासी और जीर्ण समझी जायगी कि विद्या से विनय आनी चाहिए ? क्या यह बात अद्यतन नहीं है कि शिक्षा पर राज्य का आधिपत्य नहीं होना चाहिए ? क्या यह आज के लिए भी आवश्यक और उपयोगी नहीं है कि अध्यापक और विद्यार्थी के बीच का सम्बन्ध आनुषगिक नहीं, बल्कि सघन और समग्र होना चाहिए ? क्या यह भी सही नहीं है कि शिक्षा को जीवनव्यापी और जीवनात्मक होना चाहिए और वह खण्डित और केवल विषयात्मक नहीं होनी चाहिए ? आज की शिक्षा विषयो में इतनी विभक्त है कि जीवन की समग्रता से एकदम अलग जा पड़ी है। उसमें से नागरिक नहीं प्राप्त होता, मानो विशेषज्ञ प्राप्त होते हैं। अमुक विषय की विशेषता की माँग पैदा करनेवाला कोई राज्य पहले हो, तब उस विशेषज्ञ के उपयोग के लिए जॉब और काम निकलता है, अन्यथा वह विशेषज्ञ बेकाम और निरुपयोगी बना रह सकता है। जनोपयोगी होने का कोई गुण आज की शिक्षा से नहीं प्राप्त होता। शिक्षित को नौकरी चाहिए, अन्यथा वह अशिक्षित से भी गया-बीता बन जाता है। अशिक्षित कुछ-न-कुछ श्रम तो भी कर सकता है, नौकरी से छूटा शिक्षित हर तरह से निकम्मा बने रहने के लिए विवश होता है। शिक्षा पाते ही अच्छे खाने-पीने, पहनने की माँग उसकी हो जाती है और वह समाज के प्रति इसका दावा

रखता है। लेकिन नौकरी के अलावा किसी प्रकार के उत्पादन की योग्यता उसमें नहीं होती और वह परोपजीवी ही बना रहता है। केवल यह कहकर कि आज की परिस्थितियाँ भिन्न हैं, समूची प्राचीनता को बुरा बताने की चेष्टा अहम्मन्यता होगी। निश्चय ही पहले की शिक्षा जीवन-स्पर्श से हीन और समग्रता से उतनी च्युत न थी। मानव-सम्बन्धों से वह इतनी टूटी न थी बल्कि वह सन्दर्भ उसके लिए आवश्यक था। जीवन को स्निग्ध समर्थ और सार्थक करने की दिशा में वह चलती थी। केवल विषय-ज्ञान देने और इस तरह अर्थोपार्जन के लिए एक सर्टीफिकेट जुटा देने का लक्ष्य उसका न था। ये सब तत्त्व आज के लिए भी उपयोगी हो सकते हैं। और सबसे काम की बात यह है कि शिक्षा का उद्देश्य संस्कारी मानव तैयार करना था न कि राज्य के लिए क्लर्क मुलाजिम या इंजीनियर और कारीगर। राज्य के हाथ औजार बनने के लिए यदि आदमी हो और शिक्षा उन्हीं औजारों को ढालने की साधन हो, तो सचमुच वह रोग का रूप बन जाती है स्वास्थ्य का साधन नहीं रहती। शायद आज के संकट के निराकरण की बात सोचें आज तो शिक्षा के बिन्दु से ही आरम्भ करना होगा और क्रान्ति के सूत्र को वहीं से उठाना-बाँधना होगा।

शिक्षा पर बनिये का नियन्त्रण

१६८. कहिए, एक-एक कर बात को समझना ठीक रहेगा। आप शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण नहीं चाहते। तब निश्चित रूप से उस पर पूँजी और बनिये का नियन्त्रण होगा। क्या उसे आप अधिक शुभ और उत्तम मानते हैं?

नैतिक सामर्थ्य से पूँजी का पतन

—आप सचमुच निश्चित हैं कि राज्य के अभाव में नियन्त्रण बनिये का हुए बिना न रहेगा? क्या सचमुच बनिये के आप इतने कायल हैं, या उसमें वह सामर्थ्य देखते हैं? मैं तो सामर्थ्य के साथ बनिये शब्द का योग ही कल्पना में नहीं ला पाता हूँ। नहीं यदि राज्य नियन्त्रण के सामर्थ्य से गिरता है, तो बनिये में वह सामर्थ्य किसी तरह भी नहीं पहुँच सकती। पूँजी में सामर्थ्य रहती है, तो राज्य से। राज्य उस सामर्थ्य से हट ही नहीं सकता। यदि राज्य वहाँ से हटता है, तो इसीसे गर्भित है कि पूँजी से ऊँची किसी सामर्थ्य की हमने सृष्टि कर ली है। सत्ता की सामर्थ्य पूँजीकृत सामर्थ्य की सर्वस्व है। अर्थात् समाज में नैतिक सामर्थ्य की सृष्टि होगी, उसी सत्ता का आधिपत्य कम होगा। पूँजी का आधि-

पत्य तो उससे पहले ही जराग्रस्त होकर झर चुका होगा। नही, बनिये से डरने की सलाह मैं आपको नही दूंगा। बनिया बेचारा हाकिम के हाथ के नीचे ही समर्थ बना दीखता है। वह हाथ उसके सिर पर न हो, तो सच मानिये कि वह अनायास सेवक और अनुगत बना दीखेगा। पैसे की ताकत लोभ से बनती है। यदि आज अर्थ-व्यवस्था ऐसी बन जाती है कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएँ सहज हो जायं, तो निर्लोभ अशक्य नहीं, बल्कि बहुत हद तक सुलभ हो सकता है। उसके साथ ही बनिये की ताकत आप से आप गिर आयगी। आदमी को खरीदने की ताकत जब तक पैसे मे हम डाले रहेंगे, तभी तक उसकी प्रभुता है और सत्ता का यही अस्त्र है। उस ताकत को खीच लेने के बाद सत्ता गिरे और बनिया उठे, यह सम्भव नहीं हो सकता है।

२६९ मैं तो प्राचीनतम विश्वविद्यालयों और आधुनिक स्कूलों और कालेजों की बात कर रहा हूँ। हर कहीं बनिये की पूंजी शिक्षा और शिक्षा देनेवालों का निर्मम नियन्त्रण और शोषण कर रही है। मैं सरकार के नियन्त्रण को बनिये के नियन्त्रण से अपेक्षाकृत अच्छा मानता हूँ। इस विषय पर अपने विचार दें।

पूंजीपति छुटभइये

—नहीं, वे नियन्त्रण दो नही हैं। छुटभइयो को जब हम बनिया कहते हैं, तब जिसे सत्ता और सरकार कहते हैं, वह उनका प्रभु-वर्ग ही है। पूजी का बल सत्ता की अनुमति से ही चलता है। हो सकता है कि बीच से पूंजीपति को हम हटा दें, जैसे कि साम्यवाद समझता है कि उसने हटा दिया है। लेकिन छुटभइयो की जमात का नाम तब पूंजीपति नहीं रहता, तो नौकरशाही हो जाता है। केवल इस नाम के अन्तर से अधिक अन्तर नहीं पड जाता। अन्तर अवश्य पडता है और शिक्षण की दूकानें तब शायद नहीं चलती हैं, लेकिन अन्तर तब जो होता है, वह यह कि दूकानें कारखाने बन जाते हैं। आदमी की ढलाई बडे पैमाने पर होती है और छोटे स्तर पर उसकी बिकाई कुछ रुक जाती है। लेकिन उस अन्तर पर यहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है। इतना कहना पर्याप्त होना चाहिए कि छुटभइयो की जमात से रुष्ट और बडभइयो की जमात से खुश होने का कारण विशेष नही है। दोनो एक ही चक्र के दो रुख हैं, वे परस्पर एक दूसरे को थामते हैं। इसलिए एक को बढ़ाने मे दूसरा मिटता या घटता है, यह मानने की जल्दी नहीं करनी चाहिए।

पैसा मानव-सापेक्ष बने

पैसा तो सामाजिक आदान-प्रदान का माध्यम और प्रतीक है। वह विनिमय का

साधन है। इसलिए शिक्षा को सदा उस माध्यम के सहयोग और सुविधा की आवश्यकता रहेगी। न कोई जमाना था न है न होगा जब आदमी हवा पर रहेगा, हवा ही खायेगा और वहीं सोये-विश्रमेगा। इन सब कामों के लिए स्थूल पञ्च पदार्थ की आवश्यकता होती है, जिसका प्रतीक पैसा है। लेकिन यह मानना कि धन द्रव्य का सद्भाव और सहयोग आधिपत्य के बिना हो नहीं सकता अनास्था और अपरिचय प्रकट करता है। तमाम इतिहास में और तमाम वर्तमानता में आप देखेंगे कि कोई पुरुष नेता पुरुष धनाढ्य नहीं हुआ है। जिसमें शक्ति है वह वस्तु-धन नहीं है कुछ और है। धन केवल वस्तु का प्रतीक है, शक्ति का चिह्न भी नहीं है। इसलिए आप इस भय से मुक्त रहें कि जब कि शिक्षा के लिए पैसे का सहयोग अनिवार्य होगा तब उस सहयोग की राह से आधिपत्य भी उसका हुए बिना न रहेगा। आज जिस कुशलता और साधना की आवश्यकता है वह यही है कि पैसा चले पर आदमी को चलाये नहीं बल्कि आदमी उसे चलाये। यह बिल्कुल सम्भव है कि धन में जो मानव निरपेक्ष शक्ति का पक्ष है, वह मानव-सापेक्ष बन जाय और पूंजी के ऊपर मनुष्य प्रधान हो जाय। यही करना है और नयी शिक्षा को इस विश्वास से आरम्भ होकर इस विश्वास में दीक्षित व्यक्तियों का निर्माण करना है।

२० ऊपर आपने बहुत ठीक कहा कि शिक्षा के क्षेत्र में दुकानदार और व्यवसायदार के क्षेत्र की अपेक्षा और अधिक आपाधापी पायी जाती है। ऐसा क्यों? क्यों है ऐसा कि शिक्षित और बुद्धिमान अपने तनिक स्वार्थ पक्षपात अथवा नाम कीर्ति के लिए दूसरे के हित की हत्या करने में जरा भी नहीं हिचकिचाते और इस प्रकार शिक्षा-क्षेत्र में और समाज में एक त्रास और कुण्ठा को जन्म देते और फैलाते हैं?

शिक्षितों की सम्भावनाएँ

—अरे भाई, जंगली आदमी के हाथ में लाठी या ज्यादा से ज्यादा तीर-कमान रह सकती है। चोट करने का मौका आवे तो उसकी चोट न इतनी दूर तक और न गहरे तक हो सकती है। सभ्य आदमी बन्दूक तोप बम तक पहुँचता है। अब इन चीजों की मार का ठिकाना क्या है? दुकानदार और व्यवसायदार को अब ज्ञान विज्ञान मिला कि भड़काए और आपाधापी पर उतरे, तो भी कोई बड़ा मारका मार सके या तमाशा पैदा कर सके। शिक्षित-वर्ग अपनी पर आ जाय तो उसकी सम्भावनाएँ भी क्या अपरिमित जितनी रह जानी चाहिए? क्योंकि चोटका ऊँचे वर्ग और स्तर पर अधिक चोट ही मिलेगी कम नहीं। उसको प्रमाणित करने के लिए सूक्ष्म-सिद्ध तर्क से आगे जाने की आवश्यकता ही नहीं है। स्वार्थ और

पक्षपात को क्या आपका शिक्षा-क्रम तनिक भी छूता और सस्कार देता है? उसमे वह सर्वथा अछूता है, इसीसे तो उस शिक्षा-क्रम को वैज्ञानिक माना जाता है। मानवीय के विरोध मे वैज्ञानिक! तव वह शिक्षा-क्रम स्वार्थ और पक्षपात के हाथो अनिष्ट सम्भावनाओ की अधिक समर्थता और योग्यता दे आये, तो इसमे अचरज की वात क्या है। सत् और दुर् से अगर शिक्षा का सम्वन्ध नहीं रह जाता तो अधिक विचक्षण दुर्जन उस शिक्षा मे से फलित हो आये, सज्जन न हो, तो इसमें तर्क की कोई अशुद्धि और गलती नही है। गनीमत माननी चाहिए कि जितनी अनिष्टता इस शिक्षा-पद्धति मे से फलित हो रही है, वह उतनी ही है, अधिक नही है। अधिक हो और होती जाय, तो उसे तर्कसिद्ध ही समझना चाहिए और उस पर विस्मय नहीं करना चाहिए। क्या हम नहीं चाहते हैं कि वह सवथा लौकिक हो, क्या हम यह भी नही चाहते हैं कि वह नैतिक आदि रूढ धारणाओ से सर्वथा मुक्त हो, धर्म से उत्तीर्ण हो और यन्त्र-सामर्थ्य उसमे इतना हो कि मानो स्वय ही यान्त्रिक हो? इसका फल यह आने ही वाला है।

शिक्षा और शिक्षण-तकनीक

२७१ शिक्षा और शिक्षण-तकनीक का आपस में क्या सम्बन्ध है? आप भयानक रूप से बढ़ते हुए तकनीकी शिक्षण के लिए कितनी उपयोगिता समझते हैं?

—तकनीक उस विधि का नाम है, जो एक के भीतर के ज्ञान को दूसरे मे पहुँचाने की प्रणाली को स्थिर और सुगम करती है। सवसे पहले आवश्यक यह है कि प्रदाता और आदाता मे स्नेह की वह प्रेरणा हो, जो परस्पर मे भावना और प्रेषणीयता पैदा करे। उसके वाद ही तकनीक की सगति और उसका उपयोग है। आज तकनीक जो स्वय-प्रतिष्ठ तत्त्व वन गया है, सो जान पडने लगा है कि शिक्षक और विद्यार्थी मे किसी सजीव सम्बन्ध की आवश्यकता नही है, टेकनीक स्वय काम कर जायगा। इसलिए उस प्रकृत और स्निग्धभाव के अभाव मे केवल शुष्क विद्या का जो आदान-प्रदान रह जाता है, उससे इष्टलाभ नही होता, वल्कि थोडा-वहुत अनिष्ट-सम्पादन हो जाता है। तकनीक जिसे कहा जाता है, उसकी सृष्टि कहाँ से हुई? मूल मे एक ओर से जानेवाला वह अनिवार्य स्नेह का वेग था, जिसने प्रकार-प्रकार की सूझ दी और भाँति-भाँति की प्रणालियों की रचना की। उस मूल-प्रेरणा के बिना वे प्रणालियाँ सिफ अमुक जानकारी को यहाँ से वहाँ पहुँचाती हैं, कोई सस्कारिता और अनुभूति उनके द्वारा प्राप्त नही होती। इस तरह तकनीक की प्रमुखता या अधिकता को सही शिक्षण के लिए वाधक ही मानना चाहिए।

अध्यापक और विद्यार्थी के दूषित सम्बन्ध

२७२ अध्यापक और विद्यार्थी के बीच आपने स्नेह-भाव को आवश्यक बताया। पर आज इन दोनों के सम्बन्ध को दूषित और विकृत हुए दीखते हैं उसके लिए आप किसे जिम्मेदार ठहराते हैं, अध्यापक को या विद्यार्थी को या हमारी शिक्षण-नीति को?

—दूषित और विकृत की बात तो दूर है, पहला दोष तो यह है कि वे सम्बन्ध निर्जीव हो गये हैं। अध्यापक की निगाह किसी और तरफ है, विद्यार्थी मानो राह में आ गया है और वह उस पर पाँव रखता हुआ कहीं ऊँचे पहुँचना चाहता है। विद्यार्थी को भी और न उसके माता-पिता को, जीवन-संस्कारी शिक्षा की अपेक्षा है। उन्हें बस अर्थकरी विद्या पर्याप्त है।

जिम्मेदारी आज की सभ्यता पर

स्थिति की जिम्मेदारी कहीं किसी खास पर मैं नहीं डाल सकता हूँ अध्यापक पर या विद्यार्थी पर। शिक्षण-नीति के सम्बन्ध में अवश्य कुछ कहा जा सकता है, क्योंकि नीति देनेवालों से अपेक्षा होती है कि वे जीवन के प्रति अधिक जाग्रत हों। लेकिन सच यह है कि सारी आबोहवा सारी सभ्यता में कहीं विकार है और उसके उपचार के लिए पत्ते-पत्ते पर जाने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता मूल निदान और अनुसन्धान की है। जिस सभ्यता के वातावरण में हम साँस ले रहे हैं, वहाँ मूल्य मनुष्यता से हटकर सम्पन्नता पर आ गया है और आदमी अपनी जगह सही और सच्चा नहीं बनना चाहता है वह दूसरों से ज्यादा रखनेवाला और रोब दाबवाला बनना चाहता है। सफलता का नमूना बस ही यह बन गया है। परिणाम यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में भी क्या अध्यापक और क्या विद्यार्थी उसी तरफ बढ़ने में कृतकार्यता मानते हैं। जिन्हें ज्ञान का ऊँचे से ऊँचा पीठ-स्थान कहा जा सकता है, उन विश्वविद्यालयों में इस महामारी की छाप है और ऊँचा प्रोफेसर वह है जो विद्यार्थियों को ऊँचा ज्ञान दे कि न दे, राजनीति की ऊँचाइयों में चलता-फिरता हुआ अवश्य दिखाई दे। समूची सभ्यता की यह बीमारी सहज दूर नहीं होनेवाली है। इतना बेशक कहा जा सकता है कि शिक्षण का क्षेत्र वह मर्मस्थल है जहाँ यदि औषधि का प्रवेश हो तो सारे समाज-शरीर में उसका प्रभाव दिखाई दे सकता है। इसलिए वहीं से आरम्भ करना उपयोगी होगा।

२७३ विद्यार्थियों में अनुशासन-हीनता के लिए आप किसे जिम्मेदार ठहराते हैं? हमारे प्राणहीन पाठ्यक्रम को जो उन्हें बहुत अधिक समय बेकार खोने के लिए

दे देता है या परीक्षा की प्रणाली को, जिसके आधार पर उनमें जिज्ञासा और लगन का एकदम अभाव हो जाता है ?

पाठ्य-क्रम और परीक्षा-प्रणाली

—अनुशासन से छूटकर जो शक्ति अनिष्ट मार्गों मे जाती है, सो उसके उपयोग की कल्पना का अभाव है, इसीलिए जाती है। मूल प्राण-शक्ति सत्-असत् नहीं होती। जिन दिशाओ मे अभिव्यक्ति है, सदसत् विशेषण उन्हीं अपेक्षाओ से बनते और लगते हैं। अर्थात् आवश्यकता यह है कि समग्र जीवन-शक्ति एकाग्र और प्रवृत्त जिमसे हो आये, ऐसा कुछ वृहद् आशय वातावरण मे और विद्यार्थियो के जीवन मे पैदा होना चाहिए। स्पष्ट है कि वह अनुपस्थित है।

पाठ्य-क्रम और परीक्षा-प्रणाली उस मूलाभिप्राय को पैदा होने देने मे सहायक की जगह बाधक होती है। गिनी-चुनी पुस्तकों को कुजी के सहारे एक-दो महीने मे निपटाकर और परीक्षा मे जैसे-तैसे पास-अक लाकर विद्यार्थी आवश्यक ज्ञान से छुट्टी मान लेता है। उसके बाद जो काम आती है, वह केवल डिग्री होती है। इस सबसे जीवन का मूल उद्देश्य बनने मे कोई सहायता नहीं मिलती, बल्कि उस उद्देश्य की आवश्यकता के बारे मे उदासीनता पैदा हो जाती है। लक्ष्य का स्थान लौकिक सफलता लिये रहती है और उस जगह डिग्री से अधिक कुछ आवश्यक नही है।

परीक्षा-प्रणाली बदल दी जाय

परीक्षा-प्रणाली को एकदम बदल डालने की जरूरत है। उससे बहुत शक्ति का अपव्यय होता और कृत्रिमता को बढ़ावा मिलता है। उसको लेकर भ्रष्टाचार की हद नहीं रहती। पाठ्य-क्रम की प्रणाली में भी अन्तर आना चाहिए। टैक्स्टरूप में यदि किताबें न हो, अपेक्षा सामान्य और सजीव ज्ञान की हो, तो कुञ्जी के बल से रट-घोटकर पास होने की आदत पर कुछ रोक-थाम पडे। पाठ्य-क्रम के बहुत अधिक निर्दिष्ट और नियुक्त होने से अध्यापक को भी कुछ तैयारी नहीं करनी पडती और बनी बान की तरह वह अपना काम कर जाता है। विद्यार्थी मे कोई असली बोध जगाने की आवश्यकता उसके लिए नहीं रह जाती। किन्तु यह सब वह क्यो करे, या विद्यार्थी ही पुस्तक के शब्दो से इधर-उधर क्यो जाय, जब कि आगे जीवन मे उससे विशेष अन्तर नही पडनेवाला है और सगत केवल डिग्री ही रहनेवाली है ! असल में समूचे शिक्षण पर ही पुनर्विचार होने की आवश्यकता है और परिवर्तन मूल से होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि जो इष्टस्वरूप शिक्षण का होगा, उसमें

परीक्षा में प्राप्त अंक या अमुक पुस्तक की रटी हुई शब्दावलि का उतना महत्त्व नहीं रह जायगा।

२७४ क्या आप बता सकते हैं कि परीक्षा का क्या स्वरूप परिवर्तित शिक्षण व्यवस्था में होगा या होना चाहिए?

सिद्धान्त और व्यवहार में सामंजस्य हो

—मैं शब्द-शिक्षा को कर्ममुक्त नहीं देख सकता हूँ। करने के द्वारा जो सीखा जाता है, वह सचमुच जीवन का अंग बनता है और व्यक्तित्व को सामर्थ्य देता है। सिद्धान्त और व्यवहार दो अलग खानों में और दूर-दूर रहें तो इससे काम नहीं चल सकता। साथ चलें तो शब्द-शिक्षा की कसौटी कर्म प्रयोग में अनायास और नित्य-नित्य होती जा सकती है। कोई भी ऐसा विषय शायद ही हो जो नितान्त बौद्धिक हो और जीवनोपयोगी न हो। स्वयं दर्शन को मैं जीवन और कर्म-निरपेक्ष नहीं मानता हूँ। वह दर्शन क्या जिससे अनासक्ति नहीं प्राप्त होती और चित्त को सन्तुलन नहीं मिलता। अर्थात् दर्शन-विषय की परीक्षा विद्यार्थी के व्यवहार और मनोभाव से नित्य प्रति होती जा सकती है। इस प्रकार की सामान्य परीक्षाएँ अध्यापक प्रतिसप्ताह लेते रह सकते और चाहें तो उसका रिकार्ड भी रख सकते हैं। इस पद्धति से यह सम्भावना लगभग समाप्त हो जाती है कि विद्यार्थी फेल होता है। किसी दिशा में उसकी गति नहीं हो पाती तो अवकाश रहता है कि वहाँ से उसकी रुचि और शक्ति का मोड़ किसी आस-पास की दिशा में मोड़ा जा सके। यह सब एक तो सम्भव तभी होगा जब गुरु-शिष्यसम्बन्ध में न केवल समता हो, बल्कि एक प्रकार की स्वतन्त्रता भी हो। पाठ्य क्रम और परीक्षाएँ इस सम्भावना को कुण्ठित और खण्डित ही नहीं होने देंगी।

आर्ट और साइन्स का विभाजन दोषपूर्ण

अभी सामान्यतया शिक्षण को आर्ट और साइन्स इन दो विभागों में अलग-अलग करके देखा जाता है। जैसे कला में शक्ति-बुद्धि का उपयोग न हो या विज्ञान के लिए कल्पना का योग अनावश्यक हो। विज्ञान में प्रयोग सम्भव और सफल है तो कला के लिए प्रयोग की सम्भावना और सुविधा क्यों न हो? अर्थशास्त्र जिन्हें पढ़ाया जाता है अर्थ के साथ व्यवहार करना भी युगपत् उन्हें क्यों न सिखाया जाय? देखते हैं कि अर्थशास्त्र पढ़नेवाला अर्थशास्त्र पढ़ानेवाला ही बन पाता है, अर्थ के विनियोग या प्रयोग का विषय बनते उसे हम नहीं देखते। आर्ट की सूची में आने वाले और भी विषय हैं, जो प्रयोग-व्यवहार से मुक्त माने जाते हैं। स्वयं भाषा के

पहचानते कि जो कर्म में प्रकट और सक्षम नहीं हो सकता वह ज्ञान असल में ज्ञान है ही नहीं, वह केवल शाब्दिक-जन्य है। हमको इस सत्य की यदि पहचान हो जाय कि ज्ञान, कर्म और चारित्र्य ये तीन अलग बँटे और कटे हुए नहीं हैं, बल्कि तीनों को एकत्र और इसतरह समस्त व्यक्तित्व को सम्पन्नता देनेवाला शिक्षण ही सही शिक्षण है, तो जल्दी ही इष्ट-परिवर्तन का स्वरूप हमारे आगे स्पष्ट होता जा सकता है।

वैज्ञानिक और श्रमिक का अन्तर मिटे

एक नयी चीज गांधीजी के द्वारा शुरू की गयी थी जिसका 'बुनियादी तालीम' नाम पड़ा। उसकी पीछे छीछालेदर हुई। आज उसकी खानापूरी के तौर पर चलाया भी जा रहा है, लेकिन उसकी मूल शक्ति इस दर्शन में थी कि करने के द्वारा सीखना होगा और उस ज्ञान की कसौटी आस-पास के प्रति अधिकाधिक उपयोगी और सक्रिय होने के द्वारा होगी। इस मूल-दृष्टि को प्राथमिक से विश्वविद्यालय के स्तर तक भी अमल में लाया जाय तो एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता है। वर्तमान सभ्यता वैज्ञानिक और श्रमिक को एक-दूसरे से काफी दूर रखती और बीच में नाना प्रकार के शोषणों के लिए अवकाश बनाये रखती है। यदि यह अन्तर टूट जाता है तो शोषण की विधियाँ और प्रणालियाँ भी चुक जाती हैं और आडम्बरीय सभ्यता मानवीय बनने लग सकती है। लेकिन यह शायद आपके प्रश्न से दूर जाना हो जायगा।

२७५. पाठ्य-क्रम में सैन्य-शिक्षा और रुचि के अनुकूल किसी भी व्यवसाय की शिक्षा का भाग इन दो को जब तक अनिवार्य करार नहीं दिया जायगा, तब तक मेरे विचार में विद्यार्थियों में अनुशासन और सन्तुलन मौलिकता और विचारकता नहीं आ सकती। क्या आप मेरे इस सोचने से सहमत हैं?

सैन्य और शिल्प की शिक्षा

—सैन्य और शिल्प इन दोनों विद्याओं से शिक्षण हो तो एक विशेष प्रकार की तत्परता, वास्तविकता और व्यवस्थता प्राप्त होगी यही आपका आशय है न? इन दोनों गुणों को मैं सही शिक्षण का अंगभूत मानूँगा। अनुशासन का स्वभाव उसी से होता है। शिक्षण के लिए जरूरी है कि व्यक्ति को वह एक जीवन प्रयोजन का लाभ दे और व्यक्ति इस तरह शिक्षा-विमुख न रह जाय, बल्कि समाज के लिए सक्षम और समर्थ बने। इसी तरह शस्त्र-शिक्षा में सार्थकता और वास्तविकता आनी चाहिए, जो किसी काम अथवा शिल्प से आती है। किन्तु सैन्य और शिल्प के साथ किस प्रयोजन से जुड़े हों यह प्रश्न विचारणीय रहता है। आजकल चलने-

वाले फैशनेबिल पब्लिक-स्कूलों मे कुछ-कुछ यह सैन्य और शिल्प की शिक्षा भ
रहा करता है। किन्तु उसमे इष्ट की पूर्ति नही होती। हैण्डीक्रैफ्ट के इस
रूप को पाठ्य-क्रम मे दाखिल करने का रग भी जहाँ-तहाँ दिखाई देता है।
मैंने ऊपर कहा, वह उससे भिन्न है। यहाँ हस्तशिल्प कुछ शौक की तरह नही
जा सकता। बडे लोगों के लडके यह शौक फरमाया करते है। लेकिन
लाभ नही होता, न स्वय विद्यार्थी को होता है, न समाज को होता है
हस्तशिल्प किसी काम नही आता, न उसमें इतनी क्षमता होती है कि
बाजार की स्पर्धा मे ठहर सके। उस प्रकार के शिल्प और उद्यम को
के माध्यम के रूप मे ही अगीकार करना इसमे बिलकुल दूसरी चीज
यह है कि जिससे श्रम केन्द्र मे आ सकता और बुद्धि से समन्वित हो
है, जहाँ वह शौक नही रहता है, बल्कि जीवन का मेरुदण्ड हो जाता है
मूल्य बन जाता है।

सैन्य-शिक्षण से एक अनुशासन प्राप्त होता है। मिल-जुलकर पक्तिबद्ध काम
की योग्यता आती है। यह भी समाज के लिए उपयोगी और कीमती चीज
लेकिन कुछ ऐसा करना होगा कि यह योग्यता और क्षमता मिले, लेकिन
की श्रद्धा और शत्रुता की आवश्यकता न बने। सैन्य-व्यापार के लिए शस्त्र
शत्रु दोनो आवश्यक होते हैं। उनके बिना सैन्य-अभ्यास मे जान ही नही
न दम-खम पैदा होता है। मैं मानता हूँ कि उत्तरोत्तर शस्त्र और शत्रु समाप्त
जायँगे। यदि उनके बिना व्यक्ति अनुशासन सीख ही नही सकता हो, तो मानना
कि शस्त्र और शत्रु के अभाव मे फिर अराजकता को ही आ रहना है। यह सम्भव
है। अराजकता और आपाधापी ही अगर रह जाय, तो समाज समाप्त हो जाए
और आदमियो के लिए भी जगल ही रह जाता है। नही, विकास इस तरह
की ओर नही जा सकता। अर्थात् सैन्य-शिक्षा यदि आवश्यक हो, तो वह
शिक्षा मनुष्य का काम देगी, जिसमे सेना शान्ति-सेना हो। तदनुकूल उस अभ
मे कुछ अन्तर भी होगा। यदि सामान्य सैनिक के हाथ मे लाठी है और उ
उसे उससे वार करना सिखाया जाता है, तो शान्ति-सैनिक को उन लाठियो
मिलाकर डोली और सेज बनाना सिखाया जायगा, जिससे घायल और बीम
आसानी से ले जाया जा सके। अर्थात् मानसिक और शारीरिक अनुशासन का ल
इस सैन्य शिक्षण से अवश्य मिलेगा, लेकिन शस्त्र और शत्रु से होनेवाली हानि
विद्यार्थी को बचा लिया जायगा। उसकी जगह सुश्रूषा, प्राथमिक सहायता इत्य
की सेवा होगी और पहले अभ्यास यदि युद्धानुकूल था, तो दूसरे की विशेष
[illegible] सेवानुकूल होगी।

हमारे पब्लिक-स्कूल

२०५. हमारे पब्लिक-स्कूल जो पैसे के जोम और अंग्रेजी के दम से चलते हैं और कुलीन वर्ग को बनाने और रखने का लक्ष्य लेकर काम करते हैं, क्या भारत के समाजवाद के सिद्धान्त से एकदम उलटे नहीं पड़ते ?

—भारत की इकोनोमी आज सम्मिश्र अवस्था की है। पब्लिक-स्कूल को सामान्य स्कूल से उत्तम माना जाता है, उनमें प्रति विद्यार्थी खर्च अधिक आता है। उस नमूने पर सारे स्कूल तो सरकार चला नहीं सकती। तो क्या जो थोड़े उस उत्तम नमूने पर चल रहे हैं और चल सकते हैं क्या उन्हें जबरदस्ती घटिया बना दिया जाय या खतम कर दिया जाय ? उन स्कूलों की अर्थ-व्यवस्था तभी समुचित रह सकती है, जब विद्यार्थियों से अमुक आय हो जाय। इसके लिए फीस वहाँ भी बड़ी-बड़ी है दूसरे खर्चे भी ज्यादा हैं और सिर्फ सम्पन्न माता-पिता अपने बालकों को वहाँ शिक्षा दिलाने का शौक पूरा कर सकते हैं।

आप देखियेगा इस तरह तर्क का एक विषम चक्र बन जाता है। कौन कहेगा कि यदि उत्तम संस्थाएँ कम हैं और बहुत सब संस्थाओं को इतना उत्तम नहीं बनाया जा सकता तो जो हैं उनको भी खतम कर दिया जाय ? जारी रखा जाता है तो वे विशिष्ट और कुलीनोचित बने बिना रह नहीं सकती। अतः क्या किया जाय ?

समाजवादी नारे के प्रतिकूल

निश्चय ही यह स्थिति समाजवादी दावों और नारों से अनुकूल नहीं ठहराई जा सकती है। लेकिन क्या आप सचमुच मानते हैं कि नारा यथार्थ होता है ? क्या यह सही है कि स्वयं समाजवादी देशों में ऐसी कोई विशिष्टता और भिन्नता नहीं है ? मैं स्वयं अन्त्योदय में विश्वास करनेवाला हूँ। मैं मानता हूँ कि सबसे अधिक आराम रोगी को मिलना चाहिए और व्यवस्था से प्राप्त हो सकनेवाली सबसे अधिक सेवा-सुविधा दलित और पीड़ित को मिलनी चाहिए। कौन जानता है कि जो सबसे निम्न है, वह इसी कारण निम्न नहीं है कि शेष सब महिम्न बनकर उसके ऊपर सवार हैं ? कौन जानता है कि उसे हम सबका ही प्रायश्चित्त नहीं उठाना पड़ रहा है ? अगर हमें अपने दोष से मुक्त होना है, तो उसके आदर से आरम्भ करना है जो हमारे ही कारण निम्न विपन्न और त्रस्त बना हुआ है।

पब्लिक-स्कूलों के बालक जीवन-संघर्ष में दोयम

और भी एक बात देखी जाती है। पब्लिक-स्कूलों के बालक चारुता और

भागीदार होते हैं। उनमें प्रतियोगिता कम है और समाज में वे शुरू से आत्म-विश्वास से व्यवहार करते हैं। लेकिन आगे चलकर जीवन-संग्राम में वे उतने ही सफल साबित होते हैं, इसमें सन्देह है। विश्वविद्यालय में या आगे जीवन की परीक्षा में मैं नहीं मानता कि पब्लिक-स्कूल के बालक कुछ अधिक सफलता दिखा पाते हैं। मुझे विस्मय न होगा कि आगे चलकर वे ही कुछ पिछड़े हुए, अन्यों की जगह दयनीय, दिखाई देते हों। ऐसा होना इसलिए सम्भव है कि सुविधाओं में से जो सीखा जाता है, वह सहज और सस्ता होता है।
इसलिए पब्लिक-स्कूलों के प्रति किसी स्पृहा और ईर्ष्या के भाव से देखने की आवश्यकता नहीं है।

पश्चिमी शिक्षा-पद्धति

२७७ जो शिक्षा-पद्धति इस समय भारत मे काम कर रही है, उसीके बल-बूते पर पश्चिम ने महत्तम व्यक्तियों को जन्म दिया है। फिर भारत मे ही पश्चिमी शिक्षा-पद्धति का यह प्रयोग अधूरा और विफल क्यों सिद्ध हो रहा है? दोनों जगहों की शिक्षा-प्रणाली मे साधनो का अन्तर प्रधान है या स्पिरिट का?

—महत्तम व्यक्तियो के जीवन के इतिहास और विश्लेषण मे जाना पड़ेगा, यह तय करने के लिए कि किन तत्त्वो से उनका जीवन महान् बना। शिक्षा-प्रणाली मे से ही यदि बना होता, तो दूसरे शिक्षित महान् क्यो नही बने, इसके कारण ढूढ़ने की आवश्यकता हो जायगी।

उसकी विशेषताएं

लेकिन यह समझना कि शिक्षा-पद्धति यहा और वहाँ एक है, भूल करना होगा। कही भी माध्यम क्या विदेशी भाषा है? शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध मे केवल यह तथ्य कि भारत मे शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषा नही है, एक विदेशी भाषा है, उसको एक साथ इतना कृत्रिम बना देता है कि उसकी दूसरो से तुलना नही हो सकती। इसी कारण इन देशो मे शिक्षित और अशिक्षित, शहरी और देहाती, मे उतनी दूरी नही दिखाई देती है। शिक्षा का सम्बन्ध वहाँ इतना अधिक अर्थोपार्जन से नही है। लक्ष्य के तौर पर जब अर्थ केन्द्र मे होता है, तब शिक्षा मानो व्यक्तित्व के सस्कार से एकदम विमुख हो जाती है और केवल अर्थसाधिका रह जाती है। उसका वैसा प्रभाव पश्चिम के अन्यान्य देशो मे नहीं देखने मे आया। उससे जीवन-स्फूर्ति और अभिक्रम का नाश नही हुआ और रोजगार चाहनेवाले बेकार प्राथियो की सख्या नहीं बढी। वे कारण और अन्तर स्पष्ट हैं, जिनसे भारत मे उस शिक्षा-

विधि का यह सब अनिष्ट परिणाम हुआ है। इस तल पर दोनों जगह की कोई तुलना नहीं की जा सकती।

यों तो पिछली सदी के और आज के सभी महत्त्वपूर्ण आदमी साक्षर और शिक्षित ही मिलेंगे। लेकिन यह मानना कि स्कूली-शिक्षा ने उनमें वह महत्त्व डाला जल्दी करना होगा। शायद वे इस शिक्षा के बावजूद समर्थ और महत्त्वशाली बने न कि उसके कारण।

२०८. क्या आप विश्वास रखते हैं कि हमारी सरकार अंग्रेजी को शिक्षा-पद्धति में से निकाल देने को उत्सुक है? क्या सचमुच वह भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान देने के महत्त्व को महसूस करती है?

अंग्रेजियत बढ़ रही है

—अपनी सरकार के बारे में अनुमान से मैं काम लेना नहीं चाहता। उस ओर से जो वक्तव्य आते हैं उन्हींको ज्यों-का-त्यों मानकर क्यों न चला जाय? सच यह कि सरकारों में श्रद्धा नहीं हुआ करती। अपनी सरकार में तो संकल्प के बल तक का अभाव है। बहुत-कुछ बातें आनेवाले समय और लोकस्थिति पर निर्भर करता है। जो देखने में भारतीयता ह्रास पर है, अंग्रेजीयत बढ़ रही है। इस तरह अंग्रेजी का महत्त्व या उस भाषा की निर्भरता कम होती नहीं दीखती है। जो संसद् का निर्णय है कि सन् १९६५ से काम हिन्दी के द्वारा होने लगेगा। लेकिन साथ ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अंग्रेजी का उपयोग निषिद्ध नहीं ठहराया जायगा और वह मानो दूसरी राजभाषा रहेगी। इस दूसरे निर्णय के साथ पहले संकल्प का क्या भविष्य है यह देखने की ही बात है।

लोक-शक्ति के लिए लोक-भाषा चाहिए

कांग्रेस-सरकार में जनता के साथ एकाकार होने की कोई आतुरता नहीं दिखायी देती है। लोकतन्त्र में यही सबसे बड़ी प्रेरणा होनी चाहिए। मैं मानता हूँ कि कि लोकबल सही और सच्चे तौर पर शासन को नहीं प्राप्त होगा अगर उसका काम-काज लोकभाषा और जनभाषा के द्वारा नहीं चलेगा। कांग्रेस की सरकार मानो अंग्रेजी पढ़े लिखे सविशेष के लोगों पर अपना ज्यादा विश्वास और भार रखती है। उसके बाद लोक-निर्भर और लोकनिष्ठ होने की चिन्ता से मानो वह मुक्त हो जाती है। नये चुनाव आनेवाले हैं, सम्भव है कि उन कांग्रेसी लोगों को यह चिन्ता फिर सताने लगे और उन्हें यह अनुभव प्राप्त हो कि लोक-शक्ति-सम्पादन की दृष्टि से लोकभाषा का अवलम्बन अनिवार्य है। लेकिन सामान्यतया

जो रंग है, उसको देखते हुए कांग्रेसी राज्य में हिन्दी या भारतीय भाषाओं के महत्त्व को अंग्रेजी से अधिक करने की दिशा में कुछ विशेष आशा नहीं रखी जा सकती।

पब्लिक-स्कूल और अंग्रेजी

२७९ क्या पब्लिक स्कूल इस अंग्रेजी की निर्भरता को बढ़ावा नहीं दे रहे हैं?

—हाँ, दे रहे हैं। समाज में जो ऊँचा स्तर समझा जाता है, वहाँ अंग्रेजी के द्वारा प्रवेश सहज होता है। इसलिए फैशन भी उधर ही जा रहा है। लेकिन जब लोकबल की ओर हमारा ध्यान जायगा और राजनीति अपने लिए वहाँ से शक्ति प्राप्त करना अनिवार्य पायेगी, तो प्रकट होगा कि वे व्यक्ति, जिनकी जड़ें भारतीय भाषाओं में नहीं हैं, कुछ ऊपरी रह जाते हैं, लोक-जीवन में उनकी कोई मजबूत जगह नहीं बनती। अर्थात् हमारा सार्वजनिक जीवन जब व्यापक आधार लेगा, तो पब्लिक-स्कूलों द्वारा शिक्षित-दीक्षित व्यक्ति उखड़े हुए दीख सकते हैं और उनका महत्त्व सामान्य से कुछ कम भी हो सकता है। आज हमारा सार्वजनिक जीवन उस दिशा में नहीं जा रहा है, इसीलिए अंग्रेजियत के पीछे लोग दौड़ रहे हैं। शहर पर तो उसका नशा सवार है। कांग्रेसी शासन में प्रधानमन्त्री को सामने रखकर यह रुख और रुझान तेजी पकड़ रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

२८० क्या आपका विश्वास है कि उच्चतम तकनीकी शिक्षा के लिए भारतीय भाषाएँ उपयोगी साबित हो सकेंगी? और यदि अंग्रेजी को हटा दिया गया, तो भारत वैज्ञानिक क्षेत्र में संकीर्ण बना नहीं दीख पड़ेगा?

अंग्रेजी पर निर्भरता आत्म-हीनता

—यह झूठ है कि ज्ञान या विज्ञान अमुक भाषा से जुड़े हैं। भारतीय भाषाओं को हीन मानना असल में भारतीय जन और जनता को हीन मानने में से ही फलित होता है। यह अपने सम्बन्ध की अश्रद्धा हमें बड़ी महँगी पड़ रही है। कुछ पहले तक विज्ञान में रूस पिछड़ा था। आज सबसे आगे है, तो क्या वहाँ वैज्ञानिक शिक्षा किसी विदेशी भाषा द्वारा दी या ली गयी थी? जापान पिछड़ा हुआ तो नहीं माना जा सकता। जापानी भाषा में यह क्षमता एकाएक कहाँसे आ गयी कि वहाँ सब विज्ञान पहुँच गये, सिद्ध हो गये और जापान की प्रगति किसीसे कम न रह गयी? यह कोरा आत्म-दैन्य है, जो अपने दोष को भाषा पर डालता है और इस तरह विदेशी भाषा की दासता को छोड़ना नहीं चाहता। एक मोहम्मद साहब के बलबूते पर अरबी भाषा में एक साथ चैतन्य और वैभव आ फूटा। पहले वह भाषा दीन और हीन बनी हुई थी। क्षमता या अक्षमता स्वयं भाषा में नहीं हुआ करती, उस भाषा

के बोलनेवालों की ही क्षमता या अक्षमता वहाँ प्रतिबिम्बित होती है। यह सब चर्चा कि इस या उस भाषा में तकनीकी या वैज्ञानिक या पारिभाषिक शब्दावलि नहीं है, अविश्वस्त वर्ग की चर्चा है। इस पर जो अटकता है, वह मानो परानुमतिक होकर चलना चाहता है। उसमें मौलिक प्रज्ञा और चैतन्य नहीं है। मैं इस पर एक क्षण नहीं अटकना चाहता। देश के अक्षय-बल का क्यों हमने आवाहन नहीं किया क्यों स्वराज्य मिलने पर अंग्रेजी की पराश्रयिता को स्वीकार कर लिया? उस समय सब काम हमने अनुवाद और अनुकरण द्वारा किया। संविधान दूसरे देशों के विधानों की नकल में मगर जोर-शोर के साथ हमने तैयार किया। उठते हुए राष्ट्र की आत्म-प्रज्ञा का बल थामकर हम नहीं चले। अन्यथा भारत एक अनोखी क्रान्ति का अग्रदूत बन सकता और आज की अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए एक मार्गदर्शन दे सकता। पर अगर वैसा नहीं हुआ तो सिवा इसके क्या कहा जाय कि हमारे राजनीतिक भाग्यविधाता हीन-विश्वास और अल्प-प्रज्ञा के केवल कामकाजी लोग निकले क्रान्तिकारी वे नहीं सिद्ध हुए।

पारिभाषिक शब्द किस भाषा में ?

२८१ मानिये कि सरकार ने आपकी बात को मानकर अंग्रेजी को आज ही समाप्त कर दिया। अब आप कौन-सी भारतीय भाषा में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करेंगे? हिन्दी में करते हैं, तो दक्षिणवाले इसे हिन्दी का साम्राज्यवाद कहते हैं और मुसलमान इसे इस्लाम से शत्रुता मानते हैं। बंगाली भी हिन्दी को बंगला की बढ़ता के लिए प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखते हैं। आखिर सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही पारिभाषिक शब्दावलि चाहिए। इस समस्या का आपके पास क्या निदान है?

—समस्या का निदान या निपटारा तब होगा और हो सकता है जब तय हो कि वह हमें करना है। नहीं तो समस्या समस्या रहती है और हमको डरा देती है। मुझे सबसे पहले यही कहना है कि आरम्भ से हमने समस्या को बड़ा बनाकर देखा। जो व्यक्ति या देश इस डर से चलता है वह नहीं बढ़ता उसकी समस्याएँ ही बढ़ती हैं।

आत्म संकल्प का अभाव

आज भाषावार प्रान्तवाद, जातिवाद छाया हुआ है। हम हैरान हैं। सन् बीस बाईस और तीस-बत्तीस में स्थिति क्या थी? वे सब वाद क्यों तब दबते और तब उभरा बीज भी क्यों नजर न आता था? देश भी देखें तो काफी आगे बढ़ा है और

राष्ट्र के बजट के अक जाने कितने गुणानुगुणित हो गये हैं। लेकिन सच यह कि तब एक अनुपम भावसम्पन्नता का हमे बोध था; अब एक विपन्नता का भाव घेरे हुए है। कारण यह कि आन्तरिक दैन्य हमारे भीतर समा गया है। हम परिस्थिति मे से तक लेते है, जो हमेशा प्रतिक्रिया का होता है। सकल्प में से अपने कदम का निणय नहीं करते, जो प्रगति का हो सकता है। एक महद्भाव उस महात्मा से आकर देश मे भर गया था। उस समय देशवासियो को कुछ कठिन और असम्भव नही मालूम होता था। आज एक-एक बात नाना विकल्पो और विवादो से हमे घेर लेती है। मालूम होता है कि भँवर बडा है और हम छोटे हैं।

जीवन-प्रेरणा की मन्दता

हिन्दी और पारिभापिक शब्दावलि की आप बात कहते हैं। कहते हैं कि दक्षिण और बगाल हिन्दी को क्यो मानें? पारिभापिक शब्दावलि एक होनी चाहिए और वह एक कैसे बने? इत्यादि-इत्यादि नाना प्रश्न पैदा किये जा सकते हैं और वहीं-का-वहीं गडकर बैठा रहा जा सकता है। उठनेवाले देश इस ढग से काम नहीं किया करते। पारिभाषिक और वैज्ञानिक पर्यायवाची शब्द अगर आज अनेक भी बनते हैं, तो क्या हर्ज है? समय आने पर चुनाव और छँटाव हो जायगा और अमुक को प्रामाणिक मान लिया जायगा। लेकिन प्रश्न यह है कि हमे काम करना है या बात करनी है? आज बिजली के कारीगर को बिजली कहीं लगानी होती है, तो वह इस चक्कर मे नहीं पडता कि वह पोजिटिव-निगेटिव को क्या कहे? क्या पर्याय शुद्ध और यथार्थ होगा? वह 'ठण्डा और गरम तार' कहकर अपना काम चला लेता है और रुकता नहीं है। हो सकता है कि गरम और ठण्डा पोजिटिव-निगेटिव का सही अनुवाद न हो। सही क्या है, इसके निणय मे आप समय लेना चाहे तो लेते रह सकते हैं। लेकिन असल चीज यह है कि वक्त पर काम रुकना नही चाहिए, जो शब्दो के फेर मे रोक रखा जाता है। इसमे जीवन-प्रेरणा की मन्दता है, इसके सिवा क्या कहा जा सकता है?

अनुकरण का फैशन

मैं मानता हूँ कि ऊपर केन्द्रीय-सरकार मे प्रश्न जो पहले शब्द का बन गया, काम का नही रहा, सो यह मन्द-श्रद्धा का ही परिणाम था। आप कोश बनाइये और बनाते चले जाइये। कभी इस बोध से आपको छुटकारा नहीं मिल सकता कि अनेकानेक शब्द इस बीच ऐसे नये आ बने हैं, जिनका पर्याय आपके पास नही हैं। अनन्त काल तक आप सब शब्दो को अपनी भाषा मे लाने मे सफल नही हो सकते।

अगर भाषा की सामर्थ्य इसी पर निर्भर रहेगी और आप उस भाषा में काम चलाने की इसी शर्त पर स्वीकृत करते रहेंगे तो आप खड़े रह जायेंगे भाषा खड़ी रह जायगी और जमाना आपको छोड़ता हुआ ऊपर से निकलता चला जायगा। या अन्य अनुकरण प्रियता में ही मग्न हुए बढ़ेंगे और अपनी आत्मा और स्वतन्त्रता से बिछुड़े बने रह जायेंगे। अंग्रेजी को थामकर भारत उसी अनुकरण-प्रियता में बह रहा है और अपनी आत्मा से हीन और वियुक्त बना जा रहा है। इसी निहीनता का यह तर्क है कि क्या करें, हम हीन हैं हमारी भाषा हीन है। नकल करने और उधार करने के सिवा हमारे लिए और गति नहीं है।

ज्ञान विज्ञान एक भाषा से बाधित नहीं

निश्चय रखना चाहिए कि ज्ञान-विज्ञान समूची मनुष्य-जाति की निधि और स्वत्व होता है और देश या भाषा की बपौती उस पर नहीं होती। अमुक देश या भाषा में वह उपलब्ध या प्रकट हुआ हो सकता है, लेकिन उस भाषा-देश से वह बाधित नहीं होता। अपनी-अपनी भाषा द्वारा सब लोग अनायास उसका ज्ञान और सार प्राप्त करते और उसे आत्मसात् कर लेते हैं। इस प्रक्रिया को रोका नहीं जा सकता। वह भाषा नहीं बल्कि लोग ही पराधीन हैं, जो उसको सीधे लेने में असमर्थ हैं और ज्ञान से अधिक उसके परिवेश को महत्त्व देते हैं। शब्दों को पहले सीखने और फिर अनुवाद द्वारा ज्ञान तक पहुँचने की पद्धति अवैज्ञानिक और अकार्यकारी है। बच्चों को ही हम देखें कि भाषा उन्हें कोई नहीं सिखाता और वे अनायास सीख जाते हैं। कारण भाषा को अलग-अलग शब्दों-वाक्यों द्वारा वे ग्रहण नहीं करते जीवनोपयोग द्वारा लेते हैं। ऐसे ही ज्ञान को अलग-अलग शब्दों से बाधित हम मान लेते हैं, तो उसकी कठिनाई पर अटक जाते हैं और आदान-प्रदान की गति अवरुद्ध हो जाती है। सरकार को इस भ्रम-तर्क से इसलिए विरता और मन्द पड़ जाना हुआ कि उसके पास श्रद्धा-संकल्प का तत्त्व नष्ट हो चुका था और आज स्वराज्य के चौदह वर्षों के बाद भी अनुभव होता है कि अगर स्वराज्य का किंचित् लाभ भारत को प्राप्त है, तो वह अंग्रेजीवाले वर्ग को ही प्राप्त है शेष तो एकदम कोरे रह गये हैं। स्वराज्य की यह पराधीनता सचमुच बहुत शोचनीय है और उचित उपाय यही है कि अंग्रेजी के समाधान में बच निकलने की आदत कम शोचनीय नहीं है।

शब्द निर्माण क्षमता बढ़ती

२८२ शिक्षा-मन्त्रालय का हिन्दी-विभाग पारिभाषिक शब्दों के क्षेत्र में जो काम

कर रहा है उसे क्या आप उपयोगी और ठीक दिशा की ओर प्रगति मानते हैं?

—अच्छा होता यह काम सरकारी विभाग न करता, बल्कि जनता कर रही होती। जनता कैसे कर सकती है, यह प्रश्न मत उठाइये। सब कामकाज करने की अनिवार्यता ही जनता को अनेकानेक शब्द प्रस्तुत करने तक ले आती है। आज भी यह काम तेजी से हो रहा है। बम्बई और कलकत्ते मे बने फिल्म-चित्र देश के हर कोने मे दिखाये जाते हैं। इसी तरह जनता के सब वर्गों मे जीवन की अनिवार्यता में से माँग शुरू हो चुकी होती और अनेकानेक शब्दो का निर्माण हो गया होता। विभाग द्वारा वह काम न केवल स्वल्प हुआ है, बल्कि सम्भव है कि वह उपयोगिता से कुछ हटा हुआ भी हो। कारण, वह सिद्धान्त के तल से किया गया है। कार्यकारी उपयोगिता की कसौटी वहाँ प्रस्तुत नहीं रही है। इस काम मे एक सुविधा मानी जा सकती है और वह यह कि इस प्रकार बनी हुई शब्दावलि एक साथ प्रामाणिक और सर्वमान्य होकर आयेगी। पर सम्भव हो सकता है कि बहुत से शब्द उपयोग मे जमे ही नहीं और कुछ शब्द उपयोग मे आकर भी चलन मे खपने लायक न सिद्ध हों। जनता द्वारा यह प्रक्रिया सम्पन्न होती, तो सम्भव था कि अनेकानेक शब्द-विकल्प सामने आते और कोई एक प्रामाणिक शब्दावलि प्राप्त न होती। लेकिन प्रमाणीकरण का काम कोई एक मामूली केन्द्रीय-समिति पीछे कर सकती थी और तब यह कार्य सुगम भी होता। वह तब उपयोगिता मे सलग्न भी बना रह सकता था। अब हमने जीवन से, भाषा से, उपयोग से अलग, मानो सजीव सन्दर्भ से वियुक्त भाषा-शास्त्र में से शब्द-निर्माण करना चाहा है। इस प्रयत्न मे न कृत्रिमता को पूरी तरह बचाया जा सकता है, न समय के व्यर्थ अपव्यय को।

स्वल्प-फल, बहु-विघात

विभाग द्वारा जो काम हुआ है, उसे अनुपयोगी नहीं कह सकते। पर 'स्वल्प फल बहु-विघात' अवश्य कहा जा सकता है। सच यह कि शायद सरकार ने अपने ऊपर आवश्यक तौर पर वह भी बहुत जिम्मा ले लिया है, जो प्रजाजन मे बाँटकर किया जा सकता था। सहायता का काम ही सरकार का होना चाहिए था, भाषासम्बन्धी निर्मिति आदि का कार्य स्वय उस प्रकार की आवश्यकता के दैनन्दिन व्यवहार मे पडे लोगो पर छोडना चाहिए था। किन्तु वह प्रश्न स्वय शासनसम्बन्धी धारणा का बन जाता है। मानना चाहिए कि वेलफेयर स्टेट का आदर्श कामो को लोगो पर छोडना नही, अधिक-से-अधिक को अपने लिए अपनाने और हथियाने के निकट

पहुँचता जा रहा है। मेरे जैसे कुछ लोग उसे अभीष्ट न मानते होंगे पर सब नहीं हैं, यह स्पष्ट है।

हिन्दी बढ़ाना और हटाना

शिक्षा-मन्त्रालय शब्दावलि और शब्दकोश देता तो अच्छा ही है। लेकिन उसने समय लिया है और यह शब्दावलि सब राज्यों से स्वीकृति पाये इसमें और समय लगेगा। चलन में आये इस प्रयोग में और भी समय लगेगा। अर्थात् मन्त्रालय का यह सब प्रयत्न हिन्दी के माध्यम को प्रचलन में लाने की आवश्यकता के अनन्त स्थगन के साथ-साथ भी निभता चला जा सकता है। यही आज की विशेषता है कि एक स्तर पर हिन्दी को चलाने के प्रयत्न चल सकते हैं उसी सरकार में दूसरे स्तर पर हिन्दी को टालने के प्रयत्न चल सकते हैं दोनों में खूब खर्च होता रह सकता है और दोनों पक्षों को सन्तुष्ट रखा जा सकता है। यदि मैं विश्वास कर सकूँ कि हिन्दी पर उतर आने की आकुलता और अंग्रेजी की परावलम्बिता से जल्दी-से जल्दी छूटने की आतुरता सरकार में काम कर रही है, तो शिक्षा-मन्त्रालय के हिन्दी-विषयक काम का महत्त्व बढ़ जाता है। परिस्थिति में वैसा आग्रह नजर नहीं आता है। इस तरह यह प्रयत्न काल-यापन का ढंग-तरीका भी बन पड़ता है और उससे पूरी सान्त्वना नहीं होती है।

डा० रघुवीर का प्रयास

२८३ आपने यह काम जनता द्वारा किये जाने पर बल दिया। डाक्टर रघुवीर सरकार नहीं जनता के अंग हैं। उन्होंने जो विशाल पारिभाषिक शब्दकोश तैयार किये उन्हें सरकार और जनता दोनों ही मान्यता न दे सके बल्कि उनके शब्दों की खिल्ली उड़ायी गयी। ऐसा क्यों हुआ?

—डाक्टर रघुवीर के काम के परिणाम से मैं कितना भी असहमत होऊँ, उसका महत्त्व स्वीकार करता हूँ। उनके अध्यवसाय और लगन की गहरी प्रशंसा मेरे मन में है। ऐसी बात भी नहीं है कि उनके परिश्रम के फल का उपयोग ही न हुआ हो। पुरानी सी० पी० की सरकार ने न सिर्फ उनको अवकाश दिया बल्कि कार्यारम्भ की सुविधा दी और शब्दों को भी अपने उपयोग में लिया। अगर उस काम की सार्वजनीन उपयोगिता नहीं हो पायी और दोनों ओर यदि उसका कुछ उपहास भी हुआ, तो इस कारण कि शब्द-निर्माण का वह प्रयत्न भाषा और उपयोग के सन्दर्भ से स्वतन्त्र सिद्धान्त की भूमिका से हुआ था और इसलिए वह कहीं-कहीं विलक्षण और अनुपयुक्त भी हो गया था। यह दोष आये बिना तब तक नहीं रह

सकता, जब तक कि हम शब्द को जीवन-सन्दर्भ से अलग स्वयंप्रतिष्ठ रूप में देखना और अनुवाद में उतारना चाहेंगे। मैंने स्वयं उनकी माँग का पालन नहीं किया। लेकिन एक शब्द बहुत पहले चलाया गया था, [illegible], जो बाद में बाद में अटपटा हो गया है। अटपटा इसलिए हो गया कि वह विज्ञापन जैसा जान पड़ता था। यह शब्द निकाल भी नहीं जाता। यह अनुवाद है अंग्रेज़ी के '[illegible]' शब्द का। कहा जाता है कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह बहुत सही है, लेकिन कोई कल्पना कराइए उसमें से वह भाव नहीं ले सकेगा। उदाहरणों से अलग जब हम [illegible] शब्द का और इसकी भाषा में उतारना चाहते हैं, तो उसमें न अभि-प्राय यह अटपटा पड़ता है। डाक्टर रघुवीर का प्रयत्न व्यवहार-भाषा से ऊपर और उन्होंने किसी भाषा-सिद्धान्त के लाभ में जो बनाया जाता, वो समर्थ होते हुए भी उतना ग्राह्य नहीं हो सकता।

मैं समझता हूँ कि इसकी शब्द-निर्माण-विधि के सम्बन्ध में ही जानकारी प्राप्त की जा सकती और शिक्षा दी जा सकती है। पर यह कि शब्द को व्यवहार और भाषा के सन्दर्भ से अलग करके देखना सम्भव नहीं होता। यह निश्चय से आगे कभी अनवरत भी बन सकता है।

२८४ डाक्टर रघुवीर की अपूर्ण कार्यक्षमता क्या इस सिद्धान्त की अशक्यता सिद्ध नहीं होती कि संस्कृत को ही पारिभाषिक शब्दावलि का आधार बनाया जा सके और बनाया जाना चाहिए?

जीवन-प्रयोजन को सामने रखा जाय

—हाँ, सिद्धान्तपूर्वक चलना ही मुझे सही नहीं मालूम होता है। संस्कृत बहुत उपयोगी हो सकती है इस काम में। लेकिन उसके साथ प्रण जोड़ना हठ का द्योतक है और इष्ट नहीं है। सच यह है कि भाषा के सम्बन्ध में सामने जीवन के प्रयोजन को रखकर हम चलेंगे, तभी समभावी रह सकेंगे। अन्यथा कोई-न-कोई वादिता हमको ग्रस लेगी। उस प्रकार भाषा के प्रवाह में हमारे द्वारा वेग या सामर्थ्य नहीं आयेगा। बल्कि उसमें कुछ गाँठ पड़ेगी और ऊपर का आरोप और दबाव अनुभव होगा। इसीसे पण्डित और विज्ञ लोगों से भाषा का उतना निर्माण या संस्कार नहीं हुआ करता, जितना रचनाकार द्वारा होता है। कारण, उसके हाथ में भाषा स्वयं साध्य नहीं होती, बल्कि नैवेद्य की भाँति जीवनाभिव्यक्ति के प्रति समर्पणीय अर्घ्य के समान होती है। कहे जानेवाले तद्-ज्ञों पर यह काम छोड़ने में हो सकता है कि समानान्तर हमको दो शब्द-सूचियाँ मिलें। एक सूची लोक-भाषा की हो और दूसरी विज्ञ-भाषा की समझी जाय। शासन और देश-कार्य की

दृष्टि से यह समानान्तरता उपयोगी नहीं होगी और लोकतन्त्र का तात्पर्य सिद्ध होता तो तब भी लोक-भाषा और साधु-भाषा में व्यवधान ज्यादा नहीं होता, बल्कि कम होता जायगा।

एक्युरेसी और करेन्सी

जितने शब्द भूमिज-देशज व्यवहार्य होंगे उतने भाषा प्रवाह में सहज खपते जायँगे। लेकिन कहीं निर्माण भी आवश्यक होगा। किसी हठ और सिद्धान्त के सहारे वह निर्माण सुगम भले हो जाय लेकिन भाषा की प्रकृति में बैठ सकनेवाला शब्द चाहिए। एक्युरेसी और करेन्सी के बीच दोनों को सम्भालते हुए, शब्द-निर्माण के काम को करना चाहिए। सही-सही होना और प्रचलनक्षम होना इन दोनों सिद्धियों का ध्यान तभी रखा जा सकता है, जब जीवन प्रयोजन के प्रति चित्त में सावधानता हो और इससे इधर-उधर भाषासम्बन्धी कोई राग या आसक्ति-भाव न हो। इस दृष्टि से विद्व से अधिक सामान्य जन का योग इस काम में अधिक विश्वसनीय और लाभकारी हो सकता है।

१८५ क्या आप शिक्षा की इस तकनीक से सहमत हैं कि अध्यापक एक बैरा बन-कर पाठ को हलुवे के रूप में प्लेट में सजाकर विद्यार्थी के सामने केवल पेश ही न करे, बल्कि चम्मच से उसे खिलाये भी और विद्यार्थी के लिए असुविधा कठिनाई और अभ्यास का एक भी अवसर न आने दे, उसके कोमल मन पर जरा भी मनोवैज्ञानिक अथवा अन्य दबाव न पड़ने दे?

प्रश्न और उसका रस

—आपने जिस भाषा में बात को रखा है, उसके रहते हुए कौन उससे सहमत होने की हिम्मत कर सकता है? सचमुच पाठ्य-पुस्तक का प्रथम रूप में ज्ञान नहीं होता लेकिन वह अध्यापक को अवसर देता है कि उस उपकरण से वह कुछ-कुछ विद्यार्थी में उँडेल सके। ज्ञान जीवन का अंग है और शब्द केवल उसके माध्यम हैं। जहाँ शब्द ही साध्य बन जाते हैं और ज्यों-का-त्यों वाक्यों को मन में उतारकर स्मृति में संचित करना होता है, उसको ज्ञान नहीं कहते। वह जीवन से फिर घुलता-मिलता नहीं है, मन पर मानो परिग्रह की भाँति बैठ जाता है। उससे व्यक्तित्व विकास में नहीं आता बल्कि कुछ ममता भले आ जाती हो। इसलिए पुस्तक के पाठ्य-भाग को तो उपकरण और अनुपात के रूप में ही लेना चाहिए। उसको लेकर व्याख्या के रूप में अनेकानेक परिस्थितियाँ विद्यार्थी को दी जा सकती हैं। सच यह कि साहित्य अथवा वाङ्मय की भाषा स्थिरसिद्ध वस्तु नहीं होती, वह गुणक

हुआ करती है, शब्दो द्वारा जितना कहती, उससे कहीं अधिक इंगित और सूचन द्वारा कहती है। यदि अर्थ तक ही उसका प्रयोजन परिमित हो, तो उसमे पाठ्य बनने की क्षमता नहीं आती। अधिकाश पाठ्य वह वक्तव्य बनता है, जो साग्गर्भ है और अर्थ जितना ही नही देता, वरन् भावरूप मे उससे बहुत अधिक देता है। अध्यापक की सफलता इसमे है कि शब्दार्थ के द्वारा दी जानेवाली भाव-सम्पदा मे विद्यार्थी के मानस को पहुँचा दे। ऐसा हो तो पढाई शुष्क नही रहती, वडी रोचक हो जाती है। और रसग्रहण के द्वारा प्राप्त हुआ सत्व भार नहीं रहता, वह अनायास शक्ति बन जाता है।

ज्ञान क्रिया को प्रेरित करे

स्पष्ट है कि यह ज्ञान क्रिया को रोकेगा नही, बल्कि प्रेरित करेगा। ऐसे विचार और कर्म की विमुखता टूटेगी और उनमे एकत्रितता आयेगी। कर्म के लिए सश्लेप आवश्यक है और बुद्धि, जो विश्लेपण-प्रवण होती है, इस रस के योग से सश्लेपण से उलटी न जाकर उसमें सहायक हो जाती है। आज की पढ़ाई इतनी अन्वयात्मक है कि व्यक्तित्व भी मानो उससे विखरता है। समन्वय की क्षमता भी व्यक्तित्व में आये, तब मानना चाहिए कि विद्या ने ज्ञान का स्वरूप लिया है। अन्यथा विद्या वियुक्त करनेवाली हो सकती है, सयुक्त नहीं करती। आज की यही विडम्बना है कि विद्या से व्यक्ति मे हृदय और मस्तिष्क का समन्वय नहीं होता, उनमें जैसे विग्रह बढ़ जाता है। अर्थात् शिक्षा से स्वार्थ की वृत्ति कटने के बजाय और उत्कट बन सकती है और पढ़ाई-लिखाई की योग्यता, हो सकता है, व्यक्ति को सज्जन और सन्नागरिक न बनाये, बल्कि दुर्वृत्तियो को और धार देकर रह जाय। पाठ्य-प्रणाली और परीक्षा-विधि के रहते हुए भी इस तथ्य का ध्यान रखा जाय तो बहुत लाभ हो सकता और बहुत हानि बचायी जा सकती है।

२८६ आपने मेरे प्रश्न को कुछ छुआ नहीं। मैं यह जानना चाहता हूँ कि विद्यार्थी को असुविधा और कठिनाई मे न पड़ने दिया जाय, इस नीति को क्या उसके व्यक्तित्व के विकास तथा उसमे आवश्यक उत्कण्ठा और जिज्ञासा के लिए आप हानिकर और बाधक नहीं मानते ?

प्रयत्न का रस

—मराठी भाषा मे शिक्षा का अर्थ सजा है। शिक्षा मे अर्थ को यहा तक खीच ले जाना कि मतलब सजा ही रह जाय, मुझे उचित नहीं प्रतीत होता।
परिश्रम और प्रयत्न मे स्वय एक रस है। जिसको मज़ा और चस्का कहते है, उसमे

यह रस भिन्न और ऊँचे प्रकार का है। सिर्फ बरके मे एक बचाव और व्यसन की तृप्ति रहती है। प्रयत्न और पुरुषार्थ में से मिलनेवाला रस सार्थकता देता है।

बुद्धि और वृत्ति का व्यायाम

आज का सूत्र है 'खेल-खेल में सीखो और सिखाओ।' इसको भी अति की ओर खींच ले जायें तो चित्त के लिए आवश्यक संयम और नियमन की दीक्षा वहाँ से नहीं प्राप्त होती। किन्तु यह सच है कि ऊपर से डाला गया श्रम बेगार हो जाता है और प्रमाद और प्रतिक्रिया को जन्म देता है। बालक प्रकृति से ही कुछ श्रम करना चाहता है, अज्ञात और अपरिचित की ओर बढ़ना चाहता है। उसमे सीखने, बढ़ने, जानने की स्वाभाविक वृत्ति होती है। प्रत्येक प्रयत्न से वह अपने में बल आता अनुभव करता है। क्या हम देखते नहीं कि वह बचपन मे बार-बार गिरकर फिर-फिर उठता और इस तरह चलना सीख ही लेता है। इसमें जिस आयास की आवश्यकता होती है, वह उसे स्वयं प्रिय होता है। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि अनायासता की बात करते समय बालक की आयास उठाने की क्षमता को मन्द करने का समर्थन आ जाता है। किन्तु बुद्धि और वृत्ति का यह व्यायाम बालक को स्वेच्छा से प्राप्त होता होगा, तो उसके लिए सहायक होगा, नहीं तो उसमें एक विद्रोह की भावना जगा सकेगा, जिससे उसका अपना जोर और अध्यापक का जोर दोनों परस्पर को खण्डित करनेवाले बनेंगे और शिक्षण का परिणाम उच्छृंखलता और स्वार्थता के वर्तमान में दीखने लगेगा।

भय और दण्ड

१८० क्या आप नहीं मानते कि भय और दण्ड के बिना सुशील और विवेकपूर्ण विद्यार्थी में आज्ञा-पालन, विनम्रता और स्वहित-चिन्तन की क्षमता नहीं आती?
—भय और दण्ड किस ओर से आता है, यह प्रश्न मुख्य रहता है। वे आप सहायक हो सकते हैं, बशर्ते कि उस दिशा से आयें, जहाँ बालक मे ममता और भरोसा है। यदि सम्बन्ध मे वह ममत्व और स्नेह नहीं है, तो फिर उस दिशा से आता हुआ भय और दण्ड किसी तरह बालक की सहायता नहीं कर सकेगा। तब वह बालक की प्रकृति में क्षति लाये बिना न रहेगा, और संस्कारिता देने के बजाय उसमें बाधा स्वरूप हो जायगा।

प्रेम अधिक विश्वसनीय

मैं कहना चाहता हूँ कि प्रेम हर आदर्श और नीति के बाद से अधिक विश्वसनीय

है। नीति अनायासता की हो सकती है, दण्ड की भी हो सकती है। यह स
विचार का प्रश्न है। इन सबसे बढ़कर हैं, प्रेम की अनिवार्यता। वह प्रे
प्रकार आंकिक-वादों से घिरता नहीं हैं, अर्थात् उसमें भय और दण्ड की यथा
मात्रा भी समा सकती है। प्रेम सम्पूर्ण सम्बन्ध की सृष्टि करता है। नीति
द्वारा जो भी हम प्राप्त करते हैं, उससे नियमित सम्बन्ध बनता है। वह उस
सघन और समग्र नहीं होता, इसलिए उसमे आंशिक सत्य ही होता है। भय
दण्ड को सर्वथा दूर रखना चाहिए, इस प्रकार की नीति बन सकती है। भय
दण्ड से भरपूर काम लेना चाहिए, दूसरे लोग इस नीति का भी व्याख्यान कर
हैं। ये बने हुए मन्तव्य सब अर्ध-सत्य होते हैं और इनमे से किसी पर अपन
आसरा डाल देना सही नहीं होता। जो सही है, वह यह कि अध्यापक और वि
के बीच प्रेम की अभिन्नता हो। फिर अध्यापक का विवेक जिस तरह भी
चलायेगा, उसमे से विद्यार्थी का इष्ट ही होगा, अनिष्ट नहीं होगा। गुरु-शिष्
यह सम्बन्ध निजी और वैयक्तिक होता है। उस सम्बन्ध के सन्दर्भ से तो
कोई सामान्य सिद्धान्त स्थिर करके अलग हो जाने से नही बनेगा। अध्याप
वृत्ति और बुद्धि को हम किसी बाहरी नियम से जकड-पकड नहीं सकते। ऐसे
नियम की आड उस सम्बन्ध की समग्रता पर भी दबाव लाने लग जायगी।

पोषक और विधायक दण्ड

अन्तत जो बात सर्वसामान्यरूप से स्वीकार की जा सकती है और जिस पर अ
भी रखा जा सकता है, वह यह कि दिया हुआ कष्ट यदि शुभ फल लाता है,
तब और उतना ही लाता है, जितना उस दिये कष्ट के द्वारा स्वय कष्ट उठाया ज
है। अहिंसा की यही पद्धति है। इससे व्यक्तित्व को सस्कार मिलता है और
दोनो को समर्थ और पवित्र रखता है। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध मे यह प्रक्रिया च
तो भय और दण्ड बीच में आकर भी पोषक और विधायक बन सकते हैं। कि
जहाँ उस अभिन्नता की भूमिका न हो, वहाँ भय और दण्ड की नीति पुरानी
वर्जनीय है, यह कहने मे मुझे आपत्ति नहीं है।

२८८ आपने अध्यापक और विद्यार्थी के बीच अभिन्नता की बात कही। वह
सम्भव है, जब आज की शिक्षा-पद्धति में अध्यापक केवल एक नौकर है और विद्या
जानता है कि वह जब चाहे, उसे और उसकी नौकरी को सकट मे डाल सकता
अथवा उसे कानूनी पकड़ मे ला सकता है। जब अध्यापक के ऊपर सरकार
प्रबन्धकों की इतनी अधिक दफ्तरी रोक-थाम और जकड़ है कि वह अपनी बुद्धि औ
वृत्तियों का तनिक भी सदुपयोग विद्यार्थियों के हित मे नहीं कर पाता और उस

विद्यार्थी से डरकर रहना पड़ता है अपनी इज्जत बचाने के लिए और प्रबन्धकों से डरकर रहना पड़ता है अपनी रोटी बचाने के लिए ?

नियमों की पोथी

यही तो शिक्षा-विधि की सबसे बड़ी आलोचना है। आप सम्बन्धों के बीच में जब पारस्पर्य को और सीधे दायित्व-भाव को हटाकर कोई ऊपर से बनी हुई नियमों की पोथी बिठा देते हैं तो एक-दूसरे के प्रति जिम्मेदारी का अवकाश नहीं रहता। नियमों की पोथी ही सब चीजों को मानो अपने में समा लेती है और सारा क्रम निर्जीव बन जाता है।

पैसा मूल्य-निर्णायक

फिर दूसरी भयकर चीज पैसा है। यदि मानसिकता का निर्णय दोनों ओर पैसा करता है तो उसका तारतम्य गुरु-शिष्य-सम्बन्ध को जड़ से ही खा जाता है। कोई अमुक मैनेजर साहब यदि अपनी जगह इतने प्रताप अनुभव करते हैं कि अध्यापक लोग उनके घर हाजरी बजाते हैं, तो उनके सुपुत्र महाशय फिर क्यों अपने अध्यापक का रोब मानने लगे ? पैसे के कारण इस प्रकार की अनेक विषमताएँ जन्म लेती हैं और हम मान लिया करते हैं कि नियमों की पोथी उन सबका इलाज कर सकती है। वह बेचारी पोथी अपनी जगह रहती है और वे तथ्य तो परस्पर मान-सिकताओं का निर्णय करते हैं, वातावरण को विषम बनाये रखते हैं। इसलिए यह प्रश्न जड़ का है और वैयक्तिक से सामाजिक उसे अधिक कह सकते हैं। राज्य प्रधान और अर्थप्रधान समाज में ब्राह्मण-कर्म और वृत्तिवाला व्यक्ति मानो पिछड़ा बन जाता है। अध्यापक बेचारे की आज यही दुर्गति है। कालेज के लेक्चरार और प्रोफेसर को तो भी कुछ उचित वेतन और मान मिल जाता हो, स्कूल के अध्यापक तो किसी गिनती में ही नहीं। छोटी कक्षाओं के अध्यापकों को तो चपरासी से भी कम वेतन मिलता है। पहले भी भारतीय समाज में वह गु -वर्ग और ब्राह्मण-वर्ग सम्पन्न नहीं होता था लेकिन प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी। समाज के मूल्य ही तब अर्थाश्रित और अर्थनिर्मित नहीं होते थे। यदि सचमुच हम अपने अध्यापकों से आशा रखते हैं कि उन्हें सौंपे गये विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण की वे नींव रखें, वही दीक्षा और संस्कार दें तो आवश्यक है कि समाज में उनको उचित प्रतिष्ठा भी दें। यदि ऐसा नहीं हो सकता है तो हमारे शिक्षालय केवल अक्षर-शिक्षा देने-वाले होंगे विद्यार्थियों के मानस की या चरित्र की उत्कर्ष उनसे भी नहीं हो सकेगी। अध्यापन का कार्य मानो आर्थिक स्तर की दृष्टि से आज सबसे नीचे दरजे

का कार्य वन गया है। जिसको भी और क्षेत्र मे निकलने का अवमर मिल जाता है, वह इधर कभी मुडकर नहीं देखना चाहता। इस तरह जो सबसे अधिक महत्त्व का काय होना चाहिए, वही सवसे अगौरव का कार्य रह गया है। यह मूल्यो का विपयय है और इसलिए एक गहरा प्रश्न है।

अनुसन्धान कार्य

२८९ उच्च अनुसन्धान कार्य की दृष्टि से क्या आप यह अनुभव नहीं करते कि जो अनुसन्धान कार्य, विशेषकर हिन्दी मे हो रहा है, उसे सही दिशा नहीं मिली है और वह वहुत निम्न स्तर का है, साथ ही उसमें जीवन के लिए उपयोगी हो पाने की क्षमता नाममात्र को ही मिलती है ?

—हाँ, इस सम्बन्ध मे मैं खुद चक्कर मे हूँ। मैं स्वय समझना चाहता हूँ कि जो भीतर और विगत की ओर अनुसन्धान और अवगाहन है, उसका बाहर और भविष्य की ओर क्या योग और अनुदान होना चाहिए। सचमुच वह योग और अनुदान विशेष नही दिखायी दे रहा है। हिन्दी साहित्य मे उत्कष, गाम्भीर्य, गुरुता और गहनता क्या उस अनुसन्धान कार्य के परिणामस्वरूप कुछ बढ रही दीखती है? मुझे तो वैसा नही दिखायी देता। शायद मैं अन्धकार मे होऊँ, लेकिन किसीने मुझसे उस सम्बन्ध मे अपना सन्तोप नही प्रकट किया। अनुसन्धानो पर प्रतिवर्ष डाक्टरेट पानेवालो की सख्या तो अवश्य कम नहीं है। एक ओर यह सख्या भी बढ़े और दूसरी ओर वाङ्मय का स्तर न बढ़े, तो यह बात समझ मे नही आती।

उसमें सत्व-वर्चस्व नहीं

जान ऐसा पडता है कि अनुसन्धान एक कोरे परिश्रम और अध्यवसाय की चीज रह गयी है। दो वर्षों मे वहुत से ग्रन्थो को उलट-पुलट कर और उनकी लम्बी सूची साथ मे प्रस्तुत करके चार-पाँच सौ पृष्ठ भारी-भरकम गद्य के प्रस्तुत कर देने से अनुसन्धान की सफलता मान ली जाती और अच्छे वेतन की प्राध्यापकी पाने की राह खुल जाती है। उस सब अनुसन्धान का अन्त में किसी चितत्त्व और चित प्रयोजन से सम्बन्ध जुडता है, ऐसा नही मालूम होता। प्रत्यक्ष के पीछे और वर्त-मान के अगोचर मे ही सच पूछिये, तो वह कारण-लोक निभृत है, जिसमे से ससार की नाना क्रिया-प्रतिक्रियाएँ जन्म पाकर समक्ष मे लीलायमान दिखाई देती हैं। सच पूछिये तो आत्म-लोक वही है, चिदानन्दमय वही है। शायद अनुसन्धान द्वारा हमे पदार्थ के और व्यवहार के मर्म मे उतरते-उतरते उसी चिदात्म का

उद्घाटन करता है। सच्चिदानन्द के आविष्कार की यह साधना-प्रक्रिया है। इस तरह अनुसन्धान का बहुत ही महत्त्व होना चाहिए। किसी सृजन से वह कम नहीं है। लेकिन आज हिन्दी के क्षेत्र में चलनेवाले अनुसन्धान में क्या वह सत्त्व और सर्वस्व है? कदाचित् उसका अपने आप से विच्छेद हो गया है और उसकी सार्थकता नाना प्रकार की रूखी-सूखी जानकारियों को बटोरकर एक किताब के रूप में सामने ला देने में समझ ली गयी है। जो साधना चिन्मय और प्रज्ञाबिन्दु होनी चाहिए थी वह निर्जीव और निष्प्राण बन गयी है। साहित्य में डाक्टर मालूम होता है कि व्यवसाय-रूप के लिए तैयार होते हैं, उन्हें मानव-धर्म के लिए उनके पास कोई क्षमता और योग्यता होने की आवश्यकता नहीं है। कहना होगा कि अनुसन्धान की यह धारणा निस्सत्त्व और शून्य है जिसके अधीन यह सब चल रहा और बढ़ा जा रहा है। इससे ज्ञान का ही अपचार होता है और स्वीकार करना होगा कि हिन्दी डाक्टरी के लिए आज सम्भवतः कोशों में कम अवमानना और अवहेलना का भाव नहीं है।

ज्ञान और सृष्टि : दो अलग क्षेत्र

ऐसा लगता है कि ज्ञान और सृष्टि को दो अलग विभागों में डाल दिया गया है कि जैसे इन दोनों को परस्पर लेना-देना कुछ हो नहीं। या तो रचना का पण्डित बना जा सकता है या फिर रचनाकार ही हुआ जा सकता है। ऐसे हमने साहित्य को सृष्टि से उतारकर कारीगरी तक उतार दिया है और ऐसा मालूम होता है कि पाण्डित्य को इस कारीगरी तक दिलचस्पी है, आगे सृष्टि के रहस्य की ओर जाने की चेष्टा मानो विज्ञता के लिए अनावश्यक है। ऐसी विज्ञता और विद्वत्ता निष्प्राण और निस्पन्द वस्तु बन जाती है और साहित्य पण्य और क्रय-पदार्थ। व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन के उत्कर्ष और उन्नति का जो दायित्व साहित्य के ऊपर आता है, मानो इस पाण्डित्य के द्वारा उसे उससे विहीन कर दिया जाता और कोरे हस्त-कौशल और हस्तशिल्प के रूप में उसे अध्ययनीय समझा जाता है। एक दिग्दर्शन के स्पर्श की आवश्यकता है, जिससे दोनों मन में ऐक्य की प्रतिष्ठा हो और समूचा अनुसन्धान सप्राण और सोद्देश्य बन सके। आज मानो वह एक ऐसा धर्म है, जो प्रयोजन से विच्छिन्न है और कुछ विशेषाधिकारियों और विधानों के अधिकृत व्यसन के रूप में परिपोष्य बना हुआ है।

१९. क्या यह सत्य नहीं है कि अच्छा-भला विचारशील सहानुभूतिपूर्ण विद्वान् भी डाक्टर बनने के बाद अहंकार से इतना दृप्त हो सकता है कि रचना की क्षमता भी खो ही देता है। साहित्यकारों का समुचित मार्गदर्शन करने की क्षमता क्या, इतना

भी उसके अन्दर नहीं रहती और स प्रकार वह साहित्य को बढ़ावा और सहयोग देनेवाला बनने के बदले उसको काटनेवाला बनकर ही रह जाता है?

मोटा वेतन

—बात यह है भाई कि इस दीन-हीन समार मे अच्छा-खासा वेतन छोटी चीज़ नहीं है। वह आय किसी काम के एवज मे नहीं, केवल विद्वत्ता और विज्ञता के बदले मे मिलती हो तो वह विज्ञता मोहरबन्द और प्रामाणिक बन जाती है। उसका भी अहकार न हो तो किसका हो?

जिज्ञासा से छुट्टी

लेकिन उसमे बहुत बडा खतरा है। ऐसी निश्चित और निश्चिन्त विज्ञता जिज्ञासा को खा जाती है। साहित्य जिज्ञासा के साथ है। वह जाचता इसलिए नहीं है कि सदा जानना चाहता है। जानकार होकर जो प्रकट होता है, वह उतने मात्र से साहित्य नहीं रह जाता। इस तरह विज्ञता से अधिक इस क्षेत्र मे अज्ञता की कीमत हो जाती है। अज्ञ वह, जो जानता है कि वह नही जानता, इसलिए जो सदा सबसे जानने का इच्छुक रहता है। जिज्ञासा ही उसमे तीव्र होती है, ज्ञान तो कह सकते हैं सदा ही मन्द रहता है। वह ज्ञान कि जो निश्चित और अन्तिम होकर रुक भी सकता है।

सील-मुहरवाली विज्ञता

उस सील-मोहरवाली विज्ञता के प्रति मुझे सहानुभूति होती है, जो मानव-प्राणी की अज्ञता को सहसा ढँक डालती और उसे आवश्यकता से अधिक गुरु-गम्भीर बना देती है। कारण, यदि डाक्टरेटी विज्ञता आदमी में यह अस्वाभाविक भाव पैदा कर दे और साहित्य की निधि के समक्ष प्रार्थी के बजाय वह उसकी तिजोरी का चौकीदार बनना पसन्द करने लगे, चाहे तो वह उस तिजोरी का अपने को विभु ही मानने लग जाय तो स्पष्टत दोनो दशाएँ ही दयनीय हैं और ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा स्वत्वाधिकार कभी सहायक नहीं हो पाता।

पैसे से तितिक्षा मन्द

अक्सर देखा गया है कि पैसा नुकसान करता है। पैसे का सहारा होने लग जाता है, तो ज्ञान भी नुकसान करने लगता है। उससे पहले ज्ञान मानो कष्ट से मुक्त नहीं होता और कष्ट उसकी जिज्ञासुता को जाग्रत रखता है। पैसे की आड

मिल जाने पर तितिक्षा मन्द हो जाती है और ज्ञान सहारे से टिककर निस्पन्द और श्लथ होने लगता है। समझ नहीं आता कि क्या यह उचित ही है कि सरस्वती को लक्ष्मी का वाहन न मिले? लक्ष्मी का सदुपयोग समझ में आता है। लेकिन लक्ष्मी का सहारा और उसकी निर्भरता सरस्वती में मूर्छा का कारण ही बनती होगी ऐसा भय होता है।

मैं गरीबी का प्रशंसक नहीं हूँ। लेकिन अमीरी को और भी डरने लायक चीज समझता हूँ। सुनता हूँ अनेक प्राध्यापक खासे अमीर बन सके हैं और कुछ साहित्यकारों को भी यह सौभाग्य मिला है। यह अवश्य अभिनन्दनीय है, पर अमीरी का डर मुझमें समाया ही रहता है।

शिक्षा पैसे के ऊपर रहे

आज सभ्यता आर्थिक है और उठा हुआ वही है जिसकी कमाई उठी हुई है। फिर भी मैं उस समय का स्वप्न देखता हूँ जब ज्ञानी या साहित्यकार धन नहीं पायेगा पर आत्मा पायेगा और इस कारण समाज के प्रति शिकायत नहीं रखेगा सिर्फ आशीर्वाद रखेगा। यह व्यक्ति शिक्षा का केन्द्र होगा और तब शिक्षा पैसे के नीचे नहीं पैसे के ऊपर रहेगी। मनुष्यता के संवर्धन में ही योग देगी पैसे की प्रभुता और पूजा में न रीझेगी।

१४

साहित्य-क्षेत्र

श्वविद्यालय, रेडियो, पत्र

.१ आज साहित्यिक क्षेत्र मे एक विषम त्रिकोण मुझे दीख पड़ता है। विश्व-द्यालय, रेडियो और पत्र उसके तीन बिन्दु हैं। जिसे भी लिखने में रुचि है, नो की ओर भागता है। जिनमे प्रतिभा है और सांसारिकता का अभाव है र जो साहित्य रच सकते हैं, वे इनमे कहीं भी फिट नहीं बैठ पाते। इस प्रकार तन को क्षति पहुँचती है और इस त्रिकोण के सामने साहित्य का महत्त्व घटता । इस स्थिति पर आपको क्या कहना है?

ाज लेखन व्यवसाय बना

-लिखने से जीविका का जो सम्बन्ध जुड गया है, सो बेचना ज्यादा महत्त्व का हो ा है। लिखें चाहें अच्छा नही, लेकिन बेच अगर अच्छा सकते हैं, तो आपका धन्धा ल निकलेगा। लेखन यदि व्यवसाय है, तो व्यावसायिकता प्रधान और लेखन उसके ीन हुए बिना कैसे रहेंगे। विश्व-विद्यालय, रेडियो और पत्र-प्रकाशन-सस्थान केन्द्र हैं, जो लिखे माल को या लिखने-पढ़ने की योग्यता को खरीदते हैं। इस-ए उनके आस-पास लेखन और ज्ञान के व्यवसायियो को आप होड मे बिका हुआ यें और अपने-अपने माल की बिक्री में प्रवृत्त देखें, तो व्यवसाय के नियमो के ्र सब अनुकूल ही है। इस स्थिति पर शर्माने या घबराने की जरूरत नहीं है। खक को बेचक भी बनना पडता है, तो यह भी शायद उसके भले के लिए ही है। खक पहले कृपा-प्राप्त होता था। वह अपने माल को अलग-अलग नही बेचता । अपनी सम्भावनाओ-समेत इकट्ठा ही अपने को किसीकी कृपा पर बेच देता ।ये कृपालु लोग व्यवसायी नही होते थे, वदान्य और सहृदय हुआ करते थे। ोर यद्यपि लेखको की जीविका इस तरह कृपा पर निर्भर थी, तो भी उतना दबाव सका नहीं आया करता था, न दुनियादारी के हिसाब का उसमे उतना मेल ा रहता था। तब सरलता और सहृदयता के लिए आवश्यक न था कि वह शलता और चतुरता का बाना पहने। एक विनय को अपनाने से काम चल ाया करता था।

औद्योगिक क्रान्ति

आज यह युग है जहाँ कहा जाता है कि औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी है। अब काम करनेवाले को अपने माल के एवज में जीविका प्राप्त होगी। इससे आगे जहाँ उससे असली क्रान्ति हुई मानी जाती है लेखक अपना माल इस या उस दुकानदार को नहीं देता है बल्कि राज्य को देता है, जो सर्वव्यापक और सर्वाधिपति होता है। माल अनुकूल हो तो राज्य की शरण सब सुख-सुविधा देनेवाली हो सकती है। तब सम्पूर्ण संकट-मोचन हो जाता है।
आर्थिक वैषम्य का यह चक्र जो समाज में चला उससे लेखक अलग कैसे रहे? अब यह लेखक का प्रश्न है कि वह इस चक्र से ठीक किस प्रकार अपना सम्बन्ध और सामंजस्य बिठाता है। इसमें कोई एक सामान्य सिद्धान्त काम नहीं करता।

अपनेपन की रक्षा या समाज-रुचि से समझौता

जिसे अपनेपन को रखने की बहुत चिन्ता है और समझौता करना नहीं चाहता वह मानो तुलसीदासजी की तरह से भीख और पेट पाले। तुलसी घर-बार से छूट जाते और अपने पेट को एक अकेला बना लिया। अकेले पेट के लिए भी लोग जीविका करते हैं, लेकिन उन्होंने अपने मान को इतना औंधा कि भीख को अपना लिया। दूसरे हुए कबीरदास। कहते हैं, उनके पास परिवार था और वे करघे पर काम शुरू किया करते थे। जुलाहागिरी में कुछ काम चले ये गुन कैसे हों पर उसको यहीं देखना नफा उठाना और बचत करना कितना उन्हें आता था इसका पता नहीं है। कबीर के कुनबे के लोग शायद ही अपने को इसलिए धन्य मानते हों कि वे कबीर के पाले पड़े हैं। और लोगों ने और ढब अपनाये। कोई दरबारी बन गये कोई शायद राजा के मित्र भी बन गये हों। इसमें अपने निजपन और बाहर के समाजपन के बीच समझौते की बात आती है। आप रुचि का माल दीजिये और गाहकों से आपकी और पदार्थ की सुख-सुविधा बढ़ती चली जायेगी। जितनी आपको यह भौतिक सुख-सुविधा चाहिए, उतने ही समाज-रुचि और लोकरंजन के बारे में आपको सावधान और समर्पित होना होगा। अपनी ही कहनी और रखनी चाहते हो तो इन सुभीतों की त्रुटि पर शिकायत छोड़ देनी होगी।
सुखी और सफल हैं वे जो इन दोनों संस्थानों में से किसीमें सुविधा का स्थान पा जाते हैं। इन्हें पब्लिक सेक्टर माना जाय तो प्राइवेट सेक्टर में भी कुछ संस्थान हैं। चाहिये वहीं ही जगह बना लीजिये। इस जगह बनाने की सामंजस्य-कुशलता को साहित्य की दृष्टि से भी मैं कम महत्त्व नहीं देता हूँ। लेकिन जो वैसी कुशलता नहीं रखते हैं उनको क्या मुरझाने और मरने की छुट्टी मिल जानी चाहिए?

अपवाद को भी जीने का हक

जाने क्यो, मेरा यह मानना है कि अपवाद को भी जीने का हक है। शायद उसे भी कुछ देना है। वह समाज, जो ऐसे अपवादरूप व्यक्तियो से हो सकनेवाले लाभ से अपने को वचित रखता है, घाटे मे ही रहता है। इसीसे आप देखेंगे कि आज कला मे सनक की कीमत वढ गयी है। चित्र जितना अधिक सनकी है, मानो उतना ही अधिक आधुनिक है, जिसके अथ, लक्ष्य और प्रयोजन का अता-पता ही नही चल सकता, मानो वह चित्र पब्लिक हाल मे उतना ही मान्य स्थान पाता है। इसके मूल में जान पडता है, यह अपवाद को जीने देने, उसको जिलाने और अपने मे समाने के आग्रह के फैशन का ही परिणाम है।

अपवाद-स्वरूप व्यक्ति को कोई हक समाज के ऊपर नहीं आता है। अर्थात् उसका दावा नहीं हो सकता। समाज ही कुछ अपने मे उसके प्रति दायित्व अनुभव करे, तो यह दूसरी वात है।

पीडा ही पूजी

मैं यह मानता हूँ कि निजत्व और सत्य के प्रति दायित्व माननेवाले को हर कष्ट के लिए तैयार रहना चाहिए। तैयारी इतनी चाहिए कि किसी स्थिति मे कटुता और उपालम्भ उसके मन मे न आये और हर कष्ट को अपने हक के तौरपर वह स्वीकार कर सके। हर बाहरी अभाव को भीतरी सद्भाव से ले और इस तरह अभाव को यह शक्ति न मिलने दे कि उसके अन्तरग को कोई क्षति दे सके। ऐसा व्यक्ति मेरे विचार मे वह काम कर जायगा, जो पीछे जाकर समाज को अत्यन्त प्रिय और उपयोगी हो सकेगा। समाज की ओर से आनेवाली अवगणना और अवहेलना मानो कुरेद-कुरेदकर उसके भीतर की स्नेह की पीडा को बाहर प्रकाशित होने में मदद देगी और ऐसे जो दुःख मे से आयेगा, आह्लाद देनेवाला बन जायगा।

अकेला और जीविका-हीन

वह अकेला और जीविका-हीन व्यक्ति काम और भूख का क्या करे? कमा नही सकता, इससे विवाह भी कैसे कर सकता है? कमाई में से भूख की शान्ति का साधन होता है और विवाह मे से काम का उपचार होता है। इन दोनो से वचित होकर वह सशरीर व्यक्ति क्या करे? कोई नहीं बता सकता कि वह क्या करे। भिक्षा से भोजन मिल जाय, तो क्या समर्पण भी मिल जायगा? लेकिन यह समस्या ऐसी है कि झेली जा सकती है, चर्ची नही जा सकती।

पैसे का और जीविका का प्रश्न उतना ही पेचीदा है, जितनी कि पैसे की सस्या

पेचीदा बन गयी है। इस व्यूह का मुझे स्वयं पार नहीं मिलता है। ऐसा लगता है कि उसमें एक बार भीतर जाना हो भी जाय तो बाहर निकलना नहीं हो पायगा। इसलिए पूछने की भी क्यों नादानी की जाय।

सुरक्षित आजीविका का महत्त्व

इच्छा मेरी सबके लिए यह है कि सबको सुरक्षित आजीविका प्राप्त हो और यदि स्वतन्त्रता का कुछ अंश उसके लिए कम भी होता हो तो हर्ज नहीं है। वह ही भी क्या स्वतन्त्रता किस काम की जिससे वे श्वास-नलिकाएँ ही सूख जायें जहाँ से समाज के प्रति व्यक्ति श्वास प्रश्वास लेता है। एक यह भी विधि कही जा सकती है जहाँ योग-क्षेम समाज से नहीं आता ईश्वर से आता है। उन मनःस्थितियों का निर्धारण नहीं हो पाता जिनसे आदमी अपने श्वास प्रश्वास का सम्बन्ध सीधे ईश्वर से जोड़ पाता है। उस विधि का विश्वास हो तो निजता की सम्पूर्ण निष्ठा और तन्मयता को अपनाया जा सकता है। उससे उतरकर मैं नहीं चाहूँगा कि कोई भी आजीविका से अपने को वियुक्त और वंचित करे। इसमें व्यक्तित्व और आत्मत्व को दबना और पिचना पड़े तो भी मैं मानता हूँ कि इसमें भी कुछ विधाता का अभिप्राय होगा। बिना मन को तोड़े यह समझौता और सामंजस्य साहित्यकार को स्वीकार लेना चाहिए।

१९२ क्या आपको विश्वास है कि हिन्दी दूसरी भारतीय भाषाओं पर जो अपने को आरोपित कर रही है वह अपनी साहित्यिक उच्चता और योग्यता के कारण कर रही है अथवा केवल राजनीतिक परिस्थितियों के कारण?

उच्चता आरोपण नहीं करती

—आरोपण सदा राजनीतिक होता है। उच्चता कहते ही उसे हैं जो अपना आरोपण नहीं करती। हिन्दी के नाम पर भाषा के आरोपित करने की चेष्टा है, तो वह उन्हीं लोगों के नेतृत्व में हो सकती है, जिनमें वृत्ति अहंकार की है और जो अपने पोषण के लिए भाषा की दुहाई देते हैं।

साहित्यिक श्रेष्ठता एक ऐसी विशेषता है, जिसको जताने की या थोपने की जरूरत नहीं होती। उसका सत्कार सब सदा स्वेच्छा से करते हैं। यह अहम् की श्रेष्ठता नहीं होती। उसमें आत्म-निवेदन हुआ करता है। इसलिए वह किसी प्रदेश या विरोध के लिए अरुचिकर नहीं होती उसको सर्वथा मान्य होती है।

१९३ मेरा यह मानना है कि अपने आदिकाल से ही हिन्दी के साहित्यकार अपनी पूर्वानुवर्ती सिद्धान्त-मोह और अन्य कृत्रिमताओं से इतने उत्तीर्ण नहीं थे कि वे

जीवन का सहज सर्वांगीण और सजीव चित्रण कर पाते और इस प्रकार आम जनता के मन में अपने पात्रों को और उनके माध्यम से अपना स्थिर प्रतिष्ठा कर सकते। कुछ अपवाद हो सकते हैं। इस विषय पर आपको क्या कहना है ?

व्यापक जनभाषा होना हिन्दी के विपक्ष में

—मैं नहीं मानता कि किसी भाषा विशेष में ऐसे आदमियों का प्रतिशत बहुत कम या बहुत अधिक पैदा किया जाता है, जो अपने को विसर्जित करने में अधिक कृतार्थता अनुभव करते हैं। हिन्दी की स्थिति साधारणतया और भाषाओं से बहुत अलग नहीं होनी चाहिए। एक घटना अवश्य उसके विपक्ष में रही है और वह यह कि भारत के लिए व्यापक जनभाषा होने के कारण उसे राजभाषा और राष्ट्र-भाषा माना गया है। इस वजह से तरह-तरह के अवसर पैदा हुए हैं, जिनसे आय का साधन बन सकता और बढ़ाया जा सकता है। यह कृत्रिम तत्त्व अवश्य ऐसा है, जिसमें से लोगों ने अपने अहं-स्वार्थ की पूर्ति चाही और बनायी है। अन्यथा हिन्दी के पक्ष में ग्लानि और गौरव अनुभव करने का कोई प्रश्न नहीं उठता। मैं नहीं मानता कि हिन्दी श्रेष्ठता की दृष्टि से और भाषाओं से गयी-बीती है। इतना अवश्य हो सकता है कि उसका क्षेत्र व्यापक होने के कारण श्रेष्ठ लेखकों की संख्या वहाँ अधिक हो, जैसे कि निकृष्ट लेखकों की भी संख्या अधिक हो सकती है।

साहित्यकार मानव-मात्र का स्वत्व

साहित्य की ओर से भाषाओं में विभेद करने की आवश्यकता नहीं है। रवीन्द्रनाथ और शेक्सपियर को लेकर बंगला और अंग्रेजी गरूर में चढ़ निकलें, तो यह उन्हींके लिए हितकर नहीं होगा। ऐसे लोग अमुक भाषा द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करते हैं, सिर्फ उतने से उन भाषाओं की बपौती वे नहीं बन जाते। वे सारी मानव-जाति का स्वत्व होते हैं और उसीको व्यक्त करते हैं।

२९४ प्रश्न भाषा के गरूर का नहीं है। प्रश्न है, विभाषियों द्वारा भी उसके स्वेच्छया स्वीकार और आदर का। आज जो हम इतने अंग्रेजी-भक्त दीखते हैं, यह अंग्रेजों के साम्राज्यवाद के कारण नहीं, बल्कि उन महान् अंग्रेजी कवियों और लेखकों के कारण, जो हमारे मन और हृदय में बस गये हैं और जिनके रस में हम इतने सराबोर हैं कि उन्हें भूल नहीं सकते। ऐसे कवियों और लेखकों की संख्या बंगला और अंग्रेजी में जितनी है, क्या आप मानते हैं, हिन्दी ने उतने और और उसी कोटि के लेखक पैदा किये हैं ?

हिन्दी में गहराई कम फैलाव अधिक

—हाँ, अंग्रेजी के प्रति ममता और भक्ति यदि और जितनी है, वह उस भाषा के महान् साहित्यकारों के कारण है। यह सच्चा है कि आपको हिन्दी से इतर भाषाओं में जो श्रेष्ठता दीखती है हिन्दी में वह नहीं दिखायी देती। सच्चा इसलिए कि आप स्वयं हिन्दी के हैं। आत्मश्लाघा अच्छी चीज नहीं है और हिन्दी में मैं अनुभव करता हूँ कि आत्मश्लाघा की वृत्ति नहीं दिखायी देती। यह विनम्रता योग्यता में से ही आ सकती है। यदि सचमुच हिन्दी-साहित्य अयोग्य होता तो उसमें दावे का दर्प होता। वह उद्धत और धृष्ट होता। आपके उदाहरण से ही कहा जा सकता है कि स्थिति वैसी नहीं है। हिन्दी-साहित्यकार दावेदार नहीं है और अपनी भाषा से बाहर की श्रेष्ठता को अपनाने को सहज उद्यत है। शायद तुलसी, सूर, कबीर आदि को हम मध्ययुगीन मानते हैं, लेकिन अवश्य वे हिन्दी के ही हैं। हाल के समय की बात लें तो आपको यह भूलना नहीं चाहिए कि हिन्दी भाषा को इस समय में राष्ट्र-कर्म का बहुत बोझ उठाना पड़ा है। यह निःसंशय कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय उद्बोधन का साहित्य जितना हिन्दी में है, उतना शायद ही किसी भारतीय भाषा में होगा। हिन्दी एक मिली-जुली सार्वजनीन भाषा है। वह केवल बौद्धिक नहीं है और इसलिए वह ज्ञान से अधिक कर्म के निकट है। अभी वह ज्ञानी चिन्तन-मनन की नहीं है, काम-व्यौहार की ज्यादा है। इससे स्वभावतः उसमें गहराई से अधिक फैलाव है। लेकिन इसको अन्यथा समझने या इस पर लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। मैं मानता हूँ कि राष्ट्र जब अपने में स्वास्थ्य का लाभ करेगा और राजनीतिक गहमागहमी जरा बैठेगी तो हिन्दी के साहित्य में अनायास गहराई और ऊँचाई आने लगेगी। अभी तो राष्ट्रीय आवेगों का ही उसे वहन करना पड़ता है। तटस्थ शीतलता आवेगों से उत्तीर्णता पाने पर आये बिना न रहेगी। लेकिन अवरता की सम्भवता को हिन्दी के दैन्य की भाषा में कभी नहीं देखना चाहिए। यह प्रवृत्ति असाहित्यिक है, जो इस प्रकार तुलनात्मक भावनाओं से विचलित होती है।

हिन्दी रत्नों से शून्य नहीं

नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन आज भी महत्त्व की पुस्तकें हिन्दी में अनेक निकल रही हैं। दुर्भाग्य यह है कि बहुमत की भाषा होने के कारण इतर भाषा-भाषियों में उसके प्रति संशय पड़ गया है। उस संशय के रहते अच्छा नहीं है कि संकोच से काम लिया जाय, श्रेष्ठता के प्रतिपादन और प्रदर्शन से बचा जाय। किन्तु भाषा की ममता से मुक्त होकर निरपेक्ष दृष्टि से देखें तो

हिन्दी का भण्डार रत्नों से सूना नहीं है-और ठीक इस समय-काफी मूल्यवान् सृष्टि हो रही है।

चेतना जब राजनीतिक सवालों में फँसी होती है, तो महत्त्वाकांक्षाओं से बने आवेशों में वह बहका करती है। तब साहित्यिक गरिमा और गाम्भीर्य के लिए अवकाश उतना नहीं रहता। हिन्दी के साथ यह दोष और दुर्भाग्य अधिक है। केवल इस कारण हिन्दी में जो है और हो रहा है, उसके प्रति दुर्लक्ष्य नहीं होना चाहिए।

रचना की श्रेष्ठता

२९५ मेरी कुछ ऐसी मान्यता बन गयी है कि श्रेष्ठ रचना उसे नहीं मानता, जिसमें अमुक सिद्धान्त या भाव का प्रतिपादन अथवा उसकी रसमय अभिव्यक्ति हो। बल्कि उस रचना को मानता हूँ, जिसमे निहित जीवन-चित्र को आत्मगत करके सामाजिक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व गद्‌गद, रससिक्त और कृतकृत्य हो उठे और उस रचना का वातावरण उसकी आँखों मे भगवान् का रूप बनकर बस जाय। आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे ऐसी कुछ रचनाओं के नाम क्या आप ले सकेंगे?

—नहीं, रचनाओं के नाम मैं नहीं लूँगा। कारण आपके प्रश्न से कुछ दूसरी बातें उठ आयी हैं, जो मुझे फँसाती है।

भावसिक्त, पर अर्थ-शून्य कृति साहित्य नहीं

सिद्धान्त-प्रतिपादन मे रस नहीं होता। फिर भी अगर उसका रसमय चित्र सभव है, तो उसकी श्रेष्ठ साहित्य में गणना क्यो नहीं हो सकती? रस होने पर फिर सामाजिक की ओर का आग्रह क्यो सुना जाता है? क्या यह नहीं हो सकता कि स्वय सामाजिक मे कोई आग्रह हो और इस कारण रस पाते हुए भी वह अमुक अभिमत के कारण लेखक को स्वीकार न कर पाता हो?

मैं नहीं मानता कि अर्थ से स्वतन्त्र भाव साहित्य-कृति को श्रेष्ठ बना सकता है। आपका आशय अन्त मे कुछ उसी प्रकार का है। आज के वैज्ञानिक युग मे तो अर्थ की माँग और भी अधिक है। भावसिक्त और अर्थशून्य व्यंजना को साहित्य नहीं कहेंगे।

जीवन-चित्र में अर्थ जरूरी

जीवन-चित्र की आपने ऊपर बात कही है। अपनी ओर से यदि हम अर्थ न डालें, तो क्या कोई भी जीवन-चित्र हाथ आ सकता है? असल मे तब चित्र ही नहीं बन पाता, केवल चचलता ही समक्ष रह जाती है। अगर हम अमुक चित्र को पकड़

पाते और वे पाते हैं तो यह तभी हो सकता है जब हम अपने पास कुछ आदर्श रखते या रखना चाहते हैं। अन्यथा बाह्य जीवन और जगत् की यह अनन्तता हमको पागल कर दे सकती है।

सच यह कि आवेदन-निवेदन का सम्बन्ध हमारा बन पाता है, तभी आत्म प्रकाशन एवं आत्म-विसर्जन सम्भावनीय होता है। इस अविच्छिन्नात्मक सम्बन्ध के लिए एकदम अनिवार्य है कि हम अमुक जीवन-तथ्य को अपनी ओर से अर्थ दे सकें व्यक्तित्व तक दे सकें। अन्यथा रचना में स्पन्दन कहाँ से आयेगा? राष्ट्र के प्रति यदि विसर्जन होता है तो तभी जब हम स्वराष्ट्र की धारणा को मानो एक व्यक्तित्व दे पाते हैं। भारत को भारत-माता बना पाते हैं। आंचलिक उसे कहा जाता है जिसमें अमुक ग्राम या जनपद को हम मानो व्यक्तित्व ही दे उठते हैं। इसमें केवल भावावेग से काम नहीं चलता बल्कि अर्थ डालनेवाली बुद्धि का भी उपयोग होता है। अद्भुत रससिक्त और कृतकृत्य कर देनेवाला साहित्य अर्थ-गरिमा से शून्य नहीं हो सकता। भावोच्छ्वसित रचना उद्वेगजन्य हो सकती है, श्रेष्ठ साहित्य समुचित तटस्थता से बनता है। इस अनुभव को मैं आवेगजन्य नहीं मान सकता। इसलिए कवि या रचनाकार भावासिक्त प्रेमी हो नागरिक हो ही नहीं यह मैं स्वीकार नहीं कर सकता। नागरिकता के लिए कुछ मताभिमत आवश्यक होते हैं। अर्थात् प्रेम की वह एकता जो सबको केवल मे से आच्छन्न कर देती है साहित्य के लिए पर्याप्त नहीं है। उसको भेद विज्ञान में भी उतरने की क्षमता रखना चाहिए। जिसको सिद्धान्त आदि कहते हैं वे भेद-विज्ञान में गति करने में सहायक होनेवाले गुण होते हैं। उस भेद-जगत् के प्रति सर्वथा अबोध और भोला बनने का साहित्यिक के लिए अवकाश नहीं हो सकता। इसीलिए साहित्य के चरम पर जाकर मानो ज्ञान और भक्ति में दर्शन और रस का समन्वय हो जाता है।

११६. प्रेम के आधार अर्थ को क्या सीमित मताभिमत तक ही सीमित रह जाना चाहिए? मानव-प्रकृति और सूक्ष्मतम जन-हृदय में गहरी पैठ जीवन-जगत् के व्यवहार की अनन्यता की सूक्ष्म अनुभूति और जीवन की दिशा का स्पष्ट आभास ही क्या भाव का आधार बनने के लिए काफी नहीं है? जब कवि या लेखक अपने मताभिमत को आरोपित करेगा, तब क्या वह निरपेक्ष रह सकेगा? [illegible] में कालिदासों ने किसी विशेष मत का सहारा नहीं लिया है। तब क्या कहा जा सकता है कि उनमें उनका पूर्ण व्यक्तित्व साक्षात् नहीं हो सका?

मताभिमत अनिवार्य

—मताभिमत का आरोपण न हो यह समझ में आता है। लेकिन मताभिमत से

यदि मान्यता किसी कलाकार या बुद्धिवादी को प्राप्त नहीं हो सकती, तो प्रश्न है कि फिर उस मताभिमत का क्या किया जाता है? कलाकार के द्वारा क्या उसे पीछे डाल दिया जाता है? मैं मानता हूँ कि श्रेष्ठ साहित्य मतान्तरदान में बनता है। जो मताभिमत के प्रति अपना स्वत्वभाग अनुभव करके उसे पीछे डाल देता है, वह केवल दूसरे रूप में वही भूल करता है, जो मताभिमत में स्वतन्त्र भाव रखने के कारण साग्रह उसका आचरण कर निकलता है। मैं मानता हूँ कि मत-मान्यता में यदि व्यक्ति शून्य नहीं है, ऐसा हो ही नहीं सकता, तो उसका निवेदन उसके प्रकाशन में आये बिना रह नहीं सकेगा। इसमें मैं कोई दोष नहीं मानता हूँ। शकुन्तला में यदि किसी जगह भी विषाद है, तो आप देखेंगे कि अभिमत-शून्यता में से उसकी सृष्टि नहीं की जा सकी है। यदि असुर हृदय में प्रति चरित्र में पश्चात्ताप का उदय होता है, तो क्या इसमें अभिमत गर्भित नहीं है? पश्चात्ताप और विषाद की धारणाएँ ही अभिमत के अभाव में असिद्ध हो जाती हैं।

अनुभूति बुद्धि से पुष्ट हो

मताभिमत में भाव सीमित और बन्द अवश्य नहीं रहना चाहिए। पर टिकने के लिए उसे जिस आधार की जरूरत होती है, उसे मताभिमत कहते हैं। मैं सचमुच नहीं समझ सकता कि कोई अनुभूति प्राप्त होकर व्यक्तित्व में आत्मसात् हो सकती है, जब तक बौद्धिक समीकरणों का भी उसमें योग न हो। प्रेषणीय बनाने की राह में भाव को बौद्धिक अनुभावों में से गुजरना ही होता है। ऐसा न होता, तो हमारे पास अमर रचना न हो सकती थी। भावाभिभूत होकर हम जो चेष्टा कर जाते हैं, वह क्षण से जुडी और जडी होती है। किन्तु जो क्षण के साथ बीतती नहीं है, काल को हराती हुई ठहरी रहती है, वह चेष्टा केवल भावावेग की नहीं हो सकती, उसके शिल्प को तो भावसाधना में से ही प्राप्त किया जा सकता है। साधना इसलिए कहना पडता है कि उसमें बौद्धिक आयास और अनुशासन की आवश्यकता होती है।

बौद्धिक योग-साधन

बुद्धि अन्त में वह यन्त्र है, जिससे हमारे भीतर का सार्वजनीन रूप और व्यक्तित्व प्राप्त करता और दूसरे तक प्रेषणीय बन पाता है। यदि वह स्वरूप और व्यक्तित्व उसे न मिले, तो रचनाकार के भीतर का गर्भित सार्वजनीन अमूर्त ही रह जाता है, साहित्य में मूर्त नहीं हो पाता। अनुभूति किसको प्राप्त नहीं होती, फिर भी साहित्यकार विरले हो पाते हैं। यह इसलिए कि केवल अनुभूति में से अभिव्यक्ति

नहीं हो पाती बल्कि उसके लिए एक विशेष प्रकार की योग-साधना की आवश्यकता होती है। इस प्रक्रिया को बौद्धिक मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। जानता हूँ बौद्धिक की सीमा है। लेकिन जहाँ स्वयं सीमा और स्वरूप देने का प्रश्न है, वहाँ बुद्धि का उपयोग अनायास ही उपस्थित हो जाता है।

साहित्यकार मत-मतिशून्य नहीं बन सकता

बाहर की कोई भव्यता उत्कटता रहस्यमयता वैसे ही हमको प्राप्त और अनुभव अवश्य हो सकती है। लेकिन शब्द के या किसी दूसरे माध्यम से मूर्त बनाकर उसको स्वतन्त्र अस्तित्व दे जाना जिससे अनागत और देव को वह अनुभूति उपलब्ध होती रहे, बिना बुद्धि-साधना के हो नहीं सकता। मताभिमत के अभिनिवेश से आविष्ट और अधीन वह बुद्धि अवश्य नहीं होती है लेकिन विसर्जनशील होने में आ ही जाता है कि वह व्यक्ति के स्वत्व अर्थात् मताभिमत से पूरी तरह परास्त समाविष्ट है। मतशून्य और मतिशून्य होकर रचनाकार साहित्य-रचना करता है, यह मानने की उदारता मुझमें नहीं है।

११७. तो आप स्वीकार करते हैं कि साहित्य के सीमित क्षेत्र में बुद्धि सहायक और साधन होने के लिए है, स्वामी और साध्य होने के लिए नहीं। और मत-अभिमत जीवन-प्रवाह अर्थात् चरित्रों और कृत्यों में अन्तर्निहित और ध्वनित होने के लिए हैं, प्रकट और प्रधान होने के लिए नहीं हैं?

बुद्धि मेरा समपता नहीं

—ध्वनित और प्रकट साधन और साध्य इन शब्दों में अन्तर अन्ततः भाषा का ही रह जाता है। ध्वनित के लिए यह चिन्ता कि वह प्रकट न हो और साधन के लिए यह कि वह साध्य न बने मुझे आवश्यक नहीं जान पड़ती। सच यह कि साध्य की लगन साधन के प्रति भी उतनी ही भक्तिपूर्ण हो जाती है। ठाकुर-पूजा के लिए नैवेद्य के प्रति भी शुचिता का उतना ही आग्रह रखना विरुद्ध नहीं है। भाव की पूर्णता हो, तो साधन साध्य में मिल जाता है और ध्वनित भी प्रकट की छटा में आये बिना नहीं रहता।

इसके बाद यह स्पष्ट ही है कि बुद्धि क्या है व्यक्ति की सम्पूर्णता वह नहीं है। सम्पूर्णता से ही समर्पण की जहाँ माँग है वहाँ मन को यदि महत्त्व मिलता है तो तब जब या तो हम उसे सींचते हैं या घेर कर उसे काटते हैं। ध्वनित रूप में साहित्य रचना में बुद्धि के व्यापार के लिए पूरा अवकाश रहता है और तदभिप्रेरित रूप से रचना शिल्प में बुद्धि और उसके कार्य का कम महत्त्व नहीं मानना होगा।

साहित्य-विधा और युग-विशेष

२९८ क्या साहित्य-विधाविशेष का युग-विशेष से कोई सम्बन्ध होता है ? अर्थात् यह तो ठीक है कि व्यक्ति-विशेष विधा-विशेष मे ही पटु हो पाता है। पर क्या विधा-विशेष मे कुछ ऐसी विशिष्टताएँ होती हैं, जो युग-विशेष मे ही पनप सकती हैं और उपयोगी बन सकती हैं ?

दोनो का सम्बन्ध

—हाँ, युग-विशेष का प्रभाव विधा-विशेष के सम्बन्ध मे हो तो सकता है। विधा बनती है अपने को शेष तक पहुँचाने की प्रक्रिया मे। पहले जब लिखना-छपना कम था, तो काव्य और तुकान्त काव्य अधिक सगत हो सकता था। रचना तब स्मरण द्वारा टिकती और फैलती थी। छन्द और तुक उसमे सहायक होते थे। छपने की जब सुविधा बढ़ी, तो जान पडा कि अब वे इतने अनिवार्य नहीं हैं। इसी प्रकार युग की भौतिक परिस्थितियो का आत्म-प्रकाशन के स्वरूप पर अवश्य प्रभाव पड सकता है। शैली, भाषा, रूप आदि पर समय का प्रभाव आसानी से चीन्हा-पहचाना जा सकता है। भाषा मन से नहीं बनती, व्यवहार से बनती है। आज मैं लिखू तो उसी भाषा मे लिख सकता हूँ, जो आज समझी-बूझी जाती हो। रचना आज हो और भाषा दो हजार वर्ष पहलेवाली हो, यह हो नहीं सकता। लेखक-पाठक के बीच भाव-प्रवाह को सुगम और सुरक्षित रखने के लिए बिलकुल आवश्यक है कि अभिव्यक्ति का बाह्य रूप उसके समय के साथ सगत और सयुक्त हो। इस तरह अनायास एक रचना से तात्कालिक रीति-नीति सभ्यता-सस्कृति आदि का परिचय मिल जाया करता है। लेकिन वह परिचय रचना का इष्ट नही होता, अनुषग मात्र होता है। उस रूप-विधान द्वारा जो भाव एक से अन्य को भेजा जाता है, वह उतना काल-जडित नहीं होता। इसलिए साहित्य की श्रेष्ठता इससे नहीं नापनी होगी कि वह अपने समय-समाज पर कितना प्रकाश डालता है, बल्कि वह श्रेष्ठता तो इसमे देखी जायगी कि उससे मानवात्मा का प्रकाशन कितने गम्भीर स्तर का हो पाता है। साहित्य की विधाएँ यही न कि जैसे काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी इत्यादि। हाँ, व्यक्तिगत रुझान का प्रश्न तो प्रधान है ही। काव्य जैसी विधा मे यथार्थ के प्रति उतना आग्रह अनिवार्य नहीं होता है, उसकी अपेक्षा आदर्श और स्वप्न की ओर वह अधिक उठ सकता है और कल्पना में से अधिक सत्व प्राप्त कर सकता है। जीवन की वह परिस्थिति, जहाँ कल्पना-विहार का अवसर न रह जाय, जो इतनी सकुलित और घिरी-घुटी हो, तो उसमे रोमेण्टिक काव्य अधिक न उपजे तो विस्मय क्या है। समय या जब

इस प्रकार से एकान्त में स्वयं पुस्तक सामने लेकर पढ़ने की उतनी सुविधा नहीं थी जो होता समुदाय में होता था। इसलिए कथा का रिवाज था या नाटक का। उस समय की कहानी और नाटक मानो घटनापरक और क्रिया-परायण होते थे। अब समूह-अपील की दृष्टि मानो एकाकी वृत्ति में बिखर गयी है और रचनाएँ मनोवैज्ञानिक होने लगी हैं। कहानी अब होती है जो पढ़ी ही जा सकती है, कही नहीं जा सकती। नाटक में भी समस्त दृश्य से अधिक परोक्ष मनःस्थिति प्रधान होती जा रही है। नीति-बोध पहले सीधा मिलना चाहिए था कि समूह को प्रभावित कर सके, अब प्रभाव प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत माध्यम है। इसलिए नीति के आदेश-उपदेश से अधिक उसका इंगित ही पर्याप्त है और वह भी इतना अप्रत्यक्ष कि मानो हो ही नहीं।

साहित्य का रूप और आत्मा

इस प्रकार समय से निरपेक्ष स्वयं साहित्य का रूप नहीं हो सकता। तब साहित्य की आत्मा अवश्य समयाधीन नहीं होती, समयातीत होती है। अन्यथा इतिहास की न सतता और अतीत के साथ वर्तमान का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता। केवल क्षण का ही अस्तित्व रह जाता, शाश्वत और सनातन का लोप हो जाता। तब मैं यदि अर्थ पकड़ता और समय में निरन्तरता आती है, तो वह उसके आधार पर ही आ सकती है जो स्वयं शाश्वत और सनातन है। उस अधिष्ठान के बिना मानो समय के पास वह सूत्र नहीं रह जाता है, जो उसके मनकों को धारण कर सके और ऐतिहासिक धारा का हमें बोध दे सके। अतः भाषा, शिल्प आदि के अनन्त और अनवरत भेद होते हुए भी देश-काल के व्यवधान को लाँघता हुआ साहित्य मानो एक और अविभक्त बना रहता है। सचमुच उसकी मूलवृत्ति में भेद नहीं खोजा जा सकता और ठीक वह है जिसके आधार पर दुनिया के देश पास आकर मिल सकते हैं और इतिहास मिल-जुलकर मानवात्मा के विकास का इतिहास बन जाता है।

२९९. क्या आप इस युग की इस धारणा से सहमत हैं कि वर्तमान वैज्ञानिक परिस्थितियों में साहित्य-क्षेत्र में कविता और काव्य का न कोई उपयोग रहा है, न भविष्य है?

काव्य में बौद्धिक तत्त्व कम न हो

—जो कविता और काव्य में बौद्धिक तत्त्व मात्रा में कम हुआ तो उसके टिकने की सम्भावना नहीं है। काव्य का अभिप्राय वह है जिसमें वह तत्त्व पर्याप्त नहीं है। लेकिन बौद्धिक गरिमा के साथ भी काव्य हो सकता है। और न केवल वह

कि वैसा काव्य नही मरेगा, यह भी अपेक्षा की जा सकती है कि वह विज्ञान-सकुल मानसिकता के लिए ताजी हवा का काम देगा। जिन परिस्थितियो का आपने जिक्र किया है, वे बहुत घुंट गयी हैं। ऐसे नगर की कल्पना कीजिये, जिसमे पाक और उद्यान हो ही नहीं। लगभग यही स्थिति जीवन की आज बनी है। उपयोगिता की दृष्टि से बडे शहर मे खुली जगह व्यर्थ मालूम हो सकती है, ऐसे शहर हैं जहाँ प्रति वर्गगज के पाँच सौ या हजार रुपये तक उठ सकते हैं, लेकिन नगरपालिका खाली जगह को खाली ही रखती और नगर के स्वास्थ्य के लिए इसीको उचित मानती है। उनको नगर का फेफड़ा कहा जा सकता है, जहाँ से साँस मिलती है। काव्य का भी लगभग वैसा ही उपयोग है। कर्म-सकुल परिस्थिति में केवल भावोच्छ्वासपूर्ण काव्य अवश्य काम नहीं दे सकेगा, कारण मानसिकता तब इतनी बुद्धि-पुष्ट हो जायगी। लेकिन बौद्धिक सत्त्व से परिपूर्ण कविता उस परिस्थिति में उतनी ही आवश्यक बन सकती है।

३०० बौद्धिक सत्त्वप्रधान कविता आप किसे मानेंगे? पन्त की बौद्धिक कविताओं को अथवा आज के नवीन प्रयोगवादी कवियों की विचित्र रचनाओं को? वैसी कविता का क्या स्वरूप होगा?

पन्त में भारीपन, प्रयोगवाद में बिखराहट

—शायद दोनो को नही। फिर बौद्धिक सत्त्ववाली उस कविता का क्या स्वरूप होगा, अकवि होकर यह भी मैं नहीं दिखा सकता। प्राञ्जलता और सहजता उसमे कम न होगी। पन्त का इधर का काव्य कुछ भारी है। न बिखराहट इतनी होगी कि भावान्विति कठिन हो, जैसा प्रयोगवादी रचनाओं मे अधिकाश दीखता है। अर्थ और भाव की सगति आवश्यक है। कारण-कार्य-सम्बन्ध के क्षेत्र मे काम करनेवाली वैज्ञानिक वृत्ति इस बेतरतीब बिखराहट पर कुछ क्षण के लिए चमत्कृत हो सकती है, लेकिन यह उसे तृप्ति नहीं दे सकती। इस तरह प्रयोगवादिता चलते समय की चीज जान पडती है। मानो वह वैज्ञानिकता का प्रतिषेध हो। निषेधरूप बन गया काव्य टिकेगा नहीं। उसे विज्ञान का पूरक होना होगा और उस काव्य मे हठ और विद्रोह न होगा, बल्कि प्रसाद-भाव होगा।

क्लासिक में बुद्धि की अवज्ञा नहीं

जिनको 'क्लासिक' कहा जाता है, उसमे बुद्धिसूत्र की आप अवज्ञा नही पायेंगे। पढ़ने के साथ आज भी वह काव्य लोगो का चित्त मुदित करता है। मुझे जान पडता है कि ऊपर से आनेवाली बौद्धिकता या निषेध-नकार तक बढ़ जानेवाला बुद्धि-

प्रभाव अतिरेक का फल है। जब वह भीतर से उमड़कर आती हुई भावानुभूति का फल हो तो न उसमें भार होगा न भार होगी। वह सौम्य और प्रीतिकर होगा।

१ १ आपने कहा कि विज्ञान का पूरक बनने के लिए आवश्यक है, कविता बुद्धि-पुष्ट हो। आपकी ही मान्यता है कि अभाव को दूर करने के लिए भाव का उत्कर्ष आवश्यक है और आज का जीवन इतना रूखा हो गया है कि रोमान्स के सृजन की आवश्यकता प्रतीत होती है। क्या आप ही को ये दो मान्यताएँ परस्पर विरोधी नहीं दीखतीं ?

कविता विज्ञान की पूरक हो, प्रतिक्रिया नहीं

—पूरक होना एक बात है, प्रतिक्रियात्मक होना एकदम दूसरी बात। जमाना आजकल पश्चिम में विज्ञान का है। लेकिन वहाँ उसका हास्य-दृश्य देखने में आते हैं। उसको मैं पूर्तिकर नहीं मानता प्रतिवादी मानता हूँ। जिस काव्य की मैं बात कहता हूँ वह बौद्धिक की जगह भावात्मक अवश्य होगा बौद्धिक तो विज्ञान स्वयं होता है। पूरक होने के लिए भावात्मकता तो भी जरूरत है। लेकिन वह भावात्मकता बुद्धि से पलायन का रूप नहीं ले सकती जैसे कि प्रतिक्रियात्मक काव्य से किया करता है।

पूरक बनकर जब काव्य आयेगा तब वह विज्ञान से उल्टा नहीं दिखाई देगा। अर्थात् तर्क-संगति का एक साथ विघटन वहाँ नहीं दीखेगा। प्रयोगवाद के नाम से जो कुछ चल रहा है उसमें विज्ञान की व्यवस्थितता को मानो स्पर्धापूर्वक छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है। उसे प्रतिक्रियात्मक कहना ही होता है। अव्यवस्था मानो उसे व्यवस्था से अधिक लक्ष्य हो। पूरक काव्य में वह सब नहीं होगा। आलोचना का स्वर उसमें तीखा नहीं होगा आलोचना के रूप में जो बौद्धिकता का प्रकाश है उसको मैं काव्यात्मक नहीं मानता हूँ। आधुनिक कविता का मूल स्वर वह ही दीख पड़ता है। आग्रह और प्रहार में आलोचनात्मक मनोदशा खुल जाती है। तब कवि वस्तु के विपरीत नहीं होता बल्कि सम्मुख और उपकारी होता है। मैं यहाँ इस बात को उदाहरणों से स्पष्ट और पुष्ट नहीं करना चाहूँगा। पर आप देखने चलें तो सर्वमान्य ऐसे कवि मिल जायँगे जिनका प्रभाव धर्म-नीतिक और बौद्धिक नहीं है वह सार्वजनीन और हार्दिक है।

१ २ क्या आज की परिस्थितियों में अधिक हितकर नहीं होगा कि कहानी के साथ कविता का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं, तो अधिक प्रचलित हो जाय। क्योंकि कहानी-तत्त्व के सहारे कविता का महत्त्व बढ़ेगा और मनुष्य में संगीत और संप्रीति

-की जो अन्तःस्थ प्यास है, जिसे मात्र कविता ही बुझा सकती है, वह आवश्यकता इस प्रकार पूरी होती जायगी ?

कहानी कविता से जुड़े

—कथा को काव्य के लिए मैं अनिवार्य कहता-मानता आया हूँ। अन्यथा काव्य गीत-संगीत के निकट पहुँच जाता है और सामाजिक से अधिक वैयक्तिक हो जाता है। भक्ति-भाव तक व्यक्तिभाव उठ जाय, तो उसका अवश्य बहुत सामाजिक मूल्य है। लेकिन यदि आवेदन का वह भाव उदित करनेवाली ही कविता न हो, तो वह व्यसनशील बन जाती है, अर्थात् असामाजिकता को भी पोषण दे सकती है।

कथा-वियुक्त कविता विलास

कथा से बिछुड़ी, तो कविता अधिकांश विलास हो गयी; समाज के लिए अन्न-जल के समान अनिवार्य और पोषक वह नहीं रह गयी। उसमें कुछ तिक्तता आ मिली, और वह मदिरा के नजदीक जा पहुँची। शराब की महिमा कम नहीं है। लेकिन शराब आखिर शराब है और उससे अधिक नहीं है।

जो सामाजिक और सार्वजनीन है, पारस्परिक ही है। परस्परता के लिए कथा आवश्यक हो जाती है। दो या अधिक चरित्र न हो, तो परस्परता उत्पन्न नहीं होती, न सम्प्रदान और सामंजस्य या संघर्ष की परिस्थिति के लिए अवकाश रहता है। अर्थात् सामाजिक उद्‌बोध की क्षमता के लिए कविता में कहानी का पुट आवश्यक होता है। कहानी में स्वरति के लिए उतना अवकाश नहीं होता। वहाँ प्रेम और सहानुभूति को अन्य में बाँटना पड़ता है। इस तरह सामाजिक दायित्व और नेतृत्व तक जो कविता उठे, वह अनिवार्य कथानुसारी होती है। पुराणों ने आर्य-संस्कृति को सँभाले रखा है। वे महाकाव्य भी हैं। संस्कृति को निर्दिष्ट और पुष्ट करने की क्षमता उन काव्यों में इसीलिए आयी है कि नाना चरित्रों के परस्पर सम्प्रदान द्वारा सामाजिकता का उनसे उद्‌घाटन और उन्मेष हो सका है।

आज साहित्य समाज-सन्दर्भ से मुक्त

मानना होगा कि आज सामाजिक सन्दर्भ से साहित्य कुछ मुक्ति पा रहा है। यह केवल विच्छेदमात्र रह जायगा और हानिकर होगा, अगर इस मुक्ति का मतलब समाज की जगह लक्ष्य के रूप में व्यक्ति का वरण हो जायगा। उस मुक्ति में उत्तीर्णता का, उपादेयता का भाव तब पड़ सकता है, जब समाज से आगे

समष्टि के अथवा सत्य के सन्दर्भ से साहित्य को जोड़ा जाय। सत्य समाज से हीन नहीं होता है, सत्य केवल समाज को परिपूर्ण करता है। समाज की धारणा को पूर्ण बनाते हैं तब हम पाते हैं कि वह सीमित और कल्पित है। सत्य मानो उसको समग्रता देता है। कुछ अपवादों को छोड़कर आधुनिक साहित्य मानो समाज-सन्दर्भ को बाधा मानकर इसलिए छोड़ता है कि वह स्व स्वच्छन्द स्व-तन्त्र हो सके। ऐसी स्वतन्त्रता को मैं इष्ट नहीं मानता। उसमें दायित्व से छुट्टी मिलती है; लेकिन वह मुक्ति नहीं होती। दायित्व सत्य से स्वत्व के प्रति लौटकर सिमट भर जाता है, जब हम दायित्व को सत्य के प्रति जोड़ते हैं तब मन में दायित्वहीनता नहीं मिलती बल्कि मानो दायित्व पर से एक सीमितता उठ जाती है। अर्थात् आनन्द में उसम परिहार्य होता है।

उच्छ्वास-निश्वास मधु-परक

सत्य मुझ-तुम तक सिमटा हुआ नहीं है। मुझमें भी है, तुममें भी है। अर्थात् सत्य के साक्षात्कार के लिए सम्बन्धों का यह विस्तार अर्थवान् होता जाता है। उन सम्बन्धों पर उतरती ही कथा हाथ लगती है और जब हम घटना द्वारा कुछ पाते हैं तो मालूम होता है कि जैसे वस्तु-सत्य से आगे जीवन-सत्य की मार्मिकता का साक्षात्कार हो सका है। घटना और कहानी से अलग भाव-मात्र कविता द्वारा हम कुछ व्यक्त करते हैं तो या तो वह उच्छ्वास होता है या निश्वास होता है। दोनों ही मधुपरक होने के कारण उतने उपादेय और उपयोगी नहीं हो पाते। वैसी कविता यथार्थ यदि होती है तो तब जब उसमें गुरु-धर्मिनिरपेक्ष आवेदन का होता है। ऐसे गीत भजन स्तवन काव्योत्कर्ष के शीर्ष तक आ पहुँचते हैं। अन्यथा वह कविता सब्जेक्टिविज्म से स्वापेक्षता से ऊँची नहीं उठ पाती और जातियों में प्राण फूँकनेवाली नहीं हो सकती है।

गीति-संगीति की प्यास

कथा से गीति और संगीति की प्यास बुझती है, ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। कथा से हम उच्चतर मानव-लोक या देव-लोक में पहुँच जाते हैं और ऐसे अपने से कुछ अधिक और ऊँचे हो जाते हैं, वह अवश्य होता है। लेकिन संगीति की प्यास कुछ और चीज है। गद्य अधिकांश वेग होती है संगीत में वह अधिक निकट और पास है। उसमें संगीत का रस प्राप्त होता है। और ऐसा भान पड़ता है कि विचार प्राप्त करके हमारा वह भीगकर कुछ कोमल और विभोर हो रहा है। अमर राम-कथा में भी एक विभोरता प्राप्त होती है। वहाँ का रस दूसरे प्रकार और स्तर

का होता है। स्वापेक्ष कविता द्वारा यदि हम आत्म-सम्पन्नता (सेल्फ एनरिचमेण्ट) प्राप्त करते हैं, तो कथा-विभोरता में मानो हम आत्मोत्तीर्णता (सेल्फ-ट्रैन्सेण्डेन्स) पा जाते हैं। इस दूसरे आत्मोत्तीर्णता के तत्त्व को मैं अपनी ओर से अधिक मूल्य देता हूँ। कारण, सम्पन्न-आत्म को भी आखिर कृतार्थता अन्त में समर्पण में ही अनुभव होती है। कथानुसारी महाकाव्यों में ऐसी स्थितियाँ आती हैं कि रसोद्रेक का परिपाक मानो आत्मार्पण में ही निकलता है और एक गद्गद भाव हमारे सब मन और काया में व्याप्त हो जाता है। इस अवस्था में से होनेवाला लाभ सब्जेक्टिव पोएट्री की अपेक्षा अधिक स्थायी और सुखादी होगा।

३०३ क्या आप चाहेंगे कि संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी की विशाल परम्परा में चला आता हुआ भारतीय काव्य इस वर्तमान युग मे आकर लुप्त हो जाय? यदि नहीं तो उसकी शैली, भाषा और कथा-वस्तु मे आप किस प्रकार के परिवर्तन लाना चाहेंगे?

अतीत के प्रति अतिरिक्त कर्तव्य अनावश्यक

—क्या परिवर्तन के आधार पर ही उसको लुप्त होने से बचाया जा सकता है, ऐसा आप मानते हैं? मैं वैसा नहीं मानता हूँ। यदि उस साहित्य का प्रभाव हमारे रक्त मे बिंध गया है, तो अनायास हमारी अभिव्यक्तियो मे उसकी छाया आ जायगी और उन रूपको का नव-नव निरूपण होता रहेगा। पुराण-चरितो पर हर युग मे नये-नये काव्य रचे गये हैं, यह इसी कारण है। राम और कृष्ण को जीवित रखने के लिए हमें उनका नया-नया सस्करण प्रस्तुत करना चाहिए, इस विचार से वे रचनाएँ नही हुई हैं, बल्कि एक भीतरी अनिवार्यता और ऊपरी अनायासता मे से वैसा होता गया है। अर्थात् जो अमर है वह अमर है और केवल भाषा अथवा शैली के कारण मर नही जानेवाला है। नयी भाषा और नया मुहावरा स्वय अमर होने की राह मे उन अमर-आख्यानो को अपनाता चले, यह स्वाभाविक है। अर्थात् अमर के प्रति किसी चिन्ता या करुणा की आवश्यकता नहीं है। समय और युग को अपने ही आत्मलाभ की भाषा मे सोचना चाहिए। उस विचार में से ही अधिकाश यह घटित होनेवाला है कि अतीत पुनरुज्जीवित हो जाय और प्राचीन प्रतीक नये-नये रूपो में प्रस्तुत और प्रतिष्ठित होते जायें। अतीत के प्रति किसी अतिरिक्त कर्तव्य-भाव की आवश्यकता नहीं है। उस अतीत से वर्तमान का सुगठित भाव ही इसके लिए पर्याप्त है कि जो तब सनातन और श्रेष्ठ होकर मूर्त हुआ था, वह वर्तमान के मनोनुकूल होकर भी हमारे सामने प्रत्यक्ष हो और भविष्य के लिए भी सुरक्षित रहता चला जाय। मनुष्य की और काल की अखण्डता मे से यह अनायास

ही घटित होता है और इस निरन्तरता से बचा नहीं जा सकता। न केवल भाषा इस क्रम को उत्तराधिकार से ग्रहण करती है बल्कि भाषा के व्यवधान को लांघ कर भी यह घटित हुआ करता है। यहाँ के आख्यान दुनिया के दूसरे सिरे तक पहुँच गये हैं और वहाँ के यहाँ आ गये हैं तो ऐसा इसी कारण होता रहा है। नित्य और सनातन सबका और युग-युग का होता है। वह समय-समाज के द्वारा खण्डित नहीं बनता। बल्कि इन सब खण्डितताओं को वह अखण्ड बनाता है।

१४ क्या यह आवश्यक नहीं है कि राम और कृष्ण के पौराणिक तथा अन्य ऐतिहासिक चरित्रों के समकक्ष कुछ ऐसे चरित्रों की स्थापना की जाय, जो वर्तमान से बहुत दूर न हों, जो वर्तमान के प्रतीक बन जायें और जिनमें राम और कृष्ण का-सा गाम्भीर्य और विराटत्व कविता द्वारा लाया जा सके। क्या ऐसे चरित्र उस अभाव की पूर्ति नहीं कर पायेंगे, चेतना के जिस अभाव को आज का विकासशील कथा-साहित्य भर नहीं पा रहा है?

राम-कृष्ण जैसे चरित्रों की सृष्टि

—नहीं आवश्यक नहीं है। राम और कृष्ण के समकक्ष दूसरे पात्र हों सिर्फ इस कारण कि राम-कृष्ण ऐतिहासिक और पौराणिक हैं साम्प्रतिक और आधुनिक नहीं हैं मैं आवश्यक नहीं मानता हूँ। यह बिल्कुल सम्भव हो सकता है कि कोई कल्पना राम और कृष्ण का सहारा और आधार लिये बिना उतनी ऊँची उड़ान भरे कि धर्मप्रतापी पुरुष को अपने में प्रत्यक्ष और साहित्य में अवतीर्ण कर सके यह दूसरी बात है। लेकिन यह स्पर्धा कि इन अतीत चरित्रों को छोड़ना है, नवीन चरित्रों की सृष्टि करना है, इस कार्य की सृष्टि के योग्य नहीं है। स्पर्धा में से महान् सृष्टि नहीं होती पूर्वार्पण में से वह हुआ करती है। जातियाँ नाना युगों में अपने को जिनके प्रति भक्तिभाव में बहाती रहीं वे चरित्र अनायास पुरुषोत्तमता का स्पर्श प्राप्त करते हैं। उन चरित्रों में सम्भावना रहती है कि हम युगीन समस्याओं को भी उनमें उँडेल सकें और उनके निदान और समाधान की झाँकी भी वहाँ से प्राप्त कर सकें। उनको इकदम् अस्वीकार करके नये चरित्रों के निर्माण का आग्रह अधिकांश हमें दिशा-विभ्रम में ले जाता है। माइकेल मधुसूदन ने राम का त्याग करके मेघनाद को केन्द्र में लिया तो कुछ ऐसी ही स्पर्धा उनमें रही। मैथिलीशरण के साकेत में तनिक यह प्रभाव दीखता है और भाभी के मन में यह खटक ही गया कि सीता को हटाकर केन्द्र में उर्मिला को रखने में एक आग्रह रहा हो सकता है। किन्तु मानव-निष्ठा की दृष्टि से यह स्पर्धा मनोरंजक भले ही हो, पुष्कल अधिक नहीं होगी।

कल्पना-सृष्ट चरित्र अक्षम।

यह नहीं कि पुराण-पुरुष ही सदा-सर्वदा साहित्य के नायक बने रहेंगे। पर इसके लिए आवश्यक है कि वह लेखक के रक्तार्पण से बना हो। जातीय आदर्शों के प्रति यह अर्पण सहज साध्य रहा करता है। कल्पना के जोर से उनकी सर्वांग अवतारणा करना उतना सुगम नहीं होता। अधिकांश यह होता है कि इतिहास में जिन विभूतियों को स्वयं विधाता सृष्ट कर रहता है, मानव-कल्पना उन्हीं के आस-पास अपने आदर्श की मूर्ति को खड़ा करती है। केवल कल्पना से ही निकले ऐसे महाचरित्र कम हैं, लगभग नहीं हैं, जिन्होंने विश्व-मानस को ही मोड़ दिया हो। पौराणिक पात्र ज्यों-के-त्यों ऐतिहासिक चरित्र नहीं हुआ करते, रचनाकार की अर्चना-उपासना की विभूति से वे विभूतिमय बन जाते हैं। धीरे-धीरे मानव की इतनी महत्त्वाकांक्षाओं का अर्पण और अवसान उनमें होता है कि वे महा-महिम और अलौकिक बन रहते हैं। इनसे हटकर जो मानव चरित्र हमको हिला जाते हैं, वे द्वन्द्व और द्वैत की घोरता से उभरकर हमको आच्छन्न करते हैं, उनकी आदर्शता नहीं, यथार्थता हममें दर्द पैदा करती है। वे धर्म के शीर्ष पर नहीं, तो पाप के तल तक पहुँचे हुए दीखकर मानो हममें एक तीव्र भाव की सृष्टि करते हैं। अधिकांश आधुनिक साहित्य के महाचरित्र अपनी इस विदग्धता से हमारे मानस को झँझोड़ डालते हैं। उनकी शक्ति आदर्श चरित्रों से भिन्न प्रकार की हो, लेकिन कम नहीं होती। किन्तु इनकी भी क्षमता और चमक जाती है, यदि बीच में कोई पुरुषोत्तम पात्र आ सकें और तुलना में समीचीन मूल्यनिष्ठा हममें ज्वलन्त और स्थिर हो सके। लेकिन यह क्षमता केवल कल्पना-सृष्ट चरित्रों में मुश्किल से ही आ पाती है और इसलिए वर्तमान साहित्य का उत्कर्ष-बिन्दु ट्रैजडी में मिलता है, अन्य प्रकार के साहित्य में नहीं मिलता।

चरित्र स्पर्धा-जन्य न हो

संक्षेप में चरित्र स्पर्धा जन्य होकर महत्त्व के चरम तक नहीं पहुँच सकते हैं। यदि पुराण-पुरुषों तक हमारी गति न हो, तो महत्-चरित्र-पात्र यथार्थता की ओर चलने से शायद सृष्ट हो सकें, आदर्श की ओर चलने में उतने बल का अवधारण मुश्किल से ही हुआ करता है।

३०५ महाकाव्य और उपन्यास, इनमें से किसे आप अधिक स्थायी और मानवता के लिए अधिक उपयोगी साहित्य-विधा स्वीकार करते हैं? दोनों में दो प्रकार के चरित्र होते हैं। प्रथम में आदर्श, दूसरे में यथार्थ। किस प्रकार के चरित्रों को

वृत्ति मानव-अन्तःकरण को सबसे अधिक प्रभावित और संस्कृत करने में सफल होती है?

महाकाव्य और उपन्यास दो ओर दूर नहीं

—महाकाव्य और उपन्यास को मैं दो ओर दूर नहीं मानता हूँ। पद्य और गद्य का अन्तर अधिक महत्त्व का नहीं है। तो भी एक अन्तर विचारणीय हो सकता है। उसका संकेत आपके प्रश्न में भी है और वह यह कि उपन्यास में पात्र यथार्थ के सन्दर्भ से अधिक मुक्त होते हैं, काव्य में किंचित् उतने भी हो सकते हैं। आज की विज्ञान-दीक्षित बुद्धि विश्लेषण-परायण और अन्वय-परक अधिक है, आदर्शों को मानो उसने छोड़-छाड़ डाला है। आज के युग को अणु-युग कहते हैं, ईश्वर युग किसी तरह नहीं कह सकते। अर्थात् समष्टिवाचक ईश्वर ओट में पड़ गया है, परकारात्मक अणु प्रधान बन गया है। मुझे इसमें ह्रास के लक्षण नहीं दिखाई देता है। जिसे मंजिल तक पहुँचना है, उसे मंजिल के सामने नहीं आने हैं, बल्कि सफर की बाधाओं को अधिक समझना और पार करना है। पूर्णता और मुक्तता का दर्शन तो और अब होगा ही जायगा। अभी तो अपूर्णता के निचाव में उतरकर, उसके कारण और उसकी प्रकृति को समझ लेना है। निर्णय में तो कुछ समझने को बचता नहीं। समझने को तो है, वह द्वन्द्वात्मक है। इसलिए आदर्शवादी और भक्तिपरक रचना आज के बुद्धिवादी वर्ग को उतनी भाती नहीं है। व्यवसाय में फँसे हुए मनोविज्ञान ने सन्त-महात्मा को उसके गौरव के आसन से खींचकर सामान्य लेनदेन की धरती पर ला उतारा है। इस तरह महत् और बृहत् को हम स्वल्प और साधारण की भाषा में लाकर समझ लेना चाहते हैं। अन्यथा पात्र हमसे दूर और ऊँचे बने रह जाते हैं, हमारा उनसे कभी आत्मीयता का नाता नहीं बन पाता।

सत्यार्पित विचार-चरित्र

किस प्रकार के चरित्रों की सृष्टि मानव अन्तःकरण को अधिक प्रभावित करती है, इस सम्बन्ध में आज दो राय नहीं हो सकती। जिनमें आदमी अपने दुःख-दर्द को देख पाता है, जिनके द्वारा वह उनकी प्रकृति को समझ पाता है और उनसे छूटने के सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर पाता है, वे अधिक मतलब की पड़ती हैं। लेकिन संस्कारिता देने में भी वे ही रचनाएँ अधिक सफल होती हैं, यह कहने की जल्दी मैं नहीं करूँगा। वैसे मैं मानता हूँ कि शिव और सुन्दर को लक्ष्य में रखकर बनी रचना संस्कृति के वे गहरे तत्त्व अपने में नहीं रखती है, जो सत्यार्पित रचना

मे हो सकते है। अवयवपरक वह रचना जो यथार्थ के तल तक पहुँचकर सत्य का छू लेना चाहती है, सम्भव है कि उतनी शुभ और सुन्दर न भी समझी जाय। यह भी सम्भव है, शायद अनिवार्य है, कि यह रचना समन्वित सत्य का साक्षात्कार भी न जगा पाये। कारण, सत्य खण्ड मे नहीं, इसलिए विखण्डन और विच्छेद की पद्धति के द्वारा वह उपलभ्य भी नहीं है। अन्त मे उसके लिए उपासना और श्रद्धा का ही अवलम्बन रह जाता है। किन्तु यह रास्ता विज्ञान का नहीं है, शायद उससे उलटा है। वैज्ञानिक पद्धति से वस्तु-सत्य के अनुसन्धान मे हम कितने भी दूर जा सकें, चित्-सत्य तक नहीं पहुँच सकते हैं। नहीं पहुँच सकते इसलिए हैं कि वहाँ पहुँचनेवाला व्यक्ति और पहुँचने की मजिल दो बने रहते हैं। लेकिन यह स्वीकार करते हुए कि परम सत्य समष्टिरूप और समन्वयपरक है, उसके अनु-सन्धान मे व्यवच्छेद के पदो से अवगाहन करती हुई नीचे मे नीचे उतरते जाने मे कोई मनीषा हारना नहीं चाहती है, तो यदि वह तटस्थ और ईमानदार है, तो शुभाकाक्षा मे लिखी हुई उद्देश्यप्रद से यह रचना अधिक मूल्यवान् और स्थायी होगी। अन्तिम विश्लेषण मे वह अधिक सस्कारी भी सिद्ध हो सकती है।

चिरन्तन साहित्य भक्त से ही प्राप्य

फिर भी यह कहना होगा कि जो चिरन्तन साहित्य भक्त से प्राप्त हो सकता है, वह परम वैज्ञानिक तार्किक से नहीं प्राप्त हो सकता। दूसरा साहित्य गहन होगा, गरिमामय होगा, लेकिन गो-दुग्ध के समान सरस और प्रसादमय वह कैसे हो पायेगा? भक्त से प्रसन्न आनन्द का मानो निर्झर ही खुल रहता है।

क्या यथार्थ के कलुष में भी परम तत्त्व उपस्थित ?

३०६ हिन्दी मे क्या, आधुनिक विश्व-साहित्य मे ही आदर्श और यथार्थवादी साहि-त्यिक शैलियों और चरित्रों की बहुत चर्चा रही है। जब कि आदर्श की ऊँचाइयों में हम परम तत्त्व परमेश्वर का साक्षात्कार करने मे समर्थ हो सकते हैं, तब क्या आप मानते हैं कि यथार्थ और तथाकथित कलुष की नीचाइयों मे भी उसको खोजा और पाया जा सकता है?

'आदर्श' की परिभाषा

—असल मे जो है, अखण्ड है। लेकिन जो समस्त और सनातन भाव से है, वह प्राप्य और ज्ञेय ही रहता है, प्राप्त और ज्ञात नहीं बनता। जो प्राप्त और ज्ञात है, वह काल के हाथ मे होकर क्षण-क्षण बदल भी रहा है। तो इस तरह काल और

देश से जिसने स्वरूप पाया है सत्य का वह पहलू ही हमें प्रत्यक्ष और इन्द्रियगोचर हो पाता है। इसको यथार्थ कहते हैं। यह समयाधीन होता है और रूप में व्यक्त होता है। सगुण साकार इसीको कहते हैं। किन्तु अर्थ रूप और आकार के पार भी रह जाता है वह जहाँ काल द्वारा होते हुए परिवर्तनों का हेतु है घटनाभाव का वहाँ सार है। उसको आदर्श कहना चाहिए।
इस तरह स्पष्ट होगा कि यथार्थ में यदि कुछ अर्थ हो तो वह आदर्शपूर्वक ही हो सकता है। जो हो रहा है उसको ही समूचा सच मान लें तो सब स्थायी बनता और खत्म हो जाता है। निरन्तरता नष्ट हो जाती है और उसमें एकसूत्रता नहीं रह जाती। इतिहास की धारणा ही विलीन हो जाती है। अर्थात् कुछ स्थायी और ध्रुव है रूप और आकार से अतीत है जो रूपाकारों में नित-नयी परिणति पा रहा है। क्यों वह काल है क्यों वह है कि जिसे आकाश कहते हैं और जिसमें काल अपना काम करने का अवकाश पाता जाता है? इन क्यों का अन्तिम अर्थ नहीं मिलता। विज्ञान कह दीजिये युक्ति कह लीजिये पर इस प्रकार के प्रश्न स्वयं ठीक नहीं जान पड़ते और प्रश्न के लिए मानो फिर अवकाश छोड़ रहते हैं। आदर्श मानो वही है, जिसका क्यों नहीं पूछा जा सकता 'क्यों' की कड़ी वहाँ छोर पा जाती है। मानो सब अर्थ की वहाँ सिद्धि और समाप्ति है मानो अर्थ का वहाँ से उद्गम है। अर्थात् आदर्श का सम्बन्ध उस श्रद्धा से है जो तर्क तक ही नहीं जाती आगे भी जाती है। आगे पहुँचने की जो है, आदर्श है।

आदर्श एक स्वयम्भू शक्ति

इस तरह आदर्श एक स्वयम्भू शक्ति है। वह आत्मनिर्भर है। उसके सम्बन्ध में प्रश्न नहीं रहता है, क्योंकि उससे आदि होता और उसीमें अन्त होता है। आदर्श सबके भिन्न हो सकते हैं जैसे कि स्वप्न भिन्न होते हैं। लेकिन अपने आदर्श के साथ प्रत्येक का सम्बन्ध बिलकुल एक होता है। श्रद्धा भिन्न नहीं होती श्रद्धेय ही भिन्न हो सकता है। इसलिए श्रद्धा ही वह तत्त्व है, जिसमें एकता और समानता है और जिस एकता के लिए किसी प्रश्न की आवश्यकता नहीं रहती है। देवता चाहे आपस में कितने ही अनेक और भिन्न हों लेकिन भक्ति एक है। भक्त उस भिन्नता के रहते हुए भी अनायास आपस में एक हो जाते हैं।

यथार्थ का सत्य : भेद-विग्रह

जिसको यथार्थ कहते हैं वहाँ प्रयोजन और मत आदि की एकता भी दीखे लेकिन वहाँ का सत्य विभेद है। यह सम्भव ही नहीं हो सकता कि किसी भी एक स्थिति

को दो दृष्टियाँ समान देखें। यथार्थ के आग्रह में इस तरह सब अलग-अलग हो जाता है। यथार्थ का तट हेतु और अर्थ का नहीं, केवल धर्मचेष्टा का है। इससे मालूम होता है कि भेद और विग्रह और सबका अपना-अपना पृथक् स्वत्व वहाँ का सच है। सबके अपने-अपने पृथक् स्वत्व की भाषा में ही वहाँ प्रश्न बनते और उत्तर बन सकते हैं।

जीवन के ये दो तट

एक वह, जिसे परमेश्वर कहते हैं और जो परम उपास्य होकर भी परम अप्राप्य है। दूसरे वह, जिसे जगत् कहते हैं, संसार कहते हैं, जो प्रत्यक्ष होकर भी पकड़ में नहीं आता है, ठोस होकर भी जो छलनामय है, जिसका रूप मायामय है। इन दोनों तटों के बीच मानव-प्राणी झूलता हुआ रहता है। जीवन की लहरें मानो इन दो तटों के बीच ही बहती और हारों-थकों को या मतवादियों को इस या उस किनारे फेंक देती हैं। जो जीते हैं, वह किसी किनारे नहीं टिकते हैं, लहरों में रहते हैं। इसीमें जीने का स्वाद है और कष्ट हैं।

साहित्य इन्हींके बीच की क्रिया-प्रतिक्रिया

मैं मानता हूँ कि साहित्य इन्हींके बीच की क्रिया-प्रतिक्रियास्वरूप जन्म लेता है और उसी क्रिया-प्रतिक्रिया की भाषा में अपने सद्दर्शन को दरसाता है। यथार्थ से आदर्श की ओर उठना आरोह और वहाँ से यथार्थ की ओर उतरना अवरोह। ये दो गतियाँ दार्शनिक शब्दावली में भी मान्य होती जा रही हैं। अनेक से एक की ओर चलना उतना ही अनिवार्य है और इसीको उठना भी कहना पडता है, जितना वहाँ से अनेक के स्वीकार-सत्कार की ओर आना अनिवार्य है। जिसको उतरना कहा जाता है।

आदर्श अर्थात् श्रद्धा अनिवार्य

साहित्य में सार भाव पुस्तक का एक है, लेकिन पात्र अनेक हैं। वाक्य का अर्थ एक है, पर शब्द अनेक हैं। इसीसे प्रभाव की अन्विति साहित्य-रचना में उतनी ही हो सकती है, जितनी वहाँ आदर्श की प्रतिष्ठा है। अन्विति होगी, तभी प्रभाव पुष्ट होगा और पाठक का रचना के साथ सम्बन्ध-घनिष्ठ होगा। अर्थात् रचना और रचनाकार में श्रद्धा आवश्यक है। आदर्श आवश्यक है, यह कहने से अधिक श्रद्धा को आवश्यक बताना अधिक अनुकूल और सार्थक बनता है। कारण, श्रद्धा से अलग आदर्श की कहीं स्थिति ही नहीं है। और श्रद्धा की स्थिति के लिए स्वयं रचना और रचनाकार है।

श्रद्धा से यथार्थ असम्बद्ध

यथार्थ के साथ श्रद्धा का सम्बन्ध टिक नहीं सकता। वहाँ उससे काम लेना होता है जिसे कुशलता और सावधानता कहते हैं और जिसमें तर्कान्वित विवेक के लिए अवकाश है। यथार्थ के प्रति समर्पण नहीं हो सकता। उसमें रुचि-अरुचि स्वीकार-अस्वीकार, प्रिय-अप्रिय का होना अनिवार्य है। वह स्थल मतामत खण्डन-मण्डन प्रतिपादन-प्रत्याख्यान आदि का है। इसलिए जो आदर्श को लेकर चलना चाहता है उसमें मतवादी समर्थन और आलोचन आये बिना रह नहीं सकता। यह रस में बाधक होता है। रसबोध ऐक्य भाव में से प्राप्त होता है। और वह एकता यथार्थ से उठे हुए किसी यथार्थमूलक आदर्श में ही सम्भव बनती है। इसलिए आत्यन्तिक श्रद्धा साहित्य-सृष्टि के लिये अनिवार्य तत्त्व है कारण उसी के प्रति पूर्णनिमज्जित और निःशेष समर्पण हो सकते हैं। उसके बिना रचनाकार की रुचि-अरुचि मत-विमत पाठक में तनिक चुभे बिना नहीं रह सकते और इस तरह एक बाधा प्रस्तुत कर जाते हैं।

लेखक की श्रद्धा प्रश्न का भोजन करती है

किन्तु श्रद्धा की पूर्णता में से सृष्टि नहीं हो सकती। उसके लिए एक तनाव आवश्यक होता है। इसीसे लेखक में यह आवश्यकता रहती है कि वह आदर्श को श्रद्धा से छूकर ही न रह जाय बल्कि उसको वह अपने समीप में समा पावे। इस चेष्टा में ही समस्त जीवन-व्यापार में से उस अर्थ को निकालने की उसकी चेष्टा रहती है, या तमाम जीवन-व्यापार में उस आदर्श को डालने की चेष्टा कहो। यह एक साधना और तपश्चर्या ही है। इन्द्रियों से जो हमें मिलता है, विविध होता है। उसीमें से जो अर्थ की एकता को अनुस्यूत देखने का अभ्यास है, वह किसी युद्ध से कम नहीं है। इससे व्यक्तित्व को एक अनुशासन और एकीकरण प्राप्त होता है। इन्द्रियों को मनमाना चलने की सुविधा नहीं रहती। मानो उनको अन्तःकरण और आत्मा से जुड़ना पड़ता है। इस तरह लेखक की श्रद्धा कोरी मतवादिता नहीं हो पाती न वह यथार्थ से एक क्षण के लिए विमुख ही हो सकती है। मानो वह ऐसी जगी और जगती हुई श्रद्धा है, जो प्रश्न का वरण और भोजन करती है। प्रश्न से वह मुँह नहीं मोड़ती बल्कि नित्यप्रति उस प्रश्न को अपने लिए खुराक जुटाती रहती है। प्रश्न के नित्य-नियमित भोजन से ही वह श्रद्धा स्वस्थ प्रबल और सक्षम बनती है।

आदर्श-यथार्थ अङ्गाङ्गी

यथार्थ की नीचाइयो को तथाकथित कलुष की ही कहना चाहिए। किन्तु पूर्ण के सन्दर्भ मे सब यथावस्थित हो जाता है और कलुष मे भी अर्थ पड जाता है। सृष्टि के विधान में पाप भी निरर्थक नही हो सकता। एक तो उसका अर्थ यही कि वह हममे निषेध की चुनौती और कृत्य का पुरुषार्थ जगाता है। धर्मभीरु पाप और कलुष आदि शब्दो को पैदा करके शायद एकागी होने की सुविधा भी पा जाता हो, लेकिन साहित्यकार को वह सुविधा नहीं है। वह अरुचिवोधक शब्द पैदा करके उनके सहारे किसीसे या कुछ से भी मुँह नही मोड सकता है। आदर्श की वह श्रद्धा रखकर सम्पूर्ण यथार्थ को वह जैसे अपनी समक्ष और स्वीकारता में उतार लेना चाहता है। माया से मुँह मोडकर कोई और होगा जो ईश्वर की साधना मे जायगा, साहित्यकार तो माया के भरपूर प्रपच में भी ईश्वर की लीला को ही देखने का प्रयासी होगा। हाँ, मैं मानता हूँ कि जिसको ऊँचाइयों मे देखा जाता है, उसको नीचाइयों में भी उतारा और पाया जा सकता है। एक जैन-दर्शन है जो कहता है कि आत्मा ही आरोहण में परमात्मा होता है। दूसरी ओर सर्व-सुलभ अवतार पुरुष की धारणा है ही कि स्वय नारायण नर के रूप में जगत् में अवतीर्ण होते हैं। ज्ञान और दर्शन मे से जव धर्म की और ईश्वर की हानि होती है, अखण्ड ऐक्य युग की मानसिकता मे खण्ड-खण्ड हो पडता है, तव व्याप्त तत्त्व को क्रियमाण और व्यक्ति-प्रतीक के रूप में मूर्त होना पडता है। यह आरोही और अवरोही दोनो ही दर्शन इसी एक सत्य को बतलाने के लिए है कि आदर्श और यथार्थ परस्पर अगांगी हैं। आदर्श अव्यक्त केन्द्र है, यथार्थ प्रतिक्षण परिणत होता हुआ व्यक्त प्रत्यक्ष। यथार्थ का आग्रह साहित्य के लिए तव तक सहायक और साधक होगा, जव और जहाँ तक वह श्रद्धा से समन्वित हो सकेगा। श्रद्धा से विच्छिन्न होते ही यथार्थ रचना में आता है, तो ऊब और जुगुप्सा पैदा कर सकता है।

सेक्स के वीभत्स चित्र

३०७ यथार्थवाद और वस्तुवादिता के नाम पर सेक्स की अनियमितताओं के वीभत्स चित्र और अवचेतन मन के ऊहापोह भरे जंजाल ही अधिकतर देखने को मिलते हैं। इन्हें क्या आप अश्लील, अनैतिक और अश्लाघ्य नहीं मानेंगे? तीन रचनाएँ 'लेडी चेटरलीज लवर', 'लोलिता' और 'घेरे से बाहर' इस समय मेरे ध्यान में हैं। यथार्थ के बारे मे ऊपर आपने जो कुछ कहा, उसकी दृष्टि से क्या आप बतायेंगे कि इन रचनाओं में पाठक ईश्वर को कहाँ और कैसे पायेगा?

कथा से सम्बन्ध विच्छेद

—ये दोनों रचनाएँ मुझे असकाम्य लगती हैं। शायद मुख्यता से इसीलिए कि यहाँ से आदर्श-दर्शन का बिलकुल लोप हो गया लगता है और मनुष्य के अन्दर की गहरी मर्म-पीड़ा और व्यथा से उनका सम्बन्ध छिन्न हो जाता है। उस सम्पर्क से टूट जाने पर मानो यथार्थ और वास्तविक केवल जघन्य अधम और वीभत्स होने को रह जाता है।

अनैतिक-अश्लील क्या ?

अनैतिक और अश्लील शब्दों पर विचार करते समय हमें यह मालूम होना चाहिए कि हम क्या चाहते हैं। मान लीजिये कि पूरा मकान बनाना चाहते हैं। तो मकान में मोरी और संडास के लिए जगह रखनी पड़ेगी। नाराज होकर इन दोनों चीजों को बहिष्कृत रखकर जो मकान बनायेगा उसका सारा मकान ही संडास और मोरी के मानिन्द गन्दा हो जायगा। लेकिन अगर हम मकान का विचार नहीं, पैसे का और ड्राइंग-रूम का विचार करते हैं, तो उस समय संडास और मोरी की बात भी याद नहीं आने दी जा सकती है।

सबका अपना-अपना स्थान

ईश्वर और परम सत्य का सन्दर्भ यह है कि यहाँ सबकी अपनी-अपनी जगह स्थान है। अपनी जगह होने पर बुरा भी मानो उपयोग के योग्य होता है और अच्छे से योग साथ पाता है। विष्ठा को हम खाद बनाते और उसके उपयोग से फिर धन-धान्य और फल-फूल प्राप्त करते हैं। बड़े सन्दर्भ में रखने से सबकी यथास्थानता का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह नहीं कि उस ज्ञान के लिए अश्लील और अनैतिक जैसे शब्द व्यर्थ पड़ जाते हैं बल्कि वे भी अपने स्थान तक ही सीमित रहते और अधिक भय और आतंक नहीं उपजा पाते हैं। समाज-व्यवस्था के लिए हम नैतिक के मान नियत करते और उनसे सहारा पाते हैं। उन्हीं नियमों से स्थिति टिकती है, नहीं तो स्थिति-भंग की अवस्था आ जाती है। किन्तु स्थिति ही हो गति रुक जाय तो भी जीवन का काम नहीं चलता। गति जिससे प्राप्त होती और स्थिति में विकास आता है, वह तत्त्व समाज से आगे सत्य से जुड़ा रहता है। व्यवस्था और एडमिनिस्ट्रेशन उसका प्रधान दायित्व नहीं होता प्रथम दायित्व उसका प्रकाशन डिस्कवरिंग होता है। यह तत्त्व काम करता है नियम की अधीनता में नहीं बल्कि नियम की प्रेरणा में रहता है और इसलिए उसे नियम से अधिक महत्त्व

भी दिया जाता है। प्रतिभा को दुर्भाग्य अपवाद कहा जाता और मान लिया जाता है।

बहुत कुछ हुआ है जिसे सदाचार ने स्वीकार नहीं किया। उस समय वह मानो अनागत का प्रतीक था और भविष्य में ही उसकी प्रतिष्ठा हो सकी। जिनसे इति-हास को प्रेरणा और गति प्राप्त हुई है, अधिकांश अपने समय में स्वीकारता नहीं पा सके थे। कारण व्यवस्था में वे सफल नहीं हो पाये थे, केवल आत्म-समाधान में परायण बन रहे।

मिथ्या ही अनैतिक-अश्लील

इसलिए अनैतिक और अश्लील शब्दों का उपयोग अवश्य होश कर लेना चाहिए, किन्तु उन पर रुकना नहीं चाहिए। जहाँ भी मिथ्या है, वहाँ जाने-अनजाने अनैतिकता और अश्लीलता है। इसलिए मान लेना चाहिए कि सत्य में ही उन दोनों का सही निराकरण और परिहार है।

जिन तीन रचनाओं का आपने जिक्र किया, उनके साथ और अनेक रचनाएँ भी हो सकती हैं, जहाँ यथार्थ और वास्तव के नाम पर विकारों और विकृतियों का उद्घाटन हो, लेकिन उनके पीछे कोई सत्य की तड़प या उत्कण्ठा न हो। ऐसा चित्रण और प्रदर्शन तरह-तरह की सावधानी बरतते हुए भी अश्लील हुए बिना नहीं रह सकता। हम कुछ शब्दों और स्थितियों को बचा सकते हैं, लेकिन आड़े-तिरछे संकेत जैसे कृति को अश्लीलता से नहीं बचा पाते।

यथार्थ की तलस्पर्शी कुरेद

ऐसी कृतियाँ हैं और हो सकती हैं, जिनमें हर वास्तव्य और यथार्थ में सत्येश्वर का ही प्रयोजन पाने और दर्शन करने का प्रयास हो। दोस्तोविस्की की रचनाएँ कम घोर नहीं हैं। अभी एक अमरीकी लेखक की रचना, 'आफ लव पोजेज' पढ़ी है, ताल्स्ताय के नाटक 'पाप और प्रकाश' को ही लीजिये। इन सबमें आप यथार्थ की तलस्पर्शी कुरेद पाते हैं। लेकिन मानो यह भी अनुभव करते जाते हैं कि रचनाकार का लक्ष्य उनके पार है और वह श्रद्धा की मजबूती से चल रहा है। वे रचनाएँ जो अमुक ब्यौरे देकर उन्हींमे रस लेती मालूम होती हैं, मानो लड़-खड़ाती हुई-सी वही-की-वही नाचती हैं, उनसे पार जैसे कहीं उन्हें अपना मन्तव्य नहीं मालूम होता। अश्लीलता असल में वह भँवर है, जहाँ हमें अपना प्रयोजन भूल जाता है और इन्द्रिय-व्यापार भुला और भरमाकर हमें घेर लेता है। आप

देखेंगे कि इस तरह आदर्श के सन्दर्भ से च्युति ही वास्तविकता को अश्लीलता प्रदान कर देती है।

काम-सेक्स अश्लील नहीं

विवाह, परिवार, मातृत्व आदि की संस्थाएँ कितनी पवित्र और उपादेय हैं। क्या इस काम और सेक्स का वहाँ उपयोग नहीं है जिससे अश्लीलता पैदा हुई मानी जाती है? क्यों एक जगह अश्लीलता और दूसरी जगह पवित्रता है? कारण केवल एक है। वह यह कि एक जगह उनका योग मिथ्या कपट और दम्भ से हुआ है। दूसरी जगह सहजता सत्यता और स्निग्धता के साथ उन्हें स्वीकार किया गया है। सुहाग-शैय्या को जब हम स्वप्नलोक के निभृत से उठाकर किताब के जरिये चौक बाजार में रखते हैं, तो उसमें क्या प्रयोजन हो सकता है? माता पिता सास-ससुर कितने चाव से उस सब सुहाग-रात की सुविधा प्रस्तुत करके स्वयं किस चिन्ता के साथ तब और से विमुख और अनदेखे हो जाते हैं। उस सबमें कितनी स्निग्धता और पवित्रता होती है। उस सबका भंग करके जब कोई किताब राह चलते की निगाहों को नज़र की जाती है तो वह कार्य भोंडा और बीभत्स न हो तो और क्या हो सकता है? इसमें वास्तविकता का कोई पुरस्कार या सम्मान नहीं है। वह केवल बुद्धि की स्पर्धा और दम्भ है। जिसमें इस बौद्धिक दम्भ का कम्प्लेक्स हो वह रचना महत्त्वहीन और अश्लील ही हो सकती है इस बारे में मेरे मन में भ्रम नहीं है। कारण यथार्थ का वहाँ अनुसन्धान नहीं है, न अवगाहन है। यह वहीं हो सकता है, जहाँ उस यथार्थ से पार जाने की लगन हो। उस यथार्थ का सेवन और उपसेवन दिखाई देता हो तो वास्तव ही अवन्य और यथार्थ ही मिथ्या बन जाता है। मैं मानता हूँ कि इसमें न सत्य की सेवा होती है, न समाज की ही कोई सहायता हो पाती है। उन रचनाओं में फिर कितनी भी बारीकी और साज सैली की कुशलता हो साहित्य में उन्हें प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती।

१८ प्रकार आप सर्वसाधारण नैतिकता के आदर्श के बहुत नजदीक आ गये। आपकी ही अपनी मुक्तप्रेम की मान्यता पर, जो कि साहित्य का भी अनिवार्य विषय है, इस पारिवारिक नैतिकता का क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या आप इस बात से सहमत नहीं हैं कि मुक्त प्रेम अधिकतर मुक्त बलात्कार का रूप ले बैठता है और यही बात की अधिकतम रचनाओं में देखा जा रहा है?

प्रेम मुक्त ही हो सकता है

—प्रेम मुक्त ही हो सकता है। जो मुक्त न हो ऐसे प्रेम की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। इसलिए मुक्त प्रेम के समर्थन की बात में मैं कुछ अर्थ ही नहीं देख

पाता हूँ। प्रश्न है कि हम प्रेम का समर्थन करते हैं या नहीं करते। मैं ईश्वर को सक्रिय रूप मे देखना चाहता हूँ तो प्रेम ही वह रूप रह जाता है। उसको अमुक्त करना सम्भव नहीं है। यो तो लोग हैं, जो ईश्वर मे मुक्ति नहीं खोजते हैं, बल्कि उसको ही अपने बन्धन मे लेते हैं। प्रेम के साथ मुक्त से अतिरिक्त और व्यवहार करना भी मानो वैसी ही मूखता करना है। हम लाख चाहें, प्रेम बन्धन मे नहीं बँध सकता। बल्कि वही है, जिसमें आदमी अपनी मुक्ति पायेगा।

सयत अह हो

अब प्रश्न पारिवारिक, सामाजिक और सयत प्रेम का आता है। मैं मानता हूँ कि जिसके सचमुच सयत होने की आवश्यकता है, वह प्रेम नहीं अहम् है। हम भूल से मानते हैं कि प्रेम सयत हुआ है। सच यह कि ऐसे सयमन अह का ही हुआ करता है और यह सदा वाञ्छनीय है।

सयम की अतिवादिता

संयम की यह अमर्यादा है कि वह प्रेम को अपने अधीन ले। लाखो-लाख बार हम देख चुके हैं कि सयम अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करके जब प्रेम को अपनी अधीनता मे डालना चाहता है, तो स्वय ही टूटता है, प्रेम का कुछ बिगाड नहीं पाता। इस सयम की अतिवादिता और अहता ने समाज और जीवन का बडा नुकसान किया है। बड़ी जटिलताएँ और कुठाएँ पैदा कर दी हैं और यह भ्रम पैदा कर दिया है कि प्रेम नाश करता है, सयम रक्षा करता है। असल मे संयम यदि रक्षा करता जान पडता है, तो इसीलिए कि वह प्रेम के अधीन हो पाता है। जहाँ इससे उलटा होता है, वहाँ सयम जलाने लग जाता है और दुनिया मे मानो प्रलय मचा देता है। मूल्य-विपर्यय ठीक इसी जगह घटित होता है और मनुष्य अपने नियम को प्रेम के ईश्वरीय नियम से ऊपर महत्त्व देने लग जाता है। आक्रान्ता पैदा होता है, जो अपने दण्ड से दुनिया का शासन करना शुभ मानता है और स्वय को प्रेम के शासन से मुक्त मानता है।

प्रेम और नैतिकता की टकराहट

पारिवारिक नैतिकता बहुत आवश्यक चीज है, किन्तु उसकी रक्षा प्रेम की रक्षा के साथ ही हो सकती है। आज वह नैतिकता टूटती-सी इसीलिए जान पडती है कि उसने विग्रह अपना प्रेम से माना और ठाना है, असत्य से नही। असत्य से नैतिकता को लडना है, जिससे कि प्रेम को वह उत्तरोत्तर अपना सके। जब हम

स्वयं प्रेम से नैतिकता की धारणा को टकरा रहते हैं, तो फल में असफलता निकलती है और उसमें नाना ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं। यह मिथ्या का ही चमत्कार है कि वह पशु के रूप में प्रेम को समझ कर देता है और स्वयं इस तरह अपने लिए नीड़ बना लेता है।

प्रेम बलात्कार नहीं बन सकता

यों मुक्त प्रेम मुक्त बलात्कार का रूप नहीं लेता और नहीं ले सकता। वैसा बलात्कार पशु तक में तो सम्भव नहीं है। फिर मनुष्य-समाज में दीखता है तो यह इसलिए नहीं कि वह पशु के समान मुक्त बन जाता है बल्कि इसलिए कि नाना बन्धनों की सृष्टि करके वह सहज काम को तीव्र वासना में परिणत कर लेता है। निश्चय मानिये कि बलात्कारी मुक्त प्रेमी नहीं है। वह नाना कुण्ठाओं से ग्रस्त प्राणी हुआ करता है।

प्रेम का प्राथमिक स्वीकार

बलात्कारी के मनमाने वर्तन को हम मुक्त मानते हैं, तो यही बड़ी भूल करते हैं। इसी उसके दर्शन की दहक के कारण नाना प्रकार के विघ्न विरोध और द्वन्द्व पैदा करके इसका उपचार किया चाहते हैं। इस उपचार की चेष्टा आदिकाल से होती आयी है पर वह विफल भी होती गयी है और विफलता के कारणों की खोज में से हमारी उपचार-विधि में उत्तरोत्तर विकास सम्पन्न होता गया है। आज यह प्रतीति तर्कहीन और विपरीत नहीं मालूम होगी कि दमन प्रेम का नहीं होना है, बल्कि स्वयं दमन के विस्तार का ही दमन होना है। अर्थात् प्रेम के प्राथमिक स्वीकार के आधार पर ही हमको अपने समाज-नियमन की धारणा को खड़ा करना है। आगे सभ्यता का काम उसी तरह उत्कर्ष की ओर उठ सकेगा। अन्यथा बर्बर पद्धतियाँ अपने को ही कृतकार्य करने के यत्न में रहतीं और समस्या के सम्बन्ध में सच्चे दर्शन को उदय में आने से रोकती हैं।

आधुनिकता और नैतिकता का विरोध

साहित्यिक रचनाओं में यदि प्रेम की अनिवार्यता का निदर्शन और समर्थन हो और समाज-नियमन और समाज-बन्धन का उतना समर्थन न दिखायी दे तो केवल उस कारण उन रचनाओं को हीन और बहिष्करणीय नहीं मानना होगा। कुछ वैसा विरोध आधुनिकता और नैतिकता के बीच देखने में आता है। इस दृष्टि से हमारी नीति-मान्यता में कुछ संशोधन की आवश्यकता हो सकती है। मुख्य बात यह

पहचान लेना है कि जीवन-प्रेरणा के स्रोतमूल का नाम प्रेम है और उसके प्रति स्वागत और समर्पण का भाव ही इष्ट है। सयम उसको रोकेगा तो स्वय उल्लघित होगा। सयम का काम यह है कि भगीरथ ने जैसे भागीरथी का सत्कार और पुरस्कार किया, अर्थात् तट देकर उसे आगे बढ़ाया, वैसे ही सयम भगीरथ बनकर प्रेम को धारण करे और अपनी कुशलता से उसे तट देकर आगे की ओर प्रवाह मे उसे वेग दे। तट देने और बनाने मे जिसके साथ जूझना और लडना अनिवार्य होता है, वह तो ठोस धरती है, अर्थात् वह व्यक्ति और समाज का जड और ठोस पड गया हुआ अहभाव है। सयम-चेष्टा उसके प्रति करनी होगी, प्रेम-चेतना के प्रति नहीं। मन का विज्ञान, जीवन-प्राण का विज्ञान, समाज और अर्थ का विज्ञान अधिकाधिक इसी दर्शन की सत्यता दरसाये बिना नहीं रहनेवाला है। कुछ-कुछ यह काम आधुनिक समझा जानेवाला साहित्य भी कर रहा है। यहाँ उन रचनाओं को विचार से दूर कर देना चाहिए, जिनमें आदर्शशीलता और दायित्वशीलता का स्पर्श नहीं है। वे आधुनिकता को लाञ्छित करती हैं, उसका प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। पर ऐसा आधुनिक जो रूढ़ और गतानुगतिक को ही शिरोधार्य नहीं कर सकता है, जो सनातन-शाश्वत और सत्य के प्रति इतना लगनशील और इसलिए वर्तमान की जडितता के प्रति कुछ कठोर भी है, उसके स्वागत और अभिनन्दन के लिए हमे तैयार रहना चाहिए। वह निर्वीर्य और निस्तेज है जो वर्तमानता का अनुरजन करके उसे आत्मतुष्ट होने देता है, उसमें आवश्यक आत्मालोचन नही जगाता। नैतिकता के नाम पर निस्तेज का सत्कार और तेजवान् का तिरस्कार हो चलता है, तो यह स्वय नीति के पक्ष मे घाटे की बात होगी। स्थिति और गति मे साहित्य को चुनना ही पडे, तो उसे गति के साथ रहना होगा। सच यह कि स्थिति का प्रतिनिधि यदि धन है, तो साहित्य गति का प्रतिनिधि है। वह विचार के साथ है, जिसे कर्म से सदा ही आगे रहकर चलना होता है।

साहित्य-प्रयोजन

३०९ साहित्य का क्या लक्ष्य, प्रयोजन अथवा धर्म आप मानते हैं? हमारा आज का भारतीय साहित्य कितनी दूर तक आपके मान्य लक्ष्य, प्रयोजन अथवा धर्म के अनुकूल चल रहा है और कितनी दूर तक वह जन-मन का प्रतिनिधित्व कर पाया है?

—जन-मन एक अमूर्त सज्ञा है। उसके प्रतिनिधित्व की बात सोचने की आवश्यकता नहीं है। औसत जन कही रहता ही नहीं। सदा एक-एक जन के रूप मे व्यक्ति मिलता और मानो वही जनता के प्रतिनिधित्व का काम निभा देता है।

प्रयोजन और लक्ष्य को अपने निकट स्थिर करके साहित्य को चलना नहीं है। ऐसा हुआ तो वह प्रयोजन आत्मीय और अन्तर्भूत नहीं रह जायगा, लक्ष्य बाह्य और वस्तुपरक हो जायगा। समस्त राजकारण और कर्मकारण बाह्य और उपायप्रधान है। साहित्य भी वैसा बना तो उसका प्रयोजन ही उसमें खण्डित होगा। हम अगर जीते चले जाते हैं, अगर मरते और फिर-फिर जीते हैं तो वह इसलिए नहीं कि उसका प्रयोजन हमारी मुट्ठी में रहता है। वैसा होता तो हम निर्णय कर सकते थे कि कभी मरेंगे ही नहीं। पर वह निर्णय हमारे हाथ में नहीं है। अर्थात् जीवन का प्रयोजन स्वयं मृत्यु द्वारा भी पूरा होता रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि जैसे स्व का प्रयोजन स्व के पास नहीं रहता और शायद उसकी कृतकृत्यता का रूप स्वयं का स्वार्पण होता है वैसे ही साहित्य के प्रयोजन को सर्वांश पूर्ण स्वार्पण के रूप में ही मानना चाहिए।

आत्माभिव्यक्ति आत्मोपलब्धि ही प्रयोजन

कुछ अवश्य ऐसे लोग भारत में और भारत के बाहर भी हैं जो जिज्ञासा से, जिजीविषा में लिखते हैं। आत्माभिव्यक्ति आत्मोपलब्धि से अतिरिक्त दूसरा प्रयोजन अवश्य नहीं है। ऐसा साहित्य जाने-अनजाने सत्याभिमुख और इसलिए शिवाभिमुख भी होता है। यह स्वीकार करना होगा कि विश्व की आज की परिस्थितियों में यह आत्म रमणता कोई बहुत इष्ट कार्य नहीं है, वरन् इसे व्यर्थ कार्य भी माना जाता है। इसलिए अधिकांश दायित्वशील जन समाज के सुधार या उद्धार के कार्य में सीधे प्रवृत्त दिखायी देते हैं। फिर भी छिटपुट लोग हो सकते हैं, जिन्हें इतनी आत्म-गरिमा प्राप्त न हो कि जगत् के सम्बन्ध में वे अविश्वस्त और अपने सम्बन्ध में पूर्ण विश्वस्त बन रहें। वे किंचित् सकोच और पीड़ा के व्यक्ति हो सकते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति नेतृत्व की कामना में से न आवे बल्कि आत्म-व्यथा में से आवे। असम्भव नहीं है कि वह दूसरे को अपने मर्म के भी निकट जान पड़े और अनायास सार्वजनीन और सर्वहितकारी हो जावे। आत्म यदि सर्वव्यापक है, तो निःसंदेह भाव से आत्मिक होने और किसी भी दूसरे के प्रतिनिधि न होने से भी साहित्य को रचनात्मक गुण मिल जाना चाहिए। शक्ति जहाँ मूल्य हो वहाँ ऐसे लोग उत्तरोत्तर कम होते जायँगे फिर भी कभी उनका लोप न होगा और इस भाँति सर्वोदयशील साहित्य हर देश और काल में पुष्ट होता रहेगा।

इस सन्दर्भ में भारत को और देशों से अलग करके देखने जानने की बात अनभीष्ट हो सकती है।

चतुर्थ खण्ड
अध्यात्म

१

अन्तरंग

द्वन्द्व

११ द्वन्द्व आप किसे मानना चाहेंगे?

—जिसका परिणाम तनाव हो। दो तत्त्व परस्पर इस तरह सम्बद्ध हों कि उनमें खिंचाव और अपकर्षण हो तो द्वन्द्व की अवस्था मानिये।

जगत्-द्वन्द्व : अन्तर्द्वन्द्व

१११ जगत्-द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है या कोई और?

—मेरी दृष्टि में नितान्त भेदन कहीं सम्भव नहीं है। जगत्-द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व सर्वथा दो नहीं हो सकते। उनके सम्बन्ध को कार्य-कारण सम्बन्ध कह देकर छुट्टी नहीं है। उससे भी अधिक घना सम्बन्ध दोनों में होना चाहिए। एक कार्य और दूसरा कारण हो, यह जरूरी नहीं है। दोनों ही कारण और कार्य हो सकते हैं। उन दो सिरों के बीच सम्बन्ध इकतरफी नहीं है, दोतरफी आवागमन है। कहिये कि सीधी रेखा में नहीं वर्तुलाकार उस सम्बन्ध की गति है।

११२ तब जो इनमें से एक को कार्य और एक को कारण मानते हैं, वह गलत है?

—मानने में सम्पूर्ण आता ही नहीं। और अपूर्ण मानने से भी काम हो सकता है। भाषा सदा अधूरी होती है। काम चलने तब होता है जब हम जानते हैं कि वह पूरक भर है, स्वयं में सत् या सिद्ध नहीं है।

काशी में गंगा सिरे नहीं है। पर काशी को तीर्थ मानकर हम गंगा-स्नान का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। काशी कहने से मानो तट की सूचना मिलती है, गंगा समाप्त नहीं हो जाती। रामनगर से भी गंगावगाहन हो सकता है।

भाव और भाषा का सत्य के साथ यही पूरक सम्बन्ध मानना चाहिए।

सृष्टि-द्वन्द्व

११३ क्या आप इन दोनों द्वन्द्वों के ऊपर किसी विश्व-द्वन्द्व अथवा सृष्टि-द्वन्द्व की भी कल्पना करते हैं?

—हर पिण्ड मे दो क्रिया होती हैं। एक तो अन्तगत, दूसरी वहिर्गत। धरती अपनी धुरी पर घूमती है, उसे 'रोटेशन' कहते हैं। सूरज के चारो ओर घूमती है वह 'रिवोलुशन' है। इन दोनो गतियो मे शून्य कोई पिण्ड नहीं।
विश्व और सृष्टि को हम कल्पना मे भी ले नहीं पाते। अर्थात् उनकी परिधि का हमे पता नही है। केन्द्र अवश्य प्रस्तुत है और वह प्रत्येक मे अन्तर्भूत 'मै' है। ऐसे अनन्त केन्द्र होने से भी सृष्टि और विश्व के वतन मे कोई वाधा नहीं होती। ब्रह्माण्ड अचित्-पिण्ड होता, तो यह अनन्त केन्द्रितता सम्भव न वन पाती। इमी-लिए समष्टिरूप ब्रह्माण्ड को चिन्मय मानना होता है।
प्रत्येक द्वन्द्व समष्टिगत और विश्वगत नहीं है, उमका ही अनुभवन नहीं है, यह कैसे कहा जा मकता है?

अह केन्द्र

३१४ अह को द्वन्द्व का केन्द्र मानकर क्या आपने सृष्टि के केन्द्र ईश्वर की उपेक्षा नहीं की?

—ईश्वर को केन्द्र मानेंगे, तो शेप परिधि तक व्याप्त और क्या तत्त्व माना जायगा? इससे वुद्धि अह को केन्द्र ठहराकर ही आगे चल पाती है।

अह क्रास-प्वाइण्ट

३१५ अह क्या है और इसका ईश्वर और आत्मा से क्या सम्बन्ध है?

—लगता है कि अह एक क्रास-प्वाइण्ट है। काल आकाश जहाँ मिलते और काटते हैं, वह विन्दु मानो अह है। मानो वहाँ सम्वन्ध-सूत्रो के लिए गुथन और स्व-चेतना प्राप्त करने का अवकाश हो जाता है। एक धारणा है, जिसे 'कण्टीन्युमम' कहते हैं, उसे काल का वोधक कहिये। आकाश को हम जानते ही हैं। यह दो तत्त्व सर्वव्याप्त हैं। इसलिए हर बिन्दु पर ये मिलते और कटते हैं। ऐसे असख्य अह-विन्दु प्राप्त हो जाते हैं। उस विन्दु का सम्वन्ध ब्रह्माण्ड से क्या हो सकता है, सिवा अनिवार्य आकर्पण और अपकर्पण के।

अह की असख्यकता

३१६ अह की यह असख्यकता एक ईश्वर से कैसे निकली?

—छुटपन मे मुझे एक चीज का वडा शौक था। उसे 'वुढ़िया का काता' कहते थे। उसमे चीनी के वाल से भी वारीक रेशे हुआ करते थे। एक पैसे मे खासा वडा गुच्छा आ जाता था। मैं दग रहता था कि इतना वारीक तार कौन वुढ़िया कैसे कातती

है। एक रोज बुढ़िया का काता स्वयं बनाकर तभी तैयार माल बेचनेवाला गली में आ गया। एक पात्र में गरमागरम चाशनी रहती थी ऊपर से तेज घूमता बहाई जाती थी। चाशनी से उठती हुई भाप पात्र के किनारे से बाहर फूटकर जमती जाती और 'काता' तैयार होता जाता। अहं के बिन्दुओं की परस्परता के असंख्य सूत्रों के सम्बन्ध में ऐसा ही कुछ होता होगा। सचमुच राम जाने क्या होता है। मुझसे तो जाना नहीं जाता न वहाँ किसी तरह पहुँचा जाता है।

अन्तरंग

११७. इन असंख्य-अहं बिन्दुओं में से एक को लें। अन्तरंग आप किसे मानेंगे? मन को, हृदय को, बुद्धि को या आत्मा को?
—हम शरीर से अन्दर अढ़ाई इन्च मोटे हैं तो भी इन्च गहराई हुई। उस भी इन्च तक अन्तरमता के असंख्य स्तर समा सकते हैं। मन बुद्धि आत्मा आदि की बात छोड़िये स्वयं चमड़ा अन्तरंग है। बाहर चमड़ी पर आकर जरा दीख जाय तो चिन्ता का कारण हो जाता है। यह जो बाहर त्वचा दीखती है, वैज्ञानिक इसीमें कई तहें बताते हैं। ऊपर शरीर पर रहनेवाली रोमावली चर्म की कई तहें फोड़कर उसके तल में से आती है।
अर्थात् अन्तरंगता की थाह नहीं। भाषा अनेकार्थिक शब्द सृष्ट करती जायगी फिर भी थाह शेष बच जायगी। मुझे तो जान पड़ता है कि अन्तरतम में पहुँच पायें तो वहाँ के लिए परमात्म के सिवा और कोई संज्ञा नहीं बच जाती। अहं एक है, उसके भी मर्म-मूल में शायद है सब। अखिल में से ही यदि अहं-बिन्दु बन उठा है, तो उसकी यथार्थता और सत्यता में उतरते उतरते क्या हमें उस निखिल में ही पहुँच जाना नहीं मिलेगा? अर्थात् परम अन्तरंग परमेश्वर ही है। भाषा के शेष सब शब्द बीच पड़ाव के हैं। उस भाषा में उन्हें आपस में कुछ आगे पीछे भी कहा जा सकता है। अध्यात्मियों ने ऐसा बहुत-सा अनुक्रम बनाकर दिया है। अन्तर्मन बहिर्मन अवचेतन उपचेतन चेतन आदि-आदि। अध्यात्म-विद्या मनोविज्ञान योग-साधन इत्यादि अभ्यासों से वे एक क्रम की लड़ी भी देखा जा सकता है। लेकिन वहाँ सत्य-पर सत्य और पेंच-पर-पेंच मिलेंगे और मैं उन जाल की गलियों में उलझने की आपको सलाह नहीं दूँगा। मुझे तो वहाँ का कुछ पता है नहीं। न चिन्ता है। जितने शब्द आपने कहे उनमें क्रम बनाकर तारतम्य अपनी बुद्धि के अनुसार मान लीजिये और किसी झगड़े में न पड़िये। ऐसे ही अचिन्त ज्ञान होने की सम्भावना है। भाषा सहारे से अचिन्त हो नहीं सकती। अचिन्त बनाना मानो भाषा के दफ्तर शब्द पर टिक रहना है। ज्ञानी के लिए वह स्थिर नहीं है।

सम्प्रदाय में बँध जाता है तो नये रस्सा-सम्प्रदायों को पढ़कर पुरानों को तोड़ने में लगना पड़ता है। इसलिए अगर आस्था सम्यक् विचार में से अलग इच्छा हो तो मुझे घबराहट नहीं होगी।

एक मसले में श्रद्धा

एक खतरे से अवश्य हमें बचना चाहिए। एक अतिरीक-लक्षण को श्रद्धा में लेकर उस पर विचार को चलाने से हम एकदम अहिंसा के मर्म को पा जाते हैं। परस्परता के क्षेत्र में उस अहिंसा को हम परम-धर्म के रूप में स्वीकार कर लें तो आगे सृष्टि विचार, समाज-विचार, नीति-विचार आदि सबके लिए एक प्रकाश और निर्देश प्राप्त हो जाता है। उसको किसी भी पद्धति से यदि हम अनिवार्य स्वीकार कर लेते हैं तो फिर आत्मा-परमात्मा आदि शब्दों से मिलनेवाली छूट से नुकसान नहीं होता। पर कठिनाई यह है कि अहिंसा को अन्यथा हम उचित और उपादेय तो मान पाते हैं परम-मूल्य मानने को बाध्य नहीं होते। आस्तिकता में से अहिंसा हमें मूल्य के रूप में प्राप्त होती है। आस्तिक्य का यही परम लाभ है। उस लाभ को रखकर फिर भाषा में से परमात्मा का निस्तरण हो जाय तो कोई वास्तविक हानि नहीं है।

अध्यात्म और अहिंसा

१२१ जिस अध्यात्म विषय पर हम बातें करते आ रहे हैं, उसमें अहिंसा का क्या महत्त्व है?

—अहिंसा वस्तुतः और सम्भव स्व-पर बोध तक ही है। जब तक यह है, तब तक अहिंसा है। 'स्व' रहे तो 'पर' रहता ही है। पर को उसी तरह होने का हक है जैसे स्व को। अहिंसा की मूल मान्यता यह है। आगे पर में स्व के स्वकीय और आत्मीय भाव का विस्तार होता और उसमें उत्तरोत्तर अहं की ओर परस्परता की सिद्धि होती है। यह सब अहिंसा को परमधर्म मान लेने से अनायास प्राप्त होता चलता है।

अहिंसा के स्वीकार से अध्यात्म रस रहस्यात्मक व्यसन नहीं बन सकता। अध्यात्म की दिशा में यही उसका बड़ा लाभ है।

●

२

इन्द्रिय, मन, अहं

इन्द्रियाँ

३२२ मानव-व्यक्तित्व के सबसे ऊपरी स्तर इन्द्रियों का उसके अन्तस् के निर्माण मे क्या योग आप मानते हैं?

—इन्द्रियाँ बाहर की ओर खुलने के द्वार हैं। बिलकुल अनिवार्य है कि अन्तस् का प्रतिक्षण बाहर से योगायोग बना रहे। यह अन्तस् जो इन्द्रिय-व्यापार के सम्बन्ध मे अविश्वासी होता है, अपने को शेष मे काट लेता और इस तरह अपना भावार्थ खोकर मानो सूखने लगता है। इन्द्रियों के सिवा कोई और अन्य मार्ग व्यक्ति को प्राप्त नहीं है, जिसके द्वारा उसकी शेष के साथ सम्बद्धता हरी-भरी और उपयोगी बनी रहे। आत्मा के नाम पर अन्तरग को जब हम इन्द्रियो का अविश्वासी बनने देते हैं, तो यह विरोध न आत्मा को पुष्ट करता है, न इन्द्रियो को पुष्ट होने देता है। इस पद्धति को इसलिए आत्मविघातक ही कहना पड़ता है। व्यक्तित्व-संचय इस राह नहीं होता। बल्कि व्यक्तित्व-विघटन हो सकता है।

शेष को वस्तुता और विविधता देनेवाली

इन्द्रियाँ आखिर करती क्या हैं। बाहर को वे नाना प्रकार से अन्दर पहुँचाती हैं। प्रत्येक बाह्येन्द्रिय के पीछे प्राण-तन्तु रहते हैं, जो उस बोध को मस्तिष्क तक पहुँचाकर मानो ज्ञान-संज्ञा देते हैं। हम जब कहते हैं वह है, सुन्दर है, मीठा है, वह सुगन्धित है, हलका या भारी है, इत्यादि तो यह सब कहना एक प्रकार से अमुक के प्रति अपने प्रसन्न सम्बन्ध को ही संज्ञा देना है। ऐसे चीजें हमारे लिए होने लगती और साकारता सगुणता प्राप्त करती है। शेष को यह वस्तुता और विविधता प्रदान करनेवाली इन्द्रियाँ ही हैं। मानो इन्द्रियों के कारण जगत् सिर्फ हमारे लिए होता ही नहीं है, बल्कि सार्थक और स्वरूपवान् भी होता है। यह सब जिनके द्वारा सम्भव बनता है, उन इन्द्रियो के साधन से अपने को हीन करके कोई प्राण-चेतना, आत्म-चेतना या बुद्धि-चेतना अपने को सम्पन्न नहीं कर सकती।

सच यह कि जब इस प्रकार की एकमात्र विमुखता पैदा होती है तो इन्द्रियाँ स्वच्छन्द होने लगती हैं, वे आत्म की ओर पीठ करके मानो वस्तु की ओर लपकने लग जाती हैं। तब उन इन्द्रियों को यह बोध देनेवाला कोई रह नहीं जाता कि वस्तु को वास्तवता देनेवाली वे स्वयं हैं अन्यथा उन वस्तुओं का अस्तित्व ही नहीं है। अयुक्त और आसक्त बनी वे इन्द्रियाँ फिर वस्तुओं को स्वतन्त्र महत्त्व देने लग जाती और स्वयं में भरमाने लग जाती हैं। इस प्रकार का मिला हुआ वस्तु-बोध मानो हमारे भीतर टिकता ही नहीं है यही किसी दबे कोने से ध्वनि आती रहती है कि यह प्रपंच है व्यर्थ है, मिथ्या है यह नहीं है। अन्तर-विवेक मानो इन्द्रियों को चेतावनी देता रहता है कि जिधर तुम्हारी चाह है वह असत् है असल नहीं है। जो सत् और असल है, वह मुड़कर देखो कि वह तुम्हारे पीछे है। विवेक और ध्यान का द्वन्द्व इसी जगह उत्पन्न होता है।

इन्द्रिय-व्यापार के दो सिरे

इन्द्रिय-व्यापार का एक सिरा स्पर्श रस गन्ध आदि के द्वारा वस्तु को छूना और दूसरा ज्ञान-तन्तुओं के द्वारा चित्-तत्त्व को छूना है। उन दोनों तत्त्वों में यदि विमुखता पड़े तो वैसा ही जैसे डोरी कि जिसका ऊपर का सिरा आपके हाथ से चिपका रहना चाहता है और नीचे का सिरा धरती को छोड़ना नहीं चाहता। तो ऐसी डोरी आपकी गति में बाधा होगी। वह आपको परेशान कर डालेगी। अन्तर्दर्शन भी व्यक्ति ने आरम्भ से ही प्राप्त किया है। पशु दूसरे को देखता तो उसमें विकार ही देखता है। इसी दर्शन पर उसकी पशुता सिद्ध बनी बनती है। आत्म-दर्शन की उसके लिए आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य को ही पहले-पहल प्राप्त हुआ कि वह अपने होने को जाने और अनुभव करे। यहीं से उसमें द्वन्द्व का आरम्भ हुआ और इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने की बात धीरे धीरे प्रश्न में आयी। इन्द्रियों का मुख अन्दर की ओर बना ही नहीं है स्वभावतः वह बाहर की ओर है। पर मुख है इसीमें गर्भित है कि वह बाहर को अन्दर से जोड़नेवाला द्वार है। वैसा न हो तो उसका अर्थ ही समाप्त हो जाता है।

एकता और विविधता के बीच सन्धि

इन्द्रियों का बोध और उपयोग तब है कि जब बाहर पदार्थता और विविधता पैदा करके उस विविधता को वे अन्दर पहुँचायें तो वहाँ से फिर उन्हीं इन्द्रियों द्वारा आत्मता और एकता के भाव को बाहर लायें। एक और अनेक को इस तरह संयुक्त रखनेवाली इन्द्रियाँ ही हैं, बाहर को अनेकता देती हैं, भीतर से एकता देती हैं

इस तरह इन्द्रियाँ आत्म और जगत् को परस्परता मे साधे रखती है। इन्द्रियाँ वे स्वस्थ और सक्षम है, जो इस ज्ञाता और विज्ञेयता के बीच की सम्बद्धता को स्निग्ध और स्वच्छ बनाये रखती है। जहाँ यह नही हो पाता, मानना चाहिए कि वहाँ योगभ्रष्टता और रुग्णता है।

वस्तु-जगत् का मिथ्यात्व

३२३ एक ओर तो आप इन्द्रियों के विषयो से अन्तस् को सम्पन्न बनाने की बात करते है और दूसरी ओर आपने वस्तु-जगत् को प्रपच और मिथ्या भी कहा है। क्या इन दोनो उक्तियो मे अन्तर्विरोध नहीं ?

—विषय विषयी से अलग महत्त्व पाते ही प्रपचमात्र रह जाता है। आशय कि वस्तु-जगत् आत्म-जगत् के बिना हो नही सकता। आत्म-जगत् यदि प्रकाशित और अह-मुक्त होकर आत्म-सिद्ध बने, तो इन्द्रिय-व्यापार साधना-पथ के रूप मे प्रस्तुत होते और वस्तुता को सार्थकता दे देते है। ऐसा जब नहीं होता, तब वस्तु-विषय ही मानो आत्म-ध्यान से उलटा पड जाता है। इस असम्बद्धता और विमुखता के होने पर मानो दोनो अधूरे और झूठे पड जाते हैं। इधर व्यक्ति ह्रस्व और तुच्छ बनता है, उधर ससार जटिल और क्लिष्ट पडता है। वस्तु मे प्रपचता या तथ्यता स्वय मे नहीं है। आत्म के प्रति उसके समीचीन और सवादी सम्बन्ध के तारतम्य से ही सत्-असत् का वहाँ प्रवेश होता है।

३२४ एक शका फिर भी रह जाती है कि मानव-अन्त करण का बल कुछ भी क्यों न हो, वस्तु-जगत् के अस्तित्व को अस्वीकार करना क्या एक सत्य को अस्वीकार करना नहीं है ? आत्मा कितनी भी निरपेक्ष क्यो न रहे, जब तक वह सशरीर है, वस्तु-जगत् की क्रिया-प्रतिक्रिया उसको छुए बिना कैसे रह सकती है ?

वस्तु-आत्म परस्पर सापेक्ष

—वस्तु-जगत् जैसा कुछ है, ऐसा हमे कौन बताता है ? यह ईंट का जो टुकडा पडा है, क्या इसे मालूम है कि दुनिया है ? नहीं, यह इसे मालूम नहीं है। मालूम इसलिए नहीं है कि उसे यही नही पता है कि वह खुद भी है। यानी वस्तु-जगत् का होना स्वय होने के बोध से पहले नहीं हो सकता। होने का बोध अर्थात् 'मैं हूँ' का बोध। मैं हूँ के साथ ही यह पता लगता है कि वह है। वह अर्थात् वस्तु-जगत्। मैं अर्थात् आत्म-जगत्। दोनो हैं तो एक साथ हैं, अन्यथा दोनो नही हैं।

हाँ, दोनों के बीच की तारतम्यता नष्ट नहीं हो सकती। यह उक्ति कि ससार माया है, ससार के होने का स्वीकार ही है। माया, प्रपच, खटराग आदि कहकर केवल

हम इतना कहा पाते हैं कि हमारा उससे मेल नहीं है उसको असत् नहीं सिद्ध कर पाते।

शंकराचार्य की कहानी है। एक हाथी उनकी तरफ दौड़ा। बचने के लिए वे भी भागे। देखनेवाले ने कहा आचार्य हाथी मिथ्या है आक्रमण मिथ्या है भागते क्यों हो? शंकर ने कहा मेरा भागना भी मिथ्या है भाई! आशय शंकर का होना सच है तो हाथी का होना अपने आप सच बनता है। आत्म और वस्तु दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

मुक्ति-विमुक्ति

यह आपका कहना बिलकुल सच है कि दोनों की सम्बद्धता का विच्छेद मुक्ति नहीं है, विमुक्ति है। मुक्ति प्रेम में से ही सम्भव है, यह जो विभक्ति और विमुक्ति में भी भक्ति और सम्प्राप्ति का अनुभव पा सकता है। यह सम्बद्धता उत्तरोत्तर सघनता में से सम्भव है। एकता विभक्तता का फल नहीं हो सकती।

११५. एक पागल है जिसे अपने शरीर का, अपने अहं का बोध नहीं और जो शायद शेष वस्तु-जगत् को भी संगत रूप में देख और पहचान नहीं सकता। उसके अस्तित्व को आप स्वीकार करेंगे या अस्वीकार?

पागल में तटस्थता का अभाव

—पागल में अहं का बोध प्रखर नहीं होता तो सिर्फ इसलिए कि वह सर्वथा अहम्मन्य और अहंग्रस्त होता है। यह सब जानने के लिए 'मैं हूँ' इसकी कुछ आवश्यकता होती है जो मैं से तटस्थ हो। पागल में वह तटस्थता ही नष्ट हो चुकी होती है। मैं वहाँ समाप्त नहीं अत्यन्त होता है। सच पूछिये तो पागलपन मैं का ही रोग है। मैं में मात्रा से बाहर बोध और स्फीति आने का फल ही विक्षिप्तता है। मैं की वहाँ क्लिष्टता ही है उत्तीर्णता मानना भ्रम पोसना है। इसीसे उपचार के लिए उस व्याधिग्रस्त मैं को तरह-तरह से स्वस्थ और शान्त करने की आवश्यकता होती है।

उदर इन्द्रिय क्यों नहीं?

११६. इन्द्रियाँ पाँच मानी गयी हैं और उनकी वासनाओं को उनकी भूख कहा गया है अभी मेरे मन में यह शंका उठी कि उदर को एक अलग इन्द्रिय क्यों नहीं माना गया और उसकी भूख का जो समस्त पर सीधा और क्रान्तिकारी प्रभाव होता है, उसकी स्वीकारता हमारे अध्यात्मवादियों ने क्यों नहीं की?

—सख्या पर कुछ स्थगित न मानिये। मन को छठी इन्द्रिय कहा जाता है। उपस्थ की गणना इन्द्रियो मे है नहीं। उन पांच के साथ पांच कर्मेन्द्रियां भी ले लें, तो भी दस की सख्या को सूचक ही मानना चाहिए, पूर्णांक नही। सच यह कि सम्पूर्णता कभी सख्या मे नही समाती।

मात्र नैसर्गिक क्रिया इन्द्रिय नहीं

उदर और रसना का बहुत सम्बन्ध है। रसना मे क्यो न मान लीजिये कि उदर का समावेश हो जाता है। सच भी है कि भूख का सम्बन्ध पेट से हो, लेकिन पेट की भूख मे से उतनी जटिलताएँ नहीं निकलती हैं, जितनी वासना की क्लिष्टताएँ रसना के स्वाद में से बन आती हैं। सीधे भूख और भोग को मानव-विचार मे ज्यो-का-त्यो लेना अर्थकर नहीं है, वह तो जैविक और प्राणिक विचार के अन्तगत आ सकता है। जीवमात्र मे भूख और भोग मिलेगा, मनुष्य वहां सम-समान है। भूख और भोग के साथ और जो नाना प्रकार की वासनाओ की लपेटें लग जाती हैं, वह मानव को शेष जीव-जन्तु से अलग करती हैं। इसलिए मानवेन्द्रियों मे जिनकी गणना की जाय, उनका सम्बन्ध किंचित् मानवत्व-बोध से भी होना चाहिए। नैसर्गिक क्रियाओ से ही जिनका सम्बन्ध है, ऐसे अगोपागो को इन्द्रियो मे गिनाने की विशेष आवश्यकता नही रह जाती। लेकिन अन्त मे यह याद रखना चाहिए कि सख्या और गणना सूचकमात्र होती है, अधिक नही।

मूल द्वन्द्व सर्वव्याप्त

३२७ अन्तर में द्वन्द्व का सृजन कौन करता है? अपने-अपने विषयों का रस मन तक पहुँचानेवाली इन्द्रियां अथवा उनके बिना भी स्वयं मन?

—मन को मध्यवर्ती मानना चाहिए। हम कह पाते हैं मेरा मन, तुम्हारा मन। इसका आशय कि मन से गहरे में कुछ वह है, जो अपने को मैं कहता है।

मूल द्वन्द्व 'मैं' और 'सब' मे है—उसीको कहिये अहं का और अखिल का द्वन्द्व। भगवान् समष्टि में सर्व-व्याप्त है—वह सागर है, मैं बूंद हूं। यही मूल द्वन्द्व है। हमसे बाहर जितना जो है, वह अपने आप मे पर है। अब भगवान् वह जो पर मे है, स्व मे भी है। अहं वह जो स्व मे ही है, पर में एकदम नही है।

बुद्धि-चेतना, भगवत्-चेतना

स्पष्ट हुआ कि व्यक्तित्व में ही दोनों सत्ताएँ हैं। मनोविज्ञान चेतन, अवचेतन, अचेतन आदि स्तर मानता है। जिसे सामान्य अथ में चेतन कहिये, वह बुद्धि-

चेतना है। शेष सब में भी व्याप्त जो प्रसुप्त किन्तु सुषुप्त चैतन्य है उस में भग-वत्-चैतन्य कह सकता हूँ। 'मैं' उससे अधिकाधिक अलग रहता है। छूटता है फिर भी कसता है। जब 'मैं' भगवत् चेतना से तद्गत हो जाय तब समाधान-सा मालूम होता है। समाधान-सा इसलिए कहता हूँ कि अहं के भगवत्-सत्ता में परिपूर्ण निमज्जन को तो मुक्ति और निर्वाण ही कहते हैं। वहाँ तो सब प्रश्नों और द्वन्द्वों का तिरोभाव है। उससे पहले जो समाधान है वह चिरस्थायी नहीं हो पाता है। किन्तु यह सामान्यतया मान लिया जाय कि अहं जब सचेत नहीं होता और या स्थगित होता है, तो कष्ट की स्थिति कम हो जाती है।
शेष द्वन्द्व मानो इस मूल-द्वन्द्व के ही रूप प्रतिरूप हैं।
११८. तब क्या आपकी मान्यता है कि अन्तर-जगत् का इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य-जगत् से जो सम्पर्क होता है वह अन्तरंग में कोई हलचल या द्वन्द्व पैदा नहीं करता?
—जब मन और इन्द्रियों द्वारा ही अन्तर-बाह्य इन लोकों का सम्बन्ध सम्भव और अनिवार्य है, तब यह कैसे हो सकता है कि कोई भी अन्तर्द्वन्द्व उससे निरपेक्ष हो?

मूल-द्वन्द्व बाह्य-द्वन्द्व

११९. बाह्य-जगत् जो द्वन्द्व अन्तर में पैदा करता है, वह मूल द्वन्द्व से भिन्न होता है, अथवा उसका पोषक होता है, अथवा उसका विरोधी?
—मूल द्वन्द्व तो सब जीवन-व्यापार के मूल में भूमिकारूप से अवस्थित ही है। वह बाह्य द्वन्द्व के रूप में प्रकट भी होता है और उससे प्रभावित भी होता है। दुःख और क्लेश हमेशा असामंजस्य के परिणाम होते हैं। भगवत्-चेतना में सामंजस्य और स्नेह है। अहं-चेतना के बीच आ पड़ने के कारण ही विषमताएँ शुरू होती और अभाव की जगह विविध भाव देने लगता है। सब द्वन्द्व इसी विषम विकार और वैषम्य से बनते हैं। इस वैषम्य का द्वार इन्द्रियाँ बनती हैं।

द्वन्द्व अहं-जन्य अप्रेममूलक

बाह्य-जगत् उतना ही भीतर पहुँचता है जितना इन्द्रियों के द्वारा मन लेना चाहता है। साथ ही उस रूप-रूप में पहुँचता है कि जो मन उसे प्रदान करता है। जिसके प्रति पहले से मन में विरोध हो वह असुन्दर और अमंगल ही दीखेगा। मानो हम बाहर वह देखते हैं जो चाहते हैं। इस तरह बाह्य-जगत् की सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। स्व के साथ ही पर में द्वन्द्व पड़ता है। जब स्व-पर के निमित्त से बने सब द्वन्द्वों की समाप्ति वहाँ ही सम्भव हो सकती है, जहाँ स्व-पर भाव पहुँचता नहीं

है। उसीको भगवत्-चेतना का स्तर कहा जाता है। जिसे प्रेम कहते हैं वह मानो उस चित्तप्रवाह का ही रूप है। अह उसमे विगलित होता है। और इसलिए व्यक्ति परम सुख अनुभव करता है। द्वन्द्व अप्रेममूलक होता है, दूसरे शब्दो में अह-जन्य होता है।

३३०. मन को कौन प्रेरित करता है कि वह बाह्य-जगत् को एक विशेष रग में रँगे और इन्द्रियों से विशेष आचरण कराये?

मन का आरम्भ

—कहिये अन्तर्मन बहिर्मन को प्रेरित करता है। मन के सिवा भी हम उस अन्तराभ्यन्तर के अनेक पटलो को निर्दिष्ट करने के लिए अन्य अनेक सज्ञाएँ बना सकते हैं। लेकिन उससे हमेशा सहायता नहीं होती है। कभी जटिलता बढ़ भी जाती है। इसीलिए कहा कि बाह्य-मन को अन्तर-मन प्रेरित करता है। अन्तर-मन को कौन प्रेरित करता है, यह सवाल हो तो अन्तरतर-मन कह सकते हैं। उसके आगे अन्तरतम भी कह सकते हैं। कहीं बुद्धि और प्रज्ञा शब्दो को मन के पार की सत्ताओ के रूप में दरसाया गया है। उन बहुत-से शब्दो के झमेले से कोई विशेष लाभ हाथ नहीं आता है। द्वन्द्व का मूल जहाँ से है, वहीं से मन का आरम्भ मान लीजिये। द्वन्द्व वहाँ कैसे प्राप्त होता है, इसकी खोज में आखिर मन से पार कहाँ जाया जायगा?

मन का मूल मूल-द्वन्द्व में

परमात्मा एक है। सब है, पूर्ण है। फिर द्वन्द्वस्थ जीव की सृष्टि कैसे और कहाँ से, अद्वैत मे द्वैत कहाँ से? यह प्रश्न जीवन-प्रश्न है। बुद्धि से उसका अन्त नहीं पाया जा सकता। मैं हूँ, इस आधार पर ही आगे की चर्चा सम्भव है। अपने होने के पार और तल के मूल हेतु मे उतरना आनुमानिक से आगे वैज्ञानिक नहीं हो सकता। मन जिस रूप-रग मे बाह्य को लेता है, वैसा क्यो लेता है, मन को कौन शासित और प्रेरित करता है? तो कहना चाहिए कि मूल द्वन्द्व में से पाकर मन प्रेरणा को इन्द्रियो की ओर भेजता है। इन्द्रियाँ फिर उस प्रेरणा की चालना से बाहर के प्रति उन्मुख होती हैं। जिस रूप मे उस बाह्य को फिर मन के द्वारा वे आदि द्वन्द्व में पहुँचाती हैं, उसीसे फिर प्रतिप्रेरणा का आरम्भ होता है। यह क्रिया-प्रतिक्रिया एक क्षण के लिए भी जीव में रुकती नहीं है। प्राण-विद्या और प्राणी विद्या जिन प्रक्रियाओ को जीवन के लिए अनिवार्य मानती हैं, मानो वे सब इसी मूल क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रतीक हैं। श्वास-प्रश्वास, निसर्ग-उत्सर्ग, प्रवहन और

प्रक्षेपण आदि-आदि सब उसीके मूर्त पर्याय हैं। अन्तर-बाह्य उस प्रकार परस्पर को थामता और अनुबद्ध रखता है। इस कहने में विशेष अर्थ नहीं है कि मन को वस्तु-जगत् प्रभावित करता है, कारण वस्तु-जगत् के लिए आत्म-जगत् में परिणत हुए बिना छुट्टी ही कब है। इसलिए यही कहना उचित है कि मन जो प्रेरणा पाता है, अन्तरतर से पाता है। और वह अपनी प्रेरणा अन्तरतम से पाता है।

यहाँ मैं नाना पारिभाषिक शब्दों को बचाना चाहता हूँ। क्योंकि उनसे कठिनता हो सकती है।

मूल-ग्रन्थि का स्वरूप

१११ मूल ग्रन्थि के स्वरूप को कौन निश्चित करता है, क्या व्यक्तिगत अहं का स्वरूप?

—हाँ बहुत हद तक। कारण अखण्ड अनन्त सत्ता की ओर से तो किसी [illegible] की अवधारणा ही नहीं हो सकती। अतः उसे अहं की ओर से ही जानना-समझना होगा।

नैतिक-अनैतिक

११२ नीति और अनीति की चेतना का तब इस अन्तर्ग्रन्थि की उत्पत्ति और उसके क्रम में क्या योग अथवा सहयोग आप मानते हैं?

—नैतिक वह सब है जो समष्टयुन्मुख है। अनैतिक अहंमुख होता है। प्रार्थना में अहं घुलता और स्वेच्छा से आर्द्र और विगलित होता है। नैतिकता भी इस तरह प्रार्थनामूलक माना जा सकता है।

अन्य अर्थ में अहं दृप्त और प्रमत्त होता है। इस भाव में से निकली प्रवृत्ति अनैतिक बनेगी।

११३ यदि अहंमुख चेतना ही अनैतिक है, तो कई बार ऐसा क्यों पाया जाता है कि कितनी ही प्रतिभाएँ पूर्ण रूप से अहमन्मुखी होकर भी आचरण में सदाचार और अनैतिकता का वर्जन करती दीखती हैं?

प्रतिभा अहं-शासित नहीं

—देखने और दीखने पर हमें विषय में निर्भर नहीं रहना चाहिए। अर्थ नहीं दीखता है, केवल रूप ही दीख पाता है। अर्थ का निर्णय अनुमान से करना होता है। और अनुमान स्वनिर्भर और स्वापेक्ष हुआ करता है।

प्रतिभा द्वन्द्वज होती है। जैसे पक्षी या उड़ान इस सिरे से उस सिरे तक डोलता है, प्रतिभा भी इसी तरह का डोलन करती है। अध्यात्मलीनता के निर्मल क्षण उसमें प्रतिबिम्बित दीखते हों, पर उसी प्रतिभा को आप घोर कीच-कर्दम में लिपटा गया देख सकते हैं। शराब में कभी आदमी जाने कितनी ऊँची बातें कर रहा होता है, दो-चार पेग और चढ़ने पर वही गटर में औंधे मुँह गिर जाता है। सच यह कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अहंशमित नहीं होते, इसीसे भगवान् और शैतान बारी-बारी से अपनी-अपनी विशेषताओं में पूरेपन के साथ उसमें झलक आते हैं। प्रतिभा इस तरह सदा एक दुर्बलता के साथ चलती देखी जाती है। अह पुष्ट और स्वस्थ हो, तो प्रतिभा के स्फोट का मानो कारण नहीं रह जाता है। दुर्बल अह अभी ऊँचा चढ़ जाता, तो अभी नीचे गिर आ सकता है।

अह की दुर्बलता उत्तीर्णता नहीं

इसीमे कहना होगा कि अह की दुर्बलता उसकी उत्तीर्णता नहीं है। शायद अह से मुक्ति उसे कुचलने, दबाने के द्वारा नहीं मिलनेवाली है। न उसको निराहार रखकर सुखाने मे वह लक्ष्य प्राप्त होगा। अह की स्वस्थता और परिपूर्णता मे से ही एक रोज स्वार्पण भाव पैदा होगा। धर्म इस तरह हृदय-दौर्बल्य में से नहीं साधा जा सकता। गीता के आरम्भ के अर्जुन को महाभारत मे से निकलना अनिवार्य हुआ। ऐसे ही उत्तीर्णता के लिए उस अह को अनायास फेंका नहीं जा सकता है, पूरे ससार-विग्रह मे से निकलना उसके लिए अनिवार्य है। अन्यथा सच्चे प्रकार की ऋजुता, मृदुता और आर्द्रता उसमे आ नहीं सकेगी। लज्जा, सकोच, भय यह अह के द्योतक हैं, शोधक नहीं हैं।

जो झूले मे झूलता एक ऊँचाई तक पहुँचेगा उसे प्रतिकूलता मे उतने ही पीछे लौटता हुआ देखने की तैयारी हमे रखनी चाहिए। सासारिक प्रतिभाओ से मानो यही पाठ हमे प्राप्त होता है। अह की भूमिका पर उस विपर्यास को समझने खोलने में कठिनाई नहीं रहती है।

अह और विवेक

३३४ ऊपर के उत्तर मे अह की दुर्बलता से आपका तात्पर्य क्या विवेक की दुर्बलता से है ?

—एक उक्ति चलती है गंगा गये गगादास, जमना गये तो जमनादास। कहते हैं पानी मे न रग होता है, न आकार होता है। जिस पात्र मे रखिये वही उसका

आकार है, जो रंग डालिये वही रच। इस प्रकार की कहावतों में दुर्बल अहं का चित्र पाया जा सकता है।

विवेक शब्द को चाहें तो अहं की जगह रख लीजिये। पर पूरा आशय उससे व्यक्त नहीं होता है। बड़ी जातियों में विवेक उभरा नहीं मालूम होता लेकिन दृढ़ व्यक्तित्व के पुरुष वहाँ मिल सकते हैं। यह मैं नहीं कहता कि व्यक्तित्व की दृढ़ता अहं की दृढ़ता है किन्तु इतना अवश्य है कि दृढ़ व्यक्तित्व में दुर्बल अहं नहीं हुआ करता। व्यक्तित्व की यह दृढ़ता हमेशा विवेक के आधार पर नहीं है संवेग के आधार पर भी कभी-कभी हुआ करती है। इसीसे विवेक की दुर्बलता का आशय कुछ-कुछ तर्कशक्ति की दुर्बलता के निकट पहुँच जाता है। अहं की दुर्बलता से मेरा यह आशय न था। आशय था वह व्यक्तित्व जो पत्ते की तरह हवा के रुख पर काँपता है, क्षण-क्षण स्थिति-परिस्थिति से ही अपनी प्रेरणा ले लेता है और एक लोक में दुष्ट और दूसरे में भक्त बना दीखने लगता है। इस परिवर्तन में कोई छल या कपट काम नहीं कर रहा होता केवल अस्थिर चित्तता हुआ करती है। उसको चाहें हो तो विवेक की दुर्बलता की भाषा में आप समझिये अन्यथा मुझे यह दुर्बलता मस्तिष्क की नहीं चित्त की ही मालूम होती है।

व्यक्ति इकाई की समग्रता

११५. अहं की उत्तीर्णता का क्या स्वरूप आपकी दृष्टि में है?

—व्यक्ति इकाई जिसमें जितना अधिक हो दूसरे शब्दों में समग्र और समन्वित होता जाय उतनी ही अहं की उत्तीर्णता माननी चाहिए।

प्रतिभा की ऊर्जा

११६. प्रतिभा की ऊर्जा का स्रोत आप कहाँ मानते हैं?

—बादल घने काले होते हैं तभी उनमें बिजली कड़ककर चमकती है जो क्षण के लिए आकाश को उजला कर जाती है। व्यक्ति इकाई की तीव्रता में से उपजती और चमकती है। भगवत्-चैतन्य सर्वव्याप्त है। उसके प्रकाशन के लिए आवश्यक है कि बिन्दु निमित्त बने। बिन्दु यह निमित्त बनता है, जिसकी बिन्दुता कम नहीं होती बल्कि अधिक होती है। ध्वनि समायी हुई है और एक ही आकाश में सारे स्वर समाहित और प्रवाहित हैं। रेडियोवाला घर में हो तो सुई को अमुक बिन्दु पर घुमाकर हम मनचाही धुन प्राप्त कर लेते हैं। अहं के बिन्दु की सार्थकता ठीक इसी जगह है। नहीं तो ब्रह्म के रूप में दर्शन न मिलें न अव्यक्त शब्द द्वारा प्राप्त हो।

ऊर्जा का स्वरूप

ऊर्जा जिसको कहा, वह गतिशील सचरणशील ही हो सकती है। गति-सचरण की कल्पना हम काल के विना नही कर सकते। अर्थात् वह ऊर्जा आदि द्वन्द्व के स्पर्श मे आकर स्वय ऊर्जा का रूप लेती है। उस अह-स्पर्श से पहले तो शक्ति का रूप शान्ति होता है।

जीवन-प्राण का मूल-गुण · व्यथा बेचैनी

आप देखेंगे कि जीवन-प्राण का मूल गुण सुख और शान्ति नहीं है। वह तो बेचैनी और व्यथा है। यह इस कारण कि विन्दुत्व और व्यक्तित्व प्राप्त होते ही शान्ति का धर्म पुरुषार्थ मे परिणत हो जाता है। व्यक्ति को चैन का अवसर नहीं है। निरन्तर बेचैनी को अपना स्वत्व मानकर प्राण-पण से अपना लेने के द्वारा ही उसे चैन मिल सकता है। शान्ति इस तरह उसके लिए साध्य भले हो, साधन के रूप में तो उसके पास सघर्ष और युद्ध ही रह जाता है। योद्धा के रूप मे जीता चले तभी मानो वह उत्तीर्णता की ओर बढ़ता है। द्वन्द्व से नीचे या पीछे जाने की उसे सुविधा ही नही है। अभेद मे से आदि पाकर भी सामने के भेद से मुंह मोडकर फिर अभेद मे लौटने की उसे सुविधा नहीं है। वह सम्भव नही है। भेद मे से आगे बढ़ते हुए ही उस इष्ट की ओर गति की जा सकती है।

अभेद मे भेद पडा, वहीं से ऊर्जा की सृष्टि माननी चाहिए। शान्ति को उसी विन्दु से शक्ति बनना पडा। ●

३

चेतना

चित्त

११७. आपने चित्त शब्द का उल्लेख किया है। चित्त को क्या आप मन, बुद्धि अथवा हृदय से कोई पृथक सत्ता मानते हैं?

—मन बुद्धि हृदय इनको ही समझने चलें तो इनकी सत्ताओं को पूरी तरह पृथक देखने में कठिनाई होगी। चित्त भी उस कठिनाई से बाहर नहीं है। यह कठिनाई कभी भी पूरी तरह पार नहीं की जा सकती। कारण, मूल से ही व्यक्तित्व द्वैत का मिश्रण है। ऐसे सब शब्द या तो अभीष्ट सन्दर्भ में प्रयुक्त होते हैं या उन्हें अन-भीष्ट अर्थ में लिया जाता है। चित्त अधिकतर अभीष्ट अर्थ में ही काम आता है। केवल इतने से यदि हम उसको मन-बुद्धि से अभ्यन्तर स्तर का पृथक भाग लें तो कोई हानि नहीं है।

सदसद्विवेक मन-बुद्धि से अधिक मूलगामी

११८. सत् असत् विवेक अथवा कॉन्शस मन बुद्धि और अहं इन तीनों में से किससे विकसित होता और बल पाता है?

—कान्शस और अहं की साथ उत्पत्ति माननी चाहिए। आदि द्वैत हमने स्वीकार किया कि अहं और भगवान् का है। अहं चेतना के स्तर पर ही मानो भगवत् प्रतिनिधि जो चेतना है, वही कॉन्शस है। अहं-चेतना ही जितनी यह मूलगामी है। यों भी कह सकते हैं कि व्यक्तित्व बहिःकरण और अंतःकरण के द्वन्द्व का परिणाम है। इस तरह अन्तःकरण या कॉन्शस मन-बुद्धि से अधिक मूलगामी है। यह भी इसीके समकक्ष मन-बुद्धि से मूलगत है।

११९. क्या कारण है कि मानव-चेतना इन्द्रियों के विषयों की ओर जितनी तीव्रता और अनिवार्यता से भागती है और उनमें रस लेती है, उतनी अन्तःकरण की ओर नहीं जाती और अन्तर्मुखी होने में कष्ट और प्रयास का अनुभव करती है?

चेतना की बहिर्मुखता दिग्भ्रम

नहीं, मैं नहीं मान पाता कि चेतना अनिवार्यता से अन्तःकरण से उल्टी जाती है, न वह अनुकूल गति परम अदम्य होती है।

प्रत्यंचा को जितना अपनी तरफ खींचा जाता है, वाण बाहर उतनी ही दूर तक जाता है।

पाप में भी आत्मा मिलती नहीं जाती है। बाहर की ओर इन्द्रियों की निरंकुश प्रवृत्ति को पाप कहते हैं। उन बाह्य विषयों में चाहकर भी आदमी डूब नहीं सकता। वह चाह अगर तीव्र दिखायी देती है, तो इसीलिए कि उसको नीचे से अन्तरंग का या आत्मा का डर धकेल रहा होता है। नितान्त बाह्य प्रवृत्ति मूल में तो एक पलायन है। जिधर को भागते लगते हैं, असल में उससे उल्टी दिशा के आकर्षण से भाग रहे होते हैं। अन्तःकरण की ओर से एक खींच है, जिसके प्रतिरोध के लिए बाहर की ओर प्रवृत्ति है। यह दिग्भ्रम है कि चेतना बाह्य विषयों की ओर जाती और अन्तरमन की ओर जाने से बचती है। सच यह कि चेतना अन्तरमन से अनिवार्यतया जुटी हुई है। यदि बाहर की ओर वह जाती है, तो यह भी उसके लिए अपने को सिद्ध और चरितार्थ करने की दृष्टि से संगत और उपयोगी ही हुआ करता है। पशु पाप नहीं कर सकता, मनुष्य कर सकता है तो इसलिए कि वह उस पद्धति से आत्माविष्कार कर सके।

३४० परम ऐन्द्रिक ज्ञानशून्य प्राणियों को उपनिषद् में अघेन तमसावृता कहकर वर्णित किया गया है। अर्थात् इन्द्रिय-लिप्तता का एक स्तर माना गया है। अरविंद भी प्राणियों के चेतना के विकास की दृष्टि से स्तर मानते हैं और सबसे नीचे स्तर को उन्होंने दैहिक अर्थात् फिजिकल कहा है। क्या आप नहीं मानते कि सांसारिक भोगों और इन्द्रियों के विषयों में पूरी तरह लिप्त प्राणी उच्च मानसिकता से विच्छिन्न होते हैं और वे निम्नतम कोटि के प्राणी होते हैं ?

पाप में परम लिप्ति असम्भव

—पूरी तरह लिप्त, इस भाषा को व्यंजक मानना चाहिए, वैज्ञानिक नहीं। मानव-प्राणी वहाँ लिप्त रह सकता है, पर लुप्त नहीं हो सकता। आप देखेंगे कि पूरी तरह लिप्त, अर्थात् लुप्त होने की कोशिश में ही शराब वगैरह के नशों का सहारा लिया जाता है। नशे की जरूरत ही इसलिए पड़ती है कि वह नशा है, सहज-स्वभाव हो नहीं पाता। अर्थात् लाख चेष्टा करने पर भी आदमी पाप में परम लिप्ति या तृप्ति नहीं पा सकता।

शास्त्र ने या ऋषि ने उस सम्बन्ध में अरुचि और जुगुप्सा पैदा करनेके लिए वैसा

रखा है जिससे कि हम बाज और नीद मे ही भूले न रहें। इससे अधिक उसमे उसको देखने की आवश्यकता नहीं है। अंधेरे से घिरे पथ मे ही उसका अभीष्ट स्पष्ट झलकता है। सत्यात्मक से अधिक यह सम्भावित विचारात्मक है।

सब ओर फैलना चेतना का स्वभाव

बाहर और अन्दर यह दो दिशाएँ अवश्य हैं किन्तु यह मानना कि चेतना के यह बस का कार्य है कि वह किसी एक दिशा में जाकर रह जाय चेतना को ही न समझना है। चेतना का स्वभाव ही सब ओर फैलना है। हमको यहाँ हमने भीतर और बाहर इन दो दिशाओं मे देखना चाहा लेकिन चेतना मे आगा और पीछा नहीं होता। उसमें कोई पीठ होती ही नहीं है, सब उसे सम्मुख है। अब होता यह है कि एक ओर का धक्का उसे दूसरी ओर धकेलता है। अक्सर देखेंगे कि बाहर की विफलता व्यक्ति मे अन्तर्मुखता पैदा कर देती है। इसी तरह मान रखना चाहिए कि बाहर सफलता की ओर गति शायद उसमे किसी अन्दर के धक्के से ही रही है। कौन जानता है कि नेपोलियन की सैनिक गतिविधियों के नीचे उसका हीन-भाव काम नहीं कर रहा था।

प्रकाश से सदा खिचना ही नहीं होता डरना और बचना भी हुआ करता है। सोना चाहते हैं तो हम कमरे की रोशनी को गुल कर देते हैं। जो अब अंधेरे की ओर जा रहे हैं शायद है कि वे प्रकाश से घबरा रहे हों। प्रकाश को भी सहना होता है जैसे कि अंधेरे को सहा जाता है। यह मानना कि अंधेरा स्वयं उस आदमी को असह्य नहीं हो रहा है, तर्कसंगत नहीं है। लेकिन अधिक सम्भव यह है कि वह ऐसी स्थिति मे आ पहुँचा हो कि प्रकाश उसे और भी असह्य हो।

शक्ति-प्रतिशक्ति का सिद्धान्त

विज्ञान का पहला सूत्र है कि प्रत्येक शक्ति के साथ समानता में प्रतिशक्ति होती है। उसीको यों भी कह सकते हैं कि प्रतिशक्ति शक्ति पैदा करती है। बाहर और भीतर मे यही प्रतित्व का सम्बन्ध मानना चाहिए। पापी बाहर बाधा जो दीखता है, तो अन्दर की कुरेद ही नहीं शेष रही है यह नहीं मान लेना चाहिए। इसमे देखा जाता है कि जो सचमुच सन्त बनते हैं वे सचमुच अपने को अधम और पापी गिनते हैं। यह बाह्याचार और शिष्टाचार की भाषा नहीं है यथार्थ मे ही उन्हें ऐसा अनुभव होता है। इसका विपर्यास यह भी सच है कि जो अपने को सर्वथा सज्जन मानते हैं, वही सर्वथा असभ्य हुआ करते हैं। इन तथ्यों मे उस शक्ति और प्रतिशक्ति की समतोलता का सिद्धान्त प्रतिफलित देखना चाहिए।

सत्य में स्तर-भेद नहीं

सामान्यतया सत्य को स्तरों में बाँटकर देखने के हम आदी हैं। शायद बुद्धि की प्रक्रिया यही है। श्री अरविन्द और दूसरे लोग वैसा करें, तो यह स्वाभाविक ही है। दैहिक, प्राणिक, मानसिक और फिर अतिमानसिक स्तर माने जायँ और चेतना की प्रक्रिया को उस प्रकार ऊर्ध्वता की दिशा में बढ़ता हुआ समझा जाय, तो एक चित्र मन में उतरता है और उससे प्रेरणा भी प्राप्त हो जाती है। लेकिन जो सत्ता सर्वव्याप्त है, और निश्चय ही सत्यता और भगवत्ता सर्वव्याप्त है, तो उसमें होनेवाली मुक्ति केवल इधर से हटकर उधर जानेवाली गति का नाम नहीं हो सकती। प्राणियों में तरतमता अवश्य देखी जा सकती है, उससे विवेक को सहारा होता है। लेकिन यदि हम व्यक्ति को समष्टि और खण्ड को अखण्ड के सन्दर्भ में देखें तो जान पड़ेगा कि साधुता और दुष्टता इस या उस आदमी की अपनी सम्पदा नहीं है। इन पर उनका कोई इजारा नहीं है। तब दुष्ट और साधु में समदर्शिता की स्थिति आ सकती है और ज्ञान के लिए वही वैज्ञानिक स्थिति चाहिए। दुष्ट और साधु कहकर वर्ग बना डालने में कोई कठिनाई नहीं है, शायद व्यवस्था का काम उस तरह चलता भी है। लेकिन उनमें एक ही मानव-तत्त्व और निर्गुण-तत्त्व देखने के प्रयास में से ही ज्ञान एवं विज्ञान का प्रकर्ष साधा जा सकता है।

अध्यात्म में श्रद्धा से ही लाभ

दैहिक और मानसिक तो चलिये स्तर हो भी सकते हैं, लेकिन आध्यात्मिक को भी उसी तरह एक सबसे ऊपर का स्तर मान लिया जायगा तो फिर सर्वव्यापी होने के लिए क्या रह जायगा ? इसलिए इस क्षेत्र में बुद्धि से अधिक मैं श्रद्धा के उपयोग का कायल हूँ। बुद्धि किसी भी प्रकार दुष्ट और साधु में समता देखने का समर्थन नहीं कर सकती। फिर भी उस साम्य दर्शन के आधार पर ही वर्ग-भेद से हम मानवता को छुटकारा दे सकते हैं। श्रद्धा के सिवा उस साम्य-दर्शन के साधन का कोई उपाय नहीं है।

पाप की सृष्टि हितार्थ

इसीसे कहता हूँ कि पापी को दुखी मानिये। आप जितना दण्ड दे सकते हैं, उससे गहरा दण्ड वह स्वयं पा रहा होता है। पाप शब्द ही सम्भव न रह जाता, अगर हम मान लेते कि पापी में आत्मा नहीं है। अगर आत्मा है, तो सच मानिये कि इधर चाहे पाप में कितना भी मद-मत्त भाव दिखाई देता हो, उधर आत्मा पर उतने ही

सम्प्रेष भाव का दबाव पड़े बिना नहीं रह रहा है। सब पाप की सृष्टि शिवात्मा की ओर से मनुष्य के हित के लिए ही हुई है।

व्यक्ति को सन्दर्भ में देखें

मैं नहीं चाहता व्यक्तिवादी विचार में लिए इतना अवकाश हो कि कोई अपने को उत्कृष्ट आसन पर मानकर ऐसा आत्म-तुष्ट बने कि दूसरे को सर्वथा निकृष्ट मानने लग जाय। गुणावगुण को व्यक्तिगत मानने से सर्वथा हम दूर निकल जायँ यह आवश्यक नहीं। लेकिन सामाजिक और सामष्टिक सन्दर्भ में हम व्यक्ति को रखकर देख सकेंगे तभी समत्वशील बन सकेगा। समर्पिता पाकर मानो हम सभी रागद्वेष पूर्ण आसक्तियों से ऊपर उठ सकेंगे।

जड़ता के परदे

१४१ क्या हम सभी यह अनुभव नहीं करते कि हमारी चेतना पर एक के ऊपर एक अज्ञान और जड़ता के परदे पड़े हैं और प्रकाश कहीं नहीं है। जो किंचित् ज्योति किसी झरोखे से आती दीखती है, उसीकी तरफ हम भागते हैं। किसी घटना-विशेष से अथवा किसीके सम्पर्क से लगता है कि जड़ता का एक परदा हटा और प्रकाश का नया कोना मिला। पर कितने ही परदे अब भी बाकी बने रहते हैं और हम उनके नीचे विवश दबे पड़े रहते हैं। चेतना की इस विवशता का आप क्या विश्लेषण करते हैं?

मनुष्य मूल में दिव्य

मैं मानता हूँ कि आवरण हैं और वे स्वयं हमारे स्वभाव पर लिपटे और पड़े हैं। प्रकाश बाहर नहीं है, अन्तर्गत है। जड़ता हमारी दिव्यता पर पड़ी हुई है। मूल में मनुष्य दिव्यत्व से बना है।

इस विश्वास से प्रश्न का रूप बदल जाता है। प्रकाश बाहर है और हमारे स्वभाव में आवरण उसको हमसे ढँके हुए हैं यह रूप न रहकर प्रश्न यह बन जाता है कि हमने ही अपने अन्तःप्रकाश पर नाना आवरण लपेट रख हैं। अर्थात् स्वभाव को दूर करना नहीं बल्कि उसको प्राप्त करना लक्ष्य बनता है।

प्रकाश बाहर का नहीं अन्तर्ज्योति का

बाहरी व्यक्ति अथवा घटना से जो बहुधा हमें प्रकाश मिलता है वह असल में अपनी ही अन्तर्ज्योति का प्रकाश होता है। बाह्य अवसर या तब मानो हमारे अदृश्य

मे थोडी देर के लिए एक तरेड डाल देता है और भीतर का प्रकाश सहसा ही फूटता हुआ हमे दिखायी दे आता है।

अन्यत्व भाव ही अज्ञान

मैं मानता हूँ कि वह अह-चेतना जो हर शेप के प्रति अन्य भाव पैदा करके चलती है प्रकाश से वचित रहती है। तव समस्त शेप हमारे लिए वन्धन और मर्यादा वन जाता है। इस चेतना द्वारा जितना भी प्रयास करेंगे, जडता के पटल कम होते नहीं प्रतीत होंगे। इस चेप्टा मे अपनाया गया वोव हमारे वन्वन को वढ़ाता जान पडे, तव मुक्त की जगह हम अवरुद्ध अनुभव करते जायेंगे ।

अह-रति में प्रेम असभव

इसके विरोध मे वे क्षण जव अन्यत्वभाव क्षीण होता और आत्मीयभाव वढता है प्रकाश-लाभ और आत्म-लाभ के जान पडते हैं। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि हमने चेष्टा करके अपने आवरणो को एक-एक कर हटाया है, मालूम ऐसा होता है कि जो सच ही था उसे हमने सहज स्वीकार कर लिया है, विशेप चेप्टा की आवश्यकता नहीं हुई है। आवरण वीच मे कहाँ तिरोहित हो गये ह, पता ही नहीं चलता। जैसे सहसा हमने अपने को पहचान लिया और उस घटना अथवा प्रसग मे पा लिया है। चेतना मे विवशता का वोव अहचालित और अह-प्रताडित होने के कारण होता है। जिसे स्नेह और प्रेम कहते हैं, मानो वह समष्टि की ओर से आया ऐसा झोका होता है कि अह एक साथ शिथिल और स्फुरित हो जाता है और इस तरह व्यक्तित्व अपने-आप प्रसार पाने लगता है। प्रेम, अर्थात् 'उस' मे अपने अथ को देखने का आरम्भ। यह दर्शन अह-रति के साथ हो नहीं पाता, इसीसे अह-तप्त चेतना मानो सदा हारने को तडपती रहती है। होश खो सके तभी वह वेहोशी आती है, जहाँ अन्य प्रथम और स्वय द्वितीय वन जाता है। होश रहता है, तव तक हम अन्य को सदा स्वय के लिए मानते और उसी तरह व्यवहार करते हैं। यदि चेतना अस्मिता के अधीन रहे तो फिर लाख चेप्टा पर भी हम इस वासना से छुट नहीं सकते कि अपनी प्रधानता के लिए सव दूसरो का उपयोग साध ले। यह अस्मिता यदि किसी कारण स्तब्ध और स्थगित होती है, तव देखते हैं कि हमारी चरितार्थता हममें वन्द नहीं थी, नहीं है, मानो वह सव शेप मे मिली व्याप्त है।

चेतना अह सम्बन्धी

जिसको चेतना कहा वह अह से परिचालित हुए विना नहीं रहती। इसीसे होश से वढ़कर वेहोशी को माना जाता है। चेतना की यह वडी भारी वेवसी है कि वह

स्व से छूट नहीं पाती। सच यह कि जिस क्षण छूटती है, वही क्षण उस चैतन्य की मुक्ति के हो जाते हैं।

संकल्प और विभोरता

आप देखेंगे कि परदे एक-एक कर हटाने से नहीं हटते हैं। शायद संकल्प-बल से वे हट भी नहीं सकते। कारण संकल्प अहंता में से निकलता है और परदा अभ्यास को हमारे निकट और कठिन क्लिष्ट ही बनाता है। संकल्प से एक उलटी वस्तु है जिसे लीनता और विभोरता कहा जा सकता है। मानो संकल्प से जो अप्राप्य बना रहता है, वह उस लीन विभोर स्थिति में अनायास प्राप्त हो जाता है। परदे हट जाते हैं और पर से हमें और हमसे पर को सहजता प्राप्त होने लगती है। मानो हम दो हो ही नहीं परस्पर हों और एक हों।

इस विकलता को लिये लिये ही हमें जीना होता है। कारण हम अन्तरात्म के साथ एक नहीं हो पाते। इस तरह हर बाह्य हमारे लिए अवरोधक बन रहता है। ●

४

संस्कारिता

सस्कार, कर्म-बन्धन

३४२ क्या परदो को आप सस्कार अथवा कर्म-बन्धन कहना पसन्द करेंगे ?
—कहिये।

३४३ संस्कारों का उद्‌गम आप कहाँ मानते हैं ?
—बात यह कि मैं हो ही इस शर्त पर सकता हूँ कि मेरे लिए तुम और ये-वे भी रहें। इनके घात-प्रतिघात का प्रभाव पडता ही रहता है। सस्कारो की उत्पत्ति यही से माननी चाहिए।

मूल सस्कार दिव्यता, चिन्मयता

व्यक्ति शायद निर्गुण नही पैदा होता। फिर गुण कहाँ से लाता है? कहाँ से लेता है? यह तो स्पष्ट हुआ कि व्यक्ति अपने मे से ही नहीं है, परस्परता मे से वह होता है। अर्थात् गुण पारस्परिकता मे से लेता है। लेकिन लाता कहाँ से है, यह प्रश्न हो तो कहना होगा रक्त मे से लाता है। सृष्टि मिथुन के योग से बनती है। वह मैथुनी है। इन दो को नर-नारी की सज्ञा दी गयी। कहना चाहिए इन माता-पिता से वह सस्कार लाता है। वे स्वय अपने सस्कार कहाँ से लाते हैं ? तो प्रश्नशृखला से हमे प्राणी-विद्या के सहारे दूर अतीत मे उन सस्कारो की आदि के लिए पहुँच जाना पडता है। शायद इसी पद्धति से डारविन महोदय ने कहा कि आदिम मानव-सस्कार पशु-सस्कार हैं। लेकिन मानव से पशु तक आकर यदि उन सस्कारो के जन्म के सम्बन्ध मे हम सन्तोष न मान लेना चाहें, तो आगे बढ़ते-बढ़ते कहाँ पहुँचते हैं ? वहाँ पहुँचते हैं कि जहाँ स्वय जीव और जीवन की सृष्टि हुई। और भी पीछे चलें, तो कहाँ पहुँचते हैं ? वहाँ कि जहाँ आदि तत्त्व परस्पर-सघात में प्रवृत्त हुए। इन आदि तत्त्वो से चलकर एक दिन सचेतन सृष्टि हो जाती है तो क्यो ? कारण यही हो सकता है बीजरूप मे सच्चिदानन्द आदि-तत्त्व मे ही गर्भित था। तो इस तरह आदि-संस्कार

नारीभाव और व्यक्तिभाव में अन्तर्भूत चिन्मयता का ही आता है। शेष सब संस्कार उस पर ऊपर से चढ़े हो सकते हैं। मूल संस्कार यह दिव्यता और चिन्मयता है।

संस्कारिता परस्परता में से

एक समय यह आया कि जहाँ जीव में से जीव की सृष्टि हो निकली। जीव अपने को दो दो में बाँट लेता और इस तरह गुणानुगुणित होता जाता था। एक में ही यह लिंग समाया था। फिर नरत्व और नारीत्व में यह पृथक भी हो चला। मैं मानता हूँ कि संस्कार देने और प्राप्त करने की भूमिका वहीं उत्पन्न हुई। इससे पहले स्व-परता या परस्परता भी ही नहीं। परस्परता के साथ संस्कारिता आयी।

स्त्रीभाव-पुंभाव

होने का आरम्भ हुआ मैं से है। 'मैं' के साथ ही 'यह' हो आया। स्व-पर की द्विधा पड़ते ही 'मैं उसमें हूँ' 'वह मुझमें हो' इस प्रकार के भावों के लिए सृष्टि में अवकाश मिल गया। यहीं से संस्कारों को जन्म मिला। मैं उसमें हूँ यह भाव पुंभाव बना। वह मुझमें हो यह स्त्रीभाव हुआ। इस प्रकार पुरुष-स्त्री भावों के द्वारा जैसे जीव ने अपने को और सृष्टि को पाना और प्रकट करना चाहा। इसमें नाना संस्कार उसने लिये और लिये पर उनके मूल में दिव्य आत्म-भावना की ही यह स्फुरणा थी कि सब सच्चिदानन्दमय हो व्यवधान परस्पर उपलब्धि की चेष्टा बनाने मात्र के लिए हो। अन्यथा व्यवधान नहीं है द्वैत नहीं है।

संस्कार प्रतीति से उत्पन्न

सच यह कि संस्कारों को हम व्यक्ति-में मानते हैं पर वे प्रतीति से पैदा होते हैं। उस परस्परता में से प्रतिबिम्ब बनते-बिगड़ते रहते हैं। उन पर स्वत्वाधिकार किसी का नहीं है। न वे किसी समय प्रति निश्चित हो पाते हैं।

१४४ मैथुन अथवा रज-वीर्य-संयोग शुद्ध रूप से एक भौतिक और दैहिक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया एक विशेष को पकड़ पाने में जब समर्थ हो जाती है, तो हमारे सारे बाह्याचार अथवा दैनिक व्यापार क्यों हमारी आत्मस्थिरता और आत्मोन्मुखता को प्रभावित और सीमित-निश्चित करने में समर्थ नहीं होते हैं?

बाह्य व्यापारों का चरितार्थ एकत्व संयोग

—मैथुनी आकर्षण हो सकता है कि वैयक्तिक स्तर पर सबसे मौलिक प्रभावकता हो। लेकिन शेष दैनिक व्यापार प्रभावहीन होते हैं ऐसा तो मैंने नहीं कहा।

करते रहते हैं लेकिन प्रभाव का पता नहीं चलता। ऐसा ही प्रायः घटता है कि हम कहीं व्यस्त और मग्न हैं और आँखें देखती हुई भी नहीं देख पाती हैं। यह इसी कारण होता है कि अहं का योग उन्हें नहीं मिलता और इस तरह सब बेकार हुआ रह जाता है। समाधि अवस्था में जो कुछ भी संसार की प्रतीति नहीं हो पाती है सो उसका भी सार यही है। अहं को यदि और जहाँ हम लीन कर पायें तो उसके सिवा कुछ भी अन्य बोध हम तक नहीं पहुँचता। द्रोणाचार्य ने पूछा तो अर्जुन को वृक्ष नहीं दीखा चिड़िया तक नहीं दीखी, सिर्फ उसकी आँख ही दिखाई दी। यह उसकी आँख की असमर्थता नहीं थी एकाग्रता की ही विशिष्टता थी कि सब इन्द्रियों का व्यापार एक बिन्दु में केन्द्रित हो रहा और बाधा के बजाय वह स्वार्थसिद्धि में साधन बन गया। इन्द्रियाँ इस तरह बिखराने और बहकाने के लिए ही नहीं हैं वे हमारी एकाग्रता को सफल करने में काम भी आ सकती हैं।

१४९. तब क्या आप मानते हैं कि जिन महान् योगियों ने अपने अन्तरंग को साध लिया है और द्वन्द्व की स्थिति को लगभग समाप्त कर लिया है उनके बाह्याचार और ऐन्द्रिक व्यापार उनके अन्तरंग को किसी कर्मबन्धन के द्वारा संस्कार में नहीं बाँधते?

बन्धन निःसंस्कारिता का नाश

—कैसे बन्धन में बाँध सकते हैं अगर अन्दर और बाहर के बीच सुसंवादिता व्याप्त हो चुकी है? बन्धन वैषम्य और विग्रह के अनुभव का ही नाम है। मुक्तावस्था में जिस भाव की अनुभूति होती होगी उसे मुक्त-भाव आनन्दभाव कहना चाहिए।

कृष्ण की निर्द्वन्द्वता

१५०. तब क्या आप गीता के कृष्ण की स्थिति को स्वीकार करते हैं जो कई हजार रानियाँ अपने हरम में रखकर और नीति कूटनीति द्वारा पाण्डवों को महाभारत के युद्ध में धकेलकर भी निर्लिप्त और मुक्त बने रहे?

—कृष्ण पुराण-पुरुष हैं। यथार्थ पुरुष के रूप में उनको विश्लेषण में लाकर आप उलझन में पड़ेंगे। हाँ सामान्य मान्यता के लिए कृष्ण अवतार-पुरुष हैं। सम्पूर्ण वे प्रसन्न थे और महाभारत जैसे महायुद्ध के बीच भी उनकी मंगलमय वृत्ति अक्षुण्ण रही मानी जाती है। उन कृष्ण को हम अपने जाने-माने परिचित लोगों की तरह चार या विचार में नहीं ले सकते हैं।

५

कामासक्ति, सस्पेन्स, रस

अतिशय ऐन्द्रिकता कुंठा का परिणाम

३४८ क्या अतिशय ऐन्द्रिकता मन और विवेक को कमजोर बनाती है?

—अतिशय शब्द मे ही है कि कहीं दूसरी ओर दबाव है तो इसीसे इधर उछाल है। वह अतिशयता उस प्रकार की कमजोरी मे से आती भी है और उस कमजोरी को बढाती भी है। मानना यही चाहिए कि ऐन्द्रिकता की अतिशयता म इन्द्रियो की अस्वस्थता प्रकट होती है। ऐसा मनुष्य स्वस्थ नहीं है। स्वस्थभाव मे इन्द्रियाँ सहज और सयत रूप मे ही काम करेंगी, असयम और अमर्यादा मे जाने की उकसाहट उन्हें न होगी। वह उकसाहट दमन मे से आया करती है। मन और विवेक द्वारा जब इन्द्रियो का सचालन नही, बल्कि शासन और दलन होने लगता है तब इन्द्रियो के लिए मानो भीतर बारूद इकट्ठी होती है जो समय पर विस्फोट मे फूटे। किन्तु यह निरन्तर जारी रहनेवाली प्रक्रिया है। दमन मे से इन्द्रिया के अमर्यादित व्यवहार को उत्तेजन मिलता है, उस अमर्यादित व्यवहार से चित्त-विवेक पर दबाव पडता है। इस प्रकार क्रिया-प्रक्रिया की ऐसी लडी हो जाती है कि मानो वह अनिवार्य ही हो। किन्तु यह निश्चित माना जा सकता है कि इन्द्रियो की उच्छृखलता कभी प्रकृत और सहज नहीं होती और स्वय उसीको क्लेश और कष्ट पहुँचाती है जो ऊपर से उनमे मस्त और मग्न मालूम होता है। सक्षेप मे यह जान लेना चाहिए कि ऐन्द्रिक स्वच्छन्दता कुण्ठा का परिणाम है और बाहर की ओर बढनेवाली चचलता भीतर की दृढ़ता नही बल्कि बेचैनी की परिचायक है।

३४९ जितनी प्रकार की भी इन्द्रियों की आसक्तियाँ हैं, उनमे कामासक्ति को सर्वप्रमुख और सर्वशक्तिमान् क्यो माना गया है?

लैंगिक योग की भूख प्रबलतम

—माना ही नहीं गया है, सर्वशक्तिमान् वह है भी। अन्य इन्द्रियाँ वस्तु को मानो बिना खींचे भी उसका अववान् प्राप्त कर लेती हैं। इसीलिए उनके द्वारा प्राप्त

की कमी स्व-परता या परस्परता मानो अपर्याप्त रहती है। हम अपने स्वत्व को समस्त में एकदम मिलाकर खो दे सकें यह माँग फिर भी बनी ही रहती है। शरीर को लेकर दो प्राणी अनिवार्यतः दो हैं किन्तु मुक्त दो नहीं हैं। इस मूल एकता की सम्प्राप्ति प्राणी का लक्ष्य है। अन्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त परस्पर बोध में से एकत्व की यह चरम अनुभूति नहीं होती। इसलिए लैंगिक भोग की भूख प्राणी में बेहद प्रबल होती है। स्व-परता ही नहीं परस्परता तक को मिटाकर जब मिथुन जबरदस्ती एक-दूसरे में मानो अपने को खत्म कर डालने मार तक डालने को उद्यत होते हैं तो यह मैथुनी भोग किसी से कम प्रबल कैसे हो सकता है? भोग दृष्टि मैथुनी इसीलिए है कि इसी क्रिया में स्वत्व-विसर्जन की अदम्य चेष्टा है। यहाँ मानो क्षण के लिए ही सही समस्त द्वैत नष्ट हो रहता है। और तो और, धर्माधर्म हिंसा-अहिंसा आदि विचार-अविचार का द्वैत भी यहाँ नहीं रहता। हिंसा भाव में मानो यहाँ प्रेम की कृतार्थता अनुभव हो जाती है। सभ्य व्यवहार में जिन्हें बर्बर और अमानुषिक मानते हैं ऐसे काटने नोचने आदि के कृत्य मानो परस्पर को आनन्द और तृप्ति देनेवाले होते हैं। इस मिथुन-बोध में मानो हमारा सब अहंत्व लुप्त हो जाता है। अहंकार द्वारा हम कितना ही मैथुन को निम्न बीभत्स और गर्हणीय मानें लेकिन हमारा मानना किसी काम नहीं आता। हम प्रकृति के हाथ मानो यहाँ खिलौना मात्र रह जाते हैं।

दर्पियों व बौद्धिकों में मिथुनाचार

आप देखियेगा कि बुद्धिशालियों में यह मैथुनी विवशता सीमा तक पहुँच जाती है। जो दर्पी और अभिमानी होते हैं उन्हें मानो प्रेयसी के तमाचे खाते और लात खाये बिना तृप्ति नहीं हो पाती। एक शब्द है मैसोचिज्म अर्थात् कष्ट और घाव में से तृप्ति लेना। दर्पी व्यक्तियों के मिथुन प्रयोगों में यह चेष्टा अक्सर देखी जाती है।

काम-चेष्टा दुर्निवार

यह सब इसीलिए कि अहं और अभिमान के आधार पर चलनेवाले जीवन को एक सन्तुलन प्राप्त हो। मैथुन मानो अभिमान से दूसरे सिरे की ओर की प्रक्रिया है। उसमें व्यक्तित्व में दर्प-खण्डन होता और सामञ्जस्य आता है। इसी कारण काम चेष्टा परम दुर्निवार है। उसको मूल शक्ति भी माना जा सकता है।

१५ परम दुर्दर्ष योद्धाओं के चरितों से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि उनका कामाचार जैसे उनके अहं को विगलित न करता हो बल्कि और अधिक पुष्ट और उग्र ही बनाता चल रहा हो?

कामाचार अहं का शमन नहीं करता

—कामाचार कभी अहं का शमन नहीं कर पाता। किन्तु उसका शमन और विगलन आवश्यक तो है ही। इसीलिए काम-चेष्टा में दुर्दम्य वेग पड़ जाता है।

दुर्द्धर्ष सदा प्रेम का प्रार्थी

किन्तु स्वयं कामाचार में अहं का तात्कालिक दमन और क्षरण न होता हो, यह सम्भव नहीं है। आपने किन दुर्द्धर्ष योद्धाओं के चरित्र की अन्तरंगता को प्राप्त किया है? अन्तरंग सदा गहरे अध्ययन का विषय होता है और मुझे निश्चय है कि उनका अन्तश्चरित्र प्राप्त होगा, तो इस मान्यता की यथार्थता और पुष्ट और प्रमाणित ही होगी। ऐसे पुरुषों के प्रेम-पत्र शायद कुछ मिल भी सकते हैं। उन्हें आप देख जाइये। आप पाइयेगा कि वे हर जगह प्रेम के प्रार्थी और अपने को हद तक चुकाने को आतुर हैं। वे अपने को निछावर कर देना चाहते हैं, आकांक्षी हैं कि उनके इस अहं के अर्घ्य को कोई ले और चाहे तो उसे स्वाहा ही कर दे। मेरे समझने में अब तक ऐसा कोई प्रेमाचार नहीं आया, जिसमें अहं का समर्पण न हो। तात्कालिक रूप से यह होना अनिवार्य ही है।

दुर्द्धर्षता प्रतिक्रिया

यह अवश्य सम्भव है, बल्कि इससे आगे अनिवार्य है, कि इस तात्कालिक अहं के विसर्जन के बाद उस अहं में प्रतिक्रियावश और कसावट आ जाय। बल्कि सच यह कि दुर्द्धर्ष पुरुषों की दुर्द्धर्षता इसी भोगाचार में से स्नान करके पुनः पुनः हठीली और निर्मम बना करती है। किन्तु इस परिणाम में से भोगाचार की इस प्रकृति को गलत समझने का अवकाश नहीं है कि उससे अहं का गलन होता है।

३५१ कौनसे वे तत्व हैं जो दो विपरीत लिंगियों को परस्पर निकट खींचते हैं और उनमें क्षणिक अथवा स्थायी शरीर-सम्बन्ध स्थापित करते हैं?

मैं शेष से अलग नहीं रह सकता

नरत्व के मूल में है कि मैं उसमें होऊँ। नारीत्व के मूल में कि वह मुझमें हो। पहले ही कहा गया है कि मैं और शेष एकदम अलग हो नहीं सकते। नाना सूत्रों से उनमें सम्बन्ध बनने और सम्पन्न होने में आता है। यहीं से 'वह मुझमें हो' और 'मैं उसमें होऊँ' इन चेष्टाओं को जन्म मिलता है।

स्त्री-पुरुष की परस्परता नित्य

इस तरह स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक हैं। अपने में दोनों आधे और अधूरे हैं। पूरे बनने के प्रयास से वे छूट नहीं सकते। स्त्री जब तक स्त्री है, पुरुष की आवश्यकता में है। यही पुरुष के साथ सच है। जब स्त्री और पुरुष एक-दूसरे को अपने में सत्य और नित्य भाव से धारण कर पाते हैं तब मानो वह स्थिति आती है जिसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। क्योंकि तब वह स्वस्थ होता है शेष भी उसे स्वस्थ होते हैं और पूरक-पूर्ण भाव उसका ब्रह्म अर्थात् अखण्ड के प्रति ही रह जाता है। संसार में से उसे पूर्णता पाने का भ्रम नहीं रहता। उसकी चर्या ब्रह्म की चर्या हो जाती है।

ब्रह्मचर्य का सत्य स्वरूप

स्पष्ट है कि इस ब्रह्मचर्य की सिद्धि तब तक नहीं है जब तक पुरुष स्त्री में अपने अपने लिए केवल पुरुष और केवल स्त्री होने का भाव है। यह भी स्पष्ट है कि शारीरिक रूप से दोनों दूसरे को नित्य भाव से अपने में ले नहीं सकते। जिस विधि से वे स्थायी भाव से एक-दूसरे को अपने में धारण कर सकते हैं वह गुणात्मक रह जाती है। हम अन्त में क्या हैं प्रतीक ही तो हैं। गुण हमारे द्वारा व्यक्त हो रहा है। सार वही है हम उसके लिए सूचन और माध्यम भर हैं। तो उस सार को अवश्य अपने में प्राप्त और धारण किया जा सकता है। स्त्री कोमल गुणों की प्रतीक है पुरुष साहस और पराक्रम का। इन गुणों में संगम और समवाय अवश्य साधा जा सकता है। इस विधि पुरुष अपने में स्त्री को और स्त्री पुरुष को प्रतीति भर सकते और एक-दूसरे से उत्तीर्ण हो परम ब्रह्म से सीधी भक्ति का सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। इस अवस्था में मानो वह सांसारिक आकर्षण-विकर्षण के सिद्धान्त से पार पहुँच जाते हैं। धरती के गुरुत्वाकर्षण से इतने मील ऊपर जाने पर जैसे मुक्ति मिल जाती है वैसे यहाँ भी समझ लीजिये। उससे पहले विपरीत लिंगियों का परस्पर आकर्षण गुरुत्वाकर्षण की तरह ही अनिवार्य है।

१५१ यह आकर्षण किसी एक के प्रति अथवा सबके प्रति क्यों समानान्तर प्रवृत्त हो सकता है?

गुणात्म-संलाप की प्रक्रिया

—आकर्षण अप्रवृत्त कैसे रह सकता है? फिर प्रश्न रह जाता है कि आकर्षण अपेक्षाकृत क्यों एक के प्रति अधिक और दूसरे के प्रति कम होता है? इस तर तमता के लिए नाना सम्भव कारण हो सकते हैं। स्वयं व्यक्तित्वों की बनावट

बनावट और बाहरी-पारिवारिक-स्थानीय-सामयिक सुविधा-असुविधा का अवग
प्रकृति मे चुनाव और छटाव की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। हमारे द्वा
भी वह काम करती है और हम एक की अपेक्षा दूसरे की ओर अधिक झुक
या खिचते हैं।

प्रकृत आकर्षण और विवाह

आकर्षण स्वयं एकमुखी या एकाग्र होता है, यह नहीं मानना चाहिए। वास
वह अंश का अखिल के प्रति है। वह सामान्य और व्याप्त है। समय और स्था
की अपेक्षा मे एकाग्रता जो दिखाई देती है, वह तो सिद्धान्त से घटित घटना बन
के निमित्त अनिवार्य है। केवल माना जा सकता है कि प्रकृत भाव मे वह आक
र्षण एकोन्मुख नहीं है। व्यवस्था की दृष्टि से विवाह द्वारा उसे केन्द्रित बना
मे हमने सुविधा देखी है और उस संस्कार की सृष्टि की है। वह संस्कार इस सामा
आकर्षण के सिद्धान्त को उपयोग मे लेता और उससे लाभान्वित होता है। इस
आगे यदि संस्कार सिद्धान्त की ही सामान्यता पर आघात करने लग जाय, त
उस संस्कार मे से अनिष्ट भी फलित हो सकता है। संस्कृति प्रकृति को अवका
देते हुए चलती है, अन्यथा प्रकृति से विपरीत जाने पर संस्कृति स्वयं विकृत औ
पराभूत होगी। इसलिए विवाह को स्वत्वमूलक आधार देने और उसकी रक्षा
ईर्ष्या-द्वेष आदि को उचित ठहराने मे स्वयं विवाह की ही हानि है। इस तरह तथाम
संस्कृति मानो प्रकृति के विरुद्ध ठनकर अपने लिए संकट का आह्वान करती है
आकर्षण सामान्य, निरपवाद और सर्वोन्मुख होता है। इस तथ्य के साथ हमार
सन्धि कुण्ठाहीन और प्रसन्न होनी चाहिए। अन्यथा संस्कार के नाम पर हम विका
पैदा करने मे कारण हो सकते हैं।

३५३ क्या सेक्स के स्थान पर कुछ और ऐषणाएँ अथवा आसक्तियाँ हैं, जो उतन
ही तीव्र और रसीली हों? मनोविज्ञान मे एक क्लेप्टोमेनिया का जिक्र आता है
इसके बारे मे कहा जाता है कि उसके शिकार व्यक्ति को उद्देश्यहीन अथवा कारण
हीन चोरी मे उतना ही आनन्द आता है, जितना सम्भोग मे आ सकता है। इस
विषय पर आपका क्या कहना है?

हर कामना में काम गर्भित

—सेक्स अन्त मे तो प्रतीक है। स्त्री के प्रति जो राग-मोह अनुभव मे आता है,
वह दूसरे प्रतीक पर भी क्यों नहीं स्थानान्तरित हो सकता। स्त्री-शव के साथ
सम्भोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। स्त्रीत्व वहाँ नहीं है, केवल शव पदार्थ

है। फिर भी वहाँ कामेच्छा का आरोप कर दिया जाता है। इच्छा मात्र को जो हमारी भाषा में कामना कहा गया है तो इसीमें यह ध्वनित है कि हर कामना में काम-तत्त्व का समावेश है।

क्लेप्टोमेनिया विक्षिप्ति का रूप

फ्रायड महाशय ने इस प्रकार की नाना चेष्टाओं और स्वप्नों को अन्त में काम से जोड़ दिखाया है। क्लेप्टोमेनिया जिसको आपने कहा वह काम का विरोधी या प्रतिद्वन्द्वी हो यह आवश्यक नहीं है। वह स्वयं कामजन्य हो सकता है।

सच यह कि व्यक्ति अपने में इतना अपूर्ण है कि नाना इच्छाओं द्वारा शेष सबकी ओर अपना सम्बन्ध फैलाये बिना उससे रहा नहीं जाता। स्त्री के उपलक्ष से हम नाना वस्तुओं की इच्छा करने लगते हैं। कभी तो उपलक्ष अनुपस्थित भी हो जाता है और जान पड़ता है कि वस्तुओं की इच्छा स्वयं साध्य है। मूल में इच्छा का स्वरूप एक ही है। सामने जब व्यक्ति होता है, जिसमें स्वयं इच्छा का आरोप है तो दिमाग में जो सश्लिष्टता सृष्ट होती है वह वस्तु के साथ में उत्पन्न नहीं हो पाती। वस्तु में से कोई इच्छा चलकर हम तक नहीं आती उसके लिए मानो हमें ही दोनों ओर से क्रिया करनी पड़ती है। इस तरह कामावेग जब कि सम सामान्य है तब क्लेप्टोमेनिया को एक तरह विक्षिप्ति का रूप ही मानना पड़ता है।

१५४ रस अथवा आनन्द सस्पेन्स में निहित माना जाता है। और सस्पेन्स की तीव्र घुटन और उसके बाद हल्कापन आने पर जो आनन्द की प्राप्ति होती है, उसीके कारण चोरी हिंसा अथवा पर-स्त्री-गमन आदि के मौलिकाल में एक विशेष आकर्षण पड़ जाता है। इस स्थिति का आप क्या विश्लेषण करते हैं?

चेतन में इच्छा अनिवार्य

—यह स्थिति विश्लेषण की मोहताज ही नहीं है। सम्बद्धता में ही हम जीते और जी सकते हैं। इच्छाओं के सूत्र से हम चारों ओर फैले नानात्व से अपने को जोड़ न सकें तो जीने का मानो अर्थ लुप्त हो जाता है। जड़ पदार्थ हम उसीको कहते हैं, जिसमें इच्छा की सम्भावना नहीं मानी जाती। चेतन प्राणी वही है, जो चाहता और उधर गति करता दीखता है। जीवन का सारा स्वाद इन सम्बन्ध-सूत्रों के द्वारा अनुभव में आता है।

सस्पेन्स

जिसको आपने सस्पेंस कहा वह सम्बन्ध-सूत्रों में इच्छाओं के रक्त वेग से आती पुष्टता और पीनता का ही नाम है। हमारे शरीर में नसें हैं जिनमें रक्त दौड़ता

रहता है। प्रवाह का वेग बढ़ जाने पर एक तनाव और स्वाद का अनुभव लगता है। वह स्वाद एक साथ कष्टमय और आनन्दमय हो सकता है। इसी तरह इस वाताकाश मे नाना सम्बन्ध-सूत्र फैले हैं। उनमे इच्छाओ का जब वेग पकड उठता है, तो मानो सस्पेन्स की स्थिति पैदा हो जाती है। पहले कहा है कि व्यक्ति मानो वह ग्रन्थि और क्रॉस प्वाइण्ट है, जहां नाना एक गुलझट और केन्द्र बना लेते हैं। वहां से उन सूत्रो मे इच्छाएँ दोनों दौडने लगती हैं और दोनो केन्द्रो मे स्वाद की अनुभूति पहुँचाने लगती हैं।

परस्पर क्षरण ही प्राप्ति

प्राप्ति जिसको कहते हैं वह परस्पर क्षरण का नाम है। इच्छा जब छूटकर दूस खो जाती है, तो मानो सस्पेन्शन और तनाव का काम पूरा हो जाता और एक और सुख का अनुभव होने लगता है। लैंगिक सम्भोग मे इस प्रक्रिया को आ से चित्रित देखा जा सकता है। तनाव होता है और एक क्षण आता है कि और स्खलन हो जाता है। उस स्खलन के बिन्दु की एक तरफ सस्पेन्स का उ है, दूसरी तरफ ढलान आ जाता है। इच्छा की तृप्ति के साथ ही इच्छा और जन्य तनाव और आनन्द का अवसान भी जान पडता है। इस उठान और ढला पार समतल सामान्य स्थिति पर आये नहीं कि फिर नयी इच्छा का उद्वेग अनि है। इसी तरह जीवन अपनी तनाव की स्थिति को कायम रखता और मुहुर्मुहु ताजा बनाता जाता है।

परमात्म की इच्छा अभीप्सा

यह सस्पेन्स गिरे और ढले नहीं, अगर प्राप्ति सम्भव न हो। जब हम गुण की इ करते हैं तब मालूम होता है कि तृप्ति और प्राप्ति कभी पूरी नहीं होती। यह काम अभीप्सा कहलाती है और इष्ट समझी जाती है। उसमें चचलता नहीं देखी जात परमात्म के प्रति जो कामना है, उसे परम पुरुषार्थ ही मानते हैं। परमात्म पाकर तो कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। वह सदा प्राप्त और अप्राप्त व रहता है। इसलिए वह कामना है, जो सदा व्यग्र रहती है और कभी ठण्डी न होती। वह नशा है जो कभी उतरता नहीं। जीवन का स्वाद मानो उसीमे पा पूर्ण होता है। क्योंकि वहाँ क्षरण और स्खलन का अवसर नहीं है। या क प्रत्येक क्षण मे ही वहां चरमता की अनुभूति है, जिसमे वियोग और सयोग ए साथ और अभिन्न होते हैं। चाह ही तृप्ति है, ग्रहण ही क्षरण है, उसमे प्रीति क तार टूटता नहीं है और उद्वेग की मात्रा में तनाव अनुभव भी नहीं होता है। इ बेचैनी में ही वह चैन है, जिसके लिए आदमी भटकता है।

'डिजायर-स' और 'द डिजायर'

जीवन की कृतार्थता को स्थिर, शान्त निरिच्छता की भाषा में मानने से भ्रान्ति उत्पन्न होती है। मानो निर्मम के लिए उस भाँति अच्छा का आदर्श प्रस्तुत कर दिया जाता है। 'इच्छानिरोधारूप' की भाषा कभी साधक को जीवन से विमुख भी बना देती है। मैं समझता हूँ कि उस सूत्र का सार है कि इच्छा के नानात्व से ही हम बचें। इच्छा मात्र से मुक्ति पत्थर को मिली हुई है और आदमी को कभी नहीं मिल सकती है। बहुतत्व का नाश इस सम्बन्ध में अवश्य हो सकता है और वही है जो इष्ट है। जो केवल और एक और एकाग्र है, वह इच्छा परमात्म के प्रति हो होती और बढ़ी जाती है। डिजायर्स के अन्त का 'स' मिट जाय तो वह डिजायर रह जाती है जिसके शुरू में 'द' लग जाता है। वह 'द डिजायर' जीवन की और परम पुरुषार्थ की ही मरीची ही है। वही सारभूत है।

१५५. अवाञ्छनीय वासना को पूरा करने के लिए चोरी और हिंसक उपायों द्वारा काम लेने पर अनिष्ट की आशंकामूलक जो सस्पेन्स होता है, उसमें भय और आनन्द की जितनी तीव्रता मिलती है उतनी वाञ्छनीय वासना को अहिंसक उपायों द्वारा प्राप्त करने के प्रयास में इष्ट-प्राप्ति की सम्भावनामूलक सस्पेन्स में क्यों नहीं मिल पाती ?

पाप में स्वाद की तीव्रता अधिक

—प्रश्न शायद यह कि पाप में पुण्य से अधिक मज़ा और रस क्यों मालूम होता है। उत्तर में मैं यह कहूँगा कि पुण्य में शायद हमारा उतना अपनापन नहीं जाता जितना पाप में जा रहा होता है। जितना सावधान और जागृत और यत्नशील कोई चोर अपनी चोरी में रहता है उतना पुजारी भी अपनी पूजा के काम में नहीं देखा जाता। लगन की तीव्रता से स्वाद में तीव्रता आती है।

ईश्वरी पैग़ाम शैतानी पयाम

यह अनिवार्य नहीं है कि जिसे पाप कहते हैं तीव्रता उसीके प्रति हो सकती हो। धर्म में तीव्रता होती है और वह पाप के उपलक्ष्य से नहीं होती। उस तीव्रता की कल्पना कीजिये जिसके कारण स्वयं अपने उद्योग से ईसा अपनी ही फाँसी को निर्विघ्न अपने कन्धे लेकर बढ़ते चले गये थे। जो ज़ाहिर हो गये हैं और छिपे नहीं हैं, उनकी लगन की तुलना कहाँ मिलेगी? एक जर्मन नाज़ी की विशेषता पूछे जाने पर किसी मनीषी ने कहा कि वह विशेषता है पैगाम। कान्स्ट को लेकर जर्मनी का एक कोने का कोना ठीक सौ वर्षों में भयावह हुए इस वर्ग के अन्दर से एक ही धुन बैठा था रग और उसी पर जीता और समृद्ध होता जा रहा है।

उसको पैशन-प्ले कहते है। पैशन पाप के साथ होता है, यह समझना भूल है। ईश्वरीय पैशन का मुकाबला शैतानी पैशन कभी कर ही नही सकता। लेकिन यह मानना होगा कि हाँ, पैशन मे जीवन उत्कर्ष पर होता और वही जीवनानुभूति तीव्र होती है।

अहन्ता-भगवत्ता का मौलिक विग्रह

ट्रेजडी की उपलब्धि अधिक मार्मिक समझी जाती है, सो क्यो? इसीलिए कि भगवत्ता और अहन्ता के मौलिक विग्रह मे से चित्त को सबसे अधिक तनाव और सस्पेन्स की अनुभूति प्राप्त होती है। पाप और पुण्य का वैपरीत्य और ऐक्य भी वही देखने मे आता है। राम-रावण, कृष्ण-कस परस्पर सम्मुख आ खड़े होते है और अपनी-अपनी लीला सम्पन्न करते है तो जान पडता है कि जीवन मे आदि अथ और मूल मर्म का ही प्रस्फुटन और उद्भवन हो रहा है।

जीवन का अस्वीकरण ही हेय

समतल से नीचे जिस मात्रा तक पाप उतर सकता है, मानो ऊँचे मे उसी अश तक के पुण्य-दर्शन की सम्भावना हो आती है। ऐसे चेतना का और जीवन का वितान विस्तृत ही होता है। जिससे डरने की आवश्यकता है, वह जीवन का ह्रस्वी-करण है। जिसका निषेध है वह जीवन की सिमटन और सिकुडन है। तुच्छता और कृच्छ्रता जैसे पाप को भी अविचारणीय बना जाती है और एक ऐसा अधकार भी हो सकता है, जिसकी कालिमा अपनी परिपूर्णता द्वारा ही अनोखी चमक दे जाये। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार के काले-उजले के आदि विग्रह से स्वय सृष्टि और स्रष्टा का काम चलता है।

पैशन का अपना स्वतन्त्र मूल्य भी है। पाप की दिशा गलत है, पुण्य की दिशा सही है, यह ठीक हो सकता है। लेकिन इससे पैशन के स्वतन्त्र मूल्य और स्वतन्त्र स्वाद मे अन्तर नहीं आता है।

३५६ इन्द्रिय-आसक्तियाँ कितनी दूर तक मानव-मानस के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष में कारण बनती हैं और बन सकती हैं?

इन्द्रियो की आसक्ति

—इन्द्रियो के पदार्थों के प्रति निष्प्रयोजन अनुराग को शायद हम इन्द्रिय-आसक्ति कहेंगे। इन्द्रियो के पीछे जब मनोनीत कोई लक्ष्य नही होता है, वे अपने-आपमे चचल होती और वस्तुओ के प्रति भटकती हैं, तब कहा जाता है कि वे स्वैराचारिणी

है। इन्द्रियों के इस प्रकार के व्यवहार से उत्कर्ष का साधन नहीं हो सकता है सदा अपकर्ष ही होता है।

अन्तमन की आसक्ति

आसक्ति जब इन्द्रिय से आरम्भ नहीं होती बल्कि अन्तर्मन से आती है इन्द्रियों का केवल उपयोग और प्रयोग होता है तो उससे व्यक्तित्व को उत्कर्ष प्राप्त होता है।

इच्छा रूपग्राही गुणग्राही

पहले कहा कि इन्द्रियाँ तो द्वार हैं। गृहवासी आवश्यकतानुसार द्वार खोले और बन्द करे, वहाँ से आये और जाये तो यह द्वार का सदुपयोग है। गृहवासी के हित से निरपेक्ष द्वार यदि लू को अन्दर आने और स्वच्छ वायु को रोकने लग जाय तो मानना होगा कि वह अपना काम नहीं कर रहा है। और व्यक्तित्व में ऐसा अवसर हो जाया करता है। अनेकानेक इच्छाएँ अन्तस्तल को बिना छूए ऊपरी मन में या कहीं इन्द्रियों में भी उत्पन्न होती और वे बाहर की ओर भागने लगती हैं। इससे व्यक्तित्व में विघटन आता है। ऐसी इच्छा रूपज होती है गुण को नहीं देख पाती। यदि चेतना के अभ्यन्तर से ही आयी हुई अभीप्सा हो तो वह रूप के पार गुण से सम्बन्ध जोड़ती और इस तरह उत्कर्षसाधक होती है। उससे व्यक्तित्व परिमित और सुगठित बनता है। ●

६

इंस्टिक्ट्स

इंस्टिक्ट

३५७ जिन्हें अंग्रेजी मे इंस्टिक्ट्स कहा जाता है, वे क्या कामनाओं के समकक्ष अथवा उनसे कहीं कुछ भिन्न हैं?

—कामना मानो हमसे है, हमारे वश मे है। इंस्टिक्ट हममे है और मानो हम उसके वश में हैं।

३५८ इंस्टिक्ट्स व्यक्तित्व की किसी परिस्थिति मे से पैदा होती है अथवा वे नैसर्गिक हैं?

सामान्य सस्कार ही इंस्टिक्ट

—इंस्टिक्ट्स प्राप्त होती हैं। जीवनभर रहते-रहते और करते-करते मानो हम सस्कार के किसी सूक्ष्म अश को इंस्टिक्ट के तल तक पहुँचा पाते हैं और इस तरह शायद मानवता मे वाल वरावर अन्तर कर पाते हैं। इंस्टिक्ट मे व्यक्तित्व अपवाद नही होते, सामान्य होते हैं। जहां प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से अलग है, वह भूमिका इंस्टिक्ट की नहीं है, उससे ऊपर बुद्धि-विवेक, विकल्प-सकल्प आदि की है। इंस्टिक्ट की भूमिका पर मानव सब लगभग समान हैं। इंस्टिक्ट अर्जित और सचित है मानव की पीढ़ी-दर-पीढ़ियो का। वह अमुक व्यक्तित्व की सीमित वायु पर उतना निर्भर नहीं है।

पशु इंस्टिक्ट्स

३५९ पशुओं के सम्बन्ध मे इंस्टिक्ट्स का आप क्या खुलासा प्रस्तुत करेंगे? उन्हें इंस्टिक्ट्स का निर्माण करने के लिए जीवनभर वैसा करते रहने की आवश्यकता नहीं है। जन्म से ही वे विशेष आचरणों का स्वभाव लेकर पैदा होते हैं और जीवन-भर उनमे न विकास होता है, न ह्रास।

—जीवन वह तत्त्व नहीं है जो विकास या ह्रास विना केवल स्थित रहे। पशु जो इंस्टिक्ट्स प्राप्त करता है उसमें कुछ योग नही होता, यह नहीं माना जा सकता।

प्राकृतिक विज्ञान बताता है कि कैसे विकास क्रम में जन्तु और प्राणी के बाद मानव का उदय हुआ। यदि निसर्ग से जो प्राप्त है उसमें भूख मोह न हो पाये तो विकास पथ अवरुद्ध ठहरता और कालक्रम का अर्थ नष्ट हो जाता है। अलबत्ता यह माना जा सकता है कि पशुओं में यदि इंस्टिंक्ट का ही उपयोग है साथ उस इंस्टिंक्ट से विकास भी होता रहता है, तो यह विकास-क्रिया प्रकृति और इतिहास में अन्तर्भूत है सचेत प्रयत्न उसके पीछे नहीं है। मनुष्य के साथ कहा जा सकता है कि उसका योग इस विकास प्रक्रिया में सचेत और इसलिए सचेष्ट होता है। उसके भीतर जो एक विवेक का तत्त्व है उससे उत्पत्ति की क्रिया विचारयुक्त और कुछ भेदयुक्त हो जाती होगी।

अन्तर्भूत गति विकास

प्रकृति स्वयं स्थिर नहीं है। चिन्मय होकर ब्रह्माण्ड जड़ की भाँति कैसे वर्तन कर सकता है। इसलिए न केवल प्रकृति में बल्कि पदार्थ मात्र में अन्तर्भूत एक गति और विकास है।
समष्टि भाव से देखें तो मैं विकास को इतना अनिवार्य मानता हूँ कि ह्रास को भी आंशिक और अप्राकृतिक तक कह दूँ।
११ तनिक और स्पष्ट बताइये कि इंस्टिंक्ट का सम्बन्ध जीव और मानव-चेतना की अथवा बुद्धि-चेतना की किस शर्त से आप स्थापित करेंगे? शायद अहं से तो इसका सम्बन्ध स्थिर किया नहीं जा सकता!

इंस्टिंक्ट अहं से सम्बद्ध

—क्यों अहं से ही उसका सीधा सम्बन्ध है। भूख और मोह अहं बिना बन ही नहीं सकते। शिकार का और भय का इंस्टिंक्ट शुरू से जन्तु-जगत् में देखा जाता है। ये दोनों स्वत्व भाव के बिना सम्भव नहीं हैं। स्वत्व जहाँ से है और जब तक है तब भूख और मोह उसके साथ हैं। सच यह कि मूल इंस्टिंक्ट को स्वरक्षा और स्ववर्धन या प्रजनन से जुड़ा देखा जा सकता है। मैं और शेष इन दो आधारों पर ही जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया शुरू होती है। सब इंस्टिंक्ट इसीमें से बनते और पुष्टि पाते जाते हैं।

अहं व्यक्तित्व और विवेक का पर्याय नहीं

मनुष्य में आकर आरम्भ की स्व-रक्षा परस्परता में परिणत होती है। अहं को हम व्यक्तित्व और विवेक का ही जो पर्याय मानते हैं उसीसे यह भ्रम होता है

कि मानो जन्तु-जीव जगत् मे अह की स्थिति न हो। इतना तो अवश्य है कि अपने से बाहर अह की स्थापना करने की क्षमता उनमे नहीं होती है, जिसे विवेक कहते हैं। मनुष्य यह देख और मान पाता है कि दूसरे मे भी अपना 'मैं' है। इस पद्धति से शायद परस्परता और सामाजिकता मानव-तल पर आकर प्रकट होती है। उससे पहले यूथवद्धता तो है, शायद वह नही है जिसे सामाजिकता कह सकें।

यूथ-भाव और सामाजिकता

कीट-जगत् मे अद्‌भुत सगठन के चमत्कार पाये जाते हैं। अन्य प्राणियो में भी किंचित् कुटुम्बता देखी जा सकती है। गोल और झुण्ड तो पशुओ मे आम हैं। किन्तु इस सबको सामाजिकता कहने मे शब्द की सीमा और परिभाषा पर जोर पडता है। कहा जा सकता है कि वहाँ हर्ड इंस्टिक्ट (यूथ-भाव) काम कर रहा होता है, सामाजिक भाव नही।

मानव-चेतना जीव-चेतना से केवल इस अर्थ मे भिन्न है कि जीव मे नितान्त प्रकृति काम करती है, मानव में प्रकृति सस्कृति बनकर भी काम करती है। अर्थात् मानव प्रकृति के हेतु मै अपने विकल्प-सकल्प द्वारा स्वेच्छित सहयोगी हो सकता हैं।

३६१ मानव मे जो रह-रहकर विवश आवेग और सवेग प्रकट होते हैं, जिन्हें मनोवैज्ञानिक सम्यता के नीचे अभी तक सचेत पशु इंस्टिक्ट का नाम देते हैं और जिन्हें धार्मिक भाषा मे शैतानियत कहा जाता है, उनको आप कितनी दूर तक मानव-चेतना के संस्कार और विकास में सहयोगी अथवा प्रतियोगी मानेंगे ?

सकल्प विकल्प से ही पूर्ण

—सच यह कि सकल्प के समान विकल्प को भी मैं विकास में सहयोगी मानता हूँ। सकल्प को विकल्प से लडते हुए ही वढ़ना पडता है। यों भी कह सकते हैं कि रावण के बिना राम सम्पन्न नहीं हो सकते। द्वन्द्वात्मकता मानो विकास की प्रक्रिया है। वह एकागी विचार है, जो निकृष्ट-उत्कृष्ट, गुण-अवगुण और पाप-पुण्य के अन्तर्विरोध में से निर्गुणता और उत्तीर्णता को लक्ष से भुला देता है और केवल उत्कृष्ट अथवा गुण अथवा पुण्य की धारणा से चिपट बैठता है।

इंस्टिक्ट पाशविक नहीं, दैविक

जो विवश आवेग और सवेग मनुष्य में से प्रकट होते हैं, उन्हें मनोविज्ञान और मनोवैज्ञानिक सम्यता पाशविक कहे और धार्मिक भाषा आसुरी कहे तो उनका काम चल सकता होगा। मैं उन्हें दैवी भी कह सकता हूँ। पशुता का प्रवेग

ही उनमें नहीं देखा जाता, कभी दिव्यता और साधुता का भी प्रस्फुटन देखा जाता है। तर्क-विवेक में से कभी वह आध्यात्मिक चमत्कार नहीं निकला है जो असंय-मित संवेग में से फूट निकला है। इसलिए यह मानना कि इंस्टिंक्ट की मूल पीठिका पशुता है एकदम भ्रान्त है। सच यह कि इस इंस्टिक्ट्स के मूल में अहन्ता और ममता का द्वन्द्व है। इन दोनों में भी अहन्ता से मूलगत ममता है और वही फिर पैदा करता है। इस प्रकार यदि पशुता का उद्रेक है तो उसे प्रतिक्रिया-जन्य ही मानना चाहिए। शुद्ध आवेग और संवेग दिव्य ही हुआ करते हैं। अर्थात् यदि अहन्ता हमारी इतनी क्षीण हो जाय कि विवेक से उत्तीर्ण हो सकें तो उस समय हम पशु नहीं दीखेंगे, पुरुषोत्तम बने दिखाई देंगे। आदमी अपने को खोल दे और यह सिद्धि परम साधनापूर्वक ही साधी जा सकती है, तो वह नीचे जाकर पशु नहीं बनेगा, बल्कि उठकर महामानव बनता दिखाई देगा।

मर्मातिमर्म में पशुता नहीं, भगवत्ता

संक्षेप में आज का मनोविज्ञान और कुछ धर्मविज्ञान भी अनास्था से चलता और अधूरा चलता है। इसीसे वह शैतान और पशु को महत्त्व दे निकलता है और भगवान् और इन्सान की दिव्य सम्भावनाओं से वह अपने को वंचित बना लेता है।

इस दृष्टि से अपने ही आवेगों और संवेगों के प्रति हमें शंकाशील होने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जिसको अन्तर-ध्वनि (स्टिल स्माल वॉयस) अन्तर-आदेश अन्तःप्रज्ञा आदि कहते हैं उसके सम्बन्ध में हम अविश्वासी नहीं होना चाहिए। उल्टे पीड़ित नाना मत-मन्तव्यों से यह अधिक विश्वसनीय तत्त्व होता है। अक्सर देखा गया है कि तर्कसाधक से नहीं हुआ वह प्रार्थना से सम्भव हो गया है। जिन्होंने यह चमत्कार की खोज किया प्रार्थना और वहाँ से मिले आदेश को ही सब कुछ मान लिया ऐसे लोग इतिहास में अद्भुत पराक्रम दिखा गये हैं। इस ऐतिहासिक सत्य का इससे दूसरा और क्या चरितार्थ हो सकता है कि मनुष्य के मर्मातिमर्म में भगवत्ता पड़ी हुई है और जो अहं के एक-एक पटल को भेदकर और चुकाकर भगवत्-भाव तक पहुँच पाता है, वह अहन्ता से उठकर सर्वता को प्रकट करने लग जाता है। समय है कि इस ऐतिहासिक सत्य को हमारा मन का और धर्म का विज्ञान स्वीकार करे और उसके प्रकाश में अपने में आवश्यक संशोधन करे।

इंस्टिक्ट की स्थिति-गति

११२ तब स्थिति यह हुई कि इंस्टिक्ट्स जो अन्दर से उठते हैं और उनके माध्यम से अस्तित्व के मूल से जुड़े दीखते हैं, उनकी जड़ें सीधी नीचे भगवत्ता में हैं?

—हाँ, और उस भगवत्ता मे स्थिति ही है, गति नहीं है। गति के लिए अहन्ता का उदय हुआ। कहा जा सकता है कि भगवत्ता की अपेक्षा अहन्ता आंशिक है, आसुरी है, इत्यादि। लेकिन उसका आरम्भ स्वय भगवत्ता की अनुमति से ही हुआ हो सकता है। भगवत्-पूवक हम अह-वृत्तियो का स्वीकार और पुरस्कार करें, तो मैं मानता हूँ कि वे सब आवेग और सवेग बाधक होने के बजाय प्रकाशक और पूरक होने लग जायँगे।

भगवत्-सन्दर्भ से अहन्ता में रूपान्तर

होता यह है, और अनिष्ट का आरम्भ भी वहींसे है, कि अहन्ता भगवन्मुखी हुए बिना भी काम कर पाती है। इस तरह वह अहमहमिका के द्वन्द्व और जाल को बढ़ाने-वाली हो जाती है, भगवत्ता के विस्तार मे सहायक नहीं हुआ करती। अहन्ता के लिए शुभ और सम्भव है कि वह भगवन्मुखी हो और तब उसीके योग से नर में से नारायण क्रमश प्रकट होता जा सकता है। वैसी अहन्ता पवित्र और पुण्यात्मक होती है, उसका बल शारीरिक या सास्थानिक या उपकरणात्मक होने की जगह नैतिक और आत्मिक होता है। ऐसी अहन्ता एक साथ ही नम्र और अटूट होती है। कुसुम-सी कोमल और वज्र-सी कठोर हो सकती है। मानो तब अहन्ता के समस्त अवगुण भगवत्ता की निर्गुणता का सन्दर्भ पाकर गुणरूप में प्रकट होने लगते हैं। क्रोध तेज बन जाता है, भय पाप का होने के कारण जगत् के प्रति निर्भयता का रूप ले लेता है। दुर्बलता नम्रता बनती और दर्प के समक्ष अडिग बने रहने का सम्बल पाती है। व्यक्ति-सन्दर्भ की जगह भगवत्-सन्दर्भ आते ही समस्त व्यक्तिमत्ता मानो ऐश्वर्य के चमत्कार को स्वरूप देने के लिए माध्यम भर रह जाती है। अभी जो बुझा और मृत था, भगवत्-प्रवाह खुलते ही बिजली के बल्ब के समान चमक आता और प्रकाश देने लगता है।

व्यक्ति के विराट् बनने के उदाहरण अन्यथा किसी और तरह नहीं समझे जा सकते हैं। उनका रहस्य खुलता है, तो मानो इसी आस्था की कुंजी से खुल पाता है।

३६३ इंस्टिंक्ट्स की कार्यपद्धति में तनिक और विस्तारपूर्वक समझना चाहूँगा। मैं यह समझ पाया कि जब इंस्टिंक्ट्स रूपी नसें भगवन्मुखी अह के माध्यम से सीधी ईश्वर की समग्र चेतना से जुड़ जाती हैं और ईश्वर की शक्ति उन नसो मे प्रवाहित होने लगती है, तो मानव-व्यक्तित्व में वह मौलिक वेग उत्पन्न हो जाता है जो सर्जक प्रतिभाओं को जन्म देता है। और मन और विवेक को अपनी मुट्ठी में रखता हुआ वस्तु-जगत् को एक नया रंग, रूप और आकार प्रदान कर जाता है। क्या मेरी यह निष्पत्ति सही है ?

भगवन्मुखता से वृत्तियों में संयमन

—हाँ अवश्य सही है। लगभग इसलिए कहता हूँ कि इंस्टिंक्ट्स बहुत होते हैं जड़ एक होता है। इसलिए जड़ के भगवन्मुख होने पर सब इंस्टिंक्ट्स जिसका मूल जड़गामी है, मानो एक प्रेरणा से अभिमुख होते और बाहर जानेवाली इच्छाओं को भी मानो एकाग्र और एक-वशी बनाने लग जाते हैं। ऐसे जीवन में एक उद्देश्य का निर्माण होता है और सारी प्रवृत्तियों में संयमन आ जाता है। ग्रन्थि फिर बन नहीं पाती और प्राण प्रवाह वेग से वस्तु-जगत् में पड़ता और उसको आत्मवान् करने लगता है। प्रतिभा इस प्रकार मानो अपनी चमक से वस्तुओं को चमका देती और उनमें नया सन्दर्भ डाल देती है।

प्रेम और प्रतिभा

लेकिन प्रतिभा शब्द का मैं अविश्वासी भी हूँ। प्रतिभा में चमक आवश्यक है जो स्पष्ट हुआ करती है। प्रेम की प्रभा प्रतिभा से बिलकुल दूसरी चीज है। प्रेम दर्द की व्यथा में से निकलता है। और यद्यपि उसे उसी स्रोत से आया कह सकते हैं, जहाँ से प्रतिभा जन्म पाती है, लेकिन उसमें दर्द से ऐक्य की तड़प अधिक होती है, अहंता यहाँ चपलता की स्पर्धा नहीं मुक्तता से अनुप्राणित होती है। इस तरह उसमें ताप की जगह स्नेह और धूम की जगह चाँदनी अधिक प्रतीत होती है। देखने में प्रेम को प्रतिभा कहा ही नहीं जा सकता। उसमें सौम्यता और करुणा की इतनी मात्रा होती है कि सहसा किसीको स्तब्ध और विस्मित नहीं करती। उसका ऐश्वर्य बाहर से आपकी आँखों को चमत्कृत नहीं करता जितना कि भीतर हृदय में उसकी महिमा का धीरे-धीरे उद्घाटन होता जाता है। क्राइस्ट का उदय और अस्त अत्यन्त सामान्य भाव से हो गया। उन दोनों के अर्थ का उद्घाटन पीछे इतिहास को करना पड़ा। फिर भी उस साधारणता में इतना विराट् आशय दीख पड़ा कि मानवता एक नवदर्शन से भर गयी और जगत् में कायापलट आ गया।

इस चेतावनी के साथ जो आपने इंस्टिंक्ट्स की कार्यपद्धति का चित्र दिया उससे मैं सहमत हूँ।

इंस्टिंक्ट्स से उदित प्राणशक्ति

जड़ कोई स्वतन्त्र और इंस्टिंक्ट्स का भिन्न तत्त्व नहीं है। इंस्टिंक्ट्स से मानो वह स्वयं बुना और बना हुआ है। जड़ के साथ बाहर वस्तु जगत् में सम्बन्ध रखने और प्रकट करने के जो मन्द साधन रूप हैं वे मन विवेक और वही ज्ञान

वाली दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ हैं। इंस्टिंक्ट्स के द्वारा उत्थित और प्रक्षिप्त प्राण-शक्ति मानो मन-विवेक मे से गुजरती और इन्द्रियों को चालना देती है। मन और विवेक उस प्राण-शक्ति को दवा नहीं सकते, नियुक्त भी नहीं कर सकते, सिर्फ उसमे कुछ छँटाव कर सकते हैं। मानिये कि वे कुछ छलनी का काम करते हैं, जिसके छिद्रो मे से प्राण-प्रवाह रुक नही पाता है, कुछ निर्वाचन और निर्देशन अवश्य पा जाता है। छानने के द्वारा हम कुछ अलग छोड देते हैं और उससे रखने योग्य को अलग पा लेते हैं। इसके अतिरिक्त मन-विवेक द्वारा उस प्राण-वेग को कुछ दिशा का इगित भी मिल जाता है। एयरकंडीशनर के मुख पर आपने छोटे-छोटे छिद्रयुक्त लकडी के चौखटे लगे देखे होंगे, उनकी व्यवस्था मे भीतर से आती हवा को अमुक दिशा दी जा सकती है। मानना चाहिए कि निर्वाचन और निर्देशन का यह लाभ इंस्टिंक्ट्स से वाहर की ओर फेंके गये प्राण-वेग को मिलता और उनमे अर्थवान् कुछ प्रयोजन पडता है।

तर्क-विवेक आप देखियेगा कि अन्त मे अह्-समर्थन मे ही लौट आता है। हम तर्क से वही सिद्ध कर पाते हैं, जिसे पहले से अपने निकट सिद्ध हुआ पाते हैं। हमारी वुद्धि-शक्ति इस तरह् आस्था से विपरीत नहीं जा पाती, आस्था को पुष्ट करने का ही काम वह् कर सकती है। इस प्रकार चाहे तो वह वुद्धि अनास्था को तर्क-सगत दिखा सकती है, इस शर्त पर कि अनास्था अस्मिता का मूल भाव हो। अर्थात् मन अह से और तर्क मन से स्वतन्त्र होकर काम नहीं करता है। इन्द्रियाँ तो, चाहे फिर किसीको ज्ञानेन्द्रिय क्यो न कहें, मन-विवेक के विना चलती ही नहीं है।

गर्भस्थ भगवत्ता निरर्थक नहीं

यहाँ यह भूलना नहीं चाहिए कि केवल इस कारण कि भगवत्ता गूढ़ गर्भ में है वह कभी भी सर्वथा निरर्थक नही हो जाती। हम जिस शहरीली धरती पर रहते हैं, वह ठोस-बजर है। नीचे उसके कोयला हो, या पानी हो, या जो भी अलाय-वलाय हो, लेकिन नीचे से नीचे जाकर गभ-तल मे तो केवल अग्नि है। वह अग्नि ज्वालामुखी द्वारा ही प्रकट होने के लिए नहीं है, वल्कि किसी-न-किसी प्रकार हमारी धरती की उर्वरता और वंजरता दोनो को धारण और नियत करती है। क्राइस्ट और बुद्ध और मोहम्मद और गाधी जैसे उदाहरणो पर उस भगवत्ता के प्रमाण को स्थगित न मानिये। हममे से प्रत्येक की प्रक्रिया को समझने और खोलने में उस भगवत्-तत्त्व का सहारा काम आता है। अर्थात् किसी भी स्तर पर, फिर भले वह इन्द्रियो का स्तर ही क्यों न हो, वह भगवत्ता असगत और अनुपस्थित तत्त्व नहीं है। दुष्ट-से-दुष्ट मे भी जो अनुताप देखा जाता और जैसे-तैसे अपना

मन शमन करने की कोशिश पायी जाती है उसमें उसी तत्त्व का प्रताप देखा जा सकता है। संक्षेप में इंस्टिंक्ट्स जिनके रूप भी हम कह सकते हैं इनमें से काम करते और मन विवेक का संस्कार भी स्वीकार करते हैं। वे मूल द्वन्द्वात्मकता से मुक्त नहीं होते और जाने-अनजाने आसुरी भावों में से भी अन्तिम परिणाम स्वस्थ व्यवस्था को ही सम्पन्न करते हैं।

११४ इंस्टिंक्ट्स का भाव और विचार-जगत् से क्या सम्बन्ध है ?

इंस्टिंक्ट और भाव-विचार

—भाव व्यापक शब्द है। मैं मानता हूँ कि विचार संज्ञा उसे तब मिलती है जब मन से पार जाकर उसको भाषा की रेखा और परिभाषा मिलती है। भाव रेखा हीन है, जैसे कि भाप। विचार भाषा में व्यक्त और आकृति-प्राप्त है, जैसे कि पानी। मैं मानता हूँ कि जिसको साहित्य कहते हैं अर्थात् ऐसी अभिव्यक्ति जो अन्य के साथ रसानुभूति की सम्भवता पैदा करे, भावप्रेरित होती है। साहित्य अथवा कला की सृष्टि के पीछे भावानुभूति आवश्यक है, तत्त्वज्ञान से उसका काम नहीं चल सकता। तत्त्वज्ञान परिभाषायुक्त होता है और वह तभी सर्जनात्मक हो सकता है जब वह तर्काश्रित नहीं बल्कि भावाश्रित है। अर्थात् उसमें व्यक्तता के साथ गूढ़ता हो अर्थवाचक से अधिक वह मर्मवाहक हो उसमें सूचन ही प्रति पादन न हो। भाव के और मूल में जायें तो शायद वह व्यथा और पीड़ा बन रह जाता है। इंस्टिंक्ट्स में मानो उच्छलन गर्भित है उसमें प्रक्षेपण अनिवार्य है। पीड़ा अधिक गूढ़ और मर्मस्थ होती है। सतह पर लहरें उछलती हैं अन्तर-गर्भ में समुद्र स्तब्ध होता है। मानो पीड़ा उसी अभ्यन्तर का रूप है। महान् सृष्टि भाव से भी अधिक मानो वेदना में से आती है। भाव में फिर भी पाने और पाने की आकांक्षा है। पीड़ा में मानो निराकांक्षा निरपेक्षता है। वह ऐसा विरह है कि जिसमें उसकी परितृप्ति और तृप्ति है। अर्थात् भाव की व्याप्ति व्यथा और विचार के बीच तक माननी चाहिए। विचार को रेखा जब तक नहीं मिलती और विरहाकुलता जब सम्प्राप्ति की ओर चलती है तो उसमें भाव अपना विस्तार पाता है।

११५. विचार को अलग रखकर पहले आप भाव का सम्बन्ध इंस्टिंक्ट और कामना से क्या है यह स्पष्ट करें। क्या इंस्टिंक्ट और कामना भावों को उद्दीप्त नहीं करते ? जिसे आपने पीड़ा और अन्तर्मथा कहा है, और जिसे भाव का आधार बताया है, उसकी जड़ तो मूल द्वन्द्व में है और मूल द्वन्द्व इंस्टिंक्ट और कामना का भी उद्गम स्रोत है। तब क्या भाव भी सीधे मूल द्वन्द्व से ही निःसृत

होता है? और इंस्टिक्ट के समकक्ष अथवा उससे सम्बद्ध होकर उठता और बहता है?

उनकी परिसीमाएँ

—इंस्टिक्ट अहगर्भ मे प्राप्त है। वह व्यक्तिगत से अधिक प्राणगत और जातिगत कहा जा सकता है।

भाव की अनुभूति व्यक्तिगत है। भाव भी इस तरह व्यक्तिपरक है।

दोनो व्यक्ति मे अन्तर्भूत हैं, किन्तु कामना के लिए व्यक्ति से बाहर किसी काम्य की निर्भरता अनिवार्य हो जाती है। कहना चाहिए कि कामना शब्द उस भाव के लिए सगत होता है, जिसका प्राप्य कही बाहर स्थिति पा गया है।

विचार सगत होता है, जब अभिव्यक्ति शब्द द्वारा हो। अभिव्यक्ति ध्वनि द्वारा जब होती है, तो मानो स्वर-सप्तक वहाँ अक्षर-शब्द का स्थान ले लेता है। इसी तरह रग द्वारा अभिव्यक्ति होने पर मानो आकृति-शिल्प को वह पद दिया जा सकता है। सक्षेप मे प्रेषणीय को जब रेखाओ का तट और उनकी परिभाषा मिलने लग जाती है, भाव उससे पहले-पहले रहता है। तट मिलने पर उसको अधिक व्यक्तता, आकारता और स्वरूपता मिल जाती है। कामना अधिक रूपाकृति प्राप्त है। भाव अपेक्षाकृत अरूप और निराकार होता है।

इंस्टिक्ट्स से उन दोनो शब्दो के विग्रह का अवकाश नही है। कारण वह व्यक्तिसत्ता से नीचे मानो जातिगत होती है। ●

भाव लेने लगता है। जब चैतन्य और स्वास्थ्य में उसकी परिणति होती है, तो मानो उस पर से भेद और सीमा की रेखा समाप्त हो जाती है। भाव, अपनी ओर से 'जाते' समय, स्फूर्ति का वही रूप है। वहाँ उसका सवेदन है, व्यथा अथवा आनन्द है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'आते' समय भी उस भाव मे तृप्ति और रसानुभूति ही है, उससे अधिक कुछ नहीं है। ज्ञान और बोध जिन्हें कहते हैं वे मानो भाव मे पहुँचकर समाप्त हो जाते और पीडा या आनन्द मे परिणत हो जाते हैं। उनकी बोध की स्थिति बुद्धि के स्तर तक रहती है। बुद्धि के पार जाकर पृथक्ता की सीमा उन पर से समाप्त हो जाती है। भाव मे संवेदन है और पृथक्करण नहीं है। पृथक्करण का आरम्भ मन-बुद्धि से मानिये। इसलिए पल्लवन मे जो ज्ञान है वह मूल मे व्यथा है।

अनुभूति से हीन भाव का कुछ अर्थ नहीं है। उत्पत्ति के साथ ही अनुभूति का आरम्भ है। भावानुभूति जिसे हम कहते हैं वह गमन की अपेक्षा से, आगमन की अपेक्षा से उसे ही भावतृप्ति कह सकते हैं। अनुभूति मानो बाह्य प्रकाशन की ओर जाती है, तृप्ति अन्तर्भोग की ओर।

बोध और सवेदन

इन्द्रियाँ अनुभूति और तृप्ति को दोनो दिशाओ में, मन से और मन तक, ले जाने का काम करती हैं। लेकिन ध्यान रखना चाहिए कि मन तक विभिन्नता और विविधता रहती है, समाप्त नहीं हो जाती। मन मे से जब वह अह की ओर जाती है, तब मानो सीमा उस पर से उठ जाती है और ज्ञानबोध भावभोग बनता है। बुद्धि की प्रक्रिया को भी मन तक चलता कह सकते हैं। हर बोध और ज्ञान पृथक्करण के आधार पर टिकता है। इससे मन तक ही उसकी सम्भावना है, उसके पार वह सवेदन मे घुल और गल जाता है। जिसको विचार कहते हैं, सूक्ष्म, सघन और सम्पूर्ण बनकर मानो वह वेदना हो जाता है। वेदना का कण भर विचार के मन भर से भारी होता है।

अन्तर्बाह्य का तारतम्य

२६७ इसका अर्थ यह हुआ कि भावोत्पत्ति के लिये बाह्य जगत् की अपेक्षा अनिवार्य है। उसके बिना अन्तर का मूल द्वन्द्व भाव बनकर प्रकट नहीं हो सकता?

—बिलकुल। बाह्य जगत् की अपेक्षा और सम्बद्धता मानव-चेतना मे ज्ञातभाव से उदय पायें इसीलिए तो अह की सृष्टि है। उस अपेक्षा की विहीनता हो जाती है, तो उसे ही मृत्यु कहते हैं। बाह्य-अनुभूति का अभाव होते ही अह का भी अभाव हो जाता है। मृत्यु का इसके सिवा दूसरा अर्थ नहीं है। अन्तर और

बाह्य का तारतम्य अनुभव होता रहे तभी तक जीवन है। उससे निवृत्ति जीवन का भी निर्वाण है।

११८. क्या यह भी सही है कि बिना सामाजिक सम्पर्क और लौकिक नीति-अनीति की अपेक्षा के बुद्धि और विचार की सत्ता भी सम्भव नहीं?

लौकिक-सामाजिक की अपेक्षा

—बुद्धि और विचार के लिए सामाजिक और लौकिक आदि धारणाएँ सबल होती हैं। किन्तु जीवन का काम उनको लाँघता हुआ भी चल सकता है।

इन्द्रियाँ कुछ दूर तक जाती हैं। कहिये कि काफी दूर तक जाती हैं क्योंकि आँखें अरबों-खरबों योजन दूर के सूर्य-नक्षत्र-तारा-मण्डल को देखती हैं। फिर भी सबका अनुभव है कि मन और दूर तक जाता है। आँख देख रही हो तो ऐसा लगता है कि मन को सीधे देखने का अवसर कम रहता है। इसलिए कहा जा सकता है कि आँख बन्द करके मन के द्वारा जितनी दूर तक देखा जा सकता है, वह आँख खोलकर नहीं। इस तरह बाह्य जगत् जो भेद-प्रभेदों में बँटा हुआ ही हमें दीख सकता है उसके भावात्मक सामान्य की अपेक्षा आत्मप्रक्रिया के लिए अनिवार्य नहीं है। बिना लौकिक और सामाजिक को ध्यान में लिये अहं का सम्बन्ध भावना द्वारा समस्त से अर्थात् परमात्म से बन सकता है। मेरा मानना है कि इस सम्बन्ध में से अहं को अपरिमित स्वस्थता और परितृप्ति मिलती है। अर्थात् बाह्य जगत् की सम्बद्धता और अपेक्षा जब कि अहं के लिए अनिवार्य है तब भावात्मक विभिन्न विच्छिन्न नानात्वमय जगत् उतना अनिवार्य नहीं है। संक्षेप में जीवन सामर्थ्य के लिए लौकिक-सामाजिक की अपेक्षा से अखिल-ब्रह्माण्ड की अपेक्षा अधिक संगत और स्वास्थ्यकर है।

बुद्धि और विचार की सत्ता विभक्त जगत् के पार नहीं जा सकती। इससे श्रद्धा की स्वभावतः बुद्धि से अधिक मूल्यवत्ता और सार्थकता होती है।

११९. कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि व्यक्ति स्थूल ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, मोह, दया आदि के विभक्त और विच्छिन्न क्षेत्र में ही अधिक रस और तृप्ति अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति आपकी दृष्टि में वास्तविक रस और तृप्ति पाता है या नहीं? और जो रस-तृप्ति पाता हुआ दीखता है वह उसके मानस का कौन-सा अंश पाता दीखता है?

द्वन्द्वात्मक रस

—द्वन्द्वात्मक रस तीखा और चरपरा होता है। इसीसे अधिक रसीला भी मालूम हो सकता है। रसता का यह आधिक्य और यह तीखा-तीतापन इसलिए कि

वह उस तल तक उतर नही पाता, जहाँ अहन्ता का भगवत्ता मे योग है। अत उसे गम्भीर तृप्ति भी नहीं कह सकते। मूल द्वन्द्व, अर्थात् वह द्वित्व जो फिर भी मूलोद्गत है, स्थल है उस चरम व्यथा या तृप्तिभोग के लिए जिसे परम रस छूता है। बहुत सतह की ओर आकर, कहिये कि मन बुद्धि की सतह जहाँ तक द्वैत बोध पहुँचता है, विग्रहात्मक रस वही तक रह जाता है, आगे भाव-तृप्ति तक नहीं पहुँच पाता। यही स्तर दर्प और मान आदि का हुआ करता है। हम जीते हैं, सफल हुए हैं, प्रतिद्वन्द्वी को हमने छका दिया है, यह नाम पा लिया, वह यश पा लेंगे—इत्यादि का गर्वमिश्रित रस अन्तस्तल को नहीं बेध पाता। वह ऊपर-ऊपर छलकता-उफनता रहता है कि जहाँ द्वैत का विभाव और ऐक्य का अभाव रहता है।

इमेजरी

३७० जिसे अंग्रेजी मे इमेजरी कहते हैं अर्थात् अन्तस्तल पर रूपो का अंकित हो जाना, उसका आपके इस मनोविज्ञान मे क्या विश्लेषण है?

—भाव यदि उठकर किसी ओर जाता है, तो स्पष्ट है कि अभाव की प्रेरणा से जाता है। चेतना तो भाव की रहती है, प्रेरणा अभाव की रहा करती है। इसीसे पहले कहा कि अन्तरग के लिए बाह्य की अपेक्षा अनिवार्य है। भाव अपनी चरम परिपूर्णता मे नितान्त अभाव-लोक में पहुँच जाता है। उस अभाव के लोक में भाव की जो लीला-क्रीडाएँ होती हैं, उसीको इमेजरी कहना चाहिए। स्वप्न-सृष्टि के मूल मे अभाव मे गये हुए इस भाव को ही देखना चाहिए।

भाव-लोक, अभाव-लोक

३७१ दो बातो को पहले स्पष्ट करना मैं चाहूँगा। प्रथम तो अभाव-लोक और भाव के अभाव-लोक मे पहुँचने से आपका क्या तात्पर्य है? दूसरे अन्तर-मानस में लीला, क्रीडा का, जिसके अनेकों रूप व्यक्त-जगत् और व्यक्त-अध्यात्म मे देखे जाते हैं, मूल स्रोत और उद्गम क्या है?

—भाव अह मे से उठता ओर अखिल की ओर उठता है। अर्थात् वह अखिल को पाना चाहता है। भीतर भाव, बाहर अभाव। भाव की अनुभूति है कि जो इन्द्रियो को और मन को बाहर की ओर जगाती है। उस बाहर से ही मानो वह अभाव-लोक शुरू हो जाता है जहाँ भाव अपनी परिपूणता खोजता है। कुछ अश और वेग तो उस भाव का स्थूल वस्तुओ को लेकर व्यस्त और शात हो जाता है, शेप उनके पार जाने को रह ही जाता है। कल्पना, भावना, जिज्ञासा, अभीप्सा आदि से भाव ब्रह्माण्ड के ओर-छोर को छूए, पाये, अपनाये बिना कैसे चैन पाये?

अनिवार्य है कि वह व्यक्त होकर अव्यक्त को और अंश होकर अखिल को अपना रखना चाहे। दूसरे शब्दों में अपने को अखिल में दे रखना चाहे। इसीमें से अभाव लोक में व्यक्तिगत भाव की अनन्त लीला-क्रीड़ा देखने में आती है। जो व्यक्त और स्थूल है, उसको हमारा बौद्धिक प्रयास हिसाब में ले पाता है। अपेक्षाकृत जो सूक्ष्म और अव्यक्त है इमेजिनेशन के सहारे रूपायित होता है। पदार्थों का प्रसार व्यक्त है। देवी देवता अप्सरा स्वर्ग आदि के लोक विचार-लोक आदर्श-लोक आदि मानो अव्यक्त के रूपक हैं। एक को लौकिक दूसरे को अलौकिक हम कह दिया करते हैं। संक्षेप में समस्त सृष्टि, स्थूल और भावमय एवं सूक्ष्म और भावमय भाव-क्रीड़ा और भाव-लीला से स्वतन्त्र नहीं है।

उद्गम-पर्यवसान भगवत्ता में

मूल उद्गम तो सब वस्तुतः का महत्ता और भगवत्ता के हाथ में से है। महत्ता में से जो इच्छा है उसका आदि-हेतु और इत्यर्थ दोनों ही का पर्यवसान भगवत्ता में है। फिर जो हेतु बीच में व्यक्ति के मन-बुद्धि उत्पन्न कर लिया करते हैं उनकी उपयोगिता स्वयं व्यक्ति के बाहर कहीं नहीं रह जाती। अर्थात् उन अहङ्कृत हेतुओं को ही सच में उसकी चेष्टाओं का हेतु मानना भ्रम उत्पन्न कर सकता है। मैं कुछ भी कहूँ कि मैं यह इसलिए कर रहा हूँ लेकिन हेतु उससे कुछ अन्य और अन्यथा होता है। यह नहीं कि मैं झूठ बोल रहा होता हूँ लेकिन बात यह कि सच पकड़ में आता ही नहीं है। प्रचलित मनोवैज्ञानिक भाषा कहती है कि असल हेतु सचेतन में नहीं अवचेतन और उपचेतन में पता होता है। मनोविज्ञान की यह भाषा कुछ दूर तक जाती और उस दूर तक सही कहती है। अर्थात् उसका सत्य व्यावहारिक सत्य है और वह यह कि सचेतन में हेतु नहीं है। किन्तु यह मानना कि व्यक्ति के अवचेतन तथा अचेतन स्तरों में वह हेतु बन्द है समग्र और सृष्टि को व्यक्ति से निकाल कर देना है। सच यह कि हेतु अपार है तो अखिलता और भगवत्ता में वह के निमित्त से है। पर अखिल में हेतु का निपात इसलिए नहीं हो सकता है कि वहाँ अभाव नहीं है। इसलिए सृष्टि के आदि हेतु के लिए लीला-क्रीड़ा का शब्द ही हमारे पास रह जाता है। या आत्मरति आत्मरमण जैसे शब्द रह जाते हैं।

आपके प्रश्न का दूसरा भाग मानो लीला-क्रीड़ा शब्द का उपयोग भी स्वीकार रखता है और उसके हेतु को भी व्यक्तिगत अहं के भीतर टटोल लिया जाता है। इसलिए वह एक तरह अर्थहीन ही बन जाता है।

कल्पना

३७२ कल्पना का, जिसका साहित्य मे बडा उपयोग है, आपकी दृष्टि मे क्या वही विश्लेषण है जो ऊपर आपने इमेजरी के प्रसग मे किया है ?

—कल्पना को उस विश्लेषण की आवश्यकता नहीं होगी। कारण, इमेजरी अभाव-पट पर भाव-विंब का नाम है। कल्पना उन बिम्बों की सृष्टि कर सकती है, लेकिन स्वय कल्पना भावमय और भावजन्य होने के कारण विश्लेषणाधीन नहीं है।

३७३ क्या यह कहना ठीक होगा कि जो लोग बाह्य-जगत् मे अपने को दीन-हीन और असमर्थ पाते हैं, वही अन्तर्मुख होकर कल्पनाशील बन उठते हैं ?

कल्पना दैन्य पर निर्भर नहीं

—यह तो पहले कहा कि इन्द्रियाँ बाहर से अन्दर की ओर हो जाती हैं, तो मन दूर तक काम कर सकता है। मन के स्वतन्त्र काम को कल्पना भी क्यों नहीं कह सकते ? जरूरी नही है कि उस कल्पना के प्रागल्भ्य के लिए बाह्य सफलताओं का दैन्य ही चाहिए। अत्यन्त सफल आदमी वे हुए है जो सफलताओं से भर नहीं गये हैं, बल्कि बराबर स्वप्नशील बने रहे हैं। बाह्य जगत् और उसकी फलता से जो भर जाता है, वह अवश्य कल्पनाहीन और जड बन जाता है। लेकिन जो जितना जानता है, उसके लिए न-जाने-गये का विस्तार उतना ही बढ़ता जाता है। जो जितना पाता है, उतना ही अनपाये का बोध बढ़ता जाता है। तृष्णा जो कभी शान्त नही होती है, हर तृप्ति पर अधिक अतृप्त होती बतायी जाती है, उसका यही सार है। आशय है कि अपने भीतर के भाव के प्रति बाहर के अभाव की खींच काम करती रहे, तो कल्पना कुण्ठित नहीं होती। बाहर का अधिक-से-अधिक भी उस अन्तर्भाव को परास्त कर सकता और अभाव को भर सकता है, यह असम्भव है। इसलिए कल्पना का ऐश्वय किसी प्रकार के दैन्य पर निभर नहीं है।

३७४ कल्पना को जिसे सांसारिक भाषा मे मन की उडान और दिवास्वप्न भी कहते हैं, जगत् में क्या उपयोग आप मानते हैं ? साहित्य तक मे जब रचना अधिक कल्पनाशील और उडानभरी हो जाती है, तो वह निम्न कोटि की मानी जाने लगती है। ऐसी अवस्था मे स्थूल जगत् मे यदि कल्पना को हेय और त्याज्य कहा और समझा जाय, तो क्या इसमे आपको एतराज होगा ?

कल्पना की उपयोगिता

—नहीं, मैं भूलोक को ही जगत् नहीं मानता। देवलोक और परलोक को भी

उनमें शामिल करता हूँ। कल्पना शायद भूलोक के लिए नहीं है, क्योंकि यहाँ तर्कसंगत बौद्धिक कर्म तक का ही उपयोग है। इस भूलोक पर जो वैज्ञानिक प्रयत्न हैं अधिक काल्पनिक आवास का व्यय करते हैं मेरे विचार में वे कल्पना को व्यर्थ नहीं करते हैं। कल्पना का उपयोग कला में और सृजन में है। उपयोगिता में तर्कयुक्त बुद्धि अधिक उपयुक्त है। इसलिए अलौकिक और असम्भव कहानियों का महत्त्व मेरे मन में कम नहीं है। टाल्स्टाय की एक भी कहानी सम्भव और यथार्थ नहीं समझी जा सकती। न भारत का एक भी पुराण इस कसौटी पर खरा उतर सकता है। लेकिन पुराणों ने भारत को हजारों वर्षों से मंडित और उन्नत रखा है और टाल्स्टाय की कहानियों ने बेहद संस्कारी काम किया है। हवाई पथ हमारे लिए इसलिए हल्का बन गया है कि सरीसृप की तरह शायद हम धरती से चिपटकर चलते या चलना चाहते हैं। लेकिन युग हवाबाज का है और बहुत जल्दी हवा से अन्तरिक्ष की ओर बढ़ जाना चाहता है। कल्पना को यहाँ तो उससे आगे चलना है, जहाँ आप उसको धरती के खूँटे से बाँध रखना चाहते हैं!

स्वप्न, दिवा-स्वप्न

स्वप्न और दिवास्वप्न भी मेरे निकट असत्य नहीं हैं। अगर वे वस्तु जगत् और स्व स्वप्नजगत् का कुछ तथ्य नहीं देते हैं, तो उस व्यक्ति का तथ्य अवश्य देते हैं, जहाँ से कल्पना का निकास हुआ है। और मानव-निरपेक्ष क्या तथ्य हो भी सकता है?

चेतावनी के लिए एक ही ध्यान काफी है। वह यह कि कल्पना प्रतिक्रिया में से लौटकर चलती है, या स्वयं क्रिया के स्रोत से आती है। प्रतिक्रिया में पलायन है। अन्यथा कर्मशील कल्पना तो पुरुष को विधाता के समकक्ष बना देती है।

कल्पना का विकास

साहित्य में बहुत कुछ हो सकता है जहाँ कल्पना का आभास न हो, केवल विकास हो। अर्थात् वह कल्पना पलायनवादी होने के लिए स्वप्न और स्वर्ग की दुहाई देती हो रस और तर्क आत्मीयता के गुण फैलाने के लिए नहीं। तो ऐसा विकास अधिक रंजन और विभ्रम से अधिक नहीं दे सकेगा और रंजन मुरझा रहेगा। शेखचिल्ली की कहानियाँ हैं तो उधर ईसप की कहानियाँ भी हैं। असम्भव दोनों हैं लेकिन ईसप की कहानियाँ यों ही नहीं रहीं हैं अब भी अपना निर्माण का काम कर रहा है। शेखचिल्ली की बातें कहकर उन्हें कभी टाला नहीं जा सका है।

लगता है कि समझ आनेवाले यथार्थ का प्रेम साहित्य के लिए सबसे बड़ा खतरा है।

३७५. कल्पना-लोक से स्वप्न-लोक मे चलें। रात्रि में जब हमारी सब इन्द्रियाँ शान्त और चेतना-प्रसुप्त हो रहती हैं, तब यह सपने हमे क्यों आते हैं?

सपनो में अतीन्द्रिय का हाथ

—कल्पना का लोक ही स्वप्न-लोक कहलाता है। कल्पना यह उत्तरोत्तर सूक्ष्म और तकमुक्त अवश्य होती है। यही स्वप्नो की सृष्टि करती है। भावना जब रेखाएँ ले उठती हैं तो उसे कल्पना कहते हैं, और वह अभाव पट पर बिम्बित होती है तो स्वप्न कहते हैं।
नींद मे इन्द्रियाँ सोती हैं। मन उस तरह नही सोता। अगर मन भी आधा सो जाता हो तो कुछ अतीन्द्रिय है, वह बिल्कुल नहीं सोता। स्वप्नो मे उसीका हाथ कहना चाहिए।

अवचेतना

मनोविज्ञान की भाषा मे उसको अवचेतना कहते हैं। यह शब्द इस अर्थ मे गलत भी नहीं है कि बुद्धि-चेतना की कार्य-कारण शृंखला उन सपनो मे नहीं रहती। किन्तु उसका अन्तस से कुछ सम्बन्ध नही है और स्वप्नाकाश का एक स्वतन्त्र लोक है, जहाँ से वे सपने परियों के पखो पर बैठकर हम पर उतरते हैं, यह समझने का अवकाश आज के दिन बिलकुल नहीं रह गया है। स्वप्न की सृष्टि हमसे है, पट ही ऐसा मालूम होता है कि हमसे बाहर है। जब हम कहते हैं कि सपने दीखे या दीखते हैं, तब निश्चय ही हम द्रष्टा रह जाते और स्वप्न कुछ हमसे बाहर भी समझे जा सकते हैं। बाहर पट है जो अभाव का बना है और अपने भीतर से भाव उठकर, तर्क-चेतना से स्वतन्त्र, उस पर जिन बिम्बो को बना आता है, वे ही स्वप्न कहलाते हैं। उन स्वप्नो के सहारे हम अन्तर-व्यक्तित्व और अन्तश्चेतना मे भी कुछ झाँकी पा सकते हैं। फ्रायड ने स्वप्नो का मानो विज्ञान ही रच दिया है और अनेक सपनो की सार्थक व्याख्या हो सकी है।

फ्रायड का स्वप्न-विज्ञान

३७६ फ्रायड ने सपनों का विज्ञान रचा है, जिसके आधार पर उन्होंने सपनों की व्याख्याएँ की हैं, उसे आप कहाँ तक वास्तविक और युक्तिसगत मानते हैं?
—मैंने उसका अध्ययन नहीं किया है। लेकिन व्यक्तित्व के मूल में फ्रायड को मग-वत्ता स्वीकार्य नहीं है। जो उसके लिए मूल है, वह दिव्यत्व नहीं है। इस तरह

स्वप्नों की उनकी व्याख्या मुझे ज्यों-की-त्यों मान्य होगी इसमें मुझे सन्देह है। फ्रायड उनका मानना है कि दमन बाहर की ओर से आता है और स्वप्न में दमित आकांक्षा अपना खेल खेलती है। मुझे प्रतीत होता है कि द्वन्द्व अन्तर्भूत है और बाहर का पट केवल उसके प्रकाशन का काम देता है। मान्यताओं के इस अन्तर में से स्वप्न के निदान-समाधान में भी अन्तर होना सम्भव है।

१७७. तब क्या आप नहीं मानते कि स्वप्नों में हमारी दमित इच्छाएँ, वासनाएँ आकार ग्रहण करती हैं? मूल द्वन्द्व जिसे आप स्वप्नों का आधार मानते हैं, वह भी तो बाह्य की अपेक्षा से स्वप्नाकार प्रकट हो सकेगा?

अपूर्णता जब तक है स्वप्न है

—बाह्य को मैं सर्वथा बाह्य भी नहीं मानता हूँ अर्थात् अपने अन्तरंग में अप्रकट सत्ता के रूप में पहले ही से उपस्थित मानता हूँ इसलिए अन्तर बाह्य का उस तरह का द्वन्द्व मानने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं रहती। मुझे लगता है कि निर्जन वन में रहकर भी आदमी विकार से शून्य नहीं हो सकता। समाज अथवा इतर बाह्य के कारण अन्तर द्वन्द्व है ऐसा मानने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं है। दमित इच्छा इस तरह मेरे लिए दमित से अधिक अधूरी बन जाती है। हमारे स्वप्न इसलिए नहीं आते हैं कि बाहर का जगत् हमें कुण्ठित रखता है बल्कि इस लिए आते हैं कि हम अपने में अपूर्णता की अनुभूति को लेकर चैन नहीं पा सकते। इसका मतलब यह कि जो इस समाज और संसार में बेहद सफल दीखता है, जो मानो ऐसी स्थिति तक पहुँच गया है कि संसार उसे कुण्ठा दे ही नहीं सकता बल्कि उलटा आतंक ग्रहण करता है, स्वप्न से वह व्यक्ति भी विमुक्त नहीं है। अपूर्णता जब तक है अपूर्णता की ओर मन में से उत्कण्ठाएँ उठेंगी और स्वप्नों को रूप देती ही रहेंगी।

स्वप्न और भविष्य

१७८. क्या आप स्वप्नों का सम्बन्ध भविष्य की घटनाओं से जोड़ना पसन्द करेंगे?

—काल और आकाश दोनों ही के छोर तक हमारी चेतना पहुँच रहना चाहती है। स्वप्नों में इस तरह संसार के साथ समय को भी भेदकर भविष्य की ओर पहुँचने का प्रमाण हो तो मुझे विस्मय न होगा। बल्कि एक तरह मैं इसे अनिवार्यता मानता हूँ।

१७९. स्वप्नों में जो प्रतीक विशिष्ट घटनाओं और वृत्तियों के सूचक बनकर प्रकट

होते हैं, वे सार्वभौम होते हैं या उनमें देश-काल का अन्तर व्यक्ति के अन्तर के साथ वर्तमान रहता है?

प्रतीक सापेक्ष सार्वभौम नहीं

—प्रतीक की आकृति अन्तरात्मा से निरपेक्ष होकर किसी सामान्य सिद्धान्त से अनुगत हो, इसकी मुझे कम सम्भावना मालूम होती है। आज भी एक भूखे के मन में लड्डू का चित्र आ जाता है, दूसरे के मन में गेंद का है। लड्डू के गोल आकार के गोलाकार होने के आधार पर अलग-अलग के अनुमान करना और अटकलें लगाना ठीक नहीं होगा। इन दोनों में प्रकट जो होता है, वह यह कि इन प्रतीकों के प्रति कर्ता का सम्बन्ध उलट जाता सा है और क्योंकि दोनों साथ हैं, इसलिए इससे निश्चित अनुमान भग्न हो जाता है। आधुनिक स्वप्न-विज्ञान में तर्कानुमान की बेहद खींचतान मालूम होती है। और जैसे सब कुछ को कामेन्द्रिय से जोड़ने का सूत्र सबका वहाँ बैठा हुआ रहता है। इसलिए वह मनोविज्ञान और स्वप्न-विज्ञान मुझे तो काफी अविश्वसनीय और अ-विज्ञान जान पड़ता है। बाह्य प्रतीक का अन्तर्भाव से स्वतन्त्र कोई अर्थ निश्चित कर देना मुझे खतरे से खाली नहीं जान पड़ता।

३८० स्वप्न कितनी दूर तक व्यक्तिगत चरित्र और मानस के उत्कर्ष-अपकर्ष के सूचक बनकर प्रकट होते हैं और कितनी दूर तक वे पूर्ण-भगवत्ता की अनुभूति व्यक्ति को करा जाते हैं?

सपनों की सम्भावनाएँ

—स्वप्न का सम्बन्ध अन्तर-द्वन्द्व की अवस्था से है। द्वन्द्व आप जानते ही हैं, अंशता-पूर्णता और अहन्ता-भगवत्ता के बीच है।

स्वप्न बिम्ब में अहन्ता का ज्वलन कितना है और भगवत्ता का आभास कितना है, यह कर्ता से निरपेक्ष किसी नियम में निश्चित नहीं किया जा सकता। अहन्ता जिनकी अधिक समर्पित है, उनके स्वप्नों में भगवत्ता का अधिक दर्शन हो सकता है। सच इतना ही है कि अंशता प्रतिक्षण अपने चैतन्य-सूत्रों से पूर्णता को छू और पा लेना चाहती है। स्वप्नोन्मुख निद्रा या भावना या कल्पना उसी तथ्य की परिचायक है। जो हम हैं उसका विशदीकरण जब कि स्वप्नों में देखा जा सकता है, तो जो हम होना चाहते हैं उसका भी आभास उन स्वप्नों में रहता है। हमारा होना सीमित है। वह सम्भवता से बाहर नहीं जाता। स्वप्न सहज असम्भव हो जाते हैं। यह नहीं कि उन असम्भव सपनों का हमारी सम्भव वर्तमानता से

सम्भव नहीं है, पर हमारे भीतर की अमित असीमित और असम्भव सम्भावनाएँ भरी हुई हैं स्वप्न में उन सबका भी बल और संकेत होता है। कुछ ऐसा नहीं बचता जो सपनों में हम नहीं कर गुजरते। फिर भी उन सपनों का सूत्र हमारे साथ लिपटा और अटका ही रहता है। सपने में हमें एक दुर्दान्त महा राक्षस दबोच लेता है आँख खुलने पर पाते हैं कि छाती पर हमारा अपना ही हाथ रखा हुआ है। अर्थात् दूर से दूर छोर तक जाकर भी किसी डोर से सपना हमारी वर्तमानता से लिपटा हुआ भी रहता है। किन्तु डोर के इस सिरे से यह निश्चित नहीं होता कि वह डगर कहाँ तक जा सकता है। यह सिरा अहन्ता का है, परला सिरा भगवत्ता का होने के कारण बे-ओर-छोर रहता है। इसलिए सपने की सम्भावना की सीमा नहीं है।

सपनों में मूल अन्तर्ब्रह्म की अभिव्यक्ति

मूल अन्तर्ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वप्न में होती है, इतना ही निश्चित है। शेष उससे अन्तर्ब्रह्म की ही कल्पना की जा सकती है। अन्तर्ब्रह्म का साक्षी केवल परब्रह्म है अन्यथा वह अज्ञेय है। इसलिए स्वप्न का निर्वचन नहीं हो सकता। साथ ही यदि स्वप्न से अन्तर्ब्रह्म की ओर तो थोड़ी-बहुत हो भी सकती है अन्तश्चेतना की ओर से स्वप्न निर्वचन का काम कठिन और अविश्वसनीय मानना चाहिए।

१८१ इस बात को तनिक और स्पष्ट करें। अन्तश्चेतना की ओर से स्वप्न निर्वचन का काम हो भी कैसे सकता है, क्योंकि अन्तश्चेतना तो सर्वथा ज्ञान की पकड़ से बाहर है। पहले प्रश्न में जो मैंने पूछा था, वह यह कि स्वप्न कितनी दूर तक और किस प्रकार हमारे अन्तर्मन के व्यक्तिगत स्वरूप को प्रकट और स्पष्ट करते हैं? और क्या स्वप्नों से किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का सही अन्दाज लगाया जा सकता है?

सपनों से व्यक्तित्व का सही अन्दाज

—हाँ सही अन्दाज शायद स्वप्न से ही लगाया जा सकता है। कारण स्वप्न में हमारी वर्तमानता ही नहीं प्रकट होती है सम्भावनाओं और इच्छाओं का संकेत भी वहाँ से मिल सकता है। हम जो हैं वह स्वत्व है जो होना चाहते हैं वही व्यक्ति है। व्यक्तित्व जिसे कहते हैं वह इन दोनों को मिलाकर बनता है। हमारी कल्पनाओं से ही नहीं अभीप्साओं से भी व्यक्तित्व का अनुमान होता है। प्राप्त भोग नहीं बल्कि प्राप्य मूल्य में भी हमारा प्रकाशन होता है। स्वप्न में मानों ये दोनों घुल-मिल रहते हैं। जो हम हैं और वह भी जो हम नहीं हैं स्वप्न में समा जाता है।

विद्यमानता और सम्भवता के सूत्रों और तथ्यों को उस स्वप्न की बुनकारी मे से कैसे अलग-अलग किया जाय, यह बड़ा प्रश्न है और शायद सबसे कठिन विज्ञान है। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि हम स्वप्न के कर्ता नहीं होते हैं, केवल द्रष्टा होते हैं। यह भी कह सकते हैं कि केवल भोक्ता होते हैं। किन्तु जिस अश मे द्रष्टा होते है, उस अश मे ज्ञाता बनने की भी कोशिश की जा सकती है। वह कोशिश होनी चाहिए। फ्रायड ने वह कोशिश की और अभिनन्दनीय कार्य किया। लेकिन पहले से मानो उन्होंने एक सिद्धान्त प्राप्त कर लिया और इसलिए स्वप्न-विज्ञान का उनका प्रयत्न आग्रह की ग्रन्थि मे कुछ उलझ भी गया है। उसको सुलझाकर स्वप्नों की अर्थहीनता को मिटाया और अन्तश्चरित्र और अन्य सम्भावनाओं मे पहुँचने का उन्हें माध्यम और साधन बनाया जा सकता है। ऐसे कौन जाने कि वस्तु-लोक से स्वप्न-लोक अधिक ही सत्त्वशाली निकल बैठे।

चरित्र

तुमने ऊपर चरित्र शब्द का उपयोग किया था। मैं उसे टाल गया था। कारण, चरित्र को समाज की अपेक्षा और उपयोगिता के तल पर समझा जाता है। वह अधूरी समझ है। व्यक्तित्व की एकत्रितता और उसकी सम्भावना की दिशा से चरित्र को समझा जायगा, तब वह अधिक काम का सिद्ध होगा और मानव-चैतन्य की सम्भावनाओ के उद्घाटन-उन्नयन मे अधिक सक्षम होगा।

स्मृत और विस्मृत स्वप्न

३८२ सपनों को दो भागों मे बांटा जा सकता है। एक तो वे जो हमारी स्मृति मे स्थिर हो जाते हैं, दूसरे वे जो हमे याद नहीं रहते। इस अन्तर को क्या आप स्पष्ट करेंगे ?

—स्वप्न का ज्ञानी मैं नहीं बनना चाहता। स्वप्न-दर्शिता ही मुझे सताने के लिए काफी है।

स्वप्न का सम्बन्ध जब हमारी वर्तमानता से घनिष्ठ होता है, तो हमारे संवेदन-सूत्रों और स्नायुओ पर भी दबाव दे आता है। इस तरह वह याद मे कुछ अटका रह जाता है। स्वप्न के अधिकाश हम द्रष्टा होते हैं। जिस अश मे भोक्ता हो आते हैं, उतने अश मे अधिक सम्भावना है कि स्वप्न हमसे खोये नहीं किंचित् साथ रहे।

८

अलौकिक शक्तियाँ

वशीकरण-शक्ति

१८१ मन की समस्त शक्तियों का उल्लेख और परिचय शास्त्र और लोक से मिलता है। मन की जिस शक्ति के द्वारा व्यक्ति दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को सम्मोहित और वशीभूत करके उन्हें सर्वथा निःशक्त और अपनी मुट्ठी में कर लेता है उस शक्ति की वैज्ञानिकता के विषय में आपको क्या कहना है?

आपसी प्रभाव

—आपसी प्रभावों का अनुभव तो नित्य-प्रति के व्यवहार में हममें से हर कोई करता है। एक अपनी जगह आज्ञा का पालन भी करता है, दूसरे पर अपनी आज्ञा चलाता भी है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति नाना प्रकार के सम्बन्धों के बीच चलता है। मेरी पुत्री अपनी पुत्री की माता भी है मेरे प्रति उसका जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध उसका अपनी पुत्री के प्रति है। इसलिए प्रभाव सम्बन्धानुगत है। वह व्यक्तित्व में नहीं है। प्रत्येक प्रभाव को सम्भव बनाने के लिए दो सिरे आवश्यक हैं। बिल्कुल सम्भव है कि जो बाल-बाल के साथ नवाब बना बैठा है, अपनी पत्नी के आगे भीगी बिल्ली बन जाता हो। व्यक्ति अपने में न निर्बल है, न प्रबल है। सम्बन्ध पर आश्रित है कि उसकी निर्बलता या प्रबलता प्रकट हो।

प्रभाव का व्यावसायिक प्रयोग

यह प्रभाव एक से दूसरे पर जाते और जीवन और व्यक्तित्व का निर्माण किया करते हैं। इन प्रभावों में अवैज्ञानिक कुछ नहीं है। किन्तु इन प्रभावों की अनिवार्यता को लेकर दुकानदारी भी की जा सकती है। जो प्रश्न आपने किया वह इन प्रभावों के व्यावसायिक प्रयोग को लेकर अधिक किया गया जान पड़ता है। तो वहाँ यह कहा जायगा कि वैज्ञानिक शक्ति का अवैज्ञानिक उपयोग किया गया है।

वैज्ञानिक शक्ति का अवैज्ञानिक विनियोग

हमारे भारत मे पण्डित नेहरू के व्यक्तित्व मे जादू का-सा असर माना जाता है। वह असर दीखता भी है। भारत से बाहर अगर वैसा जादू न दीखे, तो क्या कहा जायगा? नाना योगों और विधियो से एक विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न हो जाया करता है। आज के दिन तो इस विद्या और कला का रूप निखर गया है। राजनीतिक आकांक्षाएँ इतने बड़े पैमाने पर केन्द्रित हो गयी हैं कि राज्य जनमन और जनमति को गढ़ने में पूरी-पूरी दिलचस्पी लेता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यक्ति ऐसी प्रभावशक्ति को जुटाने में लगे बिना नहीं रह पाता। शक्ति जितनी है, वैज्ञानिक है। अर्थात् वह अकारण और व्यर्थ नहीं है। किन्तु उसका विनियोग अवश्य अवैज्ञानिक और इसलिए लोकमंगल की बजाय लोकविग्रह पैदा करनेवाला बन सकता है।

मैं मानता हूँ वैयक्तिक या दलीय अहं के संवर्धन मे इन मानसिक प्रभावों के विज्ञान का जब उपयोग होता है तब मानो विज्ञान अवैज्ञानिक हेतुओं के साथ पड़कर जीवन की और विकास की हानि ही करता है।

मेस्मरिज्म आदि

मेस्मरिज्म, हिप्नोटिज्म, स्पिरिच्युअलिज्म, योग इत्यादि अनेक शब्द ऐसे चलते हैं, जिनके द्वारा मानसिक प्रभावशक्ति को संचित और सिद्ध किया जाता है। उनके साथ जो इज्म लगा है, उससे उन सब संचित शक्तियों के विनियोग के बारे में मेरे मन मे संशय पैदा हो जाता है। उस कारण उन्हें वैज्ञानिक कहने में मुझे दुविधा होती है।

३८४ पारस्परिक सम्बन्धों से निरपेक्ष जो प्रभावशक्ति मन मे है मैं उसीकी बात करना चाहता हूँ। यह प्रश्न भी मैं यहाँ नहीं उठाना चाहता कि कहाँ उसका सदुपयोग हो रहा है और कहाँ दुरुपयोग। प्रश्न यह है कि मेस्मरिज्म, हिप्नोटिज्म, स्पिरिच्युअलिज्म और योग आदि मे जो एक बल पैदा होता है, वह मानस की किस गहराई से और किस प्रकार पैदा होता है? और अन्य व्यक्ति उससे क्यों और किस प्रकार प्रभाव-जड़ित हुए दीख पड़ते हैं?

बल और विष

—बल सब भगवत्ता में से आता है। और विष सब अहन्ता मे से। इसका कोई इलाज नहीं है कि भगवत्ता अहन्ता के आधार के सिवा किसी और तरह प्रकट नहीं

हो सकती है। इसलिए किसी शक्ति के वैज्ञानिक होने के सम्बन्ध में एकान्तिक योग से निरपेक्ष होकर निर्णय नहीं दिया जा सकता।

प्रभाव होता है डाला नहीं जाता। अर्थात् जब उन प्रभावों से अन्य के साथ कर्ता-कर्म का सम्बन्ध पैदा नहीं होता तब तक प्रभाव वैज्ञानिक ही नहीं आध्यात्मिक भी होता है। जहाँ प्रभाव में दोनों समभागी होते और इस तरह एक-दूसरे की परिपूर्णता में सहयोगी बनते हैं वहाँ वह सर्वथा शुभ और आध्यात्मिक और वैज्ञानिक है। वहाँ दोनों ओर व्यक्तित्व और कर्तृत्व पुष्ट बनता और प्रभाव अनायास पड़ता है। दूसरे उदाहरणों में प्रभाव साधा होता और मानव-सम्बन्धों में सब्जेक्ट-ऑब्जेक्ट चालक-चालित शासक-शासित का कृत्रिम सम्बन्ध पैदा कर देता है। इसे अवैज्ञानिक और अनीश्वरीय कहना पड़ता है। कारण वहाँ अहन्ता समग्रता के अनुगत नहीं होती बल्कि समग्रता अहन्ता का अधीन उपकरण बन जाती है।

मनोनिग्रह, संकल्प

१८. योग आदि साधनाओं में जो मनोनिग्रह और संकल्प की शक्ति को इतना महत्त्व दिया गया है, उसे आप कहाँ तक उचित और उपयोगी मानते हैं? क्या सचमुच मन वश में करने से और इन्द्रियों के निग्रह से अलौकिक और अद्भुत शक्तियाँ मनुष्य को प्राप्त हो जाती हैं?

योग का अर्थ जुड़ना एकसूत्रता

—योग का अर्थ है जुड़ना या जोड़ना। सीधा शब्द है और अर्थ को भी सीधा रखना चाहिए। उसमें वध या निग्रह से रखना नहीं आना चाहिए। निग्रह मन का यदि हो, तो निग्रह करनेवाला कौन है? व्यक्तित्व के एक अंश का दूसरे के साथ प्रतिकूल सम्बन्ध का नाम निग्रह नहीं हो सकता। किन्तु भाषा सदा अपूर्ण है और इसलिए निषेधात्मक निग्रहात्मक भाषा का भी किंचित् अर्थ हो सकता है। पर अर्थ यह कि उस भाषा के सहारे जो सचमुच उपलब्ध किया जाय वह अन्तरंग की अनुकूलता हो कोई जय-पराजय का विग्रहात्मक युद्ध न हो। निग्रह की भाषा में योग की व्याख्या करना मानो उसके मूलाशय पर ही विकार और आरोप लाना है। योग से समग्र व्यक्तित्व अपने अंगोपांगों समेत परस्पर संयुक्त बनना चाहिए। वैसा न होकर अगर मन और इन्द्रियों में और अन्तर्मन और बाह्य मन में या व्यक्तित्व के किन्हीं अंगों में युद्ध ठनता हो तो उससे समाहित और एकाग्र नहीं बल्कि द्वन्द्व और विभक्त व्यक्तित्व प्राप्त होगा।

योग का सीधा आशय है मन-वचन-कर्म या अन्तर्बाह्य की एकता या एकसूत्रता।

किन्तु योग या जब कि एक ओर घृणा चलता है, तब दूसरी ओर दुराग्रह को भी उससे बढ़ावा मिलने दिया जाता है। इन दोनों को मैं इष्ट नहीं कर सकता।

कृच्छ्र साधनाएँ

३८६ हठ-योग और वामपन्थी कृच्छ्र साधनाओं के बारे मे आपका क्या मत है? इस प्रकार की साधनाओं को और प्रवृत्तियों को मानस के किस कोने से स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त होती रहती है?

—जहाँ आग्रह और हठ है, वहाँ मूल मे वह अहं-प्रेरणा काम करती है जो भगवत्-प्रेरणा से विच्छिन्न हो जाती है। इसमे हम अपने में शेष की ओर से आये हुए अमुक सूचन का सम्मान नहीं कर पाते, प्रमत्त और सुषुप्त रह जाते और इस तरह अपनी ही परिपूर्णता से विमुख दिशा मे चलने लग जाते हैं। उस आग्रह में व्यक्ति पर-स्परता से वियुक्त होता है और स्वत्ता मे बन्द होकर मानो स्वरति का रस लेने मे तुष्टि मानता है। मैं इस प्रकार की साधनाओं से इसीलिए प्रभावित नहीं हो पाता हूँ।

स्पष्ट है कि उनका मूल अहन्ता है, जो अपने से शेष के प्रति निषेध या दर्प के सम्बन्ध का निर्माण करती और इस तरह दोनों ओर बन्धन और विकलागता की सृष्टि करती है।

सिद्धियाँ-चमत्कार

३८७ क्या आप मानते हैं कि मन मे संकल्प और पूर्ण केन्द्रीकरण लाकर मनोवांछित पदार्थों को अथवा आकारों को साकार रूप मे उपस्थित किया जा सकता है? पुराणों आदि मे वर्णित इस प्रकार की भक्तिपरक घटनाओं को क्या आप सगत मानना चाहेंगे?

—उस प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियों के बारे मे मैंने भी सुना है। मुझे उस विद्या मे रस नही है।

सवेरे ही मेरे यहाँ अखबार आ जाते हैं। डाक से कभी किताबें आती हैं। पार-सल से फल चले आते हैं। बीमा, मनिआर्डर से पैसे चले आते हैं। इस सबमे भी क्यों हम चमत्कार नहीं देखना चाहते? साक्षात् मूर्त फल आखिर हम तक आ रहा है कि नहीं। लेकिन यह सामान्य आदान-प्रदान की स्थिति हमारे मन मे कोई प्रश्न या विस्मय नहीं पैदा करती है।

धूप आ जाती है, जिसे जाने कितने अरबों मील से आना पड़ता है। वर्षा मे पानी आता है जो सहस्रों योजन दूर सागरों से उठकर आया है। घुटन में एकदम हवा

पड़ सिकुड़ती और हमें आमन्त्रित कर उठती है। यह सब घटनाएँ नित्य हम भोगते हैं, इसलिए उनके कारणों में जाने की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु यदि जानें तो मालूम हो कि सब परस्पर सम्बद्ध हैं और यहाँ का प्रभाव दूर-दूर तक के भाव को हिला देता है। गर्मी से हवा ऊपर गयी तो खालीपन को भरने के लिए चारों ओर से हवाएँ दौड़ आयीं। इत्यादि प्रक्रियाएँ प्रकृति में सदा ही घटित होती रहती हैं और हम विश्वास रख सकते हैं कि ब्रह्माण्ड में हम अकेले नहीं हैं सबसे जुड़े हुए हैं।

पूर्ण अहिंसक की इच्छा-मात्र से फल-प्राप्ति

जितने अकेले बनते अर्थात् अकेलेपन में तुष्ट हो बैठते हैं उतना ही हमारे प्रति प्रेम का आकर्षण कम होता है। कारण अहंकार से हम अपने को शेष से काट लेते हैं। इससे उलटी प्रक्रिया हममें यदि घटित हो निकले अर्थात् अहन्ता ममता से अनुप्राणित हो जाय तो मानो विश्व का प्रवाह अपने आप हमारी ओर बह निकलेगा और हमें भरपूर कर देगा।

अर्थात् ऋद्धि-सिद्धियों द्वारा जो घटित होता बताया जाता है उसे असम्भव मानने का मेरे पास कोई कारण नहीं है। रेडियो का यन्त्र आकाश व ईथर की लहरों को पकड़कर हमारे आगे नाना विचारों में पूर्ण कर देता है। टेलीफोन का यन्त्र दूर तक की सूचना ले आता है। आज ही मैंने सवेरे कलकत्ता-बम्बई से फोन पर बात कर ली है और मानो बिजली को साक्षात् प्राप्त कर लिया है। सबेरे ही फोन करनेवाले से ही तो आमों का टोकरा मेरे यहाँ आ गया है। मैं मानता हूँ कि द्वेष, विद्वेष और भ्रम से सर्वथा मुक्त व्यक्ति हो जाय तो उसकी यह भी आवश्यकता मानो समष्टि की चिन्ता बन जायगी। गीता में भक्त के लिए आश्वासन है कि उसका योग-क्षेम का वहन भगवान् स्वयं करेगा। इसमें यही आशय देखना चाहिए। इसे चाहे श्रद्धा की बात कहिये लेकिन मैं विज्ञान की बात भी कह सकता हूँ। पूर्ण अहिंसक की इच्छामात्र से फल प्राप्त होता है।

६

अरुचिकर भाव, पाप

भावो का वर्गीकरण

३८८ भारतीय रस-शास्त्रियों और पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मन के अनन्त भावों का शास्त्रीय वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। आपकी राय में क्या इस प्रकार का वर्गीकरण उपयोगी होता है और हो सकता है? जहाँ तक भारतीय रस-शास्त्र का सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ, इस वर्गीकरण ने हमारे काव्य को इतना रूढ़िबद्ध, सकीर्ण और गर्तपतित बना दिया है कि यह अभी तक खुली हवा का सौरभ प्राप्त करने मे समर्थ नहीं हो सका है।

रस और शास्त्र

—वर्गीकरण अनिवार्य ही है। बुद्धि अन्यथा चल नहीं सकती। पृथक्करण पर ही वह चल पाती है। रस और शास्त्र इन दो को मिलाते हैं, तो रसशास्त्र बनता है। सच यह कि ये दोनों अनमिल तत्त्व हैं। शास्त्रकी कम महिमा नहीं है, कम उपयोगिता भी नहीं है। गगा का नक्शा या विवरण की पुस्तक सामने हो तो हमे पूरा-पूरा पता चल जाता है कि हिमालय की किस कन्दरा मे से निकलती है, किस-किस प्रकार कहाँ-कहाँ होती और मोड लेती हुई बहती और अन्त मे सागर मे जाकर मिलती है। यह सब ज्ञान हमे कम आनन्द और लाभ नहीं देता। लेकिन इसका क्या किया जाय कि उस नक्शे या किताब से पानी की एक बूद भी नहीं मिल सकती है। शास्त्र अलग रहता है, रस स्वकीय होता है। भोग से मिल सकता है, ज्ञान से नहीं।

शास्त्र बाधक

इस तरह धर्म का ज्ञान धर्म के तेजोदय मे और साहित्य का ज्ञान साहित्य के आनन्द और सृजन मे बाधक बनता दीखे तो हैरान नहीं होना चाहिए। बल्कि हमे चुनाव कर लेना चाहिए। विश्वविद्यालयो मे से साहित्य का सृजन नहीं होता और नही होगा। जो होता है और होता रहेगा, वह दूसरी वस्तु होती और दूसरे

भोग की होती है। स्फूर्ति और आनन्द की आवश्यकता की पूर्ति उससे होती जो जीवन के खुले क्षेत्र में उन्हीं मूल्यों की खोज में रहता है। तभी क्या कभी इसकी चिन्ता करती है कि झाड़-झंखाड़ उसके प्रवाह को रोकते हैं? कौन जाने कि वे उस प्रवाह को किसी-न-किसी प्रकार सुरक्षित भी बनाते हों।

१८९. हमारे यहाँ आठ प्रमुख रस माने गये हैं और इनमें रौद्र बीभत्स भयानक भी हैं। जिनके स्थायी भाव क्रोध और जुगुप्सा और भय हैं। इन अप्रिय भावों से व्यक्ति को रस कैसे प्राप्त हो सकता है? क्या आप इस प्रक्रिया का कुछ बोध करा सकेंगे?

कर्ता-कर्म के योग से रस सम्भव

—मन-बुद्धि के पटल से पार जाकर कोई प्रभाव भाव में उतर पाता है तो मानो हमारे संवेदनों को छू जाता है। यह रस है किन्तु अमूर्त है। लौटकर फिर यह अभिव्यक्त होता और इस अभिव्यंजन को रस की मूर्त संज्ञा दी जाती है। या लौटकर भाव में व्यक्त होता है तो उसे रस का स्थायीभाव कहा करते हैं। भाव में अनुभूति है, अभिव्यक्ति नहीं है। रस संज्ञा अभिव्यक्ति की अपेक्षा से है अनुभूति से नहीं। रस यौगिक है, भाव को हम आत्मिक कह सकते हैं। यह कर्ता के साथ है। कर्ता का जब कर्म से योग होता है, तब रस सम्भव होता है।

हर योजक सृष्टि रस-मय

सर्जन और विमर्श योजक भाव में से रस-सृष्टि क्यों मानी जाती है यह फिर शायद आपका प्रश्न रह जाता है। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक यौगिक और योजक सृष्टि रसमय है। यह प्रश्न नहीं है कि वह विमर्श या समर्पणमूलक है अथवा आह्लाद मूलक है। दोनों स्थितियों में रसयोग है क्योंकि दोनों अवस्थाओं में सम्बन्ध केवल समझ का नहीं है बल्कि उससे सघन और भावुक हो सकता है।

१९०. यह देखा जाता है कि अरुचिकर और निषेधमूलक पदार्थों और कार्यों की ओर मन में एक विचित्र और तीव्र आकर्षण वर्तमान रहता है। रस का प्रसंग लाकर मैं इसी परिस्थिति की वैज्ञानिक खोज का आग्रह कर रहा था। उपरोक्त आकर्षण रुचिकर और शुभ लगनेवाले पदार्थों और कर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र और तनिक अवसाद का-सा भाव लिये हुए रहता है। इस बारे में अपने विचार दें।

अपावनता की चमोटी

—यही पहली बात आ गयी कि पुण्य की अपेक्षा पाप में रस और आकर्षण क्यों अधिक होता है? पाप जिसे कहते हैं वहाँ अपावनता की स्पर्धा में अज्ञात रूप ऊर्जा

है। स्वभावत: अहन्ता के स्नायु उस समय तन आते हैं और शेष के प्रति उसके सम्बन्ध सूत्रो मे एक भराव आ जाता है। वैर और प्रतिद्वन्द्विता मे अनिवार्य आकर्षण अनुभव होता है। इसीसे उसमें रसबोध है। जब घण्टो जूझते रहकर भी बाजी मानो बराबर की रहती है, हार-जीत जल्दी नहीं हो पाती हो, तो ऐसे प्रतिद्वन्द्वी का आकर्षण तीखा हो जाता है। शतरंज मे बार-बार ऐसे प्रतिद्वन्द्वी की याद आती और ज्यो-त्यो उसे हराने की इच्छा जागती रहती है। हर खेल का यही हाल है। कोई खेल मजा नहीं देता, जब तक दाँव न हो और हार-जीत की बदाबदी न हो। पाप में मानो यही दशा हमको प्राप्त हो आती है। हम सारे जगत् के विरोध मे, मानो लोकमत के विरोध मे अपने को पाते और इस तरह एक विलक्षण उत्कण्ठा अनुभव कर आते हैं। आरम्भ मे जिसमे सकोच होता, बढ़कर उसीमे गर्व होने लगता है। पाप की यह शक्ति इस तरह हमे बराबर ही चुनौती देती रहती है। एक स्थल पर आकर अहन्ता मानो आत्म-गरिमा में उस चुनौती को पकडती और स्पर्धापूर्वक उलट कर बढ़ चलती है।

अहन्ता के विस्मयजनक कर्म

विस्मय होगा आपको यह जानकर कि अहन्ता जब अपने में क्षुब्ध प्रक्षुब्ध होकर चँहक पडती है, तो कैसे-कैसे काम कर जाती है। विष्ठा और वमन तक का खाना सम्भव बनता है। और यह नित्यप्रति घरो मे हम देखते हैं कि आत्म-गर्व मे सिर फोडा जाता है, अपने को नोचा और काटा जाता है और ऐसे सन्तोष प्राप्त किया जाता है। सन्तोष इस बात का होता है कि सामने का व्यक्ति कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकता, हारा-सा ठिठका किम्मूढ़ रह गया है। उसकी पराजय और अपनी विजय इसमें मालूम होती है। अर्थात् अहन्ता के चहकने और ठन आने पर जो औंधा है, वह सहज हो आता है और जो अरुचि और विमर्श का कारण है, उसीमे रुचि और प्रवृत्ति होने लगती है। यह अहन्ता के लिए कम महिमा और गरिमा का प्रश्न नहीं है कि वह सारी भगवत्ता को नेस्त-नाबूद करने की चुनौती दे उठे और सचमुच वैसा कर निकले। पाप का कुछ उसी प्रकार का मनोविज्ञान है और इसी कारण बडे अपराधी बडे शालीन और आत्मविश्वासी पुरुष पाये जाते हैं। इतिहास के महान् अपराधियो की गवेषणा हो, तो क्या जाने अधिकाश वे निकलें जो महान् नेता और विजेता समझे जाते रहे हैं। यह लगभग अनिवार्य है कि बडा पाप बडी अहन्ता की सृष्टि करे और यह दर्पी व्यक्ति अपने समय और समाज मे गरिमामय समझा जाय।

यह केवल इन दोनों के बाह्य शारीरिक रूप-आकार से ही सम्भव है ? आन्तरिक मनःस्थिति और उससे प्रेरित कर्म के प्रति घृणा क्या हमें नहीं होती ? आपके अहिंसा-दर्शन में इस घृणा का क्या मूल्य और महत्त्व है ?

घृणा है

—मैं इनकार नहीं कर सकता घृणा है तो है। नहीं होनी चाहिए, यह कहकर मैं तनिक भी सन्तोष अपने लिए नहीं जुटा पाता हूँ। 'चाहिए' से मैं नहीं चल पाता। 'है' को स्वीकार करना चाहता हूँ और उस समस्त 'है' के सार को और भाव को पा लेना चाहता हूँ। सत्य से मैं डरना और चौंकना और पीछे हटना नहीं चाहता। मेरा अहिंसा-दर्शन कोई हो तो वह हिंसा से भयभीत नहीं हो सकता।
संस्कृत में और इसलिए हिन्दी में भी बुरे के लिए असत् शब्द है। अर्थात् वह है ही नहीं। घृणा यदि है तो बुराई या असत् कहकर मैं उसे नहीं टाल सकता। नहीं है यह कहकर तो वह प्रश्न से ही एकदम हट जाती है। लेकिन अगर है, और प्रश्न का यहीं से आरम्भ होता है तो मैं उसको गुण तक मान सकता हूँ।

घृणा की शक्ति

घृणा यदि गुण हो सके तो उसे पूरे तौर पर अपनाया जा सकता है। पूरे तौर पर अपनायी गयी घृणा में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह वस्तु की वस्तुता और व्यक्ति के व्यक्तित्व को पार कर उसमें जाकर उसे जो सचमुच और सर्वथा 'नहीं' अर्थात् असत् है। ऐसी घृणा प्रेम का आनुषंगिक रूप होगी ऐसा मुझे प्रतीत होता है। पापी को प्रेम करने की राह में ही पाप से घृणा करना सीख लेना होगा। पापी से उतना ही प्रेम सम्भव हो सकेगा जितनी पाप के प्रति घृणा होगी। अर्थात् पापी को हम सम्पूर्ण आत्मीय भाव से प्रेम कर सकें इसके लिए अनिवार्य हो जायगा कि उसके पाप को सर्वथा अनात्मीय मानकर पूर्ण घृणा कर सकें। पापी को आत्मीय मानेंगे तो यह देखे बिना नहीं रह सकेंगे कि उसका पाप स्वयं वह न था बल्कि उसका रोग था। इन दोनों को पृथक् करने की क्षमता उसी प्रेम में होगी जो रोग और विकार से कभी समझौता न करेगा और उससे लड़ने में कुछ न उठा रखेगा। ऐसा प्रेम रोग के प्रति अत्यन्त निठुर और निर्दय इसी कारण हो सकेगा कि वह रोगी के प्रति सर्वथा समर्पित होगा। मैं मानता हूँ कि रोग के प्रति यह शत्रुता पाप के प्रति यह घृणा दुर्गुण के बजाय सद्गुण हो जाते हैं। कोई आस्तिकता इन निषेधात्मक सद्गुणों के बिना तेजस्वी नहीं हो सकती।

१११ आपने अपविकार भाव अथवा पाप का मूल अहन्ता और पुण्य का मूल सत-

वत्ता मे माना है। इसका अर्थ क्या यह हुआ कि हमारे अन्तरंग मे अहन्ता
भगवत्ता का द्वन्द्व रावण और राम के द्वन्द्व की तरह निरन्तर चलता रहता है
पाप को सार्थक बनाने के लिए अहन्ता का भगवत्ता के सामने झुकाया जाना नि
आवश्यक है।

पाप-पुण्य अहन्ता में

——भगवत्ता मे कोई द्वन्द्व नहीं है। द्वन्द्व सब अहन्ता की अपेक्षा से है। अ
पाप पुण्य दोनो अहन्ता मे और अहन्ता की अपेक्षा मे सम्भव बनते हैं।

राम-रावण-युद्ध

हाँ, राम-रावण युद्ध व्यक्तित्व मे बराबर ही चलता रहता है। यदि हम यह
सकें कि क्या राम और क्या रावण, दोनो की सृष्टि एक उद्गम से है तो जय-
जय की भाषा उतनी रुद्र और उग्र हमारे लिए नहीं रह जायगी। राम-रावण
मे, आध्यात्मिक व्याख्या बताती है कि, रणोद्यत और रणप्रवृत्त रावण के अभ्य
मे राम से स्वय हारने की इच्छा विद्यमान थी। पाप मे भी कुछ यही मा
चाहिए। पाप अपनी स्पर्धा से उतरकर सहजता मे आ सोना चाहता है।
का आतक यदि वह जतलाता है, तो कही गहरे मे उसमे यह माँग भी विद्य
रहती है कि वह आतक इसीलिए किसीके निकट अस्वीकाय बन जाय और
उसके भीतर की असलियत को, उसके आहत मम को देख सके। भगवत्ता से विच्
होकर अहन्ता पुष्ट नहीं बनती है, क्षत-विक्षत मात्र होती है। इस आहत भाव
लेकर ही वह उलट पडती है और निपेध मे से अपनी साथकता पाने की चेष्ट
पड जाती है। इस समस्त चेष्टा के बावजूद असल मे वह प्रतिक्षण परावृत्त हो
चाहती है। लेकिन अहतप्त होने के कारण किसी अह-बल के सामने वह परा
नहीं हो सकती है, राम-बल के समक्ष ही वह झुक सकती है।

जीव-ब्रह्म तादात्म्य

इस द्वन्द्व मे 'झुकाने' की बात जहाँ आती है, वहीं 'न-झुकने' की स्पर्धा खडी हो ज
है। इसलिए झुकाने का प्रश्न नही है। भगवत्ता इस रूप मे काम नहीं करत
इस तरह समस्त अन्तर्द्वन्द्व मे मानो भगवत्ता को अपनी ओर से सीधे कुछ क
को नहीं रह जाता है। उसकी ओर से भी स्वय अह ही काम करता रहता

और अहं को इस प्रकार तदात्मता में न देखकर विपरीतता में देखते हैं वे अपने पर्यस्त अन्तर्द्वन्द्व का सही निदान नहीं दे पाते। अहं में प्रतिकूलता जितनी है प्रतिक्रियात्मक है, प्रकृत नहीं है। स्पर्द्धापूर्वक ही उसे साथ रखा जा सकता है। निस्संग और सहज अनुकूलता है। ऐसा अनुकूल अहं निवायक और प्रकाशक होता है। प्रतिक्रिया के भाव से आपन्न होने पर ही अहं मानो बाधक होकर जीवन में उत्पात करता है, जिसे पाप इत्यादि कहा करते हैं।

●

१०

मृत्यु, पुनर्जन्म, कर्म-विपाक

सस्कार

३९३ क्या आप सस्कार की सत्ता मे विश्वास करते हैं? यदि हाँ तो सस्कार की क्या परिभाषा आप करेंगे?

—समय यदि व्यर्थ नहीं है तो प्रत्येक क्रिया हममे कुछ-न-कुछ जोड जाती है। फलस्वरूप वह स्थायीभाव जो हमारा अग-रूप हो जाता है, सस्कार है।

३९४ क्या आप मानते हैं कि इस प्रकार के स्थायी भाव स्थायी रूप से अह से चिपटे रहते हैं और इस जन्म और अगले अनेकों जन्मो मे भी वे उसके अग बने रहते हैं?

अहभाव परिमित

—अह-भाव मेरी दृष्टि मे स्वय अपनी परिमित आयु तक रहनेवाला भाव है। इस तरह वह स्वय अस्थायी है।

व्यक्तिपरक सन्दर्भ मे ही देखने से अह स्थायी इकाई जैसा मालूम होता है। अखिल के सन्दर्भ मे देख सकें तो वह आवश्यकता नहीं रह जायगी।

ऐसी अवस्था मे प्राप्त सस्कार का क्या होता है? वही होता है, जो तालाव मे उठी लहर के साथ होता है। जरा-सी ककरी डालिये तो सरोवर के तल पर सिहरन होती है, जो छोर तक पहुँचती और फिर शान्त हो जाती है। इसी तरह सच पूछिये तो प्राप्त हुआ सस्कार मुझ तक नही रहता, मानो विश्व-चेतना मे समाकर वही पर्यवसान पाता है।

३९५ यदि व्यक्तिगत अह की दृष्टि से ही विचार करें, तो क्या आप नहीं मानेंगे कि यह सस्कार व्यक्ति के अन्तरग के प्रेरक बने रहते हैं और जन्म-जन्म में उसे प्रेरणा देते रहते हैं?

सस्कार समष्टि को प्राप्त

—पहली मान्यता को स्वीकार करें, तो दूसरी मान्यता अपने-आप अनिवार्य हो जाती है।

किन्तु जिसके लिए पहली मान्यता अनिवार्य न हो वह इस आयु में व्यक्तिगत अहं द्वारा प्राप्त हुए संस्कारों का अन्तिम फलितार्थ क्या माने? यही कहना होगा कि उन संस्कारों का सार व्यक्ति द्वारा जाति को और जाति द्वारा समष्टि को प्राप्त होता है।

११६. मन और बुद्धि आयुभर जो भले-बुरे कर्मों की छाप अपने अन्दर ग्रहण करते हैं और अपक्व, अर्पित हुए बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, वे क्या व्याकुल हुए उस समष्टि चेतना को कलुषित और पंकिल करने का अवसर नहीं पा जाते?

स्याही की बूंद

—अवसर पाने का प्रश्न कहाँ है। वह तो उस मान्य में नियोजित ही है। स्याही की बूंद सारे पानी को स्याह करती है। दूसरा कुछ हो नहीं सकता। खुर्दबीन से देखें तो मालूम हो सकता है कि उस स्याही के कण सर्वथा पानी में घुल नहीं गये हैं, बल्कि कुछ अलग भी बने रह गये हैं। पर अन्ततः चित्-अणुओं को इस तरह स्वयं में बन्द रहने की सुविधा नहीं हो सकती है। वह व्याप्त चैतन्य में समा जाने को ही है।

ग्रन्थि बिखरने को बाध्य

सच यह कि अहं-ग्रन्थि खुलने के लिए बँधती है। संस्कार भले हों या बुरे, अन्ततः व्यक्ति को आनन्द की राह से नहीं तो कष्ट के मार्ग से इस अनुभूति तक ले ही आते हैं कि वह स्वयं में नहीं है। जितनी सम्बद्धता अहं में समा सकती है, आयु भर समाती रहती है। उसके बाद मानव-ग्रन्थि बिखर जाती है और यह मानने का कारण नहीं है कि वहीं बिखरती नहीं है या वही ग्रन्थि बनने में फिर आये बिना नहीं रहेगी।

निखिल में अन्तराय नहीं

बचपन में जहाँ मैं पढ़ता था वहाँ खजूर के पेड़ बहुत थे। उन पेड़ों के तनों पर अक्सर चौड़ी-चौड़ी दूर पर एक-एक वलय का चिह्न रहा करता था। मालूम हुआ कि हर वर्ष उसके पत्ते झड़ जाते हैं और नये पत्ते आते हैं और हर नया साल वृक्ष की काया पर अपना यह अलग निशान छोड़ जाता है। खजूर की आयुभर यह निशान उसके बहिरंग पर, और संस्कार अन्तरंग पर बना रहता है। लेकिन जब स्वयं खजूर गिरेगा तो क्या पृथ्वी पर भी वैसे निशान बने रह जायेंगे? स्वयं खजूर की भाषा में हम अधिक-से-अधिक यह कह सकते हैं कि उसके फलों की गुठली से नये खजूर जन्म लेंगे। गुठली तक कितने साल-साल वर्षों में संस्कार अपना कुछ प्रभाव

पहुँचा पाता होगा, यह कहा नहीं जा सकता। किन्तु इसकी शोध करें, तो भी अमुक खजूर की व्यक्तिमत्ता का विचार तो बहुत पहले ही छूट चुका होगा। प्रत्येक वर्ष की छाप प्रत्येक व्यक्तित्व अपने भीतर-बाहर संचित रख सकता है। लेकिन वह सब कुछ चित् की भाषा मे टिक जाने योग्य है, यह नहीं कहा जा सकता। जो टिकने योग्य होगा, वह चित् मे समाहित होता ही रहता होगा। पहले ही हमने मान लिया है कि यद्यपि भगवत्ता मे से ही अहन्ता का उदय है, किन्तु इस कारण सच्चिदानन्द मे कहीं कोई खण्डित भाव नही है। व्यवधान की शून्यता जो बीच मे दीखती है, वह हमारी आँखो के कारण है। अन्यथा निखिल नीरन्ध्र निर्बाध और निरन्तर है। उसमें कही अन्तराय नही है।

३९७ जैसा आपने कहा, यदि ग्रन्थियाँ बराबर बनती, बिखरती और फिर बनती रहेंगी, तो चेतना के विकास, आत्म-सस्कार और आत्मोपलब्धि को अवकाश कहाँ रह जायगा? और पश्चात्ताप, अर्थात् अन्तरग व्यक्तिमत्ता के अपने कृत्य विशेष पर अनुताप को कहाँ स्थान रहेगा?

अंश को समस्त के सन्दर्भ में देखें

—हाँ, अंश-सन्दर्भ से छूटने पर स्वय अह का अर्थ ही लुप्त होता लगता है। लेकिन इस कारण उस सन्दर्भ पर अटक रहने से भी चित्-वृद्धि का विकास नहीं होता। यह सामने नीम का पेड है। हर क्षण उस पर से पत्तियाँ झरती हैं और नयी फूटती रहती हैं। वह पत्ती क्या वृक्ष की ओर से वायु को और वायु की ओर से वृक्ष को कुछ नहीं दे ले जाती? अपने समय मे वह पत्ती वसन्त की हिलोर में पुलकित हुई होगी और निदाघ में संकुचित। उस द्वारा वह अनुभूति समूची वृक्ष यष्टि को प्राप्त बनी होगी। लेकिन हम खिडकी से बैठकर सम्पूर्ण वृक्ष को लहलहाता देखते और पत्तियो के पृथग्-विचार से निश्चिन्त बने रहते हैं। यह प्रश्न ही नहीं उठता कि प्रत्येक पत्ती का क्या अपना जीवन नही है, वह अपने मे व्यर्थ या सार्थक क्या है? हर पतझर मे वृक्ष सब पत्तियो को उतार डालता है और फिर सूखी शाखाओ मे से असख्य नव किसलय उगा आता है। यह क्रम हमारे आनन्द और उपयोग का विषय बना रहता है, प्रश्न और समस्या का विषय नहीं बनता।

मैं मानता हूँ कि हमारे मन मे भी प्रश्न इसीलिए उठता और खुदबुदाता रहता है कि व्यक्ति के विषय मे वृक्ष से इगित पानेवाली समस्तता हमारी चेतना में प्रस्तुत नहीं बनती है। हम अपने को समग्र मानते हैं और पत्ती के रूप मे देख नहीं पाते हैं। हम स्व के सन्दर्भ से बाहर नहीं आ पाते हैं। यदि ऐतिहासिकता की ओर से देखें या जातीय जीवन की दिशा से अपने पर निगाह डाल सकें, तो चित्र बदल जाता

प्राप्त होती है। यदि मेरा पुनर्जन्म नही है, केवल यही एक जन्म मिला है, तो पाप पुण्य की क्या चिन्ता; भला क्या और बुरा क्या, 'ऋण कृत्वा घृत पिवेत्' की नीति ही क्यो न चले—इत्यादि प्रश्न नहीं उठते। स्व मे से व्यर्थता और सार्थकता जब दोनो समाप्त होती हैं, तो कृत्य का महत्त्व बढ़ जाता है, वह ह्रस्व नहीं होता। इस तरह अनुताप-परिताप अथवा उत्सर्ग-विसर्जन में वृत्ति और हेतु की ही विशालता आती है, उनमे निरर्थकता नहीं पैदा होती। मैं मानता हूँ कि व्यक्ति यदि इस अनुभव से भरा हो कि उसका दुष्कर्म कुनवेभर को ले डूबेगा, तो शायद उससे दुष्कम न वने। निजता और अहन्ता की तीव्रता ही मनुष्य को तुच्छता और द्रोह की ओर ले जाती है। विराट् का सन्दर्भ देने से अह की क्रिया-प्रक्रिया मे जब कि अन्तर नहीं पडता, तब आशय अवश्य विशद हो जाता है।

३९९. अह की सत्ता आप स्पष्ट स्वीकार करते हैं और समष्टि मे अह के विसर्जन को आप मुख्य मानते हैं। अह के अस्तित्व मे आने से लेकर विसर्जन तक जो उतार-चढ़ाव अह को देखने पड़ते हैं, वे क्या निश्चित रूप से एक ही जन्म मे समाप्त हो जाते हैं? और क्या मृत्यु के समक्ष आने पर हर अहं समष्टि में विसर्जित हो ही जाता है?

अपूर्णता जियेगी

—नही, अह सदा-सदा के लिए अशरूप है। इसलिए उसकी मृत्यु नहीं है। अपूर्णता और अतृप्ति सदा जीने के लिए हैं। जीवन-मृत्यु का अवसान केवल पूर्णता मे है। भगवान् न जीता है, न मरता है। वह अस्ति-नास्ति से ऊपर है। इसलिए जो अपूर्ण है, वह मर इसीलिए नहीं सकता है कि उसे प्रकार-प्रकार से और फिर-फिर जीकर पूरे होने के प्रयास मे लगे ही रहना है।

अतृप्तियां अक्षय

मरते समय व्यक्ति में कितनी लालसाएँ होती हैं, कितनी अतृप्तियां। इन अतृप्तियो का क्या होगा? क्या वे व्यक्ति की हैं कि उसकी समाप्ति के साथ समाप्त हो जायं? नहीं, वे अतृप्तियां मानो अपने में से नयी-नयी सृष्टि करती हैं। मैं मानता हूँ कि आदमी मे से फूटकर जो आकाक्षाएँ, आसक्तियां और अनुभूतियां चारो ओर अपने तन्तु फूंकती हुई फैलती हैं। देहान्त के बाद भी मानो वे जीती-जागती रह जाती हैं। साहित्य क्यो जीता है, जब कि कर्ता मर चुका होता है? ऐतिहासिक अन्य अनेक सृष्टियां क्यो हैं, जब कि इतिहास हर नये आते क्षण के साथ स्वय मरता जा रहा है? इसीलिए कि जो मरता है वही मरता है, उसके

द्वारा जो चरितार्थ हुआ रहता है वह नहीं मरता है वह अमर बना रहता है। यह प्रतीति विश्वासी को कठिन नहीं होनी चाहिए कि मरकर आदमी केवल मरता और खत्म या नहीं रह जाता है बल्कि मृत्यु द्वारा वह समग्र और अकाल सा हो जाता है। यही प्रतीति है जो पहुँचे हुए पुरुषों को मृत्यु के समय हिलने नहीं देती है, बल्कि समाविष्ट और आनन्दात्मक बनाये रखती है।

पुनर्जन्म की चित्राभिव्यक्ति

४ तब क्या आपकी कल्पना कुछ इस प्रकार है—मृत्यु हो जाने पर आत्मा तो बूँद की तरह परमात्म-सागर में लीन हो जाती है, पर जीव ने जो-जो उस जन्म में किया और जो-जो कामनाएँ आकांक्षाएँ क्षोभ आदि वहाँ लेकर मरा, वे सब एक प्रेरक शक्ति बनकर अन्तरिक्ष में वर्तमान रहते हैं और जब भी परमतत्त्व का एक अंश अहंबद्ध होकर भौतिक शरीर धारण करता है, तो वे अनन्त प्रवृत्तियाँ कामनाएँ, आकांक्षाएँ अपना कुछ भाग उस अहंबद्ध चेतनांश के साथ जोड़ देती हैं और इस प्रकार फिर एक नये जीव की सृष्टि हो जाती है ?

—चित्र जो बने बना लीजिये। पर यथार्थ सत्य इतना अनन्त है कि किसी एक चित्र में बैठ नहीं सकता है। फिर भी व्यक्ति को श्रद्धा की आवश्यकता होती है और फिर श्रद्धा-भक्ति को सगुण चित्र की आवश्यकता। इस भाँति चित्र अकारथ भी नहीं होते। किन्तु यह न मानने लगियेगा कि चित्र में सत्य आ बना है। यहाँ आपको लगता होगा कि पुनर्जन्म और पूर्वजन्म का भी एक तर्कसंगत चित्र अवश्य विश्वासियों के मन में है, मैं जैसे उसे अंकित बनाने दे रहा हूँ। उस चित्र में उनकी श्रद्धा को तोड़ने या डिगाने का मेरा तनिक आशय नहीं है। चित्र की सत्यता श्रद्धालु के व्यक्तित्व की अखण्डता पर निर्भर करती है। चित्र कोई गलत नहीं हो सकता है, न मान्यता कोई गलत हो सकती है। गलत होने के लिए केवल वह अहन्ता रह जाती है, जो युक्त होने से कतराती और विभक्त होने में रस लेती है। इसके सिवा गलती किसी मत अथवा मान्यता में नहीं रह सकती। कारण मान्यता सहारा है और जिसके लिए सहारा है प्रश्न उसके स्वयं गलत या सही होने का रहता है।

ज्ञात हमारे निकट बहुत थोड़ा है। वह भी स्वकीय भाषा में ज्ञान लगता है, अन्यथा वह भी अज्ञात है। उस थोड़े के बाहर शेष सब तो अज्ञात है ही। उस अज्ञात को अज्ञेय और व्यर्थ मानकर हम सहसा छोड़ नहीं सकते हैं। अनिवार्य है कि उससे हम अपना सम्बन्ध केवल अनुभव ही न करें, बल्कि प्रगाढ़ बनाने की ओर भी बढ़ें। नाना अनुमान-तर्कणा गणना-कल्पना के सहारे हम उन सम्बन्ध-सूत्रों को विश्व के

ओर-छोर तक फैलाते है। उनकी सार्थकता इसमें नहीं है कि वे निरपेक्ष-भाव मे कितने सही या गलत हैं, सार्थकता उनकी स्वापेक्षता मे है, इसमे कि कितने हमारे निकट वे उपयोगी होते और हमे सक्षम बनाते हैं। समस्त मत-मन्तव्य और ज्ञान-विज्ञान की मर्यादा हम पहचान लें, तो शायद एक को लेकर दूसरे के खण्डन के दम्भ से सदा के लिए बच जायँ। सहानुभूति का प्रवाह हमारे बीच निर्मुक्त हो। अर्थात् आपका चित्र सही है, दूसरे चित्र भी सही ह। सही इस बात के साथ कि वे मनोनुकूल चित्र हैं और हमारी आस्था और भावना के द्योतक हैं। उससे अधिक वे नहीं हैं, अर्थात् सत्य को बाँधने का दावा उनके पास नहीं है।

पुनर्जन्म, कर्म-विपाक की वैज्ञानिकता

४०१ तब क्या आप पुनर्जन्म और कर्म-विपाक को व्यक्ति और समाज के श्रेय के लिए कल्पित और स्थापित धारणा ही मानना चाहते हैं और उनमें किसी वैज्ञानिक सत्य को नहीं देखते ?

—कोई तथ्य वैज्ञानिक के नाम पर भी ऐसा नहीं है, जिसे मानव-निरपेक्ष कहा जा सके। हमारा यह आग्रह कि धारणात्मक कुछ ऐसा अवश्य होना चाहिए, जो सर्वथा और सार्वकालिक सत्य हो स्वरति में बनता है। सत्य ईश्वर है और ईश्वर को जिस रूप मे जो चाहे उसीमे देख सकता है। अर्थात् वह रूप धारणा में नहीं है, उससे आबद्ध नहीं है।

भारतीय समाज जिस रूप मे पुनर्जन्म को स्वीकार करता है, पश्चिम के लिए वह आवश्यक नहीं होता। इनमे से किसी भी एक समाज को गलत और दूसरे को सही ठहराना ठीक नहीं होगा। अर्थात् परम्परा से मान्य चली आयी धारणाएँ अमुक समाज के लिए सत्य और उपादेय होती हैं। दूसरे प्रकार की परम्परा मे पले समुदाय के लिए दूसरे प्रकार की धारणाएँ उसी प्रकार उपादेय हो सकती हैं। उनकी सत्यताओ को परस्पर टकराना ठीक नहीं है। जब हम सच को हमारा कहकर तुम्हारे सच से ऊपर बना देना चाहते हैं, तो मानो इसी चेष्टा मे वह सच झूठ हो जाता है। अहं-निरपेक्ष और मानव-निरपेक्ष मान लेने से सत्य के नाम पर इसी प्रकार की दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं। शास्त्रार्थ द्वारा सत्य के निर्णय के लिए चुनौती दी जाती है। और उसमे खोपड़ियाँ तक फोड़ी जाती हैं।

नहीं, सत्य-सम्बन्धी हमारी कोई धारणा अन्तिम और निरपेक्ष नहीं हो सकती। चाहे तो केवल इस कारण कि वह धारणा है।

४०२ ऊपर आपने माना है कि मनुष्य जो कर्म करता है, उसका रस उसकी मृत्यु के बाद अनन्त मे लीन हो जाता है। इस प्रकार क्या आप परोक्ष रूप में यह नहीं मान

रहे हैं कि आत्मा के मुक्त हो जाने के पहले तक उसके सूक्ष्म मन-बुद्धि-अहं आदि मृत्यु के बाद भी उसके साथ संलग्न रहते और उसे प्रेरित करते रहते हैं।

मन, बुद्धि अहं की निरन्तरता

—मृत्यु के पश्चात् नहीं मृत्यु के पूर्व भी हमारे कर्म का प्रभाव हमसे शेष को प्राप्त होता रहता है। जिसको मैं-तुम की संज्ञा से हम पहचानते हैं वे अलग्य घटक हैं, यह केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष है मानस-प्रत्यक्ष उससे आगे जा सकता है। समाज समष्टि आदि संज्ञाएँ मानस में ही प्रत्यक्ष होती हैं चर्म चक्षु को नहीं दीखतीं। इसलिए यह सम्भव हो सकता है कि किसीको मृत्यु के बाद उस सूक्ष्म-मन-बुद्धि अहं का अस्तित्व मानने की आवश्यकता न हो। सूक्ष्म अहं की स्थिति मृत्यु के बाद नहीं रहती या रहती ही है यह कहनेवाला मैं कौन हूँ। अर्थात् आप बड़े मजे में मान सकते हैं कि मृत्यु के अनन्तर सूक्ष्म मन-बुद्धि-अहं रहते हैं। यह मान्यता अवश्य तब घातक हो भी कि जब स्वयं आपके और समाज के लिए वह स्पष्टतः अनुपादेय हो। इससे पहले या अन्यथा किसी मान्यता को तथ्य-अतथ्य कहने में कुछ सार नहीं है।

मैंने जो कहा उसमें उन सूक्ष्म मन-बुद्धि-अहं आदि की मृत्यु के अनन्तर भी निरन्तरता के सम्बन्ध में कुछ मन्तव्य नहीं आता है। इतना अवश्य प्रतीत होता है कि समष्टि मन को यदि क्रियमाण होना हो तो वह व्यक्तिगत होने के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यों व्यक्ति बार-बार मृत्यु में मरता और जन्म में जीता दीखता है। इस जन्म-मरण की कड़ी के से समष्टिगत ही अभिव्यक्त होता है यह मान्यता स्वापेक्षित नहीं है। स्व अनुभव में ही समन्वित नहीं है। स्व और समष्टि को अविच्छ मानने से हम उस स्थान में पहुँच जाते हैं जहाँ अर्थ समाप्त है भाषा भी समाप्त है। इसलिए समष्टि और व्यष्टि इन दो संज्ञाओं के भेद पर ही अर्थ और काम चलता है। समष्टि अजन्म और निरन्तर है। व्यष्टि जन्म एवं मरणशील है।●

११

सत्य का आग्रह

सत्याग्रह

४०३. जब कोई सत्य पूर्ण निरपेक्ष और अन्तिम नहीं है, तब सत्याग्रह का क्या मूल्य और स्थान रह गया आप मानते हैं?

वह अपूर्ण का अस्त्र

—आग्रह अपूर्ण मे ही हो सकता है। अन्यथा आग्रह के लिए अवकाश ही नहीं रहता। सिद्ध के लिए सत्याग्रह असिद्ध बनता है। साधक के लिए सत्याग्रह ही मार्ग है।

अपूर्ण के लिए आग्रह इसलिए उचित बनता है कि पूर्ण पाने का और उपाय नहीं है। व्यक्ति अपूर्ण है, जो सत्य के रूप मे उसमे प्रतिभासित हुआ है, वह भी अपूर्ण ही है। पर अपूर्ण कहकर उसे वह छोड नहीं सकता। उसीके सहारे उसे जीना और मरना है। व्यक्तिगत धर्म इसलिए सत्य के उस रूप के प्रति अनन्य आग्रह का ही रह जाता है।

अहिंसा की पीठ पर सत्य अनिवार्य

सच्चा साधक जानेगा कि सत्य अनन्त है। जिस पर आग्रह है सत्य उस जितना ही नहीं है। इसलिए आग्रह रखकर भी सत्याग्रही भद्र और सविनय रहेगा। जीवन स्वीकार और इनकार इन दोनो तटो को रखकर ही चल सकता है। कुछ लेना और कुछ छोडना पडता है। निश्वास के बाद प्रश्वास आता ही है। अर्थात् निषेध की शक्ति जीवन-सामर्थ्य मे गर्भित है। अहिंसा मे मात्र स्वीकार है, जीवन अहिंसा से स्थिति और अवकाश प्राप्त करता है। स्थिति मे गति सत्य के आग्रह में से ही प्राप्त होती है। सत्याग्रह के बिना अहिंसा निष्क्रिय है। कर्म सत्याग्रह से से जन्म पाता है। गति और वेग सब वहाँ से आता है। अहिंसा के योग से जो होता है सो यह कि उस कर्म में बन्धन नहीं पैदा होता और उस गति से स्थिति

में भंग नहीं आता। लेकिन स्पष्ट रहना चाहिए कि केवल अहिंसा श्रेय को लाती है, जीवन की समता के लिए सत्य का आग्रह अनिवार्य धर्म होता है। वह मानो सिक्के का सामने का रुख है, उसके बिना अहिंसा मूल्यहीन हो जाती है। अहिंसा मानो उसकी पीठ है कि जिस सत्य को हमेशा समक्ष रहना चाहिए।

आग्रह का अधिकार

४५८. जब सभी सत्य अपूर्ण व्यक्तिगत और सापेक्ष हैं, तब आग्रह का अधिकार व्यक्ति को कहाँ रहा? क्योंकि व्यवहार में आग्रह में से ही अमानुषिकता जन्म लेती है।

—बल्कि मैं तो कहूँगा कि सत्य की पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के पास प्राप्त अपूर्ण सत्य के प्रति आग्रह और अर्पण का ही एक अधिकार रह जाता है। उससे अलग और अधिक कुछ उसका अधिकार होना ही नहीं है।

अमानुषिकता अविनय-प्रसूत

हाँ आग्रह से संघर्ष निकलता है। वह संघर्ष अमानुषिक यदि होता है, तो तब जब विनय की शर्त छूट और टूट जाती है। यदि विनम्रता की शर्त के साथ चलें तो सच्चे आग्रह में से निकला हुआ संघर्ष मानवीय ही नहीं दैवी तक हो जाता है। धर्म-युद्ध यदि धर्म-युद्ध बनता है तो तभी जब एक ओर से धर्म की मर्यादाओं की रक्षा प्रथम और शत्रु का पराजय मानो द्वितीय हो जाता है। ऐसे धर्म-युद्ध में से ही सत्यापित्ता निकलती और संस्कृति सम्पन्न होती है।

४५९. बुद्धि ही मेरे विचार में सत्य को पहचानती और पकड़ती है। उस बुद्धि का प्रयोग-क्षेत्र आप क्या निश्चित करते हैं?

सत्य बुद्धि द्वारा अप्राप्य

—नहीं बुद्धि तर्क से चलती और मत तक पहुँचती है। सत्य उसके पार रह जाता है। इसलिए बुद्धि में से कभी सत्याग्रह का निर्णय नहीं आता।

मूर्त के साथ हमारे सम्बन्धों के नियमन के काम बुद्धि आती है। सत्य मूर्त नहीं होता इसीसे बुद्धि नहीं बल्कि श्रद्धा में से सत्याग्रह की उद्भावना होती है। बुद्धि जब तक है उपाय होता रहता है। उपाय जब हार जाते हैं, अर्थात् बुद्धि हार जाती है तब सत्य में शरण लेनी होती है। अपने से हारकर सब सम्भावनाओं को चुकाकर, अन्त में सर्वेश्वर की शरण जो लेता है, वह सत्याग्रह चलाता है। आग्रह दीखने में है, अन्यथा वह आत्मार्पण है। सत्याग्रही विनम्र होता है, वह स्थिर

के हाथ मे होता है। वही अपने को सौप रहता है। वहीं कर्ता रह नहीं जाता। मानो सत्याग्रही सत्याग्रह मे अपने को पाता है, सत्याग्रह उतना 'करता' नहीं है।

सत्याग्रह विवशताजन्य, स्वय-प्राप्त

इसलिए सत्याग्रह के साथ शर्त नही हो सकती। उसमे तरतमता नही हो सकती। सौम्यतर और सौम्यतम की भापा वुद्धि की है। वह दूसरे की ओर से आ सकती है, स्वय सत्याग्रही की ओर से उस प्रकार की भापा के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। मैं मानता हूँ कि सत्याग्रह मनुष्य के पास वह आयुध है, जो ईश्वरीय है। उसका समर्थन दुनिया मे से किसी तरह भी नहीं आ सकता है। दुनिया की ओर का कोई औचित्य सत्याग्रह को उचित नही दिखा सकता। उस प्रकार का सब तर्क और सव विचार मानो वाहरी होता है। सत्याग्रह आन्तरिक विवशता मे से फूटता है। उसके औचित्य का निर्धारण किन्ही वाह्य विचार पर निर्भर नही हो सकता। परिस्थिति की घोरता से अधिक व्यक्ति की अवशता और अहिंसकता मे से वह बनता है। स्थिति के साथ व्यक्ति का सम्वन्ध उस अवस्था मे इतना उठ जाता है कि मानो समष्टि के सन्दर्भ मे जा मिलता हो। मानो व्यक्ति का झगडा स्वय परमेश्वर से हो, परिस्थिति से रह ही न गया हो। अर्थात् सत्याग्रह वह कर्म है,, जिसका सन्दर्भ सासारिक रहता ही नहीं, पूरी तरह आत्मिक हो जाता है। तत्काल और समाज के नैतिक मानो की ओर से उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उसका परिणाम तत्काल से अधिक इतिहास के वृत्त मे जाता है। दूसरे शब्दो मे फलाशा से उसका कोई सम्वन्ध नहीं रहता। अन्तिम रूप से और दो शब्दो में यह समझिये कि मनुष्य का जव सव कुछ हार रहता है, तब प्रेम मे परमात्मा के हवाले अपने को छोड़ देने का नाम सत्याग्रह है। प्रेम मे छोडना, याने अह जीवन को बिसार रहना और परम जीवन के प्रति आहुत हो रहना। ●

१२

बुद्धि और श्रद्धा

४९. बुद्धि का कार्य-क्षेत्र क्या है? प्रायः आप मानते हैं कि बुद्धि आर्थिक, सामाजिक और व्यावहारिक क्षेत्र की शक्ति है। और श्रद्धा है आत्मिक और ईश्वरीय जगत को समझने और जीवनवाली ताकत। इन दोनों की कार्य-सीमाएँ कहाँ एक-दूसरे को छूती और कटती हैं यह भी स्पष्ट करें।

बुद्धि और श्रद्धा की सीमाएँ

—वस्तु के प्रति चित्त का सम्बन्ध और आकलन बुद्धि निर्मित होता है, व्यक्ति के प्रति व्यक्ति का सम्बन्ध और व्यवहार भावाश्रित। वस्तु में जब व्यक्तित्व मान रख पाते हैं तो वहाँ भी बुद्धि असमर्थ हो जाती है। प्रेम ऐसे ही सम्बन्ध का नाम है। प्रेम अन्धा होता है, प्रेम में पड़ा पागल होता है, आदि उक्तियाँ यही दरसाती हैं।

वस्तु और मित्र

आर्थिक सामाजिक और व्यावहारिक तीनों ही शब्द वस्तुबोधक हैं। अर्थात् इन शब्दों में हम अपने ही हेतुओं की स्थापना करते हैं। यही शब्द जब मित्र बन जाते हैं रहस्यावृत होकर मानो सम्पूर्ण के सूचक हो जाते हैं, तो उनके साथ हमारा सम्बन्ध बुद्धि से उठ जाता और भावार्पण का हो जाता है। जैसे भारत माता। भारतमाता के साथ हेतु-प्रयोजन का सम्बन्ध नहीं रह जाता वह अधिक घनिष्ठ बन जाता है। भारत एक भौगोलिक सत्ता है, किन्तु माता के रूप में हम उसे मित्र बना लेते हैं। मित्र के साथ बुद्धि-व्यापार नहीं चलता मानो सौदा मात्र व्यापार का सम्बन्ध नहीं हो जाता है।

आत्मा भावाभिभूति

प्रश्न परिमाण का नहीं है। ब्रह्माण्ड को भी आत्मा-बुद्धि से जब हम पकड़ना चाहते हैं तो मानो वह पिण्ड बन रहता है। किन्तु भावाभिभूत होकर एक

मामूली कन्या भी हमारे लिए ब्रह्माण्ड से बड़ी और सम्पूर्ण और दिव्य की मूर्ति हो सकती है।

४०७ आम तौर से बुद्धि को विचार प्रसविनी और तर्क और वितर्क को जन्म देनेवाली अस्थिर, पर तीक्ष्ण प्रज्ञा ही समझा और कहा जाता है। हमारे अन्तरंग में बुद्धि और श्रद्धा को क्या अलग-अलग अस्तित्व मिला है? या ये एक ही हैं। द्विमुखी प्रज्ञा के दो मुख हैं। इनका इन्द्रियों से क्या सम्बन्ध है?

द्विमुखी प्रज्ञा

—इन शब्दों की व्याप्ति शास्त्रों में परस्पर स्पष्ट नहीं है। प्रज्ञा अवश्य वह शब्द है जो बुद्धि और श्रद्धा दोनों को ढक लेता है। किन्तु श्रद्धा व्यवच्छेद में नहीं पड़ सकती, वह संश्लेष की ओर जाती है। यदि आप संश्लिष्ट सत्य की ओर जानेवाली प्रज्ञा को श्रद्धा कहें तो मुझे आपत्ति नहीं है। किन्तु बुद्धि एक को अनेक द्वारा और अखण्ड को खण्ड-खण्ड द्वारा प्राप्त करना चाहती है। इस अन्वय-विश्लेष की प्रवृत्ति को भी क्या आप प्रज्ञा ही कहना चाहेंगे? तब प्रज्ञा द्विजिह्व हो जायगी। इसलिए अच्छा यही है कि बुद्धि और श्रद्धा इन दो अलग-अलग शब्दों से काम लें और प्रज्ञा जैसे उदात्त व्याप्त शब्दों को भावोद्‌बोधन के समय प्रयोग में लायें, अधिक भार उन पर न डालें।

देवता और वस्तु

पहले कहा कि भाव में रेखाओं से बननेवाली परस्पर विलगता नहीं होती। अत भाव तक श्रद्धा का क्षेत्र मानना चाहिए। भाव को जहाँ से धारणात्मक रेखाएँ मिलना आरम्भ होती हैं, बुद्धि का व्यापार शुरू हो जाता है। वहीं से बाहर वस्तुता का आरम्भ होता है। एक समय था जब मानव-मेधा ने बाहर में वस्तुता से अधिक देवता को देखा। अग्नि वस्तु नहीं देवता था, वायु-व्योम-वरुण सब देवरूप थे। अर्थात् जब हमने बाहर के प्रति समग्र भाव का सम्बन्ध स्थापित किया, तो वहाँ वस्तुत्व की सृष्टि नहीं हुई, देवत्व की सृष्टि हो गयी। वस्तुत्व बौद्धिक है, देवत्व भाविक। भावना का सम्बन्ध मिथिकल, रहस्यमय और मौलिक है। जहाँ से हम भीतर भावना को धारणा का और बाहर देवता को वस्तुता का रूप देते हैं, वहीं बुद्धि-व्यवसाय का उपयोग आ जाता है।

सिलाई का योग

मानना होगा कि तीक्ष्णता बुद्धि में है। सूई पहले छेदती है और पीछे डोरे से मानो

फिर जोड़ती है। बुद्धि के काम को भी इस प्रकार पहले छेदनेवाला और फिर तर्क सूत्र से जोड़नेवाला माना जा सकता है। किन्तु वह सिलाई का जोड़ छिद्र को नष्ट नहीं करता इसलिए न सर्वांगीण होता है, न आनन्द या ऐक्य दे पाता है।

ज्ञान के लिए द्वैत की शर्त

बौद्धिक ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय की पृथकता की शर्त पर ही सधता है। ज्ञाता कर्ता (सब्जेक्ट) रहता है और ज्ञेय को विषय (ऑब्जेक्ट) बनना पड़ता है। इसलिए बौद्धिक ज्ञान दोनों ओर किंचित् बन्धन की भी सृष्टि करता है निरपेक्ष और मुक्त नहीं होता।

ज्ञान-विज्ञान

श्रद्धा में इन्द्रियों का इन्द्रियत्व पहुँचता है, बोध नहीं पहुँचता। रसना स्वाद देती है कर्ण शब्द देता है चक्षु रूप देती है इन सबकी भिन्नता भाव के स्तर पर समाप्त हो जाती है। रूप रस-गन्ध मानो एक प्रभाव में समा जाते हैं। बुद्धि इन सबकी पृथकता को देती ही नहीं बल्कि उनके भेद में और विभेद करती है। बुद्धि-विज्ञान एक-एक रस को अलग अलग कला-विभागों में बाँटने का दावा रखता है। यों कहिये कि इन्द्रियाँ अपनस्व उस मन-बुद्धि से निरत हैं जो ज्ञेय स्तर की वस्तु का रूप देकर हमें सुलभ करती हैं। इससे पहले जहाँ श्रद्धा का भाव है वहाँ उस ज्ञेय-स्तर में देवत्व की जगह वस्तुत्व की स्थापना करने का आग्रह नहीं होता। इस भेद द्वारा हम ज्ञान और विज्ञान का भी अन्तर देख सकते हैं। ज्ञान जो आत्मता द्वारा धन को लेता है और विज्ञान जो वस्तुता द्वारा उसका आविष्कार करता है। इन्द्रियाँ विज्ञान की उपकरण हैं ज्ञान मानो हार्दिक अतीन्द्रिय है। अंग्रेजी का शब्द है Intuition, यही ज्ञान का लक्षण जानिये।

४८. पहले इन्द्रियों को बोध होता है या अनुभूति? इस प्रकार बुद्धि प्रधान है या श्रद्धा? अर्थात् हमारे अन्तरंग में बुद्धि हमारी उच्चतम आत्मिकता की द्योतक है या श्रद्धा?

बोध और अनुभूति

—इन्हीं द्वारा हम व्यक्तित्व को स्तरों में बाँटते हैं। व्यक्तित्व का यह विभाजन उपयोगी होता है। किन्तु बहुत सापेक्ष है। अर्थात् कामचलाऊ से ज्यादा उसमें अर्थ नहीं रखना चाहिए।

इसने अब तक दो शब्दों का प्रयोग किया है, भीतर और बाहर। श्रद्धा की

अपेक्षा मे बुद्धि को भीतर केन्द्र से अधिक बाहर परिधि की ओर मानिये। इन्द्रियाँ जो हमको देती हैं, वह न अनुभूति है, न बोध है। इन्द्रियाँ मात्र विवरण देती हैं। उन विवरणो के समुच्चय मे ऐक्य-बोध कहीं भीतर मे आता है। पहली जो प्रक्रिया प्राणी मे होती, वह केवल प्रतिक्रियात्मक है। उसे अनुभूतिपरक कहना चाहिए। उसे सन्सेशन कहते हैं। जिसे बोध कहा जाय, अर्थात् परसेप्शन, वह पीछे आनेवाली चीज है।

प्रतिक्रियात्मक सन्सेशन के लिए प्राणवत्ता मात्र पर्याप्त है। उसके बाद बोध की सज्ञा के लिए प्राण से आगे चित्तवत्ता भी आवश्यक होती है। बोध लगभग अनुभूति को पचाने की क्रिया है। प्रथमत जो प्राणी मे प्राप्त बनता है, उसमे दोनो तत्त्व सम्मिलित होते हैं, आहार और प्रहार। बोध मे प्रहार का भाव बिलकुल नहीं है। आहार पाने के अनन्तर जो उसको आत्मसात् करने की प्रक्रिया है, उसमे बोध उपस्थित होता है। अर्थात् बोध से पहले अनुभूति है।

४०९ तब क्या आप कहना चाहते हैं कि बुद्धि मानसिक सवेदनाओ का चुनाव करने और उनका नियमन करने का काम करती है ?

बुद्धि विभु नहीं

—हाँ, कुछ-कुछ यह काम करती है। कुछ-कुछ इसलिए कह रहा हूँ कि बुद्धि का वश अधिक नहीं है। स्वय उसका कार्य जिन शक्ति-स्रोतो से चलता है, उन्हे मानसिक सवेदनाएँ कहना चाहिए। उन पर बुद्धि की कोई विभुता नहीं होती। होता यह है कि उन सवेदनाओ मे जो अहपरक हैं वह अपेक्षाकृत दुर्बल होता है, आत्मपरक प्रबल होता है। विवेक आत्मपरक को सहज ले लेता और अहपरक को मानो छोड रहता है। किन्तु विवेक की अधीनता में तारतम्य आता रहता है और बुद्धि प्रमत्त भी हो सकती है। इस तरह बुद्धि का नियमन और चुनाव किसी विभु-भाव से नहीं होता है, बल्कि अनुगत भाव से हुआ करता है। इसलिए श्रद्धा पर बुद्धि को विभु मानना गलत होगा।

चित्केन्द्र वस्तुवृत्त से प्रधान

लेकिन हम जानते हैं कि स्वास्थ्य में फेरफार आता है, जिसमे मनुष्य की मानसिकता उलट काम भी करने लगती है। अर्थात् बुद्धि विविक्त नहीं रहती, प्रमत्त हो जाती है। तब प्रक्रिया यहाँ तक उलट जाती है कि इन्द्रियाँ शासन स्वीकार करने के बजाय अन्तरग पर शासन का दम भर आये। यह दोष व्यक्तित्व मे कहीं बाहर से नहीं आ जाता, न इन्द्रियो मे स्वय मे यह शक्ति है। आदि द्वन्द्व में से ही यह दोष उपजता

है। आत्म और मन के द्वन्द्व में मन की चाहत से स्वास्थ्य में यह ज्वर प्रवेश पाता और आत्म को व्यर्थ कर देता जान पड़ता है। मुझे प्रतीत होता है कि इस अवस्था में जो बाह्यावर्जन प्रधान बना दीखता है सो उस कारण सचमुच बाह्य को प्रधान मानने लगने से ज्ञान अथवा विज्ञान के लिए सुगमता उत्पन्न नहीं होगी। चेतना की भाषा में यदि हम समझना चाहेंगे तो चित्-नेत्र के ऊपर वस्तु-मूल्य को महत्त्व देने से बचे रहना ही उत्तम होगा।

२२ उपयोगी अनुपयोगी धारणा, विश्वास, सिद्धान्त और विचार आदि शब्द क्या बुद्धि के क्षेत्र के ही नहीं हैं ? और श्रद्धा से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ? कहीं ऐसा है कि बुद्धि और श्रद्धा प्रकाश और छाया की तरह परस्पर गूँथे गुम्फित पड़े हैं ?

श्रद्धा अनवरत रूप से सक्रिय

—हम दिन में दुकान-दफ्तर पर सोच-समझकर व्यवहार करते और इस तरह कमाई करते हैं। इसलिए शायद समझ सकते हो कि श्रद्धा का वहाँ प्रश्न ही नहीं आया। मैं मानता हूँ कि अल्प-अल्प रूप से शायद बुद्धि को काम करता हुआ हम देख भी पावें लेकिन अनवरततापूर्वक से जो काम करती है वह श्रद्धा ही है। दिन के श्रम को बन्द करके घर लौटते तो किस भरोसे फिर कल के लिए चैन पा जाते और सोते जगते हैं ? इसमें आप उतरियेगा तो पाइयेगा कि अवसर के साथ और व्यक्ति के साथ हमारा कितना भी समझ-बूझ का सम्बन्ध रहा हो पर स्वयं जीवन के और समय की निरन्तरता के साथ हमारा पूर्व-स्वीकृति का ही सम्बन्ध रहा है। यह सम्बन्ध इतना सहज मान्य है कि श्रद्धा को कभी सक्रिय अनुभव करने की जरूरत पड़ती नहीं जाती। किन्तु इस कारण यह समझना कि वह अनुपस्थित या अप्रस्तुत है जल्दी करना है।

केवल बुद्धि सन्दर्भहीन

केवल बुद्धि सन्दर्भहीन और गतिहीन हो जाती है। बुद्धि के काम की संभवता के लिए जो सन्दर्भ अनिवार्य है वह श्रद्धा द्वारा हमें प्राप्त बनता है। जितने शब्द हैं भाषा है, वे अमुक चीज ही हमें क्यों देते हैं ? इसमें आप देखेंगे कि अन्वयपरक बुद्धि काम नहीं कर रही है बल्कि सहज-सम्मत स्वीकृति काम कर रही है। वह प्राप्त सन्दर्भ न हो तो बुद्धि चल नहीं सकती। अभिप्राय यह है, जो पहले से हमारा माना हुआ है। जैसे आकाश है, समय है, मैं हूँ, तुम हो इत्यादि। इन मान्यताओं के सम्बन्ध में बुद्धि के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं रहती। परम्परा द्वारा प्राप्त इन धारणाओं के आधार पर फिर बुद्धि चला करती है।

श्रद्धा हममें तद्‌गत और अन्तर्भूत

क्या हमे पता रहता है कि धरती है? पता हमे अपने चलने का हुआ करता है। किन्तु चलना सम्भव ही धरती के बिना नही होता। इसलिए अधिकांश यह होता है कि धरती के होने को इतना स्वीकृत ठहरा लिया जाता है कि उसके अलग से जिक्र की आवश्यकता नही होती। श्रद्धा के साथ का तथ्य यही है कि उसके अलग से जिक्र की जरूरत नही आती, वह हममे इतनी तद्‌गत और अन्तर्भूत रहती है। अन्यथा ढूंढने चलें तो शायद यह तक हम आविष्कार कर आयें कि हम सब केवल माया-मिथ हैं, मान्यतारूप हैं, इसके अतिरिक्त हमारा होना और कुछ नही है।

४११ बुद्धि क्या केवल अह-प्रेरित ही है? आत्मा से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं?

कुछ भी केवल अह-प्रेरित नहीं

—केवल अह-प्रेरित कुछ हो नहीं सकता है। द्वैत मे से समस्त सृष्टि है और अह यदि कैवल्य पा सके तो द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। केवल अह को परमेश्वर कहते हैं, ब्रह्मास्मि ही तत्सत् है। वहां द्वन्द्व नहीं है, इसलिए सृष्टि-विचार आदि भी कुछ नहीं है। विचार द्वित्व तक चलता है और द्वन्द्व के लिए आदि में ही अह के साथ आत्म आ जाता है। अर्थात् सदा और हर विचार में अह के साथ आत्म भी होता है।

बुद्धि द्वारा साधना सम्भव नहीं

४१२ यदि बुद्धि के द्वारा सांसारिक श्रेय और प्रेय की साधना सम्भव है तो क्या उसके द्वारा ईश्वर की खोज और प्राप्ति सम्भव नहीं है?

—श्रेय और प्रेय की एकता क्या सचमुच बुद्धि द्वारा सम्भव है? यदि नहीं है तो ईश्वर की साधना भी सम्भव होनेवाली नहीं है उसके द्वारा, जो श्रेय को प्रेय से अलग रखती और उसी शर्त पर दोनो को सिद्ध किया चाहती है।

४१३ पर हमारे समस्त दार्शनिक ग्रन्थ बुद्धि की सहायता से ही निर्मित हुए। श्रद्धा का योग उनमे अपेक्षाकृत कम रहा। तब कैसे कहा जाय कि बुद्धि ईश्वर-आराधना मे असमर्थ है?

दर्शन श्रद्धा-मूलक

—दर्शन शब्द श्रद्धामूलक है। दर्शन मे सीधा दीखता है। जानते हम उसको हैं, जिसको इन्द्रियो से पाते नहीं, बल्कि अनुमान से बनाते हैं। इसलिए सृजनात्मक

द्रष्टा और स्रष्टा

४१५ द्रष्टा और स्रष्टा मानस के लिए वुद्धि का क्या उपयोग है? वुद्धि उसको कितनी दूर तक राह दिखाती है, और सयमित नियमित करती है?

—द्रष्टा और स्रष्टा को आपने साथ और एक कोष्ठक मे रखा है। सच यह कि द्रष्टा कर्ता नहीं होता, भोक्ता भी नहीं होता। स्रष्टा को द्रष्टा के अतिरिक्त कर्ता और भोक्ता भी युगपत् होना पड़ता है। द्रष्टा वासनाहीन है, वेदनाहीन भी है। वासना और वेदना से मुक्त वनकर स्रष्टा की स्थिति ही नहीं रह जाती।

वुद्धि राह नहीं दिखाती

राह दिखानेवाली वुद्धि नहीं है। दीखना जिसे है, यदि उसका नाम वुद्धि हो तो फिर वह विश्लेषण और व्यवच्छेद मे न पड़े। दीखता हमको सीधा है। उसको जब नाम और शब्द देकर दूसरी सज्ञाओं से पृथक् करते हैं, तब वुद्धि का प्रयोजन आता है। वुद्धि को नियोजित करनेवाला न हो तो वुद्धि उत्कर्ष की साधिका नहीं होती अर्थात् अभेद की ओर नहीं ले जाती, भेद मे भरमाने लगती है।

सृष्टि के लिए प्राण-तत्त्व की सगति

दर्शन को आत्मसात् और वास्तविक करने मे दार्शनिक वुद्धि का उपयोग करता है। किन्तु दर्शन सीधा और सहज होता है, वुद्धि के द्वारा होने की आवश्यकता नहीं आती। सृष्टि की क्षमता निर्वुद्धि प्राणियो मे भी देखी जाती है। आवश्यक नहीं है कि जो वुद्धिमती समझी जाती है, उसका पुत्र स्वस्थ ही हो, जब कि अपढ़ ग्राम्या के स्वस्थ और सुष्ठु सन्तान हो सकती है। अर्थात् सुभग सृष्टि के लिए वुद्धि से अधिक किसी और प्राण-तत्त्व की सगति विशेष है। साहित्य-रचना अथवा वैज्ञानिक आविष्कृति मे वुद्धि का उपयोग है अवश्य, लेकिन वह अभिव्यजना और प्रेषणा के निमित्त से है, अन्यथा गर्भोपलब्धि मे वह उतनी अनिवार्य नहीं है।

वुद्धि और इन्टयूशन

४१६ वुद्धि और इन्ट्यूशन मे क्या वैज्ञानिक सम्वन्ध है? इनमें से कौन किसका अग और कौन किसका पोषक है? इन्ट्यूशन की उत्पत्ति आप हमारे व्यक्तित्व में किस अग से मानते हैं?

प्रत्यभिज्ञान हममें गर्भित

—मेरा मानना है कि प्रत्यभिज्ञान हममे गर्भित है। अह भाव का परदा रहने

से वह उदय और प्रकाश में नहीं आता। जब हम किसी कारण अपने को सर्वथा बिसरे रहते हैं मानो शून्य हो जाते हैं चैतन्य हममें सोया नहीं रहता पर मुखर भी नहीं होता और केवल जागृत भर रहता है तब सम्बुद्धि काम कर जाती है। सम्बुद्धि से प्राप्त ज्ञान में अधिक दर्शन होता है। उसमें तर्क-प्रक्रिया आदि नहीं होती। न छानबीन होता है न विश्लेषण होता है। सम्बुद्धि मानो सत्य के पीछे सम्बन्ध की स्थापना है। इस प्रकार उपलब्ध सत्य को जब हम वस्तुबोध का रूप पहनाते हैं तब उसका काम आता है जिसको बुद्धि या इन्टलैक्ट कहा जाता है।

उपलब्धि सम्बुद्धि से ही सम्भव

यह न्यूटन प्रवृत्त वैज्ञानिक न था बल्कि निवृत्त मुमुक्षु था, जो सेव के डाल से गिरने से ही एकाएक चमत्कृत हो रहा था। उस क्षण मानो सेव के गिरने की रेखा उसके भीतर ज्योति की शलाका-सी खिंचती चली गयी और वह कृतार्थता में अवसन्न हो रहा। इस क्षण की उपलब्धि को बाद में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का रूप मिला। उस सिद्धान्त के प्रतिपादन में बुद्धि काम आयी किन्तु उपलब्धि में जो काम आयी उसे बुद्धि नहीं सम्बुद्धि कहना चाहिए।

अखण्ड-भाव खण्ड-बोध

पहले ही हमने माना है कि समष्टि से हम सम्पूर्ण हैं उसके अंगरूप हैं। इन्द्रियों द्वारा समष्टि हमको प्राप्त नहीं हो पाती है। समष्टि अखण्ड है इन्द्रियाँ हमको खण्ड खण्डमय आभास देती हैं। इस प्रकार अहं के द्वारा हम अखण्ड सृष्टि से नहीं बल्कि नाना वस्तुओं के रूप में जुड़ते हैं। समष्टित्व हमारे भीतर अन्तरंग के रूप में विरल या अवस्थित नहीं है जो अभी पर इन्द्रियों के सीमित वस्तु-बोध के कारण वह असम्पूर्ण बन जाता है। भीतर का अखण्ड-भाव और बाहर का खण्ड बोध आपस में परस्पर उलझ जाते और विग्रह पैदा करते हैं। अन्तरंग से जिसका सम्बन्ध है उसको सम्बुद्धि कह सकते हैं। इन्द्रियों के उपकरणों के उपयोग द्वारा जो हमें वस्तुबोध देती है उसे बुद्धि कहिये।

सम्बुद्धि प्राथमिक, बुद्धि नैमित्तिक

भीतर के अन्तर और बाहर के जगत् में विच्छेद तो है नहीं। इसलिए किसको कम-अधिक ठहराने का प्रश्न नहीं उठता। चैतन्य की दृष्टि से अन्तरंगीण भिन्न को देखा जाता या सकता और इस दृष्टि से सम्बुद्धि को प्राथमिक और बुद्धि

को नैमित्तिक कहा जा सकता है। सम्बुद्धि स्वप्रतिष्ठ और स्वयम्भव है। बुद्धि वस्तु-सापेक्ष होती है।

बुद्धि की प्रेरणा

४१७ बुद्धि किसकी प्रेरणा से कार्य करती है ?

—बुद्धि के साथ हमने मन शब्द का उपयोग किया है। उससे आगे चित्त भी कहा है। उसके मूल मे अहं को माना है। अहं से निवद्ध आत्म को भी स्वीकारा है। उसी क्रम से बुद्धि को मिलनेवाली प्रेरणा का उदय मान लीजिये।

बुद्धि का स्थान-निर्णय

४१८ बुद्धि का मानव-व्यक्तित्व मे कहाँ क्या स्थान आप निश्चित करते हैं। यह ऊपर के उत्तर से कुछ स्पष्ट नहीं हो पाया। आज की सभ्यता ने जो बुद्धि को असाधारण महत्त्व प्रदान कर दिया है, उसे देखते हुए उसका ठीक स्थान-निर्णय मुझे आवश्यक लगता है।

विभेद-दृष्टि ही बुद्धि

—बुद्धि इन्द्रियो द्वारा अहं को इतर के साथ सम्बन्ध बनाने की क्षमता देती है। वस्तु और व्यक्ति को अलग-अलग हम बुद्धि द्वारा पहचानते हैं। बच्चा अलग-अलग नही पहचान पाता, बर्बर में भी यह क्षमता कम होती है। बुद्धि इस तरह वह है, जो हमे विज्ञान की वृत्ति और दृष्टि देती है। विज्ञान अनिवार्यता मे भेदपरक होता है। हम बिना बुद्धि के भेद में अवगाहन नहीं कर सकते। इसलिए जगत् बोध और जगदनुसन्धान के लिए बुद्धि ही एक उपाय है। उसका कम महत्त्व नहीं है। बल्कि ससार की दृष्टि से उस महत्त्व को बढ़कर भी माना जा सकता है।

बुद्धि के लिए एकत्व अगम

किन्तु बुद्धि नानात्व से छुटकारा नहीं दे सकती। अभेद की ओर हमे नहीं ले जा सकती। पिण्ड को खण्ड मे बाँट सकती है, पर खण्ड से पिण्ड और पिण्ड से ब्रह्माण्ड की ओर ले जानेवाली क्षमता को बुद्धि नही सम्बुद्धि कहना चाहिए। या चाहे तो उसे श्रद्धा कहिये। सम्बन्ध बन्धन देते हैं, नानात्व के साथ के सम्बन्ध नाना बन्धनो की सृष्टि करते हैं। यदि इनके बीच हमे मुक्ति की आवश्यकता हो, तो सम्बन्धो की अनेकता का कटना आवश्यक हो जाता है। उसका मतलब सम्बन्ध-हीनता नहीं है, बल्कि सम्बन्ध की अखण्डता है। इसी अनन्य सम्बन्ध को प्रीति

सकते हैं। यह किसी प्रकार इन्द्रियाश्रित बुद्धि से नहीं प्राप्त हो सकती। अखण्ड के साथ सम्बन्ध भावाश्रित ही हो सकता है। परम और अखण्ड मात्र से भी एक है उसे परमेश्वर कहते हैं। बुद्धि के लिए वह सदा सर्वथा अगम और असिद्ध ही रहेगा। कारण बुद्धि जिस पृथकत्व को प्रतिक्षण पहचानती रहकर अपना काम करती है, उस यथार्थ से वह किसी तरह छूट नहीं सकती। एकत्व उसके लिए कहीं वास्तविक हो नहीं सकता। इसलिए श्रद्धा का सत्य बुद्धि के लिए अयथार्थ और बुद्धि का यथार्थ श्रद्धा के लिए मिथ्या बन जाता है। इस अटपटेपन से घबराने की जरूरत नहीं है क्योंकि यही द्वन्द्व है जिसके सहारे मनुष्य उठता और पुरुषार्थ करता है।

बुद्धि का दावा झूठा

आज की सभ्यता बुद्धि को अधिक महत्त्व देने लगती है सही लेकिन स्वयं उसका यह मानना भ्रम है। क्योंकि किसी बड़े आविष्कारक या व्यवस्थापक का काम दर्शन (Vision) के बिना नहीं चलता है। दर्शन से दिशा मिल लेती है तब बुद्धि अपने नियोजन या विनियोजन का काम कर पाती है। अर्थात् बुद्धि का दावा कितना भी बड़ा हो यह हम निश्चय मान सकते हैं कि उसके तल में श्रद्धा काम कर रही है। और जहाँ नींव में वह नहीं है उस बुद्धि का कोई अर्थ भी नहीं कर पाता है। वह प्रमत्त बुद्धि निर्माण नहीं करती है केवल विनाश और विध्वंस ही करती है। ●

१३

भाव-विभाव

४१९ क्रोध, भय और लोभ आदि भाव बुद्धि को धार और गति देते दीख पड़ते हैं इससे क्या यह नहीं सिद्ध होता कि बुद्धि भाव के इशारे पर ही काम करती है?

बुद्धि भाव के हाथ में

—यह तो है ही कि बुद्धि भाव के सकेत पर काम करती है। लेकिन क्रोध, भय, लोभ भाव से अधिक विभाव हैं। विभाव मूलभाव की प्रतिक्रिया होते हैं, इसलिए उनमे भाव की शक्ति भी होती है। यह तर्क-सगत ही है कि बुद्धि को उनसे धार मिले। असल में बुद्धि कैंची की तरह है। किसीके हाथ चलाते हैं तब वह काम करती है। यो कहिये कि भाव के हाथो में होकर ही बुद्धि आगे बढ़ पाती है।

भाव-विभाव

मूल-भाव और विभाव में अन्तर केवल इतना है कि भाव जाने-अनजाने अखण्डता के प्रति होता है और विभाव अमुक सीमितता के प्रति। इसलिए विभाव अधिक धारदार दीख सकता है। तटो की सकीर्णता के कारण उसमे वेग कुछ त्वरित होता है। इसलिए समीचीन से अधिक ताप उसमें दीखता है। विभाव में राग होता है, भाव में अनुराग। राग मे गाढ़ापन और चिपचिपापन होता है, अनुराग उससे स्वच्छ है। इस गाढ़ता और लेह्यता से शायद विभाव कुछ अधिक ठोस भी जान पड़ते हो, लेकिन उसी कारण अस्थायी भी होते हैं।

४२० एक अमरीकन का लेख मैंने पढ़ा था, जिसमें उन्होंने सिद्ध किया था कि हमारी वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता का मूल प्रेरक और पोषक युद्ध है। युद्ध में भय, क्रोध और लोभ तीनों भाव मिलते हैं। क्या आप उपरोक्त विचार से सहमत हैं? यह तो हम स्पष्ट देख रहे हैं कि अणुशक्ति विभाव में से निकली और उसका भाव-परक प्रयोग कैसे हो, यह बाद में खोजा गया और तदनुकूल उसका नियोजन अब आज किया जा रहा है, जब कि उसकी सहायता से भयकरतम शस्त्र बहुत पहले ही बन चुके हैं।

स्व-पर का युद्ध मूल

—युद्ध मात्र को सभ्यता का प्रेरक और पोषक है यह मैं मान सकता हूँ। लेकिन युद्ध जो इधर बीस-बीस बरसों बाद होता रहा है और अपने शीत रूप में अब भी मौजूद है, मेरे लिए उतना विचारणीय नहीं है। विचारणीय वह युद्ध है जो स्वयं विचार के मूल में है। अर्थात् स्व-पर का युद्ध। जब हम संघर्ष की भाषा में उन्नति को देखते और साधना को भी वही परिभाषा देते हैं तो युद्ध साधन में नहीं रह जाता साध्य में पहुँच जाता है। तब वह आदि तत्त्व के रूप में जीवन-व्यापी हो जाता है। यह युद्ध है जिससे पहले लड़ना है फिर बाहरी युद्ध तो अनायास हमें व्यर्थ और बर्बर दीख जायेगा।

प्रगति तथा वैभाविक

प्रगति विभाव में से निकली है यह मानना होगा। बल्कि मुझको यह प्रतीत होता है कि सब उन्नति और प्रगति का अगला कदम सदा वैभाविक और राजसिक प्रवृत्ति में आगे बढ़ा है। चेतना पर जब धक्का आता है तब स्फूर्ति और प्रेरणा निकलती है। इसीसे राजसिक क्रियमाण है सात्त्विक स्थिर यह क्रियमाणता राजसिक को ही क्यों प्राप्त हुई, यह प्रश्न दूसरा हो जाता है। किन्तु वैभाविक और राजसिक आगे बढ़ते हुए लगते हैं यह मान लेना होगा।

विभाव फारवर्ड

हॉकी के खेल में फारवर्ड्स आगे बढ़ते हुए पाते हैं लेकिन महत्त्व फारवर्ड्स का उससे अधिक नहीं होता महत्त्व उनका होता है जो बैक और फुल-बैक कहे जाते हैं। आशय यह कि व्यक्तित्व की क्रीड़ा में विभाव फारवर्ड खेलनेवाले हैं। किन्तु विभाव कहकर उनको हेय भाव नहीं मान लेना चाहिए। यदि स्वभाव के सहारे से वे जुड़ जाते हैं तो उन्हीं में उपादेयता आ जाती है।

अहिंसा से पुष्ट युद्ध

युद्ध वही हो जाता है अगर एक ओर से वह अहिंसाभाव से लड़ा जाता है। अहिंसा को स्वीकार कर ले तो सभ्यता युद्ध को पोषण देती हुई भी किसी खतरे में नहीं पड़ती। जो कहिये कि असल युद्ध धर्म-युद्ध है जिसमें सत्-असत् आत्म-अह मानव-दानव का युद्ध होता है। इसमें जीवन के उत्कर्ष की सिद्धि ही है और इसी संघर्ष में से संस्कृति का विकास सिद्ध होता जाता है। यह युद्ध फिर छावनियों में नहीं होता न उसके लिए अस्त्र-शस्त्र की कोशपूर्वक कोई बड़ी तैयारी की जाती है।

वह समाज व्याप्त हो जाता है और प्रकृत रूप से विरोधी-तत्त्वो मे अनायास और अनवरत घटित होता है। समाज के माथ वह प्रत्येक व्यक्ति के अभ्यन्तर मे भी मचा रहता और व्यक्ति उस आग मे से जलता हुआ दमकता आता है।

जैविक आत्मिक से अविरोधी

अणु-युग से पहले स्टील-युग, लोह-युग, ताम्र-युग, पाषाण-युग आदि जिन सोपानो का भी विकास-क्रम मे आविर्भाव हुआ, जान पडेगा कि वह उन विभावो के अधीन ही हुआ। धारदार पत्थर के उपयोग की सूझ मनुष्य को शिकार की आवश्यकता मे से पहले हुई होगी, वाद मे ही वह फिर दूसरे कामो मे आयी होगी। सारी उन्नति शुरू मे जैविक और स्वरक्षा की आवश्यकता मे से निकली। वाद मे ही वह सस्कृति के लिए उपयोगी हो सकी। आविष्कार की जननी आवश्यकता है और वह जैविक आवश्यकता। किन्तु जैविक आवश्यकता अनिवार्य रूप से आत्मिक की विरोधी नहीं होती, वशर्ते कि उस उन्नति के खेल मे फारवर्ड्स को थामने और सहारनेवाले अपनी जगह पर मूल्यो के सम्वन्ध मे चौकन्ने वैक्स और फुल-बैक्स भी हो। समाज में इस प्रकार के नीतिज्ञ ऋषि और सन्त होते ही आये हैं जो फारवर्ड होने की चेष्टा में नहीं पडते हैं, न किसी जैविक उन्नति की ही व्यग्रता उनमे दीखती है। मानो वे धर्म से तद्‌गत बनकर चलने मे कृतार्थ हैं और जीवन-मूल्यो की रक्षा उनका काम है। युद्ध किसलिए ? शायद इस प्रकार के लोगो द्वारा व्यक्त और प्रतिष्ठ सस्कृति-मूल्यो की रक्षा के लिए ही न ?

युद्ध अनिवार्य, पर वह धर्मयुद्ध हो

एक वात और ध्यान देने योग्य है। युद्ध-निणय कौन करते हैं ? वे जन-नेता जो यद्ध की घोषणा करते हैं नृशस नहीं होते, वे आदर्शवादी हुआ करते हैं। आदर्श के अनुराग को आप या मैं या कोई गलत नही कह सकते। उस आदर्श के प्रेम में जिनको युद्ध रचने और करने का साहस होता है, वे निकम्मे या निकृष्ट नही माने जा सकते। अर्थात्, युद्ध की दारुणता के पीछे भी जो एक सत्यता है, उसको दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए। केवल भावुकतावश युद्ध से पराड्मुख होना समर्थ-नीय नहीं मान लेना चाहिए। घर वैठनेवाला सिर्फ इसी कारण कि वह नहीं लडता है, योद्धा से बढ़कर नही हो जाता। अर्थात् युद्ध तभी असत्य वन सकता है, जव उससे कुछ सत्यतर समक्ष हो और उत्तमतर पराक्रम वह प्रस्तुत कर सके। हम युद्ध शब्द से जैसे जैसे एक विभीषिका मन मे खडी कर लेते हैं और उसके जोर से वर्तमान सभ्यता को हीन और भयकर वता दिया करते हैं। वह आदत छोडनी चाहिए।

मैकियाविलिज्म या साम्यवाद में कोई बड़ा बढ़िया नमूना आदमी का हमें नहीं दे दिया है। इसलिए प्रश्न के मूल में जाना होगा और वहाँ जाकर जो हाथ लगता है, वह यह कि युद्ध अनिवार्य है, शायद जीवन और इतिहास की प्रक्रिया का नाम है। लेकिन यह भी कि संस्कृति और मानव का प्रकर्ष और उत्कर्ष युद्ध से अपेक्षा तो तब जब वह धर्मयुद्ध होगा अर्थात् ऐक्य की श्रद्धा में ही जब द्वन्द्वात्मक जगत् से हम संघर्ष लेंगे और लेते हुए चल सकेंगे। जो ऊपर कहा गया है उसका आशय केवल यह कि कर्म द्वन्द्वात्मक हो सकता है, होगा ही किन्तु श्रद्धा एकात्मक हो तो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया शुभ बनती है। अन्यथा स्वयं साध्य बनकर द्वन्द्व हमको काट-छाँटकर एक देश उठ नहीं पायेगा।

समबुद्धि परमात्मोन्मुख

५२१ समबुद्धि को क्या आप अनिवार्य रूप से आध्यात्मिक और ईश्वर-प्रदत्त मान पायेंगे?

—ईश्वर प्रदत्त या तो मैं सब कुछ मानूँगा या कुछ भी नहीं मान सकूँगा। ईश्वर के पास देने को हाथ नहीं होते। यदि वह कुछ है तो दे गया और दिये रहता है। इस अर्थ में सचराचर जगत् ईश्वरमय है और जो भी शुभ-अशुभ अच्छा-बुरा है सब उसमें से है।

समबुद्धि ईश्वर प्रदत्त हो और बुद्धि अन्य प्रदत्त यह कैसे हो सकता है। हाँ यह मानना होगा कि समबुद्धि द्वारा हमारी अखिलता का जो बाहर अनन्त के साथ साथ सम्बन्ध स्थापित होता है वह अनायास आत्मोन्मुख या परमात्मोन्मुख हो जाता है। बुद्धि उस तरह एकोन्मुख नहीं हो पाती वह पृथक्-पृथक् के प्रति उन्मुख होती है, इसलिए वह अपेक्षाकृत जगत्-परायण दीखती है।

१४

अहं और आत्मा

४२२ अह के बारे मे वहुत काफी आपने पहले कहा है। मैं केवल यह पूछना चाहता हूँ कि पूर्ण परमात्म तत्त्व को अह के रूप मे अलग-अलग घटकों के विभाजन की आवश्यकता क्यो पैदा हुई ? और जव हुई तो उस अह मे जिसे आप वहुत इष्ट नहीं मानते, इतनी शक्ति कहां से आयी कि वह आत्मा को रुद्ध और आवृत बनाये रख सके और उसके विरुद्ध आत्मा को सतत एक सघर्ष रोपना पडे ?

महा-प्रश्न

—पहला प्रश्न महा-प्रश्न है। उसका उत्तर नहीं है। उत्तर का न होना इसलिए भी उचित है कि प्रश्न सदा वना रहे, कभी वन्द न हो। अत' पुरुपार्थ का अवकाश भी कभी वन्द न हो।

सृष्टि स्रष्टा की केलि-क्रीडा

पूर्ण मे अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए किसी हेतु का भी वहाँ उदय नहीं हो सकता। अन्त मे यही कहना हाय रह जाता है कि परमात्म स्वभाव लीलामय है, नारायण की लीला मे से नर की सृष्टि है, सृष्टि स्रष्टा की केलि-क्रीडा है। इससे अतिरिक्त और कोई सार्थक भाषा हो नहीं पाती।

शक्ति का अधिष्ठान

पूर्ण स्थित ही हो सकता है। शक्ति गतिशील होती है। इसलिए परमात्म को जीवात्म घटको मे आत्मसाक्षात्कार की परिणति मे ही अह का रूप लेना पडता है। शक्ति का अधिष्ठान इस तरह अह और उनकी विविधता है। शक्ति का सारा खेल वहीं से स्वरूप पाता है।

परस्पर अवरोधकता

प्रश्न यह तो हो सकता है कि वह शक्ति अपर्याप्त कैसे रह गयी, यह प्रश्न नहीं हो

समझा कि यह इतनी पर्याप्त कैसे हो पायी। मैं मानता हूँ कि अहं के घटक क्योंकि अनन्त हैं इसलिए वे सभी परम शक्तिमान् होकर भी एक-दूसरे की शक्ति के लिए परम अवरोधक बन जाते हैं। इसी में से समस्या और चेष्टा को जन्म मिलता है। सबमें शक्ति है और उस शक्ति-चेतना को लेकर सभी परस्पर में आहार प्रहार में जुटे और जूझते हुए दीखते हैं। जीव जीव को खाता है, जीव जीव को पालता है। इस सबके अजाब में से जो बन खड़ा होता है, वह सामने फैला हुआ संसार है।

यह शक्ति अवरोधक ही हो सकती है अगर केवल इस कारण कि अहं अनेक हैं। यही शक्ति मानव-शक्ति बनने लग जाती है जब अहमहिका से आगे बढ़कर वह शक्ति परस्परता भी बन जाती है। इससे आगे जब वह एकता भी होती है तब वह आत्म-शक्ति परमात्म-शक्ति बनकर असीम हो जाती है।

ईगो और अहं

५२३ पाश्चात्य ईगो और आपके दार्शनिक अहं में क्या अन्तर अथवा समानता है?

—मैंने कब पाश्चात्य तत्त्ववाद का अध्ययन किया है? सच तो कुछ अध्ययन नहीं किया है। सामान्य बोलचाल का अहंकार असमुचित व्यवहार के लिए प्रयोग में आता है। उसमें जैसे पर का तिरस्कार समाया है। जिसमें पर का सत्कार भी हो उस व्यवहार को हम सामान्य भाषा में अहंकार नहीं कहते। जिसे हम अपनी चर्चा में अहं कहते आये हैं वह शिष्ट और नम्र व्यवहार में भी व्याप्त और वर्तित रहता है। जब तक देह है तब तक उस अहं से छुटकारा नहीं है। वह मानो हमारे सारे जीवन का आधार बनता और उसको व्याख्या देता है। वह अहं सूक्ष्म है और स्थूल कर्म में से उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

५२४ अगर एक जन्तु आपके विधान को प्रतिक्रियात्मक बताता है और आप को मौलिक। विधान की यह प्रतिक्रियात्मकता अहं से ही क्या प्राप्त नहीं होती है और आप को अपनी मौलिकता आत्मा से? ऐसी स्थिति में अहं और आत्मा के बीच क्या एक भेद और दूरी नहीं पड़ जाती?

अहं और आत्मा

—अवश्य पड़ती है। भेद भी है, दूरी भी है अधिक विरोध तक है। अगर ऐसा न होता तो तनाव न पड़ता और जीवन न व्यापा और वेदना की अनुभूति न आ पाती।

अहं की सम्पूर्ति विभावो से नहीं

किन्तु अहं के लिए अनिवार्य है कि जब वह अपने स्व की चेतना पर गर्व करे, तब उस गर्व मे कष्ट भी अनुभव करे। स्व है, इसीमें है कि वह पर की अपेक्षा मे है। कोई नहीं हो सकता, जो अपने मे अकेला होकर व्यर्थ न अनुभव कर आये। साधकता की अनुभूति स्व को होती ही तब है, जब वह पर मे वकता और उसमें स्वकीय भाव प्राप्त करता है। अर्थात् अहं के लिए भी प्रीति, सत्कार, दान, दाक्षिण्य आदि तो मूलभाव सिद्ध होते है। उनसे उलटे क्रोध-भय-लोभ विभाव ही कहे जाने चाहिए। कुछ-न-कुछ टक्कर होती है कि जिससे पलटकर भाव विभाव बनते हैं। यह तो मानना ही पडेगा कि अह-मूलक अधिक होने मे विभाव, और आत्मोन्मुख होने से स्वभाव कहना होता है। लेकिन यह स्पष्ट होना चाहिए कि अहं की सम्पूर्ति और तृप्ति विभावो द्वारा नहीं होती, बल्कि क्षति ही होती है। यदि हम मान सकें कि अह अपनी प्रकृति मे आत्म-विमुख नहीं है, तो विभावों को प्रतिक्रियात्मक ही कहना पडता है।

४२५ अह और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्धों पर तनिक स्पष्ट वैज्ञानिक प्रकाश डालें।

—वैज्ञानिक प्रकाश वहाँ पड सके, तो बात ही क्या है। कम-से-कम मेरे द्वारा नही पड सकता।

आत्मता आकाश, अह पिण्ड

आत्मता मे हम सबसे एक हैं। अहन्ता में हम सबसे अलग हैं। चेतना सक्रिय हो इसके लिए अहन्ता का उसे आधार चाहिए। आत्मता तो मूल धरातल है, जैसे आकाश। आकाश में पिण्ड इसीलिए गति करते हैं कि वह स्वय निश्चल है। हम दो पाँववाले प्राणी धरती पर चल पाते हैं तो इसीलिए कि जब पाँव चलते है, तब धरती अचल रहती है। आत्मता को भी अहं के सम्बन्ध में उसी प्रकार मूला-धार के रूप में समझना चाहिए। हम जीते हैं, क्योंकि हवा है, मछली जीती है, क्योंकि पानी है। अहं जी पाता है, क्योंकि आत्मता का उसे अवलम्ब है। अह स्वय मे व्यर्थ और असिद्ध हो जाता है अगर शेष से उसे हम सर्वथा टूटा और कटा मान लेते हैं। इस प्रकार अखिल से छिन्न-भिन्न अह है नही। फिर जो उसकी अव्यक्त सयुक्तता है, उसीको आत्मता का क्षेत्र कहना चाहिए। मैं सूरज से करोडो मील दूर अपने को मानता हूँ, लेकिन उस दूरी से धूप आ जाती है और इन आँखो से उसके दर्शन प्राप्त हो जाते हैं। यह मेरे और सूरज के बीच की सम्बद्धता जिस शून्याकाश से सम्भव बनती है, क्या उसके बिना मैं हो सकता था?

मैं हूँ तो उसमें हूँ और सूरज भी उसमें है। इसीके आधार पर नाना वस्तुओं में नाना प्रकार की सम्बद्धता सम्भव बनती और मिलती है। ठीक इसी प्रकार अहंता को आत्मता का आधार प्राप्त है और अहं की सारी क्रिया क्रीड़ा इसी लिए हो पाती है कि आत्मता में उसके लिए अवकाश बना रहता है।

अहंता-आत्मता के सम्बन्ध वैज्ञानिक

पृथ्वी पर रहते हुए गुरुत्वाकर्षण के कारण हम भार अनुभव करते हैं। पृथ्वी सूर्य के प्रति खिंची रहती और उसकी परिक्रमा में प्रवृत्त रहती है। विज्ञान द्वारा इन पृथ्वी, व्योम और सूर्य के सम्बन्ध को गणना की परिभाषा में ले आया गया है। हो सकता है कि अहंता और आत्मता के सम्बन्धों को भी बहुत कुछ ज्ञान-विज्ञान में ले आया जा सकेगा। लेकिन आज मेरे लिए उस सम्बन्ध में अधिक कहना सम्भव नहीं है।

५२८. अहं और आत्मा में निरन्तर एक संघर्ष चलता है यह आपने माना। इस संघर्ष को जीवन में क्या स्वरूप प्राप्त होता है। और किस घड़ी यह संघर्ष हमें अपने चरम रूप में दीख पड़ता है?

तीव्रतम आरोपण और उत्सर्जन

—अहंता में हम एक साथ गर्विष्ट और त्रस्त होते हैं। गर्व में अधीन करना चाहते हैं त्रास में निछावर होना चाहते हैं। जिसको काम कहा जाता है मानो उसके स्फोट में यह द्वन्द्व अपनी चरमता प्राप्त करता है। हम एक साथ अपने को दूसरे में खोकर मिटा देना चाहते और दूसरे को अपने में समाकर खतम कर डालना चाहते हैं। 'स्व' का 'पर' पर आरोपण भी तीव्रतम होता है और उत्सर्जन भी उतना ही तीव्र होता है। पहले को हिंसा कहा जाये दूसरे को अहिंसा कहा जा सकता है। जो हो इन दोनों विपरीतताओं के परम संगम से यह ज्वाला और यह विस्फोट प्रकट होता है, पारस्पर्य में दो प्राणी अपनी पृथकता को लेकर इस प्रकार जूझते और स्वाहा होते हैं कि इसीमें तीसरे प्राणी का बीजारोपण हो जाता है। सृष्टि स्वप्रार्पण में से इसलिए सम्भव बनती है कि मानो विपरीतता में तने हुए दो अहं भिन्नता को खोने की आतुरता में आत्मता को छू लेते हैं। आत्मता के स्पर्श से सृजन अनिवार्य हो ही जानेवाला है।

संघर्ष स्व-परात्मक

यह इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि क्रियमाण तत्त्व दोनों ओर अहं ही है, आत्म

केवल आधार-भूत है। संघर्ष आत्म की ओर से है नहीं, हो सकता नहीं है। इसीलिए संघर्ष स्व-परात्मक हो जाता है। अर्थात् दो अस्मिताओं में होता दीखता है।

पुंभाव, स्त्रीभाव

इस कामस्फोट में एक ओर से नर-चेतना और दूसरी ओर से नारी-चेतना के रूप में विरोधी अहं-चेतनाएँ साम्मुख्य में आती हैं। 'मैं उसमें होऊँ, 'वह मुझमें हो' इस भाव में परस्पर सायुज्य प्राप्त करके मानो वे फिर इस भाव से भी मुक्ति पा लेती हैं। परस्परता में आबद्ध होकर पुरुष का पुंभाव और स्त्री का स्त्रीभाव ही खो जाता है और मानो दोनों ओर शुद्ध आत्म-यज्ञ में जलता और भस्म होता हुआ अहं-भाव रह जाता है।

अहंचर्या, ब्रह्मचर्या

अर्थात् स्त्री-पुरुष-भेद भी आत्मता तक पहुँचते-पहुँचते खो जाता है। अहन्ता जहाँ तक है, वहीं तक स्त्री-पुरुष भाव की व्याप्ति है, वहीं तक कामेषणा की उपयुक्तता है। अहं की चर्या से भिन्न ब्रह्म की चर्या भी हो सकती है जहाँ काम संगत नहीं रहता। कारण, अहं का किसी अहं से वैपरीत्य नहीं रह जाता है, उसका सम्बन्ध आत्मता से बनने लग जाता है। किन्तु ब्रह्मचर्य की यहाँ बात न होगी।

९५

कामाचार, ब्रह्माचार

९२७. अगर आपने बताया कि सम्भोग में निकटता को खोकर स्त्री-पुरुष आत्मता को स्पर्श कर लेते हैं। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हर प्रकार के सम्भोग में चाहे उसके पीछे मानसिकता हो या न हो, व्यक्ति आत्मता के निकट पहुँच जाता है?

आत्मता अर्थात् व्याप्त शून्यता

—आत्मता कोई मंजिल नहीं है कि जिसे वहाँ पहुँचा जाय। अपने को अपने में खो पाना ही मानो उसको छू लेना है। यह व्याप्त शून्यता है, जो हमको घेरे हुए है। अब ऐसे शून्य बने कि मानो हम उसमें आप ही जा मिलते हैं। हेतुवादी मानसिकता इसमें बाधक या साधक नहीं होती। यह एकदम भिन्न स्तर की सत्ता है।

सम्भोग द्वारा क्षणिक अस्तित्व-शून्यता

सम्भोग में जो समान तत्त्व है, वह यह कि व्यक्ति परस्पर में अपने को क्षण के लिए ही सही अस्तित्वहीन कर लेता है। इस न्यूनतम सामान्यता के बाद जो फिर तारतम्य है उससे पूर्व-स्थापना में अन्तर नहीं आता।

बलात्कार

९२८. आवेशवश अथवा प्रतिशोधवश किये गये बलात्कार में भी क्या आप शून्यता तक पहुँचने की स्थिति को देख और समझ पाते हैं?

—सच यह कि काम चर्चा में कुछ-न-कुछ बलात्कार सदा ही होता है। यह दूसरा बात है कि वह दोनों ओर प्रिय होता हो।

मात्र के बलात्कार में यह वर्जित है कि निछावर होने की वृत्ति अनुपस्थित है। दोनों विपरीत वृत्तियाँ अधीन कर लेने और अधीन हो जाने की दोनों ओर से

वहाँ अपनी चरमावस्था में मुक्त नहीं हो पाती। इसलिए बलात्कार का प्रश्न अलग रह जाता है।

काम की तीव्रता

४२९ क्या आप यह भी नहीं मानते कि व्यक्ति का अहं जितना तीव्र और बलिष्ठ होता है, उसमे काम भी उतना ही उग्र होता है?

—हाँ, यह तो होगा ही। लेकिन उसे दूसरे शब्दो मे इस प्रकार रखना ठीक होगा कि जितना गर्व अधिक होता है काम मे उतनी ही निम्न बनने की स्पृहा सताती है। अंग्रेजी का एक शब्द है—मेसोकिज्म। उसमे मानो यही सार है।

मेसोकिज्म, साडिज्म

४३० क्या यह कहना ठीक है कि स्त्रीत्व का आधार यह मेसोकिज्म है और पुरुपत्व का साडिज्म? और इसी प्रकार यही दोनों क्रमश अहिंसा और हिंसा के भी मूल स्रोत हैं?

पुरुष प्रेरक, स्त्री धारक

—सर्वथा यह कहना इसलिए ठीक नहीं होगा कि स्त्री-पुरुप से हमारे सामने स्थूल देहधारी की कल्पना आती है। यह तो विदित ही है कि हरएक मे स्त्री-पुरुपतत्त्व दोनो रहते हैं और लिंग-निर्माण अनुपात के आधार पर होता है। अर्थात् नितान्त स्त्री और नितान्त पुरुप व्यक्तित्व पाता ही नही। किन्तु गुणात्मक और प्रतीकात्मक रूप से इन दोनों शब्दो को लें तो सचमुच वे काफी सांकेतिक बन जाते हैं। यह यहाँ उल्लेखनीय हो सकता है कि गाधीजी को अहिंसा अपनी पत्नी कस्तूरबा से मिली। पुरुप प्रेरक है, स्त्री धारक है। इन दोनो तत्त्वों के बँटवारे से मानो ससार रचा और थमा हुआ है। और मुझे जान पडता है कि यदि मुक्ति वह अवस्था है, जिसकी अनुभूति पायी जा सके, तो वह इन दोनो के सन्तुलित सगम से प्राप्त हो सकती है।

प्रार्थनामय-हिंसा अहिंसा

हिंसा अहं में गर्भित है। अगर वही साधनापूर्वक सर्वथा प्रार्थनामय बन जाय तो मानो उसे अहिंसा की सन्धि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार जीवन-मुक्त व्यक्ति की कल्पना भी सम्भव बनती है, जो स्वय होकर भी सब हो, नर होकर भी नारायण हो और जिसके जन्म को अवतरण कहना अधिक सार्थक दीखता हो।

अर्धनारीश्वरत्व

प्र०११ इन दोनों विपरीत वृत्तियों के सन्तुलन की स्थितियों को क्या अर्धनारीश्वर की कल्पना से समझा जा सकता है?

—बेशक अर्धनारीश्वर की कल्पना इसी अनिवार्यता में से निकली है। मेरे समाधान को वह उचित करती है।

प्र०१२ एक काव्य की भूमिका में कहा गया है कि 'इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श ही काम का उन्नत आदर्श है और परिरम्भ पाश में बँधे हुए प्रेमी एक-दूसरे का अतिक्रमण करके किसी ऐसे लोक में पहुँचना चाहते हैं जो चिरन्तोज्ज्वल और वायवीय है।' अतीन्द्रिय धरातल और चिरन्तोज्ज्वल वायवीय लोक की कल्पना क्या आपके मानस में भी है? यदि है तो उसका क्या स्वरूप है?

सम्भोग द्वारा परस्परोपलब्धि आंशिक

—पुरुषार्थ चार गिनाये हैं। बीच में काम और अन्त में मोक्ष है। इसीमें गर्भित है कि काम की उन्मुखता मोक्ष की ओर है।

यह सही है कि अपनी सब दैहिक चेष्टाओं में से हम जिसको परिरम्भण में लेते हैं, वह उपलब्ध मात्र होता है, शेष पार रहता है। लेकिन इसीमें से यह स्पष्ट होना चाहिए, जो भूमिका-लेखक के निकट शायद स्पष्ट नहीं है कि उपलब्ध का परिरम्भ शेष की उपलब्धि का जो विछोह उत्पन्न कर रहता है सो अतिक्रमण में जाना ही चाहता है। परिरम्भण द्वारा परस्पर की पूर्णता को पाया नहीं जा सकता। पाया शून्य को है। देह को पाकर उसमें देह को जो पाना शून्यानुभूति को उतना पुष्टि बना देता है। स्त्री-पुरुष उपलक्ष हैं, अन्य चेतना में व्याप्त बने ही उपलब्धों के आकार अवश्य बनता है। अर्थात् ब्रह्म अथवा शून्य की चर्या के लिए परिरम्भण आदि व्यापार बीच में से सहज अनावश्यक हो जाना चाहिए। मैं मानता हूँ कि परस्परोपलब्धि भी काम भोग द्वारा इतनी आंशिक होती है कि मानो सम्भोग के साथ ही उसकी व्यर्थता की अनुभूति हुए बिना नहीं बनती।

अतीन्द्रियता ऐन्द्रिक नहीं आत्मिक

यह ठीक है कि अतीन्द्रियता के लिए इन्द्रियों को बीच में प्यासा और अतृप्त नहीं रह जाना है, उनको कृतार्थ और भरपूर बन जाना है। लेकिन विषयभोग में वे इन्द्रियाँ पूर्ण-काम नहीं होतीं, निर्विषयक भोग ही उन्हें संतृप्ति दे सकता है। भूमिका की भाषा से इन्द्रिय और अतीन्द्रिय के बीच के इस सम्बन्ध का परिचय नहीं प्रकट होता है, प्रकट ऐसा होता है कि मानो अतीन्द्रिय प्रमाद दैहिक हो।

वहाँ अपनी चरमावस्था में युक्त नहीं हो पाती। इसलिए बलात्कार का प्रश्न अलग रह जाता है।

काम की तीव्रता

४२९ क्या आप यह भी नहीं मानते कि व्यक्ति का अह जितना तीव्र और बलिष्ठ होता है, उसमे काम भी उतना ही उग्र होता है?

—हाँ, यह तो होगा ही। लेकिन उसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार रखना ठीक होगा कि जितना गर्व अधिक होता है काम मे उतनी ही निम्न बनने की स्पृहा सताती है। अंग्रेजी का एक शब्द है—मैसोकिज्म। उसमे मानो यही सार है।

मैसोकिज्म, साडिज्म

४३० क्या यह कहना ठीक है कि स्त्रीत्व का आधार यह मैसोकिज्म है और पुरुषत्व का साडिज्म? और इसी प्रकार यही दोनों क्रमश अहिंसा और हिंसा के भी मूल स्रोत हैं?

पुरुष प्रेरक, स्त्री धारक

—सर्वथा यह कहना इसलिए ठीक नहीं होगा कि स्त्री-पुरुष से हमारे सामने स्थूल देहधारी की कल्पना आती है। यह तो विदित ही है कि हरएक में स्त्री-पुरुषतत्त्व दोनों रहते हैं और लिंग-निर्माण अनुपात के आधार पर होता है। अर्थात् नितान्त स्त्री और नितान्त पुरुष व्यक्तित्व पाता ही नहीं। किन्तु गुणात्मक और प्रतीकात्मक रूप से इन दोनों शब्दों को लें तो सचमुच वे काफी सांकेतिक बन जाते हैं। यह यहाँ उल्लेखनीय हो सकता है कि गांधीजी को अहिंसा अपनी पत्नी कस्तूरबा से मिली। पुरुष प्रेरक है, स्त्री धारक है। इन दोनों तत्त्वों के बँटवारे से मानो संसार रचा और थमा हुआ है। और मुझे जान पडता है कि यदि मुक्ति वह अवस्था है, जिसकी अनुभूति पायी जा सके, तो वह इन दोनों के सन्तुलित संगम से प्राप्त हो सकती है।

प्रार्थनामय-हिंसा अहिंसा

हिंसा अह में गर्भित है। अगर वही साधनापूर्वक सर्वथा प्रार्थनामय बन जाय तो मानो उसे अहिंसा की सन्धि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार जीवन-मुक्त व्यक्ति की कल्पना भी सम्भव बनती है, जो स्वय होकर भी सब हो, नर होकर भी नारायण हो और जिसके जन्म को अवतरण कहना अधिक सार्थक दीखता हो।

अर्धनारीश्वरत्व

२११ इन दोनों विपरीत वृत्तियों के सन्तुलन की स्थितियों को क्या अर्धनारीश्वर की कल्पना से समझा जा सकता है?

—बेशक अर्धनारीश्वर की कल्पना इसी अनिवार्यता में से निकली है। मेरे मन्तव्य को यह उचित करती है।

२१२ एक काव्य की भूमिका में कहा गया है कि 'इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श ही काम का चरम आदर्श है और परिरम्भ पाश में बँधे हुए प्रेमी एक-दूसरे का अतिक्रमण करके किसी ऐसे लोक में पहुँचना चाहते हैं जो किरणोज्ज्वल और कमनीय है।' अतीन्द्रिय धरातल और किरणोज्ज्वल कमनीय लोक की कल्पना क्या आपके मानस में भी है? यदि है तो उसका क्या स्वरूप है?

सम्भोग द्वारा परस्परोपलब्धि आंशिक

—पुरुषार्थ चार गिनाये हैं। बीच में काम और अन्त में मोक्ष है। इसीमें गर्भित है कि काम की उन्मुखता मोक्ष की ओर है।

यह सही है कि अपनी सब दैहिक चेष्टाओं में से हम जिसको परिरम्भण में लेते हैं, वह उपलब्ध मात्र होता है, बल्कि पार रहता है। लेकिन इसीमें से यह स्पष्ट होना चाहिए, जो भूमिका-लेखक के निकट शायद स्पष्ट नहीं है कि उपलब्ध का परिरम्भ स्वयं की उपलब्धि का जो विमोह उत्पन्न कर रहता है तो अतिक्रमण में पाना ही बनता है। परिरम्भण द्वारा परस्पर की पूर्णता को पाया नहीं जा सकता। पाया शून्य को है। देह को पाकर उसमें देह को जो पाना शून्यानुभूति की अवानुभूति बना देता है। स्त्री-पुरुष उपलब्ध हैं, तब चेतना में व्याप्त बने तो उपलब्धी में आग्रह अवसन्न बनता है। अर्थात् ब्रह्म अथवा शून्य की चर्चा के लिए परिरम्भण आदि व्यापार बीच में से सहज अनावश्यक हो जाना चाहिए। मैं मानता हूँ कि परस्परोपलब्धि भी काम भोग द्वारा इतनी आंशिक होती है कि मानो सम्भोग के साथ ही उसकी व्यर्थता की अनुभूति हुए बिना नहीं बनती।

अतीन्द्रियता ऐन्द्रिक नहीं आत्मिक

यह ठीक है कि अतीन्द्रियता के लिए इन्द्रियों को बीच में प्यासा और अतृप्त नहीं रहना है, उनको कृतार्थ और भरपूर बन जाना है। लेकिन विषयभोग में से इन्द्रियाँ पूर्ण-काम नहीं होतीं। निर्विषयक भोग ही उन्हें तृप्ति दे सकता है। भूमिका की भाषा से इन्द्रिय और अतीन्द्रिय के बीच के इस सम्बन्ध का परिचय नहीं प्रकट होता है, प्रत्युत ऐसा होता है कि मानो अतीन्द्रिय प्रवाह दैहिक हो।

सच यह कि अतीन्द्रिय ऐन्द्रिक और दैहिक होने की आवश्यकता में इसलिए नही रहता है कि वह आत्मिक होता है।

४३३ तब क्या अतीन्द्रियता दैहिकता को पूरी तरह विसर्जित कर देती है? देह और आत्मा इन दो चरम बिन्दुओं के बीच मानव किस प्रकार और कहाँ अपने को सन्तुलित करे?

इन्द्रिय और इन्द्रियातीत

—नही, देह या इन्द्रियो के विसर्जन से अतीन्द्रिय दशा नही मिलनेवाली है। इन्द्रिय और इन्द्रियातीत की बात को समझने के लिए आइये स्वय हम अपने को लें।

आप स्वस्थ हैं तो इसका क्या लक्षण है? लक्षण है कि शरीर को लेकर आप अनायास हैं, सायास नही हैं, शरीर की अलग से चेतना नहीं है। जिसका पाँव दुखता हो, उसको हरदम पाँव का पता रहता है। अर्थात् पृथक चेतना अस्वस्थता के कारण होती है। स्वस्थ हो तो इसका न ध्यान रहेगा न खबर कि पाँव है।

इन्द्रियाँ सवादी हों

ऊपर के अनुभव से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अतीन्द्रिय अवस्था वह है, जहाँ इन्द्रियाँ समीचीन और सवादी होकर काम करती हैं। विसर्जित नही होती, न बीच में असगत होती हैं, बल्कि पूर्ण स्वस्थ और उपयुक्त होने के कारण सर्वथा सुसगत बन जाती हैं। आत्म से अलग तनी और बिगडी तनिक नहीं रह जातीं।

निर्गुणता गुणों की सवादिता

यही गुणो के सम्बन्ध मे मानिये। निर्गुणता गुणहीनता नही है, बल्कि गुणो की सुसवादिता है। निर्गुणता मे गुण और अतीन्द्रियता मे इन्द्रियाँ समुपयुक्त भाव से काम करने के कारण परस्पर विग्रह मे नहीं आतीं और इसलिए किसीको अपनी भिन्नता का चेत होने की आवश्यकता नहीं होती।

देह नैवेद्य के समान पवित्र

देह को अलग मानने की जरूरत नहीं है। मन्दिर मे पूजा मूर्ति की होती है। लेकिन उसके कारण पवित्र पूरा ही मन्दिर बनता है। शरीर मन्दिर के समान है। जिसने यह समझा वह षोडशी प्रेयसी की भाँति अपने शरीर की सँभाल रखकर भी अलिप्त रह सकता है। शरीर के प्रति अवज्ञा या लापरवाही अनासक्ति का

प्रेम नहीं है। बल्कि अनासक्ति की वह भोर आसक्ति है। आत्मपूर्वक शरीर के साथ किया गया व्यवहार एक साथ ममतामय और निर्मम हो सकेगा। निर्मम इस अर्थ में कि अन्तःकरण से भिन्न होकर आनेवाली शरीर की कोई माँग पूरी नहीं होगी। और ममत्वपूर्ण इस अर्थ में कि शरीर की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आवश्यकता और संकेत का ध्यान रखा जायगा। शरीर को अपना मानकर या तो उसको दबाते या सजा देते हैं दोनों ही में आसक्ति देखी जा सकती है। यदि यह मान सकें कि मैं जैसे परमेश्वर का हूँ वैसे ही मेरा शरीर परमेश्वर का है तो शरीर मंदिर की भाँति पवित्र हो उठना चाहिए। उसकी स्वच्छता और स्वस्थता हमारे लिए पूजा-प्रार्थना की भाँति अनिवार्य कर्तव्य बन जानी चाहिए।

बराबर रहे कि शरीर से अलग आत्मा है नहीं हो तो उसे प्रेत कहना होता है। इसी तरह आत्मा से अलग शरीर शव हो जाता है। इन दोनों को तनिक सी भी और अलग मानने से आगे फिर इतना फटाव हो जाता है कि आध्यात्मिक और भौतिक नाम की मुकाबले में दो तात्त्विक छावनियाँ बन जाती हैं और अपने बीच में अर्थ नहीं तो ठंडा युद्ध ठाने ही रहती है। यह सब उपाय इस तनिक से मिथ्यात्व को अपनाने से ही निकलता है कि आत्मा और शरीर दो हैं।

जगत् में मुक्ति जगत् से मुक्ति

११४ काम के वाष्पन से अतीन्द्रियता की प्राप्ति अथवा काम के पूर्ण विसर्जन से समाधि-स्थिति को पाना, भोग में से योग साधना अथवा भोग को तिरस्कृत कर निरी योग की साधना करना अथवा जगत् में मुक्ति या जगत् से मुक्ति—इन विरोधी जानेवाली स्थितियों में आप कितना विरोध और कितना ऐक्य देखते हैं?

नकार की अधिकता

—अधिकांश यह भाषा का फेर है। स्वीकार और नकार दोनों ही भाषाओं के द्वारे व्यक्ति की जा सकती है। सावधानी यह रखनी होगी कि भाषा को मूलक अर्थ स्वयं सत्य न मान लें।

आज के दिन मुझे स्वीकारता की भाषा अधिक सार्थक और उपयोगी जान पड़ती है। भारत में भाषा के नकार को इतना जोर से पकड़ा और साधा गया है कि आत्मता के नाम पर निरर्थकता हाथ पड़ गयी है। उसमें से कृच्छ्र-साधना निकली है। मानो कि शरीर को सुखाने से आत्मा में हरियाली आती हो और शरीर को मारने से आत्मा के अमर बनने की राह खुल जाती हो। ऐसी

सच यह कि अतीन्द्रिय ऐन्द्रिक और दैहिक होने की आवश्यकता मे इसलिए नहीं रहता है कि वह आत्मिक होता है।

४३३ तब क्या अतीन्द्रियता दैहिकता को पूरी तरह विसर्जित कर देती है? देह और आत्मा इन दो चरम बिन्दुओ के बीच मानव किस प्रकार और कहाँ अपने को सन्तुलित करे?

इन्द्रिय और इन्द्रियातीत

—नही, देह या इन्द्रियो के विसर्जन से अतीन्द्रिय दशा नही मिलनेवाली है। इन्द्रिय और इन्द्रियातीत की बात को समझने के लिए आइये स्वय हम अपने को लें।

आप स्वस्थ हैं तो इसका क्या लक्षण है? लक्षण है कि शरीर को लेकर आप अनायास है, सायास नही हैं, शरीर की अलग से चेतना नहीं है। जिसका पाँव दुखता हो, उसको हरदम पाँव का पता रहता है। अर्थात् पृथक चेतना अस्वस्थता के कारण होती है। स्वस्थ हो तो इसका न ध्यान रहेगा न खबर कि पाँव है।

इन्द्रियाँ सवादी हो

ऊपर के अनुभव से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अतीन्द्रिय अवस्था वह है, जहाँ इन्द्रियाँ समीचीन और सवादी होकर काम करती हैं। विसर्जित नहीं होतीं, न बीच में असगत होती हैं, बल्कि पूण स्वस्थ और उपयुक्त होने के कारण सर्वथा सुसगत बन जाती हैं। आत्म से अलग तनी और बिगडी तनिक नहीं रह जाती।

निर्गुणता गुणों की सवादिता

यही गुणो के सम्बन्ध मे मानिये। निर्गुणता गुणहीनता नहीं है, बल्कि गुणों की सुसवादिता है। निर्गुणता मे गुण और अतीन्द्रियता मे इन्द्रियाँ समुपयुक्त भाव से काम करने के कारण परस्पर विग्रह मे नहीं आती और इसलिए किसीको अपनी भिन्नता का चेत होने की आवश्यकता नहीं होती।

देह नैवेद्य के समान पवित्र

देह को अलग मानने की जरूरत नही है। मन्दिर मे पूजा मूर्ति की होती है। लेकिन उसके कारण पवित्र पूरा ही मन्दिर बनता है। शरीर मन्दिर के समान है। जिसने यह समझा वह षोडशी प्रेयसी की भाँति अपने शरीर की सँभाल रखकर भी अलिप्त रह सकता है। शरीर के प्रति अवज्ञा या लापरवाही अनासक्ति का

अभिचार कामोन्मयन

—अभिचार और कामोन्मयन इन शब्दों को मैं विचार में नहीं लेना चाहता। अभिचार सामाजिक और कामोन्मयन व्यावसायिक शब्द हैं। उन दोनों से विचार में विशेष सहायता नहीं मिलती। विचार बनी लीक पर चल निकलता है और जीवन-प्रश्न से वह दूर हट जाता है।

कामुकता

प्रेम बने कामुकता और ब्रह्मचर्य। वस्तु के प्रति इच्छा कामना कहलाती है, व्यक्ति के प्रति कामुकता। मूल में दोनों एक हैं। अन्तर इतना है कि कामना में वस्तु को हम अपनी ओर खींचते ही अनुभव करते हैं, कामुकता में खिंचते भी अनुभव करते हैं। यह हो नहीं सकता कि चेतना हो और उसको लेकर कोई अपने में बन्द हो रहे। अपने से बाहर आने और फिर और बाहर जाने की अनिवार्यता को ही चेतना कहते हैं। इसलिए चेतन प्राणी क्रियाहीन नहीं है, प्रेरणाहीन नहीं है। प्रेरणा को इच्छा कह सकते हैं उनके सम्बन्ध में जिनके पास मन है, अन्यथा निसर्ग कह सकते हैं। चेतना वस्तु की ओर जिस वेग से जाती है, व्यक्ति की ओर वह वेग उससे अधिक ही होता है। इसीको कामुकता कह दिया जाता है। जो समझ लीजिये यह प्रवृत्ति अनिवार्य है। व्यक्ति व्यक्ति को चाहे बिना रह नहीं सकता। चाह दुर्दम हो जाती है, जब दो सम नहीं विषम होते हैं, जैसे कि स्त्री-पुरुष विषम हैं। इस चाहना में मन आता है तो शरीर भी आना चाहता है। शायद कामुकता शब्द शरीर की अपेक्षा में ही व्यवहार में आता है, मानसिक भूमिका पर उसे कुछ और भी नाम दिया जाता हो। आपका कामोन्मयन शब्द शायद मानसिक को अपने में समा लेता हो और शारीरिक को अलग से छोड़ देता हो। मन और शरीर को अलग गिनने मात्र से काम को एक ओर सुन्दर और दूसरी ओर बीभत्स समझा जाता हो तो इससे विचार में अन्तर नहीं आना चाहिए। मैं मानता हूँ कि मन पाप और शरीर को रोक रखा जाय तो इसीमें से कुछ उन्नयन नहीं प्राप्त हो जाता है, बल्कि उलटे विकार पैदा होता है।

कामुकता से कोई प्राणी बचा नहीं हो सकता। मैथुन से सृष्टि है और स्वत्व अपने आपमें अविद्ध-सत्ता है, परत्व की अपेक्षा के बिना स्वत्व भी नहीं सकता।

ब्रह्मचर्य

अब ब्रह्म की चर्चा, कामना या काम-भावना की वह अनुवृत्ति है जो सामान्य और

समक्ष इतना बिगाड कर चुकी है कि स्वीकारता की भाषा मे खतरा होते हुए भी मैं उसका समर्थन करता हूँ।

स्वीकृति की भाषा का आशय होगा—काम मे से निष्काम, भोग में से योग, जगत् मे से मुक्ति, इन्द्रियो मे से अतीन्द्रियता।

मुख्य प्रश्न सन्दर्भ का

शायद पहले कहा है कि मुख्य प्रश्न सन्दर्भ का रहता है। व्यक्ति-परक होकर जो भोग है, निर्वैयक्तिक मे वही योग हो जाता है। काम, भोग, इन्द्रिय, जगत् ये सब संज्ञाएँ खण्ड-सम्बन्ध की द्योतक हैं, इसलिए बन्धनकारक बनती हैं। लेकिन इस कारण असम्बद्धता प्राप्त करने की चेष्टा और भी भूलभरी होगी। कारण, असम्बद्धता की कही स्थिति ही नहीं है। यदि 'मैं' है तो 'तुम' और 'उस' के साथ है। यदि कुछ है तो शेष और अन्य के साथ है। सम्बद्धता से छुटकारा सम्भव नहीं है,—तब यह अवश्य सम्भव है कि अहं का सम्बन्ध शेष से हो तो अखिलपूवक हो। बस अखिलपूर्वकता से सब खोटा अच्छा, झूठा सच, और गलत सही हो जाता है। गीता मे यह जो कहा कि सब मुझे सौंप दो और फिर सब ठीक होगा, उसका यही आशय लेना चाहिए। निर्वैयक्तिक सन्दर्भ मे मानो क्रिया आवेश से मुक्त हो जाती है और कर्म के लिए काम आवश्यक नहीं रहता, वह निष्काम होता जाता है।

सन्दर्भ के इस तनिक फेर से मुझे मालूम होता है कि विवाह और प्रेम में भी सहज समन्वय हो सकता है। आप जानते ही हैं कि आत्मा और शरीर मे उतना विरोध आजकल शायद नही देखा जाता, जितना विरोध विवाह और प्रेम मे माना जाता है!

कामुकता, ब्रह्मचर्य आदि

४३५ कामुकता और व्यभिचार, कामोन्नयन तथा ब्रह्मचर्या इनके भाव और अर्थ बहुधा गलत समझ लिये जाते हैं। मैं आपकी आत्मतापरक दृष्टि से इन पर आपकी समीक्षा सुनना चाहता हूँ ?

—क्या गलत समझे जाते हैं ?

४३६ कामुकता का अर्थ दैहिक विलासचर्या, व्यभिचार का अर्थ एक द्वारा अनेक में गमन, कामोन्नयन का अर्थ काम को ऊँचे उठाकर ईश्वर से काम-सम्बन्ध की स्थापना तथा ब्रह्मचर्या से ब्रह्म में लीन होना, समाधि, और दैहिकता का सर्वथा विसर्जन ही माना जाता है। आपकी स्व-पर में अभेद की दृष्टि से इन विशेष स्थितियों का क्या स्वरूप प्रकट होगा ?

व्यभिचार कामोन्मथन

—व्यभिचार और कामोन्मथन इन शब्दों को मैं विचार में नहीं लेना चाहता। व्यभिचार सामाजिक और कामोन्मथन व्यावसायिक शब्द हैं। इन दोनों से विचार में विशेष सहायता नहीं मिलती। विचार अपनी लीक पर चल निकलता है और जीवन-प्रश्न से वह दूर छूट जाता है।

कामुकता

प्रेम बने कामुकता और ब्रह्मचर्य। वस्तु के प्रति इच्छा कामना कहलाती है, व्यक्ति के प्रति कामुकता। मूल में दोनों एक हैं। अन्तर इतना है कि कामना में वस्तु को हम अपनी ओर खींचते ही अनुभव करते हैं, कामुकता में खिंचते भी अनुभव करते हैं। यह हो नहीं सकता कि चेतना हो और उसको लेकर कोई अपने में बन्द हो रहे। अपने से बाहर आने और फिर और बाहर आने की अनिवार्यता को ही चेतना कहते हैं। इसलिए चेतन प्राणी क्रियाहीन नहीं है, प्रयत्नहीन नहीं है। प्रयत्न को इच्छा कह सकते हैं, उनके सम्बन्ध में जिनके पास मन है, अन्यथा निसर्ग कह सकते हैं। चेतना वस्तु की ओर जिस वेग से जाती है, व्यक्ति की ओर वह वेग उससे अधिक ही होता है। इसीको कामुकता कह दिया जाता है। जो शब्द दीजिये यह प्रवृत्ति अनिवार्य है। व्यक्ति व्यक्ति को चाहे बिना रह नहीं सकता। चाह दुर्दम हो जाती है जब दो सम नहीं विषम होते हैं, जैसे कि स्त्री-पुरुष विषम हैं। इस चाहना में मन आता है तो शरीर भी आना चाहता है। शायद कामुकता शब्द शरीर की अपेक्षा में ही व्यवहार में आता है, मानसिक भूमिका पर उसे कुछ और भी नाम दिया जाता हो। आपका कामोन्मथन शब्द शायद मानसिक को अपने में जमा लेता हो और शारीरिक को अलग से छोड़ देता हो। मन और शरीर को अलग गिनने मात्र से काम को एक ओर सुन्दर और दूसरी ओर बीभत्स समझ लिया जाता हो तो इससे विचार में अन्तर नहीं आना चाहिए। मैं मानता हूँ कि मन बांध और शरीर को रोक रखा जाय तो इसीमें से कुछ उन्नयन नहीं प्राप्त हो जाता है, बल्कि उससे विकार पैदा होता है।
कामुकता से कोई प्राणी बचा नहीं हो सकता। मैथुन से सृष्टि है और स्वत्व अपने-आपमें अखिल-सत्ता है, परत्व की अपेक्षा के बिना स्वत्व भी नहीं सकता।

ब्रह्मचर्य

अब ब्रह्म की चर्या, कामना या काम-वासना की वह अनुरक्ति है, जो व्यापक और

पृथक्त्व मे रुकती नहीं हैं, उनका समाहार या पार खोजती है। इस तरह वह एक-एक को नहीं लेती, मानो सबको लेना चाहती है। इसमे काम की ज्वाल की नाना शिखाएँ एक प्रेम की लौ बनकर रह जाती हैं। शायद अनेक की इस एकता मे ताप का हरण हो जाता है और प्रकाश का वरण होता है। इसको मैं कामोन्नयन नही कहता हूँ। यह भाषा आधुनिक विज्ञान-व्यवसाय की है। लेकिन यह उन्नयन नहीं है, उसका जो मूल मे द्वन्द्वज है। काम अहन्ता मे से निकलता है, प्रेम आत्मता में से उदय पाता है। काम को अनन्त गुणित करने से भी फल मे प्रेम नही प्राप्त होगा। कारण, प्रकृति से ही वे भिन्न है।

व्यभिचार

ऊपर व्यभिचार शब्द आया है। आपने उसकी परिभाषा भी दी है। एक का अनेक में गमन व्यभिचार माना जाता है। लेकिन एक का एक मे शमन न कभी सम्भव हुआ है, न होगा। यह मूलत गलत है। इसलिए यदि एक एक में सीमित है, तो पति-पत्नी सम्बन्ध के द्वारा ही सीमित है। किन्तु स्वय भारतीय समाज और परिवार में इस पति-पत्नी सम्बन्ध को छोडकर अन्य असख्य सम्बन्ध विद्यमान हैं। उनमे यह माना कि यौन सम्बन्ध वर्जित रहता है, लेकिन क्या यह भी माना जा सकता है कि उन सम्बन्धो में परस्पर स्नेह और ममता का प्रवाह निषिद्ध है। अर्थात् व्यभिचार का शब्द स्थूल एव उपयोगी मात्र है, उस पर अधिक बोझ डालने से मर्यादा की लकीरे इतनी गहरी खरोंच डालती है कि स्वय मर्यादाएँ क्षत-विक्षत हो जाती हैं। इसलिए मूल विचार के बीच में हम व्यभिचार को न लायें, तो ही अच्छा है। नहीं तो सोचिये कृष्ण को कैसे समझ में लीजियेगा?

४३७ कृष्ण का जिक्र आपने किया। सामाजिक दृष्टि से छोडिये, आत्मिक दृष्टि से ही उनके सोलह हजार आठ रानियों के साथ एक साथ कल्पित सम्भोग को आप किस प्रकार स्वीकार करेंगे?

कृष्ण भोगी नहीं थे

सोलह—हजार-आठ की सख्या पर तो आपका ध्यान नहीं अटका है? मैंने छियानवे हजार की सख्या भी सुनी है। एक समय हजार क्या, एक से आगे दो की भी भोग में सम्भवता नहीं है। भोग की यही सबसे बडी सीमा और समीक्षा है। सोलह या छियानवे हजार की भाषा का मतलब यही हो सकता है कि कृष्ण भोगी नहीं थे। नहीं तो रानियों की सख्या इकाई से उठकर दहाई या अधिक-से अधिक सैकडे से आगे नहीं जा सकती थी। अगर हजारो तक गयी और फिर भी

मानो कल्पना अतृप्त रह गयी तो उसका माध्यम कृष्ण में भोग की जगह योग का ऐश्वर्य देखने का ही रहा हो सकता है।

वे एक साथ सबके थे

भागवत में है कि नारदजी इस विस्मय का उत्तर पाने के लिए उन हजारों में से एक-एक रानी के पास गये। कैसे कृष्ण सबको एक साथ उपलब्ध होते और तृप्त रखते हैं यह प्रश्न ही हो सकता है। नारदजी जिसके यहाँ पहुँचते हैं वहीं कृष्ण को उप-स्थित पाते हैं। ऐसे अन्त में मानो उन्होंने उत्तर पा लिया। यह उत्तर यही हो सकता है कि कृष्ण एक-एक के नहीं सबके थे और उन सबके लिए भी कृष्ण एक व्यक्ति नहीं मानो आप्त पुरुष थे। श्रद्धा और कल्पना की अतिशयता द्वारा मानो हम अपने बीच की रेखाओं को पारकर उस अनन्तता में पहुँच जाना चाहते हैं, जहाँ काम इसलिए अनावश्यक है कि आनन्द वहाँ व्याप्त है। व्यक्ति वहाँ अकेला नहीं रहता कि दूसरे की जरूरत में ही वह सब हो जाता है कि कोई जरूरत बचे नहीं रहती।

काम औषधि रोग नहीं

मैं मानता हूँ कि काम अकेलेपन को खोने की औषधि के रूप में आता है और रोग वह नहीं बल्कि एक का एकाकीपन है जिसको कभी स्वयं साध्य भी मान लिया जाता है। यह समझकर चूक खत्म होनी चाहिए।

प्रलय के सूत्रधार शिव

४१८. कृष्ण के चरित्र की कल्पना से यह स्पष्ट होता है कि अपने अहं को ब्रह्म में लीन कर देने से व्यक्ति का काम भी ब्रह्ममय हो जाता है। और काम का दोष फिर उसको नहीं लगता। इसी प्रकार शिव की कल्पना से क्या यह प्रकट नहीं होता कि इसी क्रम से हिंसा भी मानव-चेतना पर कोई दुष्प्रभाव नहीं छोड़ती और मानव हिंसा को ब्रह्मप्रेरित मानता हुआ सच में प्रलय का सूत्रधार बनकर शिव बनता है और पूजित हो सकता है?

ब्रह्मलीनता कठिन

—बात ठीक है, लेकिन अहं को ब्रह्म में लीन करना नहीं होता। ब्रह्म-लीनता अहं को परस्पर की सेवा और समता में प्रवृत्त करने से अपने-आप सधती है। अवश्य इसमें वैयक्तिक सन्दर्भ से उठकर व्यक्ति-धर्म मानो समाज-धर्म होता जाता

है। सकाम विशेषण फिर उसके व्यवहार में साथ नगत रहना ही नहीं, वह निष्काम हो जाता है।

हत्या, मैथुन सर्वदा सकाम

हिंसा के सम्बन्ध मे भी यह माना जा सकता था। लेकिन हत्या और मैथुन दोनो ऐसे कृत्य हैं, जो सकाम प्रेरणा के बिना शायद ही सम्भव हो सकते हैं। 'शायद' मैं जान-बूझकर कह रहा हूँ, क्योंकि जहाँ व्यक्ति सवया नहीं है, वहाँ कृत नहीं रहता, इसलिए सुकृत अथवा दुष्कृत आदि भी नहीं रहता। सृष्टि मे हिंसा दीखती है, तो क्या उसका दोष स्रष्टा पर डाला जा सकता है? नहीं, नहीं इसलिए डाला जा सकता कि वहाँ एक से दूसरा है ही नहीं कि हिंसा सम्भव हो, हिंसा के लिए दो चाहिए। इसलिए यदि द्वित्व-भाव इतना समाप्त हो गया हो कि सर्वथा एक आत्मीय भाव ही रह जाय तो सचमुच वहाँ हिंसा कैसे बन सकती है? यह नहीं कि हिंसक कृत्य वहाँ अहिंसा बन जाता हो, बल्कि यह कि कृत्य रहता ही नहीं जिसे हिंसक कहा जा सके।

इन शब्दो की भूलभुलैया के पार मैं यही मानने की सलाह दूंगा कि हत्या और मैथुन आसक्ति मे ही बन पाते हैं, इसलिए वे कभी धर्म्य नहीं है।

४३९ ऊपर आपने एक जगह मन को जाने देने पर शरीर का रोकने को अनुचित बताया है। पर सासारिक व्यवहार मे लगभग ऐसा ही करना पडता है। वहाँ मन कहीं भी जाय पर शरीर को काबू में रखना पडता है। इस स्थिति के औचित्य पर आपको क्या कहना है?

मन जाय, शरीर न जाय

—मन जाय तो शरीर को भी जाने देना चाहिए, बात का ऐसा मतलब लगाना गलत होगा। मतलब यह है कि शरीर को जाने से अगर हम रोक लेते हैं, तो इस पर किसी सयम-पालन या कतव्य-पालन का गर्व मानने का हक नहीं है। मन और शरीर के बीच इतना अन्तर डाल दिया गया है कि मनोविलास को कला इत्यादि के नाम पर हम क्षम्य ही नहीं, बल्कि भव्य मान लेते हैं, केवल शरीर के सम्बन्ध मे मर्यादाओ को लागू समझते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व मे विघटन आता है और हठात् दमन के कारण नाना विकार और रोग पैदा होते हैं। अर्थात् उसी रस को मन मे पाना और तन से छोड़े रखना कोई गर्व और श्रेय की बात नहीं है, यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। ऐसी समझ होने पर हम केवल दैहिक दोष को दण्डनीय नहीं ठहरायेंगे और दोषोपचार को मानसिक स्तर तक पहुँचाये बिना चैन

लिए मनोमन्थन से अधिक महत्त्व का तत्त्व है, यह ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

काम का संस्कार

४४१ मन के काम को आत्म की तरफ मोड़ने और उसे एक में शमित न कर देने के लिए सामान्य व्यक्ति क्या करे अर्थात् काम के संस्कार के लिए आप क्या सुझाव प्रस्तुत करते हैं?

कर्तृत्व को बोझ न उठायें

—मैं व्यक्ति का वश अधिक नहीं मानता हूँ। वह अपना मालिक नहीं है। इसलिए बहुत अधिक कर्तव्य या कर्तृत्व या दायित्व या संकल्प के बोझ को सिर न ले तो अच्छा ही है। इससे अधिक उसे प्रार्थना के सम्बल पर भरोसा रखना चाहिए।

मन-वचन-कर्म की ईमानदारी

एक काम वह अवश्य कर सकता है और वह है ईमानदार रहना। ईमानदारी साथ रखे और जैसा है उसे वैसा मानता-देखता-कहता रहे, तो इसीसे दुविधा सुविधा हो जाती है, उसका कष्ट बन्धन की जगह प्रयत्न जगाता है। जैसा करे वैसा कह भी सके, कर्म के साथ वचन का मेल कर दे, तो यह कठिन नहीं होना चाहिए। वचन के साथ विचार भी मेल खाने लग जायें, तो मानो बेडा पार होने लगता है। चाहे इस एकता का प्रयत्न कर्म से विचार की ओर चले यानी बाहर से भीतर की ओर, चाहे विचार से कर्म की ओर यानी भीतर से बाहर की ओर, एक ही बात है। विचार-उच्चार-आचार की एकता साधने की कोशिश में से मुझे लगता है कि अन्त में सब सध आनेवाला है। ईमानदारी से आगे भी प्रतिज्ञा ठानना इस प्रक्रिया मे बाधक हो जाता है। उसमे अहन्ता आ जाती है और वह मन-वच-कर्म में विभेद डालने लग जाती है। संकल्प हम आदर्श का ठानते हैं, कर्म-विचार यथार्थ पर छूटा रह जाता है। ऐसे यथार्थ और आदर्श मे तान पैदा होती है और होते-होते अगर इस तनाव की पीडा के बारे में तनिक असावधान हो जाते हैं, तो कपट और दम्भ पैदा हो जाता है।

शिष्टता के फैशन से छुटकारा

इसके बचाव के लिए पहला सहारा यह है कि हम शिष्ट और सज्जन बनकर प्रकट होने के फैशन से छुटकारा पायें। बस ईमानदार होकर चलने को काफी मान लें।

तभी अपने दोनों को हम हथेली पर ले सकेंगे। अन्यथा भीतर बाड़ देकर उन दोनों को अपने से हम अलहदा बना लेते हैं और फिर इलाव् उनसे विमुख और असावधान बन जाते हैं। सन्त अपने को अकाम कहता और मानता है, इसीमें से वह दूसरों के लिए सहज उपादेय बनता जाता है। सज्जनता बनाव से अधिक हमारी प्रकृति तभी बन सकती है, जब सज्जनता को हम बाने में नहीं देखेंगे, अन्तरंगता में मानेंगे। तब शिष्टता शिष्टाचार में ही नहीं रहेगी, वह स्नेह-विचार तक व्याप्त होगी। ऐसे मैं मानता हूँ कि सभ्यता आडम्बर से हटकर यथार्थता में पहुँचेगी और उसका प्रसाद वस्त्र से नहीं, मन में से फूटता दीखेगा।

विषम-लिंगी चुनौती का आरम्भ

५७४ आपने काम का आधार अहं को बताया है। अक्सर देखा जाता है कि काम कर्म में असमर्थ और अहं के प्रति अचेत बालकों में भी ऐन्द्रिय-आचार मिलता है। इसे आप उनके व्यक्तित्व की किस विकृति का परिणाम मानेंगे? भाव यह है कि स्त्री और पुरुष के बीच जो स्वाभाविक चैलेंज मिलता है, उसका आरम्भ जीवन के किस स्तर से आप मानते हैं?

—वह तो काम जुड़ा ही है। जब विषम-लिंगी से चुनौती अनुभव की जाती है तो अनुभव करनेवाला अहं भीतर सक्रिय होता ही है। आपने अचेत शब्द कहा उसका अर्थ अविवेक ही हो सकता है। मैं मानता हूँ कि विवेक का आरम्भ भोक्ता के साथ द्रष्टा के आरम्भ से है। किन्तु द्रष्टा से पहले भोक्ता की हालत में भी अहं को जाग्रत माना ही जा सकता है। विवेक मनुष्य से इतर प्राणियों में सामान्यतया उपस्थित नहीं माना जाता। लेकिन विषम-लिंगी चुनौती को तो वहाँ काम करता देखते ही हैं। मुझे काम का अहं से सीधा सम्बन्ध मालूम होता है। स्व और पर के बीच काम का क्षेत्र है। आवश्यक नहीं है कि उस भाषा में स्व-पर बोध दोनों ओर हो। किन्तु जब बोध होने लगता है, तब से चुनौती मानो दो ओर से भी आती है। इस सचेत बोध मात्र से पहले भी प्रकृति अपना काम करती जाती ही है। लेकिन उसको नामपना करना कठिन है।

काम का इलाज प्रेम

५७५ इस चैलेंज से निवृत्ति पाने का क्या साधन हमारे पास है?

—'पर' से 'स्व' को चुनौती मिलती है। यदि स्व-भाव उसमें डाल सकें तो चुनौती उसी मात्रा में कम हो जाती है। इसको प्रेम कहते हैं। अपना दुःख हम अनुभव करते हैं, दूसरे का भी दुःख अनुभव करने लगें तो इसी सहानुभूति को प्रेम कहना

चाहिए। काम मे ठीक यही शक्ति नहीं होती। वल्कि काम के वश अपने सुख के लिए दूसरे को दुख देने तक मे रस आता है। दूसरे को चाहते हैं, उसके दुख को नहीं चाहते। यही काम और प्रेम मे अन्तर है। काम का इलाज प्रेम के सिवा दूसरा क्या हो सकता है, मैं जानता नहीं। 'पर' जव 'स्व' वनता है तो एक-दूसरे के लिए द्वेप और प्रहार की आवश्यकता नहीं रह जाती। उनके वीच की चाह मे उतनी धार और नोक नही रहती। स्वत्व और परत्व के वीच की विपमता और खींच के अनुपात मे ही काम में रस की तीव्रता आती है। मान और प्रणय के वीच जैसे आंख-मिचौली चला ही करती है। यह सव अह और अन्य की मान-लीला है। वीच की विपमता मे से काम की दुर्दमता वढती है। अत शमन के लिए अह मे अन्य वोध की न्यूनता चाहिए। अर्थात् अन्य मे अह-वोध और इतर मे स्वकीय-वोव।

अन्य-इतर अमिट

स्पष्ट है कि अन्य और इतर मिट नहीं सकता। अन्य की शर्त पर ही अह हो पाता है। इसलिए अन्य से मुंह मोडने मे अह की रक्षा या पवित्रता की रक्षा नहीं है। इतर से वचना मानो सहयोग नहीं स्पर्धा को निमन्त्रण देना है। काम जिस ढग से काम करता है, उसमे यह वचाव आवाहन की युक्ति वना देखा जाता है। मानो उस विरोधाचार की प्रक्रिया द्वारा प्रकृति ने ही यह वतलाना चाहा है कि काम से उस प्रकार रक्षण नहीं, वल्कि उद्दीपन ही प्राप्त होता है। अर्थात् इतर की ओर अह के निर्भीक भाव से वढ़ने मे से ही काम का शमन प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नही।

उग्र और दमित अह

४४४ अह के दो स्वरूप देखने को मिलते हैं। एक तो यह वलिष्ठ उग्र अहं, जिसका काफी जिक्र ऊपर आया है। एक कुण्ठित और दलित अह जो विशेष विचार का विषय नहीं रहा। क्या आप मानते हैं कि यह कुण्ठित दलित अह भी उतने ही तीव्र काम को प्रेरित करता है, जितना कि उग्र अह करता है? इन दोनों प्रकार की अह-चेतनाओं को आत्म की ओर किस प्रकार मोड़ा जाय?

—नहीं, दमित और उग्र दो नहीं होते हैं। फन सीधा खडा करके जो सांप उग्र दीखता है, वह पूँछ में मुंह दवाये कुण्डलीकृत पडा हो तो वेचारा दीख सकता है। लेकिन सांप एक है, दो नहीं।

दोनों एक तथ्य के दो सिरे

बडे-वडे दर्पी और वलिष्ठ अहशील चरितो की खोज और मीमासा की जा रही है।

इस प्रकार के पीछे यह विश्वास है कि उनके पराक्रमी और प्रतापी कहलानेवाले कार्यों के मूल में कहीं दम्भ ग्रन्थि थी। नहीं तो वे लोग क्यों सामान्य बनकर नहीं रह सके क्यों असामान्य उत्ताप उपजाये बिना वे चैन नहीं पा सके? दूसरे पर घोर शासन कर अपने को सिद्ध करनेवाली महामता को भीतर की हीनता की भाषा में समझ लेने की वृत्ति मनोविज्ञान के बाँचकों में बढ़ती जा रही है। इसलिए उच्च और हीन को एक साथ एक ही तथ्य के दो सिरों के रूप में समझने की मैं आपको सलाह दूंगा।

हीन-भाव ही उद्धत भाव

दर्पी व्यक्ति काम-क्षेत्र मे हीन और निम्न बनकर ही चैन पाता है। उसी प्रकार हीन व्यक्ति उद्धत उग्र और दर्पी हो जाता है। कामाचार के भेदों मे उतरने से मुझे मालूम होता है कि यह सुनिश्चित हो जायगा कि हीन-भाव ही उद्धत भाव है।

●

१६

विराट्गत अहं

जागतिक समस्याओं में अहं का योग

४४५ अहंकार मे विषम-लिंगियो के प्रति जो आचरण रहता है, उस पर विस्तृत विचार आपने ऊपर किया। क्या सामान्य जागतिक व्यवहारों और आचरणों मे भी आप अहं को ऊपर जितना ही महत्त्व देते हैं ? और जागतिक समस्याओ के निदान के लिए भी अहं का आत्मोन्मुख किया जाना ही एकमात्र उपाय मानते हैं ?

—जो पिण्ड मे है, ब्रह्माण्ड मे है। नियम दो नहीं हैं, एक है। सत्य अखण्ड है और जो प्रक्रिया अणु मे मिलेगी, ब्रह्माण्ड भी मानो उसी प्रक्रिया मे चलता है।

राष्ट्रीय अहं की आत्मोन्मुखता

हाँ, व्यक्ति के अहं के समान राष्ट्र आदि मे अहं-भाव बन जाता है। वहाँ भी ऊपर के निदान को संगत और उपयुक्त देखा जा सकता है। अहं को आत्मोन्मुख करने का क्या अर्थ होता है ? व्यक्ति की भाषा मे शायद पहले कुछ विचार किया भी गया, राष्ट्र की भाषा मे क्या अर्थ होता है ? पहले कहा कि आत्मता का लाभ अहं के लिए परोन्मुखता मे से है। वह द्रोह या स्पर्धा की उन्मुखता नहीं बल्कि स्वकीय और स्वापण भाव की परोन्मुखता है। राष्ट्र के लिए भी यही सच मानना चाहिए। हर राष्ट्र निर्यात बढ़ाने और आयात कम करने मे अपनी उन्नति मानेगा तो राष्ट्रो मे सम्बन्ध प्रतिस्पर्धा का बनेगा और फिर जो उनमे संधि-विग्रह की बन या अनबन होगी, वह मानो कामावेग जैसी होगी। एक-दूसरे पर विजय पाने की इच्छा, बढ़ा-चढ़ा होने की आकांक्षा मानो कामवासना को ही प्रकट करती है। ऐसा क्या कभी इतिहास में सुना गया है कि एक फौज जीती हो और परिणाम मे बर्बर कामलिप्सा भी न खुल खेली हो। यही हो नहीं सकता। लूट और बलात्कार युद्ध के अवश्यम्भावी सहयोगी हुआ करते हैं। इससे अन्यथा जतलानेवाला प्रचार कभी इस तथ्य को बदल नहीं सकता।

परमात्म की तत्त्व संज्ञा मैंने नहीं दे दी है। उन्मुखता अनुभव का सत्य है। अनिवार्यतया अनुमान और श्रद्धा का यह प्रति सत्य हो रहता है कि वह है जिस ओर उन्मुखता है। उसे ब्रह्म कहो कि कुछ कहो। इतना मानने पर आप उन्मुखता की दिशा को जानना चाहते हैं। दिशाएँ चार हैं या उन्हें कोणो में बाँटकर गणना में कितनी भी बढ़ाकर देख लीजिये। चलिये ऊपर और नीचे को भी दिशा मान लीजिये। लेकिन सब दिशाएँ जिससे हैं, उस अखण्ड व्याप्तता को क्या दिशा कहियेगा? जीवन मृत्यु की ओर जा रहा है कि नहीं? आप बता सकते हैं कि मृत्यु की दिशा क्या है? किधर से वह आती है, आप नहीं बता सकते। किसी तरह नहीं बता सकते कि बाहर से आती है कि भीतर से आती है, या दायें-बायें से आती है। कह कुछ भी नहीं सकते, कुछ कहा जाय तो उससे इनकार ही कर सकते हैं। इसलिए मैं कहूँगा कि कल्पना उड़कर जहाँ बैठे बैठने दीजिये, उस बैठक को कोई स्थल या स्थान के रूपक में मत बाँध दीजिये। रूपक असत्य हो सकते हैं और सब ठीक हो सकते हैं। सब ठीक हैं, इसीसे आता है कि कोई ठीक नहीं है।

सनातन सत्य की संज्ञा नहीं

आत्म और ब्रह्म को पृथक् संज्ञा इस पीड़ा के कारण देनी ही पड़ जाती है कि पृथक्ता हम अनुभव करते हैं। पर उसका त्रास भी हम अनुभव करते हैं, क्या इसीमे से यह सिद्ध नहीं हो जाना चाहिए कि पृथक्ता अन्तिम नहीं है और सत्य भी नहीं है। अन्तिम और सनातन सत्य एक है। उस एक का आकार और रूप नहीं हो सकता। संज्ञा आकार और रूप का ही नाम है। फिर भी संज्ञा देनी ही होती है। कारण रूप और आकार मे हम स्वयं निबद्ध हैं, इसलिए पूर्ण और अविकल को भी रूपाकार मे आबद्ध करना आत्मलाभ के लिए हमे आवश्यक हो जाता है।

भक्ति और प्रार्थना द्वारा हम जैसे पृथक् मे अपार्थक्य, भिन्न मे अभिन्नत्व का अनुभव पा जाते हैं। बौद्धिक संग्रहण से अपार्थक्य और अभिन्नत्व मिल नहीं पाता है। इसीसे ज्ञान की स्पष्ट और रहस्यमुक्त भाषा को औचित्य देने मे मुझे संकोच होता है।

गांधीजी का ब्रह्मचर्य

४४८ गांधीजी के जीवन का उदाहरण सामने रखकर क्या आप बता सकेंगे कि उनके ब्रह्मचर्य और उनकी ब्रह्मोन्मुखता का क्या स्वरूप था? और किस प्रकार वहाँ उन्होंने ब्रह्म को पाया?

गांधीजी पर मैं अधिकार नहीं रखता हूँ। सम्मति देना भी विवाद उपजाना

दुद्दप और प्रगर और प्रनण्ड और यजनशील या ब्रह्मचय न था। मानो यह कुछ उसमे बिल्कुल उलटा ही था, जो स्त्री को निमन्त्रण देता था और उस के लिए परम अभ्यथनीय और वरणीय होना था। जो हो, मैं मानता हूँ कि वह ब्रह्मचय अमल था और सकल था।

विराट् ब्रह्माचार

४४९ आपका यह उत्तर अधूरा रह गया है। गांधीजी के जीवन के एक पक्ष पर ही इससे प्रकाश पड़ा। प्रश्न यह है कि उनके उस ब्रह्माचार का क्या स्वरूप था, जिससे आकर्षित होकर एक राष्ट्र क्या सारा ससार ही मानो उद्वेलित और तरंगित हो गया? भारत मे तो लाखो लोगों ने उनके इशारे पर अपने प्राणों को होम दिया। और करोड़ों जीवन पूरी तरह मथे और मसले गये। इस ब्रह्माचार पर आप कुछ प्रकाश डालें।

चुम्बकीय शक्ति

—हाँ, मैं इसको उनकी सगठन-क्षमता नहीं, ब्रह्मचर्य-क्षमता का फल मानता हूँ कि देश और ससार उनके पीछे उमड पडा और अपने को होम देने की लालसा से उद्दीप्त हो उठा। सगठन तो कांग्रेस था और वह सगठन अन्तिम दिनो मे उनसे बिछुड ही नहीं गया, बल्कि उलटा चल निकला। सगठन की भूमिका पर सफलता-विफलता को जैसे चाहे देखा जाय, उनके चुम्बकीय आकर्षण से इनकार नहीं किया जा सकता।

शत्रु-मित्र को आत्मता द्वारा दिया और लिया

हम सभी अपने को देते और दूसरे को अपने मे लेते हैं। इसके साधन हमारे पास हुआ करते हैं शरीर और मन। निश्चय ही इन साधनो मे परादान और आत्म-प्रदान आशिक ही हो पाता है। मन पूरी तरह उँडेला नहीं जाता, न अपने मे लिया जा सकता है। शरीर द्वारा प्राप्ति तो इतनी खण्डित और क्षणिक होती है कि तभी ऊब हो आती है। गाधीजी के पक्ष मे जीवन का यह देन-लेन का व्यवहार समग्र और आत्मिक भाव से हुआ। आत्मता एक के द्वारा सबको मिलती है, उसी तरह एक के द्वारा सबको प्राप्त होती है। चल-घूमकर उन्होंने विश्व को चुकाना नही चाहा। न एक-एक से मित्रता बनाने का कार्यक्रम रखा। बल्कि विदेश और वर्ग और व्यक्ति को शत्रु बनाने मे भी उन्हें कठिनाई नही हुई। जो हुआ वह यह कि शत्रु-मित्र, स्वदेश-विदेश की भाषा के नीचे उन्होंने अपने को आत्मता द्वारा

दिया और प्रत्येक को उसी आत्मता द्वारा ग्रहण किया। परिणाम यह है कि वैयक्तिक धर्म से वह राष्ट्रीय बन गये और राष्ट्रीय धर्म से सार्वभौम बन गये।

कोरा प्रेम उनके पास न था

आप देखेंगे कि वह किसी कोरे प्रेम का कार्यक्रम न था। ऐसा होता तो गोली से उन्हें न मरना पड़ता। न उम्रभर बार-बार जेलों में जाना पड़ता। असल में सेवा यदि व्यक्ति की थी तो प्रेम एकमात्र सत्य का था। इसलिए एक-एक कर व्यक्ति को या देश को अपनाने की उन्हें आवश्यकता नहीं हुई। सब उनके अपने बने गये तो इसलिए कि सत्य में सब आप ही एक होकर समाये हुए हैं। लेकिन प्रेम सत्य का था इसीलिए यह घटना बनी कि अनेक को उनसे अप्रेम मिलता हुआ मालूम हुआ और अनेक की ओर से उन्हें अप्रेम ही नहीं द्वेष तक मिला। मैं इसको बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूँ कि उनकी मृत्यु हुई नहीं की गयी। महत्त्वपूर्ण इसलिए कि मनुष्य की ओर से की जाती है, होती ही केवल ईश्वर की ओर से है। ईश्वर की ओर से जो अमरत्व का प्रतीक होकर आये उसे मारनेवाला मनुष्य का स्वयं अहंकार ही यहाँ उचित जान पड़ता है। इससे मानो समस्त जीवन-दर्शन खिल उठता है।

वे अकाल पुरुष थे

बिजली तड़कती है तो काला आसमान ज्योति की रेखाओं से एक साथ दरक जाता है। उसी तरह काल ऐसे अकाल पुरुषों से चमककर मानो एकाएक दरेड़ पाकर टूट पड़ता है। काल फट जाता है और इस पुरुष का आविर्भाव नये युग के प्रादुर्भाव का सूचक बन जाता है। यह मुझे उचित और सम्मत से आगे अनिवार्य लगता है कि अकाल पुरुष की अकाल मृत्यु हो। ऐसी ही मृत्यु से काल मानो अमरता को अपने बीच अवकाश देने को विवश होता है। स्पष्ट है कि अकाल-मृत्यु तभी हो सकती है जब व्यक्ति से प्रतिस्पर्धा और प्रतिरोध की ऐसी शक्ति का उद्गम हो जो उद्विग्न और विचलित होकर हत्या और हिंसा पर उतारू हो जाये। यह प्रक्रिया मानो मूलशक्ति के अभिनन्दन स्वरूप घटित होती है।
अकाल-मृत्यु को महिमान्वित करना चाहता हूँ ऐसा मतलब आप न लें। ईसा के साथ चोरों ने भी फाँसी पायी थी। मतलब यह कि जिसको धुरी और केन्द्र में लेकर तीव्र प्रेम और तीव्र द्वेष जगत् को मथता हुआ ऊपर आ उठता है वे मानो परमेश्वर की ओर से मानवता के आत्म-मन्थन के निमित्त भेजे हुए अवतारी पुरुष ही होते हैं। उस कृती के उदाहरण से जगत् आत्म-दर्शन और आत्मज्ञान का बल पर पाता है। मानो उस परब्रह्म से आदि तत्त्व अपने आदि रूप में कूदते हुए बीच

आते हैं। राम-रावण, पाण्डव-कौरव, धर्म-अधर्म का युद्ध चाक्षुष जगत् मे प्रत्यक्ष हो आता है।

उन्हें सगत मृत्यु मिली

गाधी के जीवन के साथ वही मृत्यु मेल खाती है जो उन्हें मिली। मानो वह उनके जीवन-पाठ को परिपूर्णता दे देती है। प्रेम को अहिंसा कह सकते हैं, लेकिन सत्य के बिना सब अधूरा है, यह पाठ उस मृत्यु से अमोघ बन जाता है। सम्भव था कि जीवन द्वारा वह कुछ ओझल भी रह जाता और हम उस महात्मा के लोक-पक्ष को ही देखते। मृत्यु से मानो उसके आत्मपक्ष, अलोक-पक्ष की पीठिका भी स्पष्ट हो आती है।

परात्पर ब्रह्म

४५० तब क्या प्रवहमान जगत् में निहित प्रवहमान जीवन-सत्य ही ब्रह्म है? जीवन-जगत् से बाहर और कुछ भी ब्रह्म नहीं माना जा सकता?

—हाँ, जो कहो वही है। जो कहो, थोडा है। जीवन और जगत् से बाहर जो हो, उससे स्वय जीवन और जगत् बाहर रह जायँगे न? जिससे जीवन बाहर और जगत् बाहर हो ऐसा ब्रह्म क्या? लेकिन जीवन और जगत् को अपने से बाहर मानो परिधि में जो देखने के हम आदी हैं, सो उसमें यह न भूल जायें कि भीतर से और भीतर, और उसके भी और भीतर केन्द्र में जाने का सदा ही अवकाश रहने-वाला है। ब्रह्म परात्पर है। वह स्व है, वह पर है, वह स्व-पर के पार है। अर्थात् जिन शब्दो में भी लो, लेकिन लेने के लिए ही उन शब्दो को मानो। शब्दो मे अटको नहीं। क्योंकि शब्द से जो सूचना मिलती है, वह वस्तु की हो जाती है अनुभूति की छूट जाती है। अनुभूति उपलब्धि है। वहाँ शब्द मौन है। प्रवह-मानता भी मानो वहाँ शान्तता हो जाती है।

●

विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका

आ